पं॰ सुरतिनारायण मणि त्रिपाठी
अभिनन्दन ग्रन्थ

पं० सुरतिनारायण मणि त्रिपाठी

राजस्थान के राज्यपाल महामहिम डॉ० सम्पूर्णानन्द के
करकमलों द्वारा
चैत्र शुक्ल ३, रविवार, संवत् २०२२ वि०,
दिनांक ४ अप्रैल, १९६५ को
गोरखपुर में
नागरिकों की सभा में
पं० सुरतिनारायण मणि त्रिपाठी
को
सादर समर्पित

सम्पादक-मण्डल

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल
डॉ० दीनदयालु गुप्त
डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा
श्री कालीप्रसाद मिश्र
श्री बदरीनाथ शुक्ल
डॉ० राजबली पाण्डेय
डॉ० उदयनारायण तिवारी
श्री करुणापति त्रिपाठी
श्री बलदेव उपाध्याय
श्री चंद्रबली त्रिपाठी

सम्पादक

संस्कृत खण्ड
डॉ० विद्यानिवास मिश्र

भारती विद्या खण्ड
डॉ० बलराम श्रीवास्तव

हिन्दी-साहित्य खण्ड
डॉ० शम्भुनाथ सिह

जीवन खण्ड
डॉ० श्रीपति शर्मा

प्रबन्ध सम्पादक
श्री पुरुषोत्तमदास मोदी

प्रकाशक

श्री सुरतिनारायण मणि त्रिपाठी अभिनन्दन समिति

गोरखपुर • वाराणसी

अभिनन्दन समिति

संरक्षक

स्वर्गीय महाराजा पटेश्वरीप्रसाद सिंह, बलरामपुर राज्य
श्री शिवप्रसाद शर्मा, सिंगापुर

अध्यक्ष

श्री हनुमानप्रसाद पोद्दार

उपाध्यक्ष

श्री विश्वनाथ पाण्डेय,
सदस्य, लोकसभा

मन्त्री

श्री पुरुषोत्तमदास मोदी

संयोजक

श्री चन्द्रभाल ओझा

कोषाध्यक्ष

श्री राधारमण दास

सदस्य

डॉ० अविनाशचन्द्र चटर्जी, न्यायमूर्ति हरिश्चन्द्रपति त्रिपाठी, डॉ० दीनदयालु गुप्त, श्री श्रीनारायण चतुर्वेदी, श्री कन्हैयालाल मिश्र, श्री मधुसूदनदास, श्री कमलाकांत नायक, श्री सत्यदेव सिंह, डॉ० भगवान दुबे, श्री एस० पी० नागेन्द्र, श्री केशवचन्द्र मिश्र, डॉ० देवर्षि सूनाढ्य, श्री विश्वम्भरनाथ त्रिपाठी ।

॥ श्रीहरि ॥

यह ग्रन्थ

गोरखपुर के नागरिको की एक सभा गत १३ फरवरी, १९६३ को श्री चन्द्रभालजी ओझा, तत्कालीन प्रिंसिपल, तुलसीदास महाविद्यालय, के आवाहन पर श्री चन्द्रबलीजी त्रिपाठी की अध्यक्षता में हुई थी। सभा में पं० सुरतिनारायण मणि त्रिपाठी को शिक्षा एवं संस्कृति के क्षेत्र में उनकी बहुमूल्य सेवाओं के लिए एक अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पित करने का निश्चय हुआ। इस कार्य को सम्पन्न करने के हेतु 'पं० सुरतिनारायण मणि त्रिपाठी अभिनन्दन समिति' का गठन हुआ और ग्रन्थ-निर्माण का कार्य प्रारम्भ हो गया। ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के प्रकाशन हेतु दो वर्षों का समय कोई बहुत नहीं है, किन्तु भगवद्-कृपा से विद्वान् सम्पादकों तथा समिति के सदस्यो की तत्परता तथा अनेक विद्वानों के शुभ सहयोग से ग्रन्थ का कार्य सुसम्पन्न हो गया।

इस ग्रन्थ में श्री त्रिपाठीजी की प्रशस्ति मात्र नहीं है, वरन् भारतीय इतिहास, संस्कृति, साहित्य, कला एवं दर्शन-सम्बन्धी अनेक विद्वानों के हिन्दी तथा संस्कृत में विचारपूर्ण लेख हैं।

गोरखपुर विश्वविद्यालय श्री त्रिपाठीजी की महत्त्वपूर्ण सेवा का प्रत्यक्ष प्रतीक है। इस प्रदेश के अविकसित क्षेत्र—पूर्वीय अंचल—के शैक्षणिक एवं सांस्कृतिक उत्थान के कार्य में त्रिपाठीजी की तत्परता और आदर्श क्रियाशीलता के फलस्वरूप ही गोरखपुर विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। उनकी निष्ठा से लगाया हुआ यह ज्ञान-वृक्ष निरन्तर उत्तरोत्तर पल्लवित, पुष्पित एवं फलित हो रहा है। गोरखपुर विश्वविद्यालय के अन्तर्गत इंजीनियरिंग कॉलेज की स्थापना हो चुकी है। मेडिकल कॉलेज की योजना भी बन चुकी है और शिक्षा के अन्यान्य विषयों का भी विकास हो रहा है।

वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के उप-कुलपति के रूप में विगत दो वर्षों से श्री त्रिपाठीजी भारतीय विद्या एवं संस्कृति की उन्नति में लगे हुए हैं। भारतीय संस्कृति में उनकी अटूट श्रद्धा एवं निष्ठा है, वे इसके महत्त्व को जानते हैं और वर्तमान में इस महान् संस्कृति की ओर से भारतीयों की उदासीनता को देखकर वे दुःखी हैं। इसीसे वे भारतीय संस्कृति के भाण्डार संस्कृत साहित्य, संस्कृत भाषा एवं भारतीय विद्याओं के विकास के पवित्र कार्य में संलग्न हैं और समय-समय पर विशेष आयोजनों के द्वारा भी इस कार्य में प्रगति लाने का प्रयत्न करते जा रहे हैं। वे पाश्चात्य शिक्षा के विद्वान् तथा सफल शासक होते हुए भी सच्चे ब्राह्मण हैं, सदाचारी हैं यह हमारे लिए गौरव की बात है। मेरे लिए तो वे सभी दृष्टियों से पूज्य हैं; मैं श्रद्धापूर्वक नमन

करता हुआ यह चाहता हूँ कि प्रभु उनको चिरायु करें और वे इस प्रतिकूल परिस्थिति में भी भारतीय संस्कृति की रक्षा और विकास के सेवा-कार्य में संलग्न रहें।

मुझे बड़ी प्रसन्नता है कि देश के प्रमुख शिक्षाविद्, साहित्य-सेवी, उत्तर प्रदेश के भूतपूर्व मुख्य-मन्त्री तथा सम्प्रति राजस्थान के राज्यपाल महामहिम डॉ० सम्पूर्णानन्दजी के करकमलों द्वारा यह अभिनन्दन ग्रन्थ श्री त्रिपाठीजी को समर्पित किया जा रहा है।

इस ग्रन्थ के निर्माण में जिन विद्वानों ने सहयोग प्रदान किया है, वे सर्वथा स्तुत्य हैं। उनकी कृपा के बिना ग्रन्थ को यह रूप न मिल पाता। समिति उन सभी विद्वानो के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करती है। इसके अतिरिक्त जिन लोगों ने ग्रन्थ की योजना को कार्यान्वित करने में आर्थिक तथा अन्य प्रकार से सहयोग प्रदान किया है, समिति उनके प्रति भी आभार प्रकट करती है। इतने बड़े कार्य की सुसम्पन्नता के लिए सभी के सहयोग की अपेक्षा होती है। आनन्द का विषय है कि सभी ने इसमें यथा-सम्भव योगदान किया है और समिति उन सभी की कृतज्ञ है। भगवान् मंगल-कार्यों में सबकी सद्बुद्धि को सदा प्रेरित करते रहें।

गोरखपुर
४ अप्रैल, १९६५।

—हनुमानप्रसाद पोद्दार
अध्यक्ष
पं० सुरतिनारायण मणि त्रिपाठी अभिनन्दन समिति

अनुक्रम

शुभकामनाएँ एवं सन्देश — ११–२४

खंड १
व्यक्ति और व्यक्तित्व

१. श्रीसुरतिनारायण मणि त्रिपाठी	विश्वम्भरनाथ त्रिपाठी	१
२. आदर्श व्यक्ति का अभिनन्दन	सच्चिदानन्द मिश्र	६
३. पं० सुरतिनारायण मणि त्रिपाठी : व्यक्तित्व और संस्मरण	चन्द्रबली त्रिपाठी	११
४. गोरखपुर विश्वविद्यालय और पं० सुरति-नारायण मणि त्रिपाठी	पुरुषोत्तमदास मोदी	२७
५. फाइलों से घिरा हुआ तपोनिष्ठ मनस्वी	डॉ० शम्भुनाथ सिंह	४०
६. त्रिपाठीजी की दुर्लभ विशेषताएँ	रामप्रताप त्रिपाठी, शास्त्री	४८
७. त्रिपाठी जी : व्यक्तित्व और विचार	देवर्षि सनाढ्य	५२
८. एक श्रद्धाञ्जलि	हरिश्चन्द्रपति त्रिपाठी	५५
९. मेरे मणि, मेरे सहपाठी	स्वर्गीय श्रीकृपाशकर	५६
१०. एक दृढ़संकल्प व्यक्ति	श्यामसुन्दरनाथ आगा	५७
११. अटूट अध्यवसायी	रामप्रसाद पाण्डेय	५८
१२. कुशल प्रशासक	राधाकृष्ण अग्रवाल	५९
१३. कर्त्तव्यनिष्ठ व्यक्तित्व	मिट्ठनलाल	६०
१४. मेरे मित्र	डॉ० दीनदयालु गुप्त	६१
१५. मेरे आराध्य : एक व्यक्तित्व विश्लेषण	केशवचन्द्र मिश्र	६३
१६. कुछ संस्मरण	चन्द्रभाल ओझा	६९

खंड २
संस्कृत

१. वेदस्वरूपविमर्शः	हरिहरानन्द सरस्वती (करपात्रमहाराजा)	१
२. वेदेषु देवदेवतातत्त्वयोर्विमर्शः	चक्रवर्ती रघुराजमिश्र	१५
३. आभासवादः (श्रीशाङ्कराद्वैतसिद्धान्तान्तर्गतः)	वीरमणिप्रसाद उपाध्यायः	२६
४. वैशेषिकदर्शने मुनिना कणादेन व्याख्यातो धर्मः	बदरीनाथ शुक्ल.	३२
५. श्रीरामानुजदर्शनम्	को० व० श्रीनीलमेघाचार्य.	३७
६. भारवे स्वकाव्यार्थगौरवानुसन्धानम्	डॉ० सत्यव्रतसिंह	५१
७. साङ्ख्ययोगयोस्तत्वज्ञानम्	पं० श्रीहरिराम शुक्लः	५५
८. प्राच्यपाश्चात्यदर्शनयोर्मनस्तत्त्वविमर्शः	डॉ० रामचन्द्र शर्मा पाण्डेयः	६३
९. भट्टप्रभाकरयोः प्रस्थानभेदः	रामचन्द्रशास्त्री खनङ्गः	७४
१०. प्रकृताप्रकृतश्लेषविचारः	टि० वी० रामचन्द्रदीक्षितः	७९
११. सङ्खारसद्दत्थवण्णनां	भिक्खु जगदीस कस्सपो	८५
१२. भगवद्भक्तेः स्वरूपम	डॉ० सिद्धेश्वर भट्टाचार्य	९०
१३. वाल्मीकीये रामायणे रामस्येश्वरावतारत्वम्	म० म० प० गिरिधरशर्मा चतुर्वेदः	९४

खंड ३-४
इतिहास, संस्कृति, कला एवं साहित्य

१. सस्कृति और भारतीयता	डॉ० गोविन्दचन्द्र पाण्डेय	१
२. भरहुत कला की धर्म-भावना	डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल	६
३. भारतीय इतिहास में कालिदास और विक्रमादित्य	डॉ० राजवली पाण्डेय	१३
४. भारतीय चित्रकला . उद्भव और विकास	वाचस्पति गैरोला	२१
५. काशी के हाथी-दाँत के चित्र	डॉ० राय गोविन्दचन्द	२६
६. मथुरा-कला में मागलिक चिह्न	डॉ० नीलकण्ठ पुरुषोत्तम जोशी	३२
७. सैन्धव स्थापत्य	पृथ्वीकुमार अग्रवाल	३८
८. संस्कृत-साहित्य की पृष्ठभूमि और विशिष्टता	डॉ० विद्यानिवास मिश्र	४६
९. ब्रह्मी अथवा ब्राह्मी—वैदिक भाषा और लिपि	डॉ० विश्वम्भरशरण पाठक	५८
१०. श्रीकृष्ण का लौकिक चरित : एक विश्लेषण	बलदेव उपाध्याय	६१
११. पुराणो में कल्पसूत्र का प्रसग	डॉ० रामशकर भट्टाचार्य	७२
१२. मनुस्मृति की कुछ समस्याएँ	डॉ० हरिहरनाथ त्रिपाठी	७५
१३. मध्यकालीन तांत्रिक धर्मों का विकासस्थल	शिवकुमार शर्मा 'मानव'	८६
१४. वसुबन्धु की तिथि और संरक्षक सम्राट्	श्रीराम गोयल	१०१
१५. मध्ययुगीन भारतीय समाज	डॉ० वासुदेव उपाध्याय	१०७
१६. महायान बौद्धधर्म की उत्पत्ति और विकास	डॉ० लालमणि जोशी	११२
१७. वैदिक देवता अग्नि	चन्द्रचूड़मणि	१३१
१८. भारतीय कला का दार्शनिक आधार	डॉ० बलराम श्रीवास्तव	१३७
१९. भारत के प्राचीन विश्वविद्यालय और स्त्री-शिक्षा	चन्द्रबली त्रिपाठी	१४४
२०. मौर्यों का अवसान एवं पुष्यमित्र शुंग का अभ्युदय	रामलखन शर्मा	१५७
२१. नाथ सिद्धों और बौद्ध सिद्धो के सम्बन्ध पर पुर्नविचार	डॉ० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय	१६६
२२. हिन्दी साहित्य : उद्भव-काल और विस्तार-क्षेत्र	डॉ० शम्भुनाथ सिंह	१७३
२३. रस की सुखदुःखात्मकता : करुण आदि रसों का आस्वाद	डॉ० सत्यदेव चौधरी	१८६
२४. अपभ्रंश में रामकाव्य की परम्परा	सोमेश्वर सिंह	१९२
२५. अठारहवीं शती का जैन गुर्जर काव्य	डॉ० श्यामसुन्दर शुक्ल	१९८
२६. नाटक के तत्त्व : भारतीय दृष्टि	डॉ० देवर्षि सनाढ्य	२०९
२७. मध्यकालीन भारत में निर्गुण काव्य-साधना और उसकी व्यापकता	आचार्य परशुराम चतुर्वेदी	२१८
२८. वृन्दावन की कुछ भूमिकाएँ	करुणापति त्रिपाठी	२२७
२९. पाश्चात्य काव्य-समीक्षा का विकास-क्रम	डॉ० श्रीपति शर्मा	२६१

शुभ कामनाएं
एवं
सन्देश

RASHTRAPATI BHAVAN,
NEW DELHI-4
राष्ट्रपति भवन,
नई दिल्ली-4 ।

फाल्गुण ७, १८८६ (शक)

फरवरी २६, १९६५

प्रिय महोदय,

आपके दिनांक १८ फरवरी, १९६५ के पत्र से मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुयी कि श्री सुरतिनारायण मणि त्रिपाठी के ६५ वर्ष पूर्ण होने के उपलक्ष्य में दिनांक ४ अप्रैल, १९६५ को राजस्थान के राज्यपाल डा० सम्पूर्णानन्द की अध्यक्षता में उनका सार्वजनिक अभिनन्दन करने एवं अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करने का आयोजन किया जारहा है ।

इस अवसर पर मैं श्री त्रिपाठी के सुखी एवं दीर्घ जीवन के लिये शुभकामनायें भेजता हूं ।

भवदीय,

[signature]

(स० राधाकृष्णन्)

मुझे यह जानकर खुशी हुई कि आप श्री पं० सुरतिनारायण मणि त्रिपाठी का एक सार्वजनिक अभिनन्दन करने जा रहे है । मैं अभिनन्दन ग्रन्थ.तथा समारोह की सफलता के लिए हार्दिक शुभकामनाएँ भेजता हूँ ।

—डॉ० जाकिर हुसैन
उपराष्ट्रपति

मेरी शुभकामना है कि श्री सुरतिनारायण मणि त्रिपाठी की ६५वी वर्ष-गाँठ के उपलक्ष्य में आप जो आयोजन कर रहे हैं, उसमे आपको पूर्ण सफलता मिले ।

—श्री श्रीप्रकाश
वाराणसी

इस अवसर पर मै त्रिपाठीजी के दीर्घायु होने की शुभकामना करता हूँ और आपके समारोह की सफलता चाहता हूँ ।

—श्री मोहनलाल सुखाड़िया
मुख्य मंत्री, राजस्थान

मै इस अवसर पर भगवान् से प्रार्थना करता हूँ कि त्रिपाठीजी दीर्घायु हों और इसी तरह समाज और देश की सेवा करते रहे ।

आपके आयोजन की सफलता के लिए मेरी हार्दिक शुभ कामनाएँ ।

—श्री त्रिभुवननारायण सिह
मंत्री, भारी इंजीनियरिंग, भारत सरकार

त्रिपाठीजी से मेरा प्रयाग विश्वविद्यालय मे छात्रावस्था के समय से परिचय है। उसके बाद वह उत्तर-प्रदेश मे सहयोगी भी रहे। जब भी वह कोई काम करते थे, उसके फलस्वरूप उन्हे यश ही प्राप्त होता था।

वाराणसेय सस्कृत विश्वविद्यालय के उपकुलपति पद पर कार्य करते हुए संस्कृत साहित्य की बहुमूल्य निधि अनेक पाण्डुलिपियो के संग्रह, सस्कृत तथा समवर्गी विषयों की सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची के संकलन मे जो योगदान दिया है, उसके लिए त्रिपाठी जी भूरि-भूरि साधुवाद के पात्र हैं।

समिति के इस कार्य के लिए मै हृदय से सफलता की कामना करता हूँ।

—श्री भोलानाथ झा

अध्यक्ष, केन्द्रीय जनसेवा आयोग, नयी दिल्ली

त्रिपाठी जी ने अपनी बौद्धिक और चारित्रिक योग्यता से उत्तर-प्रदेश के प्रशासनिक कार्यों में अपना एक मानक प्रतिष्ठित कर दिया। उन्होंने गोरखपुर मे विश्वविद्यालय की स्थापना कर उत्तर-प्रदेश के पूर्वोत्तर अंचल की तरुण प्रतिभाओ को विकास का एक अवसर प्रदान किया है। वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय का जिस कुशलता के साथ आज वह संचालन कर रहे है, वह उनकी बौद्धिक और प्राशासनिक योग्यता का प्रत्यक्ष प्रमाण है। उनके जैसा व्यक्तित्व आज विरल है। भगवान् उन्हे शतायु करें, यही मेरी शुभकामना है।

—डॉ० लक्ष्मीनारायण सुधांशु

अध्यक्ष, बिहार विधान सभा, पटना

इस अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पण के शुभ अवसर पर मै अपनी हार्दिक शुभ कामनाएँ भेजता हूँ।

—श्री आ० वि० राव

उप कुलपति, लखनऊ विश्वविद्यालय

मेरी प्रार्थना है कि परमात्मा त्रिपाठीजी को स्वस्थ, सुखी तथा चिरायु रखे ।

—श्री चरणसिह
कृषि मंत्री, उत्तर प्रदेश

◯◯

आयोजन सामयिक एवं स्तुत्य है । इस शुभ अवसर पर अपनी श्रद्धाजलियाँ अर्पित करते हुए समारोह की सफलता की कामना करता हूँ ।

—श्री शम्भूनाथ शुक्ल
वित्त मंत्री, मध्यप्रदेश, भोपाल

◯◯

मुझे यह जानकर अतीव हर्ष है कि पण्डित सुरतिनारायण मणि त्रिपाठी को आप लोग अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट करने जा रहे है । त्रिपाठीजी के उदात्त आभिजात्य-सुलभ गुणों का प्रभाव उनसे प्रथम परिचय मे ही गहरा पड़ जाता है । मैं उन्हें एक लम्बे अरसे से देख रहा हूँ एक स्वाभिमानी और कर्मठ व्यक्तित्व के रूप में, एक व्यवस्था-निर्माता प्रशासक के रूप मे, एक दृढ़निष्ठ हिन्दी-सेवी और संस्कृति-आराधक के रूप मे । वे झुकते नही, पर अवसर आता है तो अपने विरोधी को भी प्रबल समर्थन देकर अपना मुरीद बना लेते है । वे कठिन से कठिन परिस्थिति में भी कभी विचलित नही होते, उल्टे उनसे जूझने में उन्हें रस आता है । वे भारतीय संस्कृति और हिन्दी के प्रति अपनी निष्ठा निभाने मे हमेशा प्रखर रहे है ।

उत्तरप्रदेश की एक भाषासमिति मे मैंने उनकी निर्भीक वाग्मिता, तर्क-कुशलता और दृढ़ता का साक्षात् परिचय पाया है । गोरखपुर विश्वविद्यालय और संस्कृत विश्वविद्यालय उनकी रचनात्मक प्रतिभा के दो महान् कार्य है ।

आदर्श और व्यवहार को जो उन्होंने एक-दूसरे के पूरक के रूप मे रखकर अपने जीवन में उतारा है, वह भारत की वर्त्तमान पीढ़ी के लिए अनुकरणीय है । महाकवि भारवि के शब्दों में 'स तु तत्र विशेषदुर्लभः सदुपन्यस्यति कृत्यवर्त्म यः' जो रास्ता बनाता है, वह व्यक्ति दुर्लभ है ।

मै पण्डित त्रिपाठी के सतत यशस्वी और चिरायु होने की कामना करता हूँ ।

—श्री श्रीनारायण चतुर्वेदी

सम्पादक, 'सरस्वती'

००

त्रिपाठीजी से मैं विगत अनेक वर्षो से परिचित हूँ । भारतीय संस्कृति तथा शिक्षा का प्रसार उनके जीवन का लक्ष्य रहा है । शासकीय सेवा मे रहते हुए गोरखपुर विश्वविद्यालय के निर्माण मे उनका योगदान अविस्मरणीय है । वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के उपकुलपति के रूप मे भारतीय विद्या एवं संस्कृति के समुन्नयन के स्तुत्य कार्य मे आप संप्रति निरत है । मै आपके अखण्ड स्वास्थ्य एवं दीर्घायुष्य की कामना करता हूँ ।

—श्री मदनमोहन

सदस्य, विधान परिषद, उत्तर प्रदेश
अध्यक्ष, विश्वविद्यालय अनुदान समिति,
उपकुलपति, गोरखपुर विश्वविद्यालय

मैं श्री त्रिपाठीजी को विगत अनेक वर्षों से जानता हूँ । वे एक सफल प्रशासक रहे हैं; साथ ही उन्होंने साहित्य और शिक्षा के क्षेत्र मे भी प्रशंसनीय सहयोग दिया है । पिछले कुछ वर्षों से वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के उपकुलपति के रूप मे वे और भी उत्साह और लगन के साथ कार्य कर रहे हैं । मुझे पूरा विश्वास है कि अभी अनेक वर्षों तक शिक्षा के क्षेत्र मे, विशेषकर संस्कृत शिक्षा के प्रसार-कार्य मे उनकी सेवाएँ हमारे देश, विशेषकर उत्तर प्रदेश, को प्राप्त हो सकेंगी । अतः मैं इस अवसर पर आपके इस आयोजन की पूर्ण सफलता के लिये अपनी मंगलकामनाये प्रेषित करता हूँ ।

—श्री भक्तदर्शन

उप शिक्षामंत्री, भारत, नयी दिल्ली

त्रिपाठीजी ने कई क्षेत्रों मे जनता की सेवा की है और गोरखपुर एवं वाराणसी मण्डल मे तो उनकी सेवाएँ अद्वितीय ही है। यह उचित ही है कि आप सार्वजनिक अभिनन्दन करके उनका सम्मान कर रहे है।

—श्री चतुर्भुज शर्मा
मंत्री, स्वायत्त शासन, उत्तर प्रदेश, लखनऊ

∞

त्रिपाठीजी का सामाजिक, सांस्कृतिक और शैक्षणिक क्षेत्र में, विशेषकर संस्कृत की शिक्षा के प्रसार के लिए उनका प्रयत्न श्लाघनीय है। मेरी शुभ-कामना है कि त्रिपाठीजी शतायु हों एवं इसी प्रकार देश और समाज की सेवा में रत रहें।

अभिनन्दन-ग्रन्थ उपयोगी सिद्ध हो।

—श्री जगजीवनराम
सदस्य, लोकसभा
भूतपूर्व संचार मंत्री, भारत सरकार

∞

बाबा विश्वनाथ त्रिपाठीजी को दीर्घ जीवन प्रदान करें कि वे संस्कृत की सेवा करते रहे।

—श्री विभूतिनारायण सिंह,
महाराज, बनारस

∞

इस समारोह के प्रति आन्तरिक भाव से अपनी शुभकामना प्रस्तुत करता हूँ और मैं भगवान् विश्वनाथ से प्रार्थना हूँ कि श्रीमान् त्रिपाठीजी स्वस्थ शरीर में दीर्घजीवी होकर शिक्षा-विभाग में विभिन्न प्रकार के सर्वजन-हितकर अनुष्ठान करते रहें।

—पद्मविभूषण पं० गोपीनाथ कविराज
वाराणसी

त्रिपाठीजी ने अपने सेवा-काल मे विभिन्न पदो पर रहकर कुशल प्रशासक होने का परिचय दिया है। प्रशासन की जटिल समस्याओ के बीच मे निरन्तर उनका उत्साह और योग अनुकरणीय रहा है। अब वे संस्कृत विश्वविद्यालय के गौरवपूर्ण पद का उत्तरदायित्व सँभाले हुए है। मैं इस शुभ अवसर पर उनको हार्दिक बधाई देता हूँ और कामना करता हूँ कि वे हमारे मध्य मे दीर्घ काल तक रहे जिससे अधिक समय तक अपनी योग्यता का लाभ समाज को दे सके।

—श्री कैलाशप्रकाश
शिक्षा-मन्त्री, उत्तरप्रदेश

ഠഠ

इस अभिनन्दन-समारोह के लिए संयोजकवर्ग बधाई के पात्र हैं और मैं आपकी भावनाओं से अपने आपको सम्बद्ध करता हूँ तथा शुभ-कामनाये भेजता हूँ कि आपका यह समारोह सफलतापूर्वक सम्पन्न हो।

—श्री मदनमोहन वर्मा
अध्यक्ष, विधानसभा, उत्तर प्रदेश।

ഠഠ

श्री त्रिपाठीजी ने शिक्षा के क्षेत्र मे अनेक बहुमूल्य कार्य किये है। उनमे से गोरखपुर विश्वविद्यालय की स्थापना एक ज्वलंत उदाहरण है। वे अच्छे समाज-सेवी, विद्वान्, संस्कृत के प्रकाड पण्डित और कुशल प्रशासक है। मैं आपके समारोह की पूर्ण सफलता की कामना करता हूँ।

—श्री दरबारीलाल शर्मा,
अध्यक्ष, विधानपरिषद्, उत्तरप्रदेश

AN ABLE ADMINISTRATOR

" I intended to take part at the 65th Birthday celebrations of Pt :S. N.M. Tripathi at Gorakhpur on the 4th April 1965 but I have fixed up an unavoidable engagement at Bombay".. ."For reasons of health.. I have to deny myself the pleasure of participating in the Birthday celebrations. I am glad to see that the citizens of Gorakhpur are interested themselves in this task. I wish it all success."

"During the short period I had the occasion to come into contact with him, I have been impressed with his zeal and enthusiasm for the ancient culture of our land and the study of Sanskrit alongwith it. I had the privilege of attending the Conference of Vedic Pandits and their recitations. It was a unique feature of the University I had the pleasure of attending the last convocation where the Prime Minister delivered the address and lastly I attended the Tantric Sammelan. All these were well planned and arranged. Though he fell ill at the last hour before the Tantrik Sammelan, he had made all the necessary arrangements earlier I learn that he is an able administrator and he has brought to bear that skill, ability and experience on the administration of the Sanskrit University. I pray to the Almighty that He may grant him long life, health and strength to serve the cause of Sanskrit and our culture and to serve the country in an ever-increasing measure. I wish the celebrations every success "

Sri M. Ananthasayanam Ayyangar
Governor of Bihar

PANDIT MADAN MOHAN MALAVIYA OF GORAKHPUR

Pandit Tripathiji and myself have laboured together in the planning and forming processes of the University of Gorakhpur, but I can assure every one in Gorakhpur that except for his undying determination, indefatigable efforts, most sincere, conscious and conscientious enthusiasm the University of Gorakhpur would perhaps have not seen the light of day at the time it did. He fought almost single handed a battle which could have overwhelmed him, but he had a clear vision, indomitable courage and impenetrable patience, which kept him in the saddle. The result is he won the race ultimately, and in consequence not only the citizens of Gorakhpur city, but the entire people of the whole Division of Gorakhpur stretching from the Ghaghra river to Nepal Tarai have today a University of their own. Needless therefore to say the presentation of a commemmorative volume extolling his arduous labours is not only a fitting tribute to Pandit Tripathiji, but also to the people of Gorakhpur themselves. It evinces their judgement as well as their appreciation. My most sincere and warm congratulations to Pandit Tripathiji with the fullest hope and prayer that in the very near future God would grant him strength and opportunity to pilot the destinies of the institution of which he indeed, is the most prominent architect. There are no doubt others who legitimately share in this noble accomplishment. But no one has a greater right to this unique distinction except Pandit S. N. M Tripathi. Undoubtelly he is Pandit Madan Mohan Malaviya of Gorakhpur.

Dr. C. J. Chacko

Ex. Principal, St. Andrew's College, Gorakhpur.
Retd Professor of Political Science and Dean,
Faculty of Arts, Delhi University.
Secretary-General, The Indian Society of International Law.

TWO WORLDS

In town last week on his way to attend the three-day national conference of orientalists (which concludes today) at Gauhati was an eldery gentleman who argued with lucid rationality in defence of an unbending orthodoxy, Pandit S. N. M. Tripathi's chequered career may have had much to do with reconciling these seemingly irreconcilable states of mind. As a District Commissioner in U. P. and a founder-member of Gorakhpur University, as member of the State's Public Service Commission, and, finally, as Court-appointed managing director of the B I. Co, Tripathiji (as he is called) has had considerable experience in the practical affairs of men.

But all that lies in the past. Just over two years ago, when the Panditji accepted the Vice-Chancellorship of the Sanskrit Vishwavidyalaya at Varanasi, he returned to his first love—the subject in which he took his master's degree from Allahabad. Born into a family of scholarly Brahmins, and himself a yogi into the bargain, Pandit Tripathi has proved, however, that he is not willing to let the pandits and acharyas who graduate from his college (founded by the Hon'ble East India Co. in 1791) forgo their share of modern prosperity Through his efforts, graduates of the Vishwavidyalaya, which has some 1,200 affiliated colleges all over the country, became eligible to sit for UPSC examinations last year.

On the question of the validity of Sanskrit learning in the present day - the rock on which Punjab's Kurukshetra University threatened to flounder - Tripathiji is utterly uncompromising. "It is not identity of knowledge that matters", he insists with vigour, "but parity of standard, and the man who has studied the vedant has reached the same degree of mental development as the man who has studied Kant". To that he adds that whereas modern sciences are still exploratory, the traditional subjects taught at the Vishwavidyalaya—vana shastra, ayurveda, and nyaya, for example—have all reached a safe finality.

Tripathiji's only complaint is that though there has been a steady growth of interest in Sanskrit - there are now about 20 reputable journals published regularly in that language and even two daily newspapers - the pathashalas still do not attract the best students. Tuition and board and lodging are free at the Vishwavidyalaya and its efforts are spent largely on what Tripathiji calls, with an honesty that commands respect, the rejects of the academic world.

Jan. 4, 1965.

THE STATESMAN
Calcutta

वाक्पुष्पाञ्जलिः

- भूपेन्द्रपति त्रिपाठी

पृथिव्या प्राथम्यं प्रथयति पृथोरेष विषय:
प्रदेशोऽय भव्यं भजति महिमान निजगुणै ।
द्विजातीना वन्द्ये भुवनविदिते भूसुरकुले
सुजात. सूर्याभो भुवि सुरतिनारायणमणि: ।।१।।

उदीत: पूर्वस्या प्रथम निजरागं प्रकटयन्
मयूखै. सकोच हृदयकुमुदानां विघटयन् ।
बहूना विद्यानामतिनिबिडजालं कवलयन्
क्रमेणारूढोऽसाववनिमहिमान द्विजमणि: ।।२।।

समारब्धं येन प्रथममभिधानं प्रथमत:
न बुद्धौ यस्याऽऽसीत् क्वचिदपि समानो निजसख: ।
सदा मुख्यं स्थानं समधिगतवानेष सुधियाम्
मणिर्मूर्धन्यानामवनिसुरराजो विजयते ।।३।।

प्रवीण. प्राचीने तदनु च नवीनेऽपि निपुण:
गुणानामाकारो जलधिरिव गाम्भीर्यगरिमा ।
द्विजानामाधारो हरिरिव सुराणामधिपति.
समालब्धश्चिन्तामणिरिव महानेष मणिमान् ।।४।।

उपाधीर्लब्ध्वैव प्रथममधिरूढोऽग्रपदवीम्
सुराजेवाऽऽसीनोऽधिगतमधिमञ्चं विरुरुचे ।
प्रजानां भूत्यर्थं सततमभवन् यस्य नियमा:
जिलाधीशो ह्येष प्रियतम इवासीत् प्रियतम: ।।५।।

पुरा गौराङ्गाणामवनितलरूढे प्रभुपदे
तिरस्कारज्वाले ज्वलति जनताक्रोशनिनदे ।
समाक्रान्ते गौरैरखिलमपि मूर्धन्यसुपदे
तदाप्यारूढोऽसि प्रथमपदवी भूसुरमणे ।।६।।

समारूढा यावन्नृवर भवताऽधीशपदवी
समस्ते विश्वस्मिन् विमलयशसा व्याप्तजगता ।
समालब्धा तादृक् द्विजवरभवन् मानपदवी
नरैरन्यैस्तस्मिन्नधिगतपदे सा न सुलभा ।।७।।

परित्यक्ता यावत् क्षितिसुर जिलाधीशपदवी
समाक्रान्ता तावत् त्वरितमितरा राज्यपदवी ।
समारूढ सत्ताधिकरणविधाने परिवृढ.
विवेकस्ते श्लाघ्यो जनगणनियोगेष्वतिदृढः ।।८।।

नियुक्तिर्लोकानामभवदधिकारेऽपि भवतः
विमोहो नाल्पोऽपि स्वमतिनिकषे स्थानमभजत् ।
स्वकार्ये दक्षत्वं प्रकटयति धीरेऽवनिसुरे
त्वयिन्यस्तो भारो निजपरिषदा कार्यकुशले ।।९।।

न यावत्तत्कार्यं स्थगितमभवद्राजसमयात्
समाहूतस्तावद् ब्रिटिशविनियोगाधिकरणे ।
न तत्राश्चर्यं नो भवति गुणिनामेष नियमः
समस्तो लोको यन्मुखसरसिजालोकनपरः ।।१०।।

विना सन्नेतारं व्रजति हि विकारं महदपि
सुनेता लब्धश्चेत् भजति महिमानं लघुरपि ।
वृतो वाराणस्यां प्रखरप्रतिभावास्त्वमधुना
ततो दिव्या वाणी पुनरपि समाश्वासमगमत् ।।११।।

यदा वाराणस्यां कुलपतिपदं प्रापि भवता
प्रकर्षो हर्षस्य प्रथयति विकासं सुमनसाम् ।
समुल्लासं चेतो व्रजति ननु सर्वत्र विदुषाम्
विकासो भारत्या भवतु भवतो लब्धविभवः ।।१२।।

गृहीते भारेऽस्मिन् भवति भविता नः समुदयः
समुद्धारो धुर्ये धरति धुरि धीरे ध्रुवमिव ।
यदारब्धं वीरैर्न भवति विरामोऽनवसिते
तमो ध्वसं कृत्वा वितरति विकासं दिनमणिः ।।१३।।

महत्कार्यं कार्यं भवति न नवीनं तव कृते
प्रतिष्ठां नीतो यद् गुरुकुलमहानेव भवता ।
धुरीणे शेषे हि प्रथममवनेर्भारसहने
हरिर्बिभ्रद्विश्वं स्वपिति जगदीशो बहुयुगम् ।।१४।।

यदध्यक्षः श्रीमान् व्रजति विनियोगं प्रतिदिनम्
प्रकाशं वीक्षन्तेऽनुदिनमधुना ये तव पुरः
तदन्ये दूरस्थाः भ्रमणविकला ध्वान्तसरणौ
शरण्यं सम्प्राप्ता अवनिसुरनारायणमणे ।।१५।।

दिव्यां वाचं जनेषु प्रतिपथमवनेः प्रापयिष्यन् प्रतिष्ठा-
मत्रत्यां संस्कृतिञ्च प्रतिजनमनसां लम्भयन् माननीयाम् ।
विद्वद्वर्यं समन्ताद्विपदि निपतितं तोषयन् वृत्तिदानैः
जीव्यान्नारायणश्रीः सुरतिमणियुतः पूर्णकामः शतायुः ।।१६।।

श्री सुरतिनारायण मणि त्रिपाठी

विश्वम्भरनाथ त्रिपाठी

देवरिया (उस समय का गोरखपुर) जनपद के 'बरपार' गॉव मे माघ कृष्ण पचमी, विक्रम सवत् १६५६ (१ फरवरी. १६०० ई०) को मध्यवर्गीय जमीन्दार प० रामटहलमणि त्रिपाठी के यहाँ जिस बालक का पृथ्वी पर अवतरण हुआ था, उसे आज लोग सुरतिनारायणमणि त्रिपाठी के नाम से जानते है। छ भाइयो और तीन बहनो मे श्री त्रिपाठी सबसे छोटे थे। डेढ वर्ष की वय में ही महिमामयी माता का स्वर्गवास हो गया। मातृहीन शिशु के ऊपर समस्त परिवार का स्नेह केन्द्रित होना स्वाभाविक था। पिता और तीसरे बडे भाई ने तो अपना सारा स्नेह लुटा दिया उस बालक पर।

पाँच वर्ष बीते, गॉव मे शिक्षा के लिए मात्र सुलभ साधन लोअर प्राइमरी स्कूल मे उस शिशु को पढने के लिए भेजा गया। कुशाग्र बुद्धि श्रीत्रिपाठी ने शीघ्र ही डग भरे, कक्षा दो को पार कर लिया और फिर दो मील की दूरी पर स्थित अपर प्राइमरी स्कूल मे उनका प्रवेश हुआ। १६१२ ई० मे वही से उन्होने चौथी कक्षा उत्तीर्ण की। बहुत सोच-विचार, हिचकिचाहट एवं तर्क-वितर्क के बाद, आगे पढ़ने के लिए, मझौली वर्नाक्यूलर मिडिल स्कूल, मे भेजा गया। १६१४ ई० मे वही से मिडिल स्कूल की फाइनल परीक्षा श्री त्रिपाठी ने प्रथम श्रेणी मे उत्तीर्ण की।

एक बार पुन अंग्रेजी शिक्षा के सुपरिणाम और दुष्परिणाम के सम्बन्ध मे ऊहापोह हुआ। उन दिनो अग्रेजी शिक्षा को शका की दृष्टि से देखा जाता था। बालक की प्रतिभा की परख ने यह सिद्ध कर दिया था कि बालक होनहार है। धारणा बन चुकी थी कि यदि श्री त्रिपाठी को अंग्रेजी शिक्षा दी गयी तो भविष्य समुज्ज्वल होगा। इस स्थिति मे भी निर्णय पर पहुँचना दुरूह हो गया, कारण, तत्कालीन जमीन्दार परिवार अग्रेजी शिक्षा के समर्थक न थे और परिवार का धार्मिक परिवेश भी अधर्म की आशका से आक्रान्त था। श्री त्रिपाठी को विधर्मी बना देगी साहबी शिक्षा, ऐसा सहज विश्वास था लोगो का। मातृ-स्नेह की पूर्ति करते-करते पिता का जो प्रेम उस बालक के चारों ओर उच्छल हो गया था, वह भी अपने घेरे को ज्यो का त्यों रखना चाहता था। दूरंदेशी बडे भाई ने कर्तव्य की कठोरता से अपने स्नेह का दमन कर दृढता का प्रदर्शन किया। उत्तम-से-उत्तम सुलभ शिक्षा दिला कर, भविष्य-द्रष्टा बड़े भाई, अपने अनुज की उदीषा के द्वार उन्मुक्त करना चाहते थे। अन्तत. आगे की पढाई के निमित्त वे अपने अनुज को गोरखपुर ले आये। पिता ने विरोध नही किया, पर स्वीकृति भी नही दी प्रसन्नमना होकर, ठीक उसी प्रकार जैसे दशरथ ने विश्वामित्र के साथ राम को भेजने मे उत्साह नही प्रकट किया था।

यद्यपि नाम लिखाने मे काफी देर हो चुकी थी, फिर भी, मिडिल मे प्रथम श्रेणी मिलने के कारण हाई स्कूल (आज का महात्मा गाँधी इटर मीडिएट कालेज) मे स्थान मिल गया। अपनी कक्षा मे अल्पायु श्री त्रिपाठी ही थे, अन्य छात्र अपेक्षाकृत वय में अधिक थे। शीघ्र ही श्री त्रिपाठी

ने अपनी प्रतिभा से अपने अध्यापकों और सहपाठियो मे प्रसिद्धि प्राप्त कर ली। आठवी कक्षा के बाद मिलने वाली 'हाई स्कूल छात्रवृत्ति' की प्रतियोगितात्मक परीक्षा मे श्री त्रिपाठी की मेधा ने सम्पूर्ण प्रदेश मे उच्च स्थान दिलाकर सफलता अर्जित की। इस प्रकार अभिप्रेरित होकर उन्होने नवी कक्षा मे गवर्नमेंट जुबली स्कूल मे प्रवेश प्राप्त किया। यह स्कूल उन दिनों प्रदेश के शिक्षा-सस्थानो मे अन्यतम स्थान रखता था। १९१९ ई० मे हाई स्कूल परीक्षा उत्तीर्ण कर देश की उत्तम शिक्षा सस्था सेंट एण्ड्रयूज कालेज के इटर आर्ट्स मे प्रविष्ट हुए और यही से दो वर्ष के अनन्तर 'इटरमीडिएट' परीक्षा उत्तीर्ण की। अब श्री त्रिपाठी ने इलाहाबाद के प्रसिद्ध 'म्योर सेंट्रल कालेज' की बी० ए० कक्षा के प्रथम वर्ष मे नाम लिखाने का प्रयत्न किया, प्रयत्न फलवान् हुआ, प्रवेश मिला और १९२३ ई० मे बी० ए० की परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। अब नवस्थापित प्रयाग विश्वविद्यालय मे प्रविष्ट होकर श्री त्रिपाठी ने १९२५ ई० मे एम० ए० तथा एल-एल० बी० की उपाधियाँ प्राप्त की। उन्होने उसी वर्ष वकालत प्रारम्भ कर दी।

श्री त्रिपाठी छात्र-जीवन मे अनेक सार्वजनिक कार्यो से सम्बद्ध थे। हिन्दू छात्र सभा के वे आरम्भ मे सयुक्त मत्री थे, बाद में अवैतनिक प्रधान मत्री बन गये। यह सस्था छात्रो तथा अन्य लोगो से धन-सग्रह कर डेढ़ सौ से दो सौ तक की छात्रवृत्ति योग्य तथा मेधावी छात्रों मे वितरित किया करती थी। इस सस्था के सरक्षण मे एक पुस्तकालय भी था जिसमे पाठ्य तथा पाठ्येतर पुस्तकों का अच्छा सग्रह था। इसी की एक शाखा सेवासमिति थी। सेवासमिति मे लोग अपनी इच्छा से स्वयंसेवक बनते थे और मेलों एवम् अन्य धार्मिक अवसरों पर जनसमुदाय मे सेवा-कार्य किया करते थे। इसकी साप्ताहिक गोष्ठियों मे वाद-विवाद तथा गीता के उपदेशो का आयोजन किया जाता था। नवी कक्षा से इटर तक के शिक्षा-काल मे श्री त्रिपाठी अपने उक्त पद पर बने रहकर अनेक स्वस्थ परम्पराओ को जन्म दिया। उस पद का परित्याग श्री त्रिपाठी ने तब किया जब उन्हे आगे की पढाई के लिए १९२१ ई० मे इलाहाबाद जाना पडा। सनातनधर्म महासभा के लिए 'सनातन धर्मभवन' के निर्माण हेतु त्रिपाठीजी ने धन-सग्रह मे अदम्य उत्साह का परिचय दिया था। उस युग मे इस प्रकार की सामाजिक सक्रियता कठिनाइयों की सृष्टि करती थी। इस प्रकार की कठिनाइयों से श्री त्रिपाठीजी को भी तीन बार जूझना पडा। श्री त्रिपाठी के प्रधान अध्यापक श्री चौधरी इस प्रकार की सामाजिक सक्रियताओ से इन्हें मुक्त करने के लिए प्रयत्नशील थे, पर श्री सुरतिनारायणजीने छात्र सभा का प्रधान मत्रित्व तब तक किया, जब तक गोरखपुर से पढने के लिए इलाहाबाद नही चले गये। श्री त्रिपाठी की कर्मठता ने एक बार श्री चौधरी को भी परेशान कर दिया था।

प्रयाग पहुँचने पर श्री त्रिपाठी की कर्मठता का और अधिक विस्तार हुआ। सामाजिक सक्रियता अब उनके स्वभाव का एक अंग हो चुकी थी। हिन्दू छात्रावास की एसेम्बली के मत्री के रूप मे उन्हे गौरव मिला ससदीय आचरण के उच्च प्रतिमान स्थापित करने मे। 'ओरियटल सोसाइटी' के मंत्री के पद से उन्होंने अपने देश और सस्कृति की परम्परा और दाय के प्रति अपनी जागरूकता का परिचय दिया। नवस्थापित 'इलाहाबाद यूनिवर्सिटी यूनियन' की कार्य समिति का सदस्य और बाद में उपाध्यक्ष बनकर अपनी सगठनशक्ति का श्री त्रिपाठी ने उदात्तीकरण दिया। प्रयाग विश्वविद्यालय में आयोजित प्रथम 'कृतकन्यायालय' (मूटकोर्ट) मे अभियोग के वादी पक्ष को समर्थित करते हुए श्री त्रिपाठी ने कृतक अधिवक्ता के रूप में अपनी तर्कशक्ति, सूक्ष्म निरीक्षण-बुद्धि और प्रतिवादी को परास्त करने के कौशल से, उस कृतकवाद की, अध्यक्षता करने वाले न्यायाधीश लिंडसे को
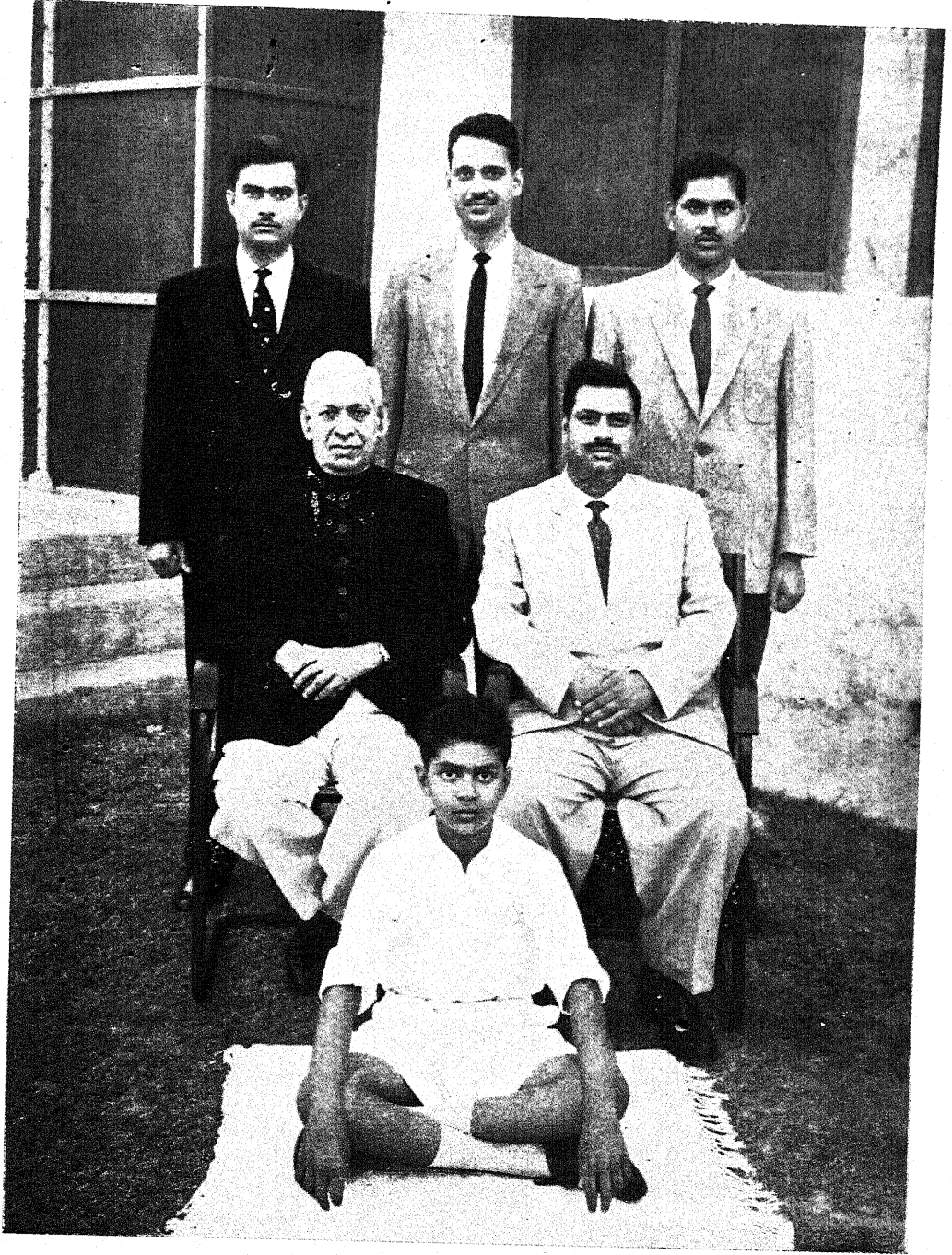
खड़े हुए— मेजर श्रीप्रकाश मणि त्रिपाठी, श्री श्रीविलास मणि त्रिपाठी. रमेशकुमार शुक्ल (दौहित्र)
कुर्सी पर— श्री सुरतिनारायण मणि त्रिपाठी. श्री श्रीनिवास मणि त्रिपाठी
सामने बैठे— श्री आनन्दकुमार मणि त्रिपाठी (पौत्र)

त्रिपाठी जी की धर्म-पत्नी श्रीमती दुर्गादेवी त्रिपाठी

मंत्रमुग्ध कर दिया। जज लिंडसे ने भारतीय मेधा के प्रति प्रबुद्ध प्रशंसक के रूप में प्रणिपात किया। उस समय की वादगोष्ठियों तथा साहित्यिक समायोजनो मे श्री त्रिपाठी सर्वत्र अपनी प्रतिभा के आलोक का वितान फैलाते रहे। इसी काल मे हिन्दू छात्रावास में 'लॉ कमीशन' के सम्बन्ध मे एक वादगोष्ठी का आयोजन किया गया। 'लॉ कमीशन' का लोकमत विरोध कर रहा था, कोई पक्ष मे बोलने को तत्पर न हुआ। हृदय से विरोध करते हुए भी श्री मणि ने मात्र वाग्वैदग्ध्य प्रदर्शन हेतु उस वादगोष्ठी मे लॉ कमीशन के सुझावों का उद्दाम साहस के साथ समर्थन किया। अपनी तर्कमूलक प्रज्ञा के आलोक मे विपक्ष को उन्होंने विनत कर दिया। स्व० सर तेजबहादुर सप्रू तथा मुंशी ईश्वरशरण उस सभा में उपस्थित थे, दोनों प्रतिभा के धनी थे, दोनों ने भावी प्रतिभामय पुरुष के सूक्त गाये। प्रयाग की तत्कालीन साहित्यिक संस्था 'इलाहाबाद लिट्रेरी सोसाइटी' मे भी श्री त्रिपाठी निरंतर अपनी उदात्त प्रतिभा का विस्तार करते रहे। 'प्रयाग विश्वविद्यालय छात्रसंघ' की वादगोष्ठियों के तो श्री मणि मणि थे, उनके अभाव मे भला प्रकाश की किरण कैसे दिपती? १९२५ ई० के जनवरी मास मे बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय मे होने वाली अखिल भारतीय अंग्रेजी वादविवाद प्रतियोगिता मे प्रयाग विश्वविद्यालय का प्रतिनिधित्व करने का गौरव भी श्री त्रिपाठी को ही मिला।

जुलाई १९२५ ई० मे श्री सुरतिनारायण मणि ने गोरखपुर में वकालत आरम्भ की। यद्यपि वकालत वहाँ आठ महीने ही की, पर इस स्वल्पावधि मे ही श्री त्रिपाठी ने अपनी प्रतिभा की धाक कानून की तीनों शाखाओं—माल, दीवानी, फौजदारी—में स्थापित कर दी। कीर्त्ति इतनी फैल चुकी थी कि फौजदारी के मुकदमों—महत्त्वपूर्ण और सनसनीखेज—मे गोरखपुर से बाहर देवरिया तथा कसिया तक सफाई पक्ष को समर्थन देने के लिए अकेले जाने लगे थे। इस व्यवसाय मे उनकी पर्याप्त अभिरुचि थी और इस हेतु उन्होने अपने आपको निर्मित भी किया था, पर नियति के विधान का कौन उल्लघन कर सका है?

पारिवारिक आज्ञा और इच्छा को शिरोधार्य कर श्री त्रिपाठी प्री.सी.एस परीक्षा मे सम्मिलित हुए और सफलता प्राप्त की। देश ने एक भावी विधिवेत्ता खो दिया, पर उसे मिला एक न्यायी, दृढ़व्रती और तटस्थ शासक। डिप्टी कलक्टर के रूप मे उनकी नियुक्ति गोरखपुर में हुई, फिर बस्ती मे। तीन मास के अनन्तर ही मुरादाबाद मे प्रशिक्षण हेतु उन्हे जाना पडा। अपनी विशेष वैदुषी प्रतिभा से वहाँ भी श्री त्रिपाठी ने अपनी महनीयता सिद्ध की। वहाँ के प्रिंसिपल ने प्रशसा करते हुए कहा था—"प्रत्यक्ष रूप मे निर्वाचित अधिकारियों मे निःसंदेह श्री त्रिपाठी सर्वोत्तम और स्तुत्य हैं।"

प्रशिक्षण के अनन्तर श्री त्रिपाठी आजमगढ में डिप्टी कलक्टर के पद पर नियुक्त हुए। अभी इस पद पर पहुँचे केवल सात महीने ही बीते थे कि उन्हे जनपद के सबसे बडे परगने का अधिकारी बना दिया गया। निश्चय ही इस प्रकार का अधिकार प्राप्त करना एक महान् गौरव का विषय था। क्योकि अभी श्री त्रिपाठी को माल और फौजदारी के प्रथम श्रेणी के अधिकार नही प्राप्त थे। आजमगढ़ मे अपने चार वर्ष के कार्यकाल में श्री त्रिपाठी ने निष्पक्षता, दृढता, कर्मठता, एवम् न्यायिक कुशलता के द्वारा उदात्त यश का अर्जन किया।

आजमगढ़ मे प्रशासन करते समय एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना घटी। इस घटना का उल्लेख श्री त्रिपाठी के चरित्र-बोध के लिए आवश्यक है। उस समय श्री त्रिपाठी नगर दण्डाधिकारी (सिटी मजिस्ट्रेट) थे। पुलिस ने नगर के प्रतिष्ठित व्यक्तियो के दो अल्पवयस्क पुत्रों को चोरी के अभियोग में गिरफ्तार कर हिरासत में ले लिया था। दण्डाधिकारी के नाते त्रिपाठीजी ने उन्हे जमानत पर

छोडने का आदेश दे दिया। प्रशासकीय विधानों के अनुसार यदि कोई जमानत करने को तैयार हो तो बाल अपराधियो को जमानत पर मुक्त किया जा सकता था और ऐसा करना कोई नियम-विरुद्ध कार्य नही था। पुलिस अधिकारियो ने त्रिपाठीजी के इस आदेश की अवहेलना की और लडको की रिहाई नही की। त्रिपाठीजी ने दूसरा आदेश निकाल कर एक विशेष व्यक्ति के हाथ कोतवाली मे भेजा। आदेश पुलिस अधीक्षक के सामने पहुँचा, तो उसने आदेश पत्र की पीठ पर लिख दिया कि दोनो लडके मुक्त नही किये जा सकते, कुछ अन्य अभियोगो के सिलसिले मे उन्हे हिरासत मे रखना आवश्यक है। पुलिस अधीक्षक के इस कार्य से लोकमत उत्तेजित हो गया था। वे लडके रिमाड हेतु नगर दण्डाधिकारी श्री त्रिपाठी के न्यायालय मे उपस्थित किये गये, उन्होने उन्हे तत्क्षण मुक्त करवा दिया। इसके बाद श्री त्रिपाठी ने जिलाधीश के पास प्रार्थना करते हुए लिखा कि पुलिस अधीक्षक, कोतवाल, तथा अन्य पुलिस अधिकारियो पर न्यायालय की मानहानि करने के लिए मुकदमा चलाया जाय। लडको की ओर से भी एक अभियोग श्री त्रिपाठीजी के न्यायालय मे उपस्थित किया गया जिसमे उन्हे अवैध तथा अनुचित रीति से हिरासत मे रोक रखने के लिए पुलिस अधीक्षक एवम् कोतवाल को दण्ड देने की प्रार्थना की गयी थी। ऐसी धारणा थी कि नगर दण्डाधिकारी एक अंग्रेज पुलिस अधीक्षक के विरुद्ध चलाये गये मुकदमे को खारिज कर देगे। आशा के विपरीत श्री त्रिपाठी ने इसे जिलाधीश के पास समुचित कार्यवाही हेतु अग्रसारित कर दिया। लडको के सरक्षको ने भी पुलिस अधीक्षक तथा कोतवाल के विरुद्ध दीवानी मे अभियोग प्रस्तुत करने के लिए विज्ञप्ति दे दी। उस युग में किसी भारतीय अधिकारी का यूरोपियन अधिकारी के विरुद्ध इस प्रकार का कठोर आचरण एक चरम दु साहस की बात थी, स्वभावत नगर मे सनसनी फैल गयी थी। अन्त मे पुलिस अधीक्षक ने श्री त्रिपाठी तथा जिलाधीश से क्षमायाचना की। शासन के कार्यकलाप मे यह घटना असाधारण मानी गयी। अग्रेज अधिकारी का, विशेषत वरिष्ठ अग्रेज अधिकारी का, एक साधारण भारतीय अधिकारी से क्षमायाचना अपने आपमे महत्त्वपूर्ण समझा गया। उस अग्रेज अधिकारी के अन्यायपूर्ण कार्य का जिस दृढता से श्री त्रिपाठी ने विरोध किया और उसे क्षमायाचना करने के लिए सवैधानिक ढग से जिस प्रकार विवश कर दिया, उसकी सर्वत्र प्रशसा की गयी। इस कार्य ने श्री त्रिपाठी को जनता के हृदय म प्रतिष्ठित कर दिया। बाद मे यह मामला समाप्त हुआ, दोनो पक्षो मे समझौता हो गया। कुछ अवर पुलिस अधिकारी न्यायालय की आज्ञा की अवमानना हेतु दण्डित किये गये। जिले की न्याय-व्यवस्था तथा दण्डाधिकारीय शासन को प्रतिष्ठा और गरिमा मिली।

श्री त्रिपाठी ने जनगणना विभाग के उप-अधीक्षक पद का कार्य सफलतापूर्वक सम्पन्न किया। गोरखपुर कमिश्नरी का सारा गणनाकार्य उन्ही के निर्देशन मे हुआ। जनगणना का मुख्य कार्यालय बस्ती में था। जनगणना कार्य समाप्त होने के बाद, उसी जिले मे डिप्टी कलक्टर का कार्य मिला। वहाँ श्री त्रिपाठी ने परगनाधीश, प्रचार अधिकारी तथा कई अन्य पदो पर रहकर अपनी प्रतिभा के आलोक का विस्तार किया। शासन की ओर से प्रकाशित होने वाले एक साप्ताहिक पत्र का उन्होने सम्पादन भी किया। श्री त्रिपाठी जी के लिए पत्र-सम्पादन एक सर्वथा नया कार्य था, पर उन्होने इसका अत्यन्त कौशल से निर्वाह किया। लगभग एक वर्ष तक इस पत्र का सम्पादन करने के अनन्तर वे चार मास के अवकाश पर चले गये।

अवकाश समाप्ति के अनन्तर श्री त्रिपाठी १९३३ ई० मे सुलतानपुर गये तथा तदनन्तर
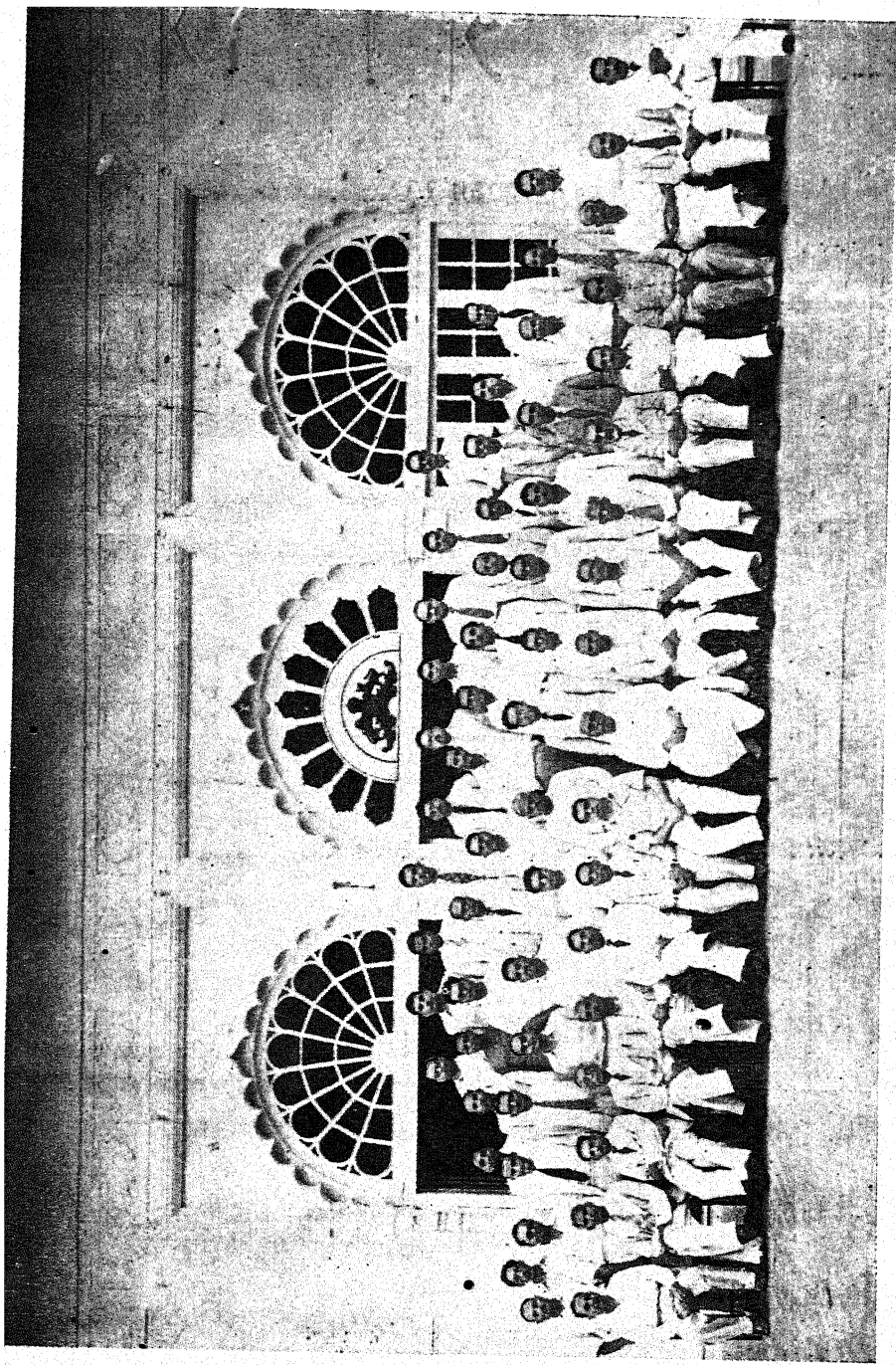
उत्तरप्रदेश सिविलसर्विस परिषद् के अध्यक्ष—माननीय पं० गोविन्दवल्लभ पन्त के साथ, १९४८

१९३६ ई० के मई मास में सीतापुर मे कोट ऑफ वार्डस् के विशेप व्यवस्थापक का कार्यभार ग्रहण किया। श्री त्रिपाठीजी ऐसे सर्वप्रथम भारतीय थे जिन्हे सबसे वडे कोर्ट ऑफ वार्डस् का अधिकारी वनाया गया। तदनन्तर उन्होने गोडा मे कोर्ट ऑफ वार्डस् के विशेष व्यवस्थापक के पद को अलकृत किया। १९३८ ई० मे उस पद से स्थानान्तरित कर श्री त्रिपाठी को बन्दोबस्त विभाग के सहायक अभिलेख अधिकारी के पद पर भेज दिया गया। दो वर्ष के बाद श्री त्रिपाठी को प्रतापगढ मे रिवाई-जिंग अफसर बनाया गया। यद्यपि त्रिपाठीजी बन्दोबस्त विभाग मे सर्वथा नये थे, फिर भी इनकी कार्यकुशलता के कारण इन्हे उक्त पद दिया गया। प्रतापगढ़ का पुनरीक्षण कार्य के समाप्त होते ही श्री त्रिपाठी का स्थानान्तरण उसी पद पर बस्ती मे हो गया। उन्होने वहाँ का पुनरीक्षण १९४३ के अक्तूबर तक समाप्त कर दिया। बस्ती मे हवाई अड्डे का निर्माण हो रहा था, श्री त्रिपाठी को वहाँ का अधिकारी बनाया गया। हवाई अड्डे का निर्माण कार्य रुक जाने पर उनका प्रत्यावर्तन डिप्टी-कलक्टर के पद पर उसी जिले मे कर दिया गया। बस्ती मे उस समय श्री त्रिपाठी बाँसी के परगना-धीश के पद पर थे। थोडे ही दिनो के बाद, अप्रैल १९४४ मे उन्होने उद्योग विभाग मे उप-निदेशक पद पर नियुक्त किया गया। १९४६ के सितम्बर के बाद श्री त्रिपाठी को उत्तर प्रदेश सरकार के माल विभाग मे उपसचिव का पद दिया गया। वहाँ एक वर्ष तक कार्य करने के अनन्तर उन्हे वरिष्ठ आई० सी० एस्० श्रेणी मे चुन कर माल परिषद् (बोर्ड ऑफ रेवेन्यु) का सचिव बना दिया गया।

सितम्बर १९४८ मे श्री त्रिपाठी को गोरखपुर का जिलाधीश नियुक्त किया गया। त्रिपाठीजी की प्रारम्भिक शिक्षा यही हुई थी, वकालत भी उन्होने यही आरम्भ की थी और कई बाते थी. जिनके कारण वे इस जिले मे नियुक्ति के विरोधी थे। इनके विरोध को सरकार ने नही स्वीकार किया। सरकार का यह कार्य गोरखपुर के लिए वरदान बन गया। दृढ प्रशासन से श्री त्रिपाठी ने गोरखपुर मे आत्मबल का सचार किया। नगरपालिका एवम् कतिपय अन्य क्षेत्रो मे श्री त्रिपाठी ने अनेक सुधार कर यहाँ के जन-जीवन को प्रगति का मार्ग दिखलाया। शिक्षा के क्षेत्र में श्री त्रिपाठी का सर्वाधिक महनीय एव उदात्त कार्य है—गोरखपुर विश्वविद्यालय। जनचेतना को आन्दोलित कर उसके पूर्ण सहयोग से एक विश्वविद्यालय की स्थापना सहज नही है।

श्री त्रिपाठी के कार्यो का मूल्याकन हुआ और उन्हे इलाहाबाद का जिलाधीश बना दिया गया। दस माँस बाद ही उन्हे लखनऊ मे डिप्टी कमिश्नर का पद दिया गया। इस पद पर लगातार छ वर्ष कार्य करते रहना, प्रशासन के इतिहास मे असाधारण है। श्री त्रिपाठी के कार्य भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थे। उनकी प्रशासन-क्षमता, निष्पक्षता और न्याय-प्रियता ने ही छ वर्षो तक लखनऊ का डिप्टी कमिश्नर बना रहने दिया।

त्रिपाठीजी के प्रशासन-काल के कतिपय महत्त्वपूर्ण कार्यों का उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा। १९४८ मे गोरखपुर मे रेल-कर्मचारियों की एक बहुत बडी हडताल हुई। त्रिपाठीजी केवल डेढ़ महीने पहले आये थे, फिर भी उन्होंने हडताल समाप्त कराने मे अपनी कुशल प्रतिभा को प्रमाणित किया। जनवरी १९४९ मे सरैया चीनी मिल में समाजवादियो के निर्देशन में हड़ताल हुई। कई अन्य प्रभावशाली संगठन गुप्त रीति से इस हड़ताल का समर्थन कर रहे थे। त्रिपाठीजी इस हड़ताल की समाप्ति मे पूर्णत· सफल हुए। त्रिपाठीजी ने साम्प्रदायिक वैमनस्य को दूर करने में अनेक सफलताएँ पायी है। उत्तर-प्रदेश मे अनेक स्थानों पर दंगे हो रहे थे। गोरखपुर में एक

मुसलमान के घर मे एक मूर्ति मिली। हिन्दुओ ने उस घर पर अधिकार कर उसे मदिर बनाना चाहा। त्रिपाठीजी ने बहुसख्यक समुदाय को शान्त कर अन्यत्र मदिर बनाने को राजी कर लिया। सभावित साम्प्रदायिक सघर्ष रुक गया। बिना १४४ धारा के ही स्वेच्छा से गोरखपुर के मुसलमानो ने जिले मे कही पर गोवध न करने का निश्चय किया और उन्होने यह भी निर्णय लिया कि वे मस्जिद के सामने बाजो को बजने देगे। मुसलमानो के इस निश्चय मे श्री त्रिपाठीजी का बुद्धियोग और तप था। निश्चय ही एक जिलाधीश के लिए इस प्रकार की घटनाएँ गौरवपूर्ण है।

साम्प्रदायिक सघर्ष को बचाने की अनेक कथाएँ है श्री त्रिपाठीजी के प्रशासन-काल की। उनमे एक इलाहाबाद से सम्बद्ध है। भरत-मिलाप और मुहर्रम दोनो त्योहार एक ही दिन पड गये। यह एक सयोग ही था कि दोनों की शोभा-यात्रा का समय और मार्ग भी एक ही था। विषम स्थिति थी। साम्प्रदायिक अशान्ति, दगे और सघर्ष की सभावना प्रत्यक्ष थी। श्री त्रिपाठी ने उभय सम्प्रदायों के नेताओं को बुलाकर समाधान खोजने का प्रयत्न किया। समाधान हो गया। निश्चय हुआ कि दोनो उत्सव भिन्न-भिन्न तिथियो पर किये जायें। त्रिपाठीजी का प्रत्युत्पन्नमतित्व तथा प्रशासनिक कौशल कितना अद्भुत और प्रखर है, यह घटना इसका सकेत करती है। इलाहाबाद साम्प्रदायिक उपद्रवो के इतिहास का केन्द्र है। वहाँ साम्प्रदायिक सघर्ष रोक देना एक अत्यन्त प्रतिभामय कार्य है।

त्रिपाठीजी के प्रशासन-काल मे लखनऊ का समय आन्दोलनों का समय है। लखनऊ की राजनीति, समाज और छात्र प्रखर है। उनसे परिचालित अनेक आन्दोलनो का निवारण करना पडा श्री त्रिपाठी को। लखनऊ पहुँचते ही रेलवे श्रमिको की व्यापक हडताल का सामना करना पड़ा। यह हडताल रेलवे यातायात निरीक्षक की अदूरदर्शिता के कारण हुई थी। स्थिति को इस अधिकारी के व्यवहार ने सकटपूर्ण कर दिया था। श्रमिकों की शकाओ का समाधान कर श्री त्रिपाठी ने अत्यन्त बुद्धिमत्ता के द्वारा बिना किसी शर्त के हडताल समाप्त करवा दी। गोवध निषेध आन्दोलन के समय कुछ स्वयसेविकाएँ विधान सभा के प्रवेश मार्ग पर धरना दे रही थी। मार्ग अवरुद्ध था। महिलाओ की बात थी, पुलिस भी शिथिल पडी हुई थी। श्री त्रिपाठीजी के सत्प्रयत्नो से यह आन्दोलन समाप्त हुआ। छात्रो की एक हडताल जनवरी १९५३ से नवम्बर १९५३ तक चलती रही। इस प्रकार की घटना अभूतपूर्व थी। इस आन्दोलन को उत्तरप्रदेश के सम्पूर्ण छात्रो, छात्रसगठनो और राजनैतिक दलो का समर्थन प्राप्त था। इस स्थिति मे सघर्ष की शान्तिपूर्वक समाप्ति एक विशिष्ट कौशल से ही सभव थी। श्री त्रिपाठी ने समयोचित दृढता तथा कौशल से आन्दोलन समाप्त करवा दिया। लखनऊ के कार्यकाल मे ही समाजवादी दल द्वारा खाद्यान्न आन्दोलन सचालित किया गया। इस आन्दोलन को कतिपय प्रभावशाली गल्ले के व्यापारी बल प्रदान कर रहे थे। त्रिपाठीजी की सामयिक सुदृढ नीति ने इस आन्दोलन को समाप्त कर दिया।

लखनऊ में मदहे सहाबा का आन्दोलन भी प्रशासन के सामने एक विकट प्रश्न के रूप मे उपस्थित हुआ। लखनऊ शिया मुसलमानों का केन्द्र स्थान है। शिया सम्प्रदाय मे मुहर्रम का उत्सव बडे उल्लास से मनाया जाता है। शिया लोगों को चिढ़ाने के लिए सुन्नी मदहे सहाबा पढते है। इनमें शिया पैगम्बरों के लिए अपमानजनक बाते कही जाती थी। दसवी को जब ताजिया दफन के लिए जाता था तब सुन्नी मदहे सहाबा गाते थे। शिया मुसलमान भी प्रत्युत्तर मे कदहे सहाबा गाते थे जिसमें सुन्नी पैगम्बरों की निन्दा रहती थी। इस प्रकार प्रति वर्ष दोनों सम्प्रदायो मे सहाबा गाने की परम्परा सी बन चुकी थी। इस अवसर पर अधिकारी १४४ धारा लगा कर मदहे सहाबा तथा

कदहे सहाबा के पढने पर रोक लगा दिया करते थे। इस रोक मे अपराधियो के नियत्रण अथवा दण्ड की मशा बिलकुल नही होती थी, यह मात्र औपचारिकता ही थी। केवल अर्थदण्ड दिया जाता था। मुहर्रम के समय दोनों दल अधिकारियो से मिलकर यह जान लेता था कि नियम का उल्लंघन करने पर इस वर्ष कितना अर्थदण्ड लगेगा। फिर दोनो दल अधिक-से-अधिक स्वयसेवको को माला पहना कर नियम तोडने के लिए भेजते थे। अर्थदण्ड भरने के लिए दल जनता से धन-सग्रह करता था और अपने-अपने स्वयसेवको को सख्या के अनुसार अर्थदण्ड के रुपये जमा करता था। यह नाट्य प्रतिवर्ष होता था, और परम्परा के रूप मे जन-सामान्य द्वारा स्वीकृत हो चुका था। यह परम्परा प्रशासन के लिए एक समस्या बन चुकी थी। इसका समाधान अब तक कोई नही कर सका था।

१९५१-५२ मे यह समस्या श्री त्रिपाठी के सामने आयी। परम्परा के अनुसार दोनो दलो के नेताओ ने सभावित दण्ड की अर्थ-राशि जाननी चाही। त्रिपाठीजी ने इस परम्परा को समाप्त करने का निश्चय कर लिया था। यह एक भद्दी बात थी कि दोनो दलो के लोग एक दूसरे के पैगम्बर के अपमान के गीत गाये। उन्होने नेताओ को कोई निश्चित आश्वासन नही दिया। समस्त पुलिस तथा दण्डाधिकारियो को सतर्क कर दिया। आदेश हुआ कि जो भी १४४ धारा का उल्लघन करेगा वह जेल भेज दिया जायगा। इस आदेश मे अपराधी व्यक्ति के ऊपर अभियोग चलाने का भी निर्देश था। परिणामस्वरूप '५२ मे किसी को धारा तोडने का साहस नही हुआ। सुन्नी तो इस सहाबा गान से सर्वथा विरत हो गये। कुछ शिया वकीलो ने अवश्य सहाबा पाठ किया, पर उनकी सख्या नगण्य थी और उन्हे बन्दी बना लिया गया। भविष्य मे यह दुष्प्रथा सब दिन के लिए समाप्त हो गयी। एक प्राशासनिक कठिनाई का हल मिल गया।

इस प्रकार न जाने कितनी समस्याएँ लखनऊ के कार्यकाल मे आयी जिनके समाधान के निमित्त दृढता, कौशल तथा प्राशासनिक क्षमता एवम् दूरदर्शिता की आवश्यकता थी। त्रिपाठीजी ने छ वर्षो तक लखनऊ का प्रशासन अपूर्व निष्पक्षता और न्यायप्रियता से किया। अन्त मे इसी कारण इन्हे प्रन्तीय लोक सेवा आयोग का सदस्य बनाया गया। साढे चार वर्षो मे श्री त्रिपाठी ने अनेक प्रतिभाशाली प्रशासको का निर्वाचन किया जो भावी भारत का निर्माण कर रहे है। इसके बाद उत्तर प्रदेश के हाईकोर्ट ने श्री त्रिपाठी को ब्रिटिश इडिया कारपोरेशन, कानपुर का वरिष्ठ उपसचालक तथा उपाध्यक्ष नियुक्त किया। इस प्रकार का वैयक्तिक सम्मान प्रशासन के इनें-गिने अधिकारियो को ही मिल पाता है। इस पद पर इन्होने यद्यपि पन्द्रह मास ही कार्य किया, पर इनके सत्प्रयासो और कर्मठशील के गुण करपोरेशन की उन्नति मे प्रकट हो रहे थे।

गोरखपुर विश्वविद्यालय की स्थापना की मूल प्रेरणा से सम्बद्ध होने के कारण श्री त्रिपाठी-जी का झुकाव शिक्षा की ओर हो गया था। शिक्षा से सम्बद्ध अनेक समस्याओ से सपर्क रहने के कारण वे अपने शैक्षिक विचारो और कार्यो के लिए प्रसिद्ध हो चुके थे। वाराणसेय संस्कृत विश्व-विद्यालय की स्थिति अच्छी नही थी। सरकार का ध्यान श्री त्रिपाठीजी की ओर आकृष्ट हुआ और उसने उन्हे वहाँ उपकुलपति बनने को आवाहित किया। त्रिपाठीजी ने इस पद को स्वीकार करना ही उचित समझा, अन्यथा यह सोचा जाता कि श्री सुरतिनारायण कठिन परिस्थितियो का सामना नही करना चाहते।

श्री त्रिपाठी ने अनेक विशिष्ट पदो पर रहकर अनेक महत्त्वपूर्ण कार्यों का समापन उदात्त

निष्ठा से किया। प्रान्तीय प्रशासन सेवा मे प्रविष्ट होने के कुछ दिन बाद से ही वे निरन्तर प्रान्तीय सिविल सर्विस एसोसिएशन की कार्यकारिणी समिति के सदस्य के रूप में कार्य करते रहे। १९४८ मे इस एसोसिएशन के अध्यक्ष बनाये गये। १९४९ मे श्री त्रिपाठी आपत्कालीन चुनाव मे आई० ए० एस०, के पद पर पहुँच गये। प्रशासन के वरिष्ठ अधिकारियो तथा जिलाधीशो के मध्य श्री त्रिपाठी मात्र ऐसे व्यक्ति थे जिन्हे न्यायिक सुधार जाँच समिति का सदस्य होने का गौरव मिला। यह समिति जस्टिस वाँचू की अध्यक्षता मे निर्मित हुई थी और अत्यन्त शक्तिसम्पन्न थी। इस समिति मे त्रिपाठीजी की नियुक्ति सम्मान एवम् प्रसिद्धि की द्योतक है। समिति की अनेक महत्त्वपूर्ण उपलब्धियो का श्रेय इन्हे ही प्राप्त है।

गुप्तचर विभाग पुनर्गठन समिति एवम् भूमि स्वामित्व स्थानान्तरण समिति का सदस्य बनकर त्रिपाठीजी ने महत्त्वपूर्ण सेवाये की। भूमि स्थानान्तरण अधिनियम का प्रारूप प्रस्तुत करने का कार्य इन्हे ही मिला था। बाद मे इन्हे भूमि स्वामित्व अधिनियम के लिए गठित समिति का भी सदस्य बनाया गया। मुख्य मन्त्री की अध्यक्षता मे बनी आनुशासनिक जाँच समिति मे भी सदस्य के रूप मे श्री त्रिपाठी को कार्य करने का अवसर मिला। अर्थ-व्यवस्था जाँच समिति तथा यू० पी० भाषा समिति के सदस्य के रूप मे श्री त्रिपाठी ने अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किये।

प्राशासनिक सेवा के आरम्भकाल से ही श्री त्रिपाठी अनेक लोक हितकारी सगठनो से सम्बद्ध थे। आजमगढ़ सेवा समिति के अध्यक्ष के रूप मे इन्होने अनेक सेवाएँ की। बस्ती मे तुलसी जयन्ती समिति तथा हिन्दी साहित्य सम्मेलन के वार्षिकोत्सव के लिए गठित परिषदो की अध्यक्षता भी इन्होने की। इसी जिले मे इनकी अध्यक्षता मे आदर्श सस्कृत पाठशाला का विकास हुआ। सुलतान-पुर के कमलाकर सस्कृत महाविद्यालय के विशिष्ट सदस्य के रूप मे आज भी इनकी उपलब्धियाँ स्तुत्य है। सरयूपारीण ब्राह्मण महासभा के पटना, कलकत्ता, फैजाबाद, एवम् इलाहाबाद के विशेष अधिवेशनो मे श्री त्रिपाठी को अध्यक्ष बनाया गया।

लोकसेवा आयोग से सम्बद्ध रहने पर भी त्रिपाठीजी अपना काफी समय लोककार्यो मे लगाते थे। हिन्दी साहित्य सम्मेलन तथा विश्वकोष समिति के सदस्य के रूप मे इनके कार्यो को आज भी स्मरण किया जाता है। निरन्तर पाँच वर्षो तक श्री त्रिपाठी ने मदनमोहन मालवीय रजत जयन्ती समिति के सयोजक के रूप मे कार्य किया। बाद मे इस समिति की पूर्वी जिलो के लिए गठित शाखा के अध्यक्ष बनाये गये।

१९५७ ई० में अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के दीक्षान्त समारोह का उद्घाटन श्री त्रिपाठी ने किया। गोरखपुर विश्वविद्यालय की सस्थापना समिति के संस्थापक अध्यक्ष प्रारम्भ से रहे। ये इसकी शिष्ट परिषद् के आजीवन सदस्य है। विश्वविद्यालय के स्थापन काल से ही छः वर्षों तक अवैतनिक कोषाध्यक्ष के रूप मे त्रिपाठीजी की सेवा महनीय है। वाराणसेय सस्कृत विश्व-विद्यालय के उपकुलपति के पद पर नियुक्त होने के बाद इस पद को उन्होंने छोड दिया। इसके अतिरिक्त अन्य अनेक पदों पर श्री त्रिपाठी जी ने ससम्मान कार्य किया है। इलाहाबाद के आई० के० एम० इण्टर कालेज, धर्मकार्य निधि, बलरामपुर, तथा वैकुण्ठपुर ट्रस्ट देवरिया के अध्यक्ष भी ये हैं। वैकुण्ठपुर ट्रस्ट के अन्तर्गत संस्कृत पाठशाला एवम् आयुर्वेदिक अस्पताल का सचालन होता है। श्री त्रिपाठी केन्द्रीय संस्कृत बोर्ड के सदस्य एव विश्व संस्कृत परिषद् के अन्यतम मन्त्रियो में एक हैं।

(शेष पृष्ठ १० पर)

आदर्श व्यक्ति का अभिनन्दन

सच्चिदानन्द मिश्र

भारत—जहाँ व्यक्ति को दिव्य चेतन तत्त्व के रूप मे प्रतिष्ठित किया जाता है—उच्चतम व्यक्ति को पूजता था। उस दिव्य तत्त्व तक पहुँचने की आकाक्षा मानव की सर्वोपरि अभिलाषा होती थी। महाचेतना के समष्टिरूप के शीर्ष स्थान पर ऐसे दिव्य तत्त्वसपन्न व्यक्ति का अधिष्ठान था। उसमे महाचेतना साकार होती थी। उसके माध्यम से ही उसका चेतनोज्ज्वल और आलोकाप्लुत सन्देश सस्फूर्ति एव प्रसार प्राप्त करता था।

अव्यक्त और मूल रूप मे महाचेतना एकमेवाद्वितीय है और व्यक्त रूप मे वह विविध ब्रह्माण्डों के रूप मे विलसित तथा उल्लसित जान पडती है। "सर्व खल्विदम् ब्रह्म" तथा "नेह नानास्ति किंचन" प्रभृति मत्र-स्वरो द्वारा उपर्युक्त सत्य की ही उद्घोषणा हो रही है। इस तत्त्व का अन्वेषण, ज्ञान, प्रेषण तथा एतदनुकूल आचरण—व्यक्ति को शीर्षस्थान पर पहुँचाता था। इसी तत्त्व का ज्ञाता, व्याख्याता और आचारी ब्रह्मविद् कहा जाता था।

ब्रह्मविद् सम्पूर्ण ब्रह्माण्डो मे अपना ही विकास-विलास देखता और अनुभव करता हुआ स्वमगल और लोक-मगल मे निरन्तरता, अभिन्नता और ब्रह्मोपासना की चरितार्थता अथच सार्थकता देखता था।

श्री मणिजी के व्यक्तित्व के स्मृति-पथ पर आते ही वह तत्त्वज्ञानी साकार हो उठा! भौतिक मणिजी के स्थान पर वह दिव्य ज्ञानी मेरे सामने है। अपने आप विनयावनत हो जा रहा है सम्पूर्ण बाह्याभ्यन्तर उस दिव्य विभा के सम्मुख। और मै देखता हूँ मणिजी सर्वथा आदर्श पुरुष है, वरेण्य है, अभिनन्दनीय है और सतत वन्दनीय है, क्योकि वे तत्त्ववेत्ता है।

और सभवत इसी तरह के भास्वर व्यक्तित्व के अभिवादन की प्रेरणा मनु महाराज देते है—

"अभिवादनशीलस्य नित्य वृद्धोपसेविन ।
चत्वारि तस्य वर्द्धन्ते आयुर्विद्यायशोबलम् ॥"

पण्डितजी यद्यपि मध्यम श्रेणी ब्राह्मण परिवार मे ही आविर्भूत हुए और उनको सदा नानाविध परिस्थितियो से सघर्षरत रहना पडा, किन्तु उनकी दिव्यता उन्हे सदा आगे बढाती रही। उनकी उदारता, मानववादिता, सहयोगशीलता, मैत्री और प्रेम-प्रवणता ने सदा उनके आलोकप्रभ व्यक्तित्व को समस्त कठिनाइयो से ऊपर ही उठाया है। पण्डितजी का सम्पूर्ण जीवन—आसमन्तात्—प्रेरणालोक प्रदान करनेवाला है। वह समाज के निराशा, अवसाद और मोह से आग्रस्त अर्जुनो को बराबर 'क्लैब्य मास्म गम पार्थ!" की वाणी से उद्बोधित करता और जीवन मे मानव बनने, दिव्य मानव बनने की तीव्र चेतना प्रदान करता है।

वह दिव्य ब्रह्म-ज्ञानी ब्रह्ममय जगत् का उपासक अपने हृदय मे ज्वाला पोसता था। भारतीय सस्कृति के माध्यम से विश्व के उद्धार-उपकार की ज्वलन्त चेतना पोसता था।—ससार की कठिनाइयाँ, विघ्नों की शैलमालाये, अवरोधो के सागर भला उसका क्या बिगाड सकते थे? ये भी आये और आये इसलिए कि उसकी अन्तर्निहित, गुह्य शक्तियाँ उद्घाटित हो जाये। अत ये सब भी कुछ बिगाड न सके, बना ही गये।

पण्डितजी का व्यक्तित्व एक समन्जस और सतुलित व्यक्तित्व का उदाहरण है। सरकारी सेवा मे रहते हुए भी आपने सदा अनुशासित रहकर भी देश की स्वतन्त्रता, स्वातत्र्य सैनिको की सहायता और उसका पर्यालोचन आदि कार्यो मे महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। आपका व्यक्तित्व सृजनात्मक तत्त्वों से ओत-प्रोत है जिसकी परिणति है गोरखपुर का विश्वविद्यालय।

गोरखपुर विश्वविद्यालय की परिस्थापना द्वारा आपने ब्रह्म का ज्ञानयज्ञ द्वारा ज्ञानार्चन किया है और ब्रह्मतत्त्व की ओर भारतीय मानव एव विश्व-मानव को बढने की सहज प्रेरणा दी है—यह किसी विचारक से छिपा रहस्य नही है।

पण्डितजी का बाह्य व्यक्तित्व जितना प्रेरक और आकर्षक है वह आभ्यन्तर व्यक्तित्व के 'महाशय' का प्रकाशन ही है। आपमे ऐसी निर्भयता है जो दूसरो को भी निर्भय बनाती है। बाह्या-भ्यन्तर शुद्धाचारी होकर आप दूसरो को भी इसके लिए प्रेरित करते है। ज्ञानयोग मे आपकी आस्था है और इसका व्यावहारिक आचरण आप सदा करते रहते है। विश्वविद्यालय, विद्यालय एव अन्य मानवोपकारी कार्यो मे आपका शारीरिक, मानसिक और आर्थिक 'दान' प्रकट ही है। 'दम' तो आपके जीवन मे अनुशासन के रूप में व्यापक ही है। ज्ञान आदि प्रकार के यज्ञो के अनुष्ठान, प्रचार-प्रसार मे सतत सलग्नता आपकी एक आदत ही है। स्वाध्याय-प्रवणता, देश जाति, मानवो के लिए तपस्या, ऋजुता और उदारता आपके आचरण मे नित्य प्रकट दिखाई पडती है। अहिंसा, सबके कल्याण की कामना, सत्यप्रियता, अक्रोध, त्यागशीलता, शान्तिप्रियता, परोपकारप्रियता, दयाधामता, निर्लोभिता, मृदुता, शीलसम्पन्नता, धीरता, तेजस्विता, क्षमासमृद्धि, बाह्याभ्यन्तर पवित्रता, सर्वप्रेम, अद्रोहत्व, स्वाभिमानिता और प्रत्येक प्राणी के प्रति आदर भावना आदि ऐसी सम्पदाएँ है जो आपमे प्रचुरता से भरी दिखाई पडती है।

मै कामना करता हूँ कि त्रिपाठीजी चिरायु हो। चिरकाल तक देश, जाति, मानवता का उद्धार-उपकार करते रहे। भारतीय सस्कृति को जगाये और विश्व-कल्याण मे उसका प्रयोग कराये। ससार को ब्रह्मतत्त्व की ओर अग्रसर करे।

(पृष्ठ ८ का शेषांश)

सार्वभौम सस्कृत प्रचार समिति के ये अध्यक्ष है। यह सस्था अपने ढग की एक विशिष्ट अखिल भारतीय सस्था है, जिसका लक्ष्य संस्कृत का प्रचार और प्रसार है। प्रसिद्ध अग्रेजी दैनिक पायोनियर के सचालक मण्डल मे त्रिपाठीजी अन्यतम है। हिन्दुस्तानी अकादमी, इलाहाबाद के भी सदस्य के रूप मे आज भी कार्यरत है।

इस प्रकार त्रिपाठी जी का सारा जीवन धार्मिक, सास्कृतिक, सामाजिक एवम् शैक्षणिक कार्यो से सम्बद्ध रहा है। इन कार्यों को सतत प्रगति प्रदान करने मे इनका नाम अग्रणी है। त्रिपाठीजी की प्रतिभा का विकास सर्वदेशीय है। प्रखर मनीषा और निर्मम प्रशासन के मेरुदण्ड श्री त्रिपाठी ने अपने चरित्र के आलोक मे लोकहित के लिए स्व का समर्पण कर दिया है। गोत्र प्रवर्तक अपने पूर्वपुरुष शाण्डिल्य के समान ही श्री सुरतिनारायणमणि निरन्तर ज्ञान के यज्ञ मे वर्चस्वी अध्वर्यु का कार्य करते हुए उस ऋत का निर्माण कर रहे है जिससे किसी जाति और देश को प्रेय और श्रेय दोनो की उपलब्धि होती है। भारत की धरती अपने ऐसे ही पुत्रो के कारण वसुमती और सर्वसहा है। तमस् के पाश निरन्तर छिन्न-भिन्न होते रहे है इस नारायणमणि की प्रभा से।

पं० सुरतिनारायण मणि त्रिपाठी : व्यक्तित्व और संस्मरण

चन्द्रबली त्रिपाठी

पण्डित सुरतिनारायण मणि त्रिपाठी से मेरा परिचय आधी शताब्दी पुराना है। आकस्मिक भेंट को मित्रता में परिणत होने मे विलम्ब नही लगा। यह मैत्री कभी कम न होकर उत्तरोत्तर बढती गयी और हृदय के ऐक्य और आत्मीयता मे उसका परिपाक हुआ। कहते हैं कि किसी इतिहासकार के लिए समसामयिक घटनाओ का यथार्थ वर्णन एक समस्या है। उसी प्रकार जिस पुरुष के साथ मेरा इतना दीर्घ और घनिष्ठ सपर्क चला आ रहा है, उसके विषय मे राग-द्वेष से रहित होकर लेखनी उठाना अत्यन्त कठिन है। इस प्रयास म जिस सतर्कता तथा सावधानी की अपेक्षा करनी चाहिए उनके विषय मे अपने विचार प्रकट करने मे उमे सतत अपनी दृष्टि मे रखने का प्रयत्न करूँगा।

पारिवारिक संस्कार और शिक्षा

पवित्र सरयू और बडी गण्डक के बीच के भूभाग को, जहाँ आज उत्तर प्रदेश के बहराइच, गोडा, बस्ती, गोरखपुर और देवरिया तथा बिहार के छपरा और चम्पारन जनपद अवस्थित हैं, 'सरवार' और वहाँ के ब्राह्मणो को 'सरयूपारीण' कहते हैं। यह प्रसिद्धि चली आ रही है कि अपने अश्वमेध यज्ञ मे मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्र ने जिन सोलह ब्राह्मणो की पूजा-प्रतिष्ठा की और जिन्हे इस भूखण्ड को दान देकर सम्मानित किया ये ब्राह्मण उन्ही के वशज हैं। उन्हे उन तपोधन पूर्वजो का वश-धर होने का गर्व भूला नही है और प्राचीन काल से आज तक परिस्थितियों का यथाशक्ति सामना करते हुए वे अपने जातीय आचार-विचार की रक्षा करते आ रहे हैं। कितने ही सरयूपारीण ब्राह्मण देश के विभिन्न भागों मे जाकर बस गये हैं; किन्तु वे भी सरवार से अपना नाता बनाये रखने मे अपना गौरव समझते हैं।

सरयूपारीण ब्राह्मण गोत्रों की एक शाखा के सस्थापक महर्षि शाण्डिल्य थे जिनकी सतति परम्परा मे गोरखपुर जनपद के देउरवा ग्राम के गोरखी तिवारी (त्रिपाठी) सैकड़ों वर्ष पहले एक तपोनिष्ठ पक्तिपावन ब्राह्मण हो गये हैं। उनकी वृद्धावस्था मे राम, कृष्ण, मणि और नाथ चार पुत्र बडे वर्चस्वी उत्पन्न हुए जिनकी पृथक्-पृथक् वश-परम्परा चली और उनके नाम पर श्रीमुख शाण्डिल्य त्रिपाठियो मे राम, कृष्ण, मणि और नाथ नाम के चार घराने सरवार मे चारो ओर फैले हुए हैं। यहाँ यह उल्लेख कर देना अप्रासगिक न होगा कि मनुस्मृति तथा महाभारत मे ब्राह्मणो की 'पक्ति पावन' की जिस प्रथा का वर्णन मिलता है वह आज तक केवल सरयूपारीण ब्राह्मणो मे सुरक्षित है, एवं उनमे न केवल शाडिल्य गोत्रिय त्रिपाठियो मे अपितु अन्य गोत्र वालों में भी पक्ति-पावन पाये जाते हैं और पक्तिपावन मात्र की और उन 'त्रुटि' वालो की, जिनके कभी पक्तिपावन होने का प्रमाण उपलब्ध है, ब्राह्मणेतर, हिन्दुओं में भी परम्परागत प्रतिष्ठा चली आ रही है। इस लोकमान्यता का एक प्रधान कारण उनका धर्मशास्त्रोक्त आचार-व्यवहार रहा, एवं उनमें नि शुल्क सस्कृत विद्या का

दान अविच्छिन्न रूप से चला आया तथा समय-समय पर उनमे निर्लोभी तथा तप परायण विद्वान् होते रहे। दो सौ वर्ष पहले मणि त्रिपाठियो के कुछ लोग आधुनिक देवरिया जिले के बैतालपुर रेलवे स्टेशन से लगभग दो मील उत्तर बरपार ग्राम मे आदि स्थान देवरुआ से आकर बस गये और अडोस-पडोस मे सम्मानित हुए।

इसी बरपार के श्री राममणि त्रिपाठी अपने समय के सस्कृत के एक उद्भट विद्वान् थे जिन्होने अपने पवित्र जीवन तथा धर्मपरायणता के कारण बडी ख्याति पाई और अपनी सतति के लिए चिर-काल के लिए कुलदेवता के इस रूप मे पूजित हुए। इनके तीन पौत्रो मे सबसे बडे रामटहल मणि ने बत्तीस वर्ष की अवस्था मे प्रथम धर्मपत्नी के नि सन्तान मर जाने पर दूसरा विवाह किया जिससे दो पुत्र और एक कन्या पाकर वे प्रजावान हुए। इस स्त्री के निधन हो जाने पर रामटहल मणि ने एक तीसरा विवाह भी किया, जिससे पाँच लडके और तीन लडकियाँ उत्पन्न हुई। इन पाँच भाइयो मे सबसे छोटे का जन्म १९०१ ई० के आस-पास हुआ और नाम सुरतिनारायण रखा गया। जैसा आगे देखेगे उत्तम कार्यो मे सुरति होने से यह नाम पूर्णतया 'अन्वर्थ' निकला।

परम्परा-प्राप्त प्रतिष्ठित जातीय सस्कार के साथ ही अपने परिवार के कई विशिष्ट गुणो के सस्कार सुरतिनारायण को शिशुपन से सचालित करने लगे। जब सुरतिनारायण डेढ वर्ष के थे, काशी से सूर्यग्रहण स्नान करके लौटते ही माता का विशूचिका से देहान्त हो जाने से मातृ-वियोग हो गया जिससे इन्हे मातृ-वात्सल्य का अमृत पान करने को नही मिला। परन्तु ५८ वर्ष के पिता ने माता का भी स्थान लेकर इस अभाव की यथासम्भव पूर्ति कर दी और निरन्तर साथ रहने से उनकी कुछ विशेषताओं के सस्कार बालक पर अमिट रूप से पडने लगे।

रामटहल मणि अधिक पढे-लिखे नही थे, किन्तु बडे रोबीले और प्रभावशाली प्रकृति के पुरुष थे। अश्वारोहण का उन्हे बड़ा शौक था और उसमे उन्होने अपने सब लडको को निपुण किया। वार्तालाप की कुशलता मे कोई उनसे पार नही पाता और उसमे वे सब पर हावी हो जाते थे। अपना अपमान वे सहन नही कर सकते थे और न उसका प्रतिकार करने मे कभी चूकते थे, परन्तु यदि शत्रु माथा टेक देता तो फिर उसका सारा बैर भुलाकर उसके कष्ट दूर करने मे भी वे एक ही थे। उनके आहार-विहार एव गृहस्थी के सब काम नियमित रूप से चलते थे, और बिना स्नान और सध्यावन्दन एव अपने इष्ट महादेव का अर्चन किये वे जल तक नही ग्रहण करते थे। निरन्तर के सान्निध्य के कारण जैसा आगे चलकर देखेगे पिता के ये गुण बालक सुरतिनारायण के स्वभाव का निर्माण करते रहे।

इनके भाइयो मे सबसे प्रभावशाली इनके तृतीय भ्राता अगस्ती मणि अथवा अगर्दी मणि थे जिनका इनके जीवन को मोड देने मे सबसे अधिक हाथ था। जिससे वे मित्रता करते उसके लिए सर्वस्व त्याग करने के लिए वे सदैव तैयार रहते थे। किन्तु जिससे एक बार शत्रुता हो जाती फिर कोई शक्ति नही जो अगर्दी मणि को टस-से-मस करा सकती। कितना भी दबाव पड़े, कितनी भी हानि उठानी पडे, कोई भी लालच दिलायी जाय; किन्तु अगर्दी मणि अपनी टेक पर अडे रहते। उनके स्वभाव की छाप बालक सुरतिनारायण पर पडे बिना न रही। इस प्रकार श्री सुरतिनारायण के चरित्र मे पारिवारिक एवं ब्राह्म सस्कारो का सयोग प्रचुर मात्रा मे घुल-मिल गया और यह कहना अयथार्थ न होगा कि इसीलिए उन्हे जहाँ भारतीय और हिन्दू होने का गर्व है अपने को साभिमान सरयूपारीण ब्राह्मण कहने मे भी संकोच नही।

बहुत पढ़े-लिखे न होने पर भी अगर्दी मणि ने आधुनिक शिक्षा का महत्त्व भलीभाँति समझा था। वह बालक सुरतिनारायण के न केवल बड़े भाई थे, उसके जीवन को सचालित करने मे उनके पितृस्थानीय थे। मातृविहीन बालक को वृद्ध पिता अपनी आँख से कभी ओझल नही होने देना चाहते थे, फिर भी पाँच वर्ष की अवस्था हो जाने पर स्थानीय लोअर प्राइमरी स्कूल से इस बालक ने कक्षा दो और सिरजम के प्राइमरी स्कूल मे दर्जा चार तक की शिक्षा पायी। उन दिनो मिडिल स्कूल भी बहुत दूर-दूर होते थे और बालक को गाँव से दूर भेजना पुत्र-स्नेही पिता के लिए एक अनहोनी बात थी, परन्तु अगर्दी मणि चाहे जैसे हो सुरतिनारायण को सुशिक्षित देखना चाहते थे। पिता के पुत्र-स्नेह और भाई के भविष्य निर्माण की इस रगड-झगड मे कई महीने व्यर्थ गये और आठ महीने के बाद वे दूरस्थ मंझौली के मिडिल स्कूल मे इन्हे भर्ती करा पाये। इस प्रकार समय कम मिला, किन्तु तीव्र बुद्धि होने से इन्होने १३ वर्ष की अवस्था मे कक्षा ६ प्रथम श्रेणी मे १९१४ ई० मे उत्तीर्ण कर ली।

उस समय की शिक्षा की अवस्था का वर्तमान स्थिति से कोई समता नही है। उन दिनो गोरखपुर नगर गोरखपुर जिले का जिसका वर्तमान देवरिया जिला अग था तथा कमिश्नरी का प्रधान स्थान था। परन्तु उसमे केवल तीन हाई स्कूल—गवर्नमेंट जुबिली, सेट ऐन्ड्रयूज इटरमीडिएट कालेज जिसके साथ हाई स्कूल सलग्न था और नूतन स्थापित गोरखपुर हाई स्कूल (अब महात्मा गाधी इटर-मीडिएट कालेज)—और सेट ऐंड्रयूज हाई स्कूल का एक ब्राच इगलिश मिडिल स्कूल अग्रेजी शिक्षा के साधन थे। थोडे दिनों से गोरखपुर हाई स्कूल और सेट ऐंड्रयूज हाई स्कूल में हिन्दी मिडिल पास छात्रो के लाभ के लिए स्पेशल क्लास प्रथम वर्ष और द्वितीय वर्ष खोल दिये गये थे जिन्हे पास करके विद्यार्थी सीधे कक्षा ८ मे ले लिया जाता था। पिता की इच्छा के विरुद्ध अगर्दी मणि ने १९१४ मे सुरतिनारायण को गोरखपुर हाई स्कूल के स्पेशल प्रथम वर्ष मे भर्ती करा दिया जहाँ से इन्होंने १९१७ मे दर्जा ८ पास किया तथा हाई स्कूल स्कालरशिप परीक्षा मे उत्तीर्ण होकर गवर्नमेंट छात्रवृत्ति पायी।

हाई स्कूल स्कालरशिप परीक्षा मे उत्तीर्ण होने से इनके प्रति स्थानीय शिक्षालयो मे एक आकर्षण पैदा हुआ। स्थानीय गवर्नमेंट जुबिली हाई स्कूल के आदर्श हेडमास्टर हमारे श्रद्धेय गुरु श्री अघोरनाथ चटर्जी ने अपनी दक्षता, अनुशासन और उत्तम परीक्षा-फल इत्यादि से इस स्कूल की प्रतिष्ठा प्रान्त के हाई स्कूलों मे शिखर पर पहुँचा दी थी। श्री अघोरनाथ मे दूसरे स्कूलो के अच्छे विद्यार्थियो को अपने यहाँ बुला लेने की प्रवृत्ति थी जिससे उन्होने श्री सुरतिनारायण तथा उनके सहपाठी स्व० श्री रामलक्ष्मण राय तथा श्री त्रिवेनी शकर (वकील बस्ती) को भी, जिन्होने इनके साथ उक्त छात्रवृत्ति परीक्षा पास की थी, अपने स्कूल की नवी कक्षा मे अपने पट्ट शिष्य बालकृष्ण और शेषमणि को नियुक्त करके अपने स्कूल मे बुला लिया। यही से इन्होने १९१९ मे हाई स्कूल, स्थानीय सेट एड्रयूज कालेज से १९२१ मे एफ० ए० तथा १९२३ मे म्योर सेन्ट्रल कालेज प्रयाग से बी० ए० और १९२५ में इलाहाबाद यूनिवर्सिटी से संस्कृत मे एम० ए० और साथ-साथ एल० एल० बी० की परीक्षाएँ उत्तीर्ण किया।

वकालत और सरकारी नौकरियाँ

श्री सुरतिनारायण की एक बडा वकील बनने की इच्छा सर्वोपरि थी। गोरखपुर के प्रसिद्ध

वकीलो के सम्पर्क मे आने से वह इच्छा और प्रबल हो उठी और इलाहाबाद की एक घटना से तो उनका हौसला आसमान मे चढ गया। इलाहाबाद यूनिवर्सिटी की 'ला'-सोसायटी ने जिसके ये एक विद्यार्थी सदस्य थे नवम्बर १९२४ मे एक अनुकृति न्यायालय (Mcot Court) का प्रदर्शन किया जो उत्तरी भारत के लिए एक नयी बात थी। न्यायालय के सम्मुख एक हत्या का मुकदमा पेश हुआ जिसके निर्णयार्थ इलाहाबाद हाई कोर्ट के जस्टिस लिन्स्डे उसके न्यायाधीश बने और श्री सुरतिनारायण ने सरकारी वकील की हैसियत से उसकी पैरवी की। इस कार्य में इनकी पैरवी की निपुणता से जस्टिस लिन्स्डे ने प्रभावित होकर इन्हे ऐसी बधाइयाँ दी जो किसी भी विद्यार्थी के लिए उत्साहवर्धक हो सकती है। वकालत की परीक्षा उत्तीर्ण होते ही जुलाई १९२५ मे इन्होने गोरखपुर मे वकालत करना आरम्भ कर दिया। प्रारम्भ अत्यन्त उत्साहवर्धक था और चार-छ महीनो के भीतर ही इनकी ख्याति फैलने लगी। हम लोगो के सामान्य मित्र श्री श्यामसुन्दर राय के विरुद्ध एक सरकारी अभियोग में उनकी ओर से श्री सुरतिनारायण तथा हमारे सहपाठी स्वर्गीय श्री ठाकुर प्रसाद दूबे, रिटायर्ड डिस्ट्रिक्ट जज के साथ पैरवी करते समय हमे चार-छ महीनो के वकील सुरतिनारायण की एक प्रगल्भ वकील की तरह कार्य करते देखकर प्रसन्नता के साथ विस्मय हुआ था। कसया के एक पेचीदे फौजदारी के मुकदमे की सफलता ने इनको उछाल-सा दिया। न्यायाध्यक्ष तथा समसामयिक वकील सभी इनकी क्षमता से अत्यन्त प्रभावित थे और जब ये वकालत छोड कर सरकारी नौकरी पर जाने लगे, दोनो वर्गों ने इन्हे वकालत न छोडने का विशेष आग्रह किया था।

परन्तु अगर्दी मणि की इच्छा सुरतिनारायण मणि के लिए ब्रह्मवाक्य थी। जैसा कह चुके है वे बडे भाई ही न थे इनके पिता का दायित्व भी वहन करते थे और इनकी शिक्षा के वे ही प्रेरक थे। वे अपने अनुज को डिप्टी कलक्टर देखना चाहते थे जिसका उस समय मोहर्क आकर्षण था। उनके सामने नतमस्तक हो श्री सुरतिनारायण ने डिप्टी कलेक्टरी की परीक्षा पास की और जुलाई १९२६ मे गोरखपुर मे ही डिप्टी कलेक्टर नियुक्त हुए। इस पद पर रहकर इन्होने अपनी योग्यता से उच्च पदाधिकारियो को बराबर प्रभावित किया। बीच-बीच मे इन्हे जनसख्या अधीक्षक, मैनेजर-कोर्ट आव वार्ड्स, बन्दोबस्त इत्यादि के विशेष कार्य सौपे गये और स्वतन्त्रता के पश्चात् आई० ए० एस० बनाये जाकर क्रमश गोरखपुर, प्रयाग और लखनऊ जाकर डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट या डेपुटी कमिश्नर के उत्तरदायी पद का सफलतापूर्वक निर्वहन करने के बाद उत्तर प्रदेश सरकार के सार्वजनिक सेवा-आयोग के [illegible] नियुक्त हुए।

यह कहना अनावश्यक-सा है कि डिप्टी कलक्टर से उन्नत होकर इस पद पर पहुँचना साधारण योग्यता का फल कदापि नही है।

जहाँ तक पता है कुलपति पंडित सुरतिनारायण मणि प्रथम पुरुष है जो डिप्टी कलक्टरी से ऊँचे उठते-उठते इस समय यूनिवर्सिटी के महान् पद पर आसीन है। उनमे विद्वत्ता है, वाक्पटुता है और किसी विश्वविद्यालय के उपकुलपति के लिए जिसकी नितान्त आवश्यकता है प्रशासन की क्षमता भी है। सस्कृत और भारतीय सस्कृति के महान् प्रेमी डाक्टर सम्पूर्णानन्द की प्रेरणा से उत्तर प्रदेश सरकार ने वाराणसेय सस्कृत विश्वविद्यालय की स्थापना करके प्रशासनपटु श्री आदित्यनाथ झा को उसका प्रथम कुलपति बनाया जिन्होने उसकी जड जमाने का स्तुत्य कार्य आरम्भ किया; किन्तु थोडे ही समय मे वे भारत सरकार की सेवा मे बुला लिये गये और उनके चले जाने के बाद विश्व-विद्यालय की, जिसे बड़े साज-सभार की अपेक्षा थी, दुर्गति होने लगी। इससे उसे उबारने एव सुदृढ़

करने के लिए श्री सुरतिनारायण को अगस्त १९६२ मे वाइस चासलर का भार सौपा गया। जिस आन्तरिक सघर्ष और कशमकश का आधुनिक विश्वविद्यालयो को सामना करना पड रहा है उससे वाराणसेय सस्कृत विश्वविद्यालय अछूता नही कहा जा सकता है, किन्तु जिस लगन से उसके सवर्धन मे अपनी सारी नीति-निपुणता, सुदीर्घ अनुभव और प्रशासकीय क्षमता से यह चौसठ शरदो से धवलितकेश मनस्वी उसे खीच रहा है। उससे सभी सस्कृत-प्रेमी उल्लसित है और हमें आशा है कि देववाणी के माध्यम से इस विश्वविद्यालय को विविध विद्याओं एव भारतीय सस्कृति का एक महान् केन्द्र बनाने का श्रेय इन्हे मिलकर रहेगा।

मैत्री और पारिवारिक प्रेम

पडित सुरतिनारायण मणि का परिवार बहुत बडा है। उनके कई भाई मुझसे परिचित थे और इनके कई भतीजो से भी मेरा परिचय रहा है। भाइयों का आदर और प्रेम एव भतीजो तथा उनके परिवार के प्रति स्नेह और कृपा जैसी इनमे देखी इस युग मे बहुत कम पायी जाती है। अपने बेटे-बेटी का ध्यान सभी रखते है, परन्तु बृहत्तर कुटुम्ब का हित-चिन्तन विरले ही करते है। श्री सुरतिनारायण का इस अवस्था मे भी परिवार-वर्ग के साथ मधुर व्यवहार अनुकरणीय है ।

मित्रता

श्री सुरतिनारायण के परिचितो, प्रशसकों और मित्रो की एक विशाल सख्या है, और साथ ही इनकी मित्रता के विषय मे यह कथन अत्युक्तिपूर्ण नही है कि वह उन सत्पुरुषो जैसी चली आ रही है जिसके लिए सूक्तिकार ने सच ही कहा है कि

आरम्भगुर्वीक्षयणीक्रमेण
लघ्वीपुराबुद्धिमती च पश्चाद्
दिनस्य पूर्वार्धपरार्धभिन्ना
छायेव मैत्री खल सज्जनानाम् ।।

खलो की मैत्री आरम्भ मे दिन के पिछले भाग की छाया की तरह खूब लम्बी होती है और दोपहर के बाद धीरे-धीरे कम होती जाती है, किन्तु सज्जनों की मैत्री उसी क्रम से आरम्भ मे कम रहती और बाद को बढती जाती है। मैं अनुभव से कहता हूँ कि पचास वर्ष पहले जिन विद्यार्थियो से उनकी मित्रता हुई, उनमे से जो इस ससार मे नही भी रहे, उनकी मधुर स्मृति आज भी इनके हृदय को स्पर्श करती है। मित्रो का यथाशक्ति साथ देना इनका स्वभाव ही है। एक बार मित्रता हो गई फिर इसे आजीवन निभाने का सस्कार कदाचित् सुरतिनारायण को अपने अग्रज श्री अगर्दी मणि से मिला।

चरित्र-निर्माण

हिन्दू-छात्र-सभा और उसमे सनातनधर्म सभा के प्रभाव ·

पण्डित सुरतिनारायण मणि को समझने के लिए गोरखपुर की हिन्दू छात्र सभा को जानना आवश्यक है। उनके चरित्र-निर्माण मे जहाँ पारिवारिक वातावरण का बडा प्रभाव पडा उसके कई अगो को उद्भावित और परिपुष्ट करने मे इस सस्था का प्रधान हाथ था। उस समय की यह एक अनुपम सस्था थी जिसने नवयुवको को एक मार्ग-दर्शन दिया। उस सभा को उन्होने बहुत कुछ दिया और उससे इन्हे भी बहुत कुछ मिला। १९११ के अन्तिम अथवा १९१२ के आरम्भिक दिनो की

बात है कि जब मै सेन्ट ऐड्रयूज कालेजिएट हाई स्कूल गोरखपुर के स्पेशल द्वितीय वर्ष का छात्र था मेरे पूज्य बड़े भाई स्वर्गीय पडित राजमणि की आज्ञा मिली कि गोरखपुर मे सरयूपारीण ब्राह्मण छात्रो की एक सभा बनाऊँ। वे एक सरकारी कर्मचारी थे, परन्तु थे बडे जीवन के एक कर्मठ पुरुष। वे 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' और 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' की स्थायी समिति के सदस्य तथा 'सरयूपारीण ब्राह्मण महासभा' के कार्यकर्ताओ मे थे। हिन्दी और सस्कृत के प्रचार तथा स्कूल और सस्कृत पाठशालाएँ स्थापित करने की इन्हे धुन थी और महात्मा गाधी के असहयोग आन्दोलन के आरम्भ हो जाने पर चर्खे का प्रचार और लुक-छिप कर काग्रेस कार्यकर्ताओ की सहायता भी किया करते थे। उस समय सेट ऐन्ड्रयूज, इटरमीडिएट कालेज और हाई स्कूल के सस्कृत के प्रधान अध्यापक श्रद्धेय धर्माचार्य स्वर्गीय पडित वशीधर द्विवेदी तथा उनके सहायक अध्यापक स्व० पडित रामानन्द पाण्डे एव जुबिली हाई स्कूल के अध्यापक श्रद्धेय स्व० पडित जोखूदत्त शास्त्री सनातन धर्म के स्तम्भ माने जाते थे और विद्वत्ता एव साधु-चरित्र के नाते उनकी सभी वर्गो मे सार्वजनीन प्रतिष्ठा थी। इनके नेतृत्व तथा सौजन्यमूर्ति प० ब्रजवासी लाल अध्यापक के सभापतित्व मे एक सरयूपारीण छात्र सभा खोल दी गयी जो लगभग दो महीनों के बीच मे ही ब्राह्मण छात्र सभा मे नामातरित हो गयी और उसमे ब्राह्मणेतर हिन्दू छात्र भी सदस्य बनने लगे। यह नाम भी सकुचित लगा विशेषतया इसलिए कि उसके उद्देश्य और कर्त्तव्य सभी हिन्दू छात्रो के लाभार्थ बने थे। अत पुन नाम-सस्कार से वह वर्ष के भीतर ही हिन्दू छात्र सभा मे परिणत हो गयी। इस आरभिक अवस्था मे सभा को अत्यन्त मेधावी नए वकील स्व० प० कमला प्रसाद शुक्ल से, जो वकालत मे और वैसे ही सार्वजनिक क्षेत्र मे बडी तेजी से बढ रहे थे विशेष प्रोत्साहन और सहायता मिली। खेद है कि १९१७ मे क्रूर काल ने इस अधखिले फूल को तोड डाला।

जब इस सभा का नाम ब्राह्मण छात्र सभा था उसी समय विद्यार्थियों की दो सस्थाएँ और खुली—एक विद्यार्थी सभा जो कुछ ही महीनों मे बन्द हो गयी और दूसरी श्री सत्यव्रतजी की आर्यकुमार सभा, जो आर्य-समाज के विचारों के प्रचार तक सीमित थी। सत्यव्रतजी ने आगे चलकर असहयोग आन्दोलन के दिनों मे काग्रेस का अपने बस्ती जिले मे अच्छा काम किया और कुछ वर्षो के उपरान्त सन्यासी बनकर बिहार के एक प्रसिद्ध नेता हो गये थे। प्राय उन्ही दिनों बिहार प्रान्तीय छात्र सभा की अनुकृति पर एक तीसरी सर्वजातीय विद्यार्थी सभा की भी स्थापना हुई थी जिसका उद्देश्य अग्रेजी मे वाद-विवाद और भाषण देने की योग्यता सपादन था, किन्तु न जाने कैसे साल आध-साल समाप्त होते-होते उसका नाम भी कही नही सुनायी पडा।

इसके विपरीत हिन्दू छात्र सभा बहुत वर्षों तक एक जीतीजागती सस्था बनी रही और उसने सच्चे अर्थो में अपने को एक उपयोगी सगठन सिद्ध किया जिसका कार्य-क्षेत्र बहुमुखी था। विद्यार्थियों मे सनातन धर्म एवं हिन्दी और सस्कृत के प्रति निष्ठा उद्‌भावित करना और देशभक्ति तथा समाज-सेवा की भावना जागृत करना तथा उनका चरित्र और वक्तृत्व-शक्ति बढाना एव छात्रवृत्ति तथा पुस्तके देकर असहाय योग्य विद्यार्थियो की सहायता करना इस सभा के मुख्य उद्देश्य थे जो सभा के प्रस्तावों मे सीमाबद्ध न थे, बल्कि उसके कार्यकर्ता निम्न साधनों से उन्हे तत्परतापूर्वक पूर्ण करते थे।

१ सभा की साप्ताहिक बैठके होती थी जिनमे विद्यार्थियों के वाद-विवाद और भाषणों के अतिरिक्त पडितों के गीता इत्यादि से उपदेश अथवा यथावसर बाहरी विद्वानो के भाषण होते। विषयों के चुनने में इस बात का ध्यान रहता कि वे चरित्र-बल, देश प्रेम और धार्मिक भावना बढाने

१९२७

१९२९
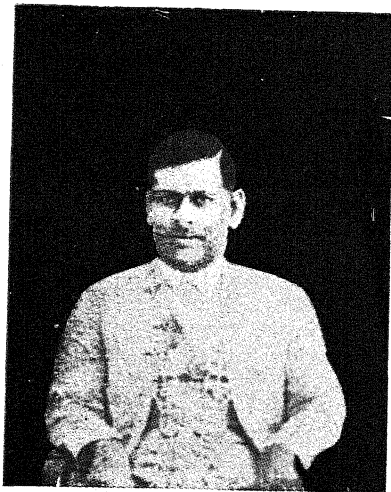
असिस्टेण्ट रेकॉर्ड आफिसर
१९३९

सरयूपारीण ब्राह्मण महासभा, कलकत्ता
के सभापति, १९४१

१९२५

मे सहायक हो। उस समय का छात्र-समुदाय आधुनिक विद्यार्थी की अपेक्षा अधिक श्रद्धालु और सरल था और जब वह वयोवृद्ध और आचार-निष्ठ प० वशीधर शर्मा के मुख से यजुर्वेद मे उपदिष्ट हमारे वैदिक राष्ट्र-गान को सभा के मगलारम्भ मे सुनता उसके रोम-प्रति-रोम राष्ट्रीय तथा धार्मिक भावनाओं से पुलकित हो जाते—

ॐ आब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चमी जायताम् आराष्ट्रे राजन्य शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्, दोग्ध्रीधेनुर्वोढाऽनड्वानाशु सप्ति पुरन्धिर्योषा जिष्णूरथेष्ठा सभेयो युवाऽस्य यजमानस्य जायताम्। निकामे निकामेन पर्जन्योवर्षतु फलक त्योव ओषधय पच्यन्ताम् योगक्षेमो न कल्पताम्॥

२ समय-समय पर चुने गए विषयो पर निवन्धों की प्रतियोगिता होती जिसमे पुरस्कारो की व्यवस्था रहती। मुझे स्मरण है कि ऐमी ही एक प्रतियोगिता मे सर्वोत्तम हिन्दी निवन्ध के लिए स्कूल के उस समय के विद्यार्थी सुरतिनारायण को सभा की ओर मे स्व० वाबू नरसिह दास एडवोकेट ने गीता-रहस्य ग्रन्थ भेट करके पुरस्कृत किया था।

३ नियमित मासिक चन्दा देनेवाले सभी स्कूलो के विद्यार्थी सदस्य बनाये जाते थे जिनमे अधिक धनवान् विद्यार्थी विशेष चन्दा देते थे। सेवा की प्रवृत्ति बढाने के लिए स्तुत्य कार्य करनेवाले सदस्य आजीवन सदस्य बना लिये जाते थे जिमसे नि स्वार्थ कार्य की प्रवृत्ति का विकास होता था। ऐसे ही कार्यकर्ताओ के एक उदाहरण इस लेखक के सहपाठी स्वर्गीय बाबू ताराप्रसाद थे जो अपने नाम के आगे एल० एम० एच० सी० एस० (आजीवन सदस्य हिन्दू छात्र सभा) शब्द जोडने मे एक अपूर्व गौरव का अनुभव करते थे।

४ शहर के सार्वजनिक जीवन मे कुछ भी भाग लेनेवाले लोगों से सभा के कार्यकर्ता सम्पर्क स्थापित करते, उनसे नियमित अथवा एककालिक चन्दे प्राप्त करते और सभा के कामों मे उन्हे आकर्षित करते थे।

५. एक मत्री के अधीन सभा का एक पुस्तकालय था जिसमे अच्छी-अच्छी ज्ञानवर्धक पुस्तके समय-समय पर बढायी जाती एव वार्षिक परीक्षाओं की समाप्ति पर उत्तीर्ण विद्यार्थियो से पाठ्य-पुस्तके माँग ली जाती और अग्रिम सत्र मे सहायतापेक्षी विद्यार्थियो मे वितरण करके उनसे काम निकल जाने पर लौटा ली जाती। इस तरह पुस्तकालय का भण्डार भरा रहता और बहुत से छात्रो का उपकार हो जाता था। सभा के समृद्धि काल मे उसके पुस्तकालय मे लगभग तीन सहस्र पुस्तके थी।

६. उन दिनो छात्रवृत्तियो की कौन कहे, शिक्षा-शुल्क से मुक्त होना भी बहुत कठिन था जिसका आज अनुमान लेखक के अपने दृष्टान्त से लग सकता है जिसे स्पेशल द्वितीय वर्ष मे मिशन स्कूल के सेकण्ड मास्टर से लेकर कक्षा के सभी अध्यापको तथा दूसरे अध्यापकों की भारी सस्तुतियों पर फ्री स्कालरशिप मिल सकी थी। ऐसी परिस्थिति मे अभावग्रस्त छात्रो के शुल्क अथवा छात्रवृत्ति का कुछ भी प्रबन्ध उनके लिए परम सहायक और उत्साहवर्धक था। सभा ने अनेक विद्यार्थियों की इस तरह की सहायता प्रत्येक वर्ष करके एक सामायिक आवश्यकता की पूर्ति की।

७. आजकल की तरह उन दिनो सेवा-समितियाँ, ब्वाय स्काउट अथवा ऐसी सस्थाएँ न थी जो जनता की नि स्वार्थ सेवा करती। हिन्दू छात्र सभा ने इस कमी को भी पूरा किया। एक छात्र कप्तान के नेतृत्व में उसके स्वयसेवक मुख्य पर्वों और मेलो मे यथाशक्ति जनता की सेवा करते थे। इन अवसरों पर बन्द पीपो मे पैसे भी इकट्ठा किये जाते और सभा के उद्देश्यो का खूब प्रचार होता। उन दिनो राष्ट्र-कवि मैथिलीशरण गुप्त की भारतभारती देश-प्रेम जाग्रत करने का कार्य

कर रही थी और इन मेलो मे सभा के स्वय-सेवको ने उसका पूर्ण उपयोग करके जनता मे चेतनता उत्पन्न करने का सत्प्रयास किया।

यह उल्लेखनीय है कि सभा के कार्यकर्ताओ मे इतनी चेतनता आ गयी थी कि १९१४ मे जब गाधीजी का दक्षिणी अफ्रीका मे सत्याग्रह चल रहा था और गोपाल कृष्ण गोखले ने उनकी सहायता के लिए देशवासियो से अपील की तो इस सभा ने भी विशेष चन्दा करके गोखलेजी के पास एक रकम भेजकर प्रवासी भारतीयो के साथ अपनी सहानुभूति प्रदर्शित की।

सभा के आरम्भ से १९१७ के मध्य तक लेखक ने प्रधान मत्री पद से तथा स्वर्गीय श्री बालकृष्ण पाडे ने जो बाद को गोरखपुर यूनिवर्सिटी के आरम्भिक काल मे उसके प्रशासकीय अधिकारी थे और काम करते-करते हृद्गति रुद्ध हो जाने से जिनका स्वर्गवास हो गया, एव लेखक के अनुज साहित्य-रत्न शेषमणि त्रिपाठी ने, जिसने उसी वर्ष जुबिली हाई स्कूल से इस प्रान्त की हाई स्कूल परीक्षा मे प्रथम स्थान प्राप्त किया था, किसी-न-किसी पद से सभा को जमाया, सीचा और बढाया था। उस समय जब मुझे म्योर सेन्ट्रल कालेज, प्रयाग के बी० ए० मे और उन दोनो अभिन्न-हृदय सहपाठियो को एफ० ए० मे प्रवेश के लिए जाना हुआ, हम लोगो को सभा के भविष्य के लिए चिन्तित होना एक स्वाभाविक बात थी। परन्तु कुछ ही दिनो मे हम लोग फूले न समाये यह सुन और देख कर कि किस योग्यता से श्री सुरतिनारायण सभा का सचालन कर रहे है। कुछ महीनो तक सभा के आजीवन सदस्य प० महात्मा शुक्ल तथा स्वर्गीय बाबू तारा प्रसाद ने बारी-बारी से प्रधान मन्त्रित्व को निभाया, किन्तु उसी साल यह भार उनसे अवस्था मे कही छोटे श्री सुरतिनारायण के कन्धो पर आ पडा और इन्होने १९२१ ई० तक अपने अमूल्य समय के तीन घण्टे नित्य सभा के कार्यो मे लगाकर विद्यार्थी-ससार के लिए सगठन और सेवाभावना का आदर्श प्रस्तुत किया। उस वर्ष सत्र के आरम्भ मे वे म्योर सेन्ट्रल कालेज मे बी० ए० पढने चले गये और वहाँ से भी अपनी प्यारी सभा की खोज-खबर बराबर रखते रहे।

पडित सुरतिनारायण ने हिन्दू-छात्र-सभा को जीवित ही नही रखा उसकी आशातीत वृद्धि की, उसके पुस्तकालय को बहुत बढाया जिससे उसकी पुस्तक सख्या ३००० तक पहुँची, एव उसकी आर्थिक स्थिति को भी दृढ़ किया। उनके समय मे सभा के कोष मे छात्रों से लगभग पचहत्तर-असी रुपए और नागरिको से लगभग १२५) मासिक चन्दा के रूप मे आते थे जो सगठन और छात्रों की सहायता मे लगाये जाते थे। कहना न होगा कि जिस समय की यह बात है किसी विद्यार्थी-सगठन के लिए यह सफलता अचिन्त्य थी और इसका प्रधान श्रेय प्रतिभासपन्न छात्र श्री सुरतिनारायण को है जिनकी लोक-प्रियता और सगठन-क्षमता उसी समय दृष्टिगोचर हो गयी।

सभा के आरम्भ मे जिन विद्वान् पडितों के नाम ऊपर आये है उनके सिवाय सभा को नगर के प्रमुख लोगो से प्रोत्साहन मिलता रहा। स्व० बाबू सरस्वतीप्रसाद वकील और श्री अयोध्या दास बैरिस्टर ऐसे उदारचेता स्थानीय नेता थे जिन्हे अच्छे कामो को सब तरह के प्रोत्साहन देने मे सुख मिलता था। इनका सब तरह का सहयोग और पथप्रदर्शन सभा के कार्यकर्ताओ को एक बडा स्तम्भ था। पडित कमला प्रसाद शुक्ल और बाबू नरसिह दास प्रतिभासम्पन्न नए वकील थे जो बडी तेजी से सार्वजनिक जीवन मे अग्रगामी हो रहे थे। उन्होने सभा की अनेक तरह की जो सहायता की वह विस्मृत नही की जा सकती। इन दोनो की अल्पायु मृत्यु से न केवल हिन्दू छात्र सभा को, वरन् गोरखपुर के सार्वजनिक जीवन की बडी भारी क्षति हुई।

इस तरह हिन्दू छात्र सभा के माध्यम से श्री सुरतिनारायण क। उन लोगो से, जिनका सभा से घनिष्ठ सम्बन्ध था एव सभी वर्ग के प्रतिष्ठित महानुभावो से किशोरावस्था मे स्फूर्तिप्रद ऐसा सम्पर्क स्थापित हो गया जिसकी कोई भी युवक स्पृहा कर सकता है। छात्रो मे वे लोकप्रिय थे ही गोरखपुर के सार्वजनिक जीवन मे भी उनको स्थान और प्रतिष्ठा मिली। हमारा निश्चित मत है कि यह सम्पर्क आगे चलकर सार्वजनिक तथा सरकारी कार्यों मे सुरतिनारायण के लिए बडा लाभप्रद हुआ।

श्री सुरतिनारायण मणि एक आस्तिक हिन्दू है जिनकी सनातन धर्म और भारतीय सस्कृति मे अगाध श्रद्धा है और जिनकी जहाँ तक सम्भव हो स्वाध्याय तथा नित्य सध्योपासना कभी नही छूटती। 'धर्मे दृढत्वम्' का बीजारोपण उनके पारिवारिक सस्कारो मे ही हुआ और उसकी जड हिन्दू-छात्र सभा मे जम कर स्थायी हुई। इस सभा द्वारा धार्मिक प्रेरणा पाने के साथ ही स्थानीय सनातन धर्म सभा के कार्यों मे सक्रिय भाग लेते एव उसके प्रधानमन्त्री आचार्यनिष्ठ स्व० प० जोखूदत्त शास्त्री के सामीप्य मे आने से इनमे धार्मिक निष्ठा का अविचल परिपाक हो गया।

इन दोनो सस्थाओ के कारण इनके ऊपर अनेक सकट भी आए जिनका उल्लेख दूसरे सन्दर्भ मे किया जायगा।

१६२१ का प्रथम निर्णायक काल

१६२०-२१ ई० देश के सहस्रो नवयुवको के जीवन का क्रान्तिकाल था। यो तो महात्मा गाधी ने १ अगस्त १६२० को असहयोग आन्दोलन की घोषणा कर दी थी जिसका अखिल भारतीय काग्रेस ने समर्थन लाला लाजपतराय के सभापतित्व मे अपने कलकत्ता वाले विशेष अधिवेशन मे किया, किन्तु 'गाधी की आँधी' तब आयी जब दिसम्बर मे श्री विजय राघवाचार्य की अध्यक्षता मे नागपुर के वार्षिक अधिवेशन मे राष्ट्रीय महासभा ने गाधीजी के कार्यक्रम को पूर्ण रूप से मान लिया।

फिर गाधीजी के आह्वान पर असहयोग की चतु सूत्री योजना के अन्तर्गत उनका भारत भर मे तूफानी भ्रमण आरम्भ हुआ और देश के कोने-कोने मे सैकडो-हजारों विद्यार्थी स्कूल और कालेजो का बहिष्कार करने लगे।

फरवरी १६२१ मे गाधीजी का गोरखपुर मे पदार्पण हुआ। अब तक सभवत देश के किसी स्थान मे उनके दर्शनार्थियो की जैसी भीड यहाँ हुई कही नही हुई थी। गोरखपुर तथा पडोसी जिलों से उनके दर्शन के लिए लोग टूट पडे और राप्ती के किनारे बालेमियाँ के विशाल मैदान में तिल रखने की जगह न रह गयी। दो लाख नर-नारी, वृद्ध और बालक के उस उभडते हुए जन-समूह मे रामचरित्र पाडे 'पावन' की प्रसिद्ध कविता के अनुसार "गजभर भइल छतिया हमार, हमार बापू आइल बाटें" शब्द उछर रहे थे। इस महती सभा के स्वयसेवक दल का कप्तान कोई भाग्यवान् युवक ही होगा और वह थे श्री सुरतिनारायण मणि जिन्हे हिन्दू छात्र सभा के ससर्ग ने उछाल दिया था। उसके सभापति थे बाबू सरस्वती प्रसाद वकील जिनके घर को महात्माजी ने अपने आवास से पवित्र किया था। जिस कमरे म महात्माजी ठहराये गये थे उसके द्वारपाल तथा गोरखपुर मे आगमन से निर्गमन तक उनके एकमात्र अगरक्षक बाबू सरस्वती प्रसाद ने अपने प्रधान मत्री सुरतिनारायण को नियुक्त करा कर समादृत तथा प्रोत्साहित किया था। इसी मकान मे बाबू सरस्वती प्रसाद के सुपुत्र स्व० बाबू विन्ध्यवासिनी प्रसाद भी रहते थे जो वकालत छोडने की तैयारी

कर रहे थे। गोरखपुर मे भी विद्यार्थियो मे बहिष्कार की एक प्रबल लहर उठी और सैकड़ो ने अपने-अपने स्कूल छोडे। शीघ्र ही स्थानीय नेताओ ने जिनमे बाबू रघुपति सहाय फिराक, प० भगवती प्रसाद दूबे और स्वर्गीय प० दशरथ प्रसाद द्विवेदी, 'स्वदेश' के सस्थापक एव सपादक प्रमुख थे तिलक राष्ट्रीय विद्यालय की स्थापना करके असहयोगी विद्यार्थियो की शिक्षा का प्रबन्ध कर दिया। इस तूफान ने विद्यार्थी सुरतिनारायण को भी खूब झकझोरा और यद्यपि उनकी इटमीडिएट की अतिम परीक्षा अति सन्निकट थी, फिर भी कालेज छोडने का उन्होने प्राय निश्चय कर लिया कि उनके भावावेश को एक धक्का लगा। उनके चरित्र मे एक बात देखने मे आती है कि जहाँ उनमे भाव-पक्ष प्रचुर मात्रा मे विद्यमान है बुद्धि-पक्ष अधिक प्रबल है जिससे वे केवल भावुकता के आवेश मे किसी ओर बह नही जा सकते। एक महीने मे ही परीक्षा देकर अध्ययन समाप्त करने मे क्या बिगड जाता है यह तर्क-बुद्धि बहिष्कार की ओर से हृदय का वेग रोक रही थी जिसे एक बाहरी बल भी मिल गया। गुरुजनो का आदर सुरतिनारायण के रोम-रोम मे भरा है ही, बस उनके सस्कृत के प्रधान आचार्य पडित आद्यादत्त ठाकुर, जिनके ये न केवल प्रिय छात्र थे वरन् उनके निवास स्थान पर वे भी रहते थे। समझाने-बुझाने से ये कालेज का बहिष्कार करने से रहे। यह कहना कठिन है कि सार्वजनिक जीवन मे द्रुत गति से बढता हुआ यह युवक असहयोग मे दीक्षित होकर किस सीमा को स्पर्श करता।

पूज्य महामना प० मदनमोहन मालवीय की अनेक कीर्तियो मे प्रयाग का मेकडानेल यूनिवर्सिटी हिन्दू बोर्डिङ्ग हाउस भी उनका एक कीर्ति-स्तम्भ है जिसका निर्माण करके २१६ हिन्दू छात्रो के सुविधापूर्वक रहने की उन्होने व्यवस्था की थी। बहुत समय तक वह दूर-दूर के अच्छे विद्यार्थियो का प्रयाग मे आकर्षण था। १९२१ मे जब श्री सुरतिनारायण उसमे रहने लगे तो उन्होने अपना सारा समय अध्ययन मे लगाने का सोचा था, परन्तु 'स्वभावस्तुप्रवर्तते' के अनुसार गोरखपुर मे उनका जो स्वभाव निर्मित हो चुका था उससे विवश होकर उन्हे छात्रावास की प्रवृत्तियो मे कूदना ही न पडा उसका नेतृत्व भी लेना पडा।

म्योर सेन्ट्रल कालेज के फिजिकल थिएटर मे प्रति शनिवार को होनेवाले साहित्य-समिति के वाद-विवाद मे मुँह खोलना एक साहस का काम था जिसमे सुरतिनारायण ने बोलने का एक क्रम बाँध लिया और जब १९२३ मे इलाहाबाद यूनिवर्सिटी रेजिडेन्शल यूनिवर्सिटी बन गयी यह सभा उसके विद्यार्थी-सघ (यूनियन) मे परिवर्तित हो गयी जिसकी कार्यकारिणी के ये हिन्दू छात्रावास के प्रतिनिधि सदस्य और दूसरे ही वर्ष यूनिवर्सिटी यूनियन के उपप्रधान चुन लिये गये, जबकि प्रधान स्थान पर अपने सीनियर मित्र स्व० बालकृष्ण पाण्डे को निर्वाचित करा दिया। यूनिवर्सिटी की लॉ सोसायटी के सदस्य तथा प्राच्य-विद्या-सभा के आप मंत्री भी निर्वाचित हो गये और जनवरी १९२५ मे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय मे जो अन्तर्विश्वविद्यालय अग्रेजी मे वाद-विवाद सपन्न हुआ उसमे इलाहाबाद यूनिवर्सिटी के प्रतिनिधि होकर भाग लिया।

यहाँ तक बात एक सामान्य रूप से चली जिसका इनकी इच्छा से कोई प्रत्यक्ष विरोध न था। किन्तु जहाँ प्रतिष्ठा का प्रश्न हो वहाँ ये चुप रहनेवालो मे से नही और यदि कोई चालाकी से इन्हे छकाना चाहे तो इन्हे 'वे डार-डार, मै पात-पात' समझिए। हिन्दू छात्रावास मे उस समय दो प्रबल दल थे प्रान्त के पूर्वी और पश्चिमी जिलो के छात्रो के, जिन्हे पूर्वी और पश्चिमी दल कहते थे। प्रान्त के बाहर के विद्यार्थी इनमे से किसी एक मे घुलमिल जाते अथवा तटस्थ रहते। दोनो दलो

मे घोर प्रतिद्वंद्विता रहती थी और प्रभावपूर्ण नेतृत्व के अभाव के कारण सख्या मे बहुत होते हुए भी हर बात मे पूर्वी दल को अल्पसख्यक पश्चिमी दल से नीचा देखना पडता था और छात्रावास की महासमिति (पार्लमेंट) मे समस्त शक्ति तथा सरकार पश्चिमी दल के हाथो मे चली चलती आ रही थी। पश्चिमी दल की सरकार ने छात्रावास के पैसे से खेलाड़ियो की एक टीम बम्बई ले जाने का निर्णय किया जो दूसरे दल की दृष्टि मे अनावश्यक तथा धन का दुरुपयोग था। इसका पूर्वी ग्रूप विरोध करना तो चाहता था, किन्तु सफलतापूर्वक सरकार को हराना दुरूह था। निदान उसके अनुरोध को स्वीकार कर तथा दल का नेतृत्व कधे पर ले श्री सुरतिनारायण ने पूर्वी दल का ऐसा जबरदस्त सगठन किया कि आज तक अजेय समझे जानेवाले पश्चिमी दल को उखाड दिया और सरकार मे अविश्वास का प्रस्ताव लाकर पार्लमेंट मे जोरदार भाषण करके गवर्नमेंट को हरा दिया। विरोधी पक्ष इसका स्वप्न भी नही देखता था और पूर्वी दल के लिए भी यह एक अभूतपूर्व बात थी। गवर्नमेंट इस दल की बनी और श्री सुरतिनारायण असम्बली के सेक्रेटरी तथा उनसे वरीयान सदस्य श्री रामनगीना सिंह उसके प्रेसिडेट बने।

हारे हुए दल ने छात्रावास के सभी मामलो मे जमीन को पैर के नीचे से खिसकती देखकर और बम्बई वाले प्रस्ताव को येनकेन प्रकारेण कार्यान्वित करने के उद्देश्य से छद्म सधि कराने के लिए छात्रावास प्रबन्ध समिति के सेक्रेटरी मुशी ईश्वर शरन को जो इलाहाबाद के प्रसिद्ध वकील तथा नेता थे किसी तरह अपनी ओर कर लिया। बाबू ईश्वर शरन एक चतुर वकील थे ही मृदु-भाषी भी थे, स्वय गोरखपुर के निवासी होने से सुरतिनारायण से अपनी बात मनवा लेने की शायद आशा भी रखते थे और एनीबेसेट द्वारा सचालित होमरूल आन्दोलन मे अपने भाषणो से गोरखपुर मे सुरतिनारायण को काफी प्रभावित भी कर चुके थे। एक दिन रात मे अकस्मात् सुरतिनारायण के कमरे मे जाकर इधर-उधर की बातो मे लपेट कर मुशीजी ने बहुतेरा चाहा कि ये बम्बई वाली टीम को जाने दे। किन्तु पश्चिमी दल की सरकार को इसी बात पर सुरतिनारायण ने हराया था और वे थूक कर चाटना नही चाहते थे। मुशी ईश्वरशरन के कई दूसरे सुझाव इन्होंने मान लिये पर इस विषय मे वे अपने विश्वास और विचार पर अडिग रहकर इन्होंने अपनी दृढता तथा आत्मसम्मान का जो परिचय दिया वह इनके चरित्र मे सन्निविष्ट है।

एक साधारण डिप्टी कलक्टर से राज्य-सरकार के सेवा आयोग की सदस्यता के ऊँचे पद पर पहुँचना स्वयमेव विशेष योग्यता और दक्षता का परिचायक है। स्वतन्त्रता के बाद श्री सुरतिनारायण आई० ए० एस० की श्रेणी मे लिये जाकर शासन की दृष्टि से महत्त्व के माने हुए गोरखपुर, इलाहा-बाद और लखनऊ जिलो के जिलाधीश नियुक्त किये गये और सर्वत्र इनके प्रशासन की सराहना हुई। सरकारी नौकरी के दिनो मे ये चाहे जहाँ रहे अपने वर्गवालो मे इनका व्यक्तित्व इन्हे शीर्षस्थ बना देता। सरकारी और अ-सरकारी लोगों में इनकी ऐसी धाक जम जाती थी कि इनकी प्रतिष्ठा-वृद्धि से ईर्ष्यावश कभी-कभी इनके कई मित्र शत्रु हो जाते थे जो इनकी सूझ-बूझ और साहस के कारण इनकी कोई विशेष हानि तो नही कर पाते उलटे उन्हे ही नीचा देखना पडता था। डिप्टी कलक्टरी के दिनों मे श्री सुरतिनारायण को कई बार विशेष दायित्व के काम सौपे गये जहाँ इनकी योग्यता कसौटी पर कसी गयी और प्रशासकीय अनुभव बढाने के अवसर भी खूब मिले। बस्ती मे उप-अधीक्षक जनसंख्या, और बन्दोबस्त अधिकारी तथा सीतापुर और गोडा मे स्पेशल मनेजर कोर्ट ऑफ वार्ड्स एव कानपुर मे डिप्टी डाइरेक्टर, उद्योग विभाग के काम इसी प्रकार के थे।

१९३१ में ये बस्ती मे जन-गणना उपाधीक्षक होकर आये तो श्री सुरतिनारायण को भयंकर परिस्थिति का सामना करना पडा। महात्मा गाधी का भद्र-अवज्ञा अथवा सत्याग्रह आन्दोलन देश भर मे बडे उग्र रूप से चल रहा था। उतने ही प्रचण्ड ताप से बस्ती मे जान्स्टनशाही तप रही थी। जान्स्टन बस्ती मे कलक्टर नियुक्त हुआ था जिसके लिए कानून कोई चीज नही थी। स्वर्गीय बाबू दौलत राम अष्ठाना, जो एक बडे निर्भीक एडवोकेट तथा काग्रेस के बहुत पुराने कार्यकर्ता एव जिले के सर्वाधिक प्रभावशाली व्यक्ति थे, सत्याग्रह मे सम्मिलित तो न थे, किन्तु तरह-तरह से काग्रेस की सहायता कर रहे थे। उनके पूछने पर कि आप मुझे किस अपराध मे गिरफ्तार करेंगे जान्स्टन ने बडे रोब से उत्तर दिया "I will find a section for you" "मैं तुम्हारे लिए कोई धारा निकाल लूँगा।" उन दिनों सिर पर गाधी टोपी तक का लगाना एक महान् अपराध था। राजपथ पर कोई गाधी टोपी पहने दिखायी देता उस पर पुलिस की लाठियाँ बरस जाती। काग्रेस के स्वयसेवको को कुआनो नदी मे कडाके की सर्दी मे घटो डुबोए रखना कोई बडा दड नही था। जहाँ सत्याग्रही काग्रेसजन मुकदमो की पैरवी किये बिना हँसते-हँसते जेल चले जाते वहाँ यदि बिना सत्याग्रह किये कोई काग्रेस-भक्त किसी अपराध मे फाँस लिया जाता और वह अपने को निर्दोष सिद्ध करने के लिए लड जाता उसका स्वाभिमान तोडने के लिए कोई अन्याय सभव था। राजा, रईस और महाजनो के बलात् लिये पैसो से अमनसभा के लठैत स्वयसेवक जान्स्टनशाही के अत्याचारो के साधन थे। बाबू दौलत राम जैसे प्रसिद्ध वकील वकालत-घर से निकल कर बाहर जा रहे हैं और उनकी पीठ पर लाठी बरस जाती है। इस गुडागिरी से व्यापक परिपीडन का अनुमान किया जा सकता है। स्वर्गीय रायबहादुर बाबू सरयू प्रसाद वकील जो सच्चे दिल से राजभक्त थे तथा स्व० राजा अष्टभुजा प्रसाद और डिप्टी कलक्टर अहमद हुसेन जो काले खाँ के नाम से कुख्यात था, के विषय मे इतना ही कहना पर्याप्त है कि वे जान्स्टन की नाक के बाल थे जिनके आतक से अन्य डिप्टी कलक्टर त्रस्त तथा दबे हुए थे और बडे-से-बडे रईस, महाजन जिनके दरबार मे सविनय उपस्थित होकर राजनिष्ठा का प्रमाण दिया करते थे। इन्ही दिनो स्थिति का अन्दाजा लगाने के लिए आए हुए श्रद्धेय पुरुषोत्तम दास टडन, आचार्य नरेन्द्रदेव और शिवप्रसाद गुप्त जिलाधीश की कचहरी के पास ही पकड कर बस्ती जेल मे ठूस दिये गये थे।

अपनी प्रथम नियुक्ति के बाद बस्ती मे सुरतिनारायण पहले भी एक बार रह चुके थे, १९२६ मे। जन-परिस्थिति भिन्न थी, किन्तु इस बार यहाँ की परिस्थिति मे उनका जीवन सुखी नही कहा जा सकता। जान्स्टन के पिट्ठुओ ने योग्य-अयोग्य सभी तरह के लोगो को मर्दुमशुमारी के काम मे नौकरी देने के लिए उससे इन पर दबाव डलवाया और स्थानीय तथा लखनऊ के उर्दू पत्रो मे मुसलमानो एव अमन सभाइयों को नियुक्त न करने का बहाना लेकर इनके ऊपर साप्रदायिकता तथा उर्दूविरोधी इत्यादि होने के मनगढन्त आरोपों का प्रचार किया तथा जान्स्टन के कानो को इनके विरुद्ध खूब भरा। यद्यपि जनसख्या-गणना-विभाग प्रान्तीय अधीक्षक के अधीन होने से कलक्टर का श्री सुरतिनारायण से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही था तथापि उसकी बात न मानी जाय यह उसके लिए असह्य था और थोडे ही दिनों मे अग्रेज अधीक्षक जैसे ही दौरे पर पहुँचे जान्स्टन ने उन्हे इनके विरुद्ध उभारने मे कोई कसर न रखी। इनकी तत्परता तथा दक्षतापूर्ण काम से अधीक्षक बहुत प्रसन्न था, परन्तु अमन सभा के आदमियों को नियुक्त करन को भी कह गया। जनगणना के काम पर सैकडो आदमियों को लगाना था जिनमे बहुतों के लिए कोई विशेष योग्यता अनिवार्य न थी और नियुक्ति के समय अपने मित्रों की सस्तुतियों पर इन्होने ध्यान भी कम नही दिये थे। किन्तु अमन सभाई

आतंकमय परिस्थिति का अनुचित लाभ उठाकर जान्स्टन के भरोसे दबाव और भय के प्रयोग मे काम निकालना चाहते थे जिसमे अधीक्षक के सुझाव मिलने पर भी नियम तथा अन्य कठिनाइयो का आश्रय लेकर श्री सुरतिनारायण ने उन सबके मनसूबो पर पानी फेर दिया। आँख दिखाकर कोई श्री सुरतिनारायण से काम निकाल ले ऐसा सभव नही। निर्भीकता इनके चरित्र का एक अग है।

बस्ती मे ही श्री सुरतिनारायण के सामने एक दूसरी कठिनाई आयी। मिस्टर जान्स्टन गये, पर उनकी जगह पर आये श्री अबूअब्दुल्ला मुहम्मद ज़का उल्लाह जो अपने पूर्वाधिकारी की तरह अत्याचार के पक्ष मे न थे, परन्तु राजभक्ति-प्रदर्शन मे किसी से पीछे भी नहीं रहना चाहते थे। इस प्रान्त के तत्कालीन गवर्नर सर मालकम हेली १९३२ मे बस्ती मे पधारने वाले थे और जिलाधिकारी तथा उनके चाटुकार जिला बोर्ड से उन्हे मानपत्र समर्पण कराकर साधुवाद चाहते थे। परन्तु गवर्नर की शर्त थी कि मान-पत्र सर्वसम्मत हो। काग्रेस जिलाबोर्ड का चुनाव नही लडी थी, किन्तु उसके बहुत पुराने भक्त स्व० बाबू दौलतराम अष्ठाना, तथा ठाकुर रामदवन सिह और यह लेखक बोर्ड के सदस्य थे। ठा० रामदवन सिह असहयोग आन्दोलन के समय से काग्रेस के पक्के सिपाही रहे और लेखक भी जो कुछ बन पडता उसके लिए करता आया था। परिस्थितियो से पराभूत होकर बाबू दौलत राम अधिकारियो की इच्छा पूरी करने के लिए सहमत हो गये थे किन्तु ठाकुर रामदवन सिह और यह लेखक अभिनन्दन सम्बन्धी प्रस्ताव का विरोध करने के लिए बद्ध-परिकर थे। जिलाधीश ने हम लोगो को सहमत करने का अप्रिय भार श्री सुरतिनारायण के ऊपर यह कर डाला कि ऐसा न करने से उनका काग्रेसी होना प्रमाणित होगा। गवर्नर का मामला ठहरा और इन्हे कडवी घूंट पीनी पडी और प्रस्ताव वाली बैठक मे अनुपस्थित होकर 'नरो वा कुजरो वा' नीति पर चलकर ठाकुर रामदवन सिंह और इस लेखक को इनकी आन रखनी पडी। एक को छोड़कर प्राय सभी डिप्टी कलेक्टर जान्स्टन के नाक के बालवालो से भीतर-भीतर खिन्न थे। उसके चले जाने पर इन लोगो को मिलाकर श्री सुरतिनारायण ने इनके विषैले दाँत निकाल लिये।

श्री सुरतिनारायण मे कोई ऐसी विशेषता है जो ये जहाँ कही होते सरकारी पदाधिकारियो एव सार्वजनिक लोगो पर समान रूप से इनका सिक्का जमा देती। सुलतानपुर की एक घटना इस बात का अच्छा परिचय देती है। वहाँ म्यूनिसिपलिटी के चैयरमैन की जगह के लिए सर्वश्री अबा प्रसाद और रामशकर सहाय मे बडा सघर्ष था। जिसमे पुलिस कप्तान एक पक्ष का और जिलाधीश दूसरे का प्रत्यक्ष रूप से प्रबल समर्थन कर रहे थे। जिलाधीश ने अपने बल-बूते पर अपने उम्मेदवार की सहायता मे एडी-चोटी का पसीना एक करके अन्त मे देखा कि कप्तान का उम्मेदवार भारी बहुमत से इनके पिट्ठू को पीट देगा। निदान मुँह लटकाए हुए चुनाव की पिछली रात उन्होने श्री सुरतिनारायण के घर जाकर उनसे अपनी मर्यादा को बचाने का आग्रह किया। जो स्थिति दोनो गुटो की बहुत दिनों के परिश्रम से परिपक्व हुई थी उसे पलटने के लिए कुछ ही घटो का अवसर था। काम सरल न था। परन्तु जिलाधीश के विदा लेते ही श्री सुरतिनारायण ने रातोरात अपने प्रभाव का ऐसा जादू फेरा कि बहुमत अल्पमत मे प्रवर्तित हो गया।

कोई सरकारी पदाधिकारी दक्षतापूर्वक ईमानदारी के साथ प्रशासन का जो काम करता है वह जैसा मै समझता हूँ कम जनसेवा नही है और इस अर्थ मे पडित सुरतिनारायण मणि का सार्वजनिक जीवन प्रोज्ज्वल तथा उच्च कोटि का रहा है, परन्तु सरकार से विलग भी इनकी गिनती सार्वजनिक कार्यकर्ताओं मे की जायगी। राज्य के किसी कर्मचारी के लिए तरह-तरह के नियन्त्रणो के

कारण बाहर सार्वजनिक कार्यों के लिए अत्यन्त सकुचित क्षेत्र मिल सकता है। इस स्थिति मे हिन्दू छात्र सभा की प्रवृत्तियो मे जो सगठन-शक्ति, सेवा-भाव उनमे सशक्त रूप मे जाग्रत हुआ उसका सदुपयोग इनके समान विरले ही लोग कर पाते हैं। इसके दो एक उदाहरण पर्याप्त होंगे।

यो बस्ती मे हम लोग तुलसी जयन्ती का समारोह अनेक वर्षो से करते आ रहे थे, परन्तु १९३२ की विकट परिस्थिति मे प० सुरतिनारायण के सभापतित्व मे जो समारोह मनाया गया वह इनके व्यक्तित्व के कारण अभूतपूर्व था। उसी वर्ष बस्ती मे एक विशाल अखिल भारतीय कवि सम्मेलन, कविसम्राट् अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' के सभापतित्व मे सपन्न हुआ जिसकी सनेही जी तथा अन्य विशिष्ट कवियो ने राष्ट्रभाषा से शोभा बढायी। यह सम्मेलन बहुत महत्त्वपूर्ण था जिसकी असाधारण सफलता का प्रधान श्रेय प० सुरतिनारायण मणि त्रिपाठी की प्रेरणा और तत्परता को है। उनकी सगठनात्मिका शक्ति के कारण सार्वजनिक कार्यकर्ता ही नही, राष्ट्रभाषा के समर्थक सरकारी पदाधिकारियो ने भी उसमे पूर्ण योगदान दिये। इसी प्रकार प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन का पराडकर जी की अध्यक्षता मे बस्ती का १९४३ वाला बहुत ही सफल अधिवेशन भी बहुत कुछ सुरतिनारायण के प्रयत्न, नेतृत्व तथा निदेशन का परिणाम था। सफल सार्वजनिक जीवन के लिए वक्तृत्व की भी आवश्यकता है। वार्तालाप मे वाक्यपटुता सुरतिनारायण को अपने पिता से दाय मे मिली थी जिसे शिक्षा और अध्ययन से परिमार्जन तथा सवृद्धि प्राप्त हुई। यही कारण है कि गोष्ठियो मे ये बात की ऐसी झडी लगाते है मानो सबको छा लेते हो। इसी तरह गोरखपुर और इलाहाबाद के विद्यार्थी-जीवन मे वक्तृता का जो समारम्भ इन्होने किया उससे आगे चलकर इन्हे हम एक कुशल वक्ता के रूप मे पाते है। छतरधारी डिग्री कालेज, जौनपुर, शिवली डिग्री कालेज आजमगढ़ इत्यादि सस्थाओं मे दिए गए इनके दीक्षात भाषण शिक्षा की समस्याओ के प्रगल्भ और निर्भीक विचारो से परिपूर्ण है जो इन्हे सहज ही शिक्षाशास्त्रियो के समकक्ष बैठा देते है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के १९५७ के दीक्षान्त समारोह का समारम्भ भाषण देते हुए इन्होने सरकार की नीति की जो आलोचना की, वह समारोह का सभापतित्व करते हुए बिहार के राज्यपाल श्री आर० आर० दिवाकर को चुभ गयी थी। विचार-स्वातत्र्य इसे कहते है। और यह कहना अयुक्त न होगा कि 'न्याय्यात्पथ प्रविचलति पदन्न धीरा.' की सूक्ति इनमे चरितार्थ हुई है। १९६१ मे श्री बनारसी दास चतुर्वेदी के सभापतित्व मे प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन का भाटपार रानी मे जो अधिवेशन हुआ उसके स्वागताध्यक्ष पद से श्री सुरतिनारायण का भाषण भी प्रगल्भ तथा महत्वपूर्ण था।

सामाजिक विचार और श्री सरयूपारीण ब्राह्मण महासभा

ब्राह्मण-वश मे जन्म एवं धर्मशास्त्र और सस्कृत साहित्य के गम्भीर परिशीलन से परिपुष्ट सस्कारों के फलस्वरूप समाज के वर्णाश्रमात्मक सगठन मे पडित सुरतिनारायण मणि की पूर्ण आस्था है जिसमे सब वर्णों को एक सामाजिक 'विराट शरीर' के विविध समन्वित अगो के रूप मे देखते हुए वे उनकी अन्योन्याश्रित तथा पारस्परिक उपयोगिता मानते हैं और उसके मूलभूत सिद्धान्तो का समाज-वाद के विशुद्ध दार्शनिक तत्वो से विरोध नही पाते है। इस दृष्टि से सरयूपारीण ब्राह्मणो का उनकी गिरी हुई अवस्था से उन्नयन एकागी दिखते हुए भी वे सर्वजनहित का विरोधी नही मानते और जैसा ऊपर संकेत कर चुके है राज्य का एक अधिकारी होने के कारण प्रशासन के बाहर उनका सार्व-

जनिक जीवन सीमित होना अनिवार्य रहा। अतएव परिस्थिति के अनुसार यथाशक्ति अखिल भारतीय श्री सरयूपारीण ब्राह्मण महासभा के माध्यम से इस उन्नयन मे उनकी स्वभावतया प्रवृत्ति हुई।

महासभा के आकर्षण से प० सुरतिनारायण ने १९२० के दिसम्बर में काशी मे उसका जो महाधिवेशन पक्तिपावन शिरोमणि पडित तीर्थराज मणि त्रिपाठी के सभापतित्व मे सम्पन्न हुआ उसमे प्रयाग से जाकर विद्यार्थी जीवन मे ही भाग लिया। अपने निर्भीक स्वभाव के कारण प्रशासन मे रहते हुए साप्रदायिकता के सभावित आरोप की परवाह न करके उन्होने महासभा की सराहनीय सेवा की। वे पटना (अप्रैल १९३८), कलकत्ता (१९४१), अयोध्या (१९४३) के वार्षिक तथा प्रयाग (कुभ १९४२) के विशेषाधिवेशनो के सभापति हुए जो एक असामान्य बात थी, क्योंकि इतनी वार किसी व्यक्ति को यह सम्मान प्राप्त नही हुआ और यह इनकी जातीय प्रतिष्ठा एव लोकप्रियता का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

यह उल्लेखनीय है कि सरयूपारीण ब्राह्मणो मे सैकडो वर्ष से कृषि-कार्य चला आ रहा है, परन्तु उन्होने कभी हल ग्रहण न किया। एक वार मिस्टर नेविल ने बस्ती या गोरखपुर गजेटियर मे लिखा कि सरयूपारीण ब्राह्मण हल चलाते थे। इस पर उनमे बडा असन्तोष हुआ और महासभा ने उक्त लेख का घोर विरोध किया। यह हल-ग्रहण के विरोध मे उनकी परम्परागत धारणा की प्रबलता ही थी कि महासभा के काशी वाले अधिवेशन मे सभामडप के समीपस्थ एक विशाल वृक्ष पर चढकर हल चलाने के एक स्वजातीय प्रचारक ने प्राणत्याग की धमकी दी, परन्तु महासभा ने उसे अनसुनी कर दी। किन्तु समय के परिवर्तन से पटना के महाधिवेशन ने श्री सुरतिनारायण के सभापतित्व मे, जिन्होने उक्त घटना को आँखो देखा था, हल ग्रहण को समर्थन दिया और वही पर प्रथम बार सरयूपारीण ब्राह्मणो मे प्रथम बार सहभोज का प्रस्ताव पास हुआ। इस अधिवेशन के उपरान्त कम से कम साल भर इन्होने महासभा मे सक्रिय कार्य किया और उसके सगठन एव मुखपत्र 'श्री सूरयूपारीण' को सुदृढ किया।

गोरखपुर विश्वविद्यालय

गोरखपुर यूनिवर्सिटी प० सुरतिनारायण मणि त्रिपाठी का विशाल कीर्ति-स्तम्भ है जो उनके दृढ सकल्प और साहस, धैर्य और अध्यवसाय, उद्योगशीलता और सगठन शक्ति का पूँजीभूत परिपाक है। यह उत्तर प्रदेश के पिछडे हुए पूर्वी जिलो के एक महान् अभाव का निराकरण है यह कथन एक सर्वविदित तथ्य को केवल मुखरित करना है।

जहाँ तक हमे ज्ञात है गोरखपुर विश्वविद्यालय की स्थापना का सुन्दर स्वप्न पडित सुरतिनारायण मणि ने उस समय देखा जब वे कानपुर मे उद्योग-विभाग मे डिप्टी डायरेक्टर थे। इसकी पुष्टि जब वे लखनऊ में बोर्ड ऑव रेवेन्यू के सेक्रेटरी थे तब हुई और इस स्वप्न को इन्होने साकार तब किया कि जब ये गोरखपुर के जिलाधीश थे। एक बार उसके निर्माण का सकल्प कर लिया फिर विघ्नबाधाओ का धैर्यपूर्वक सामना करते हुए उन्होंने अपने प्रशासकीय जीवन काल मे ही उसे साकार करके साँस ली। इस प्रसग मे उनके सबंध मे सुभाषितकार की यह उक्ति सर्वथा चरितार्थ होती है:—

"आरभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचै
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमंति मध्या:।

विघ्नै पुन पुनरपि प्रति हन्यामाना
प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजति ।।"

इस सर्वजनोपयोगी उद्योग मे प० सुरतिनारायण का तन, मन, धन सभी प्रकार से हाथ बँटाने वाले अनेक ऐसे साथी मिले, जिनके सहयोग के बिना उसकी सफलता सदिग्ध होती है। ऐसे ही सहकारियो मे रायबहादुर श्री रामनारायण लाल का निधन हो ही चुका था कि प० सुरतिनारायण के एक बडे सशक्त सहायक श्री हरिहरप्रसाद दूबे एडवोकेट का विश्वविद्यालय की कार्यकारिणी की बैठक मे अतिम साँस तक उसकी सेवा करते हुए १४ अप्रैल १९६३ को मस्तिष्क स्फोट से स्वर्गवास हो गया। विश्वविद्यालय की स्थापना मे जहाँ पडित सुरतिनारायण को बहुतो से प्रभूत प्रोत्साहन और सहकारिता प्राप्त हुई, एकाध दिवगत तथा वर्तमान ऐसे पुराने मित्रो के प्रच्छन्न अथवा प्रकट विघ्नो का सामना करना पडा जिनकी आशका नही की जा सकती थी और यह मित्रो द्वारा हुआ इसलिए इनके लिए विशेष दु ख की बात थी। किसी मनुष्य का अजातशत्रु होना यदि असभव नही, तो अत्यन्त दुर्लभ अवश्य है। परन्तु इनके विषय मे यह बाते यथार्थतापूर्वक कही जायँगी कि अपने साहस, अनुभव, ज्ञान और प्रत्युत्पन्नमतित्व के बल पर ये शत्रुजय रहते आ रहे।

असीम उत्साह तथा समारोह के साथ विश्वविद्यालय का शिलारोपण हमारे राज्य के तत्कालीन मुख्यमत्री पडित गोविन्दवल्लभ पन्त के हाथो १९५० के मई मे सपन्न हुआ, परन्तु विश्वविद्यालय अधिनियम (ऐक्ट) बनने मे अप्रत्याशित विलम्ब हो रहा था जिससे पन्त जी के उत्तराधिकारी मुख्य मत्री डॉक्टर सम्पूर्णानन्द तथा शिक्षा-मत्री हरगोविन्द सिह से लखनऊ मे यूनिवर्सिटी निर्माण समिति का एक प्रतिनिधिमडल १९५६ मे मिला, जिसमे बस्ती की ओर से पडित सीताराम शुक्ल के अतिरिक्त हमे भी सम्मिलित होने का अवसर प्राप्त हुआ। वहाँ पर प० सुरतिनारायण की जो निर्भीकता देखी, वह उल्लेखनीय है। मत्री महोदयो से वार्ता होते समय टालमटोल का आभास मिलने पर बीच मे त्रिपाठी जी का यह कहना कि 'Now or Never' (तत्काल या कभी नही)––किसी राज्य-कर्मचारी के लिए बडे सहास का काम था। स्मरण रहे कि उन दिनो ये लखनऊ मे ही डिप्टी कमिश्नर थे।

अन्त मे देश और राष्ट्र की सेवा मे निरत श्री सुरतिनारायण के 'शरद शतम्' जीवित रहने की मगल कामना के साथ इन पक्तियो की स्नेह-माला इन्हे सहर्ष समर्पित है।

गोरखपुर विश्वविद्यालय और पं० सुरतिनारायण मणि त्रिपाठी

पुरुषोत्तमदास मोदी

बात १९४६ ई० की है, जब कांग्रेस ने दूसरी बार शासन की बागडोर अपने हाथ में ली थी। स्व० प० गोविन्दवल्लभ पन्त उत्तरप्रदेश के मुख्यमंत्री पद पर दूसरी बार आसीन हुए। उन्ही दिनो प० सुरतिनारायण मणि त्रिपाठी कानपुर मे डिप्टी डायरेक्टर ऑव इडस्ट्री थे। पन्त जी को मुख्य-मन्त्री का पद ग्रहण किये तीन सप्ताह ही हुए थे कि वे कानपुर गये। सरकिट हाउस के विशाल हाल मे पन्त जी से मिलने नगर के सभी बडे प्रशासकीय अधिकारी उद्योगपति, राजनीतिक तथा सामाजिक कार्यकर्ता उपस्थित थे। त्रिपाठी जी भी वही थे। पन्त जी सबसे अलग अलग न मिल-कर एक-एक कर सभी से बात कर रहे थे तभी पन्त जी के प्रथम कांग्रेस शासन के सभासचिव तथा कानपुर के प्रमुख सार्वजनिक कार्यकर्ता प० वेंकटेशनारायण तिवारी ने निवेदन किया—"पन्तजी कानपुर के मान्य व्यक्ति यहाँ एकत्रित हैं, सभी की इच्छा है कि कानपुर में एक विश्वविद्यालय की स्थापना हो। इस कार्य के हेतु लोग प्रचुर मात्रा मे धन भी एकत्रित करने को प्रस्तुत है।" पन्तजी ने सक्षिप्त उत्तर दिया—"यदि कानपुर के लोग इस कार्य के लिए पर्याप्त धन सग्रह करे तो सरकार इस विषय पर सहानुभूतिपूर्वक विचार करेगी।"

गोरखपुर विश्वविद्यालय की कल्पना

उद्योगपतियो की नगरी मे विश्वविद्यालय स्थापना की बात आयी-गयी और वही रुक गयी। हाँ, बडे उद्योग कई खुले। पर इस प्रसग की चोट दूसरी तरफ हुई—प० सुरतिनारायण मणि जी को यह सब सुन कर पहली बार ज्ञात हुआ कि प्रादेशिक सरकारो द्वारा भी सार्वजनिक प्रयत्नों के माध्यम से विश्वविद्यालय की स्थापना हो सकती है। अर्थात् यदि किसी स्थान पर पर्याप्त धन एकत्र किया जा सके तो प्रदेश की सरकार विश्वविद्यालय स्थापना मे सहायक होगी। यह विचार मन मे आने के बावजूद स्वाभाविक रूप से त्रिपाठी जी के मन मे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय तथा अलीगढ मुस्लिम विश्वविद्यालय की स्थापना का पूरा इतिहास आँखो के आगे आ गया। किन्तु तत्काल ही यह विकल्प भी आया कि उतने बडे स्तर की कल्पना के बिना भी विश्वविद्यालय की स्थापना की जा सकती है। लेकिन इतना सब होने पर भी त्रिपाठी जी के मन में गोरखपुर विश्वविद्यालय की स्थापना की बात नही आयी। हाँ, ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को देखते यह अवश्य कहा जा सकता है कि विश्वविद्यालय के एक बृहत् शृंखला की यह एक अत्यन्त प्रीतिकर शुरूआत थी।

इसी सन्दर्भ मे इससे पहले के उस प्रसग को भी याद किया जा सकता है जब गोरखपुर के एक सार्वजनिक कार्यकर्ता और गण्यमान्य रईस रायबहादुर श्री मधुसूदनदास १९४५ मे कानपुर गये थे। वे त्रिपाठी जी के ही अतिथि थे। मधुसूदनदास जी नाथ चन्द्रावत ट्रस्ट के अवैतनिक मन्त्री थे। उस समय तक ट्रस्ट मे कुछ धनराशि जमा हो चुकी थी। त्रिपाठी जी से बातों ही बातो मे

उन्होने कहा कि किसी शिक्षण-सस्थान की स्थापना की योजना बनाएँ तो वे ट्रस्ट कोष से सवा-दो लाख रुपए की आर्थिक सहायता दिलाने की व्यवस्था करेंगे।

यह एक बडी उत्साहवर्द्धक बात थी, किन्तु त्रिपाठी जी के मन मे कोई ऐसी योजना तब तक न थी जिसके लिए इस सहायता का उपयोग वे करते। अत मधुसूदनदास जी से उन्होने इतना ही कहा था कि इस रुपये को आप सुरक्षित रखे, समय आने पर उपयोग किया जाएगा।

और गोरखपुर विश्वविद्यालय की स्थापना की परिकल्पना तब भी सामने न आयी। ये दोनो प्रसग यूँ ही सालो दबे रहे। हाँ, त्रिपाठीजी के मन मे यह बराबर आता था कि गोरखपुर जैसे पिछडे क्षेत्र मे कुछ होना अवश्य चाहिए। कहना न होगा कि गोरखपुर से त्रिपाठी जी हमेशा ही आन्तरिक रूप से सम्बद्ध रहे हैं। उनके जीवन का बहुत बडा भाग इसी स्थान पर बीता है।

कानपुर से लखनऊ आ जाने पर भी त्रिपाठी जी के सामने गोरखपुर को लेकर अनेक विकल्प आए। गोरखपुर-निवासियो के अनेक प्रकार के सुझाव आते रहे। पर सब कुछ के बावजूद उनके सामने कोई साफ तस्वीर न आ पाती थी। गोरखपुर के एक प्रतिष्ठित वकील स्व० प० हरिहर प्रसाद दुबे ने भी त्रिपाठीजी के सम्मुख वहाँ एक विश्वविद्यालय स्थापना का प्रस्ताव उपस्थित किया था, पर उस प्रस्ताव का हश्र भी वही हुआ जो सबका।

गोरखपुर में जिलाधीश

लेकिन सयोग की ही बात थी कि सितम्बर १९४८ मे त्रिपाठी जी का स्थानान्तर लखनऊ से गोरखपुर के जिलाधीश पद पर हो गया। त्रिपाठीजी ने गोरखपुर से अपनी निकटतम सम्पृक्ति को देखते हुए इस तबादले का खुलकर स्वागत नही किया। वे चिन्तित हो गये। इसे स्थगित कराने के लिए उन्होने भरपूर प्रयत्न भी किये। किन्तु सबके सब अकारथ गये। और अन्तत उनके मन मे यही विचार आया कि "जब इतनी कोशिश करने पर भी इस नियुक्ति से मुक्ति नही मिलती तो सम्भव है ईश्वर कोई कुछ अच्छे की सोचकर यह सब कर रहा हो।"—और त्रिपाठी जी ने ७ सितम्बर १९४८ को गोरखपुर मे जिलाधीश का पद ग्रहण किया।

गोरखपुर आते समय श्री हरिहरप्रसाद दुबे की बात भी त्रिपाठी जी के मन मे थी। उस बात पर एक अतिरिक्त परत तब और चढी जब डॉ० सी० जे० चाको ने उनसे भेट कर विश्वविद्यालय-स्थापना का प्रसग पुन छेड़ा। डॉ० चाको उस समय सेट एण्ड्रयूज कालेज के प्रिंसिपल थे। वे एक अत्यन्त योग्य प्रतिभासम्पन्न शिक्षाविद् थे। उनके कार्यकाल मे सेट एण्ड्रयूज कालेज की बडी उन्नति हुई। विज्ञान मे स्नातक तथा अन्य विषयों में स्नातकोत्तर कक्षाएँ आरम्भ हुई। काफी समय तक गोरखपुर रहते-रहते डॉ० चाको को उस स्थान से लगाव हो गया था। उनकी निजी अभिलाषा थी कि गोरखपुर मे एक विश्वविद्यालय की भी स्थापना हो। त्रिपाठी जी ने डॉ० चाको के प्रस्ताव को ध्यान से सुना और उस पर गम्भीरतापूर्वक विचार भी किया।

विश्वविद्यालय-स्थापन का प्रस्ताव जब-जब त्रिपाठीजी के सम्मुख आता तो वे गम्भीर हो जाते, उन्हे इस दिशा मे किये गये प्रयत्नों की असफलता दिखाई पडती। वे सहम जाते। डॉ० चाको के प्रस्ताव के समय मे भी उनके मन मे यही प्रतिक्रिया हुई। साथ ही उन्होंने यह भी सोचा कि जिलाधीश एक परतन्त्र व्यक्ति होता है—सरकारी मुलाजिम। सरकारी कामों से ही उसे अवकाश नही मिलता। दूसरी बात यह भी थी कि बिना सरकार की अनुमति के वह किसी

भी सार्वजनिक कार्य मे भाग नही ले सकता। और चूँकि सरकार का ऐसे कार्यो से कोई सीधा सम्बन्ध नही होता है अत इस कार्य मे हाथ डालने पर उनके समक्ष भी शासकीय बाधाएँ आ सकती हैं। इन्ही सब कारणो से त्रिपाठी जी इस सम्बन्ध मे किसी निश्चयात्मक स्थिति मे नही पहुँच पाते थे। द्विविधा और विकल्प उनके सम्मुख निरन्तर आते रहे।

कुछ दिनो बाद डॉ० चाको पुन उनसे मिले। बीच-बीच मे गोरखपुर के सम्भ्रान्त नागरिको की ओर से भी विश्वविद्यालय की स्थापना की बात उठायी गयी। डॉ० चाको से काफी विचार-विमर्श के बाद त्रिपाठीजी ने गोरखपुर के गणमान्य लोगो की एक बैठक आयोजित करने को कह दिया।

विश्वविद्यालय की स्थापना हेतु नागरिको की प्रथम बैठक

पर डॉ० चाको के उत्साह का भी कोई सानी नही। त्रिपाठीजी की इतनी भी सहमति और उनका अपनापा-भरा निर्देश मिलते ही उन्होने २७ सितम्बर १९४८ को अपने घर पर एक बैठक आयोजित की। बैठक मे गोरखपुर के प्रतिष्ठित लोग (महन्त दिग्विजयनाथ जी तथा सरदार सुरेन्द्र सिंह मजीठिया के अतिरिक्त) सम्मिलित हुए। बैठक मे विश्वविद्यालय की स्थापना का प्रस्ताव प्रस्तुत किया गया और सभी ने मुक्त मन से उसको समर्थन और स्वीकृति दी। कहना न होगा कि इतने बडे उत्साह और मतैक्य को देखकर त्रिपाठी जी को भी काफी बल मिला। बैठक मे तत्काल दो समितियाँ गठित की गयी—विधान समिति और साधन समिति। सहज ही दोनो समितियो के अध्यक्ष रूप मे प० सुरतिनारायण मणि त्रिपाठी सर्वसम्मति से चुने गये।

वास्तव मे गोरखपुर विश्वविद्यालय का स्थापना-दिवस इसे ही (२७ सितम्बर, १९४८) मानना चाहिए, इसलिए गोरखपुर विश्वविद्यालय के इतिहास मे इसे स्वर्ण-दिन भी कहा जा सकता है। यही से विश्वविद्यालय-स्थापना का दूसरा अध्याय प्रारम्भ होता है।

सच कहे तो त्रिपाठी जी के कार्य करने की अपनी एक निजी पद्धति है—उनका एक स्वभाव है जिसमे बधकर जिसके सहारे वे किसी भी कार्य को आगे बढाते हैं। किसी भी कार्य को प्रारम्भ करने के पूर्व ही बहुत दूर-दूर की सोचना, तथा यथासम्भव सभी विकल्पो का परिहार करना उनका स्वभाव है। कुछ लोग उनकी इस पद्धति के प्रति शकाएँ भी कर सकते हैं, करते हैं। किन्तु जब एक बार किसी कार्य को वे प्रारम्भ कर देते हैं तो उसकी सफलता के लिए प्राणपण से जुट जाते हैं और फिर उस बीच आने वाले किसी भी अवरोध से सघर्ष करने मे वे तनिक भी सकोच या हिचकिचाहट नही करते। और इतिहास साक्षी है कि उनकी इस कार्य-पद्धति ने हर कार्य मे उन्हें सफलता दी है—सामाजिक कार्यों मे और प्रशासकीय कार्यो मे भी।

गोरखपुर विश्वविद्यालय का काम भी सरल नही था। अति विशाल योजना थी—एक ऐसी योजना जिसके लिए महामना प० मदनमोहन मालवीय जैसे इतिहास-पुरुष ने अपने को उत्सर्ग करने का साक्ष्य प्रस्तुत किया। यह कहना अतिशयोक्ति न माना जाय कि आदरणीय श्री त्रिपाठी जी ने भी इतने बडे काम के लिए अपने को उत्सर्ग कर दिया। इसकी सफलता के लिए उन्होंने अपनी पूरी शक्ति लगा दी।

गठित समिति के पास पैसा नही था, न एक इच जमीन थी, और न कोई ऐसी शिक्षा-सस्था

थी जो सहज ही मे इस बडे रूपाकार का केन्द्र हो सकती थी। और भी अनेक कठिनाइयाँ पदे-पदे थी, किन्तु त्रिपाठीजी शासकीय आदेश लेकर इस कार्य मे तन-मन-धन से जुट गये।

गोरखपुर विश्वविद्यालय सस्थापना समिति का संघटन

सर्वप्रथम जो कार्य किया गया वह यह कि इन दोनो समितियो के माध्यम से एक विश्व-विद्यालय सस्थापना समिति पजीकृत की गयी, जिसके अध्यक्ष प० सुरतिनारायण मणि त्रिपाठी हुए। अन्य पदाधिकारी तथा सदस्य जो इस समिति के हुए वे थे—

अध्यक्ष— श्री सुरतिनारायण मणि त्रिपाटी
उपाध्यक्ष— श्री महन्त दिग्विजयनाथ
सरदार सुरेन्द्रसिह मजीठिया
प्रधान मत्री—श्री मधुसूदनदास
मत्री— श्री हरिहरप्रसाद दुबे तथा डॉ० सी० जे० चाको

सदस्य

सर्वश्री हनुमानप्रसाद पोद्दार, केशवप्रसाद श्रीवास्तव, जगदम्बाप्रसाद वकील, रामनारायण लाल वकील, सुखदेव प्रसाद, बब्बन मिश्र, प्रसिद्धनारायण मिश्र, परमेश्वरीदयाल मुख्तार, डॉ० केदारनाथ लहरी, पुरुषोमदास रईस, महादेवप्रसाद रईस, राय राजेश्वरी प्रसाद, कमलाकान्त नायक, बशिष्ठनारायण, ठाकुर सिंहासन सिह, हरिप्रसाद शाही, लक्ष्मीशकर वर्मा, खानबहादुर मुहम्मद जकी, कैलाशचन्द्र वाजपेयी, जिलाधीश देवरिया, जिलाधीश बस्ती।

धन-सग्रह

समीचीन होगा यहाँ यह कहना भी कि समिति के सभी सदस्यो ने इस ऐतिहासिक महत्व के कार्य मे आशातीत सहयोग प्रदान किया, जिसमे श्री त्रिपाठी जी को अपने सकल्पो की सफलता के प्रति अधिक सम्भावनाएँ उजागर हुई। धन-सग्रह का कार्य प्रारम्भ हुआ और सर्वप्रथम राय बहादुर मधुसूदन दास जी द्वारा प्रस्तावित वह सवा-दो लाख रुपये की राशि समिति ने उपलब्ध की।

सवा-दो लाख की इस प्रथम पूँजी ने गोरखपुर विश्वविद्यालय सस्थापना समिति की साख बढा दी और यह साख तब और बढ गयी जब त्रिपाटी जी की प्रेरणा से नगर के प्रमुख नागरिको का एक शिष्टमण्डल तत्कालीन मुख्यमत्री प० गोविन्दवल्लभ पन्त के पास गया और माननीय पन्त जी तथा माननीय राजस्व मन्त्री ठाकुर हुकुम सिंह ने धन-सग्रह हेतु प्रस्तुत अपील पर हस्ताक्षर कर दिये। जनता मे इसका पर्याप्त प्रभाव पडा और धन-सग्रह कार्य मे गति आई। पन्त जी की इस सहानुभूति से उत्तरप्रदेश सरकार ने भी समय समय पर सहायता प्रदान की।

आकस्मिक बाधा और तत्काल निवारण

डॉ० सम्पूर्णानन्द जी उस समय प्रदेश के माननीय शिक्षा मन्त्री थे। उसी वर्ष नवम्बर के तृतीय सप्ताह में वे गोरखपुर पधारे। सम्पूर्णानन्द जी को गोरखपुर मे विश्वविद्यालय की स्थापना के आयोजन की कोई जानकारी न थी। महन्त दिग्विजयनाथ जी इस विषय मे उनसे चर्चा करना चाहते थे; किन्तु त्रिपाठी जी ने कहा कि यदि शिक्षा-मन्त्री जी ने यह न जानते हुए कि इसे मुख्य-

गोरखपुर के जिलाधीश १९५० ई०, गोरखपुर विश्वविद्यालय संस्थापन समिति के सदस्यों के साथ
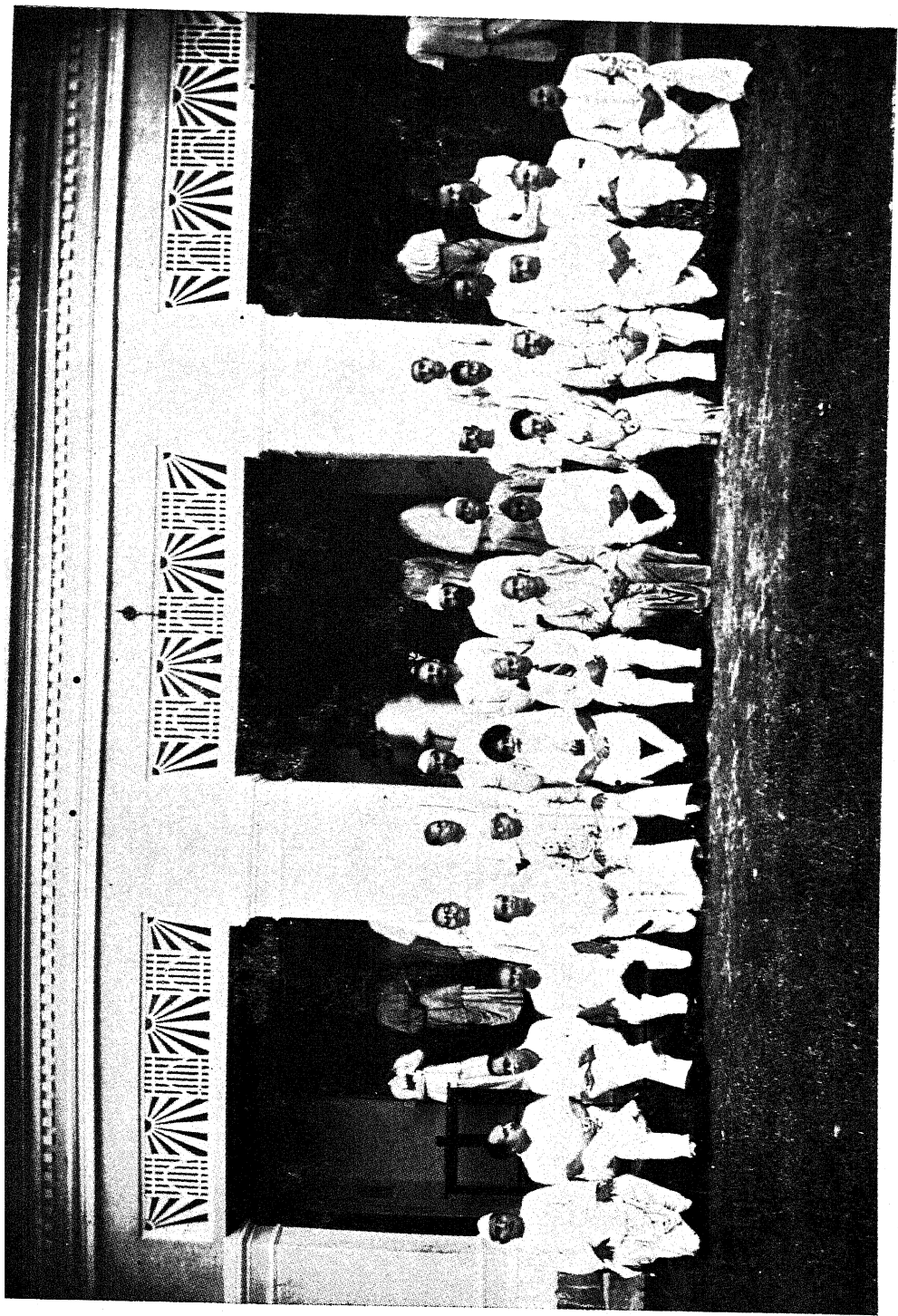
मन्त्री जी का वरदहस्त प्राप्त है, कही विरोध व्यक्त कर दिया तो मन्त्रिमण्डल स्तर पर भी इसका विरोध होने की सम्भावना है। महन्त जी ने त्रिपाठी जी की बात स्वीकार तो कर ली, किन्तु जब सम्पूर्णानन्द जी गोरखनाथ मन्दिर गये तो उनसे रहा नही गया और कह ही बैठे कि गोरखपुर मे एक विश्वविद्यालय के स्थापना की योजना बनायी गयी है। शिक्षा-मन्त्री जी ने तत्काल कहा "मै इसके विरुद्ध हूँ।" सहसा वातावरण निस्तब्ध हो गया—महन्तजी त्रिपाठी जी का मुँह देखे और त्रिपाठी जी महन्तजी का। सम्पूर्णानन्द जी ने परिस्थिति का अनुभव किया और बात आगे बढाते हुए कहा "शिक्षा-सस्थाएँ तो अनेक खोल ली जाती है, किन्तु न तो योग्य अध्यापक मिलते है और न उनके पास पर्याप्त धन तथा आवश्यक साधन ही होते है, ऐसी सस्थाओ की स्थापना मे मेरा विश्वास नही है।" थोडी साँस लेने की जगह मिली। त्रिपाठीजी ने महन्त जी से कहा—"माननीय मन्त्री जी विश्वविद्यालय की स्थापना के विरुद्ध नही है किन्तु वे ऐसा विश्वविद्यालय भी नही चाहते जहाँ न धन हो, न पर्याप्त स्थान-साधन और न योग्य अध्यापक। यदि यहाँ पर्याप्त धन-सग्रह किया जा सके तो मेरा अनुमान है कि माननीय मन्त्री जी को विश्वविद्यालय-स्थापना की अनुमति प्रदान करने मे आपत्ति न होगी।" डॉ० सम्पूर्णानन्द जी ने त्रिपाठी जी की बात स्वीकारते हुए कहा— "त्रिपाठी जी ठीक कह रहे है। पर्याप्त धन-सग्रह हो जाए तो मुझे विश्वविद्यालय की स्थापना मे क्या आपत्ति हो सकती है। हाँ, ऐसे काम के लिए पचास लाख रुपये तो एकत्रित होने ही चाहिए।" त्रिपाठी जी ने तत्काल निवेदन किया "माननीय शिक्षा-मन्त्री जी ने धनराशि नियत कर दी है और मुख्य मन्त्री जी का आशीर्वाद प्राप्त हो ही चुका है अब ५० लाख रुपये एकत्र करने चाहिए ताकि हम अपने लक्ष्य मे सफल हो सके।

धन-संग्रह की कष्ट-कथा

धन-सग्रह तथा भूमि प्राप्ति की कहानी अत्यन्त कष्टकर, किन्तु रोचक है। धन-सग्रह के सम्बन्ध मे यह योजना बनी थी कि पूर्वी जिलो मे ३५ चीनी मिले है और दो-तीन वर्षों मे प्रत्येक मिल से कुल एक-एक लाख रुपया चन्दे के रूप मे प्राप्त किया जा सकेगा। गोरखपुर जिले के प्रमुख उद्योगपति तथा चीनी मिल-मालिक सरदार सुरेन्द्रसिह मजीठिया ने दस-बारह लाख के अनुमानित विज्ञान-भवन के निर्माण का वचन भी दिया था। इन्ही सम्भावनाओ के आधार पर तत्कालीन मुख्य-मन्त्री प० गोविन्दवल्लभ पन्त ने १ मई १९५० को विज्ञान भवन की नीव भी डाली थी। धन-सग्रह का कार्य आरम्भ ही हुआ था कि चीनी के व्यवसाय मे अचानक बहुत मन्दी आ गयी जिससे चीनी मिलों की आर्थिक स्थिति बिगड गयी और उनसे प्राप्त होने वाले धन की राशि अप्राप्त रह गयी।

फिर भी एक दूसरा मार्ग सोचा गया चीनी मिलो के चीनी बनाने के बाद जो शीरा निकलता है उसे सरकार ले लेती थी और उसे सरकार स्वय बेच कर मिल-मालिको को साढे तीन आने प्रति मन के हिसाब से देकर शेष रकम से मजदूरो के लिए क्वाटर बनवाती थी तथा उनके कल्याण मे व्यय करती थी। सन् १९४९-५० मे शीरे का बाजार-भाव ४ रुपये मन था और दस-ग्यारह लाख मन शीरा उस वर्ष निकलने की बात थी। त्रिपाठीजी ने चीनी मिल-मालिको से अनुरोध कर सरकार से इस शीरे को गोरखपुर विश्वविद्यालय सस्थापन समिति को दे देने के लिए प्रस्ताव पास करा दिया। गोरखपुर मे इस सन्दर्भ मे पन्त जी से नागरिको का एक शिष्टमण्डल भी मिला।

पन्तजी ने मन्त्रि-मण्डल से प्रस्ताव पास करा कर अप्रैल १९५० मे शीरे की रकम गोरखपुर विश्वविद्यालय सस्थापिनी समिति को दे देने की अनुमति प्रदान की। शीरा बेचने वाला सरकारी तन्त्र क्यो इतनी रुचि लेता फलस्वरूप काफी शीरा बरसात मे बह गया और ३० लाख की जगह कुल ५।। लाख रुपये इस शीरे से चीटे की तरह चिपटने पर प्राप्त हुआ।

त्रिपाठीजी का स्थानान्तरण और कठिनाइयों का आरम्भ

इसी बीच त्रिपाठी जी का स्थानान्तरण भी इलाहाबाद के जिलाधीश पद पर हो चुका था। उनके समय के सारे आश्वासन बदलने लगे। नये अधिकारियो ने उदासीनता तथा विरोध प्रकट किया। फलस्वरूप बहुत-सी मिली हुई रकम भी हाथ से निकल गयी—पोस्ट डेटेड चेक समय पर भुनाए नही जा सके। रानी साहिबा तमकुही ने जिनकी रियासत कोर्ट ऑव वार्डस् मे थी, त्रिपाठी जी के प्रयत्न से ५० हजार रुपये के चेक स्वय दिये और कोर्ट ग्रॉव वार्ड्स के अध्यक्ष से अनुरोध किया कि उनकी रियासत की आय से एक लाख रुपये नकद तथा १५ हजार रुपये वार्षिक आय की सम्पत्ति विश्वविद्यालय सस्थापिनी समिति को दी जाए। वे अपने स्वर्गीय पति राजा इन्द्रजीत प्रताप बहादुर शाही के नाम से विश्वविद्यालय का सिनेट हाल बनवाना चाहती थी। रानी साहिबा ने पचीस-पचीस हजार के दो चेक जुलाई १९५० मे त्रिपाठी जी के पास इलाहाबाद भेजे। त्रिपाठी जी ने उन्हे भुनाने को अपने उत्तराधिकारी तत्कालीन जिलाधीश को भेजे। उन्होने न तो वे तथा ऐसे ही अ य अनेक चेक भुनाए और न कोर्ट ग्रॉव वार्ड्स से एक लाख रुपये तथा जायदाद देने दिया। सरदार सुरेन्द्रसिंह मजीठिया ने भी विज्ञान-भवन की नीव पड जाने पर दो लाख रुपये मात्र देने की इच्छा व्यक्त की।

त्रिपाठी जी ने एक साल आठ महीने मे ही विश्वविद्यालय भवन की नीव पन्तजी के हाथो डलवा दी थी। साथ ही धन-सग्रह के अतिरिक्त भूमि प्राप्त करने तथा गोरखपुर विश्वविद्यालय विधेयक बनवाने मे भी लगे हुए थे। तभी त्रिपाठी जी का स्वास्थ्य बिगडने लगा और उन्होने स्वय गोरखपुर से स्थानान्तरण करने को लिखा। तब तक विश्वविद्यालय को १७० एकड जमीन मिल चुकी थी और विश्वविद्यालय सम्बन्धी विधेयक, अधिनियम, परिनियमादि सरकार को भेजे जा चुके थे। त्रिपाठी जी की प्रयाग मे नियुक्ति हो गयी। उनके स्थानान्तरण को रुकवाने के लिए शिष्टमण्डल भी माननीय पन्तजी से मिला।

त्रिपाठी जी ने, जो सस्थापिनी समिति के सशुल्क सदस्य थे, स्थानान्तरण होते ही समिति की अध्यक्षता से त्यागपत्र दे दिया और अपने उत्तराधिकारी जिलाधीश को अध्यक्ष चुनने का अनुरोध किया ताकि विश्वविद्यालय के निर्माण-कार्यो मे पर्याप्त सहायता मिले। पर परिणाम घातक हुआ। उनके प्रयाग जाते ही विरोधी प्रवृत्तियो ने मस्तक उठाये। जिलाधीश महोदय ने भवन-निर्माण-कार्य रुकवा दिया तथा अन्य अनेक बाधाएँ उपस्थित हुई। लोग पन्त जी से मिले। पन्त जी ने आदेश प्रदान किया—त्रिपाठी जी पूर्ववत् विश्वविद्यालय सस्थापिनी समिति के सदस्य तथा अध्यक्ष रहेगे। वे उसकी प्रत्येक बैठक मे भाग लेगे। उन्ह सरकार की ओर से यात्राओं के लिए भत्ता मिलेगा।

भूमि का उलट-फेर

गोरखपुर विश्वविद्यालय इस समय जिस भूमि पर स्थापित है वह नोटिफाइड एरिया के अन्तर्गत नजूल की जमीन थी जिसकी देखरेख नगरपालिका करती थी। इसे पोलो ग्राउण्ड कहते थे।

उन दिनों गोरखपुर नगरपालिका सरकाराधीन थी और त्रिपाठी जी कलक्टर के अधिकार से नगर-पालिका के मुख्य प्रशासक थे। त्रिपाठी जी के सहयोग से कमिश्नर महोदय ने यह जमीन विश्वविद्यालय सस्थापिनी समिति को देने की सिफारिश की। पन्तजी ने मन्त्रिमण्डल की स्वीकृति से जिलाधीश को यह भूमि विश्वविद्यालय सस्थापिनी समिति को देने का आदेश प्रदान किया। इसके लिए सस्थापन समिति को एक पट्टा (लीज़) लिखने की आज्ञा हुई जिसका प्रारूप बनने में विलम्ब हुआ यद्यपि भूमि पर मई मे पन्त जी द्वारा नीव डाली जा चुकी थी। जुलाई में त्रिपाठी जी प्रयाग चले गये। पट्टे पर जिलाधीश का हस्ताक्षर होना शेष था।

तत्कालीन जिलाधीश महोदय ने पट्टे पर हस्ताक्षर करने के बजाय भवन-निर्माण विशेषज्ञ मिस्टर ट्रजट जो उन दिनों गोरखपुर आए थे उनसे यह कहलाने का प्रयत्न किया कि यह स्थान विश्वविद्यालय के लिए उपयुक्त नही है। मिस्टर ट्रजट ने दोनो सम्भावनाएँ रखी, किन्तु पन्तजी के सामने अनुपयुक्तता की बात ही रखी गयी। पन्तजी ने पुन आदेश दिया—"गोरखपुर विश्वविद्यालय के लिए यही स्थान रहेगा।"

विरोधियो के तरकश से दूसरा तीर निकला। सरकार को लिखा गया कि केवल दो आदमियो को छोडकर विश्वविद्यालय सस्थापिनी समिति के अन्य सदस्य इस स्थान पर विश्वविद्यालय बनाने के पक्ष मे नही है। समाचार-पत्रो मे अनेक नामो से पत्र निकलने लगे। तर्क थे—यह स्थान पशुओ का चरागाह है, शहर का फेफडा है, नागरिको के प्रात भ्रमण का स्थान है।

जब इन बातो पर भी सरकार ने ध्यान नही दिया तब नये तीर निकाले गये। कूडाघाट के सेना के कर्नल साहब से जिलाधीश को यह पत्र लिखवाया गया कि जिस भूमि पर विश्वविद्यालय-भवन बनने की तैयारी हो रही है वह भूमि सेना की है और उस पर कोई भवन नही बन सकता। यह आपत्ति जोरदार थी। मुख्य मत्री पन्त जी असमजस मे पड गये और उन्होने त्रिपाठीजी को प्रयाग से बुलाकर पूछा कि सेना वाले इस जमीन को अपनी बताते है तो कैसे आपने इसको नजूल घोषित कर प्रान्तीय सरकार से इसको लीज़ पर देने को कहा है और लीज़ के लिए आदेश करा लिया है। त्रिपाठी जी ने निवेदन किया कि यह जमीन सेना की नही है, बल्कि नजूल है।

त्रिपाठीजी ने ५ अप्रैल, १९०४ का गजट प्रस्तुत किया जिसमे ४ अप्रैल, १९०४ की एक विज्ञप्ति तत्कालीन लेफ्टिनेंट गवर्नर उत्तरप्रदेश ने गवर्नर जनरल की आज्ञा से निकाली थी "परेड की भूमि पर से सेना के सब अधिकार हटा लिये गये और वह जमीन अब प्रादेशिक सरकार की नजूल की जमीन हो गयी जिससे अब फौज का कोई सम्बन्ध नही रहा।" इस की एक प्रति माननीय पन्तजी के सम्मुख उपस्थित करते हुए त्रिपाठीजी ने निवेदन किया कि यदि अप्रैल १९०४ के बाद सेना ने कोई नये अधिकार प्राप्त किये हों तो सेना वालों को इसका प्रमाण देना चाहिए।

विरोधियो का यह भी तीर खाली गया। फिर नया तीर छूटा। इस बार उन्होंने आग्नेय अस्त्र का प्रयोग किया। उन दिनो नेपाल मे कुछ उथल-पुथल चल रही थी और भारत-सरकार उसमे सक्रिय भाग ले रही थी। अत इसी अवसर से लाभ उठा कर भारत-सरकार के प्रतिरक्षा विभाग से एक पत्र उत्तरप्रदेश की सरकार को इस आशय का लिखा दिया गया कि जो भूमि गोरखपुर विश्वविद्यालय के लिए दी जा रही है उस जमीन को प्रतिरक्षा विभाग को हस्तान्तरित कर दिया जाए, क्योंकि नेपाल सम्बन्धी कार्य के लिए इस भूमि की उसको आवश्यकता है।

यह ऐसा प्रस्ताव था जिसे रोक सकना कठिन था। राष्ट्र की रक्षा का प्रश्न था। प्रादेशिक सरकार भी हतप्रभ हो गयी।

किन्तु तभी सौभाग्यवश त्रिपाठीजी इलाहाबाद से लखनऊ जिलाधीश होकर आ गये थे। वे मेजर जनरल चिमनी से, जो लखनऊ के सर्वोच्च सेनाधिकारी थे, मिले और निवेदन किया कि वे स्वय गोरखपुर जाकर उस स्थान का निरीक्षण कर ले और यदि वे समझते है कि यह स्थान सेना-वस्ती के लिए उपयुक्त है तो विश्वविद्यालय सस्थापिनी समिति इसके बारे मे कोई बाधा उपस्थित नही करेगी, यद्यपि सरकार ने वह भूमि सस्थापिनी समिति को देने का निश्चय कर लिया है। त्रिपाठी जी ने सकेत दिया कि इस भूमि के पूरब तरफ रेलवे कॉलोनी है और पश्चिम तरफ सिविल लाइन है। ऐसी दशा मे सेना का निवास-स्थान इन दोनो बस्तियो के बीच मे करना क्या उचित होगा ? इसके अतिरिक्त वर्तमान सेना-बस्ती कूडाघाट मे, शहर से बाहर, एक तरफ है। क्या प्रतिरक्षा की दृष्टि से यह उचित होगा कि सेना की बस्ती दो भागो मे विभाजित करके एक को नगर के भीतर रखा जाय और दूसरी दो मील की दूरी पर नगर के बाहर। और यदि सेना को जमीन की आवश्यकता है तो कूडा घाट मे ही हजारो एकड जमीन सेना के लिए ली जा सकती है। कूडा घाट मे एक रेलवे स्टेशन भी है जिसका निर्माण सेना के लिए ही किया गया था। जहाँ से सार्वजनिक दृष्टि को बचा कर सेना का ट्रेन द्वारा आगमन और निष्क्रमण होता रहता है।

मेजर जनरल चिमनी इस परेड भूमि को देखने गोरखपुर आए और यद्यपि सेना तथा सिविल अधिकारियो ने इस बात पर बहुत जोर दिया कि यह भूमि सेना के लिए ले ली जाए, किन्तु जमीन देखने के बाद उन्होने निश्चय कर लिया कि यह भूमि सेना के लिए नितान्त अनुपयुक्त है और जब वे लखनऊ वापस गये तब उन्होने त्रिपाठीजी को बुलाकर अपना निर्णय ही नही सुनाया, बल्कि उन्होने प्रतिरक्षा विभाग को एक पत्र इस आशय का लिख दिया कि सेना को उस भूमि की आवश्यकता नही है। यह जमीन विश्वविद्यालय को दे दी जाए। इसी आशय का पत्र उन्होने श्री त्रिपाठी जी को भी लिख दिया और इस प्रकार यह आग्नेय बाण शान्त हुआ।

किन्तु तरकश के तीर अभी खाली नही हुए थे। भूमि के लिए दक्षिण तरफ इससे लगा हुआ एक अग्रेजी सिमेटरी (कबरिस्तान) है। यहाँ के पादरी से सेक्रेटरी ऑव स्टेट और पार्लियामेट के कुछ अन्य सदस्यो को यह पत्र लिखवा दिया गया कि गोरखपुर मे इस कबरिस्तान से ठीक सटकर एक विश्वविद्यालय खोला जा रहा है जिससे यह भय उत्पन्न हो गया है कि भारतीय विद्यार्थी इस कबरिस्तान को खोद कर फेक देगे। अत यहाँ विश्वविद्यालय बनाने की अनुमति न दी जाए।

पार्लियामेंट मे यह बात उठी और भारत-सरकार को सेक्रेटरी ऑव स्टेट के यहाँ से इस सम्बन्ध मे पत्र भी आया। भारत-सरकार ने प्रदेशीय सरकार से इस विषय मे पूछताछ की; किन्तु पन्तजी अब तक सारी परिस्थिति से परिचित हो चुके थे। उन्हे ज्ञात था कि यहाँ के अधिकारियो के षड्यन्त्र के कारण ही यह सब प्रश्न उपस्थित हो रहे है। उन्होने भारत-सरकार को समुचित उत्तर दे दिया और अन्ततोगत्वा यह मामला समाप्त हो गया। इधर प्रादेशिक सरकार से फिर जिलाधीश को आज्ञा हुई कि पट्टे पर दस्तखत करके फौरन वापस किया जाए और विश्वविद्यालय-भवन बनाया जाए।

किन्तु विरोधियों के तूणीर मे अस्त्रों की कमी नही थी। उन्होने रेलवे के जनरल मैनेजर से यह आपत्ति उठवा दी कि यह भूमि रेलवे कॉलोनी से मिली हुई है अत इस भूमि पर कोई भवन

न बने और इसको वफर इस्टेट घोषित किया जाए। इस आपत्ति को ले कर फिर लीज पर हस्ताक्षर नही किये गये और भवन-निर्माण का कार्य रोक दिया गया। इस प्रकार तीन वर्ष बीत गये और भवन-निर्माण के कार्य मे कोई भी प्रगति नही हो सकी। जनसाधारण की यह धारणा बनने लगी कि यहाँ विश्वविद्यालय नही बनेगा और जो इसके सहायक थे उनमे से ही कुछ विरोधी हो गये, कुछ तटस्थ हो गये और कुछ सशक हो गये। कुछ ही व्यक्ति ऐसे रह गये जो इस विश्वविद्यालय के लिए अन्त तक प्रयत्न करते रहे।

इधर माननीय पन्त जी को यह स्पष्ट हो गया कि यहाँ के अधिकारी ही इस प्रकार का विरोध अन्दर से कर रहे है। जहाँ रक्षक ही भक्षक हो वहाँ ईश्वर ही रक्षा कर सकते है। अत पन्त जी ने गोरखपुर आने का प्रोग्राम बनाया और कुसुम्ही हवाई अड्डे पर उतरते ही उन्होंने कुछ सार्वजनिक कार्यकर्ताओ से जिज्ञासा व्यक्त की कि गोरखपुर विश्वविद्यालय मे क्या प्रगति हो रही है। उन लोगो ने कहा कि जिलाधीश से पूछा जाए। जिलाधीश ने कहा कि रेलवे वालो ने इस जमीन के बारे मे कुछ आपत्ति उठाई है इससे न तो भवन निर्माण मे कोई प्रगति हो सकी है है और न पट्टे पर ही हस्ताक्षर हुए है। इस पर पन्तजी बहुत रुष्ट हुए और उन्होने कहा कि वास्तव मे बाधा कहाँ से पैदा की जा रही है यह सब उनको ज्ञात है। उन्होंने बहुत स्पष्ट तथा कडे शब्दो मे आदेश दिया कि भवन-निर्माण का काम जारी हो और रेलवे की ओर से कोई बाधा उपस्थित होगी तो वे स्वय उसे देख लेगे। इसके बाद भवन-निर्माण का कार्य प्रारम्भ हुआ किन्तु इन तीन वर्षों की अवधि मे इस विश्वविद्यालय की बहुत बडी क्षति हो चुकी थी विशेषकर आर्थिक सहायता के विषय मे। वातावरण भी बहुत कुछ क्षुब्ध हो गया और जिस तेजी से कार्य हो रहा था उसमे कुछ शिथिलता अवश्य आ गयी। फिर भी तीन वर्ष के महाभारत के पश्चात् मार्च १९५३ मे भूमि के सम्बन्ध मे यह महायुद्ध समाप्त हुआ और उसका पट्टा विश्वविद्यालय सस्थापिनी समिति को मिल गया और विज्ञान कक्ष, अध्यापको और अधिकारियो के लिए निवास स्थान और छात्रावास के निर्माण का काम प्रारम्भ हुआ और विश्वविद्यालय की स्थापना के पूर्व ये भवन बहुत कुछ तैयार हो चुके थे।

वैधानिक कठिनाइयाँ

अर्थ-सग्रह और भूमि प्राप्ति मे जो कठिनाइयाँ आई, उससे कम कठिनाई विश्वविद्यालय के विधान पास करने मे नही आई। इस विश्वविद्यालय की स्थापना के लिए सर्वप्रथम बैठक २७ सितम्बर १९४८ को हुई और इसका सविधान जून १९५६ मे पारित हुआ। यह सविधान अगस्त १९५६ में लागू हुआ और विश्वविद्यालय मे शिक्षा १९५७ सितम्बर से प्रारम्भ हुई। इस तरह इसके स्थापना मे ८ या ९ वर्ष लग गये। यह विलम्ब कई कारणो से हुआ।

विश्वविद्यालय का स्वरूप

डॉ० सी० जे० चाको सेट एण्ड्रूज कॉलेज के तत्कालीन प्रिंसीपल तथा सुयोग्य शिक्षाविद विश्व-विद्यालय सस्थापिनी समिति के एक प्रमुख मन्त्री थे। उनकी इच्छा थी कि सेंट एण्ड्रूज कॉलेज प्रस्तावित विश्वविद्यालय मे पूर्णतया विलीन कर दिया जाए और यह विश्वविद्यालय का एक प्रमुख सकाय बने। उनकी कल्पना थी कि महाराणा प्रताप कालेज, जिसे उस समय आगरा विश्वविद्यालय से

केवल वाणिज्य मे स्नातक कक्षा के लिए मान्यता प्राप्त हो चुकी थी उसमे कॉमर्स फैकल्टी स्थापित की जाए, सेट एण्ड्रूज कालेज मे आर्ट्स फैकल्टी। विज्ञान के लिए भवन की नीव पड ही चुकी थी। किन्तु सेट एण्ड्रूज कालेज के सचालक लार्ड बिशप इस प्रस्ताव के सर्वथा विरुद्ध थे। उनको भय था कि विश्वविद्यालय मे विलीन होते ही कालेज पर से उनका आधिपत्य समाप्त हो जाएगा और जो क्रिश्चियन अध्यापक तथा प्रधानाचार्य इस कालेज मे रहते है उनका भविष्य समाप्त हो जाएगा। इस सम्बन्ध मे समिति की ओर से कई बार शिष्टमण्डल लार्ड बिशप से मिला, कई सुझाव रखे किन्तु उनका स्पष्ट उत्तर मिला कि भले ही इटर कॉलेज होकर रहना पडे, विश्वविद्यालय मे कदापि विलीन न होगे। फलस्वरूप डॉ० चाको, जो इस योजना के प्रबल समर्थक थे उन्हे अत्यन्त कष्टकर स्थिति मे अपमानित हो कर कॉलेज से हटना पडा। विश्वविद्यालय की स्थापना होने पर १९५७ मे विश्वविद्यालय की पाठ्य समिति की बैठक मे भाग लेने आए तो पन्त-ब्लॉक मे लेखक के कन्धो पर हाथ रखकर सीढियाँ चढते हुए अश्रुपूर्ण नेत्रो से कहा—"मोदी एक दिन लोग मेरा मजाक उडाते थे, ये विश्वविद्यालय बनाने चले है, आज मै उसी विश्वविद्यालय की सीढियो पर कदम रख रहा हूँ, मेरे लिए यह कितनी प्रसन्नता की बात है।"

महाराणा प्रताप कालेज ने एक प्रस्ताव द्वारा विश्वविद्यालय मे सारी सम्पत्ति सहित विलीन होना स्वीकार कर लिया था किन्तु बाद मे विश्वविद्यालय स्थापना की घोषणा होने पर नई शर्ते प्रस्तुत कर स्थिति बदल दी।

विश्वविद्यालय सस्थापिनी समिति ने गोरखपुर विश्वविद्यालय की रूपरेखा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के आधार पर प्रस्तुत की थी जिसके लिए आवश्यक विधेयक, अधिनियम तथा परिनियम जिसका श्रेय स्वर्गीय हरिहरप्रसाद दुबे को है, मार्च १९५० मे शिक्षा मन्त्रालय, उत्तरप्रदेश को भेज दिये गये थे।

माननीय पन्त जी ने १ मई १९५० को विश्वविद्यालय के विज्ञान-भवन का शिलान्यास करते हुए कहा कि यदि विश्वविद्यालय एक ग्रामीण विश्वविद्यालय का रूप ले तो उत्तर प्रदेश सरकार सस्थापिनी समिति को एक लाख रुपये वार्षिक का अनुदान देगी। सस्थापिनी समिति ने पन्त जी का यह प्रस्ताव स्वीकार किया और विधान मे तत्सम्बन्धी परिवर्तन कर सरकार को भेज दिया गया।

किन्तु ग्रामीण विश्वविद्यालय की रूपरेखा किसी के मन मे स्पष्ट न हो सकी। समिति ने अनेक विद्वानो को इस सम्बन्ध मे लिखा। डॉ० राधाकृष्णन् से भी त्रिपाठी जी मिले किन्तु किसी ने कोई सन्तोषजनक उत्तर नही दिया।

ग्रामीण विश्वविद्यालय की रूपरेखा नही बन पाई, अत सरकार ने विधेयक विचाराधीन रखा और पन्त जी ने कुछ समय बाद एक समिति आचार्य जुगुल किशोर, स्व० श्री भैरवनाथ झा, डॉ० ईश्वरी प्रसाद और स्व० डॉ० रामउग्रह सिह की बनाई कि वे लोग इस भावी विश्वविद्यालय की रूपरेखा के बारे मे विशेषकर ग्रामीण विश्वविद्यालय के बारे मे अपना सुझाव दे। इस समिति ने गोरखपुर तथा अन्य स्थानो की यात्रा की और दोनो डिग्री कॉलेजो के प्रबन्धको, प्रधानाचार्यो और अनेक अध्यापकों से मिलकर उनकी सम्मति प्राप्त की। किन्तु यह समिति भी कोई सूक्ष्म या स्थूल सुझाव ग्रामीण विश्वविद्यालय के आधार पर न दे सकी। और इसके कारण विश्वविद्यालय विधेयक कुछ काल के लिए स्थगित हो गया।

इसके अनन्तर केन्द्रीय सरकार ने डॉ० कालूलाल श्रीमाली की अध्यक्षता मे एक समिति

गठित की, जिसका कार्य था ग्रामीण विश्वविद्यालयो की स्थापना की सम्भावना के बारे मे रिपोर्ट देना और विशेष कर गोरखपुर विश्वविद्यालय के सन्दर्भ मे। इस कारण पुन विधेयक पर विचार स्थगित हो गया और ज्यो-ज्यो विधेयक के स्वीकृत होने मे देर होती जाती थी, जन साधारण तथा सस्थापिनी समिति मे निराशा की भावना बढती जाती थी। दिसम्बर १९५४ मे गोरखपुर विश्वविद्यालय के प्रमुख स्तम्भ माननीय पन्त जी केन्द्र मे गृहमन्त्री होकर चले गये जिससे और कठिनाइया उपस्थित हुई।

लोगो मे यह आशका बढने लगी कि अब तो गोरखपुर मे विश्वविद्यालय नही बनेगा। इस आशका को बढाने मे और भी कई तत्व सहायक हुए। तत्कालीन राज्यपाल श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुशी इसी बीच गोरखपुर मे महाराणा प्रताप कालेज मे दीक्षान्त भाषण देने आए और उन्होने यह विचार प्रकट किया कि गोरखपुर मे विश्वविद्यालय की क्या आवश्यकता है। जहाँ दो कॉलेज है उन्ही का विकास करना उचित है। बलरामपुर मे भी उन्होने इसी बात को दुहराया जिससे लोगो को इस विश्वविद्यालय की स्थापना मे स्वाभाविक सन्देह होने लगा।

इतना ही नही, १९५५ की जुलाई मे मुशी जी ने श्री त्रिपाठी को नैनीताल बुलाकर यह कहा कि वे गोरखपुर विश्वविद्यालय की योजना को समाप्त करा दे। त्रिपाठी जी राज्यपाल महोदय के इस प्रस्ताव को सुनकर स्तब्ध रह गये और तुरन्त इस बात का हाँ या नही, कोई उत्तर नही दे सके। उन्होंने मुशी जी से उत्तर देने के लिए कुछ समय मागा। त्रिपाठी जी को मुशी जी से अक्सर ही मिलना पडता था और मुशी जी उनसे बार-बार पूछा करते थे कि उन्होने क्या तय किया। जब त्रिपाठी जी ने देखा कि यह बात बहुत दिनों तक टाली नही जा सकती है और कुछ-न-कुछ उत्तर देना ही पडेगा और स्वीकारात्मक उत्तर देना उनके लिए सम्भव नही था तब एक दिन मुशी जी के फिर पूछने पर उन्होने दृढ़तापूर्वक यह कहा कि अब गोरखपुर विश्वविद्यालय सस्थापिनी समिति को समाप्त करने की शक्ति किसी एक व्यक्ति विशेष मे नही है और विशेषकर उनमे तो ऐसी शक्ति अवश्य ही नही है कि इसको समाप्त करा सके। हाँ, जब गवर्नर इसकी समाप्ति चाहते है तो सरकार से कह कर इसकी समाप्ति करा सकते है। मुशी जी की मुद्रा गम्भीर हो गयी और सहसा उनके मुह से निकल पडा कि डॉ० सम्पूर्णानन्द इससे सहमत न होगे। त्रिपाठी जी ने कहा कि यदि मुख्य-मन्त्री इससे सहमत नही होंगे तब तो इस सस्था की समाप्ति असम्भव सी दीखती है। उसके बाद उनका सक्रिय विरोध भी समाप्त हुआ।

माननीय पन्त जी के दिल्ली चले जाने के पश्चात् एक शिष्टमण्डल मुख्य मन्त्री डॉ० सम्पूर्णानद जी से लखनऊ में उनके निवास-स्थान पर ५ फरवरी १९५५ को मिला और सरकार के अनेक आश्वासनो की तरफ उनका ध्यान दिलाते हुए उनसे प्रार्थना की कि वे कृपाकर इस विश्वविद्यालय के विधेयक को पारित करा दे। त्रिपाठीजी ने तो यहाँ तक कह डाला कि अब प्रश्न है 'नाऊ और नेवर' "अभी या कभी नही" का। मुख्य मत्री जी ने उत्तर दिया कि डॉ० श्रीमाली कमेटी की रिपोर्ट शीघ्र ही निकलने वाली है उसके बाद ही विधेयक की रूपरेखा पर विचार होगा। श्रीमाली कमेटी की रिपोर्ट अप्रैल, १९५५ मे निकली। उसने स्पष्ट शब्दो मे कह दिया कि ग्रामीण विश्वविद्यालय नही स्थापित हो सकते। हाँ, ग्रामीण इस्टीच्यूट अवश्य स्थापित किये जा सकते है।

इस रिपोर्ट के बाद और जो शिष्ट मण्डल मुख्यमत्रीजी से ५ फरवरी १९५५ को मिला था उसकी प्रार्थना के फलस्वरूप शिक्षा विभाग ने विधेयक के स्वरूप पर विचार करना प्रारम्भ

किया। सबसे बडी समस्या दो स्थानीय महाविद्यालयों की तथा उनके अध्यापकों की थी। सेंट एण्ड्रूज कॉलेज इंटरमीडिएट होने को तैयार था किन्तु इस विद्यालय के निर्माण में और किसी प्रकार का सहयोग देने को प्रस्तुत न था। महाराणा प्रताप कालेज पहले तो अपने साधनों सहित विश्व-विद्यालय में विलीन होने को तैयार था किन्तु बाद को उसे भी विश्वविद्यालय में विलीन होना स्वीकार न हुआ। इन समस्याओ पर विचार करने के लिए मुख्य मंत्रीजी ने सेन्ट एण्ड्रूज कॉलेज, महाराणा प्रताप कॉलेज, गोरखपुर विश्वविद्यालय सस्थापिनी समिति और सरकार के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन ३० जून १९५५ को नैनीताल में अपने निवास स्थान पर बुलाया।

उस दिन शिक्षा मन्त्री माननीय हरगोविन्द सिंहजी ने दोनों महाविद्यालयों के सम्मुख एक प्रस्ताव पेश किया कि ये दोनो कॉलेज गोरखपुर विश्वविद्यालय के कॉस्टीटचूएट कॉलेज हो जाएँ—सेंट एण्ड्रूज कॉलेज ऑव आर्टस्, महाराणा प्रताप कॉलेज ऑव कॉमर्स। इनके जो अध्यापक विश्व-विद्यालय की सेवा के योग्य हैं वे विश्वविद्यालय में ले लिये जायेंगे और जो इसके योग्य नहीं हैं उनका समावेश सरकार कही और करेगी और यदि उनको इंटर कालेज में ही रहना पडा तो उनको वही वेतन-क्रम दिया जाएगा जो उनको इन महाविद्यालयों में मिलता था। इसके अतिरिक्त उन महाविद्यालयो की प्रबन्ध समितियो को शिष्ट परिषदो (एकेडैमिक कौंसिलो) में भी प्रतिनिधित्व दिया जाएगा। यद्यपि इन महाविद्यालयो के प्रतिनिधि जिसमें दोनो कॉलेजो के प्रधानाचार्य थे और सेंट एण्ड्रूज कॉलेज की ओर से लार्ड बिशप लखनऊ थे, ने अपनी अस्वीकृति का संकेत दिया फिर भी शिक्षा-मन्त्रीजी ने उन लोगो से इस प्रस्ताव पर भलीभाँति विचार करने के बाद उत्तर देने के लिए कहा और ९ जुलाई १९५५ को इन प्रस्तावो को लिखकर भेज दिया कि उनका लिखित उत्तर वे लोग दे दें।

इन दोनो कॉलेजो ने अपनी अस्वीकृति की लिखित सूचना सरकार को दे दी। सरकार ने इन दोनो कॉलेजो को इस विश्वविद्यालय के अन्तर्गत रखना आवश्यक समझ कर और आगरा विश्वविद्यालय के विस्तृत कार्यक्षेत्र को सीमित करने के उद्देश्य से आगरा विश्वविद्यालय से सम्बद्ध कुछ जिले तथा कॉलेज गोरखपुर विश्वविद्यालय में सम्मिलित करने का विचार किया। इस उद्देश्य से इस विश्वविद्यालय को केवल आवासीय बनाने के बजाय सम्बद्ध (एफीलिएटिंग) विश्वविद्यालय भी बनाने का विचार किया। इस दृष्टि से विधेयक का रूप बदल दिया गया और इसी आधार पर एक विधेयक दिसम्बर १९५५ में विधानसभा में प्रस्तुत किया गया। जिसमें प्रमुख बात यह थी कि गोरखपुर विश्वविद्यालय के अन्तर्गत नौ जिलो में यानी गोरखपुर, देवरिया, बस्ती, गोण्डा, बहराइच, बलिया, आजमगढ, जौनपुर और गाजीपुर में स्थित जो डिग्री कॉलेज हैं वे सब आगरा विश्वविद्यालय से सम्बन्धित न रहकर गोरखपुर विश्वविद्यालय के अन्तर्गत समझे जायेंगे। बाद में इन जिलो की सख्या में वृद्धि की गयी और पाँच जिले बनारस, मिर्जापुर, प्रतापगढ़, सुलतानपुर और फैजाबाद और जोडे गये और जब विश्वविद्यालय विधेयक पास हुआ तो उस समय कुल ९ डिग्री कॉलेज इससे सम्बन्धित थे जिनकी सख्या आज बढ़ कर ३६ हो गयी है।

इस विधेयक के अनुसार गोरखपुर विश्वविद्यालय से मान्यता प्राप्त डिग्री कॉलेजों में स्नात-कोत्तर शिक्षा की सुविधा न दी जाएगी और जिन कॉलेजों में स्नातकोत्तर शिक्षा दी जा रही थी उनकी मान्यता भी निरस्त कर दी जाएगी। उस समय केवल सेंट एण्ड्रूज कॉलेज में स्नातकोत्तर

शिक्षा दी जाती थी जिसकी मान्यता १९५८ से निरस्त कर दी गयी है। इसके अतिरिक्त यह भी विधान बना कि विश्वविद्यालय से १० मील की परिधि में कोई नया डिग्री कॉलेज नहीं खुलेगा।

इस विधेयक पर विचार करने के लिए सेलेक्ट कमेटी बनी जिसके बाद यह विधेयक विधान-सभा में विचारार्थ प्रस्तुत हुआ। जब विधेयक प्रवर समिति के समक्ष था तब महाराणा प्रताप कॉलेज के अधिकारियों ने यह देखकर कि अब विश्वविद्यालय स्थापित हो ही जाएगा और इसका मार्ग कोई अवरुद्ध नहीं कर सकता गोरखपुर विश्वविद्यालय के सहवर्ती कॉलेज होने के लिए इस शर्त पर तत्पर हो गये कि महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद को विश्वविद्यालय की कार्य-कारिणी परिषद् में एक स्थायी स्थान दिया जाये और कालेज अपनी सम्पत्ति सहित विश्वविद्यालय में विलीन हो जाएगा। महाराणा प्रताप कालेज का नाम मात्र अवशेष रह जाएगा। सेलेक्ट कमेटी ने यह शर्त स्वीकार कर ली और विधेयक में इसके अनुसार परिवर्तन कर दिया गया।

इसके बाद विधेयक विधान सभा और विधान परिषद् द्वारा मई १९५६ में पारित हो गया और जून में इसको राज्यपाल की स्वीकृति भी प्राप्त हो गयी। यह विधेयक अगस्त १९५६ ई० में लागू हुआ और अक्तूबर १९५६ ई० में श्री भैरवनाथ झा जो उस समय प्रयाग विश्वविद्यालय के उपकुलपति थे ऑफिसर ऑन स्पेशल ड्यूटी नियुक्त हुए और त्रिपाठीजी जो उस समय लखनऊ के डिप्टी कमिश्नर थे और उत्तरप्रदेश लोक सेवा आयोग के सदस्य नियुक्त हो चुके थे ६ साल के लिए प्रथम कोषाध्यक्ष नियुक्त हुए। फरवरी सन् १९५७ ई० में विश्वविद्यालय सस्थापिनी समिति की सारी सम्पत्ति का एक विशेष विज्ञप्ति द्वारा इस विश्वविद्यालय में विलीनीकरण हुआ। अप्रैल १९५७ ई० में श्री भैरवनाथ झा इस विश्वविद्यालय के प्रथम उपकुलपति नियुक्त हुए और १ सितम्बर, सन् १९५७ से स्नातकोत्तर शिक्षा ६ विषयों—संस्कृत, अंग्रेजी, शिक्षा शास्त्र, प्राचीन इतिहास, मनोविज्ञान तथा वाणिज्य मे प्रारम्भ हुई।

विश्वविद्यालय आरम्भ हो जाने के बाद भी कुछ समय तक इस बात का विवाद चलता रहा कि इस विश्वविद्यालय में केवल स्नातकोत्तर शिक्षा दी जाए या स्नातक शिक्षा भी दी जाए। नगर की जनता को यह देखकर कि कुछ अधिकारी केवल स्नातकोत्तर शिक्षा के पक्ष में हैं, बड़ा क्षोभ हुआ। अन्त मे शिक्षा मन्त्री ने यह आदेश दिया कि यहाँ स्नातक तथा स्नातकोत्तर दोनो की शिक्षा दी जाएगी।

एक विवाद ग्रस्त विषय महाराणा प्रताप कालेज के विलीनीकरण का भी रहा जिसके हस्तान्तरण का दस्तावेज दो अगस्त १९५८ को महाराणा प्रताप कालेज शिक्षा परिषद् के मन्त्री ने लिखा। सन् १९५८ ई० मे बी० ए०, बी० काम० तथा बी० एस-सी० और एम० ए० में अन्य कई विषय और एम० एस-सी० की कक्षाएँ खोली गयी और एक विज्ञप्ति द्वारा सेंट एण्ड्रूज कालेज की एम० ए० कक्षाओं को निरस्त कर दिया गया। इस प्रकार यह विश्वविद्यालय अपने वर्तमान रूप को प्राप्त कर सका।

अनेक सघर्षों को पार कर ही यह विश्वविद्यालय इस वर्तमान स्वरूप को प्राप्त कर सका है और इसे साकार करने मे त्रिपाठी जी की अद्वितीय सेवा, लगन, अथक परिश्रम और उनके अदम्य उत्साह को यह जनपद कभी भुला नही सकता। उनके नेतृत्व के बिना गोरखपुर जनपद में बनने और मिटने वाली अन्य अनेक योजनाओ के समान यह विश्वविद्यालय स्मृति मात्र रह जाता।

फाइलों से घिरा हुआ तपोनिष्ठ मनस्वी

डॉ० शम्भुनाथ सिह

जब मै पूर्व निर्धारित समय से आधा घण्टा बाद पडित सुरतिनारायण मणि त्रिपाठी से मिलने के लिए उनके बँगले पर पहुँचा, तो मन मे एक स्वाभाविक धारणा थी कि अभी वे अपने दफ्तर मे नही आये होगे। मेरा खयाल था कि अन्य सरकारी उच्चाधिकारियो की भाँति उनके यहाँ भी आठ बजे प्रात काल चपरासी द्वारा यही सूचना मिलेगी कि 'साहब अभी गुसलखाने मे है' अथवा 'साहब पूजा कर रहे है।' इसीलिए मै जान-बूझकर निर्धारित समय से आधा घण्टा बाद वहाँ पहुंचा। किन्तु वहाँ यह देखकर मुझे आश्चर्य हुआ कि त्रिपाठीजी पहले से ही अपनी कुर्सी पर बैठे थे। उनकी मेज पर चारो ओर फाइलो की गड्डियाँ पडी थी और वे बहुत ही मनोयोगपूर्वक एक-एक फाइल का अध्ययन कर, उन पर आदेश लिखकर अलग रखते जा रहे थे। मैंने जाते ही उनसे देर से पहुँचने के लिए क्षमा माँगी। उस समय उनसे मिलने के लिए एक धार्मिक व्यक्ति आये हुए थे और सस्कृत विश्वविद्यालय मे कीर्तन करने की इच्छा प्रकट कर रहे थे। त्रिपाठीजी ने उन्हे विनम्रता-पूर्वक समझाया कि इस विश्वविद्यालय का उद्देश्य धार्मिक आयोजन करना नही है, यद्यपि धर्मशास्त्र तथा यज्ञादि धर्मविधियों की शिक्षा का प्रबन्ध यहाँ है। आगन्तुक सज्जन ने जब इस सम्बन्ध मे अपना निराशापूर्ण असन्तोष व्यक्त किया तो त्रिपाठीजी ने अपना मत व्यक्त करते हुए कहा कि जब धन ही शिक्षा का उद्देश्य हो गया है तो धर्म से उसका क्या सम्बन्ध रह गया ? धर्म उसमे कहाँ तक स्थान पा सकता है ?

मै उन लोगो की बाते चुपचाप सुन रहा था और सोच रहा था कि यह व्यक्ति जो इस समय वाराणसेय सस्कृत विश्वविद्यालय के उपकुलपति के आसन पर बैठा हुआ है और उसी पद की दृष्टि से आगन्तुक सज्जन के प्रश्नो का उत्तर दे रहा है, क्या वही व्यक्ति है जो अपने निजी जीवन मे महामना पडित मदनमोहन मालवीय के आदर्शों का सच्चा अनुयायी, पूर्ण धर्मनिष्ठ, नित्य घण्टो पूजा-पाठ करने वाला, हिन्दुत्व का कट्टर समर्थक, सनातनधर्मी और ब्रह्मतेज से सम्पन्न तपस्वियो जैसे आचरण वाला है ? क्या यह त्रिपाठीजी के व्यक्तित्व का विरोधाभास नही है कि एक ओर तो उन्होंने अपना पूरा जीवन सरकारी नौकरियो मे रहकर उत्तरोत्तर उन्नति करते हुए सफलतापूर्वक व्यतीत किया और दूसरी ओर सरकारी कर्मचारियो और उच्चाधिकारियो की जीवन पद्धति के बिल-कुल विपरीत अपने निजी जीवन को पूर्ण सात्विक, तपोनिष्ठ और धार्मिक बनाये रखा ? वस्तुतः यही वह प्रश्न था जो मुझे बहुत दिनों से परेशान कर रहा था। ज्यों-ज्यों मै त्रिपाठीजी के निकट-तर सम्पर्क मे आता गया त्यों-त्यो यह प्रश्न मेरे मन मे उग्रतर रूप धारण करता गया था। इसी कारण मैंने निश्चय किया था कि मै उनसे बाकायदे साक्षात्कार करके इस विषय तथा उनके व्यक्तित्व और विचार के सम्बन्ध में पूरी जानकारी प्राप्त करूँगा। वे मेरे प्रश्नों का उत्तर देने को तैयार हो गये थे और इसी निमित्त आठ बजे मुझे मिलने के लिए बुलाया था।
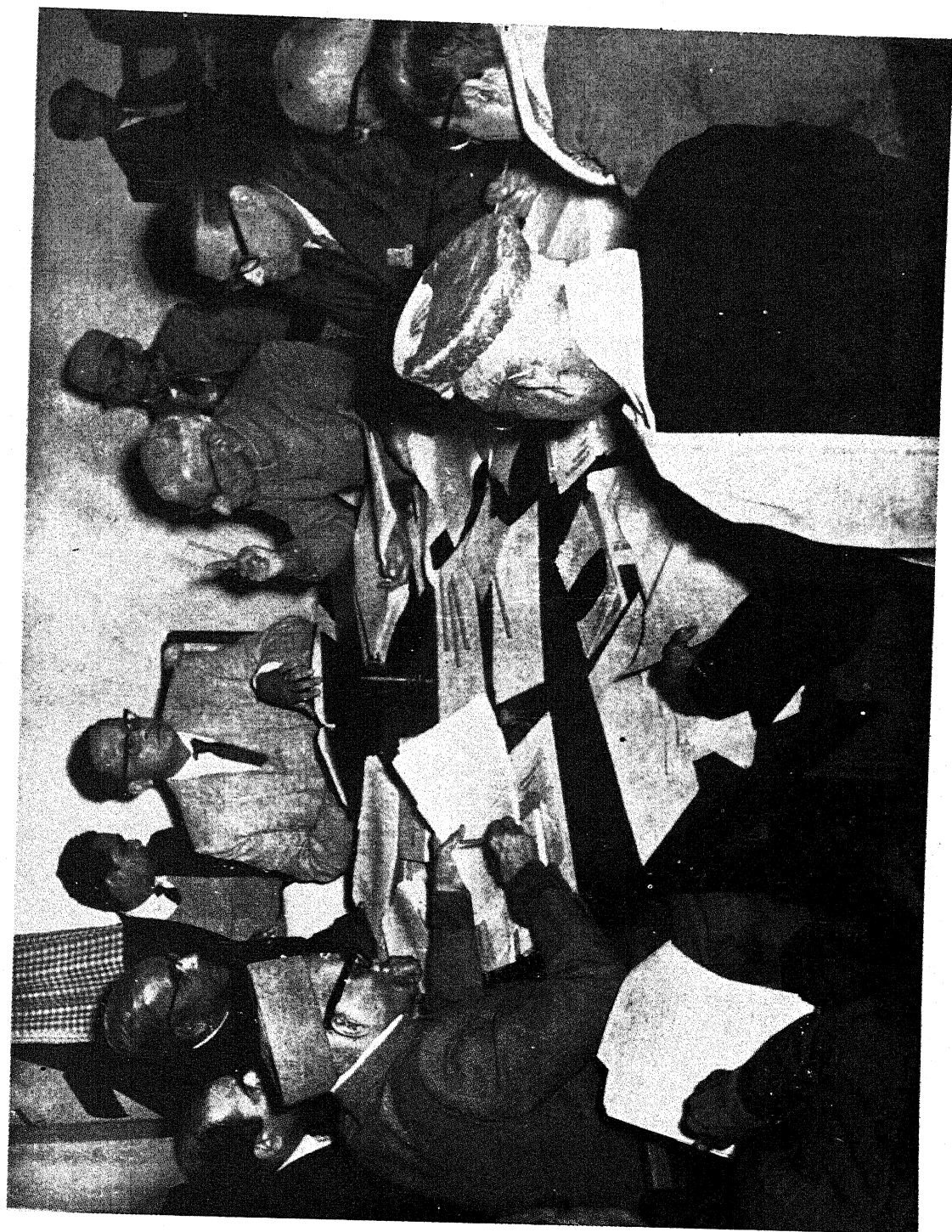
केन्द्रीय संस्कृत बोर्ड की बैठक में

माननीय प्रधान मन्त्री लालबहादुर शास्त्री, उपकुलपति पं० सुरतिनारायण मणि त्रिपाठी तथा उत्तरप्रदेश के राज्यपाल तथा वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के कुलपति श्री विश्वनाथदास के साथ—दीक्षान्त समारोह, दिसम्बर १९६४

आगन्तुक सज्जन के चले जाने के बाद उन्होने मेरी ओर मुडकर कहा, "अच्छा भाई, पूछो क्या पूछना है ?" मैंने उनसे सीधे प्रश्न किया, "पडितजी, मध्यम वर्गीय परिवार मे जन्म लेकर तथा अपने जीवन का अधिकाश सरकारी नौकरी मे व्यतीत करते हुए भी आपने जिस आदर्श चारित्र्य और पवित्र मनोभूमि को उपलब्ध किया है, उसका रहस्य क्या है ? आपका वर्तमान जीवन तो एक तपस्वी जैसा ही जीवन है। क्या आपने सदैव इसी प्रकार का जीवन बिताया है ?" त्रिपाठी जी की मुद्रा गम्भीर हो गई और उनकी आँखे सुदूर अतीत मे चली गई, मानो वे अपने पिछले जीवन की पुस्तक के पन्ने उलट रहे थे। उन्होने सोच-सोचकर उत्तर देना शुरु किया, 'मेरा जन्म एक ऐसे ब्राह्मण कुल मे हुआ था जिसकी अपनी निजी धार्मिक एव आचारिक परम्परायें रही हैं। मुझे वे परम्परायें पैतृक सस्कार के रूप मे प्राप्त हुई हैं। बहुत सभव है, मेरे जीवन-निर्माण मे उन पैतृक सस्कारो का सर्वाधिक हाथ रहा हो। किन्तु कुछ बाते ऐसी भी रही हैं जिन्हे मैंने प्रारम्भ से ही अपने जीवन के अग के रूप में स्वीकार किया था। मै अपने निश्चय पर सदैव अडिग रहता था तथा धर्म और आचार सम्बन्धी सिद्धान्तो पर कभी भी समझौता करने को तैयार नही होता था। इसी कारण न तो मै किसी प्रकार के प्रलोभन मे फँसता था न मुझ पर किसी भय और दबाव का ही प्रभाव पडता था। फलस्वरूप मै जिस पद पर भी काम करता रहा, सर्वत्र मैंने न्याय और ईमानदारी से कार्य किया। मेरा यह अनुभव है कि दृढ निश्चय और सिद्धान्तो की अडिगता के कारण व्यक्ति को, चाहे वह जिस पद पर और जहाँ भी कार्य करता हो, काम करने से सुगमता होती है तथा निश्चित रूप से सफलता प्राप्त होती है। यही नही इससे अपना चरित्र भी उज्ज्वल और निर्मल बनता है। यदि सरकारी कर्मचारी ऐसा करता है तो निश्चय ही उसे उच्चाधिकारियो और जनता दोनो का विश्वास प्राप्त होता है। चारित्र्य के कारण व्यक्ति के कार्य का मूल्य बढ जाता है और साथ ही उसे आत्मबल भी प्राप्त होता है। मुझे कई बार अपने इस स्वभाव के कारण हानि की भी आशका हुई, किन्तु मै कभी भी किसी अनुचित कार्य के लिए तैयार नही हुआ और न किसी से दबा या अपने निश्चय से डिगा।"

मैंने फिर पूछा, "जीवन की सफलता का मूल मन्त्र आप क्या मानते हैं, नियमितता, कठोर-श्रम, न्यायप्रियता या सत्य प्रेम ?" इसका उत्तर सूत्र रूप मे देते हुए त्रिपाठी जी ने कहा, "ये सब गुण तो शाखाएँ हैं, मूल वस्तु है चरित्र। यदि व्यक्ति का चरित्र ऊँचा है तो ये सभी गुण उसमे अनिवार्यत: आ जाते हैं। वस्तुत: इन सभी गुणों का सामूहिक नाम ही चारित्र्य है।"

मैंने फिर प्रश्न किया, "चारित्र्य की अभिव्यक्ति कर्म द्वारा होती है। आप महात्मा गाँधी की तरह कर्त्तव्य कर्म को ही ईश्वर की उपासना समझते हैं या ईश्वराधना और कर्त्तव्य कर्म को दो भिन्न वस्तुएँ मानते हैं ?"

बहुत दृढता के साथ उत्तर देते हुए त्रिपाठी जी ने कहा—"मेरे विचार से सर्व प्रमुख वस्तु ईश्वर मे आस्था है। ईश्वरीय आस्था और विश्वास होने पर मनुष्य अपना कर्त्तव्य-कर्म स्वय निश्चित कर लेगा क्योंकि कर्त्तव्य-कर्म के लिए हमारी अन्तरात्मा ही निर्देश देती है। यदि ईश्वर मे आस्था है तो हमारी अन्तरात्मा का निर्देश ईश्वरीय आदेश ही होगा। मेरे विचार से अन्तरात्मा का आदेश ही विवेक है। यह विवेक सात्विक और स्वाभाविक होता है। पर यदि किसी बाहरी दबाव, भय, लोभ या मोह के कारण उस विवेक का बराबर तिरस्कार किया जाय तो धीरे-धीरे वह विवेक दब जाता है, अन्तरात्मा निर्देश देना बन्द कर देती है। अत. यदि कर्त्तव्य कर्म के निश्चय मे मनुष्य

लोभ, मोह भय आदि से प्रभावित न हो तो उसका प्रत्येक कर्म ईश्वरीय आदेश से ही अनुप्रेरित माना जायेगा। ऐसा कर्म स्वय ईश्वराधना है। इस तरह ईश्वर आराधना और कर्त्तव्य कर्म मे कोई विरोध नही है, वस्तुत दोनो एक ही है।

त्रिपाठी जी के इस उत्तर के साथ हमारी बाते स्वभावत धर्म की ओर मुड गयी। मैने प्रश्न किया, "आपकी दृष्टि मे धर्म क्या है? क्या आप सस्कृति और धर्म को एक ही वस्तु मानते है।"

इस प्रश्न का त्रिपाठी जी ने जो उत्तर दिया उससे मै आश्चर्य चकित रह गया। मै सोचता था कि सनातनी होने के कारण त्रिपाठी जी धर्म की व्याख्या शास्त्रो के अनुरूप और आप्त वाक्यो के आधार पर करेगे। किन्तु ऐसा कुछ न करके उन्होने धर्म की अत्याधुनिक व्याख्या की, जिससे उनके विचारो की आधुनिकता और प्रगतिशीलता का पता चलता है। उन्होने कहा, "धर्म का अर्थ है कर्त्तव्य--जो करना चाहिए। धर्म का प्रश्न अत्यन्त जटिल है पर सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि एक ओर तो धर्म ईश्वरीय आदेश है, दूसरी ओर वह समाज की सुविधा है। ईश्वरीय आदेश समाज-विरोधी हो ही नही सकता। इसी बात को हमारे यहाँ इस तरह कहा गया है--'आत्मन प्रतिकूलानि परेषा न समाचरेत।' जो अपने प्रतिकूल है वह दूसरो के भी प्रतिकूल ही होगा। इसलिए वही कर्म कर्त्तव्य कर्म अथवा धर्म है जो पूरे समाज के लिए अनुकूल हो। यही धर्म का मूल तत्व है। बाइबिल मे भी यही बात कही गई है कि 'दूसरो के प्रति तुम ऐसा व्यवहार न करो जो यदि स्वय तुम्हारे प्रति दूसरो द्वारा किया जाय तो तुम्हे पसन्द न हो।' जहाँ तक धर्म और सस्कृति के सम्बन्ध का प्रश्न है मेरे विचार से दोनो एक ही नही है। धर्म अग है और सस्कृति अगी। इस तरह सस्कृति धर्म की अपेक्षा अधिक व्यापक है। धर्म मुख्यत व्यक्तिगत वस्तु है और सस्कृति मुख्य रूप से सामाजिक वस्तु है। जीवन की समस्त विधियाँ सभी विचार-आचार आदि उसमे समाहित हो जाते है।" इस तरह त्रिपाठीजी ने धर्म की जो व्याख्या की, वह सकीर्ण धर्मावलम्बियो, अनुदार धार्मिक पण्डितो और पुरोहितो, सम्प्रदायवादियो और समाज विरोधी स्वार्थी भ्रष्टाचारियो के लिए आँख खोलने वाली वस्तु है।

सस्कृति सम्बन्धी उनकी धारणा भी उतनी ही उदार है क्योकि वे सस्कृति को मूल-शास्त्रीय धर्म या सम्प्रदाय को नही मानते। उनके अनुसार सस्कृति का आधार किसी राष्ट्र या देश का किसी काल विशेष का वह सामाजिक जीवन है जो इतिहास के सन्दर्भ मे रूप ग्रहण करता है। इस बात को और स्पष्ट करने के लिए मैने उनसे फिर पूछा, "क्या भारतीय सस्कृति को पाश्चात्य सस्कृति का प्रभाव ग्रहण करना चाहिए या उसे विशुद्ध और अमिश्रित ही बने रहना चाहिए?" त्रिपाठीजी ने कहा, "पाश्चात्य सस्कृति या किसी भी विदेशी सस्कृति का आवश्यकता से अधिक प्रभाव ग्रहण करना भारतीय सस्कृति के लिए श्रेयस्कर नही हो सकता। पर उनसे कुछ बातो का प्रभाव ग्रहण करना स्वाभाविक ही नही, उचित भी है। उदाहरण के लिए पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान, प्रविधिशास्त्र, उद्योग-पद्धति आदि को ग्रहण करना आवश्यक है। ये ऐसी वस्तुएँ है जिनसे हमारी सस्कृति भ्रष्ट नही, बल्कि और भी पुष्ट होगी। साथ ही यह भी विचारणीय बात है कि पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान की ये बाते मूल रूप मे हमारे देश मे पहले से ही वर्तमान रही है। वह कौन-सा ज्ञान है जो हमारे देश मे पहले से नही था? हमारे बहुत से आचार-विचार विज्ञान पर आधारित है। पर हम अपनी मूर्खता के कारण या तो उनके मूल रहस्य को भूल चुके है या उन पर सन्देह करते है।" इसके बाद त्रिपाठी जी ने अपने पास रखी वेद-विज्ञान सम्बन्धी कुछ पुस्तके निकाल कर कई ऐसे उदाहरण

प्रस्तुत किये जिनसे यह सिद्ध होता है कि वैदिक ऋषियो को अनेक आधुनिक वैज्ञानिक तत्वों का उसी समय ज्ञान हो गया था।

धर्म और सस्कृति से शिक्षा का बडा घनिष्ट सम्बन्ध है। त्रिपाठी जी एक ख्यात शिक्षाविद् हैं। अत. मैंने यह आवश्यक समझा कि इस सम्बन्ध में भी उनसे कुछ प्रश्न किये जायँ। मैंने पूछा, "आपके विचार से भारत मे शिक्षा का स्वरूप क्या होना चाहिए? उसे शुद्ध राष्ट्रीय होना चाहिए या सार्वभौम या अन्तरराष्ट्रीय?" त्रिपाठी जी ने कहा, "शिक्षा सार्वभौम होनी चाहिए। उसे देश या काल मे नही बाधना चाहिए। ज्ञान, देश और काल मे ऊपर होता है। इस दृष्टि से मोटे तौर पर शिक्षा का स्वरूप समस्त विश्व मे एक जैसा होना चाहिए। किन्तु राष्ट्रीय तत्वो का भी भिन्न-भिन्न देशो की शिक्षा-पद्धति मे समावेश होना चाहिए पर राष्ट्रीयता का पक्ष आशिक ही होनी चाहिए, अन्यथा सार्वभौम ज्ञान का पक्ष उपेक्षित हो जाएगा। शिक्षा मे सस्कृति और धर्म की अनुरूपता भी होनी चाहिए। शिक्षा सम्बन्धी इस आदर्श की प्रतिष्ठा तभी हो सकती है, जब राजनीतिज्ञ लोग शिक्षा के मामले मे दखल देना छोड दें। मेरा यह दृढ मत है कि शिक्षा का स्वरूप-निर्धारण शिक्षा-विशेषज्ञों द्वारा होना चाहिए न कि राजनीतिज्ञो द्वारा। उसके स्वरूप-निर्धारण मे सरकार का भी कम से कम हाथ होना चाहिए। यदि यह कहा जाय कि शिक्षा का व्यय सरकार देती है, उसमें उसका हाथ क्यो न हो, तो इसका यह उत्तर है कि शिक्षा का व्यय सरकार नही, जनता देती है।"

मैंने लगे हाथों पूछ दिया, "क्या आपकी दृष्टि मे भारत की वर्तमान शिक्षा-पद्धति दोषपूर्ण है? यदि है तो उन दोषो को दूर करने का क्या उपाय है?" त्रिपाठी जी ने छूटते ही उत्तर दिया, "निश्चय ही वर्तमान शिक्षा-पद्धति दोषपूर्ण है। उसका सबसे बडा दोष यह है कि उसमे आध्यात्मिक और धार्मिक-शिक्षा का प्रवेश नही है। मेरे विचार से भारतीय विद्यालयो में अन्य विषयो के साथ-साथ धर्म और आचार की शिक्षा की भी व्यवस्था होनी चाहिए।" इस प्रश्न के एक दूसरे पहलू की ओर त्रिपाठी जी का ध्यान आकर्षित करते हुए मैंने पूछा "शिक्षा अर्थकरी होनी चाहिए या नही, इस सम्बन्ध मे आपके क्या विचार है?" उन्होने कहा, 'शिक्षा अर्थकरी हो ही जाती है पर अर्थ-प्राप्ति शिक्षा का गौण उद्देश्य है उसका उद्देश्य है मनुष्य के जीवन का विकास करना। यदि शिक्षा प्राप्त करने के बाद व्यक्ति का जीवन विकसित हो जाता है तो वह अपने बुद्धिबल से अर्थ भी प्राप्त कर ही लेगा। यदि यह कहा जाय कि विद्वान् और पडित अर्थ-कष्ट मे क्यो रहते हैं, तो उसका उत्तर है कि विद्वान् होते हुए भी वे व्यवहार-कुशल नही होते। इसी कारण उनकी विद्या उन्हे अर्थ नही दे पाती है।"

वर्तमान शिक्षा पद्धति के अन्य दोषो की ओर सकेत करते हुए उन्होने बताया कि आज बहुत बडा खतरा यह उत्पन्न हो गया है कि शिक्षा को राष्ट्रीय नही, राजनीतिक बनाया जा रहा है। साथ ही वर्तमान शिक्षा-पद्धति मे बहुत से ऐसे विषयो को पढ़ाया जाता है जिनमे से छात्र अधिकाश का उपयोग बाद मे नही कर पाते हैं। मैंने एक अन्य दोष की ओर उनका ध्यान दिलाते हुए पूछा, "वर्तमान शिक्षा मे परीक्षा और उपाधि का जो महत्व है, क्या आप उसे उचित समझते हैं?" इसका उत्तर देते हुए त्रिपाठी जी ने कहा, "मेरे विचार से शिक्षा प्राप्ति के प्रमाण के रूप मे उपाधियों का होना आवश्यक है। ससार के लोग एक दूसरे को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। ऐसी स्थिति मे योग्यता को प्रमाणित करने के लिए तथा नौकरियों मे चुनाव के लिए उपाधियो की आवश्यकता है।

आज योग्यता की परीक्षा शास्त्रार्थ द्वारा नही हो सकती। नौकरियों के लिए होनेवाले चुनाव मे निर्णायक की इमानदारी पर किसी को मन्देह न हो, इस दृष्टि से भी परीक्षा और उपाधियो की उपयोगिता है।"

ज्यो ही त्रिपाठी जी ने बोलना बन्द किया, मैंने तुरन्त दूसरा प्रश्न किया, "आजकल छात्रो मे अनुशासनहीनता की बात बहुत की जाती है क्या आप भी ऐसा सोचते हैं कि छात्रो मे अनुशासन-हीनता है ? यदि है तो उसके क्या कारण हैं ?" इस प्रश्न का उत्तर देते हुए उन्होने कहा, —"मैं समझता हूँ कि छात्रो मे अनुशासनहीनता है। किन्तु इसमे दोष छात्रो का अधिक नही है। इस अनुशासनहीनता का मुख्य कारण राजनीतिक और शासनिक है। साथ ही अनेक देशो की शिक्षा-प्रणालियो और जीवन विधियो का सम्पर्क और प्रभाव भी इसका कारण है। आज के विद्यार्थी रहते तो भारत मे हैं, उनका रहन-सहन धर्म, सस्कृति सभी भारतीय है किन्तु उनकी विचार-प्रक्रिया पाश्चात्य ढग की है। इस अन्तर्विरोध के कारण छात्रो के जीवन मे सामजस्य नही उत्पन्न हो पाता। समाज मे आज राजनीति प्रमुख हो गई है। जब छात्र देखता है कि राजनीति मे भाग लेकर कम पढ़े-लिखे और अयोग्य लोग भी उच्च और अधिकार युक्त पदो पर पहुँच जाते हैं तो वह भी उन्ही साधनो का प्रयोग करके अपनी महत्त्वाकाक्षाये पूरी करना चाहता है। इसीलिए शिक्षा के क्षेत्र मे भी राजनीतिक हथकण्डो का प्रयोग करने की प्रवृत्ति बढ गई है। इस स्थिति से राजनीतिक अखाडे बन जाते हैं। किन्तु अनुशासनहीनता का एक मनोवैज्ञानिक कारण भी है। कोई महत्वाकाक्षी छात्र जब अपनी प्रतिभा और योग्यता से आगे बढने मे अपने को असमर्थ पाता है तो वह इसकी क्षतिपूर्ति छात्र-आन्दोलनो मे नेतृत्व करके करता है। छात्र आन्दोलन के द्वारा ख्याति प्राप्त करके वह राजनीतिक नेता बनने की तैयारी करता है और अन्ततोगत्वा राजनीति के क्षेत्र मे पहुँच कर तथा नेता बन कर वह अपने उन साथियो से भी आगे बढ जाता है जो विद्यार्थी काल मे प्रतिभा और योग्यता मे उससे बहुत आगे बढे हुए थे। इस तरह आज छात्र-आन्दोलन को भावी राजनीतिक नेतृत्व प्राप्त करने का साधन या सीढी बना लिया गया है।"

"तो इस अनुशासनहीनता को रोकने का उपाय क्या है ?" मैंने पूछा। उन्होने उत्तर दिया, "इसका एक मात्र उपाय यही है कि छात्रो और अधिकारियो के सम्बन्धो मे आमूल परिवर्तन किया जाय तथा विद्यालयो और विश्वविद्यालयो को छात्रो के चरित्र-निर्माण का केन्द्र माना जाय। वर्तमान शिक्षा-पद्धति का एक अपरिहार्य दोष यह है कि उसमे छात्रो को अनेक अध्यापको से पढना पडता है और किसी भी एक अध्यापक के चरित्र का उन पर पूर्ण प्रभाव नही पड पाता। किन्तु इसका आज कोई उपाय नही है। फिर भी छात्रो के चरित्र-निर्माण का पूर्ण उत्तरदायित्व अध्यापको और अधिकारियों पर ही है। अधिकारी वर्ग का यह कर्त्तव्य है कि वह छात्रों का नैतिक स्तर ऊँचा करे और यह तभी सभव है जब कि अध्यापक और अधिकारी छात्रों की समस्याओं और कठिनाइयों को ठीक-ठीक समझे और उनके साथ सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करे। छात्रो का भी यह कर्त्तव्य है कि वे गुरुजनों और अधिकारियों का विश्वास करे, उन्हे अनावश्यक रूप से सन्देह की दृष्टि से न देखे।"

इस पर मैंने पूछा, "छात्र-संघों की वर्तमान स्थिति और स्वरूप के सम्बन्ध मे आपका क्या मत है ?" इसका संक्षिप्त उत्तर देते हुए उन्होंने कहा, "आज छात्र-सघों का रूप श्रमिक-सघों जैसा हो गया है। किन्तु छात्र-सघों के मुख्यतः तीन उद्देश्य होने चाहिए (१) छात्रों की शिक्षा सम्बन्धी योग्यता को बढाना। इसके लिए वाद-विवाद, निबन्ध, भाषण आदि की प्रतियोगिता का आयोजन

करना। (२) छात्रो के मानस क्षितिज का विस्तार करना। इसके लिए पुस्तकालय और वाचनालय का सघटन करना तथा छात्रों मे पाठ्येतर विषयो का अधिकाधिक अध्ययन करने की रुचि उत्पन्न करना। (३) छात्रों का सांस्कृतिक विकास करना। इसके लिए साहित्य, सगीत, अभिनय, चित्रकला आदि से सम्बन्धित गोष्ठियों, सभाओं और नाटको का आयोजन करना। यदि इन उद्देश्यो को ध्यान मे रखकर छात्र-सघ काम करे तो वे छात्रों का तथा देश का बहुत बड़ा हित कर सकते हैं। ऐसा करने पर उन्हे अध्यापकों और अधिकारियो के सामने अपनी मागे उपस्थित करने या उनसे सघर्ष करने की आवश्यकता नही रह जायगी।"

हमारी बातो का क्रम शिक्षा के व्यापक क्षेत्र से मुडकर अब सस्कृत-शिक्षा की ओर चल पडा। मैने प्रश्न किया, "सस्कृत शिक्षा की वर्तमान स्थिति से आप क्या सन्तुष्ट हैं? यदि नही तो उसमे क्या कमियाँ हैं और उसका सुधार कैसे हो सकता है?" इस प्रश्न का उत्तर त्रिपाठी जी ने बहुत जमकर और गम्भीरतापूर्वक दिया। ऐसा लगा जैसे उन्हे अपना प्रिय विषय मिल गया था। उन्होने कहना आरम्भ किया, "सस्कृत-शिक्षा की वर्तमान स्थिति से मै सन्तुष्ट नही हूँ। ऐसा लगता है कि शासन तथा सामान्य लोगों की यह धारणा है कि पुरातात्विक अवशेष के रूप मे सस्कृत भाषा और वाङमय का सरक्षण होना चाहिए और वे सस्कृत शिक्षा का उद्देश्य यही समझते हैं। यह सही है कि सस्कृत भाषा अत्यन्त प्राचीन है और उसका साहित्य ऐसा है जैसा ससार के अन्य किसी देश का प्राचीन साहित्य नही है। अत उसका सरक्षण तो होना ही चाहिए। किन्तु सस्कृत शिक्षा का इससे भी बडा उद्देश्य यह है कि आधुनिक युग के सन्दर्भ मे सस्कृत वैज्ञानिक अध्ययन हो और उसमे निहित ज्ञान का समाज द्वारा उपयोग किया जाय। सस्कृत वाङमय मे ऐसी बहुत सी बाते हैं जो आज की दृष्टि से भी बहुत अधिक उपयोगी हैं। राजनीति, अर्थनीति, चिकित्सा-विज्ञान, मनोविज्ञान, तर्कशास्त्र, दर्शन, ज्योतिषशास्त्र, साहित्य आदि विषयो का सस्कृत मे जो अक्षय भण्डार है उसकी ओर आधुनिक ससार का आज भी पर्याप्त ध्यान नही जा सका है। वह ज्ञान-विज्ञान ऐसा है जो आधुनिक युग की समस्याओ का सही विश्लेषण और समाधान प्रस्तुत कर सकता है। आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से देखने पर भी सस्कृत वाङमय की बहुत सी बाते अत्यन्त वैज्ञानिक सिद्ध होती हैं। यदि शासनाधिकारी सस्कृत साहित्य के इस महत्व को समझ जाये तो सस्कृत-शिक्षा की वर्तमान स्थिति जैसी है वैसी न रह सकेगी, आवश्यकता इस बात की है कि सस्कृत-शिक्षा को अन्य विश्वविद्यालयों की शिक्षा के बराबर मान्यता प्राप्त हो, सस्कृत के विद्वानो का राज्य और समाज से सम्मान मिले, सस्कृत-शिक्षा प्राप्त लोगो को अधिकाधिक नौकरियाँ प्राप्त हों और उन्हे समाज मे अन्य शिक्षितो की तुलना मे किसी प्रकार हीन समझा जाय।"

मैंने बीच ही में टोक कर कहा, "क्या आप समझते हैं कि इस स्थिति की सारी जिम्मेदारी शासन या समाज के सामान्य लोगों की है? क्या सस्कृत के विद्वानो और पण्डितो ने इस दिशा मे अपने कर्त्तव्य का पालन किया है?" उन्होने उत्तर दिया, "यह सच है कि सस्कृत के विद्वानों और प्रेमियों ने अपने कर्तव्य का पालन नही किया है। सस्कृत के पण्डित अपने-अपने विषय मे आधुनिक विषयों के पण्डितो से किसी प्रकार कम नही होते, किन्तु उनका सबसे बडा दोष यह है कि वे अपने प्राचीन और परम्परागत ज्ञान का आधुनिक विषयो के ज्ञान के साथ तुलना करके परीक्षण नही करते। यदि वे आधुनिक युग की परिवर्तित परिस्थितियो मे प्राचीन ज्ञान-विज्ञान की उपयोगिता वैज्ञानिक और तर्क पूर्ण ढग से सिद्ध नही करते तो निश्चय ही वे अपने कर्त्तव्य से च्युत होते हैं। इसके लिए

आवश्यक है कि उनका दृष्टिकोण उदार हो, वे अपने मस्तिष्क की खिडकी खुली रखे और अपने विषय से सम्बन्धित पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान का सम्यक् अध्ययन करे। इस प्रकार सस्कृत के विद्वानों और प्रेमियो का यह प्रथम कर्त्तव्य है कि वे सस्कृत वाङमय के प्रति पाश्चात्य पद्धति से शिक्षित लोगो तथा सामान्य जनता मे जिज्ञासा उत्पन्न करे। एक बार जिज्ञासा उत्पन्न हो जाने पर सस्कृत के प्रति उनका आकर्षण बढेगा और फलस्वरूप सस्कृत का अधिकाधिक प्रचार होता जायगा। दुख है कि यह बात अभी सस्कृत-शिक्षा मे वर्तमान नही है।"

"पण्डित जी, क्या आपने सस्कृत-शिक्षा के आर्थिक पहलू पर भी विचार किया है? यदि सस्कृत-शिक्षा प्राप्त करने के बाद छात्र विद्वान् बन कर भी अपनी जीविका नही कमा सकता तो ऐसी शिक्षा से क्या लाभ? क्या इसका परिणाम यह नही होगा कि सस्कृत पढने वालो की सख्या उत्तरोत्तर कम होती जायगी।" मेरा प्रश्न सुनकर त्रिपाठी जी गम्भीर होकर बोले "तुम्हारा कहना सही है। मैं स्वय इस विषय मे बहुत चिन्तित हूँ। मैने शासन पर बराबर यह दबाव डाला है कि केन्द्रीय और प्रान्तीय शासन की प्रतियोगिता परीक्षाओं मे सस्कृत भाषा को भी उत्तर देने का ऐच्छिक माध्यम स्वीकार किया जाय। सस्कृत के विद्यार्थी और स्नातक पाश्चात्य शिक्षा-पद्धति वाले छात्रों और स्नातको से योग्यता मे किसी प्रकार कम नही होते। यदि विज्ञान का स्नातक, जो कला और शास्त्र (आर्ट्स) के विषयो से पूर्ण अनभिज्ञ होता है, प्रतियोगिता परीक्षाओ मे बैठ सकता है तो उसी न्याय के अनुसार सस्कृत के स्नातक उसके अधिकारी क्यो नही है? मैने प्रदेशीय शासन से यह भी अनुरोध किया है कि वह यदि हर जिले के अपने कार्यालयो मे एक-एक सस्कृत के स्नातक को नौकरी दे तो इससे सस्कृत के छात्रों के लिए सरकारी नौकरियो का द्वार खुल जायगा और साथ ही सरकारी कार्यालयो मे हिन्दी मे लिखा-पढी करने की सुविधा भी प्राप्त हो जायेगी क्योंकि सस्कृत के छात्र अग्रेजी मे लिखे पत्रो, आलेखों आदि का हिन्दी मे बहुत अच्छा अनुवाद कर सकते हैं। साथ ही मैंने शासन से यह भी अनुरोध किया कि वह अन्य विश्वविद्यालयों पर दबाव डाले कि वे सस्कृत विश्वविद्यालय की परीक्षाओं और उपाधियो को मान्यता प्रदान करे ताकि सस्कृत के विद्यार्थी अन्य विश्वविद्यालयो की परीक्षाओं मे बैठ सके। यदि सरकार मेरे सभी सुझावो को स्वीकार कर ले तो सस्कृत शिक्षा प्राप्त स्नातको की जीविका का प्रश्न बहुत कुछ हल हो जायगा।"

सस्कृत-शिक्षा के सम्बन्ध मे मेरा अन्तिम प्रश्न था, "क्या सस्कृत-शिक्षा-पद्धति का आधुनिकीकरण नही किया जा सकता? क्या आप नही सोचते कि सस्कृत की वर्तमान शिक्षा-पद्धति ऐसी है जिससे छात्र कूप-मण्डूप बने रह जाते है और समाज मे अन्य विश्वविद्यालयों से शिक्षित लोगो के सामने हीनता का अनुभव करते हैं?" इस प्रश्न के उत्तर मे त्रिपाठी जी ने कहा, "आधुनीकीकरण शिक्षा का नही, जीवन का होता है। आधुनिकता जीवन के दृष्टिकोण और जीवनविधि मे होती है। ज्ञान तो विविध विषयों का अलग-अलग होता है और सबमे उसका स्तर-भेद होता है। जिस तरह रसायनशास्त्र या भौतिकी मे उच्च उपाधि प्राप्त करके भी कोई बडा विद्वान् और कोई सामान्य ज्ञाता होता है उसी तरह सस्कृत के दर्शन, ज्योतिष, व्याकरण आदि विषयो मे भी होता है। अत विषयगत ज्ञान के क्षेत्र मे आधुनिकता का नही, पूर्णता का महत्त्व होता है। किन्तु यह भी आवश्यक है कि प्राचीन ज्ञान के साथ आधुनिक ज्ञान-विज्ञान को उपलब्ध करने की सुविधा होनी चाहिये। इसके दो तरीके हो सकते हैं—

(१) आधुनिक ज्ञान विज्ञान की पुस्तके हिन्दी और सस्कृत भाषा मे पर्याप्त सख्या मे उपलब्ध हों और सस्कृत के छात्र सामान्य ज्ञान के लिए उन्हे पढे।

(२) सस्कृत के छात्रों की जीवन विधि अन्य विद्यालयो और विश्वविद्यालयो के छात्रो की जीवन-विधि के समान हो। ऐसा होने पर वे समाज मे हीनता का अनुभव नही करेगे। दूसरी ओर समाज और सरकार का भी यह उत्तरदायित्व है कि वे सस्कृत-शिक्षा-प्राप्त लोगो को हीन न समझे बल्कि उन्हे आदर और सम्मान दे। प्राचीन काल मे राजा उपाधियो द्वारा तथा दरबार मे ऊँचा आसन देकर पण्डितो को सम्मानित करता था। अग्रेजी सरकार बडे 'पण्डितों को महामहोपाध्याय की उपाधि देती थी। इस तरह की उपाधियों का फिर प्रचलन होना चाहिये। पद्मश्री "पद्मभूषण' आदि उपाधियों से पण्डितो का सम्मान नही हो सकता। ऐसा होने पर सस्कृत के विद्वानो और छात्रो मे आत्म गौरव का भाव आयेगा और उनके मन से हीनता की ग्रन्थि दूर हो जायेगी।"

मेरा समय पूरा हो चला था और मेरे प्रश्न भी प्राय समाप्त हो चुके थे। इसी बीच एक अन्य विश्वविद्यालय का एक शोध छात्र त्रिपाठी जी से मिलने के लिए आया। अपनी बाते बताते हुए वह रोने लगा। मैंने देखा कि उसके गिरते हुए आँसुओं को देखकर त्रिपाठी जी का हृदय विगलित हो गया। मै सोचता था कि सफल शासक होने के कारण उनका हृदय अत्यन्त कठोर होगा। किन्तु इस घटना से मेरे विचार बदल गये। मै सोचने लगा कि यह महापुरुष, जो एक विश्वविद्यालय के उपकुलपति की कुर्सी पर बैठा है, जिसकी मेज पर चारो ओर फाइलो का ढेर लगा है, जो समस्याओं को देखते ही उनकी जड तक पहुँच जाता और उनका समाधान खोज कर ही दम लेता है, एक सफल शासक, गम्भीर विचारक, विविध विषयों का ज्ञाता पटु तार्किक, सच्चा देशप्रेमी, प्रगतिशील और उदार विचारों का पोषक, धर्म के तत्त्वो का ज्ञाता, अत्यन्त व्यवहार-कुशल, मानवों का सच्चा पारखी, कुशल राजनीतिज्ञ आदि तो है ही, उसका हृदय भी करुणा का सागर है। मैंने अनुभव किया कि विद्या का ऐसा सच्चा अनुरागी, शिक्षा का इतना वडा उन्नायक आज हृदय में एक बेचैनी का अनुभव कर रहा है कि देश के प्रत्येक व्यक्ति को सम्यक् शिक्षा दिलाने के लिए जितना कुछ किया जा सकता है, आज स्वतत्र भारत मे वह नही किया जा सकता है। जिलाधीश के रूप मे कार्य करते समय ही जिन्होने गोरखपुर मे एक विश्वविद्यालय की स्थापना का सकल्प किया था, जिसके लिए उन्होने अथक साधना की, आज उनकी वह कल्पना साकार हो चुकी है, किन्तु कितने लोग जानते है कि किस गम्भीर वेदना और महती करुणा ने उन्होंने गोरखपुर मे विश्वविद्यालय स्थापित करने के लिए प्रेरित किया था ? गोरखपुर ही नही, समस्त पूर्वी उत्तर प्रदेश की जनता की भयकर गरीबी और अशिक्षा को देखकर वहाँ की जनता के प्रति उनका विशाल हृदय करुणा से द्रवीभूत हो उठा था और उसी महती करुणा से परिचालित होकर उन्होने महामना प० मदनमोहन मालवीय की भाति गोरखपुर मे एक विश्वविद्यालय की स्थापना का व्रत लिया था। उसी करुणा और साथ ही भारतीय सस्कृति के प्रति उत्कट श्रद्धा ने उन्हे सस्कृत विश्वविद्यालय का उपकुलपति पद स्वीकार करने के लिए विवश किया था। मैंने मन ही मन फाइलों से घिरे उस तपोनिष्ट मनस्वी के चरणो पर अपने शत-शत प्रणामों की सुमनाञ्जलि बिखरा दी। किन्तु प्रत्यक्षत मैंने अपने कागज-पत्र समेट कर दोनो हाथ जोड उन्हे प्रणाम किया और उनके व्यक्तित्व का गम्भीर प्रभाव लेकर उनके पास से विदा हुआ।

त्रिपाठीजी की दुर्लभ विशेषताएँ

रामप्रताप त्रिपाठी, शास्त्री

नितान्त गौर वर्ण के सुगठित मझोले शरीर पर छोट श्वेत बालो वाले त्रिपाठी जी के मनोमोहक व्यक्तित्व की छाप प्रथम दर्शन मे ही परिणामदायिनी होती है। उनके प्रशस्त चमकते ललाट पर वृद्धावस्था की सगिनी झुर्रियो को अभी कोई स्थान नही मिला है। उनकी वाणी मे युवकोचित सरसता एव बहुमुखी अनुभूतियो का विचित्र सगम है। उनकी आँखो मे आन्तरिक निश्छलता एव सहज सगिनी प्रतिभा का मोहक तेज है। ईषद्स्मित उनके मुख की भगिमा सहज रूप मे ही सोहिनी है, और हम कह सकते है कि कुल मिलाकर प्रकृति ने उन्हे दुर्लभ उपादानो से विमण्डित किया है। उनकी कुलीनता एव अभिजात्य भावना को उनकी वैयक्तिक सदाचरण निष्ठा के कारण जो गरिमा मिली है वह इस अणु युग मे दीपक लेकर ढूँढने की वस्तु है।

सहसा विश्वास भी नही होता कि जो व्यक्ति प्रशासन के ऊँचे से ऊँचे पदो पर रहा है, जिसे प्रतिदिन राजनयिक सामाजिक एव सास्कृतिक कार्यक्रमो मे सर्व सामान्य जनता के सग खान-पान एव सम्मान प्राप्त करने को विवश होना पडा है वह प्रतिदिन घण्टो बैठ कर एकास्तिक पूजा-पाठ और जप-तप का अवसर कहाँ से निकाल लेता है। अग्रेजी वेषभूषा एव रहन-सहन के लिए परिस्थितिवश विवश अथवा बाल्यकाल से ही अभ्यस्त त्रिपाठी जी को बाहर से देखकर कोई भी यह मानने के लिए विवश है कि वह अत्याधुनिक विचारों के प्रगतिशील अधिकारी रहे होगे किन्तु उनके सान्निध्य मे कुछेक क्षणो के लिए भी यदि किसी को रहने का अवसर मिले वह भी मेरी ही भाति यह जानकर कुतूहल मे पड जायगा कि त्रिपाठी जी भीतर से कट्टर सनातनी एव सामाजिक मान्यताओं मे पुरातन पावनता के पक्के पुजारी है। तीर्थो एव व्रतों मे, दान एव पुण्य के प्रसगों मे पूजा-पाठ एव जप-तप के कार्यक्रमों मे वह काशी के निष्ठावान् पण्डितों से पग भर भी पीछे नही है। आधुनिक ज्ञान एव विज्ञान के प्रति सहज जिज्ञासा रखकर भी वह अध्यात्म एव भक्ति के क्षेत्र मे अडिग आस्था रखते है। उनके सस्कारों मे हमारे देश के प्राचीन ऋषियों की वाणी एव अनुभूतियों का व्यापक प्रभाव पडा है और आज आधुनिक तथा प्राचीन युगों की सन्धि बेला मे वह एक ऐसे महामानव है, जिनकी दृष्टि भविष्य के नवनिर्माण के प्रति अत्यन्त सजग है किन्तु उनके भावप्रवण हृदय तथा सस्कारों मे अपने अतीत के गौरव का प्रतिक्षण ध्यान है। वह विज्ञान की चकाचौध मे सामान्य जन की भाति न दिग्भ्रान्त हुए है और न पाश्चात्य शिक्षा-दीक्षा एव कुसस्कारो के प्रवाह मे विचलित हुए है। यह एक सयोग ही समझना चाहिए कि उनके अब तक के जीवन का बहुलाश सरकारी मशीनरी मे एक ऐसे पुर्जे की भाति बीता जो समूचे यन्त्र के साथ चलने के लिए विवश था, किन्तु ज्यो. ही अवसर मिला अपनी बहुमुखी प्रतिभा एव व्यक्तित्व के विकास का उन्होने अपूर्व उदाहरण प्रस्तुत किया। यदि आरम्भ से ही कही उन्हे आज की भाति स्वतत्रता का वातावरण मिला होता इसमे आश्चर्य की बात नही कि अपनी अनुपम सघटन एव कर्त्तृत्व शक्ति के कारण वे राष्ट्र के उन्नायकों की अग्रणी पक्ति मे विराजते होते।
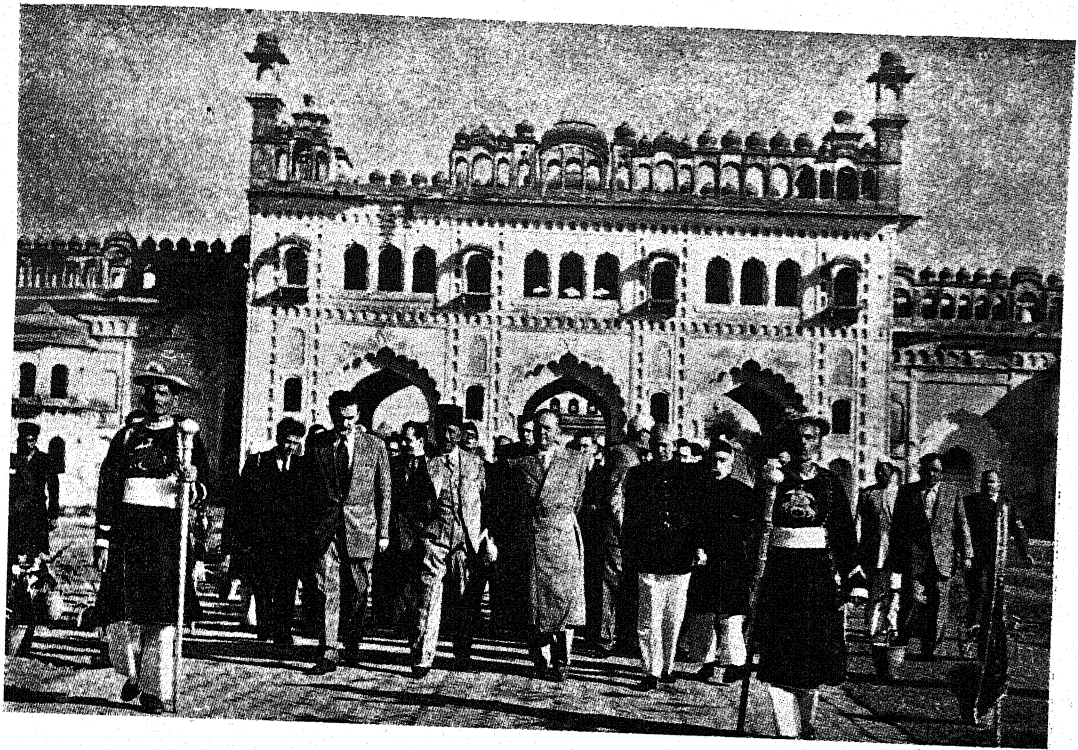
मार्शल-टीटो के साथ
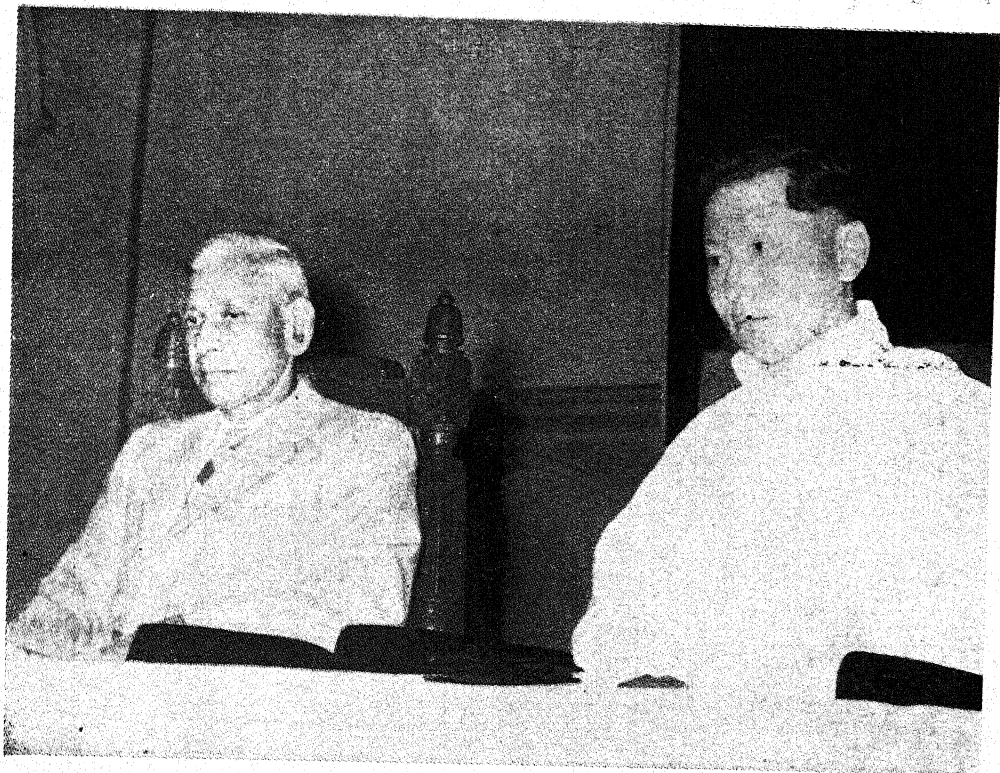
महाराजा सिक्किम के साथ, जनवरी १९६५
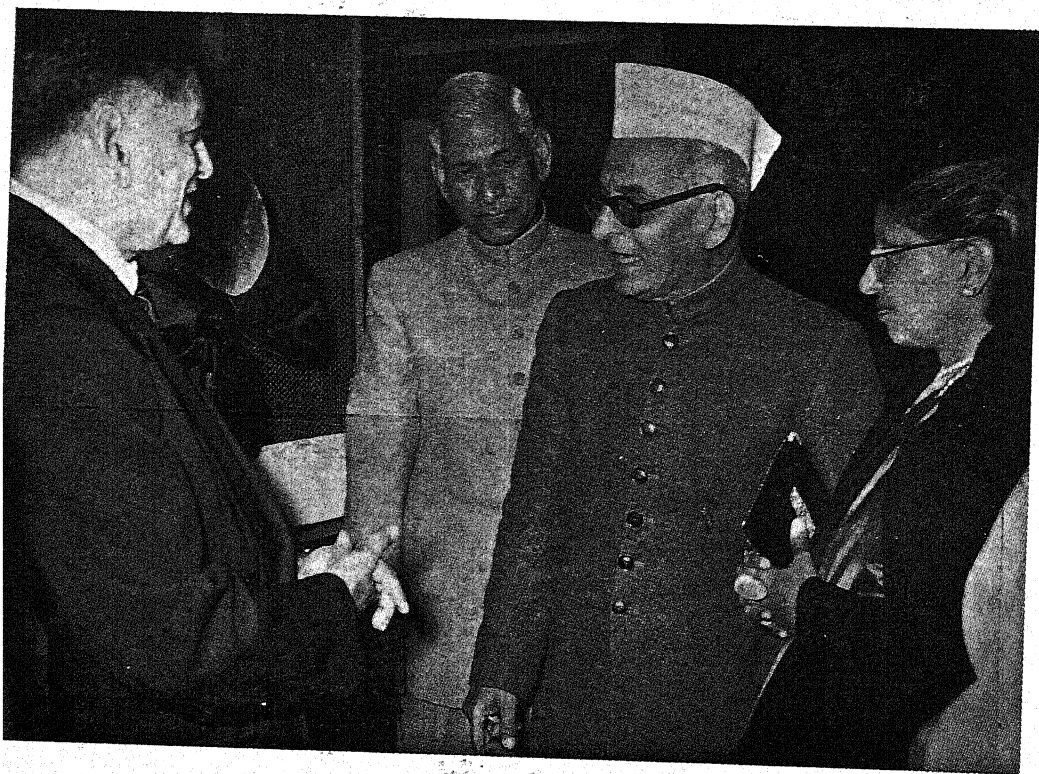
श्री तथा श्रीमती के. एम. मुंशी राज्यपाल उत्तरप्रदेश के साथ

जन्म से ही अनवद्य प्रतिभा एव विलक्षणता के धनी त्रिपाठीजी को आगे बढ़ने मे कठिनाइयों का कोई सामना नही करना पडा। उन्होने अपने उज्जवल छात्रजीवन की भाति ही अपने गार्हस्थ-जीवन मे भी सदैव उल्लेखनीय उपलब्धियाँ प्राप्त की। ब्रिटिश शासन की भाति स्वतन्त्रतोत्तर राष्ट्रीय शासन मे भी अपने दुर्लभ गुणो एव विशेषताओ का उचित उपहार अर्जित किया। ऐसा लगता है जैसे कोई मेल ट्रेन अनवरत अपने दीर्घ गन्तव्य पर विघ्न-बाधाओ और अवरोधों को दबाती हुई बढ़ती चली जा रही हो और दर्शक अनुभव करते हो कि उसका अन्तिम गन्तव्य अब भी समीप नही है। डिप्टी-कलेक्टर से कलक्टर बनने की दूरी को उन्होने बडे लाघव से पार किया। और उसके बाद जो कुछ उन्हे अयाचित रूप मे प्राप्त हुआ वह भी कम महत्त्वपूर्ण नही रहा। अपनी विशेषताओ के कारण अपने व्यावहारिक जीवन मे उन्होने अपने सैकड़ो सहगामियो का ही अतिक्रमण नही किया वरन् अपने सैकड़ों अग्रगामियो को भी पीछे धकेल दिया और अपने सैकडो अनुयायियो के सामने आश्चर्य और विस्मय के साथ जो आदर्श प्रस्तुत किया है वह कभी पुराना नही हो सकता।

त्रिपाठीजी ने अपना निर्माण स्वय किया है। न वे किसी बडे बाप के बेटे रहे और न किसी महापुरुष की कृपा-दृष्टि का प्रसाद ही उन्हे प्राप्त हुआ। अपने उज्जवल गुणों तथा निष्कलुष कृतित्वों के कारण उन्होने सर्वत्र उज्जवल कीर्ति पैदा की। जहाँ कही वह रहे आज भी वहाँ स्मरण किए जाते है और ऐसे व्यक्ति दुर्लभ है जो उनके सम्पर्क मे आकर उनसे प्रभावित और आकर्षित हुए बिना बचे हो। उन्हे हम अजातशत्रु बना नही सकते क्योंकि अवतारी महापुरुषो के भी निन्दक उनके साथ ही जन्म लेते है किन्तु इतना अवश्य कह सकते है कि त्रिपाठीजी है जो अपने विरोधियो के लिए भी सम्मान के पात्र है। उनके विरोधी भी उनकी विशेषताओं से ईर्ष्या करते है और उनकी दैनन्दिन बढ़ने वाली कीर्ति से स्पर्द्धा करते है। व्यक्ति के रूप मे वे भी त्रिपाठीजी का लोहा मानते है और उनकी प्रशासनिक एव रचनात्मक प्रतिभा को आदर देते है।

त्रिपाठीजी के स्वभाव मे सहज सहानुभूति के साथ विवेक एव नि.स्वार्थ उदारता के साथ कर्त्तव्य-निष्ठा का मणि-कांचन योग है। वे अपने विरोधियों के प्रति न्याय बरतते है और आवेश के क्षणों मे भी अपने पद तथा व्यक्तित्व के गौरव की रक्षा करते है। उनमें अपने विरोधियो से डटकर लोहा लेने की अद्भुत क्षमता है किन्तु किसी भी परिस्थिति मे वह ऐसा कोई कदम नही उठाते जिसके कारण उनकी न्यायनिष्ठा को आँच लगे। कई वर्षों तक उनके जीवन को अति समीप से देखने का मुझे जो सयोग मिला है, उसके आधार पर मै यह कह सकता हूँ कि वे इस सुभाषित की प्रत्येक पक्ति के मूर्तमान उदाहरण है

'विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा सदसि वाक्पटुता युधि विक्रम.।
यशसि चाभिरुचिर्व्यसन श्रुतौ प्रकृतिसिद्धमिद हि महात्मनाम्॥'

मैने उन्हे उस विपत्ति के क्षणो मे भी समीप से देखा है जब उनकी अतीव प्रिय कन्या का भरी जवानी मे दो अबोध बच्चों को छोडकर अकस्मात् देहावसान हो गया था। सयोगात् उनके लड़के का विवाह-समारोह भी उसी के आस-पास था। किन्तु सचमुच वह हैरत मे डालने वाली उनकी अनुपम धैर्यशीलता थी। भीतर से अत्यन्त द्रवित एव दुखी होते हुए भी त्रिपाठीजी ने अपने दैनिक कर्त्तव्यो मे कभी ढील नही दी और उस विपदा को इस प्रकार पार किया जैसे वह उनके जीवन की कोई सामान्य घटना हो। इसी प्रकार उनके अभ्युदय के क्षणो को भी मैने अत्यन्त समीप से देखा है।

उत्तर प्रदेश की पाँच महानगरियो मे से चार को त्रिपाठीजी के प्रबन्ध-कौशल एव सर्वतो-मुखी व्यक्तित्व का प्रसाद प्रत्यक्ष अनुभव करने का अवसर मिला है। इन चारो महानगरो मे वे ऊँचे-से-ऊँचे पदो पर रहे। इलाहाबाद मे वह जिलाधीश रहे तथा बाद मे जनसेवा आयोग के सम्मान-नीय सदस्य रहे। लखनऊ मे ६ वर्षो तक डिप्टी कमिश्नर के महत्त्वपूर्ण पद पर रहे। कानपुर मे हमारे देश के प्रमुख उद्योग प्रतिष्ठान के उप प्रमुख सचालक रहे और विद्या की नगरी वाराणसी मे वाग्देवता के सर्व प्रशसित मन्दिर संस्कृत विश्वविद्यालय के उपकुलपति हैं। इस प्रकार लाखो व्यक्तियो से उनका प्रत्यक्ष सम्पर्क रहा किन्तु महत्त्व तथा दायित्व के ऐसे महान् पदो ने त्रिपाठीजी को कभी अमर्यादित नही किया। इन पदों पर रहकर उन्होने जो महती मर्यादाएँ स्थिर की, उनका अनुवर्तन उनके परवर्तियो के लिए भी कम कठिन नही रहा। छोटों और बड़ो के साथ उनके सम्पर्क की कार्य-सरणि अनुपम रही। उनसे मिलकर अपने उद्देश्यों मे असफल व्यक्ति भी कभी असन्तुष्ट नही हुआ क्योकि उनकी वाणी और विचारो की सादगी का प्रभाव अमोघ होता है। वे जानते हैं कि कार्य करना या न करना परिस्थिति पर निर्भर करता है किन्तु दैवप्रदत्त सुनृत तथा मधुरवाणी का वरदान इसीलिए है कि किसी का चित्त न दुखाया जाय।

अपनी कलक्टरी के जमाने मे त्रिपाठीजी को भी बडे-बडे सघर्षो तथा कठिन अवसरो का सामना करना पडा है। गोरखपुर, इलाहाबाद तथा उत्तर प्रदेश की राजधानी लखनऊ—ये तीनो ही नगर तथा जनपद हमारे प्रदेश की समस्याओ के प्रमुख केन्द्र हैं। नवप्राप्त स्वतन्त्रता मे सर्व सामान्य जनता को प्रशासन से सुखी तथा सन्तुष्ट रखना असभव है, इन जनपदो मे जो नेता हैं उनका केन्द्रीय तथा राज्य-शासन मे ऊँचे-ऊँचे पदों पर विराजमान नेताओं से प्रत्यक्ष सम्पर्क है और आये दिन यहाँ हडताल एव प्रदर्शन की विकट स्थिति पैदा होती रहती है किन्तु या तो त्रिपाठीजी इतने भाग्यशाली थे जो इनके दीर्घ कार्यकाल मे भी कोई ऐसा प्रसग नही उपस्थित हुआ जिसमे इन्हे अप्रियता अथवा निन्दा प्राप्त हुई हो अथवा इनम ऐसी प्रशासनिक प्रतिभा तथा प्रखर प्रत्युत्पन्नमति है जो ऐसे अवसरो पर इनकी सब प्रकार से रक्षा करती है। इन्ही कठिनाइयो को जीतने के बाद ही इन्हे आज की वह पृष्ठभूमि प्राप्त हुई है जहाँ अपने अब तक के छिपे हुए गुणो का विकास करने के इन्हे शुभावसर मिले हैं।

जनता और नेता—दोनों वर्गो पर समान प्रभाव रखने वाले त्रिपाठीजी के मनोमोहक व्यक्तित्व मे उनकी प्रशासनिक पटुता एव रचनात्मक प्रतिभा ने चार चाँद लगा दिये हैं। गोरखपुर मे ही उनके छात्र-जीवन का आरम्भ हुआ, वही के वह निवासी भी थे, क्योंकि उनका गाँव बरपार पहले गोरखपुर मे ही था, वही पर उन्होने अपनी वकालत का आरम्भ किया था और यह एक दुर्लभ उदाहरण है कि स्वय उनके विरोध करने पर भी उन्हें गोरखपुर मे ही सर्वप्रथम जिलाधीश नियुक्त किया गया। लोग सोचेंगे कि यह एक स्वर्ण सयोग था, किन्तु मै कहूँगा कि उनके जीवन मे यह एक अग्निपरीक्षा थी। अपनी जन्म एव कर्मभूमि मे प्रशासन के ऐसे महत्त्वपूर्ण पदो पर रहकर अपनी लोकप्रियता की सुरक्षा सर्वदा खतरे में होती हैं। कारण स्पष्ट है। 'सर्वं स्वार्थं समीहते' के सिद्धान्त को मानव जाति से कभी पृथक् नही किया जा सकता और न सबको सन्तुष्ट ही किया जा सकता है। किन्तु त्रिपाठीजी थे जिन्होंने अपने अपूर्व कौशल से वहाँ भी अनुपम लोकप्रियता का अर्जन किया और अपने कठोर कर्त्तव्यो के सफल निर्वहन के साथ वहाँ एक ऐसे वृक्ष का बीजारोपण किया जो आर्थिक विपन्नता, गरीबी, अशिक्षा एव पिछड़ेपन की सच्ची परिभाषा से विभूषित उस पूर्व उत्तरप्रदेश की

मरुभूमि का कल्पद्रुम बन गया। मेरा तात्पर्य आज के उस गोरखपुर विश्वविद्यालय से है, जिसके विशाल भवन की एक-एक ईंटों मे त्रिपाठीजी के कर्त्तव्य एव भविष्यदर्शिनी प्रतिभा का परिणाम पिरोया हुआ है। उन्होने अपनी जन्मदात्री मातृभूमि का ऋण जिस रूप मे अदा किया, उसका बखान आने वाली वे पीढियाँ करेगी, जिनको उस कल्पद्रुम की छाया मे अपने दु खदैन्य जड-मूल से मिटाने का सुयोग प्राप्त होगा।

मुझे वह अवसर कभी नही भूलेगा जब हिन्दी साहित्य सम्मेलन के दीक्षान्त समारोह का उन्होने उद्घाटन १९५७ मे किया था। उनके भाषण मे कुछ नई चीजे भी थी और अन्य लोगों द्वारा बार-बार दुहराई जाने वाली चीजे भी थी, किन्तु उन्होंने जिस ढंग से उन्हे प्रस्तुत किया, उसकी प्रशंसा सर्वत्र की गई और उनके भाषण की छाया में दीक्षान्त समारोह के मुख्य प्रवक्ता का भाषण दब-सा गया और जो लोग समारोह मे आये थे, उन्हे त्रिपाठीजी की वक्तृत्व-शक्ति का चमत्कार देखकर आश्चर्यचकित हो जाना पडा। स्मरणीय है कि सम्मेलन के उस समारोह मे इलाहाबाद उच्च न्यायालय के दर्जनों न्यायाधीश, प्रमुख एडवोकेट, सरकारी अधिकारी, हिन्दी के शीर्षस्थ साहित्यकार एव नागरिक उपस्थित थे और त्रिपाठीजी के सार्वजनिक भाषण का वह प्रमुख स्थल था।

इसी प्रकार रूस के सास्कृतिक प्रतिनिधि मण्डल का जब हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सग्रहालय मे सार्वजनिक समादर किया गया तो त्रिपाठीजी उस अवसर पर भी प्रमुख प्रवक्ता रहे। उन्होने उस भव्य समारोह का सभापतित्व किया था और समारोह मे इतनी भीड थी कि समूचा सग्रहालय का हाल भरा हुआ था जिसमे कवियों, लेखको, एव साहित्यकारो की बहुलता थी।

श्वेत दुग्ध धवल बन्द गले के ऊनी कोट तथा श्वेत फुलपाइण्ट मे सुसज्जित त्रिपाठीजी का नितान्त गौरवर्ण का देदीप्य मुखमण्डल रूसी अभ्यागतों के बीच में इस प्रकार मिल गया जैसे वे भी उन्ही मे से कोई हो। उनका भाषण भी नितान्त समयानुरूप था। भारतीय सस्कृति, सभ्यता तथा कला के मार्मिक सन्दर्भों पर उन्होंने जिस ढग से प्रकाश डाला उसका प्रभाव अतिथियो पर भी गम्भीरता से पडा और दर्शकों ने अनुभव किया कि सचमुच त्रिपाठीजी ही इस अवसर के लिए सर्वाधिक उपयुक्त व्यक्ति थे।

त्रिपाठीजी की मुझ पर सहज कृपा-दृष्टि रही है। यह मेरा सौभाग्य रहा जो प्रथम दर्शन के दिन से ही स्व० राजर्षि टण्डनजी की भाँति उनका भी विश्वास एव स्नेह मुझे प्राप्त हुआ। जब तक वे प्रयाग मे रहे प्राय- सप्ताह मे एक बार उनसे अवश्य भेट होती थी और उस अवसर पर उनकी सजग प्रवृत्तियो एव बहुमुखी जानकारियों से लाभ उठाने के सदवसर से मै वचित नही होता था। अपने प्रियजनों तथा मित्रो के प्रति उनमे कितना स्नेह भरा है, इसका अनुभव वे ही लोग करते है जिन्हे ऐसा अवसर मिलता है। वे सचमुच सहज हितैषी प्रकृति के है और विरोधियो का अहित करने से भी दूर रहते है। उनका स्नेह सदैव अकृत्रिम तथा आडम्बर विहीन होता है यद्यपि अपनी अवस्था से कम उम्र के लोगों को भी वह उठकर आदर देते है तथा विद्वानो एव गुणीजनो के प्रति सम्मान प्रकट करने मे अपनी मर्यादा को भी भुला देते है।

इस प्रकार आज के स्वार्थ भरे युग मे त्रिपाठीजी के स्वभाव की ये विशेषताएँ परम दुर्लभ है। इन्ही के कारण वे उत्तरोत्तर उन्नति के पथ पर अग्रणी होते रहे है और इन्ही से उनकी प्रतिभा एव कर्तृत्व शक्ति का मनोरम शृगार हुआ है। ईश्वर उन्हे शतायु करे जिससे उनके भीतर छिपी क्षमताओ का सुफल भोगने के अनेक अवसर हमारे देशवासियो को प्राप्त होते रहें।

त्रिपाठीजी : व्यक्तित्व और विचार

(रूप, कर्म और विचार—व्यक्तित्व के ये ही तीन मूल तत्त्व हैं। रूप से व्यक्तित्व प्रकट होता है, कर्म से उसका परिचय मिलता है और विचार से उसे प्रेरणा मिलती है। मानवी श्रद्धा का पात्र वही व्यक्ति बन पाता है, जिसमे इन तीनो तत्त्वो का समन्वय हो, मन, कर्म और वचन की एकता से ही महत्तत्त्व निर्मित होता है—'मनस्येक वचस्येक कर्मण्येक महात्मनाम्'। श्रद्धेय—यह विशेषण इसी सोचे-विचारे विश्लेषण के आधार पर है—त्रिपाठीजी का प्रभावशाली आकार (रूपतत्त्व), शासन और शिक्षा के क्षेत्र मे उनके कर्म और अनेक अवसरो पर प्रकट हुए उनके विचार किसी व्यक्ति के निकट उन्हें श्रद्धास्पद बना देते हैं। उनके विचार और वक्तव्य उनकी दृढ़ इच्छा, अनथक कर्तव्यपरायणता और अपूर्व आदर्श के प्रतीक हैं। यहाँ भाषा, शिक्षा, सस्कृति और सस्कृत के सम्बन्ध मे उनके विचारो की एक झाँकी प्रस्तुत है, परमादर के पात्र और अशेष श्रद्धा के भाजन त्रिपाठीजी के ये विचार न केवल उनके मन स्फटिक की निर्मल झाँकी ही उपस्थित करते हैं, आज के सामाजिक सन्दर्भ मे प्रेरणादायक भी है और मननीय भी, दिग्दर्शक भी है और अनुकरणीय भी; एक और इनमे जीवन का अपार अनुभव है, दूसरी और तटस्थ विचारण-शक्ति भी।)

—देवर्षि सनाढ्य

भाषा

जो एकता एक भाषा के द्वारा होती है, जो अपनत्व की भावना एक भाषा बोलने वालो के बीच होती है, वह अन्य कृत्रिम साधनों से नही हो सकती।

भारत की राष्ट्रीय भाषा बनने का हिन्दी का दावा किसी भी दृष्टि से निर्विवाद है। यह पैंतालीस प्रतिशत जनसख्या की भाषा तथा पन्द्रह मे से छ बडे राज्यों की मातृ-भाषा है। यह ऐसी भाषा है, जो सभी बडे-बडे शहरों मे बोली जाती है।

प्रत्येक राज्य के लिए शिक्षा का माध्यम प्रादेशिक भाषाओ के बनाने के स्थान पर हमें हिन्दी को सभी महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों मे शिक्षा का माध्यम बनाना चाहिए तथा प्रादेशिक भाषायें राजकीय महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयो मे अनिवार्य विषय बनायी जायें।

भाषा ऐसी होनी चाहिए कि जिसमें हर प्रकार के विचार व्यक्त किये जा सके, जिसमे साधारण जनता अपने विचारों को व्यक्त कर सके और गहन विषयो का प्रतिपादन भी हो सके।

विदेशी राज अब इस देश से चला गया है और हम अग्रेजों का बहुत बातो मे विरोध कर रहे ह फिर भी हम उनकी भाषा के दास हो रहे हैं। कुछ लोगो को, जो अंग्रेजी भाषा के विशेषज्ञ हें, जिन्हें हिन्दी राष्ट्रभाषा हो जाने से अग्रेजी भाषा का ज्ञान—जिसे उन्होने बडे परिश्रम से प्राप्त किया था—प्रदर्शन करने का अवसर मिलने से बडी ठेस-सी लगती है, वे लोग अब भी अग्रेजी को राष्ट्रभाषा बनाने के प्रयत्न में तल्लीन हैं।

भाषा की श्रेष्ठता उसके साहित्य और शब्दावली के ऊपर निर्भर होती है। साधारण बोलचाल मे साधारण शब्दों का प्रयोग हो सकता है और होता ही है। किन्तु किसी गहन विषय का प्रतिपादन साधारण शब्दों द्वारा नही हो सकता, उसके लिए विशेष शब्दो की आवश्यकता होती है, जिनमे सार-गर्भिता हो, जिससे कतिपय शब्दो द्वारा ही पूर्ण भाव व्यक्त किये जा सके।

अग्रेजी को बलपूर्वक बाँधे रखना देश की सभी भाषाओ के सामर्थ्य के लिए बाधा है, न केवल राष्ट्रभाषा के लिए।

शिक्षा

शिक्षा का मन्तव्य मनुष्य को एक आदर्श मनुष्य बनाना ही हो सकता है, जिसमे मनुष्य का ऐसा सर्वोन्मुखी विकास हो, जिससे कि उसके मस्तिष्क का पूर्ण विकास हो, वह सर्व-शास्त्र-सम्पन्न पूर्ण पण्डित हो, उसमे उन सभी गुणो का समावेश हो, जिससे उदारता सत्यता, देश-प्रेम, परोपकारिता, शौर्य, सौहार्द्र, शुद्ध और सात्विक चरित्र इत्यादि सब बातो का समन्वय हो, जिसमे व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय हितो का समन्वय हो, जिससे कि मनुष्य अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओ की पूर्त्ति तो कर ही सके, परिवार के लिए भी उपयोगी सिद्ध हो, जाति और समाज-सेवा मे भी प्रवृत्त हो, देश के प्रति उसमे प्रगाढ प्रेम और भक्ति हो और जगत् के प्रति कोई द्वेष भावना न हो, जो सबके सुखो की आकाक्षा करता हो।

शिक्षा का अर्थ है 'कर सकने की इच्छा', और विद्या का अर्थ है 'प्राप्ति'। शिक्षा एक तैयारी है, कायिक, वाचिक और मानसिक—तीनो स्तरो पर अपने को इस प्रकार साधने की कोई भी परिस्थिति आये, उसमे से हम अपनी तरी खे कर ले जा सके। विद्या एक ऐसी सिद्धि है, जो इस तैयारी के बाद किसी को मिलती है, और जिसे मिलती है, वह स्वय तो मुक्त हो ही जाता है, वह समस्त जाति का मुक्ति-दाता बन जाता है।

शिक्षा हमारी वैज्ञानिक हो, प्राविधिक हो, अर्थकारी हो, युगानुरूप हो, किन्तु उसके साथ ही धर्म का भी समावेश उसमे हो तो हमारे जीवन मे, हमारे व्यवहार मे, हमारे कार्य मे, हमारे विचार मे एक सयम होगा, एक मर्यादा होगी, एक सन्तुलन होगा।

शिक्षा जीवन का आधारभूत स्तम्भ है। वही मनुष्य के जीवन रूपी प्रासाद की नीव है।

जैसे शारीरिक वृद्धि के लिए शुद्ध और स्वस्थ भोजन की आवश्यकता है, जो शुद्ध और स्वच्छ रक्त और मज्जा का निर्माण करे, उसी प्रकार शुद्ध और सात्विक शिक्षा मनुष्य के मानसिक और नैतिक जीवन को पुष्ट और परिष्कृत बनाती है, जिसके माध्यम से मनुष्य अपने जीवन के लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है और अपने देश के लिए उपयोगी हो सकता है।

देश की सस्कृति और सभ्यता का सारा ढाँचा शिक्षा के अनुरूप ही बनता है।

संस्कृति

भारत की सस्कृति धर्ममूलक और आध्यात्मिक है। हमारी सस्कृति जीवन और जगत् को सग्राम रूप मे नही देखती और न दूसरे के दलन एव विनाश मे अपनी विजय एव अपना अभ्युदय ही मानती है।

जिस सस्कृति के मूल में धैर्य, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, बुद्धि, विद्या (अध्यात्म विद्या), सत्य और अक्रोध जैसे सार्वभौम, सर्वमान्य एव सनातन धर्म-तत्त्व विद्यमान है और जिस

सस्कृति का लक्ष्य है—"लोका समस्ता सुखिनो भवन्तु", तथा "सर्वे भवन्तु सुखिन"—उसकी उपादेयता एवं उदात्तता स्पष्ट है ।

भारतीय सस्कृति त्यागमूलक है, वह अनावश्यक सचयन एवं सग्रहण को ही तिरस्कृत एव असत्यतामूलक घोषित करती है । वह अनावश्यक सचयन एव अपहरण को घोर निषिद्ध ठहराती है ।

आज का विश्व ज्योति से तम की ओर, अमृत से मृत की ओर ज्ञान से अज्ञान की ओर, चेतन से जड की ओर बडी तेजी से बढ़ रहा है । ज्योति का गन्तव्य तिमिर, अमृत का प्राप्य मृत्यु, ज्ञान का लक्ष्य अज्ञान और चेतन का साध्य जड़ होना तो अत्यन्त सास्कृतिक सकट है । आज पार्थिव की बलिवेदी पर अध्यात्म का बलिदान देने की प्रवृत्ति तीव्रता से बढ़ रही है । भारतीय सस्कृति के भीतर ही वह महान् क्षमता है, जो वैपरीत्य के इस महान् सकट को दूर कर सकती है ।

पाश्चात्य वैज्ञानिको ने प्रकृति के रहस्यो का भेदन करने मे पर्याप्त कष्टसहन किया है, किन्तु इस अभूतपूर्व वैज्ञानिक उन्नति का उपयोग मानवहिताय न होकर मानवविनाशाय होने लगा है । इसका मौलिक कारण है सास्कृतिक त्रुटि ।

वैदिक काल से आज तक ज्ञानात्मक, सवेदनात्मक और क्रियात्मक व्यक्तित्व का उद्घाटन ही हमारा इतिहास और हमारी सस्कृति है ।

सस्कृत सस्कृति का प्रतीक है । सम्पूर्ण भारतीय ज्ञान-विज्ञान इसी भाषा मे सरक्षित है । सिन्धु-सरस्वती प्रभृति पुण्यसलिला नदियो के परम पावन तटो पर वेद-मन्त्रो से वायुमण्डल को पावन एव स्पन्दित करनेवाले महर्षियों ने इस भाषा का ही प्रयोग किया है । याज्ञवल्क्य, वाल्मीकि एव व्यास आदि महर्षियों ने अपने अद्वैत ज्ञान का उपदेश इसी भाषा मे दिया है । विश्व की गूढ़तम ग्रथियो को खोलनेवाले भगवान् शकराचार्य के ब्रह्म और मायावाद की विचारणा इसी भाषा मे हुई है । आज भी आसेतु हिमालय पर्यन्त हर गॉव, हर नगर एव हर मन्दिर मे उस भाषा का प्रतिध्वनन श्रुतिगोचर होता है । जहॉ कही हिन्दू धर्मावलम्बी लोग रहते है और उनके यहाँ वैदिक सस्कारो का सम्पादन होता है, वहॉ यही भाषा सुनी जाती है । हमे इस सस्कृत का प्रचार और प्रसार करना चाहिए । यदि सस्कृत नही रही तो सस्कृति भी नही रहेगी यह अकाट्य सत्य है ।

संस्मरण

एक श्रद्धाञ्जलि

प० सुरतिनारायण मणिजी त्रिपाठी उन कतिपय भाग्यशाली पुरुषो मे है जिन्होने अपने चिरसचित स्वप्न को जीवन मे ही साकार होते देखा है। स्वर्गीय महामना मालवीय जी के समान त्रिपाठीजी ने भी न जाने कितनी राते सरवार प्रान्त के केन्द्र गोरखपुर मे एक विश्वविद्यालय के सस्थापन का स्वप्न देखने मे ही व्यतीत किया है। त्रिपाठीजी गोरखपुर विश्वविद्यालय के जन्मदाता तो है ही आज भी व उसके प्राण है। शायद ही कोई दिन ऐसा जाता हो जब उनके व्यस्त जीवन के बहुमूल्य क्षणो का कुछ अश गोरखपुर विश्वविद्यालय के सवर्धन और सपोषण की चिन्ता मे न रत रहा हो। त्रिपाठीजी की सामाजिक सेवा का मूर्त स्वरूप यह विश्वविद्यालय पूर्वाचल की जनता के बीच ज्ञान और विद्या का प्रकाश अनन्त काल तक प्रदान करता रहेगा और त्रिपाठी जी की सामाजिक सेवाओ का मूल्याकन आने वाली पीढ़ी और भावी इतिहासकार कृतज्ञतापूर्वक हृदय से करेगे।

त्रिपाठीजी के प्रथम साक्षात्कार का सौभाग्य मुझे उस समय प्राप्त हुआ जब वे सरयूपारीण ब्राह्मण महासभा के अध्यक्ष के रूप मे आज से ३० वर्ष पूर्व सभा के मुख-पत्र 'सरयूपारीण' के प्रकाशन और सम्पादन का प्रबन्ध करने के निमित्त गोरखपुर आए थे। उनकी प्रखर प्रतिभा, आकर्षक व्यक्तित्व और लोक-सग्रही भावना की एक अमिट छाप हमारे मानस पटल पर अकित हो गई और उनके प्रति मेरे हृदय मे जिस आदरभाव का सचार हुआ वह समय के प्रवाह से सबल पाकर प्रबल ही होता गया।

त्रिपाठीजी की सबसे बडी विशेषता है अपने सिद्धान्तो के प्रति उनकी अटूट निष्ठा और उन पर चलने का दृढ़ सकल्प। वे स्वभाव से अत्यन्त कोमल होते हुए भी अपने उच्च लक्ष्यो को प्राप्त करने के लिए पर्वत के समान अचल है और किसी भी कठिनाई का सामना करने के लिए सदैव तैयार रहते है। वस्तुत कठिनाइयो और बाधाओ से लड़ते रहने में ही उन्हे आनन्द मिलता है क्योंकि उनके जीवन मे नैराश्य के लिए कोई स्थान नही है।

श्रुति-स्मृति प्रतिपादित भारतीय सनातन सस्कृति के त्रिपाठीजी अनन्य उपासक है और उनके दैनिक जीवन के क्रिया-कलाप उसी के अनुकूल चलते है।

प्रयाग विश्वविद्यालय से एम० ए० तथा एल-एल० बी० की परीक्षाओं मे अत्यन्त उच्च स्थान प्राप्त करने के अनन्तर त्रिपाठीजी ने शासन-तन्त्र मे प्रविष्ट होकर कलेक्टर, सचिव तथा लोक सेवा. आयोग के सम्मानित सदस्य के रूप मे इस प्रान्त की सराहनीय सेवा की है। वे जिस पद पर रहे उसे उन्होने अपने असाधारण गुणों के कारण चमकाया और वहाँ की जनता का आदर प्राप्त किया। इधर जबसे वे सस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी के उप-कुलपति हुए है प्रान्त मे देववाणी सस्कृत के प्रचार एव चर्चा की अभूतपूर्व लहर सी दौड गई है जिसने संस्कृत भाषा और भारतीय संस्कृति के प्रेमियों के हृदय को समुल्लषित कर दिया है।

त्रिपाठीजी शतायु होकर देश और समाज की उत्तरोत्तर सेवा करते रहे—यही मेरी कामना उस अनन्त के चरणो मे है।

—हरिश्चन्द्र पति त्रिपाठी
न्यायमूर्त्ति, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद

मेरे मणि : मेरे सहपाठी

मुझे मणिजी का सात लम्बे वर्ष (१९१४-२१) तक सहपाठी रहने का सौभाग्य प्राप्त रहा है। एक दिन की घटना याद आ रही है। छठवी कक्षा के स्पेशल क्लास मे ज्यामिति पढ़ाई जा रही थी। अध्यापक महोदय ने पूरी कक्षा के विद्यार्थियो को अपनी-अपनी कापी पर ५", ७" व ८" की रेखाएँ अनुमान से खीचने को और फिर उसे स्केल से नापकर अशुद्धता की मात्रा लिखने को कहा। मणिजी की सभी रेखाएँ ठीक व सही खिची थी। मै तो उनके बगल मे ही बैठा था। उनकी प्रतिभा को समझता था। परन्तु जब अध्यापक ने देखा तो सन्देह प्रगट किया। अन्य विद्यार्थी भी सदिग्ध थे। अध्यापक ने उन्हे तुरन्त ब्लैक-बोर्ड पर ३", ६" व ६" की रेखाएँ खीचने का आदेश दिया। जब मास्टर जी ने स्केल से रेखाओ को नापा तो वे सभी ठीक निकली। उन्हे कुछ विलक्षणता प्रतीत हुई और अनायास ही उनके मुख से कुछ आशीर्वचन निकल पड़े। मणिजी अपनी प्रखर बुद्धि के कारण सर्वदा ही कक्षा में उत्तम स्थान प्राप्त करते रहे यद्यपि उनका अधिकाश समय किताबी कीड़ा बनने की अपेक्षा समाज-सेवा मे व्यतीत होता था।

विद्यार्थी काल से ही मैने उनके अन्दर कुछ-न-कुछ नवीन योजनाएँ बनाने व उसको अपनी लगन तथा परिश्रम से पूर्ण करने की क्षमता देखी है। उन्होने एक 'हिन्दू-छात्र-सभा' की स्थापना गोरखपुर मे की। स्वय प्रधान मत्री का कठिन कर्त्तव्य निभाने को राजी भी हुए। इस सभा की साप्ताहिक बैठक होती थी। इसमे विद्यार्थियो के उत्थान व कल्याण की योजनाएँ बनती थी। वाद-विवाद, कविता-पाठ व अन्य छात्रोपयोगी मनोरजन का आयोजन होता था। परीक्षा के बाद उत्तीर्ण विद्यार्थियो से पुस्तके दानस्वरूप प्राप्त करके एक पुस्तकालय की स्थापना हुई जो प्रतिवर्ष निचले कक्षा से उत्तीर्ण गरीब विद्यार्थियो को पढ़ने को दी जाती थी। इससे गरीब विद्यार्थियो की पुस्तक सम्बन्धी समस्याओ का समाधान होने के साथ-साथ उनमे इस सहानुभूति पूर्ण व्यवहार से एक 'सुरक्षा' की भावना का भी उदय होता था जो भविष्य मे उनके सफल-जीवन बनने मे सहायक होता था। यह सराहनीय कार्य मणिजी के ही अथक परिश्रम का परिणाम था। इस सभा के अन्तर्गत नगर मे आकस्मिक अथवा आयोजित रूप से उपस्थित अधिकाश प्रतिष्ठित आगन्तुक जैसे महात्मा गाधी, महामना मालवीय, गोकुल प्रसाद, ईश्वर सरन इत्यादि बुलाए जाते थे अथवा उनके आगमन पर नगर मे प्रबन्धको के रूप मे इस सभा के छात्र प्रमुख रूप से भाग लिया करते थे। मणिजी इन गणमान्य व्यक्तियो के व्याख्यान को बडे ध्यान से सुनते थे और उनके औचित्य व अनौचित्य को विचार कर चलने का प्रयत्न करते थे।

उपर्युक्त 'सभा' को चलाने के लिए 'अर्थ' की भी आवश्यकता होती थी। चन्दा इकट्ठा करना कितना विकट काम है। कभी-कभी हम दोनो को साथ ही इस विकट परन्तु पुण्य काम के लिए

जाना पड़ता था। हम दोनो व्यक्ति-विशेष के अनुसार यह तय करते कि कौन अमुक स्थान पर चन्दा मागने के लिए अगुआ बनेगा। मैं तो घबडा जाता था पर मणिजी कभी हिम्मत न हारते थे। उनकी लगन, तर्क-शक्ति व सबसे बढकर उनकी कार्य-प्रियता व आत्मविश्वास के कारण लोगो के लिए चन्दा दे देना न देने से कही सरल प्रतीत होता था। इनको चन्दा देकर व्यक्ति एक अप्रिय परिस्थिति से छुटकारा पाने का अनुभव नही करता था वरन यह अनुभव करने लगता था जैसे उसने कोई पुण्य कार्य किया हो। साथ ही साथ उसकी मुद्रा व वाणी से इन्हे कार्य-सफलता के लिए शुभकामनाएँ भी प्राप्त होती प्रतीत होती थी।

मणि जी बडे ही उदार व समाज सेवी प्रवृत्ति के व्यक्ति है। छात्र-जीवन से ही गरीबो व नि सहायो की सेवा करने के प्रति उनके अन्दर एक तीव्र हूक सी रही है। सेवा करके उन्हे हार्दिक आनन्द प्राप्त होता था। जब तक कुछ कर न लेते थे मानो उन्हे शान्ति नही मिलती थी। इसी हूक की तृप्ति के लिए वह कभी-कभी स्टेशन पर एकाकी ही अथवा मेरे साथ घूमने निकल जाते थे और असहायो की सहायता करने की तलाश मे रहते थे। ऐसी अनेक छोटी-मोटी घटनाएँ मुझे याद है जिससे मणिजी की महानता का परिचय मिलता है। मणिजी कार्य कुशल, साधु स्वभाव व उच्च विचार के व्यक्ति है।

स्वर्गीय श्री कृपाशंकर
भूतपूर्व सरकारी वकील, गाजीपुर।

एक दृढ़ संकल्प व्यक्ति

श्री त्रिपाठीजी के साथ काम करने का मुझे पहला अवसर १९३५ मे सुलतानपुर मे प्राप्त हुआ, जहाँ उन्हे डिप्टी कलेक्टर के रूप मे नियुक्त किया गया था। मै उन दिनो वहाँ उप-पुलिस अधीक्षक के रूप मे काम करता था। सुलतानपुर मे इस पद पर मैंने केवल छ· सप्ताह तक काम किया और इस थोड़ी-सी अवधि मे ही मुझे यह भान हो गया कि श्री त्रिपाठी एक दृढ सकल्प व्यक्ति है, जो सिद्धान्त के प्रश्न पर पुलिस अधीक्षक के सामने नही झुकते थे। १९५०-५२ मे जब उनकी नियुक्ति लखनऊ मे उपायुक्त के रूप मे हुई तो मुझे फिर उनके साथ काम करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। मै उस समय वहाँ प्रवर-पुलिस-अधीक्षक था। हम दोनो को वहाँ बहुधा कठिन और जटिल समस्याओं का सामना करना पड़ता था। सभी समस्याओ के प्रति हम दोनो का दृष्टिकोण सदा एक रहता था और उनको सुलझाने के लिए हम जो भी ढंग अपनाते थे वह नितान्त निष्पक्ष, भावावेश से रहित और ईमानदारी से भरा होता था। जब कभी शान्ति और व्यवस्था के सम्बन्ध मे कोई कठिन समस्या हमारे सामने आती थी तो हमे उत्तर-प्रदेश के तत्कालीन मुख्यमत्री स्वर्गीय पडित गोविन्दवल्लभ पन्त और तत्कालीन गृहमत्री श्री लाहबहादुर शास्त्री का सुयोग्य मार्ग-दर्शन सुलभ होता था।

१९५२ से मै उत्तर प्रदेश से बाहर प्रति-नियुक्ति पर रहा हूँ, फिर भी कभी-कभी हमारी भेंट होती रही है और मुझे यह अवसर मिलता रहा है कि मै यह जान सकूँ कि उत्तर प्रदेश और गोरख-पुर के लिए विशेषकर शिक्षा और सामाजिक क्षेत्रो मे त्रिपाठीजी ने क्या-क्या कार्य किये है।

मेरी ईश्वर से प्रार्थना है कि त्रिपाठी जी चिरायु हो और स्वस्थ रहे ताकि उत्तर प्रदेश में शिक्षा और सामाजिक क्षेत्र में अपना योगदान करते रहे।

श्यामसुन्दरनाथ आगा
रेलवे सुरक्षादल के महानिरीक्षक और सुरक्षानिदेशक,
रेलवे मंत्रालय, नयी दिल्ली।

अटूट अध्यवसायी

पडित सुरतिनारायण मणि त्रिपाठी मेरे गोरखपुर जनपद के समीपी पडोसी, सम्बन्धी, सहपाठी एव प्रिय मित्र हैं। उनके १९१४ की जुलाई से लेकर जब हम दोनो तत्कालीन स्पेशल क्लास मे उस समय 'गोरखपुर हाई स्कूल' कहे जाने वाले स्कूल मे प्रविष्ट हुए और तीन वर्ष बाद वहाँ के गवर्नमेंट जुबिली हाई स्कूल मे साथ-साथ चले गये, अद्यावधि तक के जीवन का स्फूर्तिदायी चित्र सामने है। आज से पचास वर्ष पूर्व के सुरतिनारायण और आज के वाराणसेय सस्कृत विश्वविद्यालय के उपकुलपति 'पडितजी' के वास्तविक शील और स्वभाव मे कोई भेद मुझे नही दिखायी देता है। जो प्रवृत्तियाँ मैंने उनमे पहले देखी थी वे ही आज भी सक्रिय हैं। उनमे पहले से ही जो सचेष्टता, महत्त्वाकाक्षा, अध्यवसाय तथा समय का सदुपयोग था वह अब भी बना हुआ है और सच पूछिए तो, उन्ही गुणो के सहारे, उनका असामान्य उत्थान होता आया है।

जो लोग उनको पहले देख चुके हैं वे मुझसे सहमत होगे कि बालक सुरतिनारायण कुछ करना चाहता था, कुछ होना चाहता था, साधारण स्तर से सतुष्ट नही हो पाता था, ऊपर जाना चाहता था। अटूट अध्यववसाय और देवनिष्ठा द्वारा उस बालक ने ऐसी क्रमागत उन्नति की जो सभी नवयुवकों को प्रेरणा देती है।

जो सौहार्द्र और प्रेम भाव उनमें विद्यार्थी काल मे मुझे मिला वही बस्ती-स्थित परगना अफसर मे, वही गोरखपुर के कलेक्टर मे, वही इलाहाबाद के कलेक्टर मे, वही लखनऊ के डिप्टी कमिश्नर मे, वही उत्तरप्रदेशीय सार्वजनिक सेवा आयोग —यू० पी० पी० एस० सी०—के सदस्य में और वही आज के उपकुलपति मे भी मिला। मिलने पर अपने विशेष पदावरण को सर्वथा भूलकर या एक ओर रखकर खुले दिल से वार्तालाप करते रहे और मुझे अधिक बार मिलने के लिए आमन्त्रित भी करते रहे, यह कहकर कि तुमसे मिलने पर आफिस का बोझ उतर जाता है, हल्का हो जाता हूँ, और हृदय खोलकर बाते कर लेता हूँ। मणिजी के जीवनाचार मे यह स्वर्णिम सूत्र है, जो दिप्यमान रहता है।

अनेक अधिकारियो से सम्पर्क रहता आया है, किन्तु मुझे मणिजी का यह विशिष्ट गुण मिला कि वे राजसेवा के अनन्त भक्त रहे, कभी नियम के बाहर जाने तक की नही सोची। अपने पद और अधिकार से उन्होंने कभी किसी को लाभ पहुँचाने का प्रयत्न नही किया। यह सेवाशीलता, अथवा ऑफिस की ईमानदारी, उनका विशेष कौशल रहा है। अपने दोनो अगो—व्यक्तिगत और पदीय—को जैसा उन्होने साफ सुरक्षित रखा, वैसा बहुत कम अधिकारी रख पाते हैं। हाँ, यह अंग्रेज अधिकारियों में पाया जाता था, जिनके वे बडे प्रशंसक रहे। एक बार के वार्तालाप में

मुझसे कहा भी था कि अंग्रेज अधिकारियो की ईमानदारी और कर्त्तव्यनिष्ठा कदाचित भारतीयो मे भी उसी मात्रा मे होती तो बड़ा उत्तम होता। यदि इस नीति और गुण को हमारे अधिकारी बरते तो अधिकतर शिकायते, जो सुनायी देती है, दूर हो जायँ।

नियमित रूप से नित्य की पूजा तथा स्वाध्याय को सुरतिनारायणजी ने सदा सुरक्षित रखा है। उससे उनकी क्षमता जैसे बढ़ती गयी वैसी चरित्र की दृढता भी बनी रही। जो लोग उनको निकट से जानते है, जिन्होने उनके आतरिक स्वभाव और आचार को देखा है, वे सदा ही उनकी सरलता, शुचिता, कर्मनिष्ठा, दृढता एव धर्मनिष्ठा से प्रभावित हुए है। मणिजी के दृढ चरित्र और पावन स्वभाव से हम सभी को प्रेरणा मिलती है। उनके आचार-व्यवहार एव जीवन मे प्रगतिशीलता तथा पुरात्व-पोषकता का सुललित समन्वय है। उनके जातिधर्माभिमान और विनम्रस्वभाव में विचित्र अन्विति है।

प्रस्तुत ग्रथ से उनका अभिनन्दन तो होता ही है, परन्तु वास्तव मे युवको को अनुप्राणित करने के लिए एक ठोस सामग्री भी प्रस्तुत होती है। हमारे जनपद और हमारी जाति के मणिजी एक उत्कृष्ट भूषण है। उनके प्रति मेरी सदा से यही भावना रही है। बाइस-तेइस वर्ष पहले के प्रकाशित अपने गोरखपुर के इतिहास मे भी मैने इसी भाव से उनका उल्लेख किया है।

—रामप्रसाद पाण्डेय
अवकाश प्राप्त प्रिंसिपल, नयी दिल्ली।

कुशल प्रशासक

मेरे लिए पडित सुरतिनारायण मणि त्रिपाठी के विषय मे कुछ लिखना कठिन है और उससे भी अधिक उनके चरित्र, उनकी प्रतिभा और उनके गुणो का मूल्याकन करना। वे मेरे सुहृदो मे है, आत्मीयो में है।

त्रिपाठीजी इस प्रदेश की उन विभूतियो मे है जिनके द्वारा जन-जीवन प्रशस्त हुआ है, जिनसे प्रेरणा मिलती है और जिनके सानिध्य और सामीप्य से स्फूर्ति, आशा और उत्साह का सचार होता है।

सुरतिनारायणजी एक कुशल प्रशासक तो है ही परन्तु उनकी प्रशासनिक प्रतिभा राजकीय कार्यो मे ही सीमित नही रही, वह उससे भी अधिक निखरी, शिक्षा के क्षेत्र मे और आश्चर्य तो यह है कि वैसी ही, व्यावसायिक और औद्योगिक क्षेत्र मे। मुझे विश्वास है कि यदि वे वकील होते, किसी विश्वविद्यालय के प्राध्यापक होते अथवा सैनिक जीवन अपने लिए उन्होने चुना होता तो भी उन्होने अपने तर्क, अपने पाण्डित्य तथा अपने नेतृत्व से उतनी ही ख्याति प्राप्त की होती। सच तो यह है कि उनमे उन सभी गुणो की प्रचुरता है जिनसे किसी मनुष्य को जीवन मे सफलता और यश मिलता है—तीक्ष्ण बुद्धि, साधना, लगन, चारित्रिक बल, सहृदयता, अदम्य उत्साह, सहस एव त्याग। मुझे यह भी कहने मे कोई सशय नही है कि त्रिपाठी जी को अभी भी उनकी प्रतिभा एवं क्षमता के अनुरूप कार्य करने का क्षेत्र नही मिला है।

सुरतिनारायणजी स्पष्ट वक्ता हैं । जहाँ इच्छा न रहते हुए भी उन्हें कभी कटु सत्य कहना पडता है, वहाँ भीतर सदैव एक सुकोमल हृदय स्पदन करता रहता है । उसे परखने मे लोग प्राय चूक जाते हैं । अपनी कर्त्तव्य निष्ठा के कारण कभी-कभी उनके मित्र भी उनसे असतुष्ट हो जाते हैं परन्तु जब समय का वेग समाप्त हो जाता है तो उन्हें अपनी भूल स्वीकार करनी पडती है ।

त्रिपाठीजी का तर्क अकाट्च होता है । साधारणतया उनसे कोई बडी से बडी बात सरलता से स्वीकार करवा ले, परन्तु यदि उन्हे शका हो जाए अथवा कोई उन्हे चुनौती दे दे तो उनकी तार्किक शक्ति विष-धर की भाति सहसा जाग उठती है और छेडने वाले को भागना कठिन हो जाता है ।

लोक सेवा आयोग सरीखी गुरुतर सस्था के सदस्य के नाते परिपक्व अनुभव, नियमो पर अधिकार एव निष्पक्षता पर आधारित उनकी सम्मति सदैव बहुमूल्य होती थी । वाराणसी सस्कृत विश्वविद्यालय को जब एक योग्य प्रशासक की आवश्यकता पडी तो सहसा सभी का ध्यान उन्ही की ओर गया । गोरखपुर विश्वविद्यालय की कल्पना, उसके लिए साधन जुटाना, राज्य सरकार की उसमे रुचि उत्पन्न करना विश्वविद्यालय अनुदान आयोग से उसके लिए मान्यता प्राप्त करना आदि का प्रमुख श्रेय त्रिपाठी जी को ही है, फिर भी उन्हे औरो को उसमे भागी बनाने मे सुख मिलता है ।

त्रिपाठी जी स्वभाव से सरल, व्यवहार मे निश्छल एव सात्विक जीवन व्यतीत करने वाले हैं । वे मनस्वी एव स्वाभिमानी हैं और चूंकि कर्मठ हैं अतएव जहाँ उनके मित्र हैं वहाँ विरोधियो का होना भी स्वाभाविक है । परन्तु जहाँ मित्रो को उनसे सरक्षण मिलता है विरोधियो को भी न्याय। अपना पक्ष प्रबल होते हुए भी दूसरो की बात मान लेने की क्षमता, उदारता एव महत्ता रखते हैं ।

उनका यश और कीर्ति बढ़े तथा उनके द्वारा सद्वृत्तियो का एव सद् तत्वो का पोषण, समर्थन एव सरक्षण होता रहे, ऐसी हमारा कामना है ।

—राधाकृष्ण अग्रवाल
अध्यक्ष, लोक सेवा आयोग, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद ।

कर्त्तव्यनिष्ठ व्यक्तित्व

मित्रवर सुरतिनारायण मणि त्रिपाठी को मै उस समय से जानता हूँ जब वह लगभग ४० वर्ष पूर्व इलाहाबाद विश्वविद्यालय के विद्यार्थी थे। अपने छात्र-जीवन मे त्रिपाठीजी ने अपनी प्रतिभा, मृदुल स्वभाव और सयत जीवन से विद्यार्थी समूह मे एक विशेष स्थान बना लिया था। उस समय से ही उनकी रुचि सार्वजनिक कार्यों मे थी। त्रिपाठी जी अपने विचारो के बडे पक्के थे, यदि कोई तर्क-वितर्क मे उनसे उलझता था तो उसे पराजित ही होना पडता था । त्रिपाठीजी की, भारतीय संस्कृति मे अटूट निष्ठा थी और सेवाकाल में अनेक कठिनाइयाँ आने पर भी उन्होंने उसका त्याग नहीं किया, जिससे उनका सम्मान और आदर बढ़ता ही रहा ।

प्रयाग विश्वविद्यालय से एम० ए० तथा एल-एल० बी० की उपाधियाँ सम्मान के साथ प्राप्त करने के पश्चात् वह राजकीय सेवा में, प्रतियोगिता परीक्षा (पी० सी० यस०) मे उत्तीर्ण होकर,

डिप्टी कलेक्टर के पद पर (पी० सी० यस० इक्जीक्युटिव) नियुक्त हुए। अपने पद पर रह कर (पी०सी० यस०) प्रान्तीय सेवा से भारतीय प्रशासन सेवा (आइ० ए० यस०) मे चुने गए—केवल कार्य कुशलता से। कलेक्टर तथा सचिवालय में सचिव के पदो का प्रशासन का इनका कार्य ऐसा सराहनीय और प्रशसनीय था कि सरकार ने उन्हे लोक-सेवा-आयोग का सदस्य नियुक्त किया। अभी लोक-सेवा आयोग का इनका सेवा काल समाप्त भी नही हुआ था कि इलाहाबाद हाईकोर्ट ने इनके प्रशासन की विशेष योग्यता के कारण उन्हे एक और उच्च पद पर बी० आई० सी० मे डायरेक्टर नियुक्त कर दिया—इसी बीच मे उन्हे सस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के उप-कुलपति के पद पर नियुक्त करके सरकार ने उनकी प्रशासन कुशलता को स्वीकार किया।

प्रान्त के प्रशासन तत्न मे त्रिपाठी जी का विशेष स्थान रहा है। अपने दीर्घ सेवाकाल मे त्रिपाठी जी जिस-जिस पद पर रहे उनकी प्रतिभा, कर्त्तव्यनिष्ठा तथा कार्य-कुशलता का सब लोग लोहा मानते रहे हैं। उनका व्यवहार अपने साथियो तथा अधीनस्थ कर्मचारियो के साथ अत्यन्त सराहनीय, शिक्षात्मक तथा अनुकरणीय रहा है। त्रिपाठीजी अपने विद्यार्थी काल से ही धार्मिक वृत्ति के थे। वे धर्मनिष्ठा, सदाचार, ईमानदारी, कर्त्तव्य-परायणता के जीता-जागता नमूना हैं, लोग उनके जीवन से शिक्षा ले सकते हैं। वह वास्तव मे मणि हैं जैसा नाम वैसा ही गुण।

१६–१८ वर्ष पूर्व जब त्रिपाठी जी गोरखपुर के कलेक्टर थे, वह गोरखपुर मे विश्वविद्यालय सस्थापित करने के स्वप्न देखा करते थे—वहाँ के बडे-बडे लोगो से विचार-परामर्श किया करते थे—विश्वविद्यालय की रूपरेखा उसी समय उन्होने बना ली थी और प्रचुर मात्रा मे धन एकत्रित करके और करीब दो सौ एकड़ जमीन इस विश्वविद्यालय के लिए प्राप्त कर लिया। कुछ वर्षों के नितान्त दौडधूप और परिश्रम के पश्चात् उनका स्वप्न कार्यान्वित हुआ और गोरखपुर मे विश्वविद्यालय की सस्थापना हुई इसका एक मात्र श्रेय उन्ही को है चाहे उनका हाथ बटाने मे और लोगो ने भी सहायता की हो—धन्य हैं उनका जीवन जो लोक सेवा मे उसे बिताते हैं।

परमात्मा त्रिपाठीजी को दीर्घजीवी बनाए, जिससे वह देश और समाज की सेवा निरन्तर करते रहे, यही मेरी शुभ कामना है।

मिट्ठनलाल
भूतपूर्व न्यायाधीश,
उच्च न्यायालय, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद
अध्यक्ष, औद्योगिक न्यायालय।

मेरे मित्र

प० सुरतिनारायण मणि त्रिपाठी, एम० ए०, एल-एल० बी० उप-कुलपति, वाराणसेय सस्कृत विश्वविद्यालय मेरे बहुत पुराने मित्र हैं। सन् १९२४ के जुलाई मास मे जब मै प्रयाग विश्वविद्यालय की बी० ए० कक्षा में पढने गया और हिन्दू बोर्डिंग हाऊस मे मैने प्रवेश लिया, उस समय श्री त्रिपाठी जी एम० ए० के विद्यार्थी थे और हिन्दू बोर्डिग हाऊस मे ही रहते थे। पश्चिमी जिलो से आने वाले

विद्यार्थियो की एक टोली हिन्दू बोर्डिग हाऊस मे दाखिल हुई थी जिसमे मैं भी था। हिन्दू बोर्डिग मे ही, कान्यकुब्ज कॉलेज लखनऊ के भूतपूर्व प्रिंसिपल स्वर्गीय प० बालकृष्ण पाण्डेय भी रहा करते थे जो अग्रेजी विभाग मे रिसर्च के छात्र थे। पश्चिमी जिलो के विद्यार्थियों की उस टोली पर स्वर्गीय पाण्डेयजी और श्री त्रिपाठीजी का अतुल स्नेह हो गया। उधर हम लोग भी त्रिपाठीजी और पाण्डेयजी दोनो का बडा सम्मान करते थे। उस समय यूनियन के सभापति, उप-सभापति, मत्री आदि पदाधिकारी विद्यार्थी, पढने मे प्रवीण, वक्तृता मे दक्ष तथा अपने व्यावहारिक और चारित्रिक सद्‌गुणो से अध्यापकों को प्रभावित करने वाले उनके प्रियपात्र हुआ करते थे। उस समय का विश्वविद्यालय छात्र-सघ आज की विश्वविद्यालय यूनियनो की तरह ट्रेड-यूनियन की मनोवृत्ति रखने वाला सघ नही था। वे यूनियने वास्तविक रूप मे विविध विषयो की ज्ञान-सम्वर्द्धिनी और सुष्ठ अभिरुचि की प्रचारिणी थी।

एक साल प० बालकृष्ण पाण्डेय यूनियन के सभापति पद के लिए, प० सुरतिनारायण मणि त्रिपाठी उप-सभापति के लिए तथा हमारे समुदाय के सहपाठी श्री रघुवशलाल गुप्त, जो बाद मे आई० सी० एस० की प्रतियोगिता मे सफल हो गये थे, सेक्रेटरी-पद के लिए खडे हुए थे। इनके अतिरिक्त उक्त पदो के लिए और भी अनेक अभ्यर्थी थे। उस समय के यूनियन-चुनावो मे आजकल के चुनावो की तरह धूमधाम और अपव्ययता नही होती थी। बहुधा होस्टलो तथा डेलीगेसी केन्द्रो में ही कन्वेसिग हुआ करती थी। उसी प्रकार से उस चुनाव की भी कन्वेसिग हुई। हम लोगो ने उक्त तीनों मित्रों के चुनाव के लिए प्रयास किया—और ये ही तीन व्यक्ति सफल हुए।

श्री त्रिपाठी जी का चुनाव निर्विरोध हुआ जो छात्रसघ के इतिहास मे इस प्रकार की प्रथम घटना हुई। यह उनकी छात्रों मे लोकप्रियता का द्योतक था। तब से श्री त्रिपाठीजी के प्रति मेरी सम्मान-भावना और उनका स्नेह और भी बढकर घनिष्ठता मे परिणित हो गए। यहाँ तक कि बी० ए० परीक्षा के बाद श्री त्रिपाठीजी के साथ हम लोगो की इस मित्र-मण्डली ने अपना ग्रुप-फोटो भी खिचवाया जो अभी तक मेरे पास मौजूद है। उस ग्रप-फोटो के छात्रो मे से मुझे खेद है कि हमारे एक मित्र श्यामसुन्दर, जो इडियन सर्विस ऑव रेलवे इजीनियर्स की प्रतियोगिता मे आ गये थे, इस संसार मे नही हैं।

श्री सुरतिनारायण मणि त्रिपाठीजी भी पी० सी० एस० की प्रतियोगिता परीक्षा मे सम्मिलित हुए और जब बडे दिन की छुट्टियो मे परीक्षा-फल समाचार पत्रों मे प्रकाशित हुआ तो मैंने उन्हे अपने हर्ष का बधाई-पत्र उनके घर के पते पर देवरिया भेजा। उसके उत्तर मे त्रिपाठीजी ने मुझे लिखा कि उनको इस बात की बडी प्रसन्नता है कि सबसे पहले मेरा ही बधाई-पत्र उनके पास पहुँचा। समय-समय पर हमारे और त्रिपाठीजी के बीच पत्र-व्यवहार भी होता रहता था। सन् १९३० मे मैं लखनऊ विश्वविद्यालय मे नियुक्त हुआ और त्रिपाठीजी राज्य प्रशासनिक कार्य मे सलग्न रहे। कुछ समय बाद त्रिपाठीजी लखनऊ आ गये। उनकी कार्य-कुशलता, कर्त्तव्यनिष्ठा और अथक परिश्रम से कार्य करने की क्षमता के गुणो के कारण उनकी पदोन्नति आई० ए० एस० मे हो गयी। बहुत समय तक त्रिपाठीजी लखनऊ मे डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट रहे। मैं भी उनके निकटस्थ स्थान पर रहता था। मेरा और उनका मिलन लगभग नित्य ही प्रात· घूमने मे हो जाया करता था।

त्रिपाठीजी स्वभाव के बड़े सरल, प्रसन्न चित्त और निष्कपट व्यक्ति हैं। विधि और नियमों के अच्छे ज्ञाता और सत्परामर्श देने वाले, महान् सज्जन पुरुष हैं। जब ये एम० ए० मे सस्कृत के

विद्यार्थी थे, तभी से लोग उनकी विद्वता से प्रभावित थे। सम्प्रति उनको जो वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के उप-कुलपति का पद प्राप्त हुआ है, वह न केवल उनके प्रशासनिक कुशलता के कारण है, वरन् उनकी सस्कृत की विद्वत्ता के कारण भी है।

श्री त्रिपाठीजी देवरिया के एक बडे सम्मानित ब्राह्मण कुल के भूषण हैं। कुछ समय पूर्व देवरिया एक तहसील मात्र था। हमारे विद्यार्थी जीवन के समय कम पढे-लिखे माता-पिता अपने पुत्रो को जल्दी से किसी कार्य मे लगा देने को उत्सुक रहा करते थे। पी०सी०एस० मे आने के बाद त्रिपाठी जी ने स्वय छात्रावास मे हमारी मित्र-मण्डली के छात्रो को अपने जीवन की एक महत्त्वपूर्ण घटना सुनाई थी। उन्होने बताया कि जब उन्होने देवरिया मे हिन्दी-मिडिल-परीक्षा प्रथम श्रेणी मे पास की तो उनके सम्बन्धियो ने उन्हे इस बात के लिए बाध्य किया कि वे अध्यापकी के लिए नॉर्मल स्कूल की ट्रेनिग मे भर्ती हो जायें। सयोग से उस समय स्कूलों के सब-डिप्टी-इस्पेक्टर दौरे पर देवरिया गये थे। त्रिपाठीजी ने नॉर्मल की ट्रेनिग के लिए अपना प्रार्थना-पत्र उनको दिया। लेकिन सब-डिप्टी-इन्स्पेक्टर ने उनको यह कहकर नही लिया कि उन जैसे बुद्धिशाली और कुशाग्र प्रतिभा रखने वाले विद्यार्थी को आगे पढना चाहिए। अन्त मे त्रिपाठीजी अग्रेजी स्कूल में भर्त्ती हो गये। वहाँ आगे की परीक्षाओ मे भी उन्हे बराबर योग्यता-छात्रवृत्ति मिलती रही और वे एम० ए०, एल-एल० बी० एक ही साथ पास करके शासन-कार्य मे रत हुए। अपने जीवन की इस घटना को उन्होने भाग्य की अचिन्त्य क्रीडा का एक कृत्य बताया।

त्रिपाठीजी के ससर्ग की अनेक सुखद स्मृतियाँ है। गोरखपुर विश्वविद्यालय की स्थापना मे त्रिपाठीजी ने अथक परिश्रम किया और अब भी उसकी उन्नति के लिए कोषाध्यक्ष के रूप मे अथवा अन्य प्रकार से सदैव तत्पर रहते हैं। त्रिपाठी जी की ६५वी वर्षगाँठ के अवसर पर मैं उनका हृदय से अभिनन्दन करता हूँ और बधाई देता हूँ, साथ ही ईश्वर से प्रार्थना है कि वे शतायु हो और सुखी और स्वस्थ रहकर देश और समाज के कल्याण मे संलग्न रहे। उनके मान और प्रतिष्ठा की वृद्धि के लिए भी मेरी मगल-कामना है।

—डॉ० दीनदयालु गुप्त
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष,
हिन्दी विभाग तथा डीन, आर्ट्स फैकल्टी,
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

हमारे आराध्य : एक व्यक्तित्व-विश्लेषण

कुछ पहले की बात है। समाज मे बढती हुई नैतिक शक्ति-हीनता के सम्बन्ध मे बाते हो रही थी। चतुर्दिक् व्याप्त सामाजिक अराजकता सदाचार-जीवन का आवमूल्यन, व्यक्तिगत-जीवन की पश्चिमी पृष्ठभूमि, राजनीति मे असगत और अनमेल कूटनीति, सभी ओर बारी-बारी से दृष्टि पड रही थी। सहसा गम्भीरता की ओर मोडते हुए श्री त्रिपाठीजी ने कहा—निर्बलता दूर करने का एक ही उपाय है कि यह देश और जाति स्वधर्म और स्वराज्य दोनो के लिए प्राणपण से उद्यत हो

जाय। मात्र स्वधर्म भी पगु है। अपना दृढ स्वराज्य न हो तो स्वधर्म की रक्षा करना सर्वथा असभव है। और स्वधर्म के बिना तो स्वराज्य निष्प्राण है—वह अपनी रक्षा के लिए जाति मे सनातन शक्ति को प्रवाहित नही कर सकता और तव राष्ट्र कोटि-कोटि जनसख्या के बढते जाने पर भी उत्सर्ग और बलिदान के अभाव म सर्वदा अरक्षित रहेगा। अत· स्वराज्य के साथ स्वधर्म का मेल बैठाना और इस सत्य को राष्ट्र-धर्म स्वीकार करना वर्तमान राष्ट्र-रचना का मूलभूत आधार होना चाहिए। वे कहते गये—स्वशिक्षा के बिना ऐसी नागरिकता, यह जीवन-दृष्टिकोण और यह सकल्प लाने का प्रयास सिकता से तेल निकालने से कम नही है। स्वशिक्षा के स्थान पर जब परशिक्षा इस भूमि में आई तब उसी के साथ पाश्चात्य ने यहाँ डेरा डाला। फिर स्वधर्म तथा अपने जीवनक्रम की बात क्या, यहाँ की सन्तानो के युगो से सुदृढ धर्म-बन्धन ढीले होने लगे, भारतीय मान्यतायें विचलित होने लगी, आत्म-विश्वास और जातीय सम्मान जाता रहा। दुर्गति और भी आगे बढी—क्योकि इस नवीन वातावरण का खण्डन, जितने उच्च स्वर से हुआ, उससे कई गुने स्वर से उसका अभिनन्दन और स्वागत होने लगा। धर्म-बन्धन और विहित जीवन के वे प्राचीर भी ढहाये जाने लगे, अथवा उस पर कटाक्ष, उपहास, और व्यग्य के मूसल-प्रहार इस क्रम से होने लगे कि जैसे किसी अनावश्यक वस्तु को तत्परता से हटा देना हो और उसकी जगह कोई नई सजावट करनी हो, जीवन का कोई नया मानदण्ड बनाना हो।

वे दृढता से अपने हृदय का अवगुण्ठन खोलते जा रहे थे—गाधीजी स्वधर्म और स्वराज्य दोनो को चाहते थे। वे तिलकजी की भाँति जातीय-जीवन को इसी धरती से उपजाना चाहते थे। जीवन भर उन्होंने यही कहा और किया। धर्म मे उन्होने स्वराज्य से अधिक आस्था प्रकट की। वे स्वराज्य के बिना क्षण-भर जी सकते थे पर धर्म-विहित-जीवन बिना क्षणमात्र भी जी नही सकते थे। ऋषियों के इस सुचित्य सत्य को वे मानते थे कि नैतिक पक्ष प्रबल होने पर एक व्यक्ति में भी दस हजार का मनोबल होता है। अत यही सम्पत्ति राष्ट्र की सम्पत्ति है? ऐसी ही शक्ति राष्ट्र का बल। बाकी सब निस्तेज जीवन का धूम्र मात्र। आज के राष्ट्र-निर्माण मे यह ढूँढने के लिए जब मन भ्रमण करता है तो गहरी निराशा के साथ लौट आना पडता है।

बातें देर तक चलती रही और त्रिपाठीजी अपनी भावनाओ की अजस्र धारा प्रवाहित करते जा रहे थे। उनकी इस प्रकार की अन्तर-ध्वनि सुनने के अनेक बार अवसर मिले। कार्यो और घटनाओं में अविचल रूप से उनके द्वारा अपनी आस्था को मूर्त रूप करते देखने का तो बराबर अवसर सुलभ होता रहा। सर्वदा उनमें निर्धारित मान्यताओ के भीतर जीवन को ले चलने का आग्रह देखा गया, जिसमे उनके व्यक्तित्व का विलक्षण विकास हुआ है। उसका कुछ रहस्य यहाँ प्रकट करना अत्यन्त समीचीन प्रतीत हो रहा है।

उनके ठोस और गम्भीर व्यक्तित्व मे जिन तत्त्वो का समन्वय प्राप्त होता है, उनका पूरा विश्लेषण और उनमे सामजस्य के सभी सूत्र प्रस्तुत करना यहाँ सम्भव नही है। उनकी ओर सकेत करना ही यहाँ अलम् है।

आस्तिकता उनके जीवन का सर्वस्व जैसे है। जीवन के उनके प्रत्येक सकल्प मे महाशक्ति तथा ईश्वरीय भरोसा सनातन प्रेरणा के रूप मे विराजमान रहती है। ऐसा प्रतीत होता है कि विराट् ब्रह्म, जो जगत् के अनन्त आकाश मे पूरा नही समा पाता, वही उनके हृदय के अगुष्ठ भाग में सिमट कर बैठा है, जिसकी उपस्थिति की सतत अनुभूति उनको रहती है। वे उसे अपने

सभी कर्मों मे जीवन-रथ का सारथी बनाकर प्रसन्न रहते हैं। ईश्वर की वे अरूपी सत्ता को अस्वीकार नही करते, परन्तु उसे विग्रह रूप मे ग्रहण कर उसके लीलायुक्त, सामर्थ्य को अधिक उपयोगी मानते हैं। उसकी प्रेरणा का यही सरल, सरस और अचूक माध्यम बन सकेगा, यह उनका विश्वास है।

ईश्वर का विग्रह ही धर्म है। अतएव विग्रहवान् धर्म के प्रति उनकी आस्था अटूट है। इसी रूप मे उनका प्रत्येक कार्य, चाहे लोक से सम्बन्धित हो या परिवार से, इसी भावना से सबल प्राप्त करता रहता है। धर्म को वे कभी साधारण अर्थ मे नही लेते। उसे वे उन शाश्वत सिद्धान्तो का समुच्चय मानते हैं, जिनके द्वारा समाज सन्मार्ग मे प्रवृत्त होकर उन्नतिशील बने और अस्तित्व को धारण कर सके। इसी भूमिका पर देही जीवन का सचालन करता रहे, तो कर्मो के द्वारा ही सुगति प्राप्त कर सकता है। यही जीवन का आध्यात्म है, इससे पृथक् रहकर न लोक मगल की सिद्धि हो सकती है और न उत्तम जीवन की।

जैसे मीमासक कहते है 'य एव श्रेयष्कर स एव धर्मशब्देनोच्यते'—जो मगलजनक हो, जिससे सुख हो, वही धर्म है। वे इस भावना के व्यापक रूप को मानते हुए भी धर्म के परिचर्या-पक्ष की उपेक्षा करना अनुचित समझते है ? देश, काल परम्परा और समाज के अनुसार धर्म की बाह्य-क्रिया मे जो भेद दिखलाई पड़ते हैं, उन्हे वे महत्त्वहीन नही मानते। धर्म की परिचर्यायें प्राचीर है, जिनकी रक्षा विवेक के साथ की जानी चाहिए। भारत जैसे राष्ट्र के विभिन्न धर्मों मे इनके प्रति परस्पर उदारता और सहिष्णुता को वे आवश्यक मानते हैं। जिसे हम धर्म के दैनिक कर्त्तव्य कहते हैं और मनु ने पच महायज्ञ कहकर इस रूप में सम्बोधित किया है कि 'ब्राह्म मुहूर्त्त में उठे तथा धर्मार्थं का चिन्तन करे—काय-क्लेश व उनके कारणों तथा वेद-तत्त्वार्थ का भी चिन्तन करे। उठने पर शौचादि आवश्यक कार्य करके समाहित होकर पूर्व सध्या का जाप करे और इसी प्रकार दूसरी को भी ठीक समय पर करे, इसको वे बडे निष्ठा के साथ निबाहने का प्रयत्न करते हैं। आर्य-गृहस्थ, के षट्कर्म वे एक आस्तिक के रूप मे करते हैं, क्योकि उनका विश्वास है कि यम-नियम शारीरिक मानसिक स्वास्थ्य और शुचिता के लिए अनिवार्य हैं। भारतीय कर्मवाद को अविचल रूप से स्वीकार करने के कारण जीवन की बाह्य और आभ्यन्तरिक शुचिता को वे अत्यन्त महत्त्व देते है। यह आग्रह उनमे इतना बलिष्ठ है कि राजकीय सेवा वर्तमान युग की रीति-रहनि सबसे अहर्निशि दबाव उनको आज तक विचलित नही कर सके। खान-पान, रहन-सहन, और लोक-व्यवहार मे भी शुचिता की उनकी यह प्रवृत्ति, कुछ लोगो की दृष्टि मे, कट्टरता तक पहुँची है, और उन्होने जीवन की इस बेला तक उसका निर्बाध रूप से निर्वाह किया है। अलबरुनी ने हिन्दुओ का जिसे प्रखर गुण कहकर सराहना की है शुचिता के उनके ये कर्म किसी जातीय प्रतिक्रिया के रूप में नही, जिसमें घृणा, अहकार निहित रहता है, उसमे ब्राह्मणत्व की जीवन-चर्या का वह निष्कपट विश्वास टपकता है, जिसका सम्बन्ध शरीर, मन और आत्मा को आध्यात्मिक ऐश्वर्य की ओर प्रेरित करने का प्रचुर साधन मिलता है।

वर्ण जीवन को अर्थशास्त्र के 'कार्य-विभाग-सिद्धान्त' पर अवलम्बित मानते हुए भी, वे इसे अध्यात्मिक सस्कारों का परिणाम मानते है ; यह धर्ममूलक है और प्रत्यक्षत· जन्म से उसका सम्बन्ध नही होना चाहिए। पर वास्तव मे गुण-सस्कार जन्म-मूलक होते है, अत· जन्म का ही महत्त्व है—ऋषियो के इस विवेचन को आज के लिए भी वे कल्याणकर मानते है। आचरण मे इसे विशुद्ध और वैधानिक मानते है, क्योकि व्यक्ति को इसमे विकास का चरम अवसर प्राप्त है। ऋग्वेद के

पुरुष सूक्त मे वर्णित सिद्धान्त को वे सनातन सत्य स्वीकार करते हैं और उसके आचरण मे सकोच नही करते। क्योकि हिन्दुत्व का यह प्रशस्त मार्ग, जिस पर चलकर एक आस्तिक हिन्दू इस बात पर विश्वास नही करता कि मत विशेष के साथ, जिन बातो का सामजस्य नही बैठता, उन सबो को जबरदस्ती मिटाकर धार्मिक विश्वासो और उपासना विधियो मे यात्रिक वस्तुओ की भाँति समता लाई जाय। ऐसी हर स्वस्थ विशेषता श्रद्धास्पद है। सबको विकसित होने के लिए ऐसा अवसर देना सामाजिक व्यवस्था के लिए आवश्यक है। उनका विश्वास है कि प्राचीन विचारो और पद्धतियो को नष्ट करने का उपक्रम नेष्ट है। आवश्यकतानुसार केवल उनमे सुधार किया जा सकता है। उनका विचार है कि वर्ण-व्यवस्था की यह देन तथा उपयोगिता कि सामाजिक जीवन के नियम असहानुभूति पूर्ण और निर्दय प्रतियोगिता के रूप मे नही होने चाहिये, बल्कि सहयोग और अविरोध के रूप मे होने चाहिये, सर्वदा अपेक्षित रहेगी। इसके अभाव मे हमारा समाज आज किंकर होता जा रहा है। वर्ण-व्यवस्था की वर्तमान विकृति और उसमें प्रविष्ट दोष हमारे लिए चुनौती है और उसका समाधान यही की मान्यताओ से ढूँढा जा सकता है।

उनकी यह धारणा है कि वर्ण-व्यवस्था दूषित हो जाने के कारण ही आज अव्यवहार्य प्रतीत होती है, अन्यथा इसकी ही उपज है भारतीय समाज की सहिष्णुता और विश्वास। यह जातियो और सस्कृतियों के सहयोग मे विश्वास करती है। हिन्दू जीवन के व्याख्याता, डॉ० राधाकृष्णन् के शब्दो मे "हिन्दू धर्म की वर्ण-व्यवस्था हिन्दू मस्तिष्क के व्यापक सश्लेषणात्मक प्रकृति के रहस्य का निर्देश करती है।" अतः इसके मूल उद्देश्य को आज की स्थिति मे भी महत्त्व दिया जाना चाहिए और इसके लिए शास्त्र-जीवन पर जोर देने का आग्रह उनमे पाया जाता है।

समस्त मानसिक विभूतियों में नैतिक जीवन की महत्ता उनके व्यक्तित्व की बड़ी विशेषता है। धर्म को वे नैतिकता से अलग करके नही रखना चाहते। धर्म का आचरण पक्ष ही नैतिकता है, जिसका तात्पर्य मानव जीवन के मूलभूत स्वत्वो को स्वीकार करना है। नैतिक मान्यताओ का ऐसा संतुलित विकास उनके चरित्र में हुआ है, कि उनका समुच्चय व्यक्तित्व पौरुष, कर्मशीलता, परिकल्पना, और महत् सकल्पों का अशेष स्रोत जैसे बन गया है। आस्तिकता, नैतिकता से सपृक्त धर्माचरण, बाह्य और आभ्यातर शुचिता का आग्रह विशुद्ध भारतीय जीवन मे उनके विश्वास ने उनके चरित्र को अनेक ऐसे अनिर्वचनीय गुणों से पूरित कर दिया है, जिससे उनकी जीवन-यात्रा महत्तम उपलब्धियो से अलकृत होती चली जा रही है। अविचल निश्चयी के रूप मे किसी संकल्प को जब वे ग्रहण करते है, तो ये ही रहस्य वहाँ कार्य करते हैं।

कर्मोपासना जैसे उनका व्रत है, इसीलिए संकल्पारूढ हो जाने पर विवशताये, बाधाये, मार्ग-सकट, प्रलोभन कोई भी उनको झुका नही पाते। घोर संकटपूर्ण अवस्थाओं से उनके सबल व्यक्तित्व ने विद्यालय का काम लिया है। ऐसे मनस्वी जीवन का वरण उन्होने स्वेच्छया किया। जीवन को उन्होंने एक अविश्रात सग्राम-क्षेत्र के रूप मे स्वीकार किया और उसके प्रति सदा सजग रहते हैं। "कीर्तियस्य स जीवति" का प्रेरक भाव उनको सदा उच्चस्थ जीवन के लिए ललकारता रहता है और बड़ी ही अव्यग्रता से वे उस ललकार का स्वागत करते हैं। अपनी इसी भावना के कारण इस दीर्घ अवस्था मे 'सनातन प्रजागृति' की स्थिति में रहना उन्होंने सहर्ष कबूल किया है। जैसा कि भर्तृहरि ने कहा है "मनस्वी कार्यार्थी नमणयति दुःखं न च सुखं", उनके जीवन के प्रत्येक पल मे देखा जाता है।

निस्सन्देह उनकी आत्मा अधिकतम निर्मुक्त रहती है—निर्द्वंदता, शोक रहितता, निर्भयता, स्वच्छन्द जीवन, विशुद्धि इसके प्रकट लक्षण हैं। यह सब उनके दैनिक उपासना का ही परिणाम है। सद्विचारो के सेवन पर लोक धर्म मे विश्वास के कारण ही प्रत्यक्ष जगत् के सघर्षो मे वे अपनी अतिम जीत का अटल विश्वास रखते हैं। कभी-कभी नैतिक सम्पदा को ही लेकर एकाकी ही मार्ग पर चल पडते हैं। तब साहस ही उनका संगी रहता है। साहस पुरुषार्थ और मनोबल को बढ़ाता रहता है। उत्साह से बढ़कर ससार मे उनको काई बल उस समय नही लाता।

निर्भयता और धीरता ये दोनो उनके कार्य क्षेत्र के पहरुवे जैसे साथ-साथ खड़े दीखते हैं। धैर्य वास्तव मे आशा, उत्साह, विश्वास, साहस से उत्पन्न होता है। इसीलिए विपरीत दशा मे, प्रयत्नों की विफलता के साथ धीर उदात्त की भाँति उनका मनोबल और शक्ति-सम्पन्न होता जाता है, और सफलता अन्त मे उनके सामने हाथ जोड कर खडी हो जाती है।

अध्यवसाय की निरंतरता को वे एक सत्याग्रही की भाँति पकड़ते हैं। इसीलिए असफलता न तो उन्हें कभी निश्चेष्ट करती है और न सफलता कभी विचलित ही कर पाती है। कर्म-मार्ग को उपनिषदो ने छूरे की धार की तरह तेज, दुर्गम कहा है और उसमे निहित असफलता की आशका तो और गहन हो जाती है। फिर भी वे नित्य-नूतन सकल्पो और अनुष्ठानो के पीछे पड़े दिखलाई पडते हैं। उनमे वर्तमान आत्म-विश्वास जीवन-युद्ध के अजेय अस्त्र के रूप मे एक दैवी सम्पत्ति की तरह व्यक्तित्व मे ऐसा पिरोया गया प्रतीत होता है कि लोकापवाद का भय उनको कभी भी आतकित नही कर पाता। प्राय: लोकापवाद का भय मनुष्य को दुहरे चरित्र का रूप दे देता है और चारित्रिक विकास विमुख बड़े-बड़े लोग दुर्बल हो, लोक-निन्दा और लोक-स्तुति को अपना पथ-प्रदर्शक बनाकर मार्ग निर्धारित करते हैं; अपनी प्रकृति को दबाते और छिपाते हैं। परन्तु लोक की अपेक्षा आत्मा को ही त्रिपाठीजी बराबर प्रधानता देते हैं। क्योंकि उनको विश्वास है कि उत्कर्ष के मार्ग पर चढना ही जीवन का यशस्वी नियम है, नीचे गिरना नही। भगवान् ने उत्कृष्ट जीवन व्यतीत करने के लिए ही अपने दैवी गुणों से मानव को प्रचुर सामर्थ्य प्रदान कर रखा है। फलत. सकट जब आँधी बनकर आते हैं, तो बुद्धि का मस्तूल उनकी नौका को लक्ष्य की ओर बड़ी धीरता से ले जाती है।

मनुष्य के लिए अपनी महत्ता का ज्ञान आवश्यक है ताकि जीवन का सारा सामर्थ्य व्यर्थ न रह जाय। लाखों में एकाध होते हैं, जो निज को जानने का प्रयत्न करते हैं; और उन यत्न करने वालो मे कोई ही होता है जो अपने को पहचान पाता है। ऐसे ज्ञानवान् पुरुष का चरित्र धवल रहता है। सन्देह होने पर वह आत्मा को ही टटोलता है। त्रिपाठीजी ने अपनी महत्ता का ज्ञान भली प्रकार किया है और उसी दिशा मे वे डग भरे जा रहे हैं। इसमे सन्देह नही कि डगो के विस्तार से अधिक मार्ग के अवरोध उनके समक्ष सघन होते रहते हैं। परन्तु जूझकर पार कर जाने का अदम्य साहस उनके कान में कहता रहता है कि भूस की तरह धुंधुआते रहना उचित नही, तिन्दुक की भाँति तेजवान् रहो।

नव-सकल्प उनका स्वभाव बन गया है, "प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रह: किं करिष्यति।"—फिर उनका यह दीर्घ वय, स्वास्थ्य की अक्षमता कैसे ठोकर बने। जीवन के प्रतिपल उनमे अनुभव के पृष्ठ जोड़ते रहे हैं। उन्होंने भी गीता के अनुसार क्रियात्मक जीवन मे ही सदा अवगाहन किया। उनके पूरे व्यक्तित्व को समग्र रूप से देखने से ऐसी अनुभूति होती है कि विधि ने मनुष्य की निसर्ग-सिद्ध-शक्तियों का सम्यक् विकास करके उन्हे सच्चे अर्थ मे मानव बनाया है। फिर उनके चरित्र में

सुविशालता और व्याप्ति लाने के लिए उनको उदात्त उद्देश्यो से युक्त किया है। यही कारण है कि उनका दुष्कर विरोधी भी उनके उच्चाशय के सामने सर झुका लेता है। उनके प्रतिद्वन्दियों को यह विश्वास रहता है कि उनके अपने ही सद्वृत्ति के कारण उनकी (विरोधियो की) कोई हानि नही हो सकती।

लोक-सग्रह की उपेक्षा वे नही कर सकते, क्योकि अपने जीवन की तरुणाई से ही वे सार्व-जनिक जीवन के उपासक रहे है। भारतीय सास्कृतिक रगमच पर आज जो अनुपम रचना वे कर रहे है, मौन किन्तु द्रुतगति से जो विन्यास उनके द्वारा उपस्थित किया जा रहा है, और सस्कृत के पुरातन माध्यम को अभिनव प्रेरणा देते हुए, राष्ट्र-निर्माण के जिस महत् कार्य की सम्यक् पूर्ति उनके द्वारा हो रही है। उसका निष्पक्ष इतिहास जब मूल्याकन करेगा, तब उनके विराट् व्यक्तित्व के दर्शन से लोग स्तम्भित रह जायेगे। कार्य की गुरुता और महत्ता की वृद्धि के साथ विशालतर और महत्तर होता हुआ उनका समर्थ व्यक्तित्व राष्ट्र की अत्यन्त मूल्यवान् निधि है।

सरयू-सदानीरा के पुण्यवान् नभ मे, जो आर्य सस्कृति की विभुता की सुरम्य प्रयोगशाला रही है, युगो के उपरान्त उदय होने वाला यह प्रकाशमान विरल नक्षत्र, हमारे गौरव का प्रतिमान बनकर आज विराजमान है। आज उसका अभिनन्दन कर हम स्वय अभिनन्दित हो रहे है, उसके शतायु की कामना कर अपने हितो को सुरक्षित करना चाहते है और उसके प्रति श्रद्धा-सुमन अर्पित कर उसके ऋणो से मुक्ति का निष्फल उपक्रम कर रहे है।

—केशवचन्द्र मिश्र,
आचार्य
मदनमोहन मालवीय डिग्री कालेज, भाटपाररानी, देवरिया।

कुछ संस्मरण

श्रद्धेय त्रिपाठीजी से मेरा प्रथम परिचय कब और कहाँ हुआ यह ठीक-ठीक तो नही बता सकता; किन्तु जिस परिचय ने पहले-पहल प्रभाव डाला वह सन् १९१८ के दिसम्बर के एक शुक्रवार की लम्बी रिसेस मे जुबिली हाईस्कूल के मौलसिरी के पेड के और नेचरस्टडी के बगीचे के बीच के मैदान मे हुआ जब वे अपनी कक्षा के विख्यात नास्तिक श्री प्रभातकुमार बनर्जी से उत्साहपूर्वक किन्तु संयत और श्लिष्ट शब्दो मे ईश्वर मे विश्वास करने के कारणो पर विवाद और आग्रह कर रहे थे। नास्तिकता के बारे मे प्रचार करना और बोलना उस समय नवीनता का एक सार्टिफिकेट हो गया था और प्रभात बनर्जी, जिसे कुछ लोग उसके आग्रहपूर्वक अपनी बात को मनवा लेने की उत्कट इच्छा से जोर-जोर से बोलने के कारण पगला भी कहते थे, अपने को नास्तिक घोषित करने मे गौरव अनुभव करता था। त्रिपाठी जी सनातनधर्मी थे और है। एक सनातनधर्मी पिता का पुत्र होने के कारण मुझे भी ईश्वर के अस्तित्व मे खतरा पैदा करनेवाले से जोरदार बहस करनेवाले के साथ स्वभावत सहानुभूति हुई और उनके विवाद मे रस लेने लगा तथा त्रिपाठीजी के तर्को को अकाट्य समझकर उनकी जीत को आस्तिकता और सनातनधर्म की विजय समझने लगा। उस समय त्रिपाठी जी के गोरे शरीर, छरहरी सुन्दर मुखाकृति का, जिससे कुशाग्र बुद्धि, कार्य-कुशलता और निर्भीकता तथा आत्मविश्वास प्रगट होता था, जो प्रभाव पड़ा उसकी अमिट छाप अब भी मेरे मन मे है। मै भी तब जुबिली स्कूल का एक छात्र था और उनसे जूनियर था। आज उनके ६५वे वर्ष के बाद भी उनके चेहरे से सत्य के प्रति वही आग्रह, वही निर्भीकता वही आत्मविश्वास प्रगट होता है।

सेण्ट एन्ड्रूज कालेज गोरखपुर से इण्टरमीडिएट की परीक्षा उत्तीर्ण करके श्री त्रिपाठी प्रयागस्थ म्योर कालेज में १९२१ मे भर्ती हुए। वहाँ से स्नातक होकर वे इलाहाबाद यूनिवर्सिटी से कानून और साथ ही साथ सस्कृत मे एम० ए० परीक्षा १९२५ मे उत्तीर्ण करके जुलाई १९२५ मे गोरखपुर में वकालत करने लगे।

इनकी वकालत थोडे ही दिनों मे अच्छी चमक गई और कुछ महत्त्वपूर्ण मुकदमों मे इन्हे स्वतंत्ररूप से वकालत करने का मौका मिला, जिसमे इनको आशातीत सफलता मिली। इसी बीच इन्होंने पी० सी० एस० की परीक्षा दी और उसमे सफल होकर डिप्टी कलक्टर नियुक्त हुए। तब से आप निरन्तर एक के बाद एक उत्तरदायी पद पर काम करते रहे हैं और सभी स्थानो मे अपनी कुशाग्र बुद्धि का परिचय देते रहने के कारण और कार्य करने मे तत्परता के कारण कुशल प्रशासक ही नही रहे, अपितु पर्याप्त प्रशसा के पात्र रहे। इस समय ये वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के उपकुलपति का कार्य बड़ी कुशलतापूर्वक सम्हाले हुए हैं।

त्रिपाठीजी मे समाज-सेवा की भावना छात्रावस्था से ही रही है। जब ये नवी कक्षा मे थे तभी से हिन्दू छात्र सभा के संयुक्त मंत्री और फिर थोडे ही दिनों में प्रधान मंत्री चुने जाकर समाज-सेवा का कार्य करने लगे और चार वर्ष तक यानी इन्टर कक्षा में पढने के समय तक मंत्री

के पद पर बने रहे। उस समय सभा करीब १०० या १५० रुपये प्रति मास चन्दा इकट्ठा करके गरीब छात्रो मे बाँटती थी और उनके लिए किताबों का भी प्रबन्ध करती थी। सभा के पास अपनी एक निजी लाइब्रेरी भी थी।

सनातन धर्म सभा के भी ये उत्साही कार्यकर्ता थे और प्रयाग मे हिन्दू बोर्डिंग हाउस ससद के मत्री, प्रयाग विश्वविद्यालय के प्राच्य विद्या समिति के मत्री और प्रयाग विश्वविद्यालय सघ के उपाध्यक्ष भी रहे हैं। यूनियन के तत्वावधान मे होनेवाले भाषणो और वाद-विवादो मे ये प्राय. उत्साहपूर्वक भाग लेते थे। जनवरी १९२५ मे हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा अखिल भारतवर्षीय अग्रेजी मे हुई वाद-विवाद प्रतियोगिता मे इन्होने प्रयाग विश्वविद्यालय का प्रतिनिधित्व किया था।

सितम्बर सन् १९४८ मे ये गोरखपुर के डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट नियुक्त हुए। इसके कुछ पहले नगरपालिका गोरखपुर का प्रबन्ध प्रान्तीय सरकार के हाथ मे चला गया था। यहाँ इस पद पर रहते हुए इन्होने गोरखपुर की नगरपालिका के कार्यो मे बडी गति ला दी और बडा सुधार किया। तथा इसी काल मे गोरखपुर यूनिवर्सिटी की स्थापना का कार्य इन्होने प्रारम्भ किया। यह उनके जीवन का अत्यन्त महत्वपूर्ण काल है।

विश्वविद्यालय की स्थापना का बीज त्रिपाठीजी के मस्तिष्क मे सन् १९४६ मे ही बोया जा चुका था। त्रिपाठी जी यहाँ जब कलक्टर होकर आये तो एक महीने के अन्दर उन्होने एक युनिवर्सिटी स्थापना-समिति का निर्माण किया। स्थापना-समिति के निर्माण के पहले जो उत्साह यहाँ के लोगो मे विश्वविद्यालय की स्थापना के लिए था, वह स्थापना-समिति की कुछ बैठको के बाद ही कुछ लोगो के शक्ति-सतुलन और अपनी पार्टी के मजबूत करने के कारण दूसरी दिशा की ओर मुड़ गया। फिर जब त्रिपाठी जी के यहाँ से चले जाने के बाद जो कलक्टर यहाँ आये उनमे से एक के कान लोगो ने इस तरह भरे कि उन्होने विश्वविद्यालय की योजना को आगे बढाने के बजाय इसको ठप करने की ही ठान ली। विश्वविद्यालय के स्वप्न और इसकी स्थापना के बीच जो सघर्ष इन्हे विरोधियो और अडगा लगानेवालो से करना पड़ा और जिस लगन और तत्परता से इन्होने विरोधियो को मुँह-तोड़ उत्तर देते हुए, अपने प्रयास को जारी रक्खा और विश्वविद्यालय को मूर्त रूप देने मे सफल हुए, वह इनके चरित्र का एक बड़ा प्रकाशमय पहलू है, इनके जीवनवृत्त का बडा शानदार काल है जिसके लिखने के लिए एक अलग परिच्छेद ही चाहिए।

पूर्वी जिलो का यह अचल, विशेषकर गोरखपुर का यह जनपद, उनका कितना ऋणी है इस सम्बन्ध मे इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि गोरखपुर विश्वविद्यालय की स्थापना मे यदि त्रिपाठीजी का यशस्वी व्यक्तित्व न होता और उनके जैसा लगनवाला कर्मठ व्यक्ति इसके पीछे न पड़ता तो मेरठ और कानपुर जैसे अर्थसम्पन्न जिलो की माँग होते हुए भी इस पिछड़े भूभाग में विश्वविद्यालय की स्थापना कदापि न होती।

आपकी कर्त्तव्यनिष्ठा और अध्यवसाय से श्री गोविन्दवल्लभ पन्त ने मुख्यमत्री पद से इनकी मुक्तकण्ठ से कई अवसरो पर प्रशसा की थी।

त्रिपाठीजी मे कुछ ऐसे गुण हैं जिनसे वे सहज ही अपने सम्पर्क मे आनेवालों को आकर्षित कर लेते हैं।

इनमे कुशाग्रबुद्धिता तो है ही; साथ ही साहस, धैर्य और अपनी बात पर दृढ़ रहने की क्षमता भी है। जो बात समझ में उचित जान पड़े उसको लगन एवं तत्परता से करना आपका स्वभाव बन

गया है। परन्तु सबसे अधिक लोकप्रियता का कारण है आपकी सहानुभूतिपूर्ण सहृदयता जो सदा सत्पात्र की सहायता करने को तत्पर रहती है।

त्रिपाठीजी को यह गौरव प्राप्त है कि जो भी कार्य आपको सौंपा जाता है उसमे शीघ्र ही सुधार और उन्नति होने लगती है।

सन् १९६० मे उच्च न्यायालय प्रयाग की आज्ञा से आप करोडो की सम्पदावाले प्रसिद्ध औद्योगिक प्रतिष्ठान 'ब्रिटिश इडिया कॉरपोरेशन' के वरिष्ठ उप-सचालक नियुक्त कर कानपुर भेजे गए। इनके कार्यकाल के समाप्त होनेवाले वर्ष १९६२ मे इस प्रतिष्ठान की ६ करोड़ की पूँजी पर लगभग तीन करोड़ रुपये का लाभ हुआ।

आप स्वय उपकार करते ही है पर अपने साथ किये गये उपकारो को भी नही भूलते। उपकारी का सदा श्रद्धा तथा स्नेह से स्मरण करते हैं।

त्रिपाठीजी अत्यन्त अतिथि-सेवी है। कानपुर मे वे जब ब्रिटिश इण्डिया कॉरपोरेशन के सचालक थे, विद्यालय के कार्य से मुझे दो बार कानपुर जाना पडा। त्रिपाठीजी व्यस्त रहते हुए भी समय निकालकर मेरी सुख-सुविधा, भोजन, शयन आदि का ध्यान रखते थे। दूसरी बार जब मैं कानपुर गया था तो वे स्वयं मुझे मोटर से स्टेशन तक छोडने आये। अर्दली से मेरा टिकट कटवाकर मुझे गोरखपुर जानेवाली गाडी के पास प्लेटफार्म पर पहुँचाकर ही आप वापस आये। मै तो संकोच से सिकुड़ा जा रहा था, किन्तु उन्होने केवल 'मुझे फलाँ जगह जाना था, सोचा तुम्हे स्टेशन छोड़ता चलूँ' इतना ही कहा। खैर, यह तो उनका बडप्पन था कि मुझे बहुत अनुगृहीत होने का ख्याल न होने पाये इससे यह बहाना बता दिया।

त्रिपाठीजी की न्यायप्रियता, निर्भीकता एव कार्यकुशलता की परिचायक एक घटना का स्मरण हो गया। लगभग १९५० की बात है। त्रिपाठीजी इलाहाबाद के कलक्टर थे। वहाँ के एक सुप्रसिद्ध और अत्यन्त प्रभावशाली वकील ने समाचार-पत्रो मे यह प्रचार करना शुरू किया कि प्रयाग के किले मे जो अक्षयवट है, जिसे भोले-भाले दर्शनार्थी यात्री पण्डों के कहने पर पूजते हैं, पैसा और जल चढाते हैं, वह असली अक्षयवट नही है। असली अक्षयवट तो किले के एक दूसरे कोने मे है जो कम से कम जहाँगीर के समय से है और जिसका उल्लेख तजुक जहाँगीरी मे है। सरकार के ऊपर दबाव पड़ा कि वह जाँच कराए और असली वट वृक्ष कौन है इसका निर्णय कराये। पतजी के शासन ने त्रिपाठी जी को जाँच कार्य सौंपा। त्रिपाठीजी ने प्रयाग विश्वविद्यालय के इतिहास के विद्वानो तथा वनस्पति-शास्त्र के प्रोफेसर को साथ लेकर दोनों वट-वृक्षों का निरीक्षण किया। वनस्पति-शास्त्र के विशेषज्ञो ने बताया कि जिस वृक्ष को अब अक्षयवट कहा जा रहा है और जिसे जहाँगीर के समय का बताया जाता है किसी भी दशा में १०० वर्ष से अधिक पुराना नही है। त्रिपाठीजी ने इस तर्क पर भी विचार किया कि जहाँगीर के काल मे लोग इस वट वृक्ष से यमुना में कूदकर आत्म-विसर्जन करते थे। त्रिपाठीजी का मत था यदि यह सत्य है तब भी तो यह वृक्ष अति प्राचीन नही हो सकता जिसे श्रद्धालु हिन्दू सहस्रो वर्षो से पूजते आ रहे हैं।

त्रिपाठीजी मे समाज-सेवा का भाव जन्मजात है। आप नवी कक्षा मे थे तभी आपने हिन्दू छात्र सभा का मत्रित्व पद संभाला। सनातन धर्म के मानने वाले एक शिष्ट और उभयद्विजकुल मे पैदा होने से स्वभावत· आप सनातन धर्म के निष्ठावान अनुयायी रहे हैं। और मेरे पिताजी जब यहाँ सनातन धर्म सभा के मंत्री थे तो त्रिपाठी जी जैसे उत्साही छात्रों की लगन और परिश्रम से

उनकी सभा का कार्य बहुत सुविधा के साथ हो जाता था। युवावस्था प्राप्त करने पर समाज-सेवा के भाव से ही प्रेरित होकर त्रिपाठीजी ने सरयूपारीण सभा के अधिवेशनो मे सक्रिय भाग लेना शुरू किया। आपकी सक्रियता और सरयूपारीण के उत्थान के अति उत्साह को देखकर समाज ने आप को चार बार अखिल भारतीय सरयूपारीण ब्राह्मण महासभा का सभापति चुना। पटने के महाधिवेशन मे आपके सभापतित्व मे जो उत्साह की लहर फैली तो सरयूपारीण सभा और उसकी मुखपत्रिका 'सरयूपारीण पत्रिका', जो निर्जीव हो गयी थी, १९४५ तक बड़े ठाट से चली।

सन् १९४१ मे आप फिर कलकत्ते वाले महाधिवेशन के सभापति हुए। १९४२ मे प्रयाग मे जो विशेष अधिवेशन हुआ, उसके सभापति चुने गए और १९४३ मे अयोध्या वाले महाधिवेशन के भी आप सभापति चुने गए।

आप महामना मालवीय जी के अन्यतम भक्तो मे से प्रमुख है और महामना के जन्म शती महोत्सव के आप १९५६ से १९६१ तक सयोजक रहे।

श्री त्रिपाठी जी ने प्रशासकीय एव सामाजिक क्षेत्र मे ही सफलता प्राप्त नही की है, पारिवारिक दृष्टि से भी आप अत्यन्त सफल एवं संपन्न है। आप तीन यशस्वी पुत्रो के पिता है—श्री श्रीनिवास मणि देवरिया मे सरकारी वकील है, श्री श्रीप्रकाशमणि सेना मे मेजर है और श्री श्रीविलासमणि आई० पी० एस० है।

ईश्वर से प्रार्थना है कि श्री त्रिपाठी जी दीर्घायु हो और स्वस्थ रहे जिससे कि वे समाज-कल्याण का कार्य करते रहने मे समर्थ हो।

—चन्द्रभाल ओझा
अवकाशप्राप्त प्रिंसिपल, गोरखपुर

वेदस्वरूपविमर्शः

हरिहरानन्द सरस्वती (करपात्रमहाराजाः)

यद्यपि सजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्यमपरिच्छिन्नमनन्तमपारं सर्वव्यवहारातीतमनाद्यनन्त ब्रह्मैव परम तत्त्वम् सर्वप्राणिपरप्रेमास्पद सर्वात्मभूत, तथाप्यनधिगत सत्तदकिञ्चित्करमेव 'नैनमविदितो देवो भुनक्ती' ति श्रुते. । तत एवाचिन्त्यानिर्वाच्यययाऽघटितघटनापटीयस्या स्वशक्त्यैव स्वाधिगमाय स्वयमेव तद्वाच्यवाचकलक्ष्यलक्षकाद्यात्मना सप्रपञ्चमिवापद्यते । तत्रापि वाच्यलक्ष्यसदानन्दापेक्षयापि सविदानन्दात्मकमोमित्यभिधानमेवातिशेते, प्रकाश्यविषयापेक्षया प्रकाशकविषयिमाहात्म्यातिशयस्य सर्वजनीनत्वात् । अचिन्त्यानन्तसच्चिदानन्दसुधामहाम्भोधावभिधानाभिधेयात्मकप्रपञ्चोत्पादनानुकूलशक्त्यवच्छिन्नब्रह्मविवर्तभूत एवाभिधानाभिधेयात्मकः प्रपञ्चोऽपि, तेनैव तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वनियमात् अभिधानात्मकप्रपञ्चोत्पत्त्यनुकूलशक्त्यवच्छिन्नसविदानन्दविवर्तभूताना शब्दानामभिधेयात्मकप्रपञ्चोत्पत्त्यनुकूलशक्त्यवच्छिन्नसदानन्दविवर्तभूतानामभिधेयानाञ्चाभेद एव पर्य्यवस्यति । तत्रापि पादविभूतिगतमायाशक्त्या तदन्तर्गताभिधानाभिधेयभेदविजृम्भणेन जीवब्रह्मणोरिवाभेदतिरोधानम् । तेनैवाग्निमोदकाद्युच्चारणेनापि न मुखदाहपाटनपूरणादिकम् । त्रिपादविभूतौ त्वभेद एव जागर्ति । तत एव 'ओमितीद सर्वं' 'ब्रह्मैवेदं सर्वं'मित्युपास्यते प्रतिपद्यते च समाहितै. पारदृश्वभि । सर्वत्र वाच्यप्रपञ्चापेक्षया वाचकस्य शब्दस्य श्रैष्ठ्यम् प्राकृताद्यपभ्रंशमयशब्दापेक्षया च तत्प्रकृतिभूतसाधुसंस्कृतशब्दानां कोऽपि विलक्षणो माहात्म्यातिशयः, येषामधिकारिकर्तृकोच्चारणेनापि पुण्यजनि । तत्रापि शब्दसामान्यापेक्षयापि दोषबाधविधुरस्य शब्दविशेषस्य कोऽपि माहात्म्यातिशय सुख्यात एव । तदभ्यासेन वाचा क्रियाफलाश्रयत्व सम्पद्यते । लौकिकानामृषीणा वागर्थमनुधावति विशिष्टाना तादृशानान्तु वाचमर्थोऽनुधावति । तेनैव कस्यचित् तपोधनस्य वाचैव नहुषोऽजगरत्व वाचैव च कस्यचित्सत्यव्रतस्य नन्दिनस्तेनैव देहेन देवत्व सम्पन्नमिति पौराणिका. ।' 'नास्ति सत्यसम तप.'

> 'अश्वमेधसहस्रञ्च सत्यञ्च तुलया धृतम् ।
> अश्वमेधसहस्राच्च सत्यमेकं विशिष्यते ।।'

इति तन्माहात्म्योक्ति सुस्फुटैव । मृषावादिनामपि सत्योक्तिराद्रियते, किमुत सत्यवादिना तथोक्तय ; सत्यव्रतानामृषीणा सुसिद्धानामृतसत्यनिष्ठाना देवाना देवदेवानामीश्वरस्य चोक्तयो दोषबाधवैधुर्यतारतम्येनोत्तरोत्तर विशिष्यन्ते । तदपेक्षयाऽपि स्वप्रकाशपरब्रह्मनि श्वसितप्रायाणा पुरुषमात्रबुद्धिप्रयत्ननिरपेक्षाणामपास्तसमस्तपुन्दोषशङ्काकलङ्काङ्काना तदीयनित्यानन्तज्ञानानुविद्धाकृत्रिमनित्यानन्तापौरुषेयशब्दराश्यात्मकमन्त्रब्राह्मणात्मकानां वेदाना सर्वातिशायी माहात्म्यातिशयस्तु सर्वत्र जागर्तितमाम् । येषामनुग्रहादेव धर्मब्रह्मादयोऽतीन्द्रिया अपि पदार्था. करतलगतामलकायन्ते । तत एव स्वात्मावबोधनाय करुणावरुणालयस्याकारणकरुणस्य सर्वेश्वरस्यैव वेदात्मना विशिष्यावतरण मन्यन्ते वैदिका' । 'वेदो नारायणः साक्षात् स्वयम्भूरिति शुश्रुम ।' 'वेदस्य चेश्वरात्मत्वात्तत्र मुह्यन्ति सूरय.' इत्यादि व्यासोक्ते. । तन्त्रागमपुराणन्यायसांख्ययोगमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गोपबृंहितविविधानवद्यविद्योद्गमस्थानभूतानां वेदानां सर्वार्थविद्योतित्वं निरुपचरितमेव । 'वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ।' 'शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्' 'शास्त्रयोनित्वादि' तिरीत्या विश्वस्रष्टृतत्सृष्टिप्रकाशकत्वेन वेदानामनितरसाधारणम्

माहात्म्यम् । 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेय' मित्यापस्तम्बादिभिस्तत्स्वरूपावबोधकं लक्षणं विहितम् । अनुपलभ्यमानमूलान्तरत्वे सति महाजनपरिगृहीतवाक्यत्व वेदत्वमित्युदयनाचार्येणापि तल्लक्षितम् ।

शब्दातिरिक्त शब्दोपजीविप्रमाणातिरिक्तञ्च यत्प्रमाण तज्जन्यप्रमितिविषयानतिरिक्तार्थको यो यस्तदन्यत्वे सति आमुष्मिकसुखजनकोच्चारणकत्वे सति जन्यज्ञानाजन्यो यो प्रमाणशब्दस्तत्त्व वेदत्व-मिति च प्राचीनैस्तल्लक्षणमुक्तम् । अत्र व्यासादिचाक्षुषादिप्रत्यक्षजन्ये दृष्टार्थके भारतायुर्वेदादिभागेऽति-व्याप्तिवारणाय प्रथमसत्यन्तम् । इत्थञ्च तदुभयातिरिक्त प्रमाण चक्षुरादिरेव तज्जन्यप्रमितिविषया-र्थकतया तयोर्नातिव्याप्ति । न च दृष्टार्थकवेदभागस्यापि लक्ष्यतया कथ तत्र लक्षणसमन्वय इति वाच्यम्, अत्रार्थपदस्य मुख्यतात्पर्यविषयपरत्वात् । मीमासकनये विध्यर्थ एव मुख्यतात्पर्यविषय, न्यायनयेऽपि 'स्वार्थद्वारैव तात्पर्यं तस्य स्वर्गादिवद्विधौ ।' इति रीत्या विध्यर्थ एव तेषा मुख्य तात्पर्यम्, अत एव सत्यन्तेऽनति-रिक्तेति । तथा च तेषा दृष्टार्थकत्वेऽपि नाव्याप्ति. । प्रमित्यविषयार्थकत्वमात्रोक्तावसम्भव इति जन्यान्त प्रमितिविशेषणम् । शब्दोपजीव्यतिरिक्तेन प्रमाणेन वेदात्मकशब्देन वेदार्थस्य प्रमापणात् शब्दातिरिक्त-पदस्य प्रमाणविशेषणतया निवेश । मन्त्रावयवभूतवाक्येऽतिव्याप्तिवारणाय द्वितीयसत्यन्तम् । एव स्तोमेऽति-व्याप्तिवारणाय प्रमाणशब्दनिवेश । मन्वादिस्मृतिभारताद्यदृष्टार्थकभागेष्वतिव्याप्तिवारणायाजन्य इत्यन्तम् । यद्यपि 'अनन्ता वै वेदाः' इति श्रुत्यनुसारेण वेदा अनन्ता एव तथापि त्रयस्त्रिंशदधिकशतोत्तरसहस्र-शाखोपबृंहितो मन्त्रब्राह्मणात्मकोऽविच्छिन्नपारम्पर्येणाधीयमानोऽपौरुषेय शब्दराशिरेव मानवबुद्धिगम्यो वेदः । गुरोर्मुखादनुश्रूयमाणत्वादेवान्वर्थकानुश्रवत्वमपि तस्य ।

कैश्चित्तु—'विद् ज्ञाने' 'विद् सत्तायाम्' 'विदलृ लाभे' 'विद् विचारणे' इति धातुभ्यो वेद-शब्द निष्पाद्यानेके वैज्ञानिकार्था वेदशब्दार्थत्वेन गृह्यन्ते । सर्वे सर्वार्थवाचका इति रीत्या शब्दाना काम-दोग्धृत्वात्कामं गृह्यन्तामनेकेऽर्थाः; तथापि रूढिर्योगमपहरतीतिन्यायेन पूर्वोक्तरीत्या अपौरुषेयशब्द-राशावेव योगरूढोऽय वेदशब्द. । अन्यत्र तु 'वेदं कृत्वा वेदिं करोति'—इत्यादौ कुशमुष्टौ वेदशब्द-प्रयोग इष्यत एव ।

कैश्चित्तु—वेदानां कीदृशं स्वरूपं, कश्च तदापरोक्ष्योपाय, किं वा तत्फलमिति प्रश्नत्रयमुत्थाप्य प्रसिद्धेभ्यो वेदेभ्योऽन्यदेव किञ्चित्तारकज्ञानमन्त्रं परावागात्मकं वेदतत्त्वमिति वर्णयन्ति । तत्र यद्यप्य-पौरुषेयमन्त्रब्राह्मणात्मकः शब्दराशिरेव वेद, अविच्छिन्नपारम्पर्य्येण तदभ्यासजन्यसंस्कारसध्रीचीनमन.-सहकृतश्रोत्रेन्द्रियमेव तदापरोक्ष्योपाय, तदर्थज्ञानानुष्ठानसापेक्षस्य तदपरोक्षज्ञानस्य चतुर्वर्गप्राप्तिरेव फलमिति प्रसिद्धमेवोत्तरम्, तथापि तेषा प्रसिद्धवेदविलक्षणमेव किमपि प्रतिपिपित्सित प्रतिपिपादयिषितञ्च । अत एवोक्त निखिलमिद वाङ्मय कण्ठे धारयत्तोऽपि वेदार्थमर्मग्रहणे तादृशमेवासामर्थ्यं यादृशं छायासु वस्तुत्वमारोपयतां छायाभ्यो वस्तुतत्त्वनिरूपणपराणा वस्तुस्वरूपविषये परिदृश्यते । प्रतिबिम्बित-फलेभ्यो यथा वास्तविकफलास्वादनजा तृप्ति क्षुन्निवृत्तिश्च न संभवति तथा वैखरीवागात्मकेभ्य ऋगादि-मन्त्रेभ्यो वेदत्वेन लोकप्रसिद्धेभ्योऽपि साक्षादेव दैवीवाक्संराधनजममृतत्वं सर्वज्ञत्वादिकञ्च नोपलभ्यते, परं नैतत् समीचीनमनुक्तोपालम्भात् । नहि कण्ठे धारणमात्रादमृतत्वसर्वज्ञत्वादिकं कुत्रचिच्छ्रुतम् वेदार्थ-ग्रहणानुष्ठानसापेक्षस्यैव कण्ठे धृतस्य वेदस्यैवामृतत्वादितत्पुरुषार्थहेतुत्वावधारणात् ।

यत्तु अध्ययनमात्रेण घृतकुल्यादिफलश्रवणमश्वमेधाध्ययनमात्रेण तत्फलप्राप्तिश्रवणं च, तत्तु धर्मज्ञानानुष्ठानाश्वमेधोपासनफलपरमिति सायणीयऋग्वेदीयोपोद्घातभाष्ये स्पष्टमेव ।

यदप्युक्तम्—एकस्मादेव शब्दात् सम्यग् ज्ञातात् सुप्रयुक्तात् स्वर्गे लोके च सर्वकामप्राप्तिरवश्यं भवति । परमद्यत्वे च शब्दसहस्रेभ्योऽसकृदावृत्तेभ्योऽपि तादृशं फलं नोपलभ्यते । तेन कस्यापि शब्दस्य

सम्यग् ज्ञानं विहितप्रयोगश्च नाभूदित्येव मन्तव्यमिति, तदपि न वैदकविशेषणाभावात्। संकेतितश्रुत्या शब्दमात्रस्य सुज्ञातस्य सुप्रयुक्तस्य कामदोग्धृत्वमुच्यते, न वैदिकशब्दविशेषस्यैव, न च शब्दमात्रस्य कामपूरकत्व प्रसिद्धम्। तेन नानथा तत्तदपेक्षितानपेक्षस्य सुप्रयुक्तशब्दमात्रस्य पूरकत्वमुक्तम्। तथात्वे तदर्थानुष्ठानस्य वैयर्थ्यापत्तेः। किन्तु यदर्थं शब्दः प्रयुज्यते तदर्थपूर्तिरेव सम्यग् ज्ञातेन शास्त्रान्वितेन सुप्रयुक्तेन शब्देन जायते। लोकेऽपि न्यायालयादिषु न्यायवादिभिर्यथायोग्यावसरविशिष्टसूपन्यासविशेषप्रयुक्तै. शब्दैः कार्यसिद्धिर्जायते। शब्दतदुच्चारणतज्ज्ञानादिवैशिष्टचेन फलवैशिष्टचमुक्त वाल्मीकीये रामायणे:—

'अविस्तरमसंदिग्धमविलम्बितमव्यथम्।
उरःस्थं कण्ठगं वाक्यं वर्त्तते मध्यमस्वरम्॥
संस्कारक्रमसम्पन्नामद्भुतामविलम्बिताम्।
उच्चारयति कल्याणीं वाचं हृदयहर्षिणीम्॥
अनया चित्रया वाचा त्रिस्थानव्यञ्जनस्थया।
कस्य नाराध्यते चेत उद्यतासेररेरपि॥'

(कि० का० सर्ग ३, ३१–३३)

यत्तु परावाग्रूपस्य प्रणवात्मकस्य शब्दब्रह्मण एव वेदत्वमिति तदपि न तस्याव्यवहार्य्यत्वेन धर्मादिज्ञानजनकत्वासंभवापातात्।

गुरुशुश्रूषणादिभिः सस्कारैरध्ययनाध्यापनादिभिराशीर्भिश्च प्रसिद्धवेदानामेवायातयामत्वं तेजस्वित्वञ्च काम्यते। 'छन्दास्ययातयामानि' 'तेजस्विनावधीतमस्तु' इत्यादिवचनेभ्यः।

यदप्युक्तम्—'उतत्वः पश्यन्न ददर्श वाचमि'ति श्रुतिरेव वेदलक्षणाया वाचो दुर्ज्ञेयता वक्ति। तेन श्रोत्रादिना वेदस्वरूपस्य साक्षात्कारो न सम्भवतीति किन्तु वाग्रूपा चिच्छक्तिरेव प्रसन्ना सती स्वरूपमुन्मीलयति' इति तन्न, तस्याः प्रसिद्धवेदविलक्षणस्वरूपाद् विलक्षणवेदप्रतिपादने तात्पर्य्याभावात्। प्रसिद्धाना वेदानामधिष्ठात्र्येव चिद्रूपा सती सरस्वती। तस्याः प्रसादस्य वेदार्थहेतुत्वेऽपि न प्रसिद्धवेदानामवेदत्वम्। केवलाया चिद्रूपायामृगादिप्रभेदासभवात् उक्तश्रुतेर्यास्केनान्यथा व्याख्याातत्वाच्च। तथा हि अप्येकः पश्यन्न पश्यति वाचमपि शृण्वन्न शृणोत्येनामित्यविद्वासमाहार्थम्। अर्थात् योऽर्थं न वेत्ति सम्प्रति पूर्वार्द्धेन मन्त्रो ब्रूते। एक पुरुष पाठमात्रपर्य्यवसितो वेदरूपा वाच पश्यन्नपि न सम्यक् पश्यति। एकवचनबहुवचनादिविवेकाभावे पाठशुद्धेरपि कर्त्तुमशक्यत्वात्।

अन्योऽर्थज्ञानाय व्याकरणाद्यङ्गानि शृण्वन्नपि मीमांसाराहित्यादेनां वेदरूपां वाचं सम्यङ् न शृणोति। 'यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयादि'त्यत्र व्याकरणमात्रेण प्रतिग्रहीतुरिष्टिः प्रतीयते। मीमांसायां तूपक्रमन्यायेन 'प्रजापतिर्वरुणायाश्वमनयदि'त्युपक्रमानुरोधेन दातुरेवेष्टिरिति निर्णीयते। यो व्याकरणाद्यङ्गैः स्वशब्दार्थमीमांसया च तात्पर्यं शोधयितु प्रवृत्तस्तस्मै वेदलक्षणा वाक् स्वकीयां तनुं विसस्रे वेदार्थं प्रकाशयति, यथा 'जायापत्ये उशती कामयमाना सुवासा'स्तद्वदित्यर्थ.। यथा पुरुषः उशती सुवासिनी साकल्येनादरयुक्तः पश्यति तयोक्तमर्थं हितबुद्धचा शृणोति तथायं चतुर्दशविद्यास्थानपरिशीलनोपेतः पुरुषो वेदार्थरहस्यं सम्यक् पश्यति। वेदोक्तञ्च धर्मब्रह्मरूपमर्थं हितबुद्धचा स्वीकरोति। सेयमर्थज्ञप्रशंसा। तदर्थवैशद्याय 'उनत्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु अधेन्वा चरित माययैषा इवाशुश्रुवां अफलामपुष्पा'—मित्यन्योऽपि मन्त्रो यास्केनोद्धृतः।

यदप्युक्तम्—'वर्णसमुदाये वेदवादिनो निन्दन्ती श्रुतिराह 'ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन्देवा अधिविश्वे निषेदु यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इ तद्विदुस्त इमे समासते' ऋ० स० १।१६४। शब्द-रूप ब्रह्मैव वेदस्वरूपमिति सिद्धान्त' तदप्यसङ्गतम्, प्रकृतमन्त्रेण तथात्वानवबोधनात्। मन्त्रार्थस्तु ऋच. ऋग्वेदोपलक्षिता. ऋग्यजु सामाथर्वाङ्गिरसात्मका सर्वे वेदा परमे व्योमन् अपरिच्छिन्नाकाश-रूपेऽक्षरे व्यापकेऽविनश्वरे परमात्मन्येव पर्य्यवसिता, 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य.' इति श्रुतिस्मृतिभ्याम् यस्मिन्नधिविश्वे देवानिषेदु तस्मिन्नेव वेदाना पर्य्यवसानम्। यस्तद्वेदतात्पर्य-विषयीभूत ब्रह्म न वेद स किमृचा ऋग्वेदादिभि. किं करिष्यति। तद्विज्ञानेनैव वेदाध्ययनस्य फलवत्त्वात्। अर्थज्ञानहीनवेदाध्ययन तु व्रात्यत्वापनोदनफलकमेव भवति। ऋच. ब्रह्माधिकरणिका: प्रसिद्धवेद-विलक्षणा: इति व्याख्यानन्त्वपार्थकमेव। सर्वेषामेव शब्दाना शब्दब्रह्मकारणकत्वेन शब्दब्रह्मरूपत्वा-विशेषात्। किमृचा करिष्यतीत्यस्य ऋक्शब्दस्यासगत्यापत्तेश्च।

यद्वा ऋच सम्बन्धिन्यक्षरे क्षरणरहिते नित्ये परमे उत्कृष्टे व्योमन् व्योमसदृशे अलेपत्वनीरूपत्व-व्यापित्वादिभि विशेषेण सर्वस्य रक्षके विपूर्वस्यावतेर्धातोरर्थानुगमाद्वा स्वाध्यस्तस्य सर्वस्य रक्षकत्वात्, सत्तास्फूर्तिप्रदत्वेन सर्वत्र व्याप्ते ब्रह्मणि प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावेन स्थितत्वाद्वेदानाम्, यस्मिन् विश्वेदेवा अधिनिषेदु· आश्रित्य तिष्ठन्ति य इत्, य एव तत्तत्व विदु. जानन्ति, त इमे ज्ञातार. समासते। अपुनरा-वृत्त्या स्वरूपेऽवस्थान समासनम्। अथवा ऋगाद्यात्मकस्यादित्यमण्डलस्य सम्बन्धिन्यक्षरे हिरण्मये पुरुषे सर्वे देवा निषीदन्ति यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति। अथवा ऋग्वेदादिसम्बन्धिनि–अक्षरे प्रणवे अविनश्वरे देवा अधिनिषेदु.—निरुक्ते तु अर्चनीयो जीव ऋक्, तस्य सम्बन्धिन्यक्षरेऽविनाशिन्यक्षरे परमात्मनि जीवापेक्षया परमे उत्कृष्टे निरुपाधिके व्योमन् विशेषेण सर्वाधिष्ठानत्वेन रक्षके व्योमसदृशे वा यस्मिन् देवा गमनवन्तो व्यवहारवन्तो वेन्द्रियसज्ञका देवा विश्वेदेवा आश्रित्य वर्धन्ते, यस्तन्न वेद उपाध्यशयोस्त्यागेन तदेव स्वरूपमिति न पश्यति स किमृचा केवलेन जीवेन जीवभावेन कि फल प्रपश्यति। शब्दब्रह्मकारणकत्वेन वेदाना माहात्म्यातिशयस्तु न वक्तु शक्यते। कुरानादिशब्दानामपि शब्दब्रह्मकारणकत्वावैशेष्यात्। दिव्यशब्दाना लौकिकशब्दापेक्षया वैलक्षण्यस्य तत्तददृष्टजनकत्वेन विलक्षणकार्यकरत्वेन च मन्तव्यम्। तदपेक्षयाऽप्यपौरुषेयवेदशब्दाना माहात्म्यातिशयस्तूक्त एव।

यदुक्त 'माया भूमिगतैरिन्द्रियै परव्योमगताना मन्त्राणा सम्बन्धो न सभवदुक्तिक., ग्राह्य-ग्राहकभावस्य साजात्यनिबन्धनत्वादिति, तदपि न; संस्कृतसात्त्विकान्त करणवृत्तौ परब्रह्मणोऽभिव्यक्तिरिव सस्कृतैरिन्द्रियैर्मन्त्राणा ग्रहणधारणोच्चारणादिसम्भवात्। तेन प्रसिद्धा वेदा एव भगवन्नि·श्वसित-त्वान्नित्यत्वादपौरुषेयत्वाद्दिव्या। यद्यप्यानुपूर्वीविशिष्टा वर्णा एव पदानि वाक्यानि च भवन्ति, आनुपूर्वी पौर्वापर्य्यरूपा नित्येषु विभुषु वर्णेषु न सम्भवत्येव। नित्याना विभूना तेषा देशत: कालतश्च पौर्वापर्य्या-योगात्, तथाप्यनित्याना वर्णाभिव्यक्तीना कालत. पौर्वापर्यसम्पत्तौ सम्भवति सा। वर्णनित्यत्वेन वेदानां नित्यत्वे त्वस्मदादिवाक्यानामपि नित्यत्वं प्रसज्येत। पौर्वापर्य्यदृष्ट्या तु वेदानामप्यनित्यत्वमेव। आनुपूर्वी च तत्तदुच्चारयितृभेदाद्भिन्नैव भवति तथापि प्रतिपुरुष प्रतिकल्पञ्च नियतानुपूर्वीकत्वेन वेदाना नित्यत्व वक्तु शक्यते। तेनैव चान्यवाक्यापेक्षया वेदस्य वैशिष्ट्य दिव्यत्वञ्च। तैरेव पुरुष: सस्क्रियते। सस्कृतैश्च पुरुषैस्तेऽधीयन्तेऽभ्यस्यन्ते च। तदभ्यासतारतम्यापेक्षया पुरुषेषु दिव्यतातारतम्य-मभिव्यज्यते। तदभ्यासक्रमेणैव शब्दब्रह्मरूपाया. परस्या वाचोऽप्यधिगति स्यादन्यथा तस्या अधिगन्तु-मशक्यत्वात्।

शब्दब्रह्मरूपाया. उपसहृतक्रमाया अव्यवहार्याया. परस्या वाचो धर्मब्रह्मज्ञानहेतुत्वमपि नोपपद्यते।

अक्रमायां सविदि मुख्यया वृत्त्या वेदत्वासभवात् । नियतक्रमवता विशिष्टवर्णानामेव वेदत्वात् महाप्रलयेऽपि परमेश्वरबुद्धौ शक्त्यात्मना क्रमविशिष्टा एव ते तिष्ठन्ति । अगृह्यमाणप्रविभागवत्त्वेनाप्रविभक्तत्वव्यपदेश, नत्वविद्यमानप्रविभागवत्त्वेन, साङ्कर्यापत्ते. ।

यदुक्तं—शास्त्राण्युपदेष्टुर्वचनञ्चानपेक्ष्यैव विवृतस्वरूपाया वाग्देव्या. प्रसादेन सशयविपर्ययादिगन्धशून्य धर्मब्रह्मतत्त्वज्ञान भवति, तदपि न, मानाधीना मेयसिद्धिरिति नियमेन वाग्देवताया. प्रसादेनापि प्रमाणभूतैरपौरुषेयैर्वैदिकै सोपकरणै. शब्दैरेव धर्मादितत्त्वज्ञानस्याभ्युपेयत्वात् । 'त त्वौपनिषदं पुरुष पृच्छामि' 'नावेदविन्मनुते त बृहन्तम्' 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म.' 'शास्त्रयोनित्वात्' इति श्रुतिसूत्रानुरोधात् । अन्यथा का वाग्देवी, किञ्च तत्स्वरूपविवरणम्, कथञ्च तेन धर्मादितत्त्वज्ञानमित्यादि पर्य्यनुयोगा दुसमाधेया एव । बुद्धे. शुद्धये रागादिचाञ्चल्यनिवृत्तये सशयादिराहित्येन वेदार्थप्रकाशायैव देवताराधनादिकमुपेयते । यथा चक्षुषैव रूपमुपलभ्यते नान्येन, तथैव वैदिकैश्चोदनादिभिरेव धर्मादिकमुपलभ्यते नान्येनेति नियमस्य जागरूकत्वात् । अन्यथा यीशू-मुहम्मदादीना जैनबौद्धादीना तादृशो वाग्देव्याः प्रसादो न जात इत्यत्र शपथमन्तरा किं मानम् । प्रतिभाया परस्या वाच एव वेदत्वे वेदानामाग्रहो व्यर्थं एव स्यात् । कुरानबाइबिलादिपौरुषेयग्रन्थानामपि तद्रूपत्वसभवात् । अत एव प्रसिद्धप्रमाणसंवादमन्तरा प्रतिभाया ऋतम्भराया वा तथात्वमपि न सिद्ध्यति । तद्वतामपि साख्ययोगादीना वैमत्योपलम्भात् ।

यदुक्त 'साक्षात्कृतधर्मभिर्विल्मभूतवेदादिग्रन्थविधान' मिति तदपि न, 'ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्यनार्षत्' पूर्वे-पूर्वेभ्यो वच एतदूचु' 'वाचा विरूपनित्यया' इत्यादि श्रुतिविरोधात् । स्वयम्भु नित्य मन्त्रब्राह्मणात्मक ब्रह्म तपस्यमानेभ्यः मुनिभ्य आविर्भूतमिति । तेन विद्यमानस्यैव दर्शनादृषित्व निरुक्तादौ-प्रसिद्धम् । धर्मसाक्षात्कारोऽपि सशय-विपर्य्ययादिराहित्येन वेदकरणको धर्मज्ञानमेव, धर्मस्य वेदैकसमधिगम्यपरोक्षस्वभावत्वेन साक्षात्कारासभवात् । 'नहि धर्मस्य दर्शनमस्त्यत्यन्तापूर्वो हि धर्मः' इति हि दुर्गाचार्य । एतेन वेद एव सर्वज्ञानप्रसूति. आम्नायविधातॄणा यदतीतादिविषयकमार्षज्ञानमिति शास्त्रेषु प्रसिद्धम्, सर्ववस्तुभान भूतार्थक तत्प्रातिभमिति प्रशस्तपादाचार्य्या. । 'तस्यानौपदेशिकत्वेऽप्यागमहेतुकत्वमव्याहतमेवे'ति भर्तृहरिपादा. । प्रत्ययमात्रस्यैव शब्दानुविद्धत्वेन शब्दस्य वेदात्मकतया ज्ञानमात्रमेव वेदमूलकमिति परमार्थतो वेदमूलकत्वेनालौकिकप्रत्यक्षस्य लौकिकप्रत्यक्षाद्बलीयस्त्वम् । तस्य विशुद्धत्वेन वेदमूलत्वमेवाभ्रान्तत्वमित्यपि निरस्तम्, पूर्वोक्तश्रुतितर्कविरोधात् । बौद्धार्हतादिभिर्वेदस्य सर्वज्ञानप्रसवहेतुत्वानभ्युपगमाच्च । तेषा तारकज्ञानमप्यन्यादृशमेव । यन्मूलकास्तेषामागमाः । वैदिकैस्तु नाम्नायविधातृत्वमृषीणामुपेयते, किन्तु तद्द्रष्टृत्वमेव । तत्रापि सम्प्रदायान्तरसवादापेक्षेति वक्ष्यते । प्रातिभज्ञानेष्वपि सवादापेक्षा अन्यथा तद्वता वैमत्यानापत्तेः । नैयायिकै. सर्वज्ञानाना शब्दानुवेधोऽपि नोपेयते । निर्विकल्पप्रत्ययाना तदसभवात् कथञ्चित्केषाञ्चिद्रीत्या तदभ्युपगमेऽपि न शब्दानुवेधमात्रेण ज्ञानमात्रस्यागमिकत्व युक्तम् । जन्यवस्तुषु पौर्वापर्यं विना पौर्वापर्य्याविनाभूतहेतुहेतुमद्भावासिद्धे । अत एव प्रत्यक्षादिज्ञानस्येन्द्रियादिमूलकत्व प्रसिद्ध न शब्दमूलकत्वम् नतरां वेदमूलकत्वम् । तथात्वे बौद्धादिभिरपि वेदप्रामाण्यस्याभ्युपेयत्वापातात् । प्रत्यक्षस्यापि वेदमूलकत्वे कथं तत्राशुद्धिकल्पनापि । तथा च कुतो बलाबलसंशीतिरपि ।

यदप्युक्तं ऋषित्वमनापन्नस्य तपसो वा वेदस्य प्रत्यक्ष न संभवति, न ह्येषु प्रत्यक्षमस्ति अनृषेरतपसो वा इति निरूक्तोक्ते तदपि न; तत्र वेदार्थप्रत्यक्षस्यैव निषेधात् । वेदार्थप्रत्यक्षत्वमपि सशयादिरहितनिश्चयाभिप्रायेणैव द्रष्टव्यम् । बहु चात्र वक्तव्यं विस्तरभिया नेह प्रतन्यते । अर्थतथात्वं प्रामाण्यं तस्य परतस्त्वेऽनवस्थानात्स्वतस्त्वमेव । अर्थान्यथात्वन्त्वप्रामाण्यम् । तस्य बाधदोषज्ञानादिसापेक्षत्वेन परतस्त्वम् ।

ज्ञानस्य स्वविषयतथात्वावबोधने स्वत. शक्तिर्न भवेत्तदा नान्येनापि तत्सभव । तथात्वे च कस्यचिदर्थस्यावधारणासभवेन जगदान्ध्यप्रसङ्गः । यदप्युक्त गुणावधारणात्प्रामाण्यावधारणम्, तन्न, तस्याप्यन्यायत्तत्वात् तदनुपलम्भाच । न च वैमल्यमेव गुण, तस्य दोषाभावरूपत्वात्, तस्य चापौरुषेये वेदेऽपि सभवाच्च, स्वकारणनिमित्तमेव ज्ञानस्य यथार्थत्व तद्दोषनिमित्तञ्च तदयथार्थत्वम् । तत एव पीतशङ्खादिज्ञानस्य स्वकारणत शङ्खांशे सत्यविषयत्वं तद्दोषतश्च रूपांशेऽसत्यविषयत्वम् । यथा घटो मृच्चक्रादिक कारण स्वरूपावाप्त्या एवापेक्षते नोदकाहरणादौ, तथैव ज्ञानमपि स्वोद्भूत्यै एव गुणवन्तमितर वा हेतुमपेक्षते । न स्वकार्यविषयतथात्वावधारणे । यद्युत्पन्नमपि ज्ञान स्वविषयतथात्वनिर्धारणाय गुणावधारणमपेक्षेत तदा तस्यापि प्रमाणान्तरापेक्षापात. । गुणावधारणस्य प्रामाण्येऽनिर्धारिते सदिग्धप्रामाण्यस्य तस्यासत्समत्वात् । तत्प्रामाण्यनिर्धारकस्य ज्ञानस्याप्येवं स्वप्रामाण्याय प्रमाणान्तरापेक्षेत्यनवस्था च स्यात् । ज्ञायमानानामेव दोषाणा प्रामाण्यविघातकत्वेन तदज्ञानादेव प्रामाण्यापवादकस्य मिथ्यात्वस्य निवृत्त्या तदर्थं दोषाभावस्यानपेक्षणात् । तदज्ञानस्य चायत्नसिद्धत्वादनपेक्षमेव प्रामाण्यम् ।

तदुक्त भट्टपादै—'स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गृह्यताम् ।' कारणदोषे बाधे चावगते तदप्रामाण्य, तदप्युक्तम् । 'अर्थान्यथात्वहेतूत्थदोषज्ञानादपोद्यते' । आप्तवाक्येऽप्रामाण्यसशये कारणगुणादिना तदपनोद्य स्वत सिद्धं प्रामाण्य व्यवस्थापनीयम् । न चासत्यपि सशये तत्र बाधदोषौ कल्पनीयौ तथात्वे व्यवहारबाधप्रसङ्गात् । तदुक्तम्—

'उत्प्रेक्षेत हि यो मोहादजातमपि बाधनम् ।
स सर्वव्यवहारेषु सशयात्मा क्षय व्रजेत् ॥'

अपौरुषेयत्वेन नित्यनिर्दोषस्यासदिग्धाविपर्यस्ताबाधितज्ञानजनकस्य वेदस्याप्रामाण्यशङ्कायाः नास्त्यवकाशः । दोषसंशयात्प्रामाण्यसशय, दोषनिश्चयाच्चाप्रामाण्यनिश्चयः । यथा चक्षुरादीनां प्रमाजनकत्व स्वाभाविकम् तथैव शब्दस्यापि स्वाभाविकमेव तत् । अत एव 'स्वर्गकामो यजेत' इति वेदवाक्येन विहितपदतदर्थशाब्दन्यायसतत्त्वस्य यागात् स्वर्गो भवतीत्यसदिग्धमेव गम्यते । भवति स्वर्गो न वा ?, न भवत्येवेति संशयविपर्ययादिकमनेन न भवत्येव । तदुक्तं शबरस्वमिना—'यो हि जनित्वा प्रध्वसते नैतदेवमिति स मिथ्या प्रत्ययः । न चैष कालान्तरे पुरुषान्तरेऽवस्थान्तरे देशान्तरे वा विपर्येति ।' यदुक्तम् 'वेदार्थो दुर्बोध. लोके प्रमाणान्तरपरिच्छेद्यत्वाद्वाक्यार्थस्य तदवगमोपायत्व शब्दानां योजयितुं शक्यते । वेदार्थस्त्वतीन्द्रिय', न च रागादिमता तद्दर्शनकौशलमस्ति । अत एव तद्दर्शिनां वृद्धव्यवहारादिना व्युत्पत्तिरपि न सम्भवति । न च वेदे 'वृद्धिरादैजि'ति पाणिनिरिव हस्त, कर', पाणिरिति, अभिधानमालाकार इव एषोऽस्य मामकस्य शब्दस्यार्थ इत्युपदेशोऽस्ति । तदुक्त धर्मकीर्तिना—'स्वय रागादिमानार्थं वेत्ति चेत्तस्य नान्यत. । न वेदयति वेदोऽपि वेदार्थस्य कुतो गति ?' यदि निगम-निरुक्त-व्याकरणवशेन तदर्थकल्पना क्रियते तर्हि नानामतित्वादुपदेश्यानामनेकार्थत्वाच्च नाम्नामुपसर्गनिपातानाञ्च न नियतः कश्चनार्थः, अन्यथा तत्कल्पनासम्भवाच्च, तदप्युक्त तेनैव 'ते नाग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम' इति श्रुतौ । खादेच्छ्वमासमित्येष नार्थं इत्यत्र का प्रमा ।' इति, तदपि तुच्छम्, य एव लौकिकाः शब्दास्तदर्थाश्च त एव वैदिकाः शब्दास्तदर्थाश्चेति सिद्धान्तानभिज्ञानात् । तथाहि नाभिनवाः केचन वैदिकाः शब्दा, वाक्यरचनामात्रं तु वेदे भिद्यते । वेदश्च तदर्थाश्च तदवगमश्च तदुपायश्च तदनुष्ठानञ्च नाद्यत्वे प्रवृत्तानि किन्तु मीमासकाना मते तान्यनादीनि, नैयायिकादीना मते तु सर्गात्प्रभृति प्रवृत्तानि, कस्तेष्वद्य पर्यनुयोगावसरः ? तेन पूर्वोक्तपारम्पर्यसहकृतेषु निरुक्त-व्याकरण-मीमासादिशास्त्रेषु सत्सु कुतो वेदार्थावगमे विप्रतिपत्तिरपि ।

रागादिमानपि 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम.' इति वाक्यादग्निहोत्राख्यं कर्म स्वर्गसाधनमिति-जानात्येव । द्वेषादपि नान्यथार्थं प्रत्येतु कश्चनापि शक्नोति । धर्मकीर्तिना तु 'खादेछ्वमास' मित्याद्यपभाषणेन वेदनिन्दैव कृता । तत्पातकेनैव,चीनादिदेशीयेषु बौद्धेषु श्वमासाशित्व जातमिति । तस्मात् "शक्तिग्रहादिभिस्तैस्तैर्बोधोपायैः सुनिश्चितै. । लोके यथा तथा वेदे शब्दार्थावगति सदा ।। रागादिमानपि प्राज्ञः शब्दार्थं वेद निश्चितम् । द्वेषादपि विरुद्धार्थ न कर्तुं प्रभवेत्ततः ।। पारम्पर्यसमायातमर्थं त्यक्त्वा प्रमादत. । वेदनिन्दा कृता तेन बौद्धास्ते कुक्कुरादिनः ।। पारम्पर्यसमुच्छित्त्या ह्यन्यथार्थप्रसाधनम् । यदीष्ट प्रभवेत्तेषा बुद्धमन्त्रोऽपि गालिदः ।।'

यदपि च 'यदि रागादिराहित्येन जैमिन्यादीना वेदार्थज्ञता तदा बुद्धादीना रागादिराहित्येन सर्वज्ञता किं न स्यात् ? यदि बुद्धादिषु रागादिराहित्य न सम्भवति तदा जैमिन्यादिषु तत्कथ सम्भाव्येत ?' तदपि न, रागादिसत्त्वेऽपि वेदार्थज्ञत्वसम्भवात् । नहि रागादयः कम्बलादिवदावरका विज्ञानस्य, किन्तु तदाक्षिप्तमना विविधविषयतृष्णापरिप्लुतो न शक्नोति भावयितुमिति भावनादस्मात्र एव रागादिविरहोपयोगः । वेदार्थज्ञानस्य वेदप्रमाणमूलत्वेन सम्भवेऽपि सर्वज्ञानस्य प्रमाणाभावान्न सम्भवः । शब्दार्थज्ञानाय शब्द एवापेक्षितो न भावनादि, अन्यथा भावनाविधिज्ञानामपि भावनापेक्षायामन्योन्याश्रयादयो दोषा अपरिहार्या एव स्यु॰ । तेन रागादिमतोऽतीन्द्रियेऽर्थे प्रत्यक्षासम्भवेपि वाक्यार्थज्ञाने बाधासम्भवात् ।

ननु तर्हि बुद्धादिवाक्यस्यापि प्रमाजनकत्वस्वाभाव्याद् भवतु प्रामाण्यमिति चेन्न । तस्य पुरुषबुद्धिप्रभवत्वेन पुरुषाश्रितभ्रमविप्रलम्भादिदोषसद्भावसम्भवेन अलौकिकेऽर्थेऽप्रामाण्यात् । आप्तवचनस्य सम्भवत्प्रमाणमूलकस्य प्रामाण्येऽपि अतथाभूतस्याप्रामाण्यनिश्चयात् ।

नन्वेव सम्यङ्मूलसापेक्षत्वेन प्रामाण्यस्य गुणापेक्षत्वमेवेति न प्रामाण्यस्वतस्त्वसिद्धिरितिचेन्न, अपवादभूताप्रामाण्यनिवृत्त्यर्थमेव गुणद्वारा दोषाभाववर्णनात् । अनाप्तेऽनृतवादिनि शक्येऽर्थे यद्यपि प्रमातृत्वशक्तिर्भवति तथाप्यनाश्वासात् तत्राप्रामाण्यबुद्धिर्भवति । एव सत्यवादिन्यपि अशक्येऽर्थे प्रमातुं शक्तिर्नास्तीति हेतोरप्रामाण्यम् । अप्रामाण्यञ्चात्र मूलदोषादेव । न ह्यतीन्द्रियेऽर्थेऽपौरुषेयवैदिकवाक्यमन्तरेणावगतिः सम्भवति । तथा च 'स्वर्गकामश्चैत्य वन्देत', 'सर्व शून्यम्' इत्यादीनि बौद्धवाक्यान्यसम्भवन्मूलकत्वेनाप्रमाणान्येव । यच्चोपदेष्टृत्वेन मन्वादिवत् वक्तव्यार्थज्ञानवत्त्व बुद्धादिष्वपि कल्पनीयमित्युक्तम् । तन्न; बालोन्मत्तादीनामपि तद्दर्शनेन व्यामोहमूलकत्वेनाप्युपदेष्टृत्वसम्भवेन बुद्धोक्तेः प्रामाण्यायोगात् । मन्वादीनां वेदमनुसृत्यातीन्द्रियार्थोपदेष्टृत्वसम्भवेऽपि वेदमपलपतो बुद्धादेस्तदसम्भवात् ।

यत्तु बुद्धादेः सर्वज्ञत्वेन अतीन्द्रियार्थोपदेष्टृत्वं सम्भवतीत्युक्तम्, तदप्यकिञ्चित्करम्; षड्भिः प्रमाणैः सर्वज्ञश्चेन्न विरोधः यज्जातीयैः प्रमाणैर्यज्जातीयार्थदर्शनं भवति, तद्भवत्येव । एकेन तु प्रमाणेन सर्वज्ञतासमर्थने चक्षुषा रसादिप्रतिपत्तिरपि प्रसज्यते । यत्तु योगजसामर्थ्येन साम्प्रतिकयन्त्रादिसाचिव्येन च सर्वज्ञता समर्थ्यते, तदपि तुच्छम्; सामर्थ्यातिशयस्य स्वविषय एव कार्यातिशयकरत्वेनाविषये तदयोगात् । तदुक्तं भट्टपादैः—

'यत्राप्यतिशयो दृष्टः स स्वार्थानतिलङ्घनात् ।
दूरसूक्ष्मादिदृष्टौ स्यान्न रूपे श्रोत्रवृत्तिता ।।' इति ।।

योगजादिसामर्थ्यैरपि न रूपे श्रोत्रप्रवृत्तिर्भवति, किन्तु व्यवहितविप्रकृष्टदेशस्य शब्दादेः श्रवण सम्भवति, चक्षुषा च दूरस्थसूक्ष्मरूपादिदर्शन सम्पद्यते । अत एवाद्यत्वेऽपि प्रमातृभेदेन सातिशयं प्रत्यक्षमुपलभ्यते । केचिदतिदूरमतिसूक्ष्मञ्च पश्यन्ति । ज्ञानमपि लौकिकं शास्त्रीयञ्च सातिशय दृश्यते ।

एतेन कस्यचिद् बुद्धादेर्ज्ञानमत्यन्तातिशयित सर्वविषयमपि कथ न भवेदित्यपास्तम्। स्वविषये दूरसूक्ष्मादि-दर्शन एव सामर्थ्यातिशय उपयुज्यते, न तदतिलङ्घनेन। न ह्यतिशयितमपि श्रोत्र रूपे प्रवर्तते, नेत्रादयो न शब्दे प्रवर्तन्ते—इति पार्थसारथिमिश्रा.।

यत्तूक्त 'प्रत्यक्षस्य न विषयनियमोऽस्ति, रूपवता घटादीनामरूपवता रूपादीना दूरसूक्ष्माणाञ्च प्रत्यक्षदर्शनादिति बुद्धादे सर्वविषयज्ञानवत्त्व कुतो न स्या'दिति तन्न; प्रत्यक्षस्य वर्तमानविषयत्वनियमात्। ततश्च भविष्यति धर्मे प्रत्यक्षस्य न प्रवृत्तिर्नतरा सर्वविषयेषु। ज्ञानस्याप्यस्ति विषयनियमः। यत्रास्य कारण सम्भवति, तत्रैव प्रवर्तते, नान्यत्र। ज्ञानकारणमिन्द्रियलिङ्गादि, इन्द्रिय वर्तमानविषयमिति तज्जन्यं ज्ञानमपि वर्तमानविषयमेव। न धर्माधर्मेषु नापि सर्वार्थेषु प्रवर्तते। लिङ्गादिरहिततयाऽनुमानमपि न प्रवर्तते। अतो नानुमानादिभिरपि सर्वज्ञत्वसिद्धि।

लोकायतिकैस्तु सर्वज्ञकल्पनावदेव अपौरुषेयत्वकल्पनाऽपि निष्प्रामाणिक्येवोच्यते। तेनैवोच्यते—

'सर्वज्ञो दृश्यते तावन्नेदानीमस्मदादिभि.।
निराकरणवच्छक्त्या न चासीदिति कल्पना॥'

'अतीत. काल. सर्वज्ञशून्य, कालत्वादद्यवत्।' नवाऽऽगमो बुद्धादिसर्वज्ञत्वसिद्धौ प्रमाणम्। सिद्धे सर्वज्ञे तदागमस्य प्रामाण्यम्, तत्प्रामाण्ये च सर्वज्ञत्वसिद्धिरित्यन्योन्याश्रयात्। पुरुषान्तरप्रणीतस्य तु मूलान्तरासम्भवात् न सर्वज्ञसद्भावे प्रामाण्यम्।

यत्तूक्तम्—'नित्यागमगम्य. सर्वज्ञ:' इति। तन्न; तदभावात्। न च 'य. सर्वज्ञः स सर्ववित्' इति नित्यागमोऽस्त्येवेति वाच्यम्; तस्यार्थवादरूपत्वेन तत्र तात्पर्याभावात्। बुद्धादिसर्वज्ञत्वबोधपरत्वेऽनित्यबोधकत्वेनागमस्याप्यनित्यत्वापत्तेः। किञ्च यद्यागमनित्यत्वमिष्यते, तर्हि सर्वज्ञकल्पना व्यर्थैव। येन नित्येनागमेन सर्वज्ञो बोध्यते तेनैव धर्माधर्मबोधो भवतु, किं सर्वज्ञकल्पनया? यतः सर्वज्ञत्वेनाभिमता बुद्धादयो धर्ममेव प्रतिपादयन्ति। कैश्चित्तु इन्द्रियार्थसम्बन्धविषये सर्व क्षणिक सस्कृतमित्यादि सत्यवचनं दृष्ट्वा श्रद्धेयेऽर्थे धर्मे चैत्यवन्दनादिवाक्यमपि तद्वचनात् प्रमाणमूलमित्युच्यते। तदुक्तम्—

'कीटसख्यापरिज्ञान तस्य न क्वोपयुज्यते।
दूर पश्यतु मा वाऽसौ तत्त्वमिष्ट तु पश्यति॥' इति।

तदप्यपेशलम्, क्षणिकादिवाक्यप्रामाण्यस्याद्याप्यसिद्धचा चैत्यवन्दनादिवाक्यस्य सुतरा बाधोपपत्ते.। वस्तुतस्तु चैत्यवन्दनादिबुद्धवाक्यम्, अप्रमाणम्, अलौकिकार्थत्वे सति पुवाक्यत्वात्, उन्मत्तवाक्यवत्।

यत्तूक्त बुद्धेनैव सर्वज्ञोस्मीत्युक्तमिति, तदप्यसत्, बुद्धोऽसर्वज्ञ इत्यन्यैरुक्तत्वात्। वस्तुतस्तु एवमनृतमुद्धतञ्च बुद्धो वदतीति न सम्भाव्येत। यत्तु बुद्ध सर्वज्ञ इत्यस्ति लौकिकानामविच्छिन्ना स्मृतिः, तेन तदानीतनैर्बुद्धस्य सर्वज्ञत्व प्रमितमिति कल्प्यत इति, तदपि तुच्छम्; विप्रलिप्सया बुद्धेनागमः प्रणीत इति पुराणादिस्मृतिविगानात्। सर्वज्ञत्वस्मरणस्य चासम्भवन्मूलत्वात् शिष्टैरपरिग्रहाच्च। न च बुद्धस्य सर्वज्ञत्वे किञ्चित् प्रमाणमस्ति। सर्वविषयज्ञानरहितैरतस्य ज्ञातुमशक्यत्वात्। यदि तु बुद्धस्य सर्वज्ञत्वज्ञानार्थमन्योऽपि सर्वज्ञः कल्प्यते, ततस्तेनैव प्रकारेणान्यान्यसर्वज्ञकल्पनायामनवस्थापातः। तदुक्तम्—

'य एव स्यादसर्वज्ञः स सर्वज्ञ न बुद्धयते।
सर्वज्ञोऽनवबुद्धश्च येनैव स्यान्न त प्रति।
तद्वाक्याना प्रमाणत्व मूलाज्ञानेन वाक्यवत्॥'

किञ्च—रागद्वेषादिरहितो निर्व्यापारः शून्यनिष्ठो बुद्ध आसीदिति बौद्धैरभिप्रेयते। तादृशस्य प्रक्षीणरागद्वेषस्य बुद्धस्य लाभपूजाख्यातिरागनिमित्त स्वयूथ्यस्य निमित्त वा न सम्भवत्यागमप्रणयनम्। निर्व्यापारस्य च तस्य निर्विकल्पेन प्रत्यक्षेण विश्वप्रत्यक्ष. विकल्पमूलिका देशनाऽपि न सम्भवत्येवेति तदन्यप्रणीत एव बौद्धागम।

यत्तु तत्सान्निध्यमात्रतश्चिन्तामणेरिव कुड्यादिभ्योऽपि देशना नि सरन्तीति तत्तु श्रद्धाजडस्यैव शोभते। कुड्यादिनि.सृतासु देशनासु बुद्धप्रणीतत्वानिर्णयेन प्रामाण्यासम्भवात्। विप्रलम्भकै पिशाचादिभिरपि विप्रलम्भार्थं तादृग्देशनाप्रकाशसम्भवात्। यत्तूक्तम्—'स्वभावादेव तत्तदिन्द्रियाद्यनपेक्षमेव पुरुष. सर्वं वेत्ति। देहवृतस्तु इन्द्रियादिद्वारेण किञ्चिदेव जानाति। विगलितदेहस्य तु स्वाभाविकं सार्वज्ञमभिव्यज्यते' इति तदप्यपेशलम्, इन्द्रियाद्यनपेक्षस्य जीवस्य सूक्ष्मातीतादिसर्वविषय ज्ञान भवतीत्यत्र तदागममन्तराऽन्यस्य प्रमाणस्यासत्त्वात्। तदागमस्य प्रमाणत्वे सर्वज्ञत्वसिद्धि। सर्वज्ञत्वसिद्धौ तदागमप्रामाण्यमित्यन्योन्याश्रयः। अपि च विगलितशरीरस्याशरीरस्य ताल्वादिरहितस्य कथमागमप्रणयनम्? सशरीरस्यासर्वज्ञत्वेन तत्प्रणीतागमस्य च कथ प्रामाण्यम्। यदि तादृक् कश्चन मुक्त सर्वज्ञोऽद्यत्वे दृश्येत, ततोऽन्योऽपि सम्भाव्येत। एवमेव प्रजापतेः प्रथममार्षज्ञानेनैव वेदेऽवबुद्धो भवतीत्यपि न विचारसहम्; अनुच्चरितशब्दज्ञानमपि सर्वज्ञज्ञानवत् धर्माधर्मविज्ञानवच्चाकारणमेव, तत्रापि तेन कृतो वा नित्यसिद्ध एव प्राप्तो वेत्यनाश्वासस्यैवाप्रामाण्यकारणत्वसम्भवात्। न च तद्वचनाद्विश्रम्भसम्भव; अद्यवत् तदानीमपि पुरुषाणामनृतवादित्वसम्भवात्।

अयमागमप्रतिभासः स्वप्नादिवत् आकस्मिको निर्निमित्तश्चाप्रमाणञ्च भवतीत्यविश्रम्भ एव। अस्मिन् पक्षे बहून्यदृष्टानि कल्पनीयानि। अनुच्चरितशब्दग्रहणसामर्थ्यवतोऽसाधारणपुरुषस्य कल्पनम्। तथैवागमनित्यता कल्पयित्वा जन्मान्तरानुभवनिबन्धनं तत्स्मरणकल्पन गौरवास्पदम्। कथं हि द्विपरार्धपरिमित प्रलयकालमतीत्य एतावान् ग्रन्थराशिः मात्रयाऽपि अन्यूनानतिरिक्त स्मर्तुं शक्येताऽपि? यदि चैव नित्यागमस्य जन्मान्तरानुभवजन्यस्मरणविषयत्व सम्भवति, तर्हि बुद्धादेर्धर्मविषयस्मृत्यभ्युपगमे को विरोध? यद्यनुच्चरितशब्दग्रहणं सम्भवति, तर्हि धर्माधर्माद्यर्थग्रहणे का बाधा? यत्तूच्यते-शब्दस्यैन्द्रियकत्वे न ग्राह्यत्वाद् ग्राह्यत्वम्, धर्माधर्मादेस्त्वतीन्द्रियत्वाद् अग्राह्यत्वमिति। तन्न, अनुच्चरितशब्दस्यापि अतीन्द्रियत्वात्। अपि च धर्माधर्मादिग्रहणवादिना नये पुमान् स्वतन्त्र एवाभिप्रेतः। अतस्तत्प्रत्ययादर्थनिश्चयो युक्तः। नित्यागमग्रहणवादिना तु प्रजापत्यादिपुरुषा. धर्माधर्मग्रहणेऽपि वेदपरतन्त्रा। स्वरूपसिद्धयेऽपि तत्परतन्त्रा इति न कस्यचित्स्वातन्त्र्यम्। न च पूर्वमीमांसकनयेऽपि पूर्वपूर्वपुरुषाधीनमुत्तरोत्तरपुरुषाणां वेदस्वरूपनिर्द्धारणमिति समानमेव पारतन्त्र्यमिति वाच्यम्, भावानवबोधात्। तथाहि—एकपुरुषाधीनत्वे कृतकत्वाशङ्कया यथावद् दृष्टो विप्लवो वा जात इति सशयात् न स्वातन्त्र्येणागमस्य प्रामाण्य सम्भवति। अनेकपुरुषस्थले तु नैष दोष; जन्मान्तरानुभूतस्य दीर्घकालव्यवहितत्वेन स्मर्तुमशक्यत्वेन कृत्वैव वेदं श्रद्धार्थं स्मृतमुपदिशतीति शङ्कया तत्राविश्रम्भः। एकस्मिन्नेव जन्मनि बहुशोऽनुभूय स्मर्य्यमाणे. तु नायमपि दोष इति न स्वातन्त्र्यहानि.। एकस्य प्रतिभाने तु कृतकत्वाशङ्कया सम्भवत्येव पारतन्त्र्यम्। अत एव सम्प्रदाये बहवः पुमासोऽभिप्रेयन्ते। ततो यथा वेदाना कर्ता कश्चन नास्ति, तथैवैक कश्चन सम्प्रदायप्रवर्तकोऽपि नास्ति; तथात्वे कृतकत्वसशयापत्ते। तत्तदन्यकुरानबाइविलादिग्रन्थानुयायिभिरपि साम्प्रतिकै ग्रन्थकर्तु सम्प्रदायप्रवर्तकत्वमेवोच्यते इति तदवैलक्षण्यमेव वेदस्य स्यात्। बहुषु पुरुषेषु सम्प्रदायस्याद्यवत् पूर्वकालेऽपि विद्यमानत्वेन न शङ्कावकाश.। यथाऽद्यत्वे सर्वे पूर्वपूर्वपुरुषेभ्यो वेदमधीयाना दृश्यन्ते न कर्तार, कालान्तरेऽपि तथात्वाङ्गीकारेण न दृष्टहानिर्न-

वाऽदृष्टकल्पना, कर्त्तुस्तद्दोषाणा चासत्त्वात् स्वाभाविकमेव वेदाना प्रामाण्यम्। तत एवानुमानिक-बाधोऽपि आभाससमानयोगक्षेम एव।

यत्तूपदेशित्वान्यथानुपपत्त्या मन्वादिवत् बुद्धादेरपि ज्ञानवत्त्वोपपत्तिरिति, तदप्यकिञ्चित्करम्; बालोन्मत्तादौ व्यभिचारस्योक्तत्वात्। वेदान् ज्ञात्वोपदेशश्चेत्; सिद्धसाधनमेव, मन्वादेस्तथात्वाभ्यु-पगमात्। बुद्धोपदेशस्य च वेदासिद्धत्वान्न तत्र वेदजन्यज्ञानवत्त्वमप्यभ्युपगन्तु शक्यते। पुरुषवचनादर्थ-निश्चये जातेऽपि प्रत्यक्षादिनिश्चयवत् मूलदोषावगमे बाध्यत एवेति तदप्रामाण्यम्। वेदस्यानपेक्षितत्वेन स्वत एव प्रामाण्यम्। पुरुषस्तु अन्यथा सविदानोऽप्यन्यथा विवक्षति। अतएव पौरुषेयवचनात् तन्मूल-प्रत्ययो नावधारयितु शक्यः।

वाक्यरचनाया ज्ञानापेक्षया विवक्षा प्रत्यासन्ना भवति। भ्रान्तस्य त्वन्यविवक्षायामन्यद्वाक्यं दृश्यते। तथा च यदि वाक्यानुरूपविवक्षाऽपि निश्चेतु न पार्यते तदा वाक्यानुरूपं ज्ञानकल्पन तु दूरापास्तम्। ततो यथाविवक्ष यथाज्ञान वाक्यं प्रवर्तत इति वक्तु न शक्यते, तथाप्याप्तवाक्येषु वक्तृज्ञानपूर्वकत्व निश्चेतु शक्यते। ततोऽन्यत्र भ्रमविप्लवादिसम्भव.। तथा च पौरुषेयवाक्यानां सामान्येन मूलज्ञानावधारणा शक्तिर्भवति, अनाप्तवाक्यानां तदशक्तिश्च। तत एव केषाञ्चित्प्रामाण्यमप्रामाण्यञ्चान्येषाम्।

ननु तर्हि कथ वाचकत्वविरहिताद् वाक्यात् तज्ज्ञानमवगम्यत इति चेन्न। ज्ञानावधारणस्यानु-मानिकत्वेन बाधाभावात्। पदपदार्थरचनाधीना वाक्यार्थप्रत्ययः। उक्तरचना च विवक्षाधीना सा च ज्ञानाधीना। अन्वयव्यतिरेकाभ्यामेतदवगम्यते।

यद्यपि पौरुषेयवाक्यादर्थनिश्चयो भवति, तथापि तत्प्रामाण्यं वक्तृमुखेनैव भवति तत एवाप्तोक्त-कारी—पर्यनुयुक्त. सन् आप्तमेव निर्दिशति। न चैवमर्थमनवबोधयतः शब्दस्य वाचकत्वमेव न स्यात्। न चानवगतबोधकत्वानां लोके वेदे वा बोधकत्व सम्भवति, ततो वेदप्रामाण्यमपि दुर्घटमिति वाच्यम्; वक्तृज्ञानान्तरितत्वेन शब्दानामुदासीनत्वात्। वक्तृज्ञानस्यैव तत्र प्रामाण्यप्रयोजकत्वात्। वाक्यात्पूर्व-मर्थप्रतीतौ सत्यामपि तत्प्रतिष्ठाया वक्तृज्ञानान्तरितत्वात् यावत्तन्नावगत भवेत्, तावदुत्पन्नस्यापि निश्चय-स्यासत्समत्वात् शब्दा उदासीना इव भवन्ति। वक्तृज्ञानेऽवधारिते तु शब्दैः पूर्वसञ्जातमपि अर्थे प्रामाण्यं पुनः प्रतिष्ठाप्यते। वाक्यस्य पुरुषबुद्धिप्रभवत्वेन तद्दोषेण दोषसम्भवात् सशयो जायते। मूल-ज्ञानस्य सम्यक्त्वे तु सशयनिवृत्तौ निश्चय· प्रतिष्ठितो भवति। यद्यपि वक्तृज्ञानमर्थज्ञानगम्यमेवेत्यर्थज्ञानं वक्तृज्ञानात्पूर्वमेव भवति, तथापि तत्प्रामाण्यनिर्णये वक्तृज्ञानस्यैव पूर्वभावत्वम्। एवं पौरुषेयेषु वाक्येषु, पुरुषबुद्धिनिमित्तत्वादप्रामाण्यं युज्यते। वेदे तु वक्तुरभावात् वक्तृबुद्ध्यनपेक्षत्वात् स्वत एव प्रामाण्यम्।

यत्तु 'अनाप्तवचनवत् वचनत्वेन वेदस्याप्यप्रामाण्यं शङ्क्येत' तदपि न क्षोदक्षमम्; लौकिक-वाक्यस्याप्रामाण्यं दोषनिमित्तं न वाक्यत्वहेतुकम्। प्रत्यक्षस्य भूतार्थविषयकत्वेन भाव्यस्य धर्मादेर्न तद्विषयत्व-सम्भवः। इन्द्रियाद्यगम्यभूतभविष्यदाद्यर्थबोधकत्वं शब्दस्यैव सम्भवति तदुक्तम्—

'अत्यन्तासत्यपि ह्यर्थे शब्दो ज्ञानं करोति हि।'

ननु वेदो यदि पौरुषेयस्तर्हि प्रत्यक्षाद्यनवगतधर्मादिबोधकत्वेनासम्भवन्मूलत्वेन बुद्धादिवाक्यव-त्तस्याप्यप्रामाण्यमेव। अपौरुषेयश्चेत् प्रामाण्यहेतुभूताप्तोच्चरितत्वाभावेन सुतरा तस्याप्रामाण्यमिति चेन्न। ज्ञानस्य प्रामाण्यस्वतस्त्वाभ्युपगमेन प्रामाण्यकारणानपेक्षत्वेनापौरुषेयत्वे दोषाभावात्। अप्रा-माण्यं तु कारणाधीनम्। तच्च ज्ञानानुत्पत्ति., उत्पन्नस्य ज्ञानस्य संशयाद्यात्मकता, उत्तरकाले बाधक-

प्रत्ययान्तरोत्पत्तिः, करणे दोषवत्ताज्ञानञ्च। प्रकृते वेदस्य कर्तृस्मरणाभावादियुक्तिभिरपौरुषेयत्वसिद्धया न कारणदोषज्ञानं शक्यशङ्कम्; 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम.' इत्यादिवाक्यैरग्निहोत्रहोमात् स्वर्गो भवति इति ज्ञानमुत्पद्यत एव। न चैभिः संशयाद्यात्मकज्ञानमुत्पद्यते। अग्निहोत्रहोमात् स्वर्गो न भवतीति बाधकज्ञानमपि कस्यापि न भवत्यैव। अग्निहोत्रहोमात् स्वर्गो न भवतीति न वा केनापि प्रमातु शक्यते। येन प्रमाणेन लौकिकसाध्यसाधनभावो ज्ञायते, तेनैव तदभावोऽपि। नहि चक्षुरन्तरा रूपाभावो ज्ञायते। तथा चाप्रामाण्य कारणत्वेन सम्भावितेष्विह कस्यापि अनुपलम्भादप्रामाण्यशङ्काया दूरापास्तत्वात् स्वत सिद्धप्रामाण्यमनपोहितमेव स्थित भवति।

ननु यथा चक्षुषो रूपोपलम्भहेतुत्व रूपोपलम्भेन कार्येण सिद्धयति, एवं मनुबुद्धादिषूपदेशित्व-रूपकार्येण वेदमन्तरापि धर्माधर्मज्ञानवत्त्वसिद्धिरिति चेन्न। वैदुष्योपदेशित्वयो. व्याप्त्यसिद्धे.। यत्तु सामान्यतो दृष्ट वितथमुपलभ्य वाक्यत्वसाम्येन वेदस्यापि वैतथ्य शङ्क्यते, तदज्ञानविजृम्भितम्; वाक्य-त्वस्याप्रामाण्याप्रयोजकत्वात्। पौरुषेयवाक्यस्य तु पुरुषाश्रितदोषादिभिरेवाप्रामाण्यम्, न वाक्यत्व-प्रयुक्तम्। वेदे तु संशयविपर्ययजनकत्वात् बोधकत्वात् बाधकाभावाच्चानधिगतासदिग्धाबाधितार्थ-विषयज्ञानजनकत्वदर्शनेन अप्रामाण्यकारणाभावात् स्वाभाविकं प्रामाण्यमेव।

ननु 'वेदाः पौरुषेया वाक्यकदम्बरूपत्वात्' महाभारतादिवत्' इत्याद्यनुमानैर्वेदाना पौरुषेयत्वमे-वेति चेन्न। स्मर्यमाणकर्तृकत्वस्योपाधित्वात्। पौरुषेयमहाभारतादिवाक्यं स्मर्यमाणकर्तृकमेव। न च तथा वेदे तत्साधयितुं शक्यते।

नन्ववश्यं वाक्यानि केनचित्प्रणीतानि, तथैव शब्दानामर्थैः सम्बन्धोऽपि सकर्तृक एवाभ्युपेय इति चेन्न। कर्तुरनुपलम्भात्। यदि स्यात्कर्त्ता प्रत्यक्षादिप्रमाणैरुपलभ्येत। यद्दर्शनयोग्यमुपलम्भसामग्रीसत्त्वे-ऽपि नोपलभ्यते, तन्नास्त्येवेति मन्तव्यम्; यथा शशशृङ्गादिकम्। न च चिरवृत्तत्वात्कर्ता नोपलभ्यते, नासत्त्वादिति वाच्यम्. तथात्वेऽपि तत्स्मरणस्यावश्यकत्वात्। नहि चिरवृत्तोऽपि न स्मर्यते। तथा च वेदकर्तुः स्मरणाभावात् नास्त्येव कश्चिद्वेदकर्त्तेति प्रतीयते।

न तु क्वचिदरण्यादिप्रदेशेषु कूपारामादीना मुक्तकश्लोकानाञ्च सन्तोऽपि कर्त्तारो न स्मर्यन्ते, तथेहापि कर्त्रस्मरणमुपपन्नमिति, तदसारम्, देशोत्सादकुलोत्सादसम्प्रदायविच्छेदादिभि. पूर्वोक्तकर्तॄणाम-स्मरणोपपत्तावप्यध्ययनाध्यापनतदर्थानुष्ठानशब्दार्थव्यवहारपारम्पर्यस्याविच्छेदेऽपि कर्तृविस्मरणानुपपत्तेः। अत एव प्रयोग.—'वेदाः अपौरुषेयाः, सम्प्रदायाविच्छेदे सत्यस्मर्यमाणकर्तृकत्वादात्मवत्, व्यतिरेके भारतवत्।'

न च घटकर्तृकुलालस्मरणवत् वेदतत्पदार्थसम्बन्धकर्तृस्मरणानि व्यवहर्तॄणां निष्प्रयोजनानीति कर्तृविस्मरणमुपपद्यत एवेति वाच्यम्। वैषम्यात्; तथाहि निष्प्रयोजनत्वात् कुलालविस्मरणमुपपद्यते, न तु वेदकर्त्रादिस्मरणं निष्प्रयोजन व्यवहाराणा तदधीनत्वात्। नहि पाणिनेर्विस्मरणे आदैचां वृद्धिशब्देन व्यवहार. सम्भवति। तथा च य. पदपदार्थसम्बन्धं करोति, यश्च वेद निर्माय तदध्ययनाध्यापनतदर्थ-यागोपासनज्ञानादिव्यवहार प्रवर्तयति, न तस्य विस्मरणे व्यवहार. सम्भवति। वाक्यादर्थप्रतिपत्तिः तदर्था-नुष्ठानञ्च वाक्यकर्तुः तदाप्तत्वस्य च स्मरणमन्तरा न सम्भवत, अनाप्तवाक्यात्तददर्शनात्। यागादेः स्वर्गादिसाधनताया. प्रमाणान्तरागोचरत्वात्। तद्बोधककर्तरि विश्रम्भादेव सर्वे वेदार्थयागाद्यनुष्ठाने प्रवर्तेरन्निति कथ कर्त्ता विस्मर्येत? तेनावश्यस्मर्तव्यत्वे सत्यस्मर्यमाण स्वस्याभावमेवावगमयिष्यति। पाणिनिभिन्नस्य पाणिनिमताननुसारिणो वा वृद्धिशब्दव्यवहारतो न केचिदादैचोऽवगच्छन्ति। यथा वाऽपिङ्गलस्य पिङ्गलाननुसारिणो वा मकारव्यवहारतो न केचित् सर्वगुरुत्रिकं प्रतिपद्यन्ते। किन्तु

वृद्धिरादैजिति वृद्धिसञ्ज्ञाकर्तुं पाणिने. वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धमिति व्यवहारतो वृद्धिशब्देनादैचो जानन्ति। एवमेव 'सर्वगुरु' इति मकारसम्बन्धकर्तु. पिङ्गलाचार्यस्य व्यवहारत. सर्वगुरुस्त्रिक प्रतिपद्यन्ते। तथैव वेदवाक्यार्थप्रतिपत्तृभिरवश्य पदपदार्थसम्बन्धकर्त्ता तादृशपदकदम्बात्मकवेद-वाक्यकर्त्ता चैक एव, स चाप्त इति स्मर्तव्य, न च स्मर्यते।

समयव्यवहारयोरेककर्तृकत्वविस्मरणे च नार्थनिश्चय। प्रकृते च विनापि कर्तृस्मरण, वेद-वाक्यादर्थनिश्चयस्य प्रसिद्धत्वान्न कश्चिद्वेदकर्ता सिद्ध्यति। यदि कथञ्चिद् विस्मरणमुपपद्येतापि, तथापि प्रमाणमन्तरेण न कर्तृनिर्णय. कर्तुं शक्य। केवलस्यानुपलम्भस्य वस्त्वभावासाधकत्वेऽपि प्रमाणा-भावसहकृतस्य शशविषाणादिवत् तथात्वे बाधकाभावात्। ये पौरुषेयता समर्थयन्ते, तेऽपि परम्परया कर्तृविशेषस्मरण वक्तु न शक्नुवन्ति। सामान्यतो दृष्टेन कर्तारमनुमाय स्वाभिमत कञ्चन कर्तार साधयन्ति केचिदीश्वरम्, अन्ये हिरण्यगर्भम्, प्रजापतिं केचिद्, अग्न्यादीन् देवानपरे। मन्वादिवत् स्मर्यमाणे वेद-कर्तरि नैतादृशी विप्रतिपत्तिर्युज्यते।

स्मर्तव्यत्वे सति अस्मरणात् कर्त्रभाव एवाध्यवसीयते। "ब्रह्म स्वयम्भु।" वाचा निरूपनित्यया" 'अनादि निधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा', 'अत एव नित्यत्वम्' इत्यादि श्रुतिस्मृत्यनुसारेण वेदाना नित्यत्वावगमाच्च कर्त्रभावोऽध्यवसीयते। अत एव "तस्माद् यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि यज्ञिरे' 'अग्ने-र्ऋग्वेद' इत्यादिवचनानां तु सम्प्रदायप्रवर्तकबोधपरत्वमेव, न कर्तृबोधकत्वम्· 'यो वै ब्रह्माणं विदधाति-पूर्वं यो वै वेदाश्च प्रहिणोति तस्मै' इति श्रुत्यनुरोधात्, चतुर्मुखस्य विधातापीश्वरो न वेदान् विदधाति, किन्तु विद्यमानानेव ब्रह्मणो हृदि प्रहिणोति।

अपि च—को वेदकर्ता भवेत्? कश्चिन्मनुष्यो वा योगी वा ईश्वरो वा? नाद्य मनुष्येषु धर्मादि-ज्ञानस्य वेदजन्यत्वादेव तत्कर्तृत्वासम्भवात्। न द्वितीय, धर्माधर्मादिज्ञानं योगिनो बाह्येन्द्रियजन्यं मनोजन्य वा? नाद्य., धर्माधर्मादेर्बाह्येन्द्रियायोग्यत्वात्। न द्वितीयोऽपि, आत्मनस्तद्योग्य—गुणातिरिक्तज्ञानजनने मनसोऽसामर्थ्यात्। धर्माधर्मयोरात्मगुणत्वेऽपि अयोग्यत्वान्न मनोविषयत्वं सम्भवति। अपि च योगिनो योगजसामर्थ्यमपि निर्हेतुकं, सहेतुकं वा? न प्रथम; सर्वेषामपि तथात्वापातात्। नाप्यन्त्य., योगादिलक्षणधर्मस्य हेतुत्वे तत प्राक् तज्ज्ञानमावश्यकमेवेति तद्धेतोर्वेदस्य प्राक्सिद्धत्वस्याभ्युपेयत्वात्। नापि तृतीय, वेदादीश्वरसिद्धि, ईश्वरश्च वेदाना प्रणेता इत्यन्योन्याश्रयात्। एतेन केचिदृषयो योगबलेन वेदार्थं ज्ञात्वा शब्दरचनां कुर्वन्तीति मतमप्यपास्तमेव।

अनाप्ताप्रणीतत्वन्तु पौरूषेयापौरूषेयवाक्यसाधारणप्रामाण्यप्रयोजकमिति न किञ्चिदनुपपन्नम्। नैयायिकास्तु ईश्वरकर्तृकत्वेन वेदस्य प्रामाण्य प्राहु, परमेश्वरसिद्धिस्तु न वेदाधीना किन्त्वनुमानेनेति नान्योन्या-श्रय·। तथाहि परमेश्वरस्तनुभुवनादिलक्षणकार्यस्य कर्तृत्वात्तन्निर्माणानुकूलतत्त्वज्ञानचिकीर्षाकृतिमत्त्वेन क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टत्वेन सर्वज्ञः सर्वसमर्थः परमकारुणिकश्च। न च बुद्धादयो विश्वकर्त्तारो येन सर्वज्ञा भवेयु·।

मन्त्रायुर्वेदवाक्यानि सर्वज्ञकर्तृकानि महाजनपरिगृहीतत्वे सत्यलौकिकार्थप्रतिपादकत्वात्, यानि तु न सर्वज्ञपूर्वकाणि तानि नैव रूपाणि यथा बुद्धवाक्यानि। मन्त्रायुर्वेदानां सत्यपि प्रवृत्तिसामर्थ्ये तासा-तासामोषधीनां तत्संयोगभेदानाञ्च तत्तदक्षरावापोद्धारभेदस्य च नासर्वज्ञ सहस्रेणापि पुरुषायुषै. शक्नोति कर्तुम्।

तनुभुवनादीनामुपलब्धिमान् कर्ता प्रतीयमानोऽन्तर्भावितसर्वज्ञत्व एव प्रतीयते प्रदीप इवान्तर्भावित-

प्रभावितानः स्वप्रमाणत्वात्। यथा कुलालादयोऽपि उपादानोपकरणसम्प्रदानप्रयोजनाभिज्ञा भवन्ति; तथैव जगत्कर्त्राप्युपादानाद्यभिज्ञेन भाव्यम्।

उत्तरमीमासाकास्तु—'तु त्वौपनिषदम्पुरुष पृच्छामि' 'नावेदविन्मनुते' इत्यादि श्रुतिप्रामाण्यात्, शास्त्रैकसमधिगम्यत्वमेव परमेश्वरस्य प्राहुः। तत्रैव बुद्धयारोहाय मननरूपत्वेनैवानुमानान्युपयुज्यन्ते न स्वातन्त्र्येण तत्साधनाय। कुलालादीनामदृष्टसम्प्रदानप्रयोजनविशेषज्ञता तु सम्भवत्येव। उपकरणादि-मात्रज्ञानन्तु भवति तथैव परमेश्वरस्यापि स्वकार्योपकरणादिमात्रज्ञानेऽपि कतिपयज्ञतैव भवति न सर्वज्ञता। बालोन्मत्तादयो निरभिप्राया अभिप्रवर्तन्ते। कर्तृत्वमात्रस्य साध्यत्वे तु कथमन्तर्भावित-सर्वज्ञत्व हेतुमन्तरेण सेत्स्यति।

विमत धीमत्कर्तृक कार्य्यत्वादित्यनुमानेनापि न सर्वज्ञसिद्धि, जीवजत्वेन सिद्धसाधनत्वात्। उपकरणाद्यभिज्ञकर्तृकत्वसाधने कतिपयतदभिज्ञताया सर्वज्ञासिद्धेः। सर्वतदभिज्ञकर्तृकत्वसाधने सपक्षस्य कुलालादे. साध्यहीनत्वम्, हेतोर्व्याप्त्यसिद्धिश्च कुम्भादावुत्पत्तिमत्त्वस्याचेतनोपादानत्वस्यासर्वज्ञपूर्वकत्वे व्याप्त्युपलब्धेर्विरुद्धता च। न चोपलब्धिमत्पूर्वकत्वमात्रं साधनविषयस्तद्विशेषस्य च सर्वज्ञपूर्वकत्वात्त-द्विषयस्यापि तत. सिद्धिरिति वाच्यम्—साधनाव्याप्तस्य विशेषस्य तदसिद्धे।

यद्यपि यथा क्रियात्वसामान्यस्य सत्यपि करणमात्राधीनत्वव्याप्तत्वे पक्षधर्मतावशेनेन्द्रियलक्षण-करणविशेषसिद्धिर्भवति। तथैवोत्पत्तिमत्त्वस्याचेतनोपादानत्वस्य चोपकरणसम्प्रादानप्रयोजनज्ञकर्तृत्व-मात्रव्याप्तत्वेऽपि तनुभुवनादिषु पक्षधर्मताबलेन तद्विशेष्स्य सर्वज्ञकर्तृत्वस्य सिद्धि, तथापि न पक्षधर्मता-वशात् सर्वज्ञ. कर्तृविशेष सिद्धचति। सर्वज्ञत्वमात्रेण कार्य्यासिद्धे। ज्ञानचिकीर्षाप्रयत्नसमुदायमन्तरा तदसिद्धे.। न चेश्वरज्ञानमसहायमेव विश्वकार्ये पर्याप्तम्, ज्ञानञ्च चिकीर्षाविशेष एवोपयुज्यते, सच प्रयत्नभेद उपयुज्यते। चिकीर्षाप्रयत्नावपि तस्य नित्यावनित्यौ वा? नित्यौ चेत् कृत ज्ञानेन चिकीर्षा-प्रयत्नोत्पादानुपयोगिना, न च प्रयत्नजज्ञानमपि न साक्षात्कार्योत्पादाङ्गम्। यद्यनित्यौ, तयोरुत्पत्तिकारण वक्तव्यम्। न च नित्यज्ञानमेव कारण तदनुपपत्ते.। आत्ममन सयोगविशेषासमवायिकारणौ तौ कथ ज्ञानमात्रादुत्पन्नौ तथात्वेऽतण्डुलादपि मण्डोत्पत्त्यापत्ते।

यद्यपि चादृष्टचरं त्रैलोक्यविलक्षणमपि गोचरयितु शक्नोत्येवानुमान व्याप्त्यपेक्षितया, व्याप्तेश्च पूर्वदर्शनाधीनतया दृष्टसलक्षणमेव गोचरयति न विलक्षणमदृष्टलिङ्गसम्बन्धात्। तथा च तनुभुवनादि-हेतुत्वेनानुमीयमाना बुद्धिर्यथादर्शनमेवानुमीयेत, सा चानित्या शरीरात्ममन.संयोगहेतुरसर्वविषयैव दृष्टा इति तद्विधैवानुमातव्या।

अमनस्कस्याप्यैश्वर्य्यादुपलब्धिसम्भवे तत एव विनैवोपलब्ध्या तनुभुवनादिनिर्माणसंभवेनोपलब्धि-मत्कर्तृत्वस्यैव विलोपेन वृद्धिमिच्छतो मूलविच्छेदापात इति। विस्तरस्तु "वेदप्रामाण्यमीमासायाम्" द्रष्टव्यः।

एवमनुमानेन कथञ्चिदीश्वरसामान्यसिद्धावपि तस्य वेदकारत्वसिद्धिस्तु दुर्लभैव। तथात्वेऽन्यैरपि स्वस्वसम्प्रदायानुमतग्रन्थकारस्यापि परमेश्वरत्वसर्वज्ञत्वादिकं साधयितु शक्येत। तथात्वे च तत्सा-धारण्यमेव वेदस्य स्यात्। यैस्तर्कैरीश्वरस्य वेदकारत्वं साध्येत तैरेव तत्तद्ग्रन्थकारत्वमपि तस्य किं न स्यात्।

तस्माद् 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि श्रुतिभिरेव जगज्जन्मादिहेतुत्वे परमेश्वरः प्रति-पाद्यते। 'य. सर्वज्ञः सर्वविदि'तिश्रुत्या तस्य सार्वज्ञ्यादिकमपि सिद्धयति। कर्मफलदातृत्वेनापि तत्सिद्धिः। न च कर्मणैव तदुपपद्यते कर्मणा जडत्वात्। न जातु मृत्पिण्डादय कुम्भकाराद्यनधिष्ठिता कुम्भाद्यारम्भाय

विभवन्तो दृश्यन्ते, तथा च नाचेतनं कर्म वाऽपूर्वं वा चेतनानधिष्ठित स्वतन्त्रं प्रवर्तते ।' न च क्षेत्रज्ञस्याधिष्ठान सभवति कर्मस्वरूपसामान्यविनियोगादिविशेषविज्ञानशून्यस्य तस्य तदनुपपत्तेः । न चोपासनाविधिशेषत्वेनातत्परत्वान्नेश्वरसाधनाय श्रुतयोऽपि पर्याप्ता इति वाच्यम् । अन्यपराणामपि द्वारभूतार्थावबोधने बाधाभावस्य देवताधिकरणादावुक्तत्वात् । न च क्रियार्थत्वेनैवाम्नायस्य सार्थक्यम् । तन्न्यायस्य कर्मबोधकवेदभागमात्रपरत्वात्—'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' 'तत्तु समन्वयादि'त्यादि श्रुतिसूत्रादिभिस्तु फलवन्निश्चितार्थावबोधकत्वेनावान्तरतात्पर्यविषयत्वेन तत्तत्कर्मोपासनादिप्रतिपादकत्वेऽपि ब्रह्मण्येवाम्नायमात्रस्य पर्यवसानात् । अनन्यपरैरपि ईशावास्यादिवेदवाक्यैः परमेश्वरः प्रतिपाद्यत एव । भूतभौतिकानि स्वोपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमज्जन्यानि कार्य्यत्वे सति विलक्षणत्वात् शय्याप्रासादादिवत् इत्यादिश्रुत्यनुगुणैरनुमानैश्च जगत्प्रकृतेः परमेशितुः सार्वज्ञ्यावगमः । केचित्तु कार्य्यानुकूलज्ञानवत्त्वमेव ब्रह्मण. कर्त्तृत्वम्प्राहु. ।

नन्वेव वेदान्तरीत्या वेदाना ब्रह्मोपादानकत्वेन पौरुषेयत्वमेवायातमिति चेन्न ब्रह्मोपादानकत्वेऽपि प्रमाणान्तरेणार्थमुपलभ्य विरचितत्वाभावेन वेदानामपौरुषेयत्वाव्याघातात् । न च सृष्टिप्रलयाङ्गीकारेण सम्प्रदायविच्छेद इति वाच्यम् । परमेश्वरे सम्प्रदायाविच्छेदस्य वर्त्तमानत्वात् । न च बहुषु सम्प्रदायाविच्छेदे यथाऽऽश्वासो न तथैवेकस्मिन्नीश्वर इति वाच्यम् । बहूनामपेक्षयाप्याप्ततमे एकस्मिन्नपि तत्सभवात् । बहुष्वनाप्तेषु तदसभवाच्च । किञ्च सुप्तप्रतिबुद्धन्यायेन हिरण्यगर्भादिषु बहुषु प्रजापत्यादिषु विशिष्टतप समासादितसिद्धिषु सम्प्रदायपारपर्य्यस्यापि सिद्धेः । न च पुरुषोच्चरितत्वेन पौरुषेयत्व तथात्वे पूर्वमीमासकस्य मतेऽपि पौरुषेयत्वापातात् । किन्तु पूर्वपूर्वानुपूर्वीनैरपेक्ष्येणानुपूर्वीनिर्माण स्वतन्त्रोच्चारण प्रथमोच्चारण वा पौरुषेयत्वम् । वेदस्य तु न तत्सभवति । तेन प्रमाणान्तरेणार्थमुपलभ्य विरचितत्वाभावेन वेदस्यापौरुषेयत्वमेव । पूर्वकोटिशून्यसृष्टिप्रलयपरम्परायामनादिसिद्धेन परमेश्वरेण पूर्वपूर्वकल्पीयानुपूर्वीसर्वज्ञत्वेन सुप्तप्रतिबुद्धन्यायेन वा सस्मृत्योत्तरोत्तरकल्पीयानुपूर्वी निर्मीयते । अत एव वेदाना ब्रह्मोपादानकत्वेऽपि न पौरुषेयत्वम् ।

नाध्यापयिष्यन्निगमाञ्श्रमेणोपाध्यायलोका यदि शिष्यवर्गान्
निर्वेदवादं किल निर्वितानमुर्वीतलं हन्त तदा भविष्यत् ।

वेदेषु देवदेवतातत्त्वयोर्विमर्शः

चक्रवर्ती रघुराजमिश्रः

सहिताब्राह्मणारण्यकोपनिषत्प्रधाने वैदिकवाङ्मये देवतत्त्वस्य देवतातत्त्वस्य च पार्थक्येन प्रयोग उपलभ्यते। किमस्ति देवतत्त्व किं वा देवतातत्त्वमिति विमर्श. स्पष्टरीत्या यद्यपि वैदिकवाङ्मये नोपलभ्यते तथापि उत्तरकालीने निरुक्तादौ शौनकीयबृहद्देवतायाञ्च सुस्पष्टमिमे पदार्था. विवेचिता:। किन्तु अधुना सम्पूर्णस्य वैदिकवाङ्मयस्य उपेक्षितत्त्वात् अनभ्यासाच्च विस्पष्टं प्रतिपादितोऽप्यय विषय: दुरूहता गत., विसम्वादितामापन्नश्च। सोऽयमर्थः अस्मिन्निबन्धे स्पष्टतया प्रतिपिपादयिषितो वर्तते। इद हि सुस्पष्ट मत मन्तव्य यद् वैदिकादेवा: केवल त्रयस्त्रिशत्सख्याका एव। ते च मुख्यतया अष्टौ वसव: पृथिव्याम्, एकादशरुद्रा अन्तरिक्षे, द्वादशादित्या. दिवि। पृथिवा अन्तरिक्षस्य च सन्धौ, अन्तरिक्षस्य दिवश्च सन्धौ अपरौ द्वौ अश्विनीकुमारसञ्ज्ञकौ देवौ। इतीमे त्रयस्त्रिशत्संख्याका. देवा मुख्यतया देवपदार्था. सम्पूर्णे वैदिकवाङ्मये उक्ता.। एवञ्च पृथिव्यामन्तरिक्षे, दिवि च एतैर्देवै. सहैव अपरे अदेवभूता. पदार्था. देवता: परिगणिता.।

इदमत्रावधातव्य यत् देवतत्त्व देवतातत्त्वञ्च पृथगस्ति। देवाश्चैतन्या: सूर्यमण्डले विभिन्नप्रदेशेषु विद्यमाना: तत्तत्कर्मसम्पादका. चेतना. प्राणा एव नान्ये। एतेषा स्वभावोऽदेवेऽपि यत्रापेक्ष्यते आरोप्यते वा ते देवता उच्यन्ते। देवताश्चेतना अचेतनाश्चाप्युभयविधा भवन्ति पर देवाश्चेतना एव। इत्येव देवदेवतातत्त्वयोर्वैलक्षण्ये स्फुटेऽपि बह्वो देवताशब्द स्वार्थतलान्त मत्वा देवानेव देवतात्वेन वर्णयन्तस्तत्त्वयोरनयो: साङ्कर्यं सम्पादयन्ति।

वैदिकसाहित्ये तदितरभारतीयसाहित्ये च देवशब्दस्य मुख्य: भाक्तश्च द्विधा प्रयोग उपलभ्यते। क्वचन देवशब्दस्य मुख्ये स्वार्थे त्रयस्त्रिशद्देवविशेषे प्रयोग, क्वचिच्च तदितरेषु भाक्त:। उभयोर्मुख्यभाक्तयोरपरिचयोऽपि कथितसाङ्कर्यस्य मूलम्। यदि नाम वैदिकसाहित्यमाधारीकृत्यैव मुख्यभाक्तयोर्भेद: सुस्पष्ट निरूपितो भवेत्तर्हि साकर्यमिद सुतरा पराकृत स्यात्।

वैदिकसाहित्ये देवशब्दस्य प्रयोग: प्रायश: पञ्चस्वर्थेषु कृतो वर्तते—ज्योतिष्मति, रोचनावति, विग्रहवति, मान्त्रवर्णिके, भूदेवे च। अत्र प्रथमे ज्योतिष्मत्यर्थे देवशब्दस्य प्रयोगो मुख्य:, अन्यत्र चतुर्ष्वर्थेषु देवशब्दप्रयोगो भाक्तोऽवगन्तव्य:। तथाहि—

"चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आ प्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥"

(ऋ० १।११५।११)

इति मन्त्रे, एवम्—
"आदित्यं वा अस्तं यन्तं सर्वे देवा अनुयन्ति"

(शतपथ ११।६।२)

इति ब्राह्मणे च देवशब्दप्रयोग: मुख्य:।

अथ दिवि या एतास्तारा रोचन्ते तास्वपि क्वचिद्देवशब्द प्रयुक्त । तथाहि—

"चत्वार. एकमभिकर्मदेवा प्रोष्टपदास इति यान्वदन्ति"—इत्येव प्रोष्ठपदतारकाश्चतस्रोऽपि देवा ।

अष्टौ देवा वासवसोम्यासश्चतस्रोदेवीरजरा स्रविष्ठा ।

यज्ञ न पान्तु वसवपुरस्तात् दक्षिणतोभियन्तु स्रविष्ठा ।।

इत्यत्र दक्षिणाना चतसृणा तारणा धनिष्ठानक्षत्रत्वम्, पूर्वदिक्स्थानाम् अष्टाना तारकाणा वसुदेवतात्वमिच्छन्ति ।

एव विग्रहवति देवशब्दप्रवृत्ति विष्णुपुराणे स्मर्यते—

सप्तद्वीपानि पातालवीथीश्च सुमहामुने ।
सप्त लोकाश्च येऽन्त स्था ब्रह्माण्डस्यास्य सर्वश ।।
स्थूलै सूक्ष्मैस्तथासूक्ष्मसूक्ष्मैः सूक्ष्मतरैस्तथा ।
स्थूलै स्थूलतरैश्चैतत् सर्व प्राणिभिरावृतम् ।।
अङ्गुलस्याष्टभागोऽपि न सोऽस्ति मुनिसत्तम !
न सन्ति प्राणिनो यत्र कर्मबन्धनिबन्धना ।।
सर्वे चैते वश यान्ति यमस्य भगवन् किल ।
आयुषोऽन्ते ततो यान्ति यातनास्तत्प्रचोदिता ।।
यातनाभ्यः परिभ्रष्टा देवाद्यास्वथ योनिषु ।
जन्तव. परिवर्तन्ते शास्त्राणामेष निर्णय. ।। (वि पु. ३।७।२-६)

एवमेव मान्त्रवर्णिकी देवताऽपि भवति । यदुद्देशेन किञ्चित्कर्म क्रियते तस्मिन कर्मणि उद्देश्य-भूता सा देवता । एवमेव यदुद्देशेन किञ्चिदुच्यते तस्मिन्वाक्ये उद्देश्यभूता देवता । मन्त्राश्च द्रष्टॄणां वाक्यानि भवन्ति । तस्मादेषु मन्त्रेषु यद्यत्सम्बन्धे स्तुतिनिन्दादय. ये षट्त्रिंशद्भावाः बृहद्देवतायाः पृथमाध्यायस्य ३५ श्लोकमारभ्य ४० श्लोकपर्यन्तमुक्ता, ते ते अर्था अपि तत्र देवतापदेनाभिधीयन्ते, इति । एष देवताशब्द. पारिभाषिक, क्वचन चैतन्यस्य, क्वचन अक्षाश्वाद्यचैतन्यस्यापि वा वाचकः मान्त्रवर्णिकोऽवधेय. । सोऽय देवताशब्द. पितापुत्रगुरुशिष्यादिवत् सनिरूपक. । सोऽयमर्थ निरुक्ते एव प्रतिपादित —

"यत्कामऋषिः यस्या देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुति प्रयुङक्ते तद्दैवतस्स मन्त्रो भवति ।
(निरुक्तम् ७।१)

इममेवार्थमाचार्यः शौनक बृहद्देवतायामाह—

अर्थमिच्छन् ऋषिर्देव य यमाहायमस्त्विति ।
प्राधान्येन स्तुवन्भक्त्या मन्त्रस्तद्देव एव स. ।।
(बृ. दे. अ. १ श्लोक ६) ।

एवमेव इह ये वर्णोत्तमा ब्राह्मणा तेष्वपि देवशब्द. प्रयुक्तो वर्तते । यथा तैत्तिरीयके श्रूयते—
"यथा वै मनुष्या एव देवा अन्ये आसन् ते यजन्त ।"
तथा च—

"द्वया वै देवा.। देवा अहैव देवा । अथ ये ब्राह्मणा· सुश्रुवासोऽनूचानास्ते मनुष्यदेवा. । तत्रैते प्राणदेवा ईडेन्या , मनुष्यदेवास्तु सपर्येण्या ।।"

(शतपथ)

इत्थमत्र उपर्युक्तेषु पञ्चस्वर्थेषु देवशब्दप्रयोग. वैदिकसाहित्ये तत्र तत्रोपलभ्यते । तत्र प्रथमेऽर्थे देवशब्दस्य मुख्यप्रयोग , अन्यत्र चतुर्ष्वर्थेषु देवशब्दप्रयोगो भाक्तोऽवसेय इति ।

इद हि देवतत्त्वविषयक देवतातत्त्वविषयकञ्च विज्ञान नितान्तमावश्यकमित्याह भगवान् शौनकः बृहद्देवतायाम्—

वेदितव्य दैवत हि मन्त्रे मन्त्रे प्रयत्नत. ।
दैवतज्ञो हि मन्त्राणा तदर्थमवगच्छति ।।
तद्विदा तदभिप्रायान् ऋषीणा मन्त्रद्रष्टृषु ।
विज्ञापयति विज्ञान कर्माणि विविधानि च ।।
नहि कश्चिदविज्ञाय याथातथ्येन दैवतम् ।
लौकिकाना वैदिकाना कर्मणा फलमश्नुते ।।

(बृ. दे. १।२-४)

तदिदं देवताविज्ञान निरुक्ते निरुक्त शौनकाचार्येण बृहद्देवताया समर्थितञ्च अग्रे प्रस्तूयते । निरुक्तप्रदर्शितदिशा दैवतज्ञानाय पृथिव्या अन्तरिक्षस्य दिवश्च ज्ञानमत्यन्तमपेक्षितम् । यतो हि निरुक्तकारः दैवतकाण्डस्य प्रारम्भ एव आह—

"तिस्र एव देवता —अग्नि पृथिवीस्थान , वायुर्वा, इन्द्रो वाऽन्तरिक्षस्थान·, सूर्यो द्युस्थान इति । तासा महाभाग्यात् एकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति । अपि वा कर्मपृथक्त्वात् महाभाग्याद्देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते । एकस्यात्मनोऽन्ये देवा प्रत्यङ्गानि भवन्ति । अपि च सत्त्वाना प्रकृति-भूमभि ऋषय. स्तुवन्ति । प्रकृतिसार्वनाम्न्याच्च इतरेतरजन्मानो भवन्ति, इतरेतरप्रकृतय कर्मजन्मान, आत्मजन्मान । आत्मैवैषा रथो भवति । आत्मा अश्व , आत्माऽऽयुधम्, आत्मेषव , आत्मा सर्वं देवस्य" इति ।

इममेवार्थं भगवान् शौनकोऽप्याह—

"प्रथमो भजते त्वासा वर्गोऽग्निमिह दैवतम् ।
द्वितीयो वायुमिन्द्र वा, तृतीय· सूर्यमेव च ।।"

(बृ. दे १।५)

अग्रे च—

भवद्भूतस्य भव्यस्य जङ्गमस्थावरस्य च ।
अस्यैके सूर्यमेवैक प्रभव प्रलय विदु ।।
असतश्च सतश्चैव योनिरेषा प्रजापति ।
यदक्षरञ्च वाच्यञ्च यथैतद् ब्रह्म शाश्वतम् ।।
कृत्वैष हि त्रिधात्मान एषु लोकेषु तिष्ठति ।
देवान् यथायथ सर्वान् निवेश्य स्वेषु रश्मिषु ।।
एतद् भूतेषु लोकेषु अग्निभूत स्थित त्रिधा ।
ऋषयो गीर्भिरर्चन्ति व्यञ्जित नामभिस्त्रिभि ।।

इहाग्निभूतस्त्वर्षिभि लोके स्तुतिभिरीडित ।
जातवेदास्तुतो मध्ये, स्तुतो वैश्वानरो दिवि ।।
अग्निरश्मिन्नथेन्द्रस्तु मध्यतो वायुरेव •च ।
सूर्यो दिवीति विज्ञेयास्तिस्र एवेह देवता ।।
एतामामेव माहात्म्यान्नामान्यत्व विधीयते ।
तत्तत्स्थानविभागेन तत्र तत्रेह दृश्यते ।।
तासामिय विभूतिर्हि नामानि यदनेकश ।
आहुस्तासा तु मन्त्रेषु कवयोऽन्योन्ययोनिताम् ।।
यथास्थान प्रदृष्टास्ता नामान्यत्वेन देवता ।
तद्भक्तास्तत्प्रधानाश्च केचिदेव वदन्ति ताः ।।
पृथक् धुरस्ताद् ये तूक्ता लोकादिपतयस्त्रय. ।।
तेषामात्मैव तत्सर्व यद् यद् भक्ति. प्रकीर्त्यते ।
तेजस्त्वेवायुध प्राहु. वाहन चैव यस्य यत् ।।
इमाम्, ऐन्द्रीञ्च, दिव्याञ्च वाचमेव पृथक् स्तुताम् ।
अग्निभक्तिस्तुतान् सर्वानिग्नावेव समापयेत् ।।
यदिन्द्रभक्ति तच्चेन्द्रे, सूर्ये सूर्यानुगञ्च यत् । इति ।

(बृ. दे. १।६६–७७)

त इमे देवा. मुख्यतया तिसृषु श्रेणीषु विभक्ता, पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवि च तत्तत्स्थानभागिनः । इति सुस्पष्ट प्रतिपादित निरुक्ते बृहद्देवतायाञ्च । तत्र पृथिव्या अन्तरिक्षस्य दिवश्च सुस्पष्ट ज्ञानाय एतद् ब्रह्माण्डविषयिण्या. वेदसम्मतसृष्टिप्रक्रियाया ज्ञानमपि किञ्चिदपेक्षित वर्तते । तदिह सक्षेपतः वैदिकी सृष्टिप्रक्रिया निरूप्यते ।

सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमिद कस्माच्चित् अननशीलाच्चैतन्यादाविर्भूतमिति वैदिक. सिद्धान्त । वैदिके-दर्शनेऽस्मिन् चतुर्धा पदार्थविभाग —

(१) निर्विशेष
(२) परात्पर·
(३) पुरुष·
(४) पुरम् इति ।

निर्विशेषः

श्रुतिषु ब्रह्म रसपदेन माया च बलपदेनोच्येते । त इमे रसबले अमृतमृत्युरूपे अन्योन्याविनाभूते इति सिद्धान्त । तथापि यदि बुद्धया बलोपाधिक विशुद्ध रसमात्र पृथगालोच्यते तदा स. पृथग्भावितो रसमात्र निर्विशेष· । सोऽय निर्विशेष सर्वोपनिषदा वेदान्ताना मुख्यमुपादेय लक्ष्यम् । एतदेव वेदान्त-प्रतिपाद्य विशुद्धं ब्रह्म । एतस्यैव विषये श्रुतय सकेतयन्ति—

सविदन्ति न यं वेदा. विष्णुर्वेद न वा विधिः ।
यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।। इत्यादि ।

एतद्धि रूपमवाङ्मनसगोचर प्रतिपत्तव्यम् । यद्यपि रसावस्थायामस्या बलस्यापि सत्ता अन्यो-न्याविनाभूता मन्यते तथापि बल प्रसुप्त भवति । अत एव सर्वथा प्रसुप्तबलक रसमात्र निर्विशेषः सञ्जायते ।

परात्परः

पूर्वस्मिन् निर्विशेषे बलाना सत्त्वेऽपि तानि बलानि सुप्तान्यवतिष्ठन्ते । अत्र परात्परे तु तानि बलान्युद्‌बुद्धानि सन्ति । एवमुद्‌बुद्धबलो रसो परात्परो विज्ञेय । अस्यामवस्थायामुद्‌बुद्धत्वेऽपि तानि बलानि सहचरवलस्य भावेन नित्यमवतिष्ठन्ते । अय हि परात्पर निर्विशेषात् विशेषावस्थाया प्रथमः कल्प । अस्यैव परात्परस्य विषये ऋग्वेदस्य दशममण्डले नासदीये सूक्ते ऋषि. सिद्धान्तयति—

"आनीदवात स्वधया तदेक तस्माद्धान्यन्नपर किञ्चनास ।" (ऋ० १०।१२६।२)

"अस्य विश्वब्रह्माण्डस्य सृष्टे पूर्व वातरहित स्वकीयया स्वधया तद्ब्रह्म आनीत अननशीलोऽभूत् । यद्यपि स्व धीयते अनया इति स्वधा, तया स्वधया तदानदासीत्, तथापि तदेक तस्मादन्यत्, अपरः किञ्चन न आस ।" अत्र श्रुति तस्मिन्ननशीले ब्रह्मणि तत् एकम्, अन्यत्, अपरः इत्यादिपदैः सजातीयविजातीयस्वगतभेदत्रितयशून्यत्व प्रदर्शयति ।

तदित्थम् उद्‌बुद्धबलो रस· परात्परो विज्ञेयः ।

पुरुषः

पुरि शेते, इति पुरुष· । एतस्मिन् पूर्वोक्ते परात्परे सर्वप्रधानभूतम्, असीमस्य ससीमत्वापादक मायानामक वल प्रवर्तते । तेन अमितेऽप्यस्मिन् परात्परे कियाश्चिद् भाग· मायानिगीर्णो भूत्वा पुरुषो भवति । अत एव यत्किञ्चित्परिच्छिन्नमिह दृश्यते तत्सर्वमेव पुरुषः । यथाह श्रुति.—

पुरुष एवेद सर्वं यद्भूतं, यच्च भव्यम् ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥

(ऋ० १०।६०।२)

अत्रायमर्थ·—"अस्मिन् जगति द्विविधः पदार्थो दृश्यते । अक्षरश्च क्षरश्चेति—चैतन्यञ्च भूतञ्चेति । तदेव पुरुषोऽपि द्विविध —भौतिक, अभौतिकश्च । अत्र ऋगर्द्धेन भौतिक. पुरुष· प्रतिपादितः, परार्धेन च अभौतिकश्चैतन्यमय पुरुष प्रतिपादित । ताविमौ साकल्येन पुरुषपदार्थौ ।"

स चाय पुरुषस्त्रिधा विभिद्यते—(१) अव्ययः, (२) अक्षर, (३) क्षरश्चेति । त इमे पुरुषाः सर्वदर्शननिकषायमाणाया सर्वोपनिषत्सारभूताया श्रीमद्भगवद्गीतायाः सुस्पष्टं प्रतिपादिता· ।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षर. सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥
उत्तम. पुरुषस्त्वन्य. परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वर· ॥

(गीता १५।१५,१६)

त इमे त्रयोऽपि पुरुषाः प्रत्येक पञ्चभि. कलाभिरवच्छिन्ना । अव्ययस्य पञ्चकलाश्च तत्तिरीय आथर्वणिके मुण्डके च प्रतिपादिता. श्रूयन्ते ।

"स च एववित् अस्माल्लोकात् प्रेत्येतमन्नमयमात्मानमुपसक्रम्य, एतं प्राणमयमात्मानमुपसक्रम्य, एत मनोमयमात्मानमुपसक्रम्य, एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रम्य, एतमानन्दमयमात्मानमुपसक्रम्य, इमान् लोकान् कामान्नीकामरूप्यनुसञ्चरन् एतत्साम गायन्नास्ते हा३वु हा३वु हा३वु ।

(तैत्तिरीयोपनिषद् ३।१०।५)

एवम्—

मनोमय प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदय सन्निधाय ।
तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृत यद्विभाति ।

(मुण्डक० २।२।७)

ताश्चैता—आनन्द, विज्ञानम्, मन, प्राण, वाक् इति नाम्न्य तैत्तिरीयोपनिषदि (२।८) अस्य ब्रह्माण्डस्य कोपत्वेन व्यवस्थापिता सन्ति। जगति य कोऽपि आनन्दविज्ञानादीनामशो दृश्यते तस्य कोपभूता इमा अव्ययकला। अयमेवार्थ गीताया "बिभर्त्यव्ययईश्वर" इति पदैर्व्याख्यात ।

अक्षरस्य पञ्च कलाः

"ता वा एता प्रजापतेरधिदेवता असृज्यन्त—अग्नि, सोम, इन्द्र, परमेष्ठी (विष्णु), प्राजापत्यः (ब्रह्मा)। (शतपथ ११।१।६।१४)।

अत्र कलानिर्देश आरोहक्रमेण, अवरोहक्रमे तु ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, सोम, अग्निरिति कलाक्रमो विज्ञेय ।

क्षरस्य पञ्च कलाः

यथा अव्ययाक्षरौ पञ्च कलौ व्याख्यातौ तथैवाय क्षरोऽपि शतपथस्य षष्ठकाण्डप्रारम्भे पञ्च कलौ विज्ञापित.। ताश्च—प्राण, आप, वाक्, अन्नम्, अन्नादश्च। तदेव "अर्ध वै प्रजापतेरमृतमासीत् अर्धं मृतम्।"

इति श्रुत्यनुसारमक्षरकला अमृतरूपा, क्षरकलास्तु मर्त्यरूपा अवसेया। तदित्थ "द्वय वा इद न तृतीयमस्ति" इति शतपथानुसार क्षररूप विकासत्रमानुसार क्रमेण पञ्चभूतात्मना विकसित भवति। एवञ्च यज्ञप्रक्रियया सर्वहुतयज्ञक्रमेण तान्येतानि भूतानि महाभूतात्मना परिणतानि सन्ति पञ्चस्तरक ब्रह्माण्डमिद निर्मान्ति। तत्र प्रथमविकास· स्वयम्भूमण्डलरूपेण, द्वितीयो विकास. परमेष्ठिमण्डलरूपेण, तृतीयो विकास सूर्यमण्डलरूपेण, चतुर्थो विकास पृथ्वीमण्डलरूपेण, पञ्चमो विकास चन्द्रमण्डलरूपेण भवति। तानीमानि मण्डलानि अस्य ब्रह्माण्डस्य स्तराणि विज्ञेयानि। स्वयम्भूमण्डलस्य कुक्षौ परमेष्ठिमण्डलम्, परमेष्ठिमण्डलस्य कुक्षौ सूर्यमण्डलम्, सूर्यमण्डलस्य कुक्षौ चन्द्रमण्डलम्, तस्य च कुक्षौ पृथ्वीमण्डलमिद स्थित वर्तते ।

तस्मिन्नस्मिन् सूर्यमण्डले त्रयस्त्रिशत् सख्याका मुख्या वैदिका देवा प्रतितिष्ठन्ति ।

एतेषा देवाना स्वरूपविषये कति देवा इत्येष प्रश्न तस्य समाधान च ऋग्वेदे बहुत्र, शतपथ-ब्राह्मणे च तत्र तत्र उपस्थापित वर्तते। परन्तु के देवा· ? इति देवस्वरूपविषयकप्रश्न· प्रायशो वैदिकसाहित्ये नोपलभ्यते। मन्ये तत्र अतिप्रसिद्धिरेव हेतु । तत्र देवस्वरूपविषये निरुक्तकारो यास्कः एव निरुक्तवान् ।

'देवो दानाद्वा', 'दीपनाद्वा', 'द्योतनाद्वा', 'द्युस्थानो भवतीति वा' (नि० ७।१५) । इति देवशब्दस्य निष्पत्तिः 'ददाते', 'दीपयते·', "द्योतते", द्युस्थानिकत्वाद्वा कृतो वर्तते ।

एव कति देवा. ? इत्येतस्मिन् विषये 'इति स्तुतासो असथा ऋशादसो ये स्थ त्रयश्च त्रिशच्च। मनोर्देवा यज्ञियास' ॥ (ऋ. स म ८ सू ३० म. २)

एते हि त्रयस्त्रिशद्देवा सोमपाः। एतान् श्रीमधुसूदन ओझा महोदय· स्वीये वैदिककोषे परिगणितवान् ।

आदित्यावसवो रुद्रा विश्वेदेवगणावपि । प्रजापतिवषट्कारौ वाश्विनौ वेति सोमपा. ।।
एवमन्येऽपि त्रयस्त्रिशद्देवा असोमपा उक्ता.—

ये देवासो दिव्येकादशस्थ पृथिव्यामध्येकादशस्थ ।
अप्सु क्षितो महिनैकादशस्थ ते देवासो यज्ञमिम जुषध्वम् ।। (ऋ म. १, सू १३९, म ११)
एतानपि श्रीमधुसूदन ओझा महाभागस्तत्रैव परिगणयति ।

प्रयाजाश्चाक्षुयाश्चावयाजाश्चेत्यसोमपा ।
एकादश क्रमेणैते भूमौ मध्ये दिवि स्थिता ।।

एवम् ऋग्वेदस्य तृतीये मण्डले नवमे सूक्ते नवम्या ऋचा, एव दशममण्डलस्य त्रिपञ्चाशत्तमे सूक्ते एतेषा देवाना सख्या ३३३९ प्रतिपादिता वर्तते । उभयत्रैव समानो मन्त्र ।

तद्यथा—

त्रीणि शता त्रिसहस्राण्यग्नि त्रिशञ्च देवानव चासपर्यन् ।
औक्षन् घृतैरस्तृणन् बर्हिरस्मा आदिद्धोतार न्यसादयन्त ।। (ऋ. ३।१०।८)

एवमेव शतपथब्राह्मणस्य चतुर्दशे काण्डे शाकल्यो याज्ञवल्क्य प्रपच्छ "अथैन विदग्ध शाकल्य पप्रच्छ—कति देवा याज्ञवल्क्येति, त्रयस्त्रिशत इति । ओम् इति होवाच । षट् इति ओम् इति होवाच, त्रय इति ओम् इति होवाच, द्वाविति ओम् इति होवाच । अध्यर्ध इति ओम् इति होवाच, एक इति ओम् इति होवाच । कतमे ते त्रयश्च त्री च शता, त्रयश्च त्री च सहस्रेति, सहोवाच—महिमान एवैषामेते, त्रयस्त्रिशत्त्वेव देवा इति । कतमे ते त्रयस्त्रिशदिति, अष्टौ वसव, एकादशरुद्रा', द्वादशादित्या त एकत्रिशत्, इन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिशाविति ।" (शत ब्रा० १४।६।८।१-३)

त एते अष्टौ वसव एवमाख्याता—

अग्निश्च जातवेदाश्च महौजा अजिर प्रभु
वैश्वानरो नर्यपाश्च पङ्क्तिराधाश्च सत्तम ।
विसर्प्यैवाष्टमोऽग्नीनामेतेऽष्टौ वसव. क्षितौ ।

एवमेव एकादशरुद्रा तैत्तिरीयारण्यके समाम्नाता—

प्रभ्राजमाना व्यवदाता याश्च वासुकिवैद्युता ।
रजता परुषा श्यामा, कपिला अतिलोहिता' ।।
ऊर्ध्वाविपतन्त्यश्च वैद्युत इत्येकादश ।

(तै. आरण्यक)

द्वादशादित्या अपि बृहद्देवतानुसारमधः परिगणिता —

भगश्चैवार्यमांशश्च मित्रो वरुण एव च ।
धाता चैव विधाता च विवस्वाश्च महाद्युति. ।।
त्वष्टा पूषा तथैवेन्द्रो द्वादशो विष्णुरुच्यते ।

(बृ. दे. अ ५, श्लोक १४६-४७)

इदमत्रावधेयम्—अव्ययपुरुषस्य पञ्चकलासु अन्तिमा कला वाङ्नाम्नी परिगणिता । तस्या एव विजृम्भणम् इद ब्रह्माण्ड नाम । तत्र सम्पूर्णे ब्रह्माण्डे अष्टाचत्वारिंशद्विभागा: कल्प्यन्ते । प्रथमे त्रयो विभागा नाभौ, अन्तिमाश्च त्रयो विभागा' प्रधौ गण्यन्ते, इति नाभिप्रध्योर्मध्ये वर्तमानाना सप्तानां षट्कस्तोमानां परिगणने अष्टाचत्वारिंशत् विभागा भवन्ति । तदित्थ प्रथमानां त्रयाणा नाभिकल्पनायां

तत. प्रथमषट्कसयोगे नवक त्रिवृत्स्तोमो नाम प्रथम स्तोम·, ततश्च द्वितीयषट्कसयोगे पञ्चदश-स्तोमो नाम द्वितीय, ततस्तृतीयषट्कसयोगे एकविंशो नाम तृतीय स्तोम । ततश्चतुर्थषट्क-सयोगे सप्तविशत्यात्मक. त्रिणवस्तोमो नाम चतुर्थ । ततश्च पञ्चमषट्कसंयोगे त्रयस्त्रिशो नाम पञ्चमः। ततश्च षष्ठसप्तमषट्कसयोगे एकोनचत्वारिशपञ्चचत्वारिशस्तोमौ विज्ञेयौ। अत ऊर्ध्व विद्यमानाना त्रयाणा विभागाना प्रधौ गणनाया ब्रह्माण्डान्तर्वर्तिन अप्टाचत्वारिशद्विभागा जायन्ते । त एते त्रयस्त्रिश-त्पर्यन्ता. स्तोमास्तत्र तत्र वैदिके साहित्ये सर्वत्र चर्चिता उपलभ्यन्ते ।

अपि चापरोऽपि सप्तदशस्तोमो नाम त्रयस्त्रिशत अर्धे वर्तमानो गण्यते । यतो हि ब्रह्माण्डस्य स्तोमैरेभि: विभाग. कल्प्यते । अत एव त्रिवृत्स्तोमात्मिका पृथिवी, तत ऊर्ध्व पञ्चदशस्तोमात्मक-मन्तरिक्षम्, तत परम् एकविशस्तोमात्मक द्युमण्डलमवसेयम् ।

एष्वेव विभागेषु पृथिव्यामष्टौ वसव, अन्तरिक्षे एकादश रुद्रा, दिवि च द्वादशादित्या व्यवस्थिता· सन्ति । तेषा पौर्वापर्यभावस्य निर्णय वैज्ञानिकानुसन्धान विना असम्भव । यतो हि पद्यबद्ध वैदिक साहित्य वर्तते । पद्ये च पदाना व्यवस्थिति. अर्थक्रमानुसार न भवति, प्रत्युत पद्यपादबन्धसम्भवानुसारेण। अत एव एतेषा क्रमिकत्वनिर्णय वैदिकसाहित्यमाधारीकृत्यासम्भव. प्रतीयते ।

तत्तेषा देवाना नामानि तत्तत्कर्माण्यभिप्रेत्यैव व्यवस्थापितानि । यथाह शौनको बृहद्देवतायाम्—

सर्वाण्येतानि नामानि कर्मतस्त्वाह शौनक. ।
आशी रूप च वाच्यञ्च सर्व भवति कर्मतः ।।
नाकर्मकोऽस्ति भावो हि न नामास्ति निरर्थकम् ।
नान्यत्र भावान्नामानि तस्मात् सर्वाणि कर्मत. ।। (बृ. दे. अ. १।२७,३१)

अत एव वैज्ञानिकदृष्ट्या पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवि च तत्तत्स्थानाना परीक्षया ते ते देवास्तत्र तत्र निर्णीता. स्युः । त एते त्रयस्त्रिशद्देवा. वेदेषूपलभ्यन्ते ।

एतद्धि पूर्वमेव प्रतिपादित यद्वैदिकसाहित्ये देवदेवतयोर्महदन्तर वर्तते । देवाश्च चैतन्यमयाः प्राणा एव । देवताश्च उभये भवितुमर्हन्ति—चेतना अचेतना । एषा हि देवता पारिभाषिकी, यद्विषये निरुक्तकारो यास्क एवमाह—

"यत्कामऋषि· यस्या देवतायाम् आर्थपत्यमिच्छन् स्तुति प्रयुङ्क्ते तद्देवतस्समन्त्रो भवति ।"

यथा चाह शौनको बृहद्देवतायाम्—

अर्थमिच्छन् ऋषिर्देव य य आहायमस्त्विति ।
प्राधान्येन स्तुवन् भक्त्या मन्त्रस्तद्देव एव स· ।।

(बृ. दे अ. १।६)

एतेषां देवानां स्तुतिसन्दर्भे अन्यान्यपि अश्वप्रभृतीनि ओषधिपर्यन्तानि तानि तान्यचेतनानि वस्तूनि अदेवभूतान्यपि देववत् स्तुतानि । यथा हि—निरुक्तकारो यास्क· प्रतिपादयति—"आत्मैवैषा (देवानाम्, न तु देवतानां) रथो भवति, आत्मा अश्व, आत्मायुधम्, आत्मेषव, आत्मा सर्वं देवस्य ।"

इममेवार्थं स्फुटं प्रतिपादयति शौनक.—

पृथक् पुरस्तात् ये तूक्ता. लोकाधिपतयस्त्रय ।
तेषामात्मैव तत्सर्वं यद्यद् भक्तिः प्रकीर्त्यते ।
तेजस्त्वेवायुधं प्राहु वाहनं चैव यस्य यत् ।। इति ।

स्थान नामानि भक्तीश्च देवतायाः स्तुतौ स्तुतौ ।
सम्पादयन्नुपेक्षेत या काचिदिह सपदम् ॥
अग्निभक्तिस्तुतान् सर्वानग्नावेव समापयेत् ।
यदिन्द्रभक्ति तचेन्द्रे, सूर्ये सूर्यानुग च यत् ॥
(बृ दे अ १।७६-७७)

इति परिभाषानुसार पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवि च वसुभि, रुद्रै., आदित्यैश्च सह अन्यानि वस्तून्यपि स्तुतानि। तेषु वसुरुद्रादित्यगणोक्ता 'देवा', अन्यानि च वस्तूनि "देवता" पदभाज। तानीमानि अग्निभक्तीनि, रुद्रभक्तीनि, आदित्यभक्तीनि च क्रमश निघण्टौ पञ्चमाध्यायस्य तृतीये ख डे पार्थिवदेवता., पञ्चमाध्यायस्य चतुर्थपञ्चमखण्डयोरन्तरिक्षदेवता. एव तस्यैवाध्यायस्य षष्ठखण्डे द्युस्थानीया देवता प्रतिपादिता.। तमिम निघण्टूक्तमर्थमाधारीकृत्यैव आचार्य शौनको बृहद्देवतायामाह–

पृथिवीस्थानाग्निभक्तयो देवाः

तत्र यत् पृथिवीस्थान पार्थिवञ्चाग्निमाश्रितम् ।
तत्सर्वमानुपूर्व्येण कथ्यमान निबोधत ।
जातवेदा श्रितो ह्यग्निमग्नि वैश्वानर. श्रित ॥
द्रविणोदास्तथेध्मश्च श्रितश्चाग्नि तनूनपात् ।
नराशस. श्रितश्चैनमेनमेवाश्रितस्त्विलः ॥
बर्हिर्द्वारश्च देव्योऽग्निमेनमेव तु सश्रिता ।
नक्तोषासा च देव्यौ च होतारावेतदाश्रयौ ॥
देव्यस्तिस्र श्रिताश्चैन त्वष्टा चैवैतदाश्रय. ।
श्रितो वनस्पतिश्चैन स्वाहाकृतय आप्रिय. ॥
दैव्यौ दिव्यप्रसूतौ द्वावग्नी मध्यमपार्थिवौ ।
यदि वा वरुणादित्यावग्नादित्यौ प्रचेतसौ ॥
तथाग्निवरुणौ वापि केचिदिच्छन्ति सूरय ।
इडा सरस्वती देवी भारती च यथाक्रमम् ॥
पृथिव्यामन्तरिक्षं च दिवि देव्य इमा मता. ।

अग्निभक्तीनि सत्त्वानि

अश्वश्च शकुनिश्चैव मण्डूकाश्चैनदाश्रया ।
ग्रावाणश्चैवमक्षाश्च नराशसस्तथा रथ ॥
दुन्दुभिश्चेशुभिश्चैतं हस्तघ्नोऽभीषवो धनु ।
ज्या चैतदाश्रितेषुश्च श्रिता अश्वाजनी च या ॥
वृषभो द्रुघणश्चैनमेन पितुरुलूखलम् ।
नद्यश्चैवैनमापश्च सर्वाश्चौषधयस्तथा ॥
रात्र्यप्वाग्नाय्यरण्यानी श्रद्धेडापृथिवी तथा ।
भजेते चैनमेवार्त्नी द्वन्द्वभूते च रोदसी ॥
मुसलोलूखले चैन हविर्धाने च ये स्मृते ।

जोष्ट्री चोर्ज्याहुती चैन शुतुद्रया च विपाट् सह ।।
यौ च देवौ शुनासीरौ तौ चाग्नी चैतदाश्रयौ ।
शौनकस्य शुनासीरौ वायुसूर्याविदाहृतौ ।।[६]
शाकपूणेरिन्द्रसूर्यौ इन्द्रो यास्कस्य केवलम् ।

एवमेव--

लोकोऽय यच्च वै प्रातस्सवन क्रियते मखे ।
अनुष्टुप् च त्रिवृत्स्तोमो वसन्तशरदावृतू ।।
गायत्री चैकविंशश्च यच्च साम रथन्तरम् ।
साध्या साम च वैराजमाप्त्याश्च वसुभि सह ।।

अग्निसंस्तविका देवाः

इन्द्रेण च मरुद्भिश्च सोमेन वरुणेन च ।
पर्जन्येनर्तुभिश्चैव विष्णुना चास्य सस्तव ।।
अस्यैवाग्नेस्तु पूष्णा च साम्राज्य वरुणेन च ।

कर्म

देवताऽऽवाहन चैव हविषा वहन तथा ।
कर्मदृष्टया च यत्किञ्चित् सम्बद्ध विषये स्थितम् ।।
अग्नेरेव तु तत्सर्व कर्मेति परिभाष्यते ।
इत्युक्तोऽयं गणः सर्व पृथिव्यग्न्याश्रयो महान् ।।

(बृहद्देवता अ. १।१०५–१२०)

अन्तरिक्षस्थानेन्द्रभक्तयो देवाः सत्त्वानि च

यश्चेन्द्रो मध्यमस्थानो गण सोऽयमत. परः ।
विमानानि च दिव्यानि गन्धर्वाप्सरसां गण· ।।
इन्द्राश्रयस्तु पर्जन्यो रुद्रो वायुर्बृहस्पति ।
वरुण कश्च नित्यश्च देवश्च ब्रह्मणस्पति. ।।
मन्युश्च विश्वकर्मा च मित्रः क्षेत्रपतिर्यमः ।
तार्क्ष्यो वास्तोष्पतिश्चैव सरस्वाँश्चैवमत्र ह ।।
अपांनपात् दधिक्राश्च सुपर्णोऽथ पुरूरवा. ।
ऋतोऽसुनीतिर्वेनश्च तस्यैतस्याश्रयेऽदिति· ।।
त्वष्टा च सविता चैव वातो वाचस्पतिस्तथा ।
धाता प्रजापतिश्चैव अथर्वाणश्च ये स्मृताः ।।
श्येनश्चैवैवमग्निश्च तथेला चैव या स्मृता ।
विधातेन्दुरहिर्बुध्न्यः सोमोऽहिरथ चन्द्रमाः ।।
विश्वानरश्च वै देवो रुद्राणां सस्तुतो गणः ।
मरुतोऽङ्गिरसश्चैव पितरश्चर्भुभिः सह ।।
राका वाक् सरमाप्त्याश्च भृगवोऽघ्न्या सरस्वती ।
यम्युर्वशी सिनीवाली पथ्यास्वस्तिरुषाः कुहूः ।।

पृथिव्यनुमतिर्धेनु· सीता लाक्षा तथैव गौ. ।
गौरी च रोदसी चैव इन्द्राण्याश्चैव वै पति ।।
(बृ. अ १।१२१-१३१ अ. २।१-६)

एवम्

छन्दस्त्रिष्टुप् च पङ्क्तिश्च लोकाना मध्यमश्च यः ।
एतेष्वेवाश्रये विद्यात् सवन मध्यम च यत् ।।
ऋतू च ग्रीष्महेमन्तौ यच्च सामोन्यते बृहत् ।
शक्वरीपु च यद्गीतं नाम्ना तत्साम शाक्वरम् ।।
आह चास्यैव तौ स्तोमावाश्रयौ शाकटायन ।
यश्च पञ्चदशो नाम्ना सख्यया त्रिणवश्च य ।।

संस्तविका देवा.

सस्तुतश्चैष पूष्णा च विष्णुना वरुणेन च ।
सोमवाय्वग्निकुत्सैश्च ब्रह्मणस्पतिनैव च ।।
स बृहस्पतिना चैव नाम्ना यश्चापि पर्वत ।
मित्रश्च स्तूयते देवो वरुणेन सहासकृत् ।।
रुद्रेण सोम. पूष्णा च पुन. पूषा च वायुना ।
वातेनैव तु पर्जन्यो लक्ष्यते वै क्वचित् क्वचित् ।।

कर्म

रसादान तु कर्मास्य वृत्रस्य च निबर्हणम् ।
स्तुते. प्रभुत्व सर्वस्य बलस्य निखिलाकृति. ।।
इत्यैन्द्रो मध्यमस्थानो गण· सम्यगुदाहृतः ।।
(बृहद्देवता अ १।१२१-१३१ अ. २।१-६)

द्युस्थानसूर्यभक्तयः

य परस्तु गण सौर्यो द्युस्थानस्त निबोधत ।
तस्य मुख्यतमौ देवावाश्विनौ सूर्यमाश्रितौ ।।

कर्म

पौरुषञ्चाहुरस्यैतत् सर्वमेव तु पौरुषम् ।
हरण तु रसस्यैतत् कर्मणामुत्र रश्मिभि. ।।
येन नातिविजानन्ति सर्वभूतानि चक्षुषा ।

संस्तविका देवाः

एतस्यैव तु विज्ञेयाः देवा सस्तविकास्त्रय ।
चन्द्रमाश्चैव वायुश्च य च सवत्सर विदु ।।
इत्थमग्नीन्द्रसूर्याणा भक्तय समुदाहृताः । (बृहद्देवता अ २।७-२१)

इत्थ यास्काचार्यस्य निरुक्ते शौनकाचार्यस्य बृहद्देवताया च पृथिव्या मुख्या देवा·, भाक्ता देवताश्च, अन्तरिक्षे मुख्या देवा., भाक्ता देवताश्च, दिवि मुख्या देवा, भाक्ता देवताश्च सुस्पष्ट प्रतिपादिताः सन्ति । एतद्देव-देवतातत्त्वस्य विज्ञाने विज्ञाते सति तत्तन्मन्त्राणामर्थनिर्णयेऽपि सौविध्य स्यादिति मनीषिमूर्धन्येषु विचारकवर्येषु निवेदनम् ।

आभासवादः (श्रीशाङ्कराद्वैतसिद्धान्तान्तर्गतः)

वीरमणिप्रसाद उपाध्यायः

परमाणुपुञ्जादिकारणकलापप्रोद्भूत प्रपञ्चप्रस्तार इति कणभुगभिप्रायचणविचक्षणा, साम्यावस्थापन्नसत्त्वरजस्तमोगुणगणात्मकप्रकृतिपरिणामोऽय शाश्वतसत्य ससार इति कपिलानुसारिण: साङ्ख्या, शिवशक्तिपर्यायप्रकाशविमर्शविलसितमिद विश्वमिति तन्त्र-शैवागमानुयायिन, केवल-(मायाऽसहकृत) ब्रह्मपरिणाम ससारो ब्रह्मणो जगत्समवायिकारणत्वात् स्वतन्तुसमवायिकारणलूतावदिति शुद्धाऽद्वैतवादिवेदान्तिन, ब्रह्मणश्चिदचिदाकारद्वयविशिष्टत्वात् तदीयाऽचित्तत्त्वपरिणामो जगदिति विशिष्टा-द्वैतवेदान्तिन, अनादिनिधनाऽक्षरस्फोटाभिधशब्दतत्त्वपरिणामोऽर्थसार्थात्मक प्रपञ्च इति शाब्दिका। प्रथममतमपहायान्यानि सर्वाणि परिणामपराणि, किन्तु परिणामस्वरूपाणि नैतेषा सर्वथा समानानि। नाय विषयोऽत्र वितन्यते प्रस्तुतापेक्षत्वात्। शाङ्कराद्वैतमते तु मायाश्रयविषयसच्चिदानन्दस्वरूपब्रह्मविवर्त ईश्वरविषयकजीवाश्रिताऽविद्याविक्षिप्त, मायातत्कार्यप्रतिबिम्बितचिदात्मक, स्वाविविक्ताविद्यातत्कार्य-चिदाभासप्रोद्भासितो वाऽय विविधभेदव्याकुल सदसत्तदुभयान्यतमात्मकत्वेन विवेचनानर्ह ससारः। एतन्मते ब्रह्मावृत्य विश्वविक्षेपणमिति रीत्या प्रसूतस्य द्वैतस्य पारमार्थिकस्य चाद्वैतस्यान्योन्यात्मता-रूपोऽन्योन्यधर्मविनिमयरूपश्च मायाया कार्यमध्यास इति मायाऽविद्या वाऽध्यासद्वारैव प्रवाहानादितया विविधभेदोपप्लुतप्रपञ्चप्रविक्षेपिणी। तथोक्त भामत्याम्—'पूर्वपूर्वाध्यास उत्तरोत्तराध्यासकारणम्'।

शाङ्कराद्वैतवेदान्तस्य मूलसिद्धान्त—"ब्रह्म सत्यम्, जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापर" एव पार-मार्थिकेऽप्यद्वैते, मायया द्वैतभान नासमञ्जसम्। तथा हि—पारमार्थिकाद्वैतस्य व्यावहारिकस्य प्राति-भासिकस्य वा द्वैतस्य च विरोध परिहर्त्तुमेव मतेऽस्मिन् मायाया अभ्युपगम। नात्र चित्र यद् ब्रह्मानु-पहितमपरिच्छिन्नमपि मायातत्कार्योपहित परिच्छिन्नवच्चावभासते, यथोक्त ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्ये[1]—"सत्यमेवै-तत्, पर एवात्मा देहेन्द्रियमनोबुद्ध्युपाधिभि. परिच्छिद्यमानो बालै शारीर इत्युपचर्यते। यथा घट-करकाद्युपाधिवशादपरिच्छिन्नमपि नभ परिच्छिन्नवदवभासते, तद्वत्। तदपेक्षया च कर्मकर्तृत्वादिभेदव्यवहारो न विरुद्ध्यते, प्राक् 'तत्त्वमसि' इत्यात्मैकत्वोपदेशग्रहणात्। गृहीते त्वात्मकत्वे बन्धमोक्षादिसर्वव्यवहार-परिसमाप्तिरेव स्यात्"।

एव मायाभ्युपगमेन परिहृतेऽपि विरोधेऽभ्युपगतेऽपि च ससाराऽध्यासे किं रूपोऽयमवभास इत्यत्र भक्षितेऽपि लशुने न व्याधिशान्तिरिति नयेन विप्रतिपत्तिर्न समाहिता। एतत्समाधानस्वरूपाणि त्रीणि प्रस्थानानि समुद्गतानि शाङ्कराऽद्वैतसिद्धान्तपरिसरे। तानि च 'अवच्छेदवाद', 'प्रतिबिम्बवाद.', 'आभासवाद:' इति नामभिर्व्यपदिश्यन्ते। पूर्वमेतेषा सम्पिण्डितस्वरूपाण्युपन्यस्यन्ते।

अवच्छेदवादस्य निर्गलितं स्वरूपम्—यथाऽपरिच्छिन्नादेकस्मादाकाशात् घटकरकगिरिगुहाद्युपाधि-सबन्धेनानेके परिच्छिन्ना घटकरकगिरिगुहाद्याकाशा अवभासन्ते, तथैवैकस्मादपरिच्छिन्नाद् ब्रह्मणो-

[1] ब्र० सू० शा० भा०, पृष्ठ ६७।

ऽगणितप्रपञ्चपदार्थसार्थं परिच्छिन्नो मायातत्कार्योपाधिवशादवभाति । उपाध्यपगमे परिच्छेदा स्वयमेवापगच्छन्ति । यथा घटकरकाद्युपाधिनिरासेऽपरिच्छिन्नैकाकाश एवावशिष्यते तथैवाविद्याद्युपाधिनिवृत्तौ ब्रह्मैकमपरिच्छिन्नमेवावशिष्यते ।। यथोक्त ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्ये[१]—'नहि शास्त्रमिदन्तया विषयभूत ब्रह्म प्रतिपादयिषति । किं तर्हि प्रत्यगात्मत्वेनाविषयतया प्रतिपादयदविद्याकल्पित वेद्य-वेदितृ-वेदनादिभेदमपनयति' । प्रस्थानेऽस्मिन्नवच्छिन्नजीवस्यानवच्छिन्नब्रह्मभाव एव मोक्ष[२] ।

प्रतिबिम्बवादस्य निष्कृष्टं स्वरूपम्—बिम्बभूतचित एव मायातत्कार्यतत्तदुपाधौ प्रतिबिम्बो विश्ववस्तुव्रात. । यथैकमेव मुख कृपाणमुकुरतैलादिषु प्रतिबिम्बित दीर्घाणुस्निग्धादिनानाकारतयाऽवभासते तथैवैक चिद्रूप ब्रह्म मायातत्कार्यविविधोपाधिषु प्रतिबिम्बितमीश्वरादिस्थावरान्तनानाकारतया प्रतिबिम्बरूपेण प्रतिभासते । न खलु वस्तुतो बिम्बात्प्रतिबिम्बोऽन्य । उपाधे प्रतिबिम्बपक्षपातित्वात्तत्कृता दोषा. प्रतिबिम्बेष्वेव सङ्क्रामन्ते । उपाधिव्यपगमे प्रतिबिम्बा स्वभावतो बिम्बतामापद्यन्ते । यथा दर्पणाद्युपाध्यपसारणे तत्स्थप्रतिबिम्बमुखानि बिम्बात्मता भजन्ते तथैव मायाद्युपाधिनिराकरणे सर्वेऽपि प्रतिबिम्बरूपा विशेषा आत्मनि सम्प्रतिष्ठन्ते । यथोक्तम् कठोपनिषद्भाष्ये[३],—"सर्वदेशकालपुरुषाद्यवस्थमेकमेव ज्ञान नामरूपाद्यनेकोपाधिभेदात्सवित्रादिजलादिप्रतिबिम्बवदनेकधाऽवभासते", मुण्डकोपनिषद्भाष्ये[४]—"त एते कर्माणि विज्ञानमयश्चात्मोपाध्यपनये सति परेऽव्ययेऽनन्तेऽक्षये ब्रह्मण्याकाशकल्पेऽजेऽजरेऽनन्तरेऽमृतेऽभयेऽपूर्वेऽनपरेऽबाह्येऽद्वये शिवे शान्ते सर्वे एकीभवन्त्यविशेषता गच्छन्ति जलधाराद्यपनये इव सूर्यादिप्रतिबिम्बाः सूर्ये", प्रश्नोपनिषद्भाष्ये[५]—"स च जलसूर्यकादिप्रतिबिम्बस्य सूर्यादिप्रवशवद् जगदाधारे शेषे परेऽक्षरे आत्मनि सम्प्रतिष्ठन्ते", बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये[६]—"अत्रास्मिन्नात्मनि हि निरुपाधिके जलसूर्यप्रतिबिम्बभेदा इवादित्ये प्राणाद्युपाधिकृता विशेषा प्राणादिकर्मज-नामाभिधेया यथोक्त ह्येत एकमभिन्नता भवन्ति प्रतिपद्यन्ते", ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्ये[७]—"जलगत हि सूर्यप्रतिबिम्ब जलवृद्धौ वर्धते, जलह्रासे ह्रसति, जलचलने चलति, जलभेदे भिद्यते इत्येव जलधर्मानुविधायि भवति न तु सूर्यस्य तथात्वमस्ति" । प्रस्थानेऽस्मिन् प्रतिबिम्बजीवस्य बिम्बभूतब्रह्मभाव एव मोक्ष[८] ।

यद्यपि त्रयाणामपि वादाना प्रस्थानरूपेण प्रवर्त्तका· शङ्करानुयायिन·, तथाप्यद्वैतसिद्धान्तानामुपपादनायैते त्रयोऽपि शब्दा. शङ्कराचार्येणापि प्रचुर प्रयुक्ता इति निबन्धविषयस्याभासवादस्योपबृहणात् प्रागुपोद्घातरूपेण शाङ्करमत तदुपज्ञाभासशब्दावल्या सक्षेपत उपन्यस्यते ।

माण्डूक्योपनिषद्भाष्ये[९] 'अनाभास' पदव्याख्यानप्रसङ्गे आभासस्य स्वरूप कल्पितविषयभावावभास

---

१ ब्र० सू० शा० भा० पृष्ठ १६ ।

२ ब्र० सू० शा० भा० पृष्ठ ११३ (अत्रोच्यते—स्वरूपावगतिः)

३ क० उ० भा० ।

४ मु० उ० भा० पृष्ठ ४५ ।

५ प्र० उ० भा० पृष्ठ ४४ ।

६ बृ० उ० भा० पृष्ठ ११५ ।

७ ब्र० सू० शा० भा० पृष्ठ ६४५ ।

८ स० वे० सि० सा० सं० पृष्ठ ८०४ (बिम्बभूतं परब्रह्ममात्रं भवति केवलम् । यथापनीते त्वादर्शे प्रतिबिम्बं मुखं स्वयम् ।) ।

९ मा० उ० भा० पृष्ठ १५३ ।

इति प्रतिपादितम्। सदसत्तदुभयात्मकाऽन्यतमतया स्थापनाऽसम्भवादाभासोऽनिर्वचनीय। तथा हि—आभासो न सत्, उपाधिविनाशसमकालमेव विशीर्णत्वस्वाभाव्यात्, नाप्यसत्, तत्प्रतीतेरपरोक्षसिद्धत्वात्, नाप्युभयात्मक, परस्परविरुद्धत्वात्। आभासोऽयमात्मनस्तथैव व्यतिरिच्यते यथा दर्पणस्थमुखाभासो ग्रीवास्थमुखात्। तथापि यथा मिथ्यामुकुरस्थमुख ग्रीवास्थमुखवदवभासते पूर्वमेव मृषा चिदाभासा अपि आत्मवत्प्रथन्ते। यथोक्तम्[1]—'मुखाभासो यथादर्शे, आभासश्चोदितो मृषा'।

किमयमाभासो[2] नाम मुखादर्शयोरन्यतरस्य धर्मोऽथवा मुखस्यैवाहोस्विदुभयस्य उत वा पारमार्थिक वस्त्वन्तरम्। नाद्यस्तथा सति प्रतिपन्नधर्मिणोव्यतिरिक्तस्याऽन्यतरस्याभावेऽपि प्रत्यपत्स्यत, न च प्रतिपद्यते। न द्वितीय, मुखत्वेन व्यपदिश्यमानोऽपि नाऽय मुखमनुहरति प्रत्युतादर्शमेवानुवर्त्तते। आदर्शानुवर्त्तनस्याशयो यन्मुखोन्मुखादर्श एव प्रतीयते, मुखस्य सामीप्यमात्रमपेक्ष्यते। प्रतीतिस्तु मुकुर एव, आदर्शाभावेऽप्रतीयमानत्वात्। न तृतीय; मुखदर्पणयोर्यथाकथञ्चन सयोगे आभासाऽदर्शनात्। यद्युभयधर्मोऽभविष्यत्तर्हि कथमपि तयो. सयोगेऽद्रक्ष्यत, न च दृश्यते। नापि चतुर्थ, अनुपपद्यमानत्वात्। यद्युच्येत सर्वदा विद्यमानोऽपि मुखाभासो मुखदर्पणसयोग एव दृश्यते सूर्यचन्द्रान्यतरसयोगे एव प्रतीयमानपूर्वसिद्धराहुवत् तदपि न वैषम्यात्, चन्द्राद्युपरागात्प्रागपि राहुसत्त्वस्य ज्योतिष्पुराणादिप्रमाणसिद्धत्वात्, न तथाऽवस्थानमाभासस्य मुखदर्पणसयोगात्प्राक् पश्चाद्वा केनापि प्रमाणेन साधयितु शक्यते। न च "नाक्रमेत कामतश्छाया गुर्वादे." "देवर्त्विक्स्नातकाचार्यराज्ञा छाया परस्त्रिय" इत्यादिस्मृतिवचनेभ्यश्छायाया आभासस्य वा वस्तुत्व सिद्धयतीति वाच्यमेकार्थविनियुक्तस्य वाक्यस्यार्थान्तरेऽप्रसज्जनीयत्वात्। नाप्यर्थक्रियाकारित्वबलेन तथा कल्पयितु शक्यते, तन्माधुर्यादिकार्याणामुष्णद्रव्यसेवनाभावहेतुत्वात्तप्तशिलोपविष्टस्य माधुर्यानुपलब्धेश्च। अयमाशयो यच्छायोपविष्टस्य जनस्यातपससर्गनिवृत्तौ स्वाभाविकोदकमाधुर्याभिव्यक्तौ च 'छाया मधुरा' इत्याकारको भ्रम, न तु छायाया माधुर्य धर्मः। तस्मान्न मुखाभासोऽन्यतरधर्मो मुखमात्रधर्म उभयसयोगज-धर्मो नापि पारमार्थिक किमपि वस्त्वन्तरम्। तथैव चिदाभासोऽपि नात्मबुद्धयाद्यन्यतरधर्मो नापि चिन्मात्रस्य धर्मो न वा चिद्बुद्धिसयोगजधर्मो नापि किमपि पारमार्थिक वस्त्वन्तरम्[3], किन्त्वनिर्वचनीय एव। परमार्थत आत्मनोऽसङ्गत्वेऽपि व्यवहारसरणौ यथा न मुख विना दर्पणस्थमुखाभास सम्भवति तथैव नात्मान विना आभास उपपद्यते[4]। अपि च परमार्थत कार्यकारणातीतस्य निर्गुणस्य निर्विकारस्य निष्प्रपञ्चस्याभासशून्यस्य ब्रह्मणो जगत्कारणत्वमविद्याद्वारैव सिद्धयतीति चिदाभासस्याविद्याद्वारकत्वमप्य-परिहार्यम्[5]। तस्मादविद्यावशादेव विज्ञानस्वरूपस्य ब्रह्मण स्पन्दने[6] चिदाभासोपपत्ति।

अधिष्ठानाश्रयोभयविरहे आभासस्यानिष्पत्तेश्चिदाभासस्याधिष्ठान[7] ब्रह्म तदाश्रयश्चाज्ञानादिक कल्पनीयम्। नात्र दृष्टान्तवैकल्य दर्पणस्थमुखाभासादीना ग्रीवास्थमुखदर्पणौ विनाऽनुपपद्यमानत्वस्य प्रत्यक्ष-

---

[1] उपदेशसाहस्री।

[2] उ० सा०, भा० २; प्र० १८२, पृष्ठ २२९ श्लोक ४३।

[3] उ० सा०।

[4] अद्वैतानुभूतिः, पृष्ठ ६१—"बिम्बं विना यथा नीरे प्रतिबिम्बो भवेत्कथम्।
विनात्मानं तथा बुद्धौ चिदाभासो भवेत्कथम्॥" सा० स० पृष्ठ १८७

[5] "प्रतिबिम्बो बिम्बमूलो, विना बिम्बं न सिद्धयति।

[6] मा० का० शा० भा० पृष्ठ १८९।

[7] स्वात्मप्रकाशिका, श्लोक ३७, पृष्ठ १२६; प्रौढानुभूतिः, प्र० २७।

सिद्धत्वात् । अज्ञानतदवच्छिन्नाभासयोरुभयोरन्येषामप्याभासाना च शुद्धचैतन्यमेकमेवाधिष्ठानम्, किन्तु तदाश्रया बहवोऽज्ञान-तत्कार्याणामपरिगणितत्वादाभासानाञ्च तदनुविधायित्वात् । आभासस्त्रिविध·, यथोक्त गौडपादेन —"जात्याभास, चलाभास, वस्त्वाभास तथैव च ।"[१]

आभासस्य कार्यद्वयम्—(१) विषयावभासनम् (२) उपदेशवाक्यसार्थकत्वसम्पादनञ्च । आभासश्चैतन्यरूपात्मनो ज्योति । बुद्धे प्रकाशकत्वमात्माभासनिवन्धनमेव । यदि साक्षिचैतन्यसन्निधानेन बुद्धे प्रकाशकत्वमुररीक्रियेत तर्हि कूटस्थसाक्षिणी कथमप्यङ्गीकृतेऽप्येवविधोपकारकत्वे नानर्थनिवारण यतस्तत्सन्निधानस्य सर्वसुलभत्वात्काष्ठलोष्टादिष्वपि प्रकाशनसामर्थ्यमापद्येत ।

यथा शीतल जल वह्निसन्तप्त देह तापयति तथैवाभासव्याप्ता बुद्धिर्विषयान् प्रकाशयति[२] । आभास आत्मनो द्वार । अयमुपदेशवाक्याना 'तत्त्वमसि' इत्यादीना सार्थकत्व साधयति, यत एतदभावे ब्रह्मण ऐक्यादुपदेष्टव्याभावादुपदेशवाक्यमरण्यरोदन प्रसज्येत । चैतन्यमात्मन स्वरूप न तु धर्म, बुद्धिश्च जडा, तर्ह्यात्माभाससम्पातमन्तरेण बुद्धौ कथमुपदेश सम्भवति । यथोक्तम्—"चैतन्याभासता बुद्धेरात्मनस्तत्स्वरूपता । स्याच्चेत्त ज्ञानशब्दैश्च वेद शास्तीति युज्यते ।।" (उ सा.)

यदि चित्ते चिदाभासो नाभविष्यत्तर्हि 'चेतनोऽहम्' इत्याकारिका प्रतीतिरपि तत्र नाभविष्यत्, एव सत्स्वरूपात्मकत्वप्रतीतिविरहे 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यानामपि वैयर्थ्यापत्ति.[३] ।

न खलु चिदाभासयो कोऽपि सम्बन्ध, चिद्रूपब्रह्मणोऽतिरिक्तस्यार्थाभासस्य (अर्थात्मकचिदाभासस्य) परमार्थत सर्वथाऽसिद्धत्वात्[४] । तथाऽप्यविद्याभूमौ ब्रह्मातिरिक्त सर्वमाभासात्मकमविद्याप्रत्युपस्थापितञ्च । तदुक्त शतश्लोक्याम्[५]—"दृष्ट ब्रह्मातिरिक्त सकलमिदमसद्रूपमाभासमात्रम्', अपरोक्षाऽनुभूतौ च—"रज्ज्वज्ञानात्क्षणेनैव यद्वद्रज्जुर्हि सर्पिणी । भाति तद्वच्चिति साक्षाद्विश्वाकारेण केवला" । यथा रज्जावध्यस्त सर्प रज्जुसत्तयैव सन्निव प्रतिभाति तथात्मन्यध्यस्त जगत्तत्सत्तयैव सत्यवदवभासते । एवविधोऽवभासजनक आभास एव । एष आभासस्तावदनुवर्त्तते यावदात्मसाक्षात्कारो न सम्पद्यते । मायोपहितसाभासचैतन्यमीश्वर[६] बुद्ध्युपहितसाभासचैतन्य जीव. । यथोक्त स्वात्मप्रकाशिकायाम्—

"मायाभासो विशुद्धात्मा त्रयमेतन्महेश्वर । मायाभासोऽवस्तु प्रत्येक नेश्वरो भवेत् ।।
पूर्णत्वान्निर्विकारत्वाद्विशुद्धत्वान्महेश्वर. । जडत्वहेतोर्मायायामीश्वरत्व न दुर्घटम् ।।"

ब्रह्मसूत्रभाष्ये[७]—"आभास एव चैष जीव परस्यात्मनो जलसूर्यकादिवत् प्रतिपत्तव्य", छान्दोग्योपनिषद्-

---

१ मा० का० पृष्ठ १८८ ।

२ "वह्नितप्तजलं तापयुक्तं देहस्य तापकं । चिद्भास्याधीस्तदाभासयुक्ताऽन्यं भासयेत्तथा ।।" लघुवाक्यवृत्तिः, पृष्ठ ३२ ।

३ उ० सा० ।

४ मा० का० भा०; पृष्ठ १७६; अद्वैतानुभूति, पृष्ठ ६१—
प्रतिबिम्बचञ्चलत्वाद्या यथा बिम्बस्य कर्हिचित् । न भवेयुस्तथाभासकर्तृत्वाद्यास्तु नात्मनः ।।

५ श० श्लोक, पृष्ठ : १३१ ।

६ स० वे० सि० सा० सं० श्लोक ३९-४० ।

७ ब्र० सू० भा० पृष्ठ ३०२ ।

भाष्ये[१] च—'जीवो हि नाम देवताया आभासमात्रम् । बुद्ध्यादिभूतमात्रासंसर्गजनित आदर्श इव प्रविष्टपुरुष-प्रतिबिम्बो जलादिष्विव सूर्यादीनाम्"। तथैवान्येऽपि जगत्पदार्थास्तत्तन्मायाकार्योपहितसाभासचैतन्यरूपा । यावदुपाधय आवर्त्तन्ते तावदाभासाश्चैतन्यायन्तेऽर्थाज्जगत समस्तपदार्थसार्थमवभासयन्ति । उपाधिनिवृत्तौ आभासा स्वयमेव विनश्यन्ति, तदानी चैतन्यमेव चावशिष्यते[२]। तदुक्त बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये—'यथोदकाऽलक्तकादिहेत्वपनये सूर्यचन्द्रस्फटिकादिप्रतिबिम्बो (=आभास) विनश्यति, चन्द्रादिस्वरूपमेव परमार्थतो व्यवतिष्ठते, तद्वत्प्रज्ञानघनमनन्तमपार स्वच्छ व्यवतिष्ठते'।

इत्थ शाङ्करग्रन्थेष्वाभासस्य विशद विपुलञ्च विवेचनमुपलभ्यते ।
'The Status of Appearance in Sankar's Philosophy'—इति नामके निबन्धे शाङ्करदर्शने आभासस्य मुख्यत्व स्थापितम्—'Nothing is more central in Sankar's philosophy than the theory of appearance.'[३]

स्वाभिमत मत बृहदारण्योपनिषद्भाष्ये[४] शङ्करपादेन स्पष्टमुपपादितम्—"प्रतिबिम्बाऽवच्छेद-प्रक्रिया विहाय कौन्तेयस्यैव राधेयत्ववदविक्रियस्य नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य आत्मनोऽविद्यावशाज्जीव-भाव । जीवभावापन्नस्यैव स्वाविद्यावशात् सर्वप्रपञ्चकल्पकत्वेनेश्वरोऽपि सह सर्वज्ञत्वादिधर्मैः स्वप्नो-पलब्धमन्त्रवत् तेनैव स्वभिन्न कल्प्यते, पश्चाच्च श्रवणादौ प्रवृत्तस्य 'तत्त्वमसि'-इत्यादिमहावाक्यार्थ-बोधात्स्वरूपसाक्षात्कारेण मुक्ति"। इद सर्वमाभासवादे सम्यगुपपद्यते ।

आभासप्रस्थानम्

प्रस्थानस्यास्य प्रवर्त्तको भगवत्पादादिशङ्कराचार्यशिष्यः श्रीसुरेश्वराचार्य तदनुयायिनश्च प्राधान्येन ।

इदानीमेतत्प्रस्थानानुसारेणाभासस्वरूपादिक निपुण निरूप्यते । आभासनिबन्धनो जगदवभास इति बहुधोपनिबद्ध सुरेश्वराचार्येण वार्त्तिकादिग्रन्थेषु । अतो निश्चीयते यदिदमेवाभासस्य स्वरूप सुरेश्वराचार्या-भिमतम् । तथा हि[५]—

"कार्यकारणता यात आत्माप्येव तमोवशात् । स्वाभासैर्बहुतामेति मनोबुद्ध्याद्युपाधिभि. ॥"
"स्वाभासवर्त्मनैवैतत्स्वात्माज्ञानजभूमिषु । इत बहुत्वमेक सद् वियद् यद्वद् घटादिषु ॥"
"स्वचिदाभासवन्मोहपृष्टेनैवेति कर्तृताम् । कूटस्थोऽपि स्वत. प्रत्यङ नात्मवृत्तव्यपेक्षया ॥"
"बुद्ध्यादिकार्यसस्थस्य कूटस्थाऽसङ्गरूपिण । सर्व स्यात्कारणत्वादि तदाभासैकवर्त्मना ॥"

आनन्दगिरिणेत्थमाभासलक्षण प्रत्यपादि—'आभिमुख्येन अहमित्यापरोक्ष्येण भासते इति आभास'[६];

---

[१] छा० उ० भा० पृष्ठ २९६ ।
[२] बृ० आ० उ० भा०, पृष्ठ ३१६-१७ ।
[३] See Philosophical Quarterly, Vol. VII. (1931-32), p. 217.
[४] बृ० उ० भा० वा० ।
[५] बृ भा० वा०, २-४-४२५; १-२-१२७; १-४-१३९;
[६] आ० गि० टी० on बृ० भा० वा० २-१-२१६ ।

'प्रत्यञ्चितोऽवमतो भासो नाम आभास', 'स्वस्य प्रतीचो महिमा तदाभास", 'विविधया भावनया रञ्जित ज्ञानमन्त करण तदस्यास्ति स चिदाभास.'[२]।

पञ्चदशीकारेण विद्यारण्येनाभासलक्षणमित्थमभ्यधायि[३]—"ईषद्भासनमाभास प्रतिबिम्बस्तथाविध। बिम्बलक्षणहीन सन् बिम्बवत्प्रतिभासते"॥ शङ्करकृतषट्पदीस्तवव्याख्यायामित्थमाभासलक्षण शङ्करानन्दो व्यवरीष्ट[४]—"तल्लक्षणरहितत्वे सति तद्वदाभासमानत्वमेव तदाभासत्वम्"। वेदान्तसज्ञाप्रकरणे[५] आभासलक्षणमित्थ समगारीत्—'चिद्वदवभासमानत्वे सति चिल्लक्षणरहितत्वात् चिदाभास इति व्यपदिश्यते'। ब्रह्मानन्देनाप्यद्वैतसिद्धिटीकायामाभासलक्षणमित्थमेवोदलेखि[६]—'चिदाभासत्वं स्वावच्छिन्नचित विनाऽनुपलभ्यमानत्वम्"।

उपर्युक्ताना सर्वेषा लक्षणानामयमेव निष्कर्षो यद् वस्तुतोऽतदात्मनोऽपि तद्वदवभासमानतैवभास।

यावत्कालमुपाधयोऽवतिष्ठन्ते आभासाश्च परिस्फुरन्ति तावज्जगद्विजृम्भणम्। उपाध्यपगमे तत्समकालमेवाभासनिमीलने च जगत्सबाधस्ततश्चैकाद्वयतुरीयपदव्यपदिष्टनिरुपाधिकब्रह्मतत्त्वसाक्षात्कार।

आभासप्रस्थानेऽप्यवान्तरमतानि त्रिविधान्युपलभ्यन्ते। आभासनिबन्धनस्तद्रूपश्च जगत्पदार्थ ईश्वरादिस्थावरान्तस्तत्तदुपाध्युपहितोपाधितादात्म्यापन्नस्वाविविक्तोपाधिगतचिदाभासरूपस्तत्तदुपाध्युपहितोपाधि-तादात्म्यापन्नतद्गतस्वाभासाऽविविक्तचिद्रूपश्चिदाभासविशिष्टतत्तदुपाध्युपहितरूपो वा। एतेषामिदमेवान्तर यत्प्रथममते 'तत्त्वमसि'-इत्यादिवाक्याखण्डार्थबोधे त्वम् आभासरूपतया साकल्येन मिथ्यात्वेन पूर्ण बाधितत्वाज्जहल्लक्षणास्वीकारः, द्वितीयतृतीययोस्तु अशत एव मिथ्यात्वेन तथैव बाधितत्वाज्जहदजहल्लक्षणास्वीकार।

आभासप्रतिबिम्बयोर्भेदा—

(१) प्रतिबिम्बस्य बिम्बादभेद., आभासस्य तु चितो नाभेदो नापि भेदोऽनिर्वचनीयत्वात्तथा।

(२) प्रतिबिम्बो बिम्बाभिन्नतया सत्य, आभासस्त्वनिर्वचनीयतया मिथ्या।

(३) प्रतिबिम्बो वाच्यतयाऽसत्य, किन्तु लक्ष्यतया सत्य एव, आभासस्तु सर्वथा मृषैव।

(४) प्रतिबिम्ब आपातत एव बाध्यते। अत एव तत्राभेदे सामानाधिकरण्यमभ्युपेयते। आभासस्तु वस्तुतो बाध्यते, तत्र च बाधाया सामानाधिकरण्यम्।

(५) न खलु प्रतिबिम्बो बिम्बेनातिक्रम्यते तत्स्वरूपत्वात्, आभासस्तु चिताऽतिक्रम्यते तदुद्भूतत्वेऽपि तदनाकारत्वात्।

आभासो निखिलजगत्पदार्थभ्रमजनक स्वयमपि भ्रमस्वरूप एव। तदुक्त पञ्चदश्याम्—

'कर्तृत्वादीन् बुद्धिधर्मान्, स्फूर्त्याख्याञ्चात्मरूपताम्।
दधद् विभाति पुरत आभासोऽतो भ्रमो भवेत्॥

आभास. क्वचिच्चिन्महिमेति व्याह्रियतेऽन्यत्र चिदभिप्रायपदेन वर्ण्यतेऽन्यत्र चित्प्रसादशब्देन व्यपदिश्यते। निबन्धविस्तरभिया सूत्ररूपेणैवाभासवादस्य किञ्चिदुपन्यस्तमिति विवरणलोलुपै क्षन्तव्योऽहम्।

---

१ आ० गि० टी० on बृ० भा० वा० ४०-३-५२१।

२ आ० गि० टी० on बृ० भा० वा० ४-३-१२६६।

३ पञ्चदशी।

४ शं० ती० व्याख्या on षट्पदीस्तव।

५ वेदान्तसंज्ञाप्रकरणम्, पृष्ठ २५।

६ ब्रह्मानन्दी टी० on सि०, पृष्ठ ३२५।

वैशेषिकदर्शने मुनिना कणादेन व्याख्यातो धर्मः

बदरीनाथशुक्लः

सर्वार्थदर्शक शर्व कणाद च विदा वरम् ।
नत्वा धर्मस्य वक्ष्याम स्वरूप तद्विवक्षितम् ।।

वैशेषिकदर्शने "अथातो धर्म व्याख्यास्याम" इति तदीयप्रथमसूत्रेण कणादो मुनिर्धर्म व्याख्यास्यमानत्वेन प्रतिजज्ञे । ततो "यतोऽभ्युदयनि श्रेयससिद्धिः स धर्मः" इति सूत्रेण त लक्षयित्वा "धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाना पदार्थाना साधर्म्यवैधर्म्याभ्या तत्त्वज्ञानान्नि श्रेयसम्" इति सूत्रेण तस्य परम प्रयोजनमपि विस्पष्ट बभाषे। पर किस्वरूप. स ? कथ कुतो ज्ञेय ? कथ च साध्य ? इत्यादिक किमपि विशद नाभिदधे। अतस्तेन दर्शनेऽस्मिन् व्याख्यातो धर्म क इति विषये कश्चन विचारो मितेन वचसा प्रस्तूयते ।

धर्मशब्दस्य स्वरूपतोऽर्थतश्चेतिवृत्तं सस्कृतवाङमये चिरप्राचीन बहु विस्तृत नितान्तमद्भुत च विद्यते। वेदेषु शब्दोऽय पुल्लिङ्गे बाहुल्येन च नपुसकलिङ्गे प्रयुज्यमानो भिन्नभिन्नानर्थानवभासयन्नुपलभ्यते । यथा—

"प्रथमा धर्मा" (ऋ० ३।१७।), "तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्" (ऋ० १।१६४), "इममञ्जस्यामुभये अकृण्वत धर्माणमग्नि विदथस्य साधनम्" (ऋ० १०।९२।२), "द्यावापृथिवी वरुणस्य धर्मणा विस्कम्भिते अजरे भूरितेजसा" (ऋ० ६।७०।१) "अचित्ती यत्तव धर्मा युयोपिम मा नस्तस्मादेनसो देवरीरिष" (ऋ० ७।८७।५) इत्यादयः ।

छान्दोग्योपनिषदि धर्म· स्कन्धत्रयात्मक वर्णित —"त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययन दानमिति, प्रथमस्तप एवेति, द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी, तृतीयोऽत्यन्त मात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्, सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति, ब्रह्मसस्थोऽमृतत्वमेति" (२-२३) ।

पुराणेषु, रामायणमहाभारतयो, धर्मसूत्रेषु धर्मशास्त्रेषु च धर्मशब्दो बाहुल्येन वर्णाश्रमधर्मेषु सत्याहिंसादिसार्वभौमधर्मेषु च तत्तद्धार्मिकसम्प्रदायेषु तत्तत्सप्रदायोपगतसदाचारेषु च व्यवह्रियते ।

दर्शनेष्वपि वैदिकेष्ववैदिकेषु च शब्दोऽय वक्ष्यमाणेषु विभिन्नेष्वर्थेषु प्रयुक्त· प्राप्यते । तथा हि—यागादिक्रियाजन्योऽन्त.करणवृत्तिविशेषो धर्म इति साख्या । योगविध्यनुष्ठानमूलक सामर्थ्यविशेषो धर्म इति योगा. । शास्त्रविहितकर्मप्रभव. पुण्यापरपर्याय आत्मनो विशेषगुणविशेष इति नैयायिका । यागाद्यनुष्ठानजन्यमपूर्व धर्म इति प्राभाकरमीमासका । वेदोपदिष्टश्रेय साधनको यागादि धर्म इति भट्टमीमासका वेदान्तिनश्च । ज्ञानजन्या चित्तवासना धर्म इति सौगताः । पुण्यकर्महेतुक पुद्गलाख्यः । परमाणुद्रव्यरूपो धर्म इति जैना. ।

एषु प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणात्मना विभक्तो यागादिक्रियाकलापस्तत्प्रभव. पौरुषो विशेषगुणविशेषश्चेत्युभय कणादस्य धर्मशब्दार्थतया सम्मत वैशेषिकदर्शनारम्भे व्याख्यास्यमानतया प्रतिज्ञात चेति बहवो ब्रुवन्ति। वैशेषिकमर्मस्पर्शपटीयसा शङ्करमिश्रप्रभृतीनामप्ययमेवाभिप्रायस्तदीयप्रबन्धपर्यालोचनेन परिस्फुरति। यथोक्त शङ्करमिश्रेण वैशेषिकदर्शनप्रथमसूत्रावतारक उपस्कारे—

"तापत्रयपराहता विवेकिनस्तापत्रयनिवृत्तिनिदानमनुसन्दधाना नानाश्रुतिस्मृतीतिहासपुराणेष्वात्मतत्त्वसाक्षात्कारमेव तदुपायमाकलयाम्बभूवु, तत्प्राप्तिहेतुमपि पन्थान जिज्ञासमाना परमकारुणिक कणाद मुनिमुपसेदु। अथ कणादो मुनिस्तत्त्वज्ञानवैराग्यैश्वर्यसम्पन्न षण्णा पदार्थाना साधर्म्यवैधर्म्याभ्या तत्त्वज्ञानमेवात्मतत्त्वसाक्षात्कारप्राप्तये परम पन्था इति मनसि कृत्वा तच्च निवृत्तिलक्षणाद्धर्मादितेषामनायासेन सेत्स्यतीति लक्षणत. स्वरूपतश्च धर्ममेव प्रथममुपदिश्यानन्तरं षडपि पदार्थानुद्देशलक्षणपरीक्षाभिरुपदेक्ष्यामीति हृदि निधाय तेषामवधानाय प्रतिजानीते—अथात इति"।

अस्मिन् वाक्यसन्दर्भे निःश्रेयसमात्मतत्त्वसाक्षात्काराज्जायते, साक्षात्कारश्च स द्रव्यादिषट्पदार्थाना तत्त्वज्ञानादुत्पद्यते, तत्त्वज्ञान चेद निवृत्तिलक्षणाद्धर्मात्प्रभवतीति, अतस्त धर्मं व्याख्यातु सूत्रकारो मुनिः "अथातो धर्मं व्याख्यास्याम" इत्येव प्रतिज्ञातवानिति प्रतिपादितम्। तथा च निवृत्तिलक्षणो नि.श्रेयसप्रयोजको धर्म एव मुनिना व्याख्यास्यमानत्वेन प्रतिज्ञात इति स्पष्टोऽभिप्राय शङ्करमिश्रस्य।

जयनारायणतर्कपञ्चाननेनाप्येतादृश एवाशय उक्तप्रतिज्ञासूत्रस्य कणादसूत्रविवृतिनामिकायां स्वटीकाया प्रकटित.। यथा—"यद्यप्यत्र तन्त्रे पदार्थनिरूपणस्यैव प्राचुर्य तथापि पदार्थतत्त्वज्ञाननिदानतया धर्मस्यैव प्राधान्यात्तन्निरूपणमेव प्रथम प्रतिजानीते—"अथात इति"। पुनस्तत्रैवान्ते "अत्र धर्मस्य ज्ञानोपयोगिता चित्तशुद्धिविविदिषाद्वारिकैव 'विविदिषन्ति यज्ञेन' इत्यादि श्रुते 'कषाये कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञान प्रजायते' इत्यादिस्मृतेश्च" इति।

अत्रोक्तश्रुतिस्मृत्योर्यज्ञकर्मशब्दाभ्या धर्मस्याभिधेयतामभिधाय तादृशधर्मस्यैव प्रतिज्ञासूत्रेण व्याख्येयतया प्रतिज्ञातत्वमिति सुव्यक्तमेव प्रणिगदितम्।

चन्द्रकान्तभट्टाचार्येणाप्येवमेव प्रोक्तप्रतिज्ञासूत्रस्य धर्मलक्षणसूत्रस्य च भाष्ययो स्वाभिप्रायः प्रकाशित। तत्र प्रतिज्ञासूत्रभाष्ये यथा—

"सर्व एवैते पुरुषार्था साक्षात्परम्परया वा धर्मादेवाभिनिष्पद्यन्ते, धर्ममन्तरेण नार्थकाममोक्षाणामधिगम, धर्ममनुतिष्ठन् खल्वयमर्थं काम चाधिगच्छति, अपवर्गोऽपि परम प्रयोजन निवृत्तिलक्षणाद्धर्मादशुद्ध्युपरमे मनस. प्रसत्तौ सत्या तत्त्वज्ञानान्निष्पद्यमान. प्रणाल्या धर्मसाधन एव, तस्मादस्मिंस्तत्त्वज्ञानार्थे शास्त्रे—अथातो धर्म व्याख्यास्याम। कस्मात्? तत्साधनभावात् धर्मात् खल्वय पुरुषो विशुद्धसत्त्वस्तत्त्वज्ञानायोपकल्पते, तत्त्व च जानन्निःश्रेयसमधिगच्छति"।

धर्मलक्षणसूत्रभाष्ये यथा— "यस्मादभ्युदयनिःश्रेयसयो सिद्धिर्निष्पत्ति स धर्म। कस्मादभ्युदयनिःश्रेयसयोर्निष्पत्ति? योऽय प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भ, तस्मादभ्युदयनिःश्रेयसयोर्निष्पत्तिः। तत्र वाचा सत्य हित प्रिय स्वाध्याय च, मनसा दयामस्पृहा श्रद्धा च, शरीरेण दान, परिचरण परित्राण चाचरन् पुरुषो धर्ममाचरतीत्युच्यते। 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि' इति चाम्नायो यजतिशब्दवाच्यं धर्ममाह। अनवस्थानात्फलानुपपत्तिरिति चेन्न, मृगमदवासनावदुपपत्तेः, यजति खल्वय भङ्गी न फलकालमवतिष्ठते, तावत्कालमनवस्थिताच्च तस्मादभ्युदयनिःश्रेयसयोर्निष्पत्तिर्नोपपद्यते। नाय दोष, कस्मात्? मृगमदवासनावदुपपत्ते, यथा खलु मृगमदवासनावासित पटो मृगमदापगमेऽपि मृगमदगन्धवानेवोपलभ्यते, अतिशयाधानोपपत्ते, तथा विलीनोऽपि यजति कर्तर्यतिशय कमप्यादधान एव विलीयते,

सोऽयमतिशय संस्कार, अपूर्वं धर्म, पुण्य नियोग, कार्यम्, इति उच्चावचनामभिर्व्यपदिश्यते ।'' सोऽयमपरो धर्मस्तत्त्वज्ञानार्थत्वात् । परश्च धर्मस्तत्त्वज्ञान निःश्रेयसार्थत्वात्'' ।

तदित्थमस्मिन्नुभयस्मिन्नेव भाष्यभागे धर्मस्यानुष्ठेयत्वनिवृत्तिलक्षणत्वातिशयरूपत्वादिक मुनिना व्याख्यानीयत्वेन प्रतिज्ञेयत्व लक्षणीयत्व च चारुतर चकास्ति ।

न्यायमूर्त्तेरुदयनस्यापीदृश एवाभिसन्धि प्रतिभाति, यथा 'तच्चेश्वरनोदनाभिव्यक्ताद्धर्मादेव' इति प्रशस्तदेवप्रणीतपदार्थधर्मसग्रहस्थवचस किरणावल्याख्यव्याख्याया स ब्रवीति--

'ईश्वरनोदना उपदेशो वेद इति यावत् । तेनाभिव्यक्तात् प्रतिपादिताद्धर्मात् । अयमर्थ — शास्त्रेण पदार्थान् विविच्य श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणोपदिष्टयोगविधिना दीर्घकालादनैरन्तर्यसेवितान्निवृत्तिलक्षणाद्धर्मादेव तत्त्वज्ञानमुत्पद्यते यतोऽपवृज्यते । नह्युपपत्त्या विना विवेक, न च विवेचनाद्विना उपदेशमात्रेणाश्रद्धामलक्षालनम्, न च तेन विना शङ्काशूकस्य त्याग, न च तमन्तरेण निवर्तको धर्म, न च तेन विना दृढभूमिविभ्रमसमुन्मूलनसमर्थस्तत्त्वसाक्षात्कार इति । तस्मात्तत्त्वज्ञानमेव निःश्रेयससाधन कर्माणि त्वनुत्पन्नतत्त्वज्ञानस्य तत्त्वज्ञानार्थिनस्तत्प्रतिबन्धकाधर्मतिरोधानद्वारेण प्रायश्चित्तवदुपयुज्यन्ते । उत्पन्नतत्त्वज्ञानस्य त्वन्तरालब्धवृष्टे प्रारब्धकारीरी परिसमाप्तिवत् प्रारब्धाश्रमधर्मसमापन लोकसग्रहार्थमिति युक्तमुत्पश्याम । एतेन 'अथातो धर्म व्याख्यास्याम', 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयसिद्धि स धर्म' 'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्' इति त्रिसूत्री व्याख्याता'' ।

ग्रन्थेऽस्मिन् पूर्वोक्तार्थसार्थस्य कणादप्रथमत्रिसूत्रीव्याख्यानत्वमाख्याय विस्पष्टमेवेश्वरप्रणीतवेदोदितधर्मस्य मुनिना कणादेन प्रतिज्ञातत्व लक्षितत्व चावेदित किरणावलीकारेण ।

तदेव प्राय समेषामेव प्राचीनार्वाचीनवैशेषिकविपश्चिता कृतिजातस्यानुशीलनेन वेदोपदिष्टस्य प्रवृत्तिनिवृत्त्यात्मकधर्मस्यैव वैशेषिकशास्त्रे व्याख्येयत्वेन प्रतिज्ञालक्षण निरूपण चेति निश्चप्रच प्रतीयते । अथात्र वयं विमृशाम —

वेदादिशास्त्रप्रतिपादितस्य यागादे पुण्याद्यपरपर्यायस्य तज्जन्यातिशयस्य च 'अथातो धर्म व्याख्यास्याम' इति सूत्रेण व्याख्यास्यमानतया प्रतिज्ञातत्वस्वीकारो नोचितस्तथा सति तस्यैव प्राधान्येन विस्तारेण च प्रदर्शयितुमुचितत्वेन त सक्षेपेणैव प्रतिपाद्य ससरम्भ साधर्म्यवैधर्म्याभ्या षट्पदार्थानामुपवर्णनस्यासङ्गतत्वमापद्येत । तथा च—

> धर्म व्याख्यातुकामस्य षट्पदार्थोपवर्णनम् ।
> सागर गन्तुकामस्य हिमवद्गमनोपमम् ।।

इति कस्यचित्पर्यालोचकस्याक्षेप स्थान एव स्यात् । किं च यागाद्यात्मकधर्मस्य मीमासादर्शनाद् विविधाभ्य स्मृतिभ्यश्चैव सम्यगवबोधसम्भवेन तत्रैव कणादस्यापि पराक्रमप्रदर्शनस्य निष्प्रयोजनत्वमपि प्रसज्येत ।

ननु निःश्रेयसप्रयोजकतत्त्वज्ञानोपायतया निष्कामधर्मस्य प्राधान्येन प्रथम तत्प्रतिपादनस्य न्याय्यतया तस्यैव व्याख्यास्यमानतया प्रतिज्ञान पदार्थोपवर्णनात् पूर्वं लक्षणादिना निरूपण च समुचितम् । यथोक्तं—जयनारायणतर्कपञ्चाननेन प्रतिज्ञासूत्रस्य विवृतौ—''यद्यप्यत्र तन्त्रे पदार्थनिरूपणस्यैव प्राचुर्यं तथापि पदार्थतत्त्वज्ञाननिदानतया धर्मस्यैव प्राधान्यात्तन्निरूपणमेव प्रथम प्रतिजानीते—''अथात इति''— परमिद न समीचीनम्, निष्कामधर्मस्येव साधर्म्यवैधर्म्यलक्षणस्य पदार्थधर्मस्यापि तत्त्वज्ञानोपायत्वाद् विशेषात्पदार्थधर्मवर्णनस्यापि प्रतिज्ञाभ्युपगमसम्भवात् । न च साधर्म्यवैधर्म्यलक्षण पदार्थधर्मो न स्वरूपतस्तत्त्वज्ञानस्य साधन किन्तु ज्ञानत एवेति तज्ज्ञानस्यापि निष्कामधर्मसाध्यतया धर्मस्य ततोऽपि प्राधान्यमिति

वक्तु शक्य पदार्थधर्मज्ञाने निष्कामधर्मस्याप्रयोजकत्वात् । न हि निष्कामधर्ममसेवमानस्य पदार्थधर्मज्ञानं नोपजायते, नास्तिकानामपि वैशेषिकतन्त्राभ्यासेन पदार्थधर्मज्ञानस्य जायमानत्वात् ।

अयम्भाव.—नि श्रेयसं तावदात्मसाक्षात्कारलक्षणा त्तत्त्वज्ञानाज्जायते, तादृश तत्त्वज्ञान च न केवलात्पदार्थधर्मज्ञानात्, न वा केवलान्निष्कामधर्मात्, अपि तु ताभ्यामुभाभ्यामेव । अत पदार्थधर्मज्ञानाय वैशेषिकशास्त्राभ्यास केवलस्य च तस्य तत्त्वज्ञानोपधानासमर्थतया निष्कामधर्मानुष्ठान चेत्युभयस्यैवावश्यकतया न वैशेषिकतन्त्रविमुखस्य मीमासकस्य न वा मीमासाविमुखस्य वैशेषिकस्य नि श्रेयसावाप्तिरपि तु तदुभयोपासकस्य भाग्यवत एव । अत एवोक्त मुनिना कणादेन "धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाना पदार्थाना साधर्म्यवैधर्म्याभ्या तत्त्वज्ञानान्नि श्रेयसम्" इति ।

अत्र धर्मविशेषो निष्कामो निवृत्तिलक्षणो धर्म. । तत्प्रसूतादिति तत्त्वज्ञानादित्यनेनान्वयि, तत्त्वज्ञान चात्मतत्त्वसाक्षात्कार समवायानामित्यन्तार्थोऽभेदेन पदार्थशब्दार्थान्वयी, पदार्थशब्दोत्तर शैषिकी षष्ठी, तदर्थस्य साधर्म्यवैधर्म्यशब्दार्थेऽन्वय, साधर्म्यवैधर्म्यशब्दोत्तर तृतीया हेतौ न प्रकारे, तदर्थश्च तत्त्वज्ञानान्वयी, तथा च धर्मविशेषेण निष्कामधर्मेण द्रव्यादिपदार्थाना साधर्म्यवैधर्म्याभ्या च जनितात्तत्त्वज्ञानादात्मतत्त्वसाक्षात्कारलक्षणान्नि श्रेयस निष्पद्यत इति सूत्रार्थरहस्यम् ।

तथा च धर्मस्तावद् द्विविधोऽनुष्ठेयो विज्ञेयश्च । तत्रानुष्ठेयो धर्मो यागादि, स च 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इति सूत्रेणारब्धाया द्वादशलक्षण्या जैमिनीयमीमासाया विषय, विज्ञेयो धर्म साधर्म्यवैधर्म्यलक्षण पदार्थधर्म, स च 'अथातो धर्म व्याख्यास्याम' इति सूत्रेणारब्धाया. कणादीयदशलक्षण्या विषय इति विवेक:।

एव च 'यतोऽभ्युदयनि श्रेयससिद्धि· स धर्म' इति धर्मलक्षणसूत्रेऽभ्युदयशब्दस्यात्मतत्त्वसाक्षात्कारलक्षण तत्त्वज्ञानमर्थस्तथा चात्मतत्त्वसाक्षात्कारलक्षणतत्त्वज्ञानद्वारा नि.श्रेयसस्य साधको य स धर्म इति धर्मसामान्यलक्षण तादृशतत्त्वज्ञानोपायभूत वैदिक धर्मं साधर्म्यवैधर्म्यलक्षण पदार्थधर्मं च निष्प्रतिबन्ध सस्पृशति ।

नन्वुक्तरीत्या पदार्थधर्मस्यैव कणादेन निरूपयितु प्रतिज्ञातत्वस्वीकारे षष्ठाध्याये धर्मनिरूपणस्याकाण्डताण्डवत्व स्यादिति चेन्न तत्र पदार्थधर्मतयैव तन्निरूपणात् प्रासङ्गिकस्यापि तस्य सम्भवाच्च ।

अथ पदार्थधर्मनिरूपणस्य प्रतिज्ञातत्वोपगमे वैशेषिकदर्शनान्तरङ्गविज्ञाना शङ्करमिश्रप्रभृतिप्रामाणिकविपश्चितामुक्तग्रन्था विरुध्येरन्निति चेत्किमत्र कुर्याम ऋते स्मरणाद् व्युत्पत्तिवादस्थितस्य 'न हि कस्यचिद् ग्रन्थकृतो विपरीतलेखन युक्तिबलाद् वस्तुसिद्धौ बाधकम्' इति गदाधरवचनस्य ।

ननु यद्येष एव सत्योऽर्थस्तदा कुतो नाय कस्यापि विदुषोऽद्यावधि प्राकाशतेत्यत्रापि कि कर्तुं प्रभवेम ? न हि सर्वं सर्वस्य सर्वदा प्रतिभातीति कश्चिन्नियम । किं च धर्मशब्दश्रवणेन सपद्युपस्थिते यागाद्यात्मकवैदिकधर्मे रागातिशयबद्धमनस्तयाऽपि प्रेयसीस्वरूपानुचिन्तनमग्नमनस पुरोवर्त्तिविषयाप्रतिभास इव तदप्रतिभास. सभवति ।

किं चायमर्थ. कस्यचिद् विपश्चित इत पूर्व न प्रत्यभादित्यपि नास्ति पदार्थधर्मसग्रहाख्ये वैशेषिकसूत्रव्याख्याग्रन्थे प्रशस्तदेवाचार्येण पदार्थधर्मस्यैव निरूपयितु प्रतिज्ञातत्वेन तन्मते 'अथातो धर्म व्याख्यास्याम.' इति सूत्रेण पदार्थधर्म एव कणादेन व्याख्यास्यमानतया प्रतिज्ञात इति वक्तु शक्यत्वात् । अन्यथा व्याख्येयव्याख्यानग्रन्थयोर्विषयभेदापत्ते ।

पदार्थधर्मसग्रहो न वैशेषिकसूत्रव्याख्यानभूतोऽपि तु स्वतन्त्रो मौलिको ग्रन्थ इति तु सम्प्रदायविरुद्धम् । "एतेन अथातो धर्म व्याख्यास्याम', 'यतोऽभ्युदयनि श्रेयससिद्धि· स धर्म', 'तद्वचनदाम्नायस्य

प्रामाण्यम्' इति त्रिसूत्री व्याख्याता" इत्येव किरणावल्यामुदयनाचार्येण प्रतिपादिततया 'पदार्थधर्मसग्रहो वैशेषिकसूत्रस्य व्याख्यानग्रन्थ एव' इत्येव सम्प्रदाय इति प्रत्ययात् ।

ननु प्रथमद्वितीयसूत्राभ्या पदार्थधर्मस्यैव व्याख्येयत्वेन प्रतिज्ञातत्वे लक्षणीयत्वे च 'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्' इति सूत्रानुत्थानप्रसङ्ग, यतो हि यदा यागाद्यात्मकधर्म. प्रतिज्ञातो लक्षितश्च मन्यते तदा तत्र प्रमाणत्वेन वेदस्यैवोपन्यसनीयतया तस्य च प्रमाणत्वे विप्रतिपत्तौ सत्या तत्प्रामाण्यप्रदर्शनाय समुत्थित सूत्र परमेश्वरवचस्त्वेन वेदस्य प्रामाण्य प्रसाध्य सार्थकतामश्नुते, पर यदि पदार्थधर्म· प्रतिज्ञातो लक्षितश्च मन्येत तदा तत्र वैशेषिकशास्त्रस्य महेश्वरप्रसादप्रभवकारणादप्रत्यक्षस्यैव वा प्रमाणतया वेदस्य प्रामाण्यचर्चाया अनवतरणेनोक्तरीत्या सूत्रस्योत्थान सार्थक्य च न सगच्छेतेति चेन्न, 'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्' इत्यत्र तच्छब्देन द्वितीयसूत्रेण सन्निधापितस्य धर्मस्यैव परामर्शस्य न्याय्यतरतया तदभ्युपगमेन सूत्रस्योत्थानसार्थक्ययो सुघटत्वात् । तथाहि—

परमेश्वरस्य पूर्वमप्रक्रान्ततया तच्छब्देन तस्य परामर्शो न तथा न्याय्यो यथा पूर्वस्मिन् सूत्रे प्रक्रान्तस्य धर्मस्य, अतस्तत्र तच्छब्दस्य धर्मपरामर्शकत्व स्वीकृत्य प्रामाणिकस्य धर्मस्वरूपार्थस्य वचनत्वादाम्नायकल्पस्य वैशेषिकशास्त्रस्य प्रामाण्यप्रतिपादनपरत्वमुपगम्य तत्सूत्रस्य सार्थक्यसमर्थनमेव समुचितम् । अथवाऽभ्युदयनिःश्रेयसनिष्पादकत्वेन धर्मे लक्षितेऽभ्युदयनिःश्रेयसयोरप्रामाणिकत्वशङ्कया तद्द्वारकधर्मलक्षणस्यासम्भव आपादिते तन्निराकरणार्थं सूत्रोत्थानमभ्युपेयम् । तथा च प्रामाणिकयोरभ्युदयनिःश्रेयसरूपयोरर्थयोर्वचनत्वादाम्नायस्य वेदस्यैव प्रामाण्यशसनेऽपि तस्य तात्पर्य शक्यस्वीकारम् । तच्छब्दस्य धर्मपरामर्शकत्वमभ्युदयनिःश्रेयसपरामर्शकत्व वा न पूर्वाभियुक्तासम्मत प्रस्तुतसूत्रोपस्कारे शङ्करमिश्रेण तच्छब्दस्य धर्मपरामर्शकताया. प्रदर्शनात् । यथा—

"यद्वा तदिति सन्निहित धर्ममेव परामृशति, तथा च धर्मस्य वचनात् प्रतिपादनादाम्नायस्य वेदस्य प्रामाण्यम्, यद्धि वाक्य प्रामाणिकमर्थ प्रतिपादयति तत्प्रमाणमेव यत इत्यर्थ" । अभ्युदयनिःश्रेयसपरामर्शकता च तच्छब्दस्य बिहारराज्यान्तर्गतद्वारवङ्गस्थमिथिलाविद्यापीठप्रकाशिताया वैशेषिकसूत्रस्याविज्ञातकर्तृकप्राचीनव्याख्याया प्राप्यते, यथा तत्र प्रस्तुतसूत्रव्याख्यायाम्—"तयो स्वर्गापवर्गयोर्वचनात् प्रतिपादनात् प्रमितिजननादाम्नायस्य श्रुतिस्मृतीतिहासादे. प्रामाण्य प्रमितिकारणत्वम्" इति ।

तदेव पदार्थधर्मस्यैव प्रथमद्वितीयसूत्रयो प्रतिज्ञातत्वलक्षितत्वयोरौचित्यसिद्धया—

पदार्थधर्म एवात्र धर्मशब्देन सम्मत ।
कणादस्येति नो वाणी कथञ्चिन्न विपद्यते ॥

इति सपटहध्वानमुद्घोषयद्भिरस्माभि

सन्निबन्ध समर्प्येम त्रिपाठिप्रवरो मुदा ।
वक्ष्यमाणेन पद्येन सानन्दमभिनन्द्यते ॥

गुणानामागार परमरमणीयो बहुविदा
वरेण्यो मूर्धन्यो महितचरितख्यातयशसाम् ।
शरण्यः साधूना तरुणतरणिर्दुष्टतमसा
प्रभा भव्यामव्याद् भुवि सुरतिनारायणमणिः ॥

———

श्रीरामानुजदर्शनम्

को० व० श्रीनीलमेघाचार्यः

प्रमाणानि

श्रीरामानुजदर्शने प्रत्यक्षानुमानागमा इति त्रीणि प्रमाणानि स्वीक्रियन्ते। वाद्यन्तरोक्ताना प्रमाणान्तराणामेष्वेवान्तर्भावस्स्वीक्रियते।

प्रमाणाना शक्ति —तत्र प्रत्यक्ष योग्यमिन्द्रियसन्निकृष्टमर्थ गमयितु प्रगल्भते। अनुमानमैन्द्रियकसजातीयमर्थं ग्राहयितु क्षमते। वेदादिरागमोऽप्यतीन्द्रिय धर्माधर्मस्वर्गनरकेश्वरादिकमर्थं साधयितु पर्याप्नोति।

प्रमाणाना विरोधे बाध्यबाधकभावप्रकार —परमार्थत प्रमाणयोर्नास्ति विरोध। तथा चाभियुक्ता आहु "न मानयोर्विरोधोऽस्ति" इति। प्रमाणत्वेनाभिमतयोर्जातु जातु सभवति क्वचिद्विरोध। तत्र सभाव्यमानान्यथासिद्धि बाध्यम्, अनन्यथासिद्ध बाधकम्। स्वोपस्थाप्यमानार्थविषयप्रामाण्य विनापि सभवदुदय विरुद्धार्थप्रमाणाबाधेनापि सभवदुदयमन्यथासिद्धम्। स्वोपस्थाप्यमानार्थविषयप्रामाण्य विनाऽसभवदुदय विरुद्धार्थप्रमाणाबाधेनासभवदुदयमनन्यथासिद्धम्। अन्यथासिद्धत्वे सावकाशत्वमनन्यथासिद्धे निरवकाशत्व च प्रयोजकता गाहते। विषयान्तरलाभोऽप्रमाणकोटिनिवेशो वा सावकाशता। अप्रमाणकोटिनिवेश. कारणदोषात् बाधकप्रत्ययाच्च भवति। विषयान्तरालाभोऽप्रमाणकोटिनिवेशाभावश्च निरवकाशता। उदाहरणम्—'न हिस्यात् सर्वाभूतानि' इति शास्त्रप्रमाण लब्धक्रतुबाह्यहिंसारूपविषयान्तर सावकाशं निरुक्तनिषेधानास्कन्दितविषयान्तरलाभविधुरेण निरवकाशेन 'पशुमालभेत' इति शास्त्रेण स्वविषये बाध्यते। तिमिरादिकारणदोषादुत्पद्यमानमेकश्चन्द्र इति प्रत्यक्ष निर्दोषेणेन्द्रियजन्येन शब्दजन्येन वा द्वौ चन्द्राविति ज्ञानेन बाध्यते।

इदमत्रावधेयम्—बाधकेन प्रमाणेन स्वमूलभूता प्रमाणव्यक्तिर्बाधितु न युज्यते, मूलबाधे हि बाधकमनुत्थानहतमापद्येत। बाधकेन प्रमाणेन सति विरोधे मूलसजातीयाप्रमाणव्यक्तिर्बाधितु युज्यते। ज्वालाभेदानुमान हि व्याप्तिग्रहणौपयिकी प्रदीपोत्पादकतैलवर्त्यादिसामस्त्यप्रत्यक्षव्यक्ति प्रदीपनाशकतैलवर्त्यादिनाशप्रत्यक्षव्यक्ति चाबाधमान तत्सजातीया ज्वालैक्यप्रत्यक्षव्यक्तिमेव बाधते। शास्त्रविषये बाध्यस्य शास्त्रस्य बाधकाविरुद्धार्थविषये तात्पर्यवर्णनेन प्रामाण्य रक्ष्यते।

वेदः प्रमाणमूर्धन्यः

आगमप्रमाणेषु मूर्धन्यो वेद। धरणीतले प्रचारमासेदिवत्सु विविधधर्मग्रन्थेषु परमप्राचीनो वेद। 'यो ब्रह्माण विदधाति पूर्वं यो वै वेदाश्च प्रहिणोति तस्मै'। 'युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षय.। लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाता स्वयभुवा ॥' इति वेदप्रचारेतिहासो वैदिकेषु प्रथते।

धर्मग्रन्थेषु अर्वाक्तनात् प्राक्तनस्यातिशयित प्रामाण्यं सर्वे धार्मिका. सप्रतिपद्यन्ते। धर्माधर्मस्वर्गनरकेश्वरादिष्वत्यन्तातीन्द्रियार्थेषु न लौकिकं प्रत्यक्षं क्रमते। प्रमाणान्तरावगतार्थेषु विशेषसाक्षात्कारार्थ-

प्रवर्तमान यौगिकमपि प्रत्यक्ष वेदाननुपजीव्य नैतानर्थान् साधयितुमीष्टे । भूयो दर्शनगृहीतव्याप्तिमूलकमनुमानमपि नैतानत्यन्तादृश्यानर्थान् यथावद् गमयितु प्रगल्भते । एषामर्थाना सिषाधयिषया प्रयुज्यमानास्तर्का अपि न सभावनातर्कता जहति । 'तर्काप्रतिष्ठानात्' इति च पारमर्ष सूत्रम् । अनादिनिधना अविच्छिन्नसप्रदाया निरस्तपुदोपशङ्कातङ्ककलङ्का अपौरुषेया वेदा एवैतानर्थान् प्रमापयितुमीशते । तदुच्यतेऽभियुक्तै 'प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते । एन विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता ॥' इति । तत्सिद्ध प्रमाणान्तरासिद्धात्यन्तातीन्द्रियार्थप्रमापका वेदा प्रमाणमूर्धन्या इति ॥

वेदान्तः

वेदस्योत्तमाङ्गभूता परतत्त्वपरमहितपरमपुरुषार्थप्रतिपादने तात्पर्य बिभ्राणा उपनिषदो वेदान्तशब्देनाख्यायन्ते । उपनिषदस्तत्तात्पर्यनिणयार्थं प्रवृत्तानि ब्रह्मसूत्राणि श्रीभगवद्गीता च प्राधान्येनाश्रित्य प्रवृत्त दर्शन वेदान्तदर्शनमिति सशब्दचते ।

दर्शनेषु वेदान्तदर्शनस्य गरिमा

भारतीयेषु दर्शनेषु द्वादशदर्शनानि प्रधानानि । तेषु वेदप्रामाण्यमनभ्युपगम्य प्रवृत्तानि चार्वाकवैभाषिकसौत्रान्तिकयोगाचारमाध्यमिकार्हताना दर्शनानि षट् नास्तिकदर्शनानि । वेदप्रामाण्यमभ्युपेत्य प्रवृत्तानि न्यायवैशेषिकसाख्ययोगपूर्वोत्तरमीमासादर्शनानि षड् आस्तिकदर्शनानि । एषु प्रमाणनिरूपणप्रवण न्यायदर्शनम् । पदार्थचिन्तापर वैशेषिकदर्शनम् । प्रकृतिपुरुषविवेकप्रधान साख्यदर्शनम् । सपरिकरयोगप्रतिपादनप्रवण योगदर्शनम् । पूर्वमीमासादर्शन वैदिककर्मकाण्डस्थसन्दिग्धार्थकवाक्याना न्यायावष्टम्भेनार्थविशेषे तात्पर्यनिर्धारण परम् । उत्तरमीमासादर्शन वैदिकोत्तरकाण्डोपनिषद्गताना सन्दिग्धार्थकाना वाक्याना न्यायनिरूपणमुखेनार्थविशेषे तात्पर्यं निर्धारयत् साङ्गोपाङ्गब्रह्मनिरूपणप्रवणम् । इदमुत्तरमीमांसादर्शनमेव वेदान्तदर्शनम् । इदमेव दर्शन 'कोऽहम् ? किमह देहेन्द्रियमन.प्राणधीभ्यो व्यतिरिच्ये न वा ? किमह नित्योऽनित्यो वा ? किमिद जगत् ? जगन्निदान किम् ? कथ सृष्टिस्थितिप्रलया प्रवर्तन्ते, कुतो मे ससारबन्ध ? किं जगत्कारणेन परतत्वेन सह मम कश्चित्सबन्धोऽस्ति न वा ? किमह संसारान्मुच्येय उत न ? यदि मुच्येय तर्हि मोक्षसाधनानि कानि ? कानि च तत्प्रतिबन्धकानि ? कथ च तेषा निरास । मोक्षस्य स्वरूप किम् ?' इत्यादीनामाध्यात्मिकप्रश्नाना समाधाने तात्पर्यमधिकार च बिभर्ति ।

वेदाङ्गभूतानि व्याकरणादीनि विद्यास्थानानि यदर्थनिरूपणमुखेन वेदस्याङ्गभावमासादयन्ति, तदर्थनिरूपणार्थमेव तानि प्रवृत्तानि । तत्रैव तेषा तात्पर्य युक्तम् । तानि विद्यास्थानानि तावत्यशेऽनुपरम्य दर्शनान्तराधिकृतार्थनिरूपणे प्रवर्तमानानि तत्राथयथायथ तन्निरूपणे व्याप्रियमाणानि तावत्यशेऽविश्वसनीयानि सपद्यन्ते । अतत्परशास्त्र हि तत्परशास्त्रविरोधेऽप्रामाण्यमेवाश्नुते । अथवा तत्परशास्त्राविरोधेनातत्परशास्त्रस्य तात्पर्यवर्णनेन प्रामाण्य रक्षणीय भवति ।

वैशेषिकादीनि दर्शनान्यपि स्वस्वाधिकृतप्रतिनियतार्थप्रतिपादनैदम्पर्येण प्रवृत्तानि स्वानधिकृतार्थेषु जोषं भावमन्वारुह्य वाद वाऽऽश्रित्य प्रवर्तमानानि व्याख्यातृभिरनधिकृतार्थनिराकरणपरतया अन्वारुह्य वादगृहीतार्थप्रामाणिकतापरतया च व्याख्यायमानानि परस्पर विरुन्धानानि कालक्रमेणात्मकल्याणकामानामुपेक्ष्याणि सवृत्तानि ।

किं च, वैशेषिकादिभिर्दर्शनैस्तात्पर्येण प्रतिपिपादयिषितोऽर्थोऽपि प्रमाणमूर्धन्य वेदमज्ञातार्थज्ञापकत्वेनापुरस्कृत्य केवल परप्रीणनमनोरथविजृम्भितैरप्रतिष्ठिततर्कैर्निरूप्यमाणस्तर्काणां तद्याथातथ्योपस्थापनशक्तिवैधुर्याद्विकलं प्रतिपद्यमान. प्रामाणिकाग्रेसरपरिहार्यताकोटिमाटीकते ।

अतस्तत्त्वहितपुरुषार्थविषये वैदिकीनामुपनिषदा प्राधान्य सहृदयमभ्युपेत्योपनिषदनुसारेण तान्निर्णयार्थं प्रवृत्तेन "स होवाच व्यास पाराशर्य" इति वेदपुरुषेण "मुनीनामप्यह व्यास" इति भगवता च सादर गृहीतनाम्ना वेदव्यासेनाविर्भावित वेदान्तदर्शनमेव तत्त्वहितपुरुषार्थनिर्णयेऽस्माक परम शरणम् । तथा चोद्घुष्यते श्रीमद्देशिकचरणैः —

"श्रुतिपथविपरीत क्ष्वेडकल्प श्रुतौ च प्रकृतिपुरुषभोगप्रापकाशो न पथ्य. ।
तदिह विबुधगुप्त मृत्युभीता विचिन्वन्त्युपनिषदमृताब्धेरुत्तम सारमार्या ।।" इति ।।

तथा च सुभाषितम्—

तावद् गर्जन्ति शास्त्राणि जम्बुका विपिने यथा ।
न गर्जति महाशक्तिर्यावद्वेदान्तकेसरी ।। इति

वेदान्तदर्शनमध्यात्मविद्येत्यनर्थान्तरम् । सर्वविद्यातिशायिनी अध्यात्मविद्या । तथा च भगवान-गासीत् "अध्यात्मविद्याविद्यानाम्" इति । अध्यात्मविद्या परमपुरुषार्थेऽपवर्गे पर्यवस्यतीति त्रिवर्गपर्य-वसायिनीभ्य इतराभ्यो विद्याभ्य समुत्कृष्यते । अतएव प्रह्लादोऽसुरबालकानुपदिदेश—"तत्कर्म यन्न बन्धाय सा विद्याया विमुक्तये । आयासायापर कर्म विद्याऽन्याशिल्पनैपुणम् ।। अध्यात्मविद्यैव ब्रह्मविद्येति गीयते ।[१] "स ब्रह्मविद्या सर्वविद्याप्रतिष्ठाम्"[२] इत्याम्नायते । इति ब्रह्मविद्या सर्वविद्यानामाश्रय इति सर्वविद्याप्रतिष्ठा । ब्रह्मविद्यया ज्ञातव्ये ब्रह्मणि हि सर्व ज्ञातव्यमन्तर्भवति । एकस्मिन् ब्रह्मणि ज्ञाते सर्व विज्ञान भवति । तदि-दमौपनिषद वचनमर्थान्तिरमप्याशेत इति प्रतिभाति । सर्वाण्यपि विद्यास्थानानि ब्रह्मविद्यया प्रतिष्ठा लभन्ते । वेदस्याङ्गभूतानीतराणि विद्यास्थानानि । कृत्स्ने वेदे वेदान्त. प्राधान्यं बिभर्ति । वेदपुरुषस्य शिरो हि वेदान्त. । शिरो ह्युत्तममङ्ग वर्ष्मणि । वेदान्तो ब्रह्मविद्या । तदधिमार्थानीतराणि विद्यास्थानानि । अन्यथा सम्यगभ्यस्तान्यपि तानि न परमपुरुषार्थाय कल्पन्ते । तथा च स्मर्यते—

"अधीत्य चतुरो वेदान् व्याकृत्याष्टादश स्मृती. । अहो श्रमस्य वैफल्यमात्मापि कलितो न चेत् ।।" इति । किं च, सर्वा विद्या अधिगतवतैव ब्रह्मविद्या तत्त्वतोऽधिगन्तु पार्यते । भगवान् वेदव्यासो ब्रह्ममीमासाया सर्वाणि तत्त्वदर्शनानि सम्यग् विमृश्य प्रत्याख्याय वेदान्तशास्त्रप्रमेय स्थूणानिखननन्यायेन प्रतिष्ठापयन् वेदान्तशास्त्रस्य बहुशास्त्रविद्भिरेव सुज्ञेयमर्मतामनक्षरमावेदयति । 'मीमासाख्या तु विद्येय बहुविद्यान्तराश्रिता । न शुश्रूषयितु शक्या प्रागनुक्त्वा प्रयोजनम् ।।"[३] इति गृणन् मीमासाचार्यो भट्टकुमारिल. "शिक्षा वर्णस्वरादे. सुपदविभजन तन्निरुक्त विचित्रा छन्दोवर्गव्यवस्था समयनियमन साध्वनुष्ठानवलृप्तिम् । स्मृत्याद्यंभ.गयुग्म-प्रथनमथनयस्यापन च श्रयन्ती मीमासावेदवाक्ये व्यपनयदमनी वृत्तिमर्थ्या व्यनक्ति ।"[४] इति सगिरमाणो वेदान्ताचार्यो वेङ्कटनाथश्चात्र प्रमाणम् ।

किं च, 'ईशावास्यमिद सर्व यत्किञ्च जगत्या जगत्'[५], 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत समा:' ।[६]

---

१ श्रीविष्णुपुराणे १।१६।४१ ।
२ मुण्डकोपनिषदि १।१।१ ।
३ मीमांसाश्लोकवार्त्तिके १३ ।
४ मीमांसापादुकायाम् ३१ ।
५ ईशावास्योपनिषदि १ ।
६ ईशावास्योपनिषदि २ ।

"तरति शोकमात्मवित्"[७] "आत्मान चेद्विजानीयादहमस्मीति पुरुष. । किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनु-सञ्ज्वरेत् ।।"[८] "यस्तु सर्वाणिभूतान्यात्मन्येवानुपश्यति । सर्वभूतेषु चात्मान ततो न विजुगुप्सते ।।"[९]
"यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानत । तत्र को मोह क शोक एकत्वमनुपश्यत. ।।"[१०]
"यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिता. । अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ।।"[११]
"यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थय । अथ मर्त्योऽमृतोभवत्येतावदनुशासनम् ।।"[१२]
"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसशया. । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ।।"[१३]
"ब्रह्मविदाप्नोति परम्"[१४] "रसो वै स, रस ह्येवाय लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति"[१५] "एतेन प्रतिपद्यमाना इम मानवमावर्त नावर्तन्ते नावर्तन्ते"[१६] इति आत्मस्वरूपाप्रतिपत्तिविप्रतिपत्त्यन्यथाप्रतिपत्तिरूपानादिमिथ्याज्ञान-दोषप्रवृत्तिजन्मचक्रबम्भ्रमणेन तापत्रयमनुभवतश्चेतनस्य आत्मयाथात्म्यज्ञानमुपजनय्य मिथ्याज्ञानदोषप्रवृत्ति-जन्मचक्रस्यापुनरुदय निबर्हणार्थ त कर्मयोगज्ञानयोगभक्तियोगरूपसाधनसोपानपथेनाध्यात्मिकससिद्धि-प्रासादे आरोप्य आत्यन्तिकनिखिलदु खनिवृत्तिसहचरितनित्यनिरतिशयब्रह्मानन्दानुभवसाम्राज्ये पुनरावृत्ति-कथागन्धविधुरेऽभिषेचयदिद वेदान्तदर्शन सर्वदर्शनसार्वभौमपदे विराजते इत्यवाङ्मनसगोचरोऽस्य गरिमा ।

वेदान्तदर्शने शाखाभेदाः

अस्मिन् वेदान्तदर्शनकल्पतरौ निर्विशेषाद्वैतपर शाङ्करदर्शन द्वैताद्वैतपराणि भास्करयादवप्रकाश-निम्बार्कदर्शनानि विशिष्टाद्वैतपर रामानुजीय वैष्णवदर्शन विशिष्टाद्वैतपर श्रीकण्ठीय शैवदर्शन द्वैतपर माध्वदर्शन शुद्धाद्वैतपर वल्लभदर्शनमचिन्त्यभेदाभेदपर गौडीयदर्शन साख्ययोगानुग विज्ञानभिक्षुदर्शनमित्यादयो बह्वय. शाखा द्वैताद्वैतसगुणत्वनिर्गुणत्वादिपरस्परविरुद्धार्थपरत्वेन आपातत. प्रतीयमाना नामौपनिषदवचसा स्वस्वसमीहितनिर्वाहप्रकारप्रदर्शनतात्पर्येण तदातदाऽवतीर्णैस्तत्तत्सप्रदायपरम्पराप्राप्तसर्वार्थैर्धिषणावधीरिव धिषणैः सात्त्विकपरिबृढविद्वन्महनीयैस्सर्वतोमुखप्रतिभाप्रथितकीर्तिभिर्विशिष्टैराचार्यवर्यैराविर्भावितास्तदनुग-प्राज्ञमणिविरचितविविधग्रन्थनिवहपरिपोषिता धर्मज्ञानवैराग्यभक्तिरूपच्छायापुण्यफलप्रदानेनाश्रितलोक सन्तर्प-यन्त्यो लोककल्याणसाधनप्रवणा विराजन्ते ।

आसु वेदान्तदर्शनकल्पवृक्षशाखासु या कामपि शाखामाश्रित्य तदुदितसाधनपथेन सचरमाणा आस्तिकसाधकाः "नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते । स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य जायते महतो भयात्"[१७]

---

७ छान्दोग्योपनिषदि ७।१।३ ।
८ बृहदारण्यकोपनिषदि ६।४।१२ ।
९ ईशावास्योपनिषदि ६ ।
१० ईशावास्योपनिषदि ७ ।
११ कठोपनिषदि २।३।१४ ।
१२ कठोपनिषदि २।३।१५ ।
१३ मुण्डकोपनिषदि २।२।८ ।
१४ तैत्तरीयोपनिषदि २।१ ।
१५ तैत्तरीयोपनिषदि २।७ ।
१६ छान्दोग्योपनिषदि ४।१४।५ ।
१७ श्रीभगवद्गीतायाम् २ । ४० ।

"ये यथा मा प्रपद्यन्ते तास्तथैव भजाम्यहम् । मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्या पार्थ सर्वश ।।"[१८] "ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते । एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतो मुखम् ।।"[१९] इति गायता सर्वभूतसुहृदा परब्रह्मणा परमात्मना पुरुषोत्तमेन श्रीभगवताऽभिमतफलवितरणरसिकेनास्मात्ससाराकूपाराद्विलम्बेना-विलम्बेन वा समुद्धियेरन्नित्यत्र न बिन्दुमात्रोऽपि सन्देह· । फलरसभेदो हि तरुभेदे आयतते न तु शाखा-भेदे । अतएव हि "एव सततयुक्ता ये भक्तास्त्वा पर्युपासते । ये चाप्यक्षरमव्यक्त तेषा के योगवित्तमा·।।"[२०] इति पार्थानुयुक्तेन श्रीभगवता "मय्यावेश्य नित्ययुक्ता उपासते । श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मता ।।"[२१] इति उत्तरयताऽग्रे "ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्त पर्युपासते । सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचल ध्रुवम् ।। सन्नियम्येन्द्रियग्राम सर्वत्र समबुद्धय । ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रता ।।'[२२] इति गीयते ।।

रामानुजदर्शनस्येतिहासः

रामानुजदर्शन वेदान्तदर्शनकल्पतरो शाखाविशेष । अस्य दर्शनसप्रदायस्य परमाचार्य· श्री-मान्नारायण । "तमिम सर्वसंपन्नमाचार्य पितर गुरुम् । अर्च्यमर्चितुमिच्छामः सर्वे समन्तुमर्हथ ।।"[२३] "ममाप्यखिललोकाना गुरुर्नारायणो गुरु"[२४] इत्युक्तदिशा सर्वस्य लोकस्य परमाचार्य श्रीमान्नारायण. सृष्ट्यारम्भे चतुर्मुखाय ब्रह्मणे वेदान् प्रदाय, तेषामपहारे वृत्ते पुनस्तान् प्रत्यानीय प्रदाय, तन्मुखेन शास्त्राणि प्रवर्त्य, तत्पुत्रान् सनकादीन् "स्वयमागतविज्ञाना निवृत्ति धर्ममास्थिता"[२५] इत्युक्ताकारानापाद्य, तन्मुखेन हितप्रवर्तन कारयित्वा, इत्थमन्यान्यनारदपराशरशुकशौनकादिनानामहर्षिद्वाराऽध्यात्मसप्रदाय-मविनश्वररूपेण प्रवर्त्य, "कृष्णद्वैपायन व्यास विद्धि नारायण प्रभुम् । को ह्यन्यो भुवि मैत्रेय महा-भारतकृद् भवेत् ।।"[२६] इति । "महर्षे· कीर्तनात् तस्य भीष्म· प्राञ्जलिरब्रवीत्"[२७] इत्युक्तप्रभावान् व्यासादीन-नुप्रविश्य महाभारतशारीरकादीनि प्रणीय, हसमत्स्यहयग्रीवनरनारायणगीताचार्याद्यवतारै स्वयमेवाविर्भूय तत्त्वहितानि प्रकाश्य स्वप्रकाशितानामर्थाना श्रीभीष्मप्रभृतिभिर्ज्ञानाधिकै· सवाद कारयित्वा "पञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य वक्ता नारायण· स्वयम्"[२८] इति स्वप्रणीत भगवच्छास्त्रमवसरेष्वाविष्कृत्य "पूर्वोत्पन्नेषु भूतेषु तेषु तेषु कलौ प्रभु । अनुप्रविश्य कुरुते यत् समीहितमच्युत· ।।"[२९] इत्युक्तरीत्या पराकुशपरकालादि-रूपेणाभिनवान् दशावतारान् कृत्वा सर्वोपजीव्यमधुरपानीयरूपेण क्षारसमुद्रजलविपरिणामकमेघन्यायेन

---

[१८] श्रीभगवद्गीतायाम् ४।११ ।
[१९] श्रीभगवद्गीतायाम् ९।१५ ।
[२०] श्रीभगवद्गीतायाम् १२।१ ।
[२१] श्रीभगवद्गीतायाम् १२।२ ।
[२२] श्रीभगवद्गीतायाम् १२।३-४ ।
[२३] महाभारते सभापर्वणि ४१।२१ ।
[२४] श्रीविष्णुपुराणे ५।१।१४ ।
[२५] महाभारते शान्तिपर्वणि ३४९।७१ ।
[२६] श्रीविष्णुपुराणे ३।४।५ ।
[२७] महाभारते आदिपर्वणि ११४।४१ ।
[२८] महाभारते शान्तिपर्वणि ३५९।६८ ।
[२९] श्रीविष्णुधर्मे १०८।५० ।

वेदार्थेष्वपेक्षितान् भारतमाशान् सर्वाधिकार्यया भापया सगृह्य प्रकाश्य, इत्थ स्वंप्रवर्तितस्य वैदिक सत्पथस्य प्रच्छन्नप्रकटपाषण्डिसमुत्थापितोपरोधोपशमनाय "साक्षान्नारायणो देव कृत्वा मर्त्यमयी तनुम् । मग्नानुद्धरते लोकान् कारुण्याच्छास्त्रपाणिना ।।"[३०] इत्युक्तदिशा कलौ ब्रह्मानन्देरनन्तर पराङ्कुशसूरिनाथ-मुनियामुनमुनिरामानुजमुनिप्रभृत्याचार्यरूपेणावतीर्य य श्रीवैष्णवदर्शनसप्रदाय प्रवर्तयामास । तद्वैष्णवदर्शन रामानुजदर्शनमिति समाख्यायते ।

"नाथोपज्ञ प्रवृत्त बहुभिरुपचित यामुनेयप्रबन्धैस्त्रात सम्यग्यतीन्द्रैरिदमखिलतम कर्शन दर्शन न"[३१] इत्युक्तप्रभावेऽस्मिन् दर्शनेऽचिन्त्याद्भुताक्लिष्टज्ञानवैराग्यराशयोऽगाधभगवद्भक्तिसिन्धवो लोके परमार्थ-समग्रभगवद्भक्तियोगावतारका श्रीमन्नाथमुनय स्वकृतेन न्यायतत्त्वनाम्ना शास्त्रेण परमतनिरासपूर्वक वेदान्तदर्शनप्रमेयनिष्कर्षस्य स्व कृतेन योगरहस्यनाम्ना ग्रन्थेन "योग योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयत स्वयम्"[३२] इति श्रीगीताचार्यप्रदर्शिताया योगनाम्न्या आध्यात्मिकसाधनपद्धते रहस्यस्य च प्रकाशनेन चिर-लुप्तद्राविडदिव्यप्रबन्धाना पुनरुज्जीवनप्रचारणाभ्या च दक्षिण देश भगवद्भक्तिभासुरश्रीवैष्णवभूसुरमय विदधिरे ।

एतेषा श्रीभगवन्नाथमुनीना पौत्रा भगवद्यामुनमुनयो वादाहवमहारथा आगमप्रामाण्यमहापुरुष-निर्णयाद्यष्टग्रन्थीप्रणेतार स्वयमेव गीतासूत्रभाष्यादिप्रणयनप्रवीणा अपि प्राचीनग्रन्थसवाददर्शनार्थ प्रयत-माना स्वायुरवसानसमयमुपनिपतितमाकलय्य स्वप्रशिष्यमुखेन तत्प्रणयन प्रतीक्षमाणा भगवद्धाम प्रापु ।

तेषा प्रशिष्या भगवद्रामानुजमुनयो जगदाचार्या. श्रीमहापूर्णनाम्ना प्रथिताच्छ्रीपराङ्कुशाचार्या-दन्येभ्यश्च तत्सब्रह्मचारिभ्य श्रीयामुनाचार्योपदिष्टान् सप्रदायपरम्पराप्राप्तान् सर्वानर्थान् सप्राप्य तेषाम-र्थाना प्राक्तनवेदान्तसप्रदायाचार्यश्रीबोधायनमहर्ष्यादिप्रणीतवृत्तिप्रभृतिग्रन्थसवादमुपलभमाना. श्रीभाष्यादि-नवग्रन्थीनिर्माणपूर्वक बोधायनादिपूर्वाचार्यपरिगृहीत श्रीवैष्णवदर्शनमासेतुहिमाचल प्रचारयामासु । तद-नन्तर तच्छिष्यप्रशिष्यपरम्परानिविष्टैराचार्यैरद्ययावदिदं दर्शन भारते प्रचार्यमाण सन्दृश्यते ।।

भगवद्रामानुजप्रचारितस्य श्रीवैष्णवदर्शनस्य प्राचीनता

वेदान्तार्थप्रतिपादनप्रवणेषु प्राचीनेषु नवीनेषु च मतेषु कतमदारणीयमिति विषये केचिदाशेरते प्राचीनमेवादरणीयम्, तदेव ह्यविच्छिन्नसप्रदाय सभाव्यत इति । परे मन्यन्ते प्राचीनमते दोषदर्शनपूर्व प्रवर्तित नवीनमतमेवादरभाजन भवितुमर्हतीति । इतरे आचक्षते प्राचीननवीनयोर्मध्ये यदुपपन्न तदादर-णीयम् "सन्त. परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते"[३३] इति हि महाकविप्रहत. पन्था । प्राचीनतानवीनताविमर्शो निरर्थक. । तथा च भण्यते "तदात्वे नूतन सर्वमायत्या च पुरातनम् । न दोषायैतदुभय न गुणाय च कल्पते ।।"[३४] इति "किंचित् केनापि दृष्ट प्रतिहतविषय त्वेन तत् ते च तैस्तैर्द्वेचोपादायिषाता द्वितयमपि सदित्यप्रमत्तो न वक्ता । इत्थ सत्येकभक्तैरितरपरिहृतौ न व्यवस्था न सिद्धि प्रत्येतव्य तदर्थ्यं पटुतरमतिभि. प्राक्तन नूतन वा ।।"[३५]

---

[३०] जयाख्यसंहितायाम् ।

[३१] तत्त्वमुक्ताकलापे ४६७ ।

[३२] श्रीभगवद्गीतायाम् १८।७५ ।

[३३] मालविकाग्निमित्रे ।

[३४] यादवाभ्युदये १।६ ।

[३५] मीमांसापादुकायाम् ८ ।

इति चेति । अन्ये ब्रुवते केवलतर्कमूलकेषु मतेषु काम पद लभतामय प्राचीननवीनताविमर्शः । पर तु यानि मतानि स्वोदितार्थेषूपनिपद्‌ब्रह्मसूत्रगीतादिक प्रमाणयद्भिस्तद्भाष्यनिर्माणपुरस्सरमाचार्यै. प्रवर्तितानि, तेषु प्राचीननवीनताविवाद: कथकारमवसर लभेत ? तत्तन्मतस्थैस्तत्तन्मतमुपपाद्यमान तदाशयानुरोधेन प्राचीनतामेव गाहते । अर्वाचीनैराचार्यैरुपनिषदादिव्याख्यानपूर्वं तदनुगुणत्वेन समर्थ्यमानेषु मतेषु काममय विचार पद लभेत यत् तत्तन्मतसमर्थितार्थाभ्युपगन्तार प्राज्ञपरिवृढा पुरा आसन् न वेति । एव विचारे भगवद्रामानुजदर्शनसमर्थितार्थाभ्युपगन्तारो वहव प्राज्ञमणय श्रीशङ्करभगवत्पादावतारात् पूर्वमप्यासन्निति विज्ञायते । इद सर्वमभिसन्धायैव श्रीदेशिकचरणैरुद्घुष्यते "यतिक्ष्माभृद्दृष्ट मतमिह नवीन तदपि किं ततः प्रागेवान्यद्वद तदपि किं वर्णनिकषे । निशाम्यन्ता यद्वा निजमतितिरस्कारविगमान्निरातङ्काष्टङ्क द्रमिडगुह-देवप्रभृतय ।।"[३६] इति । अस्य पद्यस्य मूलम् "भगवद्बोधायनटङ्कद्रमिडगुहदेवकपर्दिभारुचिप्रभृत्यविगीतशिष्ट-परिगृहीतपुरातनवेदवेदान्तव्याख्यानसुव्यक्तार्थश्रुतिनिकरनिदर्शितोऽय पन्था "[३७] इति श्रीभगवद्रामानुजसूक्ति । श्रीरामानुजाचार्यैर्भगवद्बोधायनादीना वृत्त्यादिग्रन्थान् परिशील्यैव तथोद्घोषितमिति स्वग्रन्थे तद्ग्रन्था-शानामुद्धरणदानाद्विज्ञायते । श्रीभाष्यारम्भे "भगवद्बोधायनकृता विस्तीर्णा ब्रह्मसूत्रवृत्ति पूर्वाचार्या. सञ्चि-क्षिपु । तन्मतानुसारेण सूत्राक्षराणि व्याख्यास्यन्ते" इति प्रतिजानाना भगवद्रामानुचाजाचार्य स्वस्य परमप्राचीनपथानुसरणव्यसनितामावेदयन्ति ।

यद्यपि श्रीशाङ्करभाष्यादिष्वपि प्राक्तनवेदान्ताचार्यग्रन्थकारवचनानामुद्धरण तन्मतानामुल्लेखश्च दृश्यते, तथापि निराकरणार्थमेव प्रायस्तत्प्रस्तावो लक्ष्यते इति तद्ग्रन्थदर्शिना सुगमम् । अत्र जिज्ञासाधिकरणा-नन्दमयाधिकरणकार्याधिकरणादिशाकरभाष्य निदर्शनम् । भगवद्रामानुजाचार्यप्रबन्धेषु तु स्वोदितार्थसाक्षि-त्वेनैव प्राक्तनग्रन्थकारवचनानामुपादान क्रियते न तु निरसनाभिसन्धिनेति विशेषोऽवधानमर्हति । श्रीभाष्यादिषु हि तत्र तत्र स्वसिद्धान्तसाक्षित्वेन प्रवृत्तिद्रमिडभाष्यच्छान्दोग्यब्रह्मनन्दिवाक्यादीन् प्राक्तन-ग्रन्थानुदाहृत्याद्वैतमते तद्विरोध. स्फुटीक्रियते । श्रीभाष्यव्याख्यातार श्रीसुदर्शनसूरयो वाक्यग्रन्थ तद्विषय-द्रमिडभाष्य तद्व्याख्या वामनटीका चोपनिषच्छब्दार्थवर्णनप्रसङ्गे श्रुतप्रकाशिकायामुदाजह्रुः । वेदार्थसंग्रहे वाक्यद्रमिडभाष्यसूक्तीरुदाहृत्य अन्तर्गुणाया एव देवताया सद्विद्यादिवेद्यत्वमन्त करणैकग्राह्यातीन्द्रिया-प्राकृतरूपसद्भावश्च प्रत्यपादि । श्रीभाष्ये वाक्यादिग्रन्योदाहरणेन नि श्रेयसोपायभूत वेदन प्रीतिरूपापन्न-दर्शनसमानाकारध्रुवानुस्मृतिरूपमुपासनमेवेति विशदीकृत्य तत्क्रतुन्यायेन तदनुरूपो नि श्रेयसप्रकारोऽपि निरचायि । एव प्राक्तनवेदान्ताचार्यसम्मतान् विशिष्टतत्त्वहितपुरुषार्थान् प्रादुर्भावयन्त श्रीरामानुजाचार्यपाद· श्रीशकरभगवत्पादप्राचीनप्राज्ञपरिवृढादृतार्थप्रतिष्ठापनेन स्वदर्शनस्य प्राक्तनादृततामावेदयन्ति ।

भगवद्रामानुजाचार्या श्रीशकरभगवत्पादोपज्ञेऽद्वैतदर्शने श्रीभास्कराचार्ययादवप्रकाशाचार्यप्रादु-र्भावितयोर्द्वैताद्वैतदर्शनयोश्च प्राक्तनाचार्यग्रन्थसवादराहित्य दुष्परिहरदोषाश्चोत्पश्यन्तस्तादृशदोषगन्धा-नादृत सर्वै प्राक्तनवेदान्ताचार्यैरैककण्ठयेन समर्थित विशिष्ट विशिष्टाद्वैतदर्शन पुनरुज्जीव्य प्राचारया-मासु । तत्सिद्ध श्रीरामानुजदर्शन परमप्राचीनमिति ।

श्रीरामानुजदर्शनस्य नामकरणम्

श्रीरामानुजदर्शन विशिष्टाद्वैतदर्शनमितिनाम्ना प्रथते । यद्यपि भगवद्रामानुजाचार्यैस्स्वदर्शनस्य विशिष्टाद्वैतदर्शनमितिनाम नाकारि । ते हि वेदार्थसग्रहे "ऐक्यवादाश्च शरीरात्मभावेन सामानाधिकरण्य-

[३६] **यतिराजसप्ततौ ५७ ।**

[३७] **वेदार्थसंग्रहे ।**

मुख्यतोपपादनादेव सुस्थिता" इत्युपसहृत्य "एव सति अभेदो वा भेदो वा द्वयात्मकतां वा वेदान्तवेद्य: कोऽयमर्थ समर्थितो भवति" इति प्रश्न प्रस्तुवन्त "सर्वस्य वेदवेद्यत्वात् सर्व समर्थितम् । सर्वशरीरतया मर्वप्रकार ब्रह्मैवावस्थितमित्यभेद समर्थित । एकमेव ब्रह्म नानाभूतचिदचित्प्रकार नानात्वेनावस्थितमिति भेदाभेदौ, अचिद्वस्तुनश्चिद्वस्तुनश्चेश्वरस्य च स्वरूपस्वभाववैलक्षण्यादसकराच्च भेद समर्थित" इति समादधाना स्वदर्शनस्याद्वैतद्वैताद्वैतद्वैतदर्शनरूपतामाशयाना इव लक्ष्यन्ते । श्रीभगवद्रामानुचाजार्याणामिममाशय समर्थयमानै श्रीवेंकटनाथदेशिकैर्भण्यते—

"अद्वैत द्वैतहानौ न भवति सुवच तत्प्रतिद्वन्द्विकत्वात्
द्वैत चाद्वैतगर्भ द्वितयमपि हि तत् स्वस्वरूपादभिन्नम् ।
द्वैताद्वैत च तादृक् तदुभयनियमानुज्झनादेव सिद्धचेत्
सर्व स्थाने स्थितं स्यात् प्रमितिपरवता नेतरेषा तु किंचित् ।।"[३८] इति ।

यद्यपि चोदाहृता वेदार्थसग्रहपङक्ति व्यावृण्वानै सुदर्शनसूरिभि "परैरुक्तोऽभेदो भेदाभेदौ च भेदश्रुतिविरोधादमुख्यत्वाच्च न प्रामाणिका । भेदश्रुत्यविरुद्धौ भेदाभेदौ अभेदश्चास्मदभिमता इत्यस्माक भेदपक्ष एवेत्यभिमाय." इति विवरणाद्विज्ञायते द्वैतमेव रामानुजीयाना मतम्, श्रुत्यादिसिद्धस्याद्वैतस्य द्वैताविरोधेन निर्वाहमात्र तेषामभिमतमिति । तथापि द्वैतित्वेन प्रथितैर्माध्वतार्किकादिभि क्रियमाणस्य जगद्ब्रह्मैक्यवचननिर्वाहप्रकारस्य श्रीरामानुजसिद्धान्तसमीहिततन्निर्वाहप्रकारस्य च महदन्तर निभालयन्तस्तद्दर्शनान्निर्विशेषाद्वैतपरश्रीशकरभगवत्पाददर्शनाश्च रामानुजदर्शनस्य व्यावृत्ति व्यञ्जयितुकामा. "तत्त जिज्ञासमानाना हेतुभि सर्वतोमुख । तत्त्वमेको महायोगी हरिर्नारायण. पर ।।"[३९] इति महाभारतवचनेन पूर्वपक्षनिरासपूर्वक सहेतुक सिद्धान्तस्थापनपरस्य न्यायनिबन्धनात्मकस्य "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा"[४०] इत्यादे स्तत्त्वनिर्धारणपरस्य वेदान्तदर्शनस्य तन्मूलभूतोपनिषदाञ्चैकतत्वप्रतिपादनपरताया योगरूढेन नारायणपदेन तस्मिन् परतत्त्वे "आयोनारा इति प्रोक्ता आयो वै नरसूनव. । ता यदस्यायन पूर्व तेन नारायण स्मृत. ।"[४१] "नराज्जातानि तत्त्वानि नाराणीति ततो विदु । तान्येव चायन तस्य तेन नारायण स्मृत.।।"[४२] "नारस्ति सर्वपुसत्व समूह परिकीर्तित । गतिरालम्बन तस्या तेन नारायण स्मृत ।।"[४३] "नारो नराणा सङ्घातस्तस्याहमयन गति । तेनास्मि मुनिभिर्नित्य नारायणइतीरित ।।"[४४] "नारशब्देन जीवाना समूह प्रोच्यते बुधै. । तेषामयनभूतत्वान्नारायण इहोच्यते ।। तस्मान्नारायण बन्धु मातर पितर गुरुम् । निवास शरण चाहुर्वेदवेदान्तपारगा ।।"[४५] इत्यादिवचनकदम्बेन सदोषत्वसविकारत्वरूपश्रुतिविरुद्धदोषप्रसङ्गपरिहारार्थमकृताभ्यागमकृतविप्रणाशदोषाप्रसक्तये चावश्याभ्युपगन्तव्यस्य चिदचिद्वैशिष्टचस्य च सिद्धि-

---

[३८] अधिकरणसारावल्याम् ४४७ ।
[३९] महाभारते शान्तिपर्वणि ३४७।८३ ।
[४०] ब्रह्मसूत्रेषु १।१।१ ।
[४१] मनुस्मृतौ १।१६ ।
[४२] महाभारते आनुशासनिकपर्वणि १८६।७ ।
[४३] पाद्मोत्तरे ।
[४४] पाद्मोत्तरे ।
[४५] पाद्मोत्तरे ।

मुत्पश्यन्त "सर्वार्थविशिष्टत्वाकारेण परमात्मैवैक प्रमेयम्"[४६] इति मेघनादारिसूरे "अशेषचिदचित्प्रकार ब्रह्मैकमेव तत्त्वम्"[४७] इतिश्रीवेदान्तदेशिकस्य च सूक्ति प्रमाणयन्त पश्चात्तना प्राज्ञा. श्रीरामानुजदर्शनस्य "विशिष्टाद्वैतदर्शनम्" इति नामचक्रिरे इति विज्ञायते ।

विशिष्टाद्वैतसमाख्यायाः अर्थः

श्रीरामानुजदर्शने द्वैतदर्शने इव चिदचिदीश्वराणा भेदस्य स्वीकारेऽपि तद्दर्शन इवाभेदपरसमाधिकरणवचसामुपचरितार्थताया अस्वीकारान्मुख्यार्थताया एव स्वीकाराद् विशिष्टाद्वैतसमाख्याया निरुक्तविशेषव्यञ्जने तात्पर्ये विशिष्ट विशिष्ट च विशिष्टे विशिष्टयोरद्वैत विशिष्टाद्वैतमिति विग्रह. । "तत् त्वमसि"[४८] इत्यत्र तत्पद जगत्कारणत्वादिविशिष्टब्रह्माभिधायकम् । त्व पद सबोध्यचेतनविशिष्टब्रह्माभिधायकम् । विशिष्टयोरेतयोरद्वैतमभेद "तत्त्वमसी"त्यनेन बोध्यते । "सर्व खल्विदं ब्रह्म"[४९] इत्यत्र सर्वपद कृत्स्नचेतनाचेतनविशिष्टब्रह्मपरम् । ब्रह्मपद बृहत्त्वबृंहणत्वविशिष्टब्रह्मपरम् । अनयोर्विशिष्टयोरभेदस्तेन वचनेन बोध्यत इति तात्पर्य फलति ।

निर्विशेषब्रह्माद्वैतपरशाकरदर्शनाद्रामानुजदर्शनस्य व्यावृत्तिप्रतिपादनैदम्पर्ये विशिष्टाद्वैतसमाख्याया स्वीक्रियमाणे विशिष्टस्याद्वैतमिति विग्रह । तेन निर्विशेषस्य नाद्वैतम् किंतु विशिष्टस्याद्वैतमिति व्यावृत्ति फलिता भवति । एव विगृहीतेनानेन शब्देन चेतनाचेतनप्रपञ्चस्य कृत्स्नस्य सदा ब्रह्मशरीरतया ब्रह्मप्रकारत्वात् तद्विशिष्ट ब्रह्मैकमेवास्ति न तु द्वे इति ब्रह्मणि सजातीयद्वितीयराहित्य बोधित भवति ।

वेदान्तदर्शनशाखाचतुष्कसमालोचनम्

श्रीरामानुजाचार्यसमसामयिकस्य श्रीयादवप्रकाशाचार्यस्य दर्शनमिदमेव सन्मात्र ब्रह्माशि, चिदचिदीश्वरास्तस्याशा. । अशाशिनोः स्वाभाविकौ भेदाविति । तत प्राक्तनस्य श्रीभास्कराचार्यस्य दर्शनमिदमेव यद् अचिदशो ब्रह्मण परिणाम । जीवास्तु न ब्रह्मण परिणामभूता किंतूपाध्यवच्छिन्ना ब्रह्मप्रदेशविशेषा । अचिद्ब्रह्मणो स्वाभाविकौ भेदाभेदौ, चिद्ब्रह्मणोस्तु घटाकाशमहाकाशन्यायेन औपाधिकोभेद स्वाभाविकोऽभेदाश्चेति । तत प्राचीनाना श्रीशकरभगवत्पादाना दर्शन नन्विदमेव यत् न ब्रह्मणो जडजगद्रूपेण परिणाम, कि तु तथा प्रतीतिमात्रम्, अतो ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या, जीवभावस्य मिथ्यात्वेऽपि जीवब्रह्मणो स्वरूपतोऽभेद इति ।

"सर्वं खल्विद ब्रह्म तज्जलानीति शान्त उपासीत"[५०] इति श्रुत्या प्रतिपाद्यमान चेतनाचेतनात्मकप्रपञ्चस्य ब्रह्मणश्च कार्यकारणभावनिबन्धनमैक्य साक्षाद्ब्रह्मण सर्वस्योत्पत्ति स्वीकुर्वाणस्य श्रीयादवप्रकाशाचार्यस्य मते आञ्जस्येन सघटते । कार्यकारणभावनिबन्धनमिदमैक्य श्रीभास्कराचार्यस्य मते जडब्रह्मणोर्विषये आञ्जस्येन सगच्छते । स हि जडमचिदश ब्रह्मपरिणाममभ्युपैति । किं तु जीवब्रह्मणोर्विषये नाञ्जस्येन

---

[४६] नयद्युमणौ प्रमेयनिरूपणे ।

[४७] न्यायसिद्धाञ्जने जडद्रव्यपरिच्छेदे ।

[४८] छान्दोग्योपनिषदि ६।८।७ ।

[४९] छान्दोग्योपनिषदि ३।१४।१ ।

[५०] छान्दोग्योपनिषदि ३।१४।१ ।

सघटते । तेन हि जीवस्य ब्रह्मकार्यता नाभ्युपेता । अथापि द्रव्यैक्यनिबन्धनमैक्य जडजीवब्रह्मसु तन्मतेन सूपपद्यते । एव श्रीशकरभगवत्पादमतेऽचेतनस्य जगतो ब्रह्मणश्चैक्य नाञ्जस्येनोपपादयितु शक्यते । सत्यस्य ब्रह्मणो मिथ्याभूतस्य जडजगतश्च स्वरूपैक्य हि व्याहन्यते । एव सत्यपि तन्मतेऽन्ततो मिथ्याभूतस्य जगतो वाधे सत्यमेक ब्रह्मैवावशिष्यत इत्येव रूपमद्वैत सूपपादम् । इत्थमचेतनप्रपञ्चस्य ब्रह्मणश्च पारस्परिकैक्यस्य शाकरमते दुर्निरूपत्वेऽपि जीवब्रह्मैक्य सुनिरूपमेव तन्मते अन्त करणे नाविद्ययावोपहितस्य ब्रह्मस्वरूपस्यैव हि जीवत्व स्वीक्रियते ।

अत्र श्रीशकरभगवत्पादमते "सर्व खल्विद ब्रह्मे"त्यादीना जगद्ब्रह्मैक्यपराणा वचसामचिदशे बाधपर्यवसायिनि सामानाधिकरण्ये तात्पर्य चिदशे स्वरूपैक्यपर्यवसायिनि सामानाधिकरण्ये तात्पर्य स्वीकार्य भवतीति वैरूप्यमापतति । बाधार्थसामानाधिकरण्यनिर्वहण स्वारसिकपदार्थद्वयैक्यप्रतिकूल सत्यमिथ्याभूतपदार्थभेदपर्यवसित चेति नाञ्जस्यमञ्चति । भास्कराचार्यैर्यादवप्रकाशाचार्यैश्च द्रव्यैक्यमाश्रित्य क्रियमाणे "सर्वं खल्विद ब्रह्म" इत्यादिवाक्याना निर्वाहेऽवश्यमाञ्जस्य समस्ति । परन्तु तन्मते ब्रह्मणि सर्वदोषास्पदत्वमशक्यवारणमापततीति "इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादिदोषप्रसक्ति"[५१] इति ब्रह्मसूत्रोल्लिखितो दोषोऽसमाधेयो भवति। तद्दोषापाकरणार्थ तत्रैव "अधिक तु भेदनिर्देशात्"[५२] इति सूत्रयता बादरायणेन जीवब्रह्मणोर्भेद एव निरणायीति सूत्रकारमतमनुरुध्य विशिष्टाद्वैतिनो भेदाविरोधेन "सर्व खल्विद ब्रह्म" "तत् त्वमसि" इत्यादिवचसा मुख्यार्थपरतया निर्वाहे प्रवर्तन्ते ।

सचेत्थम् । लोके "अय पट शुक्ल" इत्यादिर्व्यवहार सुप्रसिद्ध । तत्रेद शब्दो व्यक्ति पटशब्दो जाति शुक्लशब्दो शुक्लरूप गुण चाभिधत्ते । द्रव्यस्य जातिगुणयोश्च पारस्परिको भेद प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्ध । तत्र कथ सामानाधिकरण्यमिति विवेचनीयम् । तत्रेदमेवोत्तरयितव्य यत् नेद वाक्य द्रव्यस्य जात्यादिना सहैक्य प्रतिपादयति । किंतु धर्म्यैक्यमेव प्रतिपादयति । यतोऽत्र पटपद पटत्वजातिविशिष्ट द्रव्य शुक्लपद शुक्लरूपविशिष्ट द्रव्य चाभिधत्ते । तथा चात्र धर्मधर्मिभेदेऽपि धर्म्यैक्यपरस्य सामानाधिकरण्यस्य नानुपपत्तिरिति । एवमेव देहात्मनोर्भेदस्य प्रामाणिकत्वेऽपि "जीवात्मानो यथाकर्म देवामनुष्या पशव पक्षिणश्च भवन्ती"त्यादिव्यवहारे शरीरवाचकदेवादिशब्दानामात्मवाचकजीवात्मशब्दस्य चानुभूयमान सामानाधिकरण्य देवादिशब्दाना तत्र देवत्वादि जातिविशिष्टशरीरविशिष्टात्मवाचकत्वात् सुष्ठूपपद्यत इत्येव निर्वहणीय भवति । ईदृशेषु विविधेषु लोकव्यवहारेषु विमृष्टेषु अपृथक्सिद्धाधेयवाचिन शब्दास्तदाधारपर्यन्तस्य वाचका इति न्याय. फलति । यथा जातिर्व्यक्त्यपृथक्सिद्धा यथा च गुणो द्रव्यापृथक्सिद्धः, तथैव शरीरमात्मापृथक्सिद्धम् ।

"सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधा प्रजा । अप एव ससर्जादौ तासु वीर्यमवासृजत् ।।"[५३] "यदम्बु वैष्णव कायस्ततो विप्रवसुन्धरा । पद्माकारासमुद्भूता पर्वताब्ध्यादि सयुता ।"[५४] "यानि मूर्तान्यमूर्तानि यान्यत्रान्यत्र वा क्वचित् । सन्ति वै वस्तु जातानि तानि सर्वाणि तद्वपु ।।"[५५] "यत् किञ्चित्

---

[५१] **ब्रह्मसूत्रेषु २।१।२१ ।**

[५२] **ब्रह्मसूत्रेषु २।१।२२ ।**

[५३] **मनुस्मृतौ १।८ ।**

[५४] **श्रीविष्णुपुराणे २।१२।३७ ।**

[५५] **श्रीविष्णुपुराणे १।२२।८६ ।**

सृज्यते येन सत्त्वजातेन वै द्विज । तस्य सृज्यस्य सम्भूतौ तत्सर्वं वै हरेस्तनु ।।"[५६] "जगत् सर्वं शरीरं ते"[५७] इत्येभिर्मनुस्मृतिश्रीविष्णुपुराणश्रीरामायणवचनैरन्तर्यामिब्राह्मणे[५८] एकविंशत्या पर्यायैश्च चिदचिदात्मकस्य प्रपञ्चस्य ब्रह्मणश्च शरीरात्मभावो बोध्यते । विश्वरूपधरस्य भगवत सर्वशरीरकत्व योयुज्यत एव ।

शरीरातिरिक्तात्मस्वरूपप्रतिबोधनतत्परेण वेदार्थप्रतिपादनैदम्पर्यविरहितेन परमर्षिणाक्षपादेन लोके शरीरपदव्यवहार्यसर्वपदार्थानुगतलक्षणप्रतिपादनप्रवृत्तेन "चेष्टेन्द्रियार्थाश्रय शरीरम्"[५९] इति सूत्रयता त्रेधा-शरीरलक्षणस्य प्रतिपादनेऽपि तेषा लक्षणाना वेदे अन्तर्यामिब्राह्मणादिषु शरीरत्वेन व्यवहृतेष्वर्थेष्वनु-गमाभाव पश्यता लौकिकवैदिकसर्वप्रयोगानुगुण शरीरलक्षण दिदर्शयिषुणा भगवद्रामानुजाचार्येण श्रीभाष्ये "न विलक्षणत्वाधिकरणे"[६०] दार्शनिकान्तराभिमतशरीरलक्षणेषु दोषोद्भावनपूर्वं "यस्य चेतनस्य यद् द्रव्य सर्वात्मना स्वार्थे नियन्तु धारयितु च शक्य तच्छेषतैकस्वरूप च तत्तस्य शरीरम्"[६१] इति वर्णित शरीर-लक्षणमन्तर्यामिशरीरत्वेनाभिहितेषु पृथिव्यादिष्वपि समन्वेतीति तेषु मुख्य शरीरत्व सञ्जाघटीति । अस्या श्रीभाष्यपङ्क्तौ शारीरलक्षणत्रयकथने तात्पर्य लक्षणत्रयस्य निष्कृष्ट रूप त्रयाणा लक्षणाना शरीरपदप्रवृत्तिनिमित्तत्वे गौरव चाभिप्रेत्यैतेषा त्रयाणा लक्षणाना मूलभूत शरीरपदस्य लघुप्रवृत्ति-निमित्तमुपस्थापयत् "यस्य चेतनस्य यदवस्थमपृथक्सिद्धविशेषण द्रव्य यत्, तदवस्थ तत्तस्य शरीरम्"[६२] इति देशिकचरणैर्न्यायसिद्धाञ्जने निष्कृष्ट लघुशरीरलक्षणमपि शरीरपदव्यवहार्येषु सर्वेष्वग्रेपु सगच्छत इति अन्तर्यामिशरीरत्वेन श्रुतिप्रतिपादिताना पृथिव्यादीना मुख्य शरीरत्व जाघटयते ।

लोके ये शब्दा यदर्थवाचकत्वेन व्युत्पन्ना, ते शब्दा निष्कर्षाविवक्षाया तत्पदार्थशरीरकब्रह्मवाचका इति सर्वशब्दशक्तिपर्यवसानभूमि पर ब्रह्म । सर्वेषा रूपाणा जीवद्वारा परब्रह्माश्रितत्वसपत्तये सर्वेषा नाम्ना जीवद्वारा परब्रह्माभिधायकत्वसपत्तये च परेण ब्रह्मणा जीवद्वारा तत्र तत्रानुप्रविश्य नामरूपव्याकरण-मकारीति "सेय देवतेमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत्"[६३] इति श्रुत्या बोध्यते । वेदान्ते न लोकसिद्धा व्युत्पत्ति पूर्यते न तु बाध्यते । घटपटादिशब्दानामपि शक्तिर्लोक-व्युत्पन्नघटपटाद्यचेतनवस्तुशरीरकजीवशरीरकपरब्रह्मपर्यन्त क्रमत इति तत् पर ब्रह्मैव तेषा शब्दाना मुख्योऽर्थ । लौकिकेष्वर्थेषु ते ते शब्दा भावप्रधाननिर्देशन्यायेन भङ्क्ता प्रयुज्यन्ते । तथा च बादरायणीय सूत्र "चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात्तद्व्यपदेशोऽभाक्तस्तद्भावभावित्वात्" इति । परस्य ब्रह्मण सर्वशब्द-शक्तिपर्यवसानभूमित्वादेव "नता स्म सर्ववचसा प्रतिष्ठा यत्र शाश्वती" इति "कार्याणा कारण पूर्व वचसा वाच्यमुत्तमम्"[६४] इति च स्मर्यते ।

अत सर्वेषा शब्दाना लोकव्युत्पन्नतत्तत्पदार्थशरीरकब्रह्माभिधायकत्वात् "सर्व खल्विद ब्रह्म"

---

[५६] श्रीविष्णुपुराणे १।२२।३८ ।

[५७] श्रीवाल्मीकिरामायणे युद्धकाण्डे १२०।२५ ।

[५८] बृहदारण्यकोपनिषदि ३।७।७-२७ ।

[५९] न्यायदर्शनसूत्रेषु १।१।११ ।

[६०] ब्रह्ममीमांसायाम् २।१।३ ।

[६१] श्रीभाष्ये २।१।६ ।

[६२] न्यायसिद्धाञ्जने जडद्रव्यपरिच्छेदे ।

[६३] छान्दोग्योपनिषदि ६।३।३ ।

[६४] जितन्ते स्तोत्रे १।७ ।

"तत् त्वमसी"त्यादौ विशिष्टैक्यमेव बोध्यते न तु विशेषणस्य चेतनाचेतनप्रपञ्चस्य विशेष्येण ब्रह्मणा सह स्वरूपैक्यम् । अत्र सर्वपदविवक्षितस्य चेतनस्याचेतनस्य च सर्वस्य एकरूपमेव ब्रह्मतादात्म्य बोध्यत इति न वैरूप्यप्रसक्ति, न वा ब्रह्मणि दोषलेशप्रसक्ति, नापि सामानाधिकरण्यममुख्यमिति भगवद्रामानुजाचार्यनिर्वाहे विशेषोऽवधेय ।

दर्शनान्तरसंवादः

जातकर्मनामकरणादिसस्काराणा तत्तच्छरीरकात्मसस्काररूपताया धर्मशास्त्रसमतत्वान्नामकरण-संस्कारे आविर्भाव्यमानैर्नामभिस्तत्तच्छरीरक आत्मैवाभिधीयते, तैर्नामभि. शरीरमात्राभिधानमौपचारिक-मेवेत्यभिसन्धाय "देवदत्तो गच्छति यज्ञदत्तो गच्छतीत्युपचारात् प्रयोग"[६५] इति सूत्रयन् कणभुक् शरीर-वाचिशब्दै: शरीरिपर्यन्ताभिधानस्य मुख्यत्व शरीरमात्राभिधानस्यौपचारिकत्व च समन्यते ।

न्यायकुसुमाञ्जलौ पञ्चमस्तबके "साक्षादधिष्ठातरि साध्ये परमाण्वादीना शरीरत्वप्रसङ्ग" इति पूर्वपक्षं प्रस्तुत्य "किमिद शरीरत्वम्, यत् प्रसज्यते, यदि साक्षात् प्रयत्नवदधिष्ठेयत्वम्, तदिष्यत एव" इति समादधान "एतेनेन्द्राग्नियमादिलोकपालप्रतिपादका अप्यागमा. व्याख्याता । सर्वावेशनिबन्धनश्च सर्वतादात्म्यव्यवहार, आत्मैवेद सर्वमिति" इति, "आवेशो ज्ञानचिकीर्षाप्रयत्नवत सयोग" इति च धृतिरूपहेतुनिरूपणावसरे भाषमाणो न्यायाचार्य उदयनाचार्य. परमाण्वादेरीश्वरशरीरत्व शरीरवाचिशब्दाना शरीरिपर्यवसायित्व सामानाधिकरण्यनिर्देशस्यावेशप्रयोज्यत्वोक्त्य शरीरशरीरिभावनिबन्धनत्व च समन्यते ।

ग्रहैकत्वाधिकरणे[६६] "तथा व्योमशरीरोऽपि परमात्मा श्रुतौ श्रुत: । इज्यते वारिणा नित्य य: ख ब्रह्मेति शब्दित ।। शब्द ब्रह्मेति यच्चेदं शास्त्रं वेदाख्यमुच्यते । तदप्यधिष्ठित सर्वमेकेन परमात्मना ।। तथर्ग्वेदादयो वेदा प्रोक्तास्तेऽपि पृथक् पृथक् । भोज्यत्वेनात्मनातेऽपि चैतन्यानुगता सदा ।।" इति वार्तिके निरूपयन् मीमासाचार्यो भट्टकुमारिल, तत्र "देहत्वोपपादनार्थं नियमनलक्षणसंभोगाधिष्ठानता सम्भोग-हेतुशब्देनोक्ता" इति, "द्वा सुपर्णा सयुजा सखायेत्यादि श्रुत्यालोचनया सर्वस्य साधारणचेतनद्वयाधिष्ठान-त्वावगते" इति च व्याचक्षाणो भट्टसोमेश्वरश्च "ख ब्रह्म" इत्यादिसामानाधिकरण्यनिर्देशाना शरीरशरीरिभाव-निबन्धनत्वं शरीरवाचिशब्दानां शरीरिणि पर्यवसान परमात्मन सर्वशरीरकत्वं च समन्येते ।

बहुविधस्याद्वैतवादस्य रामानुजदर्शने निर्वाहप्रकारः

श्रीरामानुजदर्शने नानाविधोऽप्यद्वैतवादो द्वैताविरोधेन मुख्यार्थपरतया निरुह्यते । तत्र ब्रह्मैकमेवेति प्रथमोऽद्वैतवाद: । अयमनेकब्रह्मव्यक्तिनिषेधपरतया निरुह्यते । निरूढं च तथा जन्माद्यधिकरणश्रीभाष्ये ।

ब्रह्मैवास्ति नान्यदिति द्वितीयोऽद्वैतवाद । यथा देवदत्त एवास्ति नान्य इति लौकिकोऽद्वैतवादो देवदत्तगतवस्त्रयज्ञोपवीताद्यनिषेधेन देवदत्तसदृशमनुष्यान्तरनिषेधपरो निरुह्यते, तथा द्वितीयोऽयमद्वैतवाद सर्वस्यापि चेतनाचेतनप्रपञ्चस्य विशेषणतया विशिष्टब्रह्मान्तर्भावात्तदनिषेधेन ब्रह्मातिरिक्ततत्सदृशस्वतन्त्र-वस्तुनिषेधपरतया निरुह्यते । निरूढं च तथा "यथा चोलनृप सम्राडद्वितीयोऽस्ति भूतले । इति तत्तुल्य-नृपतिनिवारणपर वच. । न तु तद्भृत्यतत्पुत्रकलत्रादिनिवारकम् ।। तथा सुरासुरनरब्रह्माण्डायुतकोटय । क्लेशकर्मविपाकाद्यैरस्पृष्टस्याखिलेशितु. ।। ज्ञानादिषाड्गुण्यनिधेरचिन्त्यविभवस्य ताः । विष्णोर्विभूतिमहिम-समुद्रद्रप्सविप्रुष ।। यथैक एव सविता न द्वितीयो नभस्तले । इत्युक्त्या न हि साविन्ना निषिध्यन्तेऽत्र

---

[६५] वैशेषिकदर्शनसूत्रेषु २।१२ ।

[६६] पूर्वमीमांसायाम् ३।१।७ ।

रश्मयः ।। यथा' प्रधानसङ्ख्येयसङ्ख्यायां नैव गण्यते । सङ्ख्याऽपृथक्सती तत्र सङ्ख्येयान्यपदार्थवत् ।।"[६७] इत्याचक्षाणैर्यामुनमुनिभि । अन्यादि शब्दाना सदृशान्यपरत्व लोकमीमासादिसिद्ध स्वीकृत्यैव निर्वाह. कृतः ।

जीवानामैक्यमिति तृतीयोऽद्वैतवादः । स. "नानात्मानो व्यवस्थात "[६८] इति न्यायेन जीवाना स्वरूपतो मिथो भिन्नतेऽपि ज्ञानैकाकारत्वेन प्रकारैक्यात् "पण्डिता समदर्शिन"[६९] इति गीतोक्तसाम्यपरतया निरुह्यते । निरूढ च तथा श्रीभाष्ये जिज्ञासाधिकरणे महासिद्धान्ते ।

जगद्ब्रह्मैक्यमिति तुर्योऽद्वैतवाद' । अयमपि जगद्वाचिशब्दाना जगच्छरीरकब्रह्माभिधायित्वाद्विशिष्टैक्यपरतया निरुह्यते ।

जीवब्रह्मैक्यमिति पञ्चमोऽद्वैतवाद । अय "तत् त्वमसि" इत्यादौ विशिष्टैक्यपरतया "सर्वभूतस्थित यो मा भजत्येकत्वमास्थित." इत्यादौ प्रकारैक्यपरतया च निरुह्यते ।

श्रीरामानुजदर्शने आपाततो विरुद्धार्थानां वचनानां समन्वयस्य प्रकारः

"पृथगात्मान प्रेरितार च मत्वा"[७०], "ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशौ"[७१], "क्षर प्रधानमृताक्षर हर' क्षरात्मनावीशते देव एक "[७२], "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया"[७३], "प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेश "[७४] "भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा"[७५] इत्याद्या भेदश्रुतयश्चिदचिद्विशिष्टे ब्रह्मणि विशेषणविशेष्ययोर्भेदे तत्परा । अभेदश्रुतयोऽन्तर्यामिब्राह्मणादिघटकश्रुतिप्रतिपन्नशरीरात्मभावनिरूढचिदचिद्वैशिष्टचसंपन्नब्रह्माद्वैतपरा । "निष्कल निष्क्रिय शान्तं निरवद्य निरञ्जनम्"[७६] "साक्षीचेता केवलो निर्गुणश्च"[७७] इत्याद्या. निर्गुणश्रुतयो ब्रह्मणि हेयगुणनिषेधपरा. । "पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च"[७८] इत्याद्याः सगुणश्रुतयो ब्रह्मणि कल्याणगुणविधानपरा । अयमर्थ' "अपहतपाप्मा"[७९] इत्यादिना "अपिपास" इत्यन्तेन हेयगुणान् निषिध्य "सत्यकामः सत्यसंकल्प." इति कल्याणगुणौ विदधानया श्रुत्या सत्याप्यते । "सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म"[८०] "विज्ञानं यज्ञं तनुते"[८१] इति ब्रह्मणो जीवस्य च ज्ञानस्वरूपता प्रतिपादयन्त्य श्रुतयस्तया. स्वय प्रकाशत्वे तत्पराः । "य सर्वज्ञ' स सर्ववित्"[८२] "एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता रसयिता मन्ता बोद्धा "[८३] इति ब्रह्मणो जीवात्मनश्च ज्ञातृत्वप्रतिपादिका श्रुतयो धर्मभूतज्ञानाश्रयत्वपरा. । तेजस्त्वेन सजातीयत्वेऽपि विरुद्धधर्माश्रयत्वेन भिन्नयोर्दीपप्रभाद्रव्ययो प्रभाप्रभावद्रूपेण धर्मधर्मिभाववत् ज्ञानत्वेन सजातीयत्वेऽपि प्रत्यक्त्वविषयित्वरूपविरुद्धधर्माश्रयत्वेन भिन्नयोरात्मस्वरूपतद्गतज्ञानयोर्धर्मधर्मिभाव उपपद्यते । "कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिद विज्ञात भवतीति"[८४] "स्तब्धोऽस्युततमादेशमप्राक्ष्य । येनाश्रुत श्रुतं भवत्यमतमतमविज्ञात विज्ञातमिति"[८५] इति एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानस्य सिद्धि प्रतिजानाना श्रुतया, सूक्ष्मचिद-

---

[६७] ईश्वरसिद्धौ १६–२४ ।
[६८] "व्यवस्थातो नाना" इति वैशेषिकदर्शने १५५तमं सूत्रम् ।
[६९] भगवद्गीतायाम् ५।१८ ।
[७०] श्वेताश्वतरोपनिषदि १।६ ।
[७१] श्वेताश्वतरोपनिषदि १।६ ।
[७२] श्वेताश्वतरोपनिषदि १।१० ।
[७३] श्वेताश्वतरोपनिषदि ४।६ ।
[७४] श्वेताश्वतरोपनिषदि ६।१६ ।
[७५] श्वेताश्वतरोपनिषदि १।१२ ।
[७६] श्वेताश्वतरोपनिषदि ६।१६ ।
[७७] श्वेताश्वतरोपनिषदि ६।११ ।
[७८] श्वेताश्वतरोपनिषदि ६।८ ।
[७९] छान्दोग्योपनिषदि ८।७।१ ।
[८०] तैत्तरीयोपनिषदि २।१ ।
[८१] तैत्तरीयोपनिषदि २।५ ।
[८२] मुण्डकोपनिषदि १।१।६ ।
[८३] प्रश्नोपनिषदि ४।६ ।
[८४] मुण्डकोपनिषदि १।१।३ ।
[८५] छान्दोग्योपनिषदि ६।१।२-३ ।

चिद्विशिष्ट कारणब्रह्मस्थूलचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्मकार्य जगदिति कारणकार्ययोरेकद्रव्यत्वादेकस्योपादानकारणस्य ज्ञानेन तदुपोदयाना कार्याणा सर्वेषा ज्ञान सभवतीति प्रतिपादने तत्परा । "तत् तेजोऽसृजत"[८६] "तस्मा-द्वा एतस्मादात्मन आकाश सभूतः। आकाशाद्वायु । वायोरग्नि । अग्नेराप । अद्भ्य. पृथिवी। पृथिव्या ओषधय । ओषधीभ्योऽन्नम् । अन्नात् पुरुष"[८७] "एतस्माज्जायते प्राणो मन सर्वेन्द्रियाणि च"[८८] इत्याद्याः भेदप्रपञ्चसृष्टिप्रतिपादिका. श्रुतय" सन्मूला सोम्येमा. सर्वा. प्रजा सदायतना सत्प्रतिष्ठा"[८९] "ऐतद.त्म्यमिद सर्वम्"[९०] "सर्व खल्विद ब्रह्म तज्जलानीत शान्त उपासीत"[९१] इति श्रुत्यनुरोधेन ब्रह्मात्म-कभेदप्रपञ्चप्रतिपादनपरा । "यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतर पश्यति"[९२] "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत तत् केन कि पश्येत्"[९३] इत्याद्या भेदप्रपञ्चनिषेधश्रुतयोऽब्रह्मात्मकस्वतन्त्राभेदप्रपञ्चनिषेधपरा । गन्धत्रय-पार्थिवकणग्रहणासमर्थेन प्राणेन यथा पार्थिवकणाश्रितोऽपि गन्धा स्वतन्त्रो गृह्यते, यथा चात्मग्रहणा-समर्थेन चक्षुषाऽत्माश्रितोऽपि देह· स्वतन्त्रो गृह्यते, तथा ईश्वरग्रहणासमर्थाभ्या प्रत्यक्षानुमानाभ्या सर्वे-श्वरधार्योऽपि चेतनाचेतनप्रपञ्च. स्वतन्त्रवस्तुरूपेण गृह्यते इति तन्निषेध उपपद्यते। जीवाद्वैतवचनानि प्रकारैक्यपराणि । जीवभेदनिषेधवचनानि प्रामाणिकस्वरूपभेदव्यतिरिक्तदेहात्माभिमाननिबन्धनदेवरवादि-भेदनिषेधपराणि। एवमन्येषामपि विरुद्धार्थत्वेन प्रतीयमानाना वचनानामविरुद्धार्थपरतया निर्वाहो भगवद्रामानुजदर्शने सपाद्यते। विस्तरस्त्वाकरे द्रष्टव्य ।

नित्य हेयगुणावधूननपरा नैर्गुण्यवादा श्रुतौ
मुख्यार्थास्सगुणोक्तय शुभगुणप्रख्यापनाद् ब्रह्मण ।
अद्वैतश्रुतयो विशिष्टविषया निष्कृष्टरूपाश्रया
द्वैतोक्तिस्तदिहाखिलश्रुतिहित रामानुजीय मतम् ।।
दृष्टेऽपह्नुत्यभावादनुमितिविषये लाघवस्यानुरोधा-
च्छास्त्रेणैवावसेये विहृति विरहिते नास्तिकत्वप्रहाणात् ।
नाथोपज्ञ प्रवृत्त बहुभिरुपचित यामुनेयप्रबन्धै-
• स्त्रात सम्यग्यतीन्द्रैरिदमखिलतम कर्शन दर्शन न ।।
श्रुत्यन्तैकान्ततर्कक्रमगरिमधृतौ तूलवच्छैलवर्ग
स्तत्सिद्धब्रह्मबोधद्युमणिरुचितमतस्तोमकल्पोऽन्य जल्प ।
मोक्षोपायैकराज्ये तदितरविधय किङ्करत्व भजन्ते
मुक्तानन्दामृतैकोदधिपृषतकणस्पर्धिनोऽन्ये पुमर्था ।।
पारावर्य विविच्य प्रथममवितथैरागमैस्तत्ववर्गे
मंसारे तीव्र भीति परसमधिगमे तीव्रनिष्पन्नराग ।
कश्चिद्विद्याविशेष सपरिकरमधिष्ठाय शान्तान्तराय
सपद्यब्रह्मभुङ्क्ते निरुपधिकमनावृत्तिरित्थ श्रुतार्थ ।।

[८६] छान्दोग्योपनिषदि ६।२।३ ।
[८७] तैत्तरीयोपनिषदि २।१ ।
[८८] मुण्डकोपनिषदि २।१।३ ।
[८९] छान्दोग्योपनिषदि ६।७।६ ।
[९०] छान्दोग्योपनिषदि ६।७।७ ।
[९१] छान्दोग्योपनिषदि ३।१४।१ ।
[९२] बृहदारण्यकोपनिषदि ४।५।१५ ।
[९३] बृहदारण्यकोपनिषदि ४।५।१५ ।

भारवे स्वकाव्यार्थगौरवानुसन्धानम्

डा० सत्यव्रत सिंहः

भारवेरर्थगौरवमिति सूक्ति परम्परात प्रथते। सस्कृतकाव्यरत्नकोषे भारवे. काव्यरत्नस्य परिचयो वस्तुतोऽनयैव प्रत्यभिज्ञानमुद्रया सम्पाद्यते। ये खलु भारवे काव्यपाकस्य रसयितार तेषामानन्दोद्गारोऽप्यनयैव वचोभङ्ग्या बहिर्विजृम्भते। कवयोऽपि ये भारवेः काव्यप्रस्थानमनुसरन्ति तेऽपि तदीयमर्थगौरवमेव पुर पश्यन्त दृश्यन्ते। केन प्रवर्तितोऽय भारविकाव्यस्यार्थगौरववाद ? इति विमर्शे क्रियमाणे भारविरेव भावितस्वकाव्यःप्रवर्त्तयिता स्वकाव्यसम्बन्धिनो वादस्यास्य प्रतिभाति। स्वकाव्यं कुर्वाणो भारविस्तन्निष्ठमर्थगौरव तदात्वे न कथमपि भावयितुमलमिति भवेत् केषाञ्चन मति। यतो हि केचन काव्यतत्त्वविद कवेर्भावकत्व नानुजानन्ति यथोक्त काव्यमीमासायाम्[1]—

'कश्चिद्वाचं रचयितुमलं श्रोतुमेवापरस्तां
कल्याणी ते मतिरुभयथा विस्मयं नस्तनोति।
नह्येकस्मिन्नतिशयवतां सन्निपातो गुणाना-
मेकः सूते कनकमुपलस्तत्परीक्षाक्षमोऽन्यः॥

यस्यायमाशय —'कारयित्री प्रतिभा कवित्वे निबन्धनम्, भावयित्री च प्रतिभा भावकत्वे, कवि काव्यं रचयितुमर्हं, सहृदयश्च तद्रसयितुम्, नैकस्मिन् वस्तुनि सोत्कर्षा गुणा सन्निपतन्ति, यत खल्वेक पाषाण सुवर्ण जनयितुमलम्, अपरश्च तत् परीक्षितुम्।

किन्तु मतमिद पूर्वपक्षीकुर्वतामतमन्यत्र सिद्धान्तित कविराजेन राजशेखरेण[2]—

'यदान्तरं वेत्ति सुधीः स्ववाक्यपरवाक्ययोः।
तदा स सिद्धो मन्तव्यः, कुकविः कपिरेव वा॥'

यस्याय भावः—'स्वकाव्य रचयन्नपि यस्तन्निष्ठमर्थतत्त्व भावयति, स्वकृतिव्यापृतस्यापि यस्य स्वकृति-परकृत्योरन्तरज्ञान सुस्थितम्, स्वकृतेश्च रामणीयके काचन मनोनिर्वृत्ति। स एव वस्तुत काव्यसिद्ध. रससिद्धो वा कवि कवीश्वरो भवति, नापर य स्ववाक्य-परवाक्ययोर्विवेकमूढ कपिकृत्यमाचरन् कविम्मन्य प्रगल्भते।

सिद्धान्तोऽय श्रीमतामभिनवगुप्तपादाचार्याणा 'सरस्वतीतत्त्व' दर्शयता वचसाप्यनेन सुतरा प्रमाणित:[3]—

'अपूर्वं यद्वस्तु प्रथयति विना कारणकलां
जगद्ग्रावप्रख्यं निजरसभरात् सारयति च।
क्रमात्प्रख्योपाख्याप्रसरसुभगं भासयति तत्
सरस्वत्यास्तत्त्वं कविसहृदयाख्यं विजयते॥

---

[1] काव्यमीमांसा—चतुर्थोऽध्यायः।

[2] काव्यमीमांसा चतुर्थोऽध्यायः।

[3] ध्वन्यालोकलोचनम्—आद्यः मङ्गलश्लोकः।

यस्यायमर्थः—'सरस्वतीतत्त्वं न केवलकविरूपं न वा केवलसहृदयरूपम्, कविसहृदयाख्यं हि तम्। कारयित्रीभावयित्र्यो प्रतिभयो सामरस्यमेव कविसिद्ध्यै काव्यसिद्ध्यै वा समर्थं न वैमनस्यम्।

कवित्वस्य सिद्धान्तरहस्यमिदं हृदयङ्गमीकृत्य स्पष्टमेव निर्णेतुं शक्यते यत् स्वकाव्यं कुर्वतोऽपि भारवेः स्वकाव्यभावकत्वं न विचारदुःस्थमथ च स्वकाव्यवृत्त्यर्थगौरवं स्वयं संवेदयमानस्य तस्य स्वेतरान् प्रत्याययितुं यो हृदयसंरम्भस्सोऽपि साधीयानेव।

कुत्र भारविणा स्वकाव्यसमवेतमर्थगौरवं स्वयं प्रकाशितमिति चिन्तायां 'किरात' काव्यस्य द्वितीय-सर्गे सप्तविंशतितमः श्लोकोऽयं पुरः स्फुरन् दृश्यते—

'स्फुटता न पदैरपाकृता न च न स्वीकृतमर्थगौरवम्।
रचिता पृथगर्थता गिरां न च सामर्थ्यमपोहितं क्वचित्॥

नात्र श्लोके कविः स्वकीयमर्थगौरवं साक्षाद् वक्ति। अत्र हि युधिष्ठिरमुखाद् भीमवचसः[१] पूर्वाभिनन्दित-सुपपत्तिमत्त्वमूर्जिताश्रयत्वञ्च प्रकारान्तरेणाभिधीयमानं दृश्यते। किन्तु किरातकाव्यभावनाभिमुखानां मनःसु वाच्यार्थादस्मादतिरेकेण वर्तमानमतिरमणीयं विचारभोग्यं 'भारवेरर्थगौरवं'मिति रूपं यदत्रार्थान्तरं परिस्फुरति तत्रास्ति कश्चित् कवेरपि मनःसंरम्भः। 'न च न स्वीकृतमर्थगौरवं'मिति पदजाते किमप्यस्ति वैशिष्ट्यं यत्खलु भारवेः काव्यार्थतत्त्वज्ञानां भावनासु 'भारवेरर्थगौरवं'मिति रूपेण प्रति-फलति। भीमवचसः अर्थगौरवस्तवः कविवचसः अर्थगौरवस्तवे परिणममानो वस्तुतः कवेः प्रतिभा-विशेषमेवाभिव्यनक्ति। कथमिति चेदित्थं गृह्यताम्—कुत्र पदैः स्फुटता नापाकृता? कुत्र च तैरर्थगौरवं न न स्वीकृतम्? कुत्र तेषां पुनरुक्तार्थता न दृष्टचरी? कुत्र च तद्घटितवाक्यानां परस्परमेकसूत्रता विराजते? इत्यादि प्रश्ना अत्र समुल्लसेयुः। एषां समाधानं वस्तुतोऽस्यैव 'स्फुटता न पदैरपाकृते'-त्यादिश्लोकस्याऽव्यवहितपूर्ववर्त्तिनि तत्सब्रह्मचारिणि श्लोके दृश्यते[२]—

'अपवर्जिताविक्लवे शुचौ हृदयग्राहिणि मङ्गलास्पदे।
विमला तव विस्तरे गिरां मतिरादर्श इवाभिदृश्यते॥

अत्र हि भीमगिरा विस्तरस्य गुणाभिधानं सहृदयहृदये कविगिरां विस्तरस्यैव गुणमहिमानम-भिव्यनक्ति। एतदभिप्रायाविष्करणमन्तरा भीमस्य गिरां विस्तरस्येदृग्वक्रत्वविच्छित्तिविशिष्टत्वं न कस्यापि हृदयमावर्जयति, प्रागेव भारविकाव्यपाकरसिकानाम्। विशेषणवक्रत्वं नाम प्रस्तुतौचित्यानुसारि सकलसत्काव्यजीवितत्वेन लक्ष्यते यथोक्तं वक्रोक्तिजीवितकृता—

'स्वमहिम्ना विधीयन्ते येन लोकोत्तरश्रियः।
रस-स्वभावालङ्कारास्तद्विधेयं विशेषणम्॥

अत्रापि विशेषणानां तथा माहात्म्यं तथा च वर्ण्यवस्तुस्वभावसौन्दर्यसमुल्लासकत्वं यथा भारवि-भीमयोः परस्परं सम्बन्धः उपमानोपमेयरूपो निरर्गलं व्यक्तिमायाति। कथमिति चेत्? भीमवचसो गुणसंवर्णनं कविवचसो गुणसंवर्णनमिव हृदयं स्पृशति। कविगिरां विस्तर एव काव्यं भवति। यत्र सर्वप्रथमतया शब्दार्थयोः वैक्लव्यापवर्जनमदोषत्वं वा कवीनां काव्यलक्षणविधायिनां वा नितरामभीष्टम्।

---

[१] **किरातार्जुनीयम्–द्वितीयसर्गः ('विहितां प्रियया मनः प्रियामथ निश्चित्य गिरं गरीयसीम्। उपपत्तिमदूर्जिताश्रयं नृपमूचे वचनं वृकोदरः॥' इत्युपक्रमः ज्वलतस्तव जातवेदसः एततं वैरिकृतस्य चेतसि। विदध्यातु शमं शिवेतरा रिपुनारी नयनाम्बुसंततिः॥ इत्यन्तश्च सन्दर्भः)।**

[२] **किरातार्जुनीयम्—२–२६।**

तदनन्तर तयो शुचित्वमपेक्षित यत्खलु सगुणत्वस्य नामान्तरम् । यच्च शब्दार्थशासनज्ञानमात्रविचक्षणानां चिरन्तनाना काव्यलक्षणविधायिना विमर्शे शब्दार्थधर्मत्वेनाभाति, यस्य च काव्यार्थतत्त्वज्ञाना चेत:सु रसधर्मतयोपचरित किमपि स्वसवेदनैकविषय तत्त्वमाविर्भवति । द्वयोरप्येतयोरतिरेकेण स्पृहणीय, सारभूतं सघारकञ्च यत्तत्त्वान्तर, 'सद्य. परनिर्वृत्तिकर' 'कान्तासमिततयोपदेशयुक् च' तदेवात्र 'हृदयग्राहि' 'मङ्गलास्पद' च प्रतिपन्न यत् किमप्यनलङ्कृतमेव निकाम रामणीयक बिभर्ति, यत्र समवहितस्य च कवेरलङ्कारा पृथक्प्रयत्ननिर्वर्तन नापेक्षन्ते । एव भूत एव काव्यस्वरूपे गिरा विस्तरे निर्मलादर्श इव कवेर्मतिर्झगित्यवभासमाना सहृदयहृदयेभ्य स्वदते ।

इत्थमभिप्रायोऽस्य निर्गलति यद् भीमोक्त काव्यमिवादोष सगुण रसात्मकञ्च चकास्ति, अतएव च तत्र पदाना पदगुम्फाना च किमपि सौभाग्य तदर्थानाञ्च किमपि गौरव निरायासमभिदृश्यत इति । अत्रेदमवश्यमवधारणीय यत्र भारवि शास्त्रकविर्य खलु भीमवचोवर्णने काव्यालङ्कारशास्त्रसिद्धान्तर्थान् विधत्ते । कविरयं प्रतिभाव्युत्पत्तिमान् कश्चन महाकविर्य खलु रसकविरिति सहृदयैरुच्यते । सारस्वतोऽस्य भारविकविर्यस्य काव्यसरस्वती जन्मान्तरसस्कारै किरातकाव्ये प्रवर्तमाना दृश्यते । अतो हेतो काव्यलक्षणकाराणा केषाञ्चन काव्यलक्षणवचन हृदि निधाय नोच्यते कविनाऽत्र किमपि । यदुच्यतेऽत्र निर्दिष्टे श्लोकद्वये तत्रार्थगौरवभर एवैतादृशो यद भारविसम्मत 'काव्य'स्वरूप सुखमेवावबोद्धु शक्नुवन्ति सहृदया । यदिद भारवे मतेन काव्यस्वरूप प्रकाशते तदनुहार्येव मम्मटाचार्याणां काव्यप्रकाशिकृता 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुन. क्वापीति'[६] काव्यलक्षण सस्कृतकाव्यरसिकेष्वद्य भूम्ना प्रचलित विभाव्यते । वस्तुत 'स्फुटता न पदैरपाकृते'त्यादि रूप. कविशब्द यत्नत प्रत्यभिज्ञातस्सर्वेषामेव किरातकाव्यरसिकाना कृते किमपि दिव्य चक्षुरिवाभाति । एतच्छब्दार्थप्रत्यभिज्ञाविकासिहृदया सहृदया: भारविकाव्य महता मन समाधिना रसयन्त पराञ्च प्रीतिमधिगच्छन्त 'भारवेरर्थगौरव'मिति गिरो गिरन्तो नितरा स्वरसज्ञता प्रमाणयन्त. सदृश्यन्ते ।

स्वकाव्यनिर्माणसमकाल स्वकृतप्रसन्नपदसन्धानसम्पद तन्निष्ठमर्थगौरवभर च परामृशत भारवेर्नापराध कश्चिदिति पूर्वमावेदितमपि पुनरावेदयितुमुत्सहामहे नानारुचिमनोहरो यो वैचित्र्यसौकुमार्यसकीर्ण कवीना मध्यमो मार्गो यत्र मार्गद्वितयस्य सम्पद स्पर्धया क्याचन वर्तन्ते स एव भारविकवेर्मार्ग । एतन्मार्गमनुगच्छन्त कवय भारवेरिवार्थगौरवमहिता पदरचना भारवेरिव च परिस्फुटपदनिवेशपरिस्पन्दमर्थगौरव स्वकाव्येषु सनिवेशयितुमर्हा नान्यथा ।

कुतो भीम-युधिष्ठिरयो सभाषाप्रसङ्गेऽत्र किरातकाव्ये सहृदयसवेदनीयमर्थगौरवमभिदृश्यते न वैयासिके महाभारते सर्वस्यास्य काव्यबन्धस्य प्रेरणास्रोतसीत्यपि विचारमर्हति । यद्बिम्बे तदेव प्रतिबिम्बे इति न्यायस्य कुतोऽत्र सर्पमार इति नाय प्रश्नोऽत्र प्राप्तावसर । प्रसभवेदिना महर्षिणा परमकारुणिकेन व्यासेन महाभारतं निर्मितम्, 'प्रशमाभरणस्य पराक्रमस्य'[७] च रहस्यवेदित्रा भारविणा किरातार्जुनीय रचितमिति क्वात्र बिम्बप्रतिबिम्बन्यायस्य सन्निपात: ? महाभारतकिरातार्जुनीययोस्तु वस्तु प्रतिवस्तुन्याय एव तत्र-तत्र दृष्टिगोचरतामायाति । क्षात्रधर्ममनुसृत्य युद्धमारब्धुमाग्रहपरो भीमसेन: महाभारते[८] युधिष्ठिर धर्मराजमुत्साहयन्नेव वक्ति—

---

[६] **काव्यप्रकाश: १–४ ।**

[७] **किरातार्जुनीयम्–२-३२ ।**

[८] **महाभारत–वनपर्व १३, २३, २४; ३३-५३-१९ ।**

भवान् धर्मो धर्म इति सततं व्रतकर्शितः। कच्चिद्राजन् न निर्वेदादापन्नः क्लीबजीविकाम्॥
यस्य धर्मो हि धर्मार्थं क्लेशभाग् न स पण्डितः। न स धर्मस्य वेदार्थं सूर्यस्यान्धः प्रभामिव॥
यस्य चार्थार्थमेवार्थः स च नार्थस्य कोविदः। रक्षेत भृतकोऽरण्ये यथा गास्तादृगेव सः॥
"श्रोत्रियस्येव ते राजन् मन्दकस्याविपश्चितः॥ अनुवाकहता बुद्धिर्नैषा तत्त्वार्थदर्शिनी॥

किन्तु किरातकाव्ये[९] कविप्रतिभाविष्ट इव भीमो युधिष्ठिर प्रति युद्धनयमेवमुपन्यस्यति—

"चतसृष्वपि ते विवेकिनी, नृप! विद्यासु निरूढिमागता।
कथमेत्य मतिर्विपर्ययं, करिणी पङ्कमिवावसीदति॥
विधुर किमतः परं परै रवगीतां गमिते दशामिमाम्।
अवसीदति यत्सुरैरपि, त्वयि संभावितवृत्तिपौरुषम्॥"

न पूर्वत्र रामणीयक नास्ति किन्त्वत्रापि नैजमेव किमपि रामणीयक सहृदयाना मनोनयन विलोभयति। कारण त्विदमेव प्रतिभाति यत्र भारवि केवल महाभारतस्य शब्दार्थविज्ञानेन परितुष्यति, अपितु परया श्रद्धया तत्रत्य रहस्य भृश परामृशति, परामृशश्च तत्र मनोलय प्राप्नोति। कवेर्मनोलयस्य समाधेर्वाऽयं महिमा यद् यदर्थवस्तु तेन वर्णनाविषयीक्रियते तत्र किमपि नव सौभाग्य सक्रामति। 'यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचिदि'तिरूपं महार्थगौरव मास्तु भारविकाव्ये, नास्ति च तत्, यतो हि तत्र महाभारतमेव केवलमधिकृतम्, किन्तु भारवेर्भवनादीर्घिकाया प्रतिफलित महाभारतीयमर्थगौरव तथा भारवीय सजायते यथा किरातकाव्यरूपेण महाभारतमेवाशाशिकया पुनरवतीर्णमिति मतिर्भवति।

किञ्चिन्निगूढ निजहृदयसम्मत स्वयमतिविभावितञ्च विवक्षुर्भारवि किरातकाव्ये व्यापृत। न महाभारतकविरिव भारवि किरातकाव्ये दहरादिविधामिव रहस्यनिर्भरा प्रतिस्मृतिविद्या प्रवक्तुमलम् प्रवक्तुकामो वा। स तु महाकवि काञ्चन काव्योपनिषद निर्माति यत्सूक्तय यथा तत्काल मन्त्रकल्पा सहृदयजनैरमन्यन्त तथाऽद्यापि तथैव मननार्हा भृश चर्वणार्हाश्च लक्ष्यन्ते। दृश्यता द्वित्रा दृष्टान्ताय सूक्तय[१०]—

"पयश्र्च्युतायां समितौ रिपूणां धर्म्यां दधानेन धुरं चिराय।
त्वया विपत्स्वप्यविपत्तिरम्यमाविष्कृतं प्रेम परं गुणेषु॥
विधाय विध्वंसमनात्मनीनं शमैकवृत्तेर्भवतश्छलेन।
प्रकाशितत्वन्मतिशीलसाराः, कृतोपकारा इव विद्विषस्ते।
लभ्या धरित्री तव विक्रमेण ज्यायाश्च वीर्यास्त्रबलैर्विपक्षः।
अतः प्रकर्षाय विधिर्विधेयः, प्रकर्षतन्त्रा हि रणे जयश्रीः॥

यद्यपि सूक्तय इमाश्चिरनिर्वृत्तं किमपि लक्ष्यीकृत्य रचिता किन्तु प्रतिभाबलसरम्भ कवेरेतावान् यदद्यतन चीनाक्रान्त भारतमुद्दिश्येव रचिता इति—निपुण निगूढ प्रतीयते। अतो निश्चितमिद यद् भारवे काव्यार्थगौरव न निजगृह एव स्थितिशीलं, न वा निजसुहृद्भवनेषु गमनाय प्रवृत्तमपि तु शश्वद्भारत-कुतूहलीव विश्वकुतूहलीव वा परिसञ्चरद् विद्यालते। कविरय भारवि. यदि स्वनिर्मित वाङ्मधु स्वय लिहन्, सहृदयान् स्वकाव्यरसिकानन्यानपि सर्वान् तन्माधुर्यमभिज्ञापयन् 'न च न स्वीकृतमर्थगौरव'मिति वदति तत् किमाश्चर्यम्? यतो हि 'इदमीदृगनीदृगाशय. प्रसभ वक्तुमुपक्रमेत क.'।

---

[९] **किरातार्जुनीयम्—२-७,६।**

[१०] **किरातार्जुनीयम् द्वितीय सर्गः।**

साङ्ख्ययोगयोस्तत्त्वज्ञानम्

पं० श्रीहरिराम शुक्लः

इह खलु धर्मार्थकाममोक्षाख्येपु चतुर्विधेषु पुरुषार्थेषु मोक्षस्य परमपुरुषार्थत्वमिति समेषामप्यास्तिकदार्शनिकाना सिद्धान्त.। तस्यास्य मोक्षस्य कृते व्यासकणादाक्षपादकपिलपतञ्जल्यादिभिर्दार्शनिकैर्महर्षिभि तानि तानि दर्शनानि सूत्ररूपेणाधिकारिणा जनानामनुग्रहायोपदिष्टानि। एषा समेषामपि दर्शनानामध्ययने साधनचतुष्टयसम्पन्नानामेवाधिकार इति 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासे'ति ब्रह्मसूत्रभाष्याद्यालोचनेन स्फुट जायते। इतरेषामपि दर्शनाना मोक्षफलकतया मुमुक्षणामेव तत्राधिकार इत्यर्थत एव सिद्धयति। सा खलु मुमुक्षा इहामुत्रार्थफलभोगविरागादिक विना न सम्भवतीत्यतस्तेषामप्यधिकारिविशेषणत्व सिद्ध भवति।

सर्वेषामप्यास्तिकदर्शनाना वेदप्रामाण्यविषये ऐकमत्यमस्ति। तेन च परलोकविश्वासो ज्ञानात्पूर्वं वेदप्रतिपाद्याना वर्णाश्रमसामान्यधर्माणामनुष्ठानञ्च सर्वैरपि आवश्यक मन्यते। धर्मार्थकामाख्येषु पुरुषार्थेषु लोकाना प्रवृत्तिरपि सर्वैर्दार्शनिकैरनुमन्यते।

"यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्" इत्याद्या श्रुतय,
अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य तथात्मजान्।
अनिष्ट्वा चैव यज्ञाश्च मोक्षमिच्छन्व्रजत्यध ॥

इत्याद्या. स्मृतयश्चामुमेवार्थमुपोद्बलयन्ति।

किम्बहुना, वर्णाश्रमसामान्यधर्माणामनुष्ठान चित्तशुद्धिद्वारा विविदिषां प्रति आवश्यकमिति हि तेषामाशय.। अत एव—

"तमेत वेदानुवचननेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन" इत्यादिश्रुतौ यज्ञादीना विविदिषा प्रत्युपयोगिता स्फुट प्रतिपादिता।

सोऽय परम. पुरुषार्थो मोक्षो ज्ञानादेव भवतीत्यत्रापि प्राय समेषामपि दार्शनिकानामस्ति ऐकमत्यम्। श्रुतय खलु 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्य पन्था विद्यतेऽयनाय', "तरति शोकमात्मवित्", "अविद्यया मृत्यु तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते", "आत्मा वारे द्रष्टव्य. श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य" इत्याद्याः शतश आत्मज्ञानमेव मोक्षोपायत्वेन महता दार्ढ्येन प्रतिपादयन्ति।

मोक्षोपायभूतस्य ज्ञानस्य स्वरूपं तैस्तैर्दार्शनिकै. यद्यपि प्रतिपादितमस्ति, तथापि 'नास्ति साङ्ख्यसम ज्ञान नास्ति योगसमं बलम्' इत्यादिवचनेषु साङ्ख्यसम्मतज्ञानस्य सर्वोत्कृष्टत्वप्रतिपादनात् योगस्य च तत्सहभूतत्वात्। किम्बहुना, तत्त्वज्ञानप्रक्रियायास्तत्स्वरूपस्य च साङ्ख्योक्तस्य प्रायो योगिनामपि सम्मतत्वात् तदुभयदृष्टचा तत्त्वज्ञानस्वरूपमत्र निबन्धे किञ्चिदुपहरामि।

तत्र 'आत्मा वारे द्रष्टव्य' इत्यादिपूर्वोक्तश्रुतितात्पर्यविषयीभूतमात्मदर्शनम् एतयोर्मते प्रकृत्यादिभ्यो विवेकेनात्मदर्शनरूप स्वीक्रियते। अत एव "विवेकान्नि शेषदु.खनिवृत्तौ कृतकृत्यता नेतरान्नेतरान्।" इति साङ्ख्यसूत्रे,

रूपै सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः।
सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येकरूपेण ॥

इति साङ्ख्यकारिकायाम् "आत्मा वारे ज्ञातव्य., प्रकृतितो विवेक्तव्य" इति साङ्ख्यतत्त्वकौमुदीग्रन्थे च अयमेवार्थ स्फुटीकृत. ।

योगसूत्रेऽपि च "विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपाय" इत्यनेन विवेकज्ञानस्य मोक्षोपायत्व स्पष्टमेव प्रतिपादितमस्ति ।

विवेकाग्रहस्य तत्प्रयुक्ताविवेकज्ञानस्य च सर्वानर्थहेतुत्व साङ्ख्ययोगयोरभिप्रेतम्, "तद्योगोऽप्यविवेकान्न समानत्वम्" इति साङ्ख्यसूत्रम् ।

तस्मात्तत्सयोगादचेतन चेतनावदिव लिङ्गम् ।
गुणकर्तृत्वे च तथा कर्तेव भवत्युदासीन. ।।" इति साख्यकारिका ।
'द्रष्टृदृश्ययो सयोगो हेयहेतु तस्य हेतुरविद्या' इति योगसूत्रे ।
"अनात्मन्यात्मविज्ञान तस्माद्दु ख तथेतरत् ।
रागद्वेषादयो दोषा. सर्वे भ्रान्तिनिबन्धना ।।
कार्यो ह्यस्य भवेद्दोषः पुण्यापुण्यमिति श्रुति ।
तद्दोषादेव सर्वेषां सर्वदेहसमुद्भव ।। इति ईश्वरगीता ।
पुरुष. प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान् ।
कारण गुणसङ्गोऽस्य मदसद्योनिजन्मसु ।।

इति भगवद्गीताऽपि च अमुमेवार्थमुपोद्बलयन्ति ।

मोक्षस्वरूप तावद् बहूना दार्शनिकाना मते आत्यन्तिकदु खनिवृत्तिरेव । तथा हि—
"अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थ." (अ० १, सू० १) ।

"दु खत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ ।
दृष्टे साऽपार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावात् ।।"

इत्यादिपर्यालोचनया साङ्ख्यमते तस्य दु खत्रयनिवृत्तिरूपत्व स्पष्टमेव ।

योगसूत्रेऽपि "तदभावात्सयोगाभावो हान तद्दृशे· कैवल्यम्" इत्युक्तम् । "तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्ग" इति न्यायसूत्रेऽपि अयमेवार्थ स्फुट । यद्यपि कैश्चिद्दार्शनिकै नित्यसुखावाप्तेर्मोक्षरूपत्वमुच्यते, तथापि तैरपि तत्त्वज्ञानस्य मिथ्याज्ञाननिवर्तकत्वस्वीकारात् मिथ्याज्ञानस्य तत्प्रयुक्तदु खादेश्च निवृत्तिरेव प्राप्ता-प्राप्तविवेकेन तेषामपि मोक्षरूपत्वेनाभिप्रेतेति वक्तु शक्यमेव ।

तस्यात्यन्तिकदु खनिवृत्तिरूपस्य मोक्षस्य साक्षात्साधन प्रकृतिपुरुषयो. सयोगनिवृत्तिरेतन्मते स्वीक्रियते । प्रकृतिपुरुषयो सयोग एव बन्धस्य कारणम्, अतः कारणाभावेन कार्याभावस्य सम्पत्त्या सयोगाभावस्य तत्र कारणत्व युक्तियुक्तमेव । प्रकृतिपुरुषसयोगश्च अविद्यया जायते । अविद्या च साङ्ख्य-मते प्राभाकरवत् अगृहीताससर्गकमुभयज्ञानमिति विज्ञानभिक्षुणा प्रतिपादितम् । योगनये तु अन्यथाख्याति-रूपा सा स्वीक्रियते, "अनित्याशुचिदु खानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या । वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतय" इति सूत्रप्रामाण्यात् ।

यद्यपि "तद्योगोऽप्यविवेकादि"ति सूत्रे अविवेको यदि विवेकप्रागभावरूप उच्यते तदा जीवन्मुक्त-स्यापि बन्धः प्रसज्यते, तत्रापि भविष्यत्कालीनविवेकप्रागभावस्य सत्त्वात् । एव "नियतकारणात्तदुच्छित्ति-र्ध्वान्तिवत्" इति सूत्रेणोच्यमानमविवेकस्य ध्वान्तसादृश्यमपि नोपपद्यते, अभावस्यावरकतायाः क्वाप्यदर्शनात् । अविवेकस्य वृद्धिह्रासावपि तत्र तत्र उच्यमानौ न सङ्गच्छेताम् , अतो वासनारूप एवाविवेकः संयोगहेतुत्वेन स्वीकर्त्तव्य इति तेषामाशयः ।

योगमते यद्यपि भ्रमरूपस्याविवेकस्य आवरकत्वादिक सम्भवति, परन्तु तस्य सयोगोत्तरकालीनत्वेन सयोगजनकत्वासम्भवात् अविवेकपदेन अविद्याबीजभूत सस्कार एव तेषामपि बन्धहेतुतयाऽभिप्रेत इति वक्तव्यम् । अत एव योगभाष्ये 'तस्य हेतुरविद्या' इति सूत्रव्याख्यानावसरे 'अविद्या विपर्ययवासनेत्यर्थ.' इत्युक्तम् । वाचस्पत्येऽपि च "नन्वविद्या विपर्ययज्ञान तस्य भोगापवर्गयोरिव स्वबुद्धिसयोगो हेतु, असयुक्ताया बुद्धौ तदनुपपत्ते । तत्कथ अविद्या सयोगभेदस्य हेतुरत आह—विपर्ययज्ञानवासना इति" इत्यादिना पूर्वोक्तएवार्थं. स्फुटीकृत ।

सृष्टिप्रलयक्रमयोरनादितया प्रलयपूर्व ससारावस्थाया या अविद्या आसीत्, तस्या एव सस्काररूपा वासना बुद्धौ तिष्ठति । प्रलयकाले च तादृशवासनाविशिष्टा बुद्धि प्रकृतौ विलीना भवति । पुन. सृष्ट्यवस्थायां च प्रकृतेर्महत्तत्त्वरूप आद्य परिणामो वासनाविशिष्ट एवाविर्भवति । तया चाविद्यावासनया बुद्धिपुरुषयो सयोग, स्तेन च विपर्ययात्मिका अविद्या, ततश्च वासना इत्येव क्रमेण ससारस्यानादितया वासनाप्रवाहोऽपि अनादिकालत प्रचलन्नेवास्ति । तथा चाविद्या वासनारूपोऽविवेक एव बुद्धिपुरुषयो: मयोगहेतुरिति सिद्धयति ।

सयोगपदार्थस्तु नैयायिकसम्मत अप्राप्तयो प्राप्तिरूपो यद्युच्यते तदा पुरुषाणा विभुत्वेन तैः सयोगस्य सर्वान्प्रत्यविशिष्टतया बन्धमोक्षव्यवस्थाऽनुपपत्ति. स्यात् । अतोऽत्र विजातीय. सयोग एव सयोगपदेन विवक्षणीय । तथा हि—यथा पृथिवीजलयो. सयोगो गन्धशीतस्पर्शयो. विनिमयप्रयोजको भवति, यथा वा हरिद्रानलसयोग पीतिमदाहकर्तृत्वयोर्विनिमयप्रयोजक, तद्वदेवाय सयोगविशेषो भवति दु खादिभोगप्रयोजक इति भाव. । न च पुरुषे विजातीयसयोगस्वीकारे तस्यासङ्गत्वप्रतिपादकश्रुतिविरोध, पुरुषस्य परिणामित्वापत्तिश्च स्यादिति वाच्यम्, सामान्यगुणातिरिक्तगुणोत्पत्तेरेव परिणामशब्दार्थतया. शिष्टव्यवहारसम्मतत्वात् । नहि पटादिसयोगैर्द्वित्वादिसङ्ख्या वा आकाशादेः पुरुषादेर्वा परिणामित्व कैश्चिदभ्युपेयते । पद्मपत्रस्थतोयेन पद्मपत्रस्यापरिणामित्वासङ्गत्वादिश्रवणाच्च । एव सयोगस्वीकारेऽपि नासङ्गत्वप्रतिपादकश्रुतिविरोध., पुरुषस्यासङ्गताया दृष्टान्तभूते पुष्करपद्मे जलसयोगस्वीकारेऽपि असङ्गताभ्युपगमेन स्वाश्रयविकारहेतुसयोगस्यैव सङ्गपदार्थत्वात् ।

केचित्तु सयोगपदमत्र न विजातीयसयोगपर पुरुषस्यासङ्गत्वप्रतिपादकश्रुतिविरोधात् । किन्तु सन्निधानमात्रपरम् । तथा च यथा अयस्कान्तमणि सन्निधानमात्रेण शल्यनिष्कर्षणात्मकमुपकार कुर्वन् स्वामिनः स्व भवति, तथैव सन्निधिमात्रेण चित्त पुरुषस्योपकार कुर्वत् तस्य स्व भवति । तदुक्त योगभाष्ये—"चित्तमयस्कान्तमणिकल्प सन्निधिमात्रोपकारि दृश्यत्वेन स्व भवति पुरुषस्य स्वामिन ।" अत्र वाचस्पतिमिश्रमहाभागा—'ननु चित्तजनितमुपकार भजमानो हि चेतनश्चित्तस्येशिता, न चास्य तज्जनितोपकारसम्भव, तदसम्बन्धानुपकार्यत्वात् तत्सयोगात्तदुपकारभागित्वे च परिणामित्वप्रसङ्गादित्यत आह । "अयस्कान्तमणिकल्प सन्निधिमात्रोपकारि, सन्निधिश्च न पुरुषस्य देशत कालतो वा तदसयोगात् किन्तु योग्यतालक्षण' ।" तथा च चित्तस्य दृश्यत्वयोग्यता पुरुषस्य च द्रष्टृत्वयोग्यतैवात्र सयोगपदेन विवक्षिता इति वाचस्पतिमिश्रमहाभागानामभिप्राय । इयञ्च भोग्यत्वयोग्यतास्वभुक्तवृत्तिवासनावत्त्वरूपैव । भोक्तृत्वयोग्यता च स्वनिष्ठवृत्ति (? प्रकृति) स्वरूपैव वक्तव्या ।

अथाविवेकस्य साक्षादेव बन्धकारणत्वमस्तु मध्ये सयोगस्वीकारे किं प्रमाणमिति चेत्, प्रलयकाले अविवेकस्य विद्यमानतया तदानीमपि बद्धत्वापत्ते । एव जीवन्मुक्तावस्थायामविवेकनाशात् तदानी दु खभोगात्मको बन्धो न स्यात्, अतः सयोगद्वारा तस्य कारणत्वं वाच्यम् । एवञ्च विवेकसाक्षात्कारेणाविवेकनाशेपि जीवन्मुक्तावस्थायां प्रारब्धकर्मनिवृत्तिपर्यन्त सयोगस्य विद्यमानतया दु खभोगसम्भवो

निराबाध एव । एवविधस्य सयोगस्य निवृत्तिरविवेकनिवृत्तिमन्तरा न भवति कारणाभावे कार्याभावस्य च सर्वसम्मतत्वात् । अविवेकनिवृत्तिस्तु प्रकृतिपुरुषविवेकज्ञानात् साक्षात्कारात्मकाद्भवति । एव प्रकारेण प्रकृतिपुरुषविवेकख्यातिरूपमेव तत्त्वज्ञान मोक्षोपाय इति साङ्ख्यसिद्धान्त ।

तदिद साङ्ख्यमतसिद्ध तत्त्वज्ञान विवेकख्यात्यात्मक विवेकप्रतियोगिनिरूपण तदधिकरणनिरूपण च विना न सम्भवतीत्यत तत्सम्मताना तत्त्वाना सक्षेपतोऽत्र समुपस्थापनमुचित प्रतिभाति । तत्र साङ्ख्यमते पञ्चविशतितत्त्वानि स्वीकृतानि । तथा हि—सत्त्वरजस्तमसा साम्यावस्था प्रकृति, प्रकृतेर्महान्, महतोऽहङ्कारोऽहङ्कारात्पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रिय तन्मात्रेभ्य स्थूलभूतानि पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गण इति साङ्ख्यसूत्रम् । साङ्ख्यकारिकायामपि—

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्या प्रकृतिविकृतय सप्त ।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृति पुरुष ।।

तथा हि—१ पुरुष, २ मूलप्रकृति, ३ महत्तत्त्वम्, ४ अहङ्कार, ५ पञ्चतन्मात्राणि (शब्दतन्मात्र,—स्पर्शतन्मात्र,—रूपतन्मात्र,—रसतन्मात्र,—गन्धतन्मात्ररूपाणि), ६ पञ्चमहाभूतानि (आकाशवायुतेजोजलपृथिवीरूपाणि) एकादशेन्द्रियाणि, (पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि-श्रोत्रत्वक्चक्षुरसनघ्राणाख्यानि, पञ्च कर्मेन्द्रियाणि-वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्यानि, मनश्चेति) आहत्य पचविंशतितत्त्वानि स्वीकृतानि । ईश्वरविषये मतभेदोऽनुभूयते, साङ्ख्यकारिकाया खलु—

वत्सविवृद्धिनिमित्त क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य ।
पुरुषविमोक्षनिमित्त तथा प्रवृत्ति प्रधानस्य ।।

इत्यादिना तट्टीकाया वाचस्पतिमिश्रैश्च ईश्वरास्तित्व न साङ्ख्याभिमतमिति युक्त्युपन्यासपूर्वक व्यवस्थापितम् । साङ्ख्यसूत्रेऽपि ईश्वरासिद्धे इति सूत्रे ईश्वरस्य अनङ्गीकार एव कृत । विज्ञानभिक्षुणा पुन साङ्ख्यप्रवचनभाष्यभूमिकायाम् ईश्वरस्य स्वीकारो महता सरम्भेण सस्थापितो वर्तते ।

योगनये तु स्पष्टमेवेश्वरास्तित्व समर्थितमस्ति । तथा हि क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्ट पुरुषविशेष ईश्वर । ईश्वरप्रणिधानाद्वा इत्यादिसूत्राण्येवात्र प्रमाणत्वेनानुसन्धेयानि । साङ्ख्यसम्मतानि च सर्वाणि तत्त्वानि योगिनामपि सम्मतान्येव । अत एव 'विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि' इति सूत्रे प्रकृतिस्तत्कार्याणि महत्तत्त्वादीनि च प्रतिपादितानि । तद्भाष्ये हि विशेषशब्देन पञ्चमहाभूताना श्रोत्रत्वगादीनामेकादशेन्द्रियाणा च ग्रहण कृतम्, एवमविशेषपदेन पञ्चतन्मात्राणाम् अहङ्कारस्य च सग्रह, लिङ्गमात्रपदेन महत्तत्वस्य, अलिङ्गपदेन च प्रकृते । एव 'पुरुषस्तावत् द्रष्टादृशिमात्र शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्य.' इति सूत्रेणोक्त । एवञ्च ईश्वरसहितानि साङ्ख्यसम्मतानि पञ्चविंशतितत्त्वानि योगसम्मतानि इति सिद्धयति ।

एतानि पञ्चविंशतितत्त्वानि द्रव्यरूपाण्येव धर्मधर्मिणोरभेदस्य स्वीकारात् । गुणकर्मसामान्यादीना वैशेषिकसम्मतानामत्रैवान्तर्भावो बोध्य । दिक्कालयोस्तु आकाश एवान्तर्भाव । अत एव साङ्ख्यसूत्रे दिक्कालवाकाशादिभ्य इति सूत्रे तथोक्तम् । तथा चान्यदार्शनिकै सह न पदार्थविभागे विरोधः । तदुक्त—

एकस्मिन्नपि दृश्यन्ते प्रविष्टानीतराणि च ।
पूर्वस्मिन् वा परस्मिन् वा तत्त्वे तत्त्वानि सर्वश ।।
इति नाना प्रसङ्ख्यान तत्त्वानामृषिभि कृतम् ।
सर्वं न्याय्यं युक्तिमत्त्वाद्विदुषा किमशोभनम् ।। इति ।

एतयोर्मते प्रकृति. पुरुषश्च नित्यौ, तयोरपि पुरुष. कूटस्थनित्य, प्रकृतिस्तु परिणामिनित्या ।

सृष्टिकाले प्रकृते: प्रथम परिणाम महत्तत्त्वापरनामधेय । तस्यैव बुद्धिरिति लिङ्गमात्रमिति च नाम्ना व्यपदेश । महत्तत्त्वादहङ्कारस्योत्पत्ति, अहङ्कारात्सात्त्विकाद् एकादशेन्द्रियाणामुत्पत्ति, तामसाच्चाहङ्कारात्पञ्चतन्मात्राणामुत्पत्ति. । पञ्चतन्मात्रेभ्यश्च पञ्चमहाभूतानामुत्पत्ति ।

एव प्रलयावस्थायां पञ्चमहाभूतानि स्वकारणेषु पञ्चतन्मात्रेषु लीयन्ते, पञ्चतन्मात्राणि एकादशेन्द्रियाणि च स्वकारणे अहङ्कारे विलीयन्ते, अहङ्कार स्वकारणे महत्तत्त्वे, महत्तत्त्व च प्रकृतौ विलीयते, इति रीत्या सृष्टिप्रलयक्रम एतत्सम्मत,
यथोक्त—

प्रकृतेर्महान्स्ततोऽहङ्कारस्तस्माद्गणश्च षोडशक ।
तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्य पञ्चभूतानि ।। (साङ्ख्यकारिकाया)
"कारणकार्यविभागादविभागाद्वैश्वरूपस्य"

प्रकृतिस्वरूप यद्यालोच्यते तर्हि "माया तु प्रकृति विद्यात्"

सत्त्व रजस्तम इति प्राकृत तु गुणत्रयम् ।
एतन्मयी च प्रकृतिर्माया या वैष्णवी श्रुता ।।

इत्यादिवचनेभ्य मायाशब्देनापि प्रकृतिरेवाभिप्रेतेति प्रतीयते । मायास्वरूपञ्च—

नासद्रूपा न सद्रूपा माया नैवोभयात्मिका ।
सदसद्भ्यामनिर्वाच्या मिथ्याभूता सनातनी ।।

इत्यादिपुराणत स्फुटीभवति । यद्यपि साङ्ख्यै वेदान्तिवत् सदसद्भ्यामनिर्वचनीया अविद्यापरनामधेया अनादित्वे सति भावत्वे सति ज्ञाननिवार्या नाभ्युपेयते तथापि उक्तवचन तावदेवरीत्या व्याख्यायते साङ्ख्यै. । नासद्रूपेत्यस्य पारमार्थिका सद्रूपा माया नास्ति इत्यर्थ. । यत्र खलु सत्तासामान्याभावस्तत्रैव पारमार्थिकमसत्त्वम् प्रधाने पारमार्थिकासत्त्व नास्ति तस्य परिणामिनित्यत्वात्, अर्थक्रियाकारित्वात् श्रुतिस्मृत्यनुमानादिसिद्धत्वाच्च । न सद्रूपेत्यस्य पारमार्थिकसद्रूपा नेत्यर्थ. । यतो हि कूटस्थनित्यत्वमेव हि पारमार्थिकसद्रूपत्व तच्च परिणामित्वादेव प्रकृतौ नास्ति । अत एवोक्त वायुपुराणे—

"तस्मान्न विज्ञानमृतेऽस्ति किञ्चित्क्वचित्कदाचिद् द्विज वस्तुजातम् ।
यच्चान्यथात्व द्विज याति भूम्या न तत्तथा तत्र कुतो हि सत्त्वम् ।।

परस्परविरुद्धोभयात्मकत्वमेकस्य पदार्थस्य न सम्भवत्येवेत्युक्त नैवोभयात्मिका इति । सदसद्भ्यामनिर्वाच्येत्यस्य पारमार्थिकसत्त्वेन पारमार्थिकासत्त्वेन चानिर्वाच्येत्यर्थ । मिथ्याभूतेत्यस्य च पारमार्थिकसत्यत्वरहितेत्यर्थ. । व्यावहारिकपारमार्थिकभेदेन सत्ताद्वैविध्य विष्णुपुराणादौ प्रतिपादितम् । तथा हि—

सद्भाव एषो भवते मयोक्तो ज्ञान यथा सत्यमसत्यमन्यत् ।
एतच्च यत्सव्यवहारभूत तथापि चोक्त भुवनाश्रित तत् ।।

इत्यादिना । तदेव रीत्या मायापदेनाभिलप्यमाना प्रकृतिरिति सिद्ध्यति । अस्या लक्षणन्तु 'सत्त्वरजस्तमसा साम्यावस्था' इति सूत्राशेन प्रतिपादितम् । अत्र साम्यावस्थानाम अकार्यावस्था । तथा चाकार्यावस्थोपलक्षित गुणसामान्यप्रकृतिरिति लक्षण पर्यवसितम् । गुणसामान्यस्य प्रकृतिरूपत्वे प्रमाणन्तु—

सत्त्व रजस्तम इति एषैव प्रकृति सदा ।
एषैव संसृतिर्जन्तोरस्या पारे पर पदम् ।।

इत्यादिस्मृतिवचन बोध्यम् । अत्र विशेष्यमात्रोपादाने महत्तत्त्वादावतिव्याप्ति, विशेषणमात्रोपादाने पुरुषेऽतिव्याप्तिरत उभयोपादानम् ।

प्रकृते कार्यम् महत्तत्वम्। इदमेव साङ्ख्यमते बुद्धिपदेन, योगनये लिङ्गमात्रशब्देन चोच्यते।

गुणक्षोभे जायमाने महान्प्रादुर्बभूव ह।
मनो महाश्च विज्ञेय एक तद्वृत्तिभेदत ।। इति लिङ्गपुराणवचनात्।

सुखदु खेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मज्ञानादिगुणा बुद्धेरेव स्वीक्रियन्ते। तदुक्त—

अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञान विराग ऐश्वर्यम्।
सात्त्विकमेतद्रूप तामसमस्माद्विपर्यस्तम् ।।

तथा च पूर्वोक्तगुणत्त्व बुद्धेर्लक्षण पर्यवस्यति। एतेषु बहवो बुद्धे परिणामा वृत्तिपदेन व्यवह्रियन्ते।

महत्तत्वस्य कार्यमहङ्कार, अभिमानाख्याऽस्य वृत्तिर्भवति।

तथा चाभिमानाख्यवृत्तिमवत्त्वमहङ्कारलक्षण सिद्धयति।

अहङ्कारस्य सात्त्विकादशाद्यत एकादशेन्द्रियाणि जायन्ते, अत सात्त्विकाहङ्कारोपादानकत्वमिन्द्रियत्वमिति लक्षण सिद्धयति।

तामसाच्चाल्पाशात्पञ्चतन्मात्राणि जायन्त इति तामसाहङ्कारोपादानकत्व पञ्चतन्मात्रत्वमिति लक्षण तन्मात्राणा भवेत्।

पञ्चतन्मात्रेभ्य पञ्चमहाभूतानि जायन्ते। एवञ्च पञ्चतन्मात्रोपादानकत्व भूतत्वमिति लक्षण भूताना सम्पद्यते।

एतेषा पूर्वोक्ताना प्रकृत्यादिपञ्चमहाभूतान्ताना तत्त्वानामचेतनत्वात् पुरुषस्य च चेतनत्वात् अत्रिगुणत्वाच्च अत्रिगुणत्व चेतनत्व वा पुरुषस्य लक्षण सिद्धयति।

तत्र पञ्चमहाभूतेषु पृथिवीजलतेजसा प्रत्यक्षेणैव प्रमाणेन सिद्धि अन्यदार्शनिकानामप्यनुमतैव, वायोराकाशस्य च प्रत्यक्षत्वविषये विवादो वर्तते, पर साङ्ख्यमते गुणगुणिनोरभेदात् विजातीयस्पर्शरूपो वायु प्रत्यक्ष एव। एव शब्दविशेषात्मकमाकाशमपि प्रत्यक्षमेवैति पञ्चमहाभूताना प्रत्यक्षेणैव सिद्धि।

तत्र शब्दतन्मात्रात् केवलादाकाशस्योत्पत्ति, अत एवाकाशस्य शब्दमात्रगुणत्वम्, शब्दतन्मात्रस्पर्शतन्मात्राभ्या वायोरुत्पत्ति, एवमेव तेज आदिषु त्रिचतु पञ्चतन्मात्राणा कारणत्व स्वीकृतमस्ति। पञ्चतन्मात्राणा प्रत्यक्षविषयत्वाभावात् अनुमानादिना सिद्धिर्भवति। तत्र पञ्चतन्मात्राणामनुमानप्रकारस्तु "स्थूलभूतानि स्वविशेषगुणवद्द्रव्योपादानकानि, स्थूलत्वात् घटपटादिवत्"। अत्रोपादानकारणस्य स्थूलत्वस्वीकारेऽनवस्थापत्ति. स्यात्, अतस्तस्य सूक्ष्मत्व सिद्धम्, असति बाधके कार्येषु कारणगुणक्रमेण गुणा उत्पद्यन्त इति व्याप्तेरपरिहार्यत्वरूपोऽनुकूलस्तर्क।

तस्मिस्तस्मिस्तु तन्मात्रास्तेन तन्मात्रता स्मृता।
न शान्ता नापि घोरास्ते न मूढाश्चाविशेषिण. ।।

इत्यादिस्मृत्या च तेषामविशेषपदाभिलप्यत्वम्। साङ्ख्यकारिकायामपि—

'तन्मात्राण्यविशेषास्तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्य' इत्युक्तम्।

न चोक्तव्याप्तिस्वीकारे सूक्ष्माणा रूपादिमत्त्वात् तत्कारणानामपि तद्गुणत्वापत्ति स्यादिति वाच्यम्।

शब्दस्पर्शविहीनन्तु रूपादिभिरसयुतम्।
त्रिगुण तज्जगद्योनि अनादिप्रभवाप्ययम् ।।

इत्यादिवचनस्य बाधकस्य सत्त्वेन प्रकृत्यादौ रूपाद्यस्वीकारात्। महत्तत्त्वाहङ्कारयोरपि न रूपादिमत्त्वं स्वीकर्तुमुचितम्, तथा सति तज्जन्यानामिन्द्रियाणामपि रूपादिमत्त्वप्रसङ्गम्, अतो नैतयोरपि रूपादिमत्त्वम्।

तत्कारणीभूताना गुणत्रयाणा परस्पर सयोगविशेषादेव तत्र रूपादिसम्भवात्। यथा हरिद्राचूर्णयो- रक्तरूपाभावे तयो सयोगविशेषादेव रक्तरूपोत्पत्तिर्भवति।

एव पञ्चतन्मात्राणामिन्द्रियाणा चोपादानस्याहङ्कारस्यापि अनुमानत सिद्धिर्भवति। तथा हि— "तन्मात्राणि इन्द्रियाणि च अभिमानवद्द्रव्योपादानकानि अभिमानकार्यद्रव्यत्वात् यन्नैव तन्नैव यथा पुरुषादि- रिति"। अत्राभिमानवद् द्रव्यस्याप्रसिद्धया साध्याप्रसिद्धिरिति तु न शङ्कयम्। अह गौर इत्याकारकवृत्त्या- श्रयतया तादृशद्रव्यसिद्धे। अत्रानुकूलतर्कस्तु—बहुस्या प्रजायेयेत्यादिश्रुतिभ्य स्मृतिभ्यश्च बुद्धिवृत्तिपूर्वक- सृष्टौ कारणत्वमभिमानस्य सिद्धयति। तच्च कारणत्व लाघवादेकार्थसमवायेनैव स्वीकर्तुमुचितम्। न चैव सति कुलालाहङ्कारस्यापि घटोपादानत्वापत्त्या कुलालमुक्तौ तादृशाहङ्कारनाशात् तन्निर्मित- घटादेरपि नाश स्यादिति वाच्यम्। कुलालनिर्मितघटादिषु हिरण्यगर्भाहङ्कारस्यैवोपादानत्व न कुलाला- हङ्कारस्येति स्वीकारेणोक्तदोषानवकाशात्।

अहङ्कारेण च द्रव्येण महत्तत्त्वरूप तत्कारणमनुमीयते। तथा हि "अहङ्कारद्रव्य निश्चयाख्यवृत्तिमद्- द्रव्योपादानक निश्चयकार्यद्रव्यत्वात्, "यन्नैव तन्नैव यथा पुरुष" इति। अत्राऽनुकूलतर्कस्तु—सर्व खलु लोक. पदार्थमादौ निश्चित्यानन्तरमभिमन्यते। तत्र निश्चयवृत्त्यभिमानवृत्त्यो कार्यकारणभावस्य सर्व- जनानुभवसिद्धतया, तदाश्रययोरपि कार्यकारणभावो लाघवात्कल्पयितुमुचित वृत्तिवृत्तिमतोरभेदात्।

महत्तत्त्वाच्च प्रकृतिरनुमीयते। अनुमानप्रकारश्चेत्थम्—"सुखदु.खमोहधर्मिणी बुद्धि सुखदु खमोह- धर्मवद्द्रव्यजन्या, कार्यत्वे सति सुखदु खमोहात्मकत्वात्, कालादिवत्" इति। अथ कालादिरूपस्य विषयस्य सुखदु:खमोहादिमत्त्वे प्रमाणाभाव·, अह सुखी अह दु खीत्यादिप्रतीत्या अह पदार्थस्यैव तद्वत्त्वानुभवादिति पूर्वोक्तानुमाने दृष्टान्तासिद्धिरिति वाच्यम्। सुखाद्यात्मकबुद्धिकार्यत्वेन तेषा सुखादिमत्त्वसिद्धे· चन्दनं सुख स्रक् सुख इत्यादिव्यवहारेण विषयाणामपि सुखादिरूपतासिद्धिसम्भवाच्च।

"तत्सन्तु चेतस्यथवापि देहे सुखानि दु खानि च कि ममात्र" इत्यादिवचनान्यपि अत्रानुसन्धेयानि।

अह सुखीत्यादिप्रतीतिश्च अह धनीत्यादिप्रतीतिवत् स्वस्वामिभावाख्यसम्बन्धेन तद्वत्त्वविषयिणी- न तु समवायसम्बन्धेन। उक्तप्रत्ययाना समवायसम्बन्धविषयकत्वभ्रमनिराकरणायैव सुखिदु खिमूढ- विवेकेन पुरुषस्य बोधनार्थमेव शास्त्रस्यास्योपयोग।

अत्रेदमवधेयम्—नैयायिकादय महाभूतादिकार्यकारणभावमन्यथा मन्यन्ते यद्यपि, तथापि अनेक- श्रुतिस्मृत्यनुकूलत्वादस्मदुपगतैव व्यवस्था मुमुक्षूणामुपादानार्हा। मूलशैथिल्यदोषेण परानुमताना दुर्बलत्वात्। अत एव 'तर्काप्रतिष्ठानादिति' वेदान्तसूत्रे अप्रतिष्ठादोषेण केवलतर्कस्य अनादेयत्व प्रतिपादितम्। अत एव च मनुना—

> आर्ष धर्मोपदेशञ्च वेदशास्त्राविरोधिना।
> यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्म वेद नेतर ॥

इत्यादिना वेदाविरुद्धतर्कस्यैवार्थनिश्चायकत्वमुक्तम्।

> श्रोतव्य· श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभि।

इति वाक्यपर्यालोचनया श्रवणसमानाकारस्यैव मननस्योपादेयत्वसिद्धेश्च।

सर्वमेव विवादास्पद महत्तत्त्वप्रकृत्यादिक पदार्थं सहतत्वात् शय्यासनादिवत् इत्यनुमानेन पुरुषस्य सिद्धिर्बोध्या। परस्य सहतत्वे अनवस्था स्यादतोऽसहतत्व तस्य वक्तव्यम् स एव पुरुष इति।

योगिमते ईश्वरसिद्धिप्रकारश्चेत्थम्—"सातिशयं ज्ञान क्वचित्काष्ठाप्राप्त सातिशयत्वात्,

परिमाणवत्" इत्यनुमानेन निरतिशयज्ञानस्येश्वरस्य सिद्धिर्भवति। अत्राप्यनुकूलस्तर्क 'य. सर्वज्ञ स सर्ववित्' इत्याद्या श्रुतय एव। अयमर्थ "तत्र निरतिशय सर्वज्ञबीजम्" इति योगसूत्रे तद्भाष्यादौ च स्फुट।

तदेवरीत्या सक्षेपत साङ्ख्ययोगसम्मतानि तत्त्वानि प्रतिपादितानि। विस्तरस्तु तेषु तेषु ग्रन्थेषु द्रष्टव्य।

यद्यपि सत्कार्यवादिसाङ्ख्ययोगयोर्मते कारणापेक्षया कार्यस्याधिकपरिमाणवत्त्व स्वीकृतमस्ति। उक्त हि साङ्ख्यतत्त्वकौमुद्या 'हेतुमदनित्यमि'त्यादिकारिकाव्याख्यानावसरे—कार्येण हि कारणमाविष्ट न कारणेन कार्यम्। न च बुद्ध्यादय प्रधानं वेविषतीत्यव्यापका" इत्यादिना। एवञ्च पञ्चतन्मात्राणा-महङ्कारकार्यत्वे पञ्चमहाभूताना पञ्चतन्मात्रकार्यत्वे च पुरुषभेदेनाहकारभेद इव पञ्चतन्मात्राणा पञ्चमहाभूतानाञ्च भेद प्रसज्येत। तथापि पञ्चतन्मात्राणामहकारसमष्टिकार्यत्वमिन्द्रियाणा तु व्यष्टयहङ्कारकार्यत्वमित्यङ्गीकारेण पुरुषभेदेनेन्द्रियभेद पञ्चतन्मात्रादीनाञ्चाभेद उपपन्न इति।

तदेवरीत्या निबन्धेऽस्मिन् साङ्ख्ययोगयोस्तत्त्वानि, तत्सम्मत तत्त्वज्ञानस्वरूप च सक्षेपत उप-स्थापितम्। एवम्भूत प्रकृतिपुरुषविवेकख्यातिरूप मननपदाभिलप्यमनुमानात्मक तत्त्वज्ञान साङ्ख्यशास्त्रा-भ्यासतो जायमानमपि न मोक्षयाल भवितुमर्हतीत्यत साक्षात्कारात्मक ज्ञानमेव मोक्षायापेक्षित भवति। यथोक्त साङ्ख्यसूत्रे—

"युक्तितोऽपि न बाध्यते दिङ्मोहवदपरोक्षादृते" इत्यादिना। श्रुतिरपि "आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य" इत्येवरूपा साक्षात्कारस्यैव दर्शनपदाभिधेयस्य मोक्षहेतुत्वमाह। अतोऽनुमानसिद्धमप्येतत्तत्त्व निदिध्यासने क्रियमाण एव साक्षात्काराय प्रभवतीत्यतो योगशास्त्रसम्मतया प्रणाल्या योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिर, विवेकख्यातेरिति सूत्रोक्तदिशा योगाङ्गानामनुष्ठान-मपेक्षित भवति। सर्वेष्वपि हि दर्शनेषु 'आत्मा वारे द्रष्टव्य" इत्यादिपूर्वोदाहृतश्रुतिवचनमनुसृत्य तत्त्वसाक्षात्काराय निदिध्यासनस्यावश्यकता प्रतिपादिता वर्तते। निदिध्यासनञ्च साक्षाद्दर्शनोपायत्वात् प्रधानतममङ्गमित्यतो हेतोस्तत्प्रतिपादकस्य योगस्य सर्वदार्शनिकसम्मतत्वादेव 'नास्ति साङ्ख्यसम ज्ञान नास्ति योगसम बलम्' इति वचन सर्वथा युक्तियुक्तमेवेत्यावेद्य विरम्यते विस्तरात्।

(७८ पृष्ठस्य शेषांशः)

किञ्च पक्षद्वयेऽप्येकार्थेष्वनेकार्थेषु च पदेषु शक्तिकल्पनासाम्येऽपि पर्यायपदप्रयोगेष्वन्विताभिधान-वादिना शक्तिकल्पनागौरव वरीवर्ति। अक्षैर्दीव्यति, अक्षमारोहति, अक्षै पश्यति इत्यादिषु पक्षद्वयेऽपि षट् शक्तय। पर च पाणिना भुङ्क्ते, करेण प्रहरति, हस्तेनादत्ते, इत्यत्रान्विताभिधानवादिना त्रयाणा शब्दानामन्वितेऽन्वये च शक्तिकल्पने षट् शक्तय स्यु। अभिहितान्वयवादिना तु पदाना तिस्र अर्थस्य चैकेति चतस्र। एव यत्रैकस्यार्थस्य वाचका शतशब्दास्तत्र शताना शब्दाना शतशक्तय अर्थस्य चैकेति एकशतशक्तय। अन्विताभिधानवादिना द्विशतशक्तय। अनयैव रीत्या शक्तिकल्पनागौरवमूह्यम्।

प्राच्यपाश्चात्यदर्शनयोर्मनस्तत्त्वविमर्शः

डॉ० रामचन्द्रशर्मा पाण्डेयः

भारते समेषा ज्ञानप्रस्थानानाञ्च मोक्षे पर्यवसानाद्दर्शनानाञ्च विशेषतो मोक्षमार्गप्रस्थापकत्वान्मनोविज्ञानस्यापि नत्रैव परिणति । कर्मसिद्धान्तमवलम्ब्य प्रवर्तमानाना विचारप्रसाराणा फलभोक्तृत्वसिद्धये नश्वरशरीरादिभावजातमपहाय मरणधर्मकेष्वमरणधर्मके, जातेष्वजाते, अनित्येषु नित्ये, विकारिष्वविकारे, भोग्येष्वभोग्ये, शरीरेष्वशरीरिणि चिदात्मतत्त्वे समस्ति, महानभिनिवेश । यत्किञ्चिज्जात तद्ध्रुवमेवोपशाम्यतीति न्यायानुरोधाच्छरीरमनित्यम्, शरीरधर्माश्चानित्या । भौतिकत्वाज्जडताविजडितस्य शरीरस्य भोक्तृत्व सुतरामसिद्धम् । तस्यैव तु चार्वाकनयेन भोक्तृत्वाङ्गीकारे मृतस्यापि भोक्तृत्व प्रसज्ज्येत । भूतसन्दोहेभ्य समुपजातस्य किण्वादिभ्यो मदशक्तिवत् चैतन्यस्यान्तश्शरीर घटनाविघटनादुच्छिन्नत्वेन मृते न भोक्तृत्वमित्यपि मत शरीरव्यतिरिक्तस्यैव कस्यचिच्चित्तत्त्वस्य भोक्तृत्व परिपोषयति—तत्तत्त्वम्भूतसमुत्पन्न उताभौतिकम्मरणधर्मि, किंवा नित्यमिति विवादस्त्वास्ता तावत् । येऽपि सौगता आत्मतत्त्व पञ्चस्कन्धाव्यतिरिक्तमनित्यमथवा क्षणिकमङ्गीकुर्वन्ति तेऽपि तस्य स्कन्धपञ्चकस्य शरीरभिन्नत्वमङ्गीकुर्वन्त्येव । कर्म्मफलभोक्तृत्वमूलकमात्मतत्त्वस्य शरीरव्यतिरेकेणावस्थानमङ्गीकुर्वता भारतीयदार्शनिकानामत्रैकमत्यम् ।

इदमपरमैकस्वर्यस्थानम् । शरीर यथा सुखस्य मूल तथैव दु खस्यापि मूलम् । सुखन्नाम दु खासम्भिन्नमेव । दु खलेशात्सुख क्षीरे जम्बीररसबिन्दुकल्प वैरस्याय प्रभवत्प्रज्ञावतामनुपादेयमेव । वरमद्यकपोत. श्वो मयूरादिति लोकायतन्यायो बालोपलालनमिव प्रेक्षावतामुपेक्षास्पदम् । अपि च शरीरेण क्रियमाणानि कर्माणि शुभान्यशुभानि कुशलान्यकुशलानि वा शरीरिणमनुरुन्धन्ति फलभोगायोर्ध्वम्मरणादप्यस्वतन्त्रयन्ति । गर्भवासो दु खमेकजन्मनि कृतप्रियाणाम्महाप्रयाणकाले वियोगो दु खतरम् । आगर्भवासादाचरणाद्व्याधिजराऽप्रियसमागमारूपोऽपि भूयो दु खमेव वर्धयन्ति । सुखञ्चेदप्यनुभूयेत तदपि वह्निखंडाया दह्यमानस्य हिमलेपवत्क्षणमेव सौमनस्याय प्रभवेत् । शरीर नाम शरीरिणो दु खेनास्वातन्त्र्यीकरणम् । एव भारतीयाश्चिन्तका एकस्वरेण मोक्षापरपर्याय स्वातन्त्र्य गवेषयन्तो मरणचक्र ससरदुपशमयितु परमार्थत आत्मन स्वरूपेऽवस्थानमेवैकमयनमुद्घोषयन्ति ।

आत्मा शरीरव्यतिरिक्त शरीरञ्च ससाराङ्गभूतत्वाद्दु खहेतुरित्यभ्युपगम्य पर प्रवर्तते विवाद आत्मस्वरूपे तदनु मोक्षावस्थायाञ्च । येन केन वा रूपेणात्मा भवतु स एव ज्ञानस्य परमाधिष्ठानभूतोऽत एव चेतनश्चेतनाऽश्रयो बोद्धुध्यते । इन्द्रियद्वारेण चाय बाह्यानर्थान्विजानाति । अभौतिकस्यात्मनो भौतिकेन विषयेण सह सम्बन्धो द्वारमपेक्षते तच्चेन्द्रियैरुपह्रियते । इन्द्रियाण्यपि स्थूलानि भौतिकानि च न स्वरूपेणात्मसम्बन्धमनुयान्ति किन्तु केनचित्सूक्ष्मतरेण तन्त्वेन परम्परयैवेति तदिन्द्रियात्मनोर्मध्यवर्ति मन इत्युच्यते । इत्थमपि चात्र विचार्यताम्—चेतन आत्मा यदि साक्षादेव बाह्यार्थाञ्जानीयात् तदा सर्वकाल बाह्यार्थज्ञानम्भवेत्—आत्मनो नित्यचेतनत्वात् । यदि वेन्द्रियसहकारमात्रेण ज्ञानमाविर्भवेद् युगपद्बहूना विषयाणा ज्ञानमुत्पद्येत । भवति चैकक्षणे एकस्यैवार्थस्य ज्ञानम् । अत इन्द्रियात्मनोर्मध्ये केनचिद् व्यवधानेन भाव्य यदेकमिन्द्रियमेवैकक्षणे आत्मसयोगिकारयत्प्रवर्तते । एव मन आख्यस्य स्वतन्त्रस्य तत्त्वस्य सिद्धौ प्रवृत्तास्सर्वे भारतीयदर्शनविचक्षणा ।

मन इति शब्दमप्यधिकृत्य वर्तते काचिद्विप्रतिपत्ति । तत्र नैयायिकवैशेषिकयोर्निकाये मन इति द्रव्यान्तरमणुरूपमिन्द्रियसम्पृक्तमात्मनासम्बद्धमुत्पादयति द्रव्यान्तर आत्मनि ज्ञानमेकक्षणावच्छेदेनैकस्यैव विषयस्य । तथा च मनस पारिमाण्डल्यादेव । अन्यथा युगपद्बहूना ज्ञानाना समवाय स्यात् । युगपज्ज्ञानानामुत्पत्तिप्रतीतिस्तु भ्रान्त्या शतपत्रपत्रशतच्छेदनवत् । आत्मनि मनस्संयोगेन गुणभूत ज्ञानमुत्पद्यते बुद्ध्याख्यम् । मनोद्रव्य बुद्धिश्च गुण इति मनोबुद्धयो परिच्छेदम् इन्द्रियसहकारित्वेन स्वातन्त्र्येण च सुखदु खाद्यनुभावकत्वेन मनस षष्ठेन्द्रियत्व बुद्धेर्नास्ति । साख्ययोगयोस्तु प्रकृतेर्बुद्धयपरपर्यायस्य महतस्ततोहङ्कारस्य ततश्च मनस उत्पत्तिरङ्गीकृता । बुद्धयहङ्कारमानसामन्त करणत्व, ज्ञानेन्द्रियाणाञ्च बाह्यकरणत्वम् । बाह्यकरणानि केवला विषयाणामालोचन विदधति, मनस्तु तद्विविच्य द्रव्यमिद, गुणोऽयमित्यादि निर्धारयति—तदेव मननमित्याकार्यते । ज्ञाने च ममैवेत्यहङ्कारारोपोऽहङ्कारेण, तद्विषये च कर्तव्याकर्तव्यनिर्णयो बुद्धयाऽध्यवसीयते । त्रीण्यप्येतान्यन्त करणानि परस्परसापेक्षतया प्रवर्तमानानि ज्ञानमुत्पादयन्ति । तानि च सत्कार्यवाददिशाऽभिन्नानि सन्त्यपि व्यापारभेदेन भेदमुपयान्ति । अद्वैतवेदान्ते चान्त.करणानामिन्द्रियत्वम् । आत्मैव इन्द्रियाणा तद्वृत्तीना विषयस्य च प्रकाशक । अन्त करण विषयाकारपरिणतमात्मसम्पर्काज्ज्ञान जनयति । विषयाकारपरिणतिरन्त करणस्य चतुर्धा वृत्तिव्यपदेशभागिनी भवति । सशयारूढमन्त करण मन इति, निश्चयावस्थापन्न बुद्धिरिति, गर्वावस्थापन्नमहङ्कार इति, स्मरणावस्थावस्थित चित्तमिति पृथक्पृथक् नाम लभते । आर्हतदर्शनेऽपि मनसो इन्द्रियत्व तस्य च ज्ञाने उपकारकत्वमुररीक्रियते । बौद्धदर्शनसम्प्रदायेषु मनस षष्ठेन्द्रियता तस्य च धर्मविषयकता प्रतिपादिता । सुखदु खादिवेदना. मनसैव प्रत्यक्षीक्रियन्ते । मनश्च आत्मस्थानीयस्कन्धपञ्चकान्तर्गतविज्ञानस्कन्धादतिरिच्यैव वर्तत इति तज्ज्ञाने उपयोग्यपि ज्ञानात्पृथगेव ।

मनः प्रतीत्य धर्मञ्च विज्ञानं समुदेति यत् ।
मनोविज्ञानमित्युक्तं चक्षुर्विज्ञानवद्धि तत् ।।

योगाचारप्रस्थाने मनस आलयविज्ञानेनैक्यमपि क्वचित्प्रतिपाद्यते । सर्व मनोराज्यविजृम्भणमित्युक्तिरपि श्रूयते । तत्र मनो व्यक्तीरतिक्रम्य वर्तमान सर्वकारणभूतमवैयक्तिक व्यापक तत्त्वम् । तादृशञ्च मनो पारमार्थिकविज्ञानान्नातिरिच्यते । कुत्रचिच्च मनो विज्ञानप्रतिद्वन्द्वित्वेन जेगीयते । तच्च प्रवृत्तेर्मूलमित्युच्यमान प्रवृत्तिविज्ञानसमर्ङ्गिव्यावहारिकतयैनैव सत्यता भजते । अस्मिन्नेवार्थे मनसो निग्रहोऽनुमोदितो निर्वाणलाभाय । इत्थम्—

द्रव्य क्वचित्पृथग्बुद्धेरन्त करणमेव च ।
अन्त करणवृत्तिश्च चित्तपर्यायं इत्यपि ।।
अतीन्द्रिय तथा धर्मज्ञाने प्रत्यय एव च ।
विज्ञानमालयाख्यञ्च प्रवृत्तेर्वाऽपि कारणम् ।।
एवऽबहुविधेऽर्थेऽस्य मनश्शब्दस्य योजना ।
नानादर्शनमार्गेषु भारतीयेषु दृश्यते ।।

सत्यपि मतभेदे भारते कदापि मनसो ज्ञानात्मकत्वमुत ज्ञानाश्रयत्व नैवाङ्गीकृतम् । अत्र बीजन्तु आत्मनो ज्ञानमूलस्य पृथक्स्वीकार एव । जडमेव मन इति सङ्गिरन्ते भारतीया. । जडमपि सक्रियतां भजते मनस्तत्तु स्वगतरजोगुणेन वाऽऽत्मगतेच्छाद्वेषादिना वा कर्तृत्वाभिमानेन वाऽनादिवासनया वेति यथायथं योजनीयम् ।

तदेतन्मध्यस्थ मन इन्द्रियाणि विषयालोचने नियमयदात्मान ज्ञाने प्रवर्तयति । तथा च ज्ञानमात्रे मनस. कारणत्वम् । ज्ञानेन रागाभिनिवेशवासना उत्पद्यमाना आत्मान बध्नन्ति । बद्धश्चात्मा कर्म करोति फलञ्च भुङ्क्ते । इह जन्मनि कृतस्य कर्मण. फलविपाकाभावे भाविनि जन्मनि विपक्वस्य तस्य भोग इति जन्मपरम्परा चक्रायमाणा भ्रमति । तद्वशाद्दु.खदौर्मनस्योपाया सा विरूढि वैपुल्यञ्च यान्ति । मन एव तद्धेतुरित्युक्तमभियुक्तै 'मन एव मनुष्याणा कारण बधमोक्षयोरिति ।' एव पारेसमारञ्जिगमिषूणामयमेवैकायन. पन्था यदुत मनोनिग्रह. । मनो ज्ञात्वा, मनसो व्यापाराश्च यथाभूतमनुविद्य तन्निग्रहे यत्न आस्थेयो मोक्षार्थम् । सर्वेषु भारतीयदर्शनप्रस्थानेषु मनोविज्ञानस्यात्मनः स्वातन्त्र्यलाभ. परम्प्रयोजनम् । तन्निग्रहे इन्द्रियाणि स्वस्वविषयमालोच्यापि वन्ध्याकल्पानि तिष्ठन्ति, आत्मापि मनोव्यापारानुद्वेजितो द्रष्टैव केवल स्वरूपेऽवतिष्ठते । एवमायातौ कर्म्मणामनुत्पादात्, भूतकर्मणाञ्च फलभोगेन क्षयात् स्वरूपलाभ उपपद्यते । इदञ्चात्मन. स्वरूपम्—

द्रव्य ज्ञानासमालीढ व्यापारात्प्रकृते. परम् ।
द्रष्टृरूपे व्यवस्थानमीश्वराभ्याशभाजनम् ॥
लोकाकाशादूर्ध्वगत्या सर्वज्ञज्ञानलाभिता ।
पञ्चस्कन्धोपशान्तिश्च प्रपञ्चोपशमाद्वयम् ॥
विज्ञानमात्रदृष्टिर्वा सामरस्य शिवाद्वयम् ।
जीवाभिमान निर्धूय ब्रह्मैक्यज्ञानसस्थिति ॥
तदेतद्भारतीयानाम्मतेष्वात्मनि दृष्टय ।
उद्यन्ति निग्रहात्तस्य मनसो योगसाधनात् ॥

पाश्चात्येषु दर्शनप्रस्थानेषु पुरा यद्यप्यासीन्मनस आत्मनो भेदस्तथापि स न सार्वत्रिक । कालवशेनात्ममनसी पर्यायेणोच्येते स्म । इत्थ विचार्यमाणे ये धर्मा आत्मनो चेतनत्वादयस्ते सर्वे मनसोऽभ्युपगता. । मनोव्यतिरिक्तस्यात्मनोऽभावात्मनसश्च प्रत्यगनुभूयमानत्वात्तत्साधने भारतीयदर्शनवत्प्रयासोऽनुमानादिभिर्न दृष्टः । इन्द्रियाणि विषयावगाहीनि साक्षान्मनसा सम्पर्कमागतानि मनस्येव ज्ञान जनयन्ति । मन एव प्रवृत्तिनिवृत्त्यो कारण तदेव भोक्तृत्वकर्तृत्वादिव्यपदेश लभते । तदेतन्माइन्ड (Mind) पदवाच्य मन आत्मन. स्वस्य च कार्याणि कुर्वत् पाश्चात्येषु दर्शनविषयतान्नीयते । बुद्धिः (Thinking), अनुभव (Feeling), इच्छा (Willing) चेति त्रयो व्यापारा मनसो निर्दिष्टाः । मनसो व्यापारानधिकृत्य प्रवर्तमान विज्ञान मनोविज्ञानमित्युच्यते । अत्र विज्ञाने सामान्यतो मनसो विश्लेषणमभिप्रेतं तच्च न कस्मैचित्परस्मायर्थाय मोक्षाभिधाय पर ज्ञानाधिगमेन व्यवहारवित्तये लौकिकाभ्युदयायैवेति महानस्ति भेदो भारतीयपाश्चात्यमनोविज्ञानयो । अत्र सकलपाश्चात्यमनोविज्ञानस्य विवरण प्रस्तोतुमशकमिति दिङ्मात्रेणोदाह्रियते ।

ग्रीकदेशे डेमोक्रिटस (Democritus) नाम्ना प्रसिद्धोऽनुवादी दार्शनिक. प्रथम मनोऽधिकृत्य विचारम्प्रचारयामास । तदनुसारमणव एव सकलशक्तिसम्पन्ना ज्ञान जनयन्ति विषञ्च निर्मिन्वन्ति । यच्चान्तश्शरीर ज्ञातृत्वेनावतिष्ठते तदपि सहतान्तैजसाणूनतिरिच्य नास्ति किमपि । प्रत्यक्षादिसकलमनोव्यापारा तैजसाणुव्यापारजनिता एवेति मनो नैयायिकानामिव नैकाणुरूपमपि तु तैजसाणुसमूहरूप व्यापारवच्चेतनाजनकम् । सेय चेतना मनस्येवोत्पद्यते नान्यत्र कुत्रचिदात्मनि तस्याभावात् । प्लेटो (Plato) नाम्ना ख्यातोऽपरस्तद्देशीय एव महान्दार्शनिकस्सामान्यमेव परन्तत्त्वमिति प्रतिपादयामास । विश्वस्मिन् भावगतानि सामान्यस्यैव (Idea) प्रतिबिम्बभूतानि सामान्यव्यतिरेकेणा-

सत्कल्पानि, सामान्यञ्च परापरभेदेन द्विविधमस्माल्लोकादतिक्रम्य परस्मिन् क्वचिद्वर्तते । आत्मा चैकत - स्वयङ्गति परानपि गमयति, अपरतश्च पश्यति, जानाति, इच्छति यतते च । सामान्यमुत्पादव्यय-क्रियारहित वस्तूनि तु तत्प्रतिबिम्बभूतानि चलानि उत्पद्यन्ते क्षीयन्ते च । तथा सति आत्मा सक्रियत्वा-द्धेतोरुत्पद्यमानवपुराविर्भावतिरोभावयोर्गोचर । पर स एप आत्मा सामान्यस्य ज्ञाता सामान्य साक्षात्कृत्य तद्रूपमपि लभते । तदय वेदान्तनयेन व्यावहारिकसत्ताकोऽपि पारमार्थिकस्वरूप इति व्यवहारपरमार्थयो-रन्तरा तिष्ठति । सोऽयमात्मा विकारिष्वविकृत इत्यमृतोऽनित्य इत्याख्यायते । बुद्धि, प्रयत्नो वासने-ति त्रिधाऽस्यात्मन प्रवृत्तिर्व्यवहार । अधर्मेणात्मा शरीरम्भजते धर्मेण चास्योर्ध्वगमनम् । यदा स्वयं सामान्यलोकमाप्नोति तदाऽस्य प्रयत्नो वासना चेति द्वौ भागौ क्षीयेते । बुद्धिरूपेण ज्ञानापरपर्यायेणाय स्थितो मुक्त इत्युच्यते । एतादृशमोक्षलाभ एव प्लेटोदर्शने पर पुरुषार्थ । एवमत्र दर्शने आत्मनः स्वीकृतावपि मनस पार्थक्येन स्वीकृतिर्नोपलभ्यते । मनस कार्याणि आत्मनैव क्रियन्ते । प्लेटोशिष्यो-ऽरिस्टाटल (Aristotle) आसीत् । स आत्मानमन्यथा वर्णयामास । तद्दर्शने आकृतिव्यक्त्यो-र्भेदोऽङ्गीकृत (Form and matter) । जगति सर्वं वस्तु आकृत्या सहिता व्यक्तिरेव । व्यक्तिश्चा-व्यक्तरूपेण तिष्ठन्ती आकृत्या सयुक्ता व्यक्तभाव नीयते । सामान्य व्यक्तिष्वेव स्फुटतामुपयाति, व्यक्ति-रपि सामान्यस्य स्फोटादेवात्मनो व्यक्तभाव लभते । एव व्यक्तय स्वात्मभाव प्रतिपद्यमाना आकृतीरति-रिच्य नातिवर्तन्ते । व्यक्तय एव तु परस्पर कार्यकारणसम्बन्धमुपगच्छन्ति ता एव आकृतिसम्बन्धेन आकृत्यभिव्यक्तरूपा इति विमर्श । देहात्मनोर्विषयेऽपीयमेव कथा । आत्माऽऽकृतिस्थानीयो देहरूपेण स्वात्मानमभिव्यनक्ति देहश्च व्यक्तिसामान्य आत्मनाऽभिव्यज्यते । सोऽयमात्मा न देहपरतन्त्रोऽपि तु देह एवाभिव्यक्तये आत्मानमधिकरोति । देहव्यापारद्वाराऽऽत्मैव स्वरूप व्यनक्ति । तदित्थमात्मा देहस्य सोद्देशो व्यञ्जक (Entelechy of the body) उच्यते । अशरीरिणोऽप्यात्मन शक्तिमत्त्वाद्देहव्यापाराणा कारणत्वम् । देहव्यापाराश्च किमपि प्रयोजनमुद्दिश्यैव प्रवर्तन्ते—तच्च प्रयोजन न देहस्य अपितु आत्मन एव । सुखदु खाद्यनुभवेन हानोपादानविषयिणी इच्छा ततश्च प्रयत्न इद हेयमिद ग्राह्यमिति स्मारस्मार प्रवर्तते । विषयेन्द्रियसयोगेन कस्यचिदेकस्य विषयस्यैवैककालावच्छेदेन ग्रहण भवति—तद्यथा घटवस्तुन-श्चक्षुषा सयोगेन काचिद्वयक्तिरियमित्येव प्रत्ययो जायेत । जायते तु घटोऽयमितिप्रत्यय सोऽय समग्र प्रत्ययो न विषयमात्रजनित प्रत्युत ज्ञातपूर्वघटत्वज्ञानसहकृतोऽपीति ज्ञानमात्रे आत्मा पूर्वज्ञान वर्तमान-ज्ञानेन सहैकीकृत्य प्रवर्तते । ज्ञाने यो भाग. स्मरणादिद्वारा आत्मना उपपादित स प्रतिव्यक्तिसम वर्तते अयमेव च अरिस्टाटलेन सक्रिया बुद्धि-(Active reason) रित्युच्यते । तद्व्यतिरिक्तोऽपरो ज्ञानभागो विषयेन्द्रिसंयोगमात्रादागतः प्रतिपुरुष भिन्नो निष्क्रिया बुद्धि-(Possive reason) रित्यभिहित. । सक्रिया बुद्धिर्नित्या निष्क्रिया तु व्यक्तिनाशान्नश्यति । सक्रिययैव बुद्धया विषयाणा ससारस्य च तत्त्व विज्ञाय पर ज्ञानमुपैति पुमान् । ज्ञानाधिष्ठितस्य पुसो निरीहस्य आनन्दाधिगमः फलमिति । इत्थमत्रापि दर्शने आत्ममनसोर्द्वैधीभावो नाङ्गीकृत आत्मैव व्यापारवज्ज्ञानमूलमङ्गीकृतम् । स्टोइक (Stoic) सम्प्रदाये अरिस्टाटलमतस्यैव भूयसा सम्वर्धन जातम् । इयास्तु भेदो यदत्र मते विषयवासनाया निराकरणे महानभिनिवेशो दृश्यते । वासना आत्मानमुद्धून्वति । ता निर्धूय विषयेषु सुखदु खात्मकेषूपेक्षक. सक्रियाया बुद्धेस्सवर्धनाय प्रयतमान पुरुषः आत्मरति. पुरुषार्थ लभते न विषय-रसलम्पट इति मतस्यास्य त्यागे महानादरो भारतीयदर्शनवत् । अस्मिन्दर्शने आत्मा तैजसा प्राणा (Pneuma) इत्युक्त. । स एव शरीरन्नियमयति, अयञ्च शरीराभ्यन्तरे रक्तप्रवाहप्रणालिकया सम्बद्धः । मरणादूर्ध्वमयन्तत्सम्बन्धान्मुच्यते । मुक्तावस्थायामय विश्वात्मनि (World Soul)

लय याति। बद्धावस्थायाञ्च रक्तप्रवाहसम्मिश्रितो जैनदर्शनवत्समग्र शरीर व्याप्य तिष्ठति। मूलत-स्त्वयमात्मा स्वच्छपट्टिकावत्। विषयसम्पर्कादत्र ज्ञानचिह्नानि उत्कीर्यन्ते। केनचिच्च स्टाइकसम्प्र-म्प्रदायाचार्येण (Chrysippus) नैयायिकानामिव ज्ञानस्यात्मनि गुणोदयमात्रत्वमङ्गीकृतम्। एतानि कानिचिन्मतानि मनोविषयकाणि प्राचीनपाश्चात्यदर्शनेभ्य उद्धृत्यात्र सङ्कलितानि।

नव्यप्लेटोदर्शने (Neo-Platonism) प्लोटाइनस (Plotinus) नाम्ना विख्यातो दार्शनिक पाश्चात्यदर्शनेतिहासे आत्ममनसोर्भेद स्वीचकार। मन (Soul) शरीर व्यापारयति, आत्मा (Spirit) च स्वतन्त्र स्वयसिद्धश्चेतनव्यापारान्प्रयोजयति। प्लेटो द्वारा प्रतिपादित सामान्याख्य तत्त्वमत्र मते ईश्वरस्य ज्ञानमुच्यते। तदेतदीश्वरज्ञानं जीवेष्वपि ज्ञानरूपेणात्मसु वर्तते। सोऽयमात्मा वहुषु ज्ञानेष्वैक्यं सस्थापयन्नस्य मतस्य भेदाभेदपरकत्व प्रचारयति। विषयज्ञानेऽनुभवानयमेवात्मा पृथगवस्थितानेकीकृत्य व्यापृणोति स्वात्मानमपि स्वयञ्जानाति। विषयज्ञाने क्रियायाञ्चायमात्मा मनोद्वारेण मध्यस्थेन प्रवर्तते। मूलतो जीव· ससारश्चैकस्यैव परमात्मन कार्यम्। आगस्टाइन (Augustine) दर्शने अनुभवमात्रे विषयविषयिणो कारणत्वमङ्गीकृतम्। विषयो यथाकथञ्चित् सन्देहभाजनं भवति—घटोऽयन्नवेति। विषयी तु सर्वसन्देहमूलं सन्देहेऽपि निश्चयेन ज्ञायते। न कोऽपि सन्दिहानो नाहऽमस्मीति स्वात्मनि सन्देह भजते। एवमात्मनोऽस्तित्वं प्रत्यगेवानुभूयते तत्सिद्धये प्रमाणान्तरस्याकिञ्चित्करत्वात्। सन्दिहानो विषयी जीवन्नेव तथा करोति, सन्देहो विषयिण. पूर्वानुभवसस्कारस्योद्बोधादेवोदेतीति स्मरण, वर्तमानविषयानुभवादनुभूयमानविषय एव सन्देह इति अनुभूति, सन्देहापाकरणाय चेच्छेति स्मृत्यनुभूतीच्छाना विषयिणि सन्देहोत्पत्तेरेव सिद्धिः। एता· स्मृत्यादयोऽन्या वा क्रिया आत्मनोऽपृथग्भूता आत्मन एव व्यापाररूपा अङ्गीकृता·। आत्मद्वारेणैवासु क्रियासु समन्वय, स्वसविक्ता चात्मनो निश्चितिः सन्देहव्यापारे सन्दिह्यमानवस्तुनि निरादरोऽसन्दिग्धस्य कस्यचित्प्रमाणस्य पुरस्कारेणैव भवति। यद्यसन्दिग्ध न जानामि कथमहं किञ्चिद्वस्तु सन्देहास्पदञ्जानामि? तदेतदसन्दिग्ध तत्त्व प्रज्ञेत्याख्यायते (Reasun) ययाऽनुमानादिषु तदाभासनिराकरणम्, शुभस्य सुन्दरस्य निर्णयो यत्र च क्वचिदनुभूतिमतिरिच्य ज्ञानं तत्सर्वमवसीयते। आत्माऽनया प्रज्ञया विश्वजनीनया सम्बद्ध एवाऽनुभवति जानातीच्छति च। सैषा प्रज्ञा परमेश्वरस्य पूर्णस्य ज्ञानभूता जीवात्मसु वर्तते इति पारमेश्वरस्य ज्ञानस्य ज्ञानमात्रेऽवस्थितिः। परन्तु जीवात्माऽपूर्णत्वात्परमेश्वर यथाभूत न जानाति-अशत एव तस्य ज्ञानं सम्भवति। अनुभूतिज्ञानेच्छास्त्रयो व्यापारा आत्मन एव न शरीरस्य। एते जीवात्मानः परिच्छिन्नरूपेण परमात्मनस्त्वपरिमिता इति विवेक.।

आधुनिकपाश्चात्यदर्शनेतिहासस्य प्रवर्तको देकार्त (Rene Descartes) नामाचार्यो भौतिकविज्ञानस्य विकासेनाभिभूत प्रकृति स्वीयैरेव नियमैर्बद्धा जडा स्वीचकार। जडत्वेऽत्र गत्यभावेऽपि वैशेषिकादीनामिवेश्वरप्रेरिता गतिरङ्गीकृता। ईश्वरप्रदत्ता गतिमवष्टभ्य जगत्प्रवर्तते पर जडत्वादत्र कस्यचित्प्रयोजनस्याभाव। शरीराण्यपि प्रकृत्यङ्गभूतत्वात्स्वगतरक्तप्रवाहादिना यन्त्रवत्तैलज्वलनेन चलन्ति। तानि च शरीराणि वितत्य तिष्ठन्ति। मनस्तु स्वयङ्कृति स्वतन्त्रमेव। विचारणाऽस्य गुण.। अत्र वितानस्य लेशोऽपि नास्ति यथा शरीरेषु विचारणाया.। अहमस्मीति प्रत्यय. शरीरादि प्राकृतिकभावजातमतिशय्य मनस. सिद्धयेऽलम्। सन्देहोऽप्यहम्प्रत्ययमेव पुष्णाति। न च कोऽपि प्रत्येति नाहमस्मीति, "विचारयामीत्यहमस्मीति" तस्य सुप्रसिद्ध सूत्रम् (Cogito ergo sum)। कल्पना-अनुभूतिश्च मन आलम्ब्य प्रवर्तेते इति ते मनसो गुणभूते—मनस्तु तयोराश्रय.। तदित्थ मन (Mind), शरीर-(Body) मिति द्वे तत्त्वे नितरा पृथग्भूते भवत.। न तयोरस्ति सम्बन्धः। ननु दृश्यते मन शरीर

प्रेरयत्, शरीरञ्च मनो रञ्जयदिति कथ तयो पार्थक्यमिति चेत् मन. शरीरञ्च मानवेषु सहत्य तिष्ठत. पशुषु मनसोऽभाव.। तयो सहृतिस्तिलतण्डुलवदेवाभ्युपेया, पर सहभावेन शरीरव्यापारा मनसि विक्षोभ जनयन्ति न तु मनोव्यापारानुत्पादयन्ति, विक्षुब्धञ्च मनो मस्तिष्कावस्थितग्रन्थिविशेष–(Pineal gland) द्वारा शरीरम्, शरीरञ्च तेनैव द्वारेण मन आवर्जयत् प्रवर्तते। एकमेव च मन. प्रतिशरीर स्वव्यापारभेदाद्भिन्नमिव दृश्यते। तथापि तस्य व्यापारान् द्विधा विभज्य वक्तु शक्यते। यो भाग इच्छति यतते च स स्वतन्त्र कर्ता, यश्च परो भागो बाह्यान्विषयानालोचयति, शीतोष्णादिकमनुभवति मुह्यति वा शरीरसम्बन्धेन स परतन्त्र इत्युच्यते। अयञ्च परो भागो वस्तुतो व्यापाररहितो निष्क्रिय एव। ज्ञानमात्र मनस एव जायते। ज्ञानञ्च तदेव यन्निश्चयात्मकम्। इन्द्रियाणि निश्चयात्मकज्ञानोत्पादने सामर्थ्यविरहितानि यथावस्थित विषय न ज्ञापयन्ति, गुणेभ्य. प्रभावकेभ्यो रहितस्य विषयस्य यथाऽवस्थितस्य ज्ञान मनसो विचारणयैव जायते। यथा गणिते द्वयो सख्ययोर्योगान्निष्पन्नायास्तृतीयाया: सख्याया ज्ञानमतीव निश्चितमनिन्द्रियकञ्च तथैव सर्वेण ज्ञानेन भाव्यम्। तदेव निश्चयात्मक ज्ञान मनस सहजमनिन्द्रियोत्पन्नमनुभवातिग (Innate or a Priori) च भवितुमर्हति। पर तादृश ज्ञानमनुभवत एव प्रस्फुटति। अनुभवमात्रजन्य ज्ञानमनिश्चायक तदेव च मनस्सहकृत निश्चयात्मकम्भवति। स्पिनोजानाम्ना ख्यातोऽपरो दार्शनिको (Benedict Spinoza)ऽपि मनश्शरीरयोर्नितरा पार्थक्य प्रचारयामास। तस्य दर्शने द्रव्यन्नाम तदेव यत्स्वतन्त्रमेकमद्वितीयञ्च तिष्ठति। एतद्विना न किमपि ज्ञायते द्रव्यस्यास्य च ज्ञाने न किमप्यपरमपेक्ष्यते। इदञ्चातएवाकारण सत्सर्वकारण भवति। एतच्च व्यक्तशरीरविरहित शरीरसयोगस्यास्वातन्त्र्यमूलत्वात्। अस्वातन्त्र्य स्वातन्त्र्याभावरूपन्नितरा भावरूपे द्रव्ये नैव सम्भवति भावाभावयो परस्पर विरोधात्। तदिद द्रव्यमीश्वर इत्याख्यायते। ईश्वरोऽनन्तप्रसादस्तस्य च गुणा अनन्ता अपरिमिता, निर्गुणस्येश्वरस्याकिञ्चित्करत्वात्। अपरिमितेष्वपि गुणेषु मानवा द्वावेव गुणौ (Attributes) जानन्ति यदुत वितान (Extension) विचारणा (Thought) च। शरीराणि वितत्य तिष्ठति मनश्च विचारयति। एतावपि गुणावपरिमितौ परस्परमसम्पृक्तौ तिष्ठत। मन शरीरन्न विकारयति शरीरञ्च मनो न विकुरुते। गोविषाणद्वयवत्तौ सहैव तिष्ठन्तावपि परस्पर कार्यकारणादिसम्बन्धासम्बद्धौ भवत। मनो विचारणा सामान्यरूपेण नैव भवति, भवति तु विचारणाविशेषस्यैवाऽवस्थिति। तथैव शरीरमपि वितानसामान्येन न तिष्ठति, भवति तु वितानविशेषस्यैवाऽवस्थिति। सामान्य विशेष एवाभिव्यक्ति लभते। विचारणाविशेषा वितानविशेषाश्चेश्वराख्यस्य द्रव्यस्य पर्याया (Modes) उच्यन्ते। तदेवं जैनदर्शनवदत्रापि द्रव्य गुणपर्यायवदित्युच्यते—इयास्तु विशेषो यत्स्पिनोजादर्शने द्रव्यमेकमेवाऽद्वितीयमार्हतदर्शने च तन्नाना। द्रव्यमात्मान निश्चितेन रूपेण पर्यायेष्वभिव्यनक्ति द्विधा गुणाभ्याम्। पर्यायाश्च परस्पर कार्यकारणभावबद्धा.—कश्चिन्मानस पर्यायोऽपरम्मानस पार्यायं कश्चिच्च शरीरोऽपर शारीरमुत्पादयितु क्षम। यथा गणिते ज्यामित्याख्ये त्रिकोणस्य लक्षणात्सर्वे त्रिकोणगुणा निगम्यन्ते तथैव द्रव्यस्य लक्षणादपि विश्वस्य सर्वे गुणा निगम्यन्ते। यथा च त्रिकोणस्य लक्षणात्कस्यचित्त्रिकोणविशेषस्य विषये न किञ्चिद्वक्तु शक्यते तथैव द्रव्यस्य लक्षणान्न पर्यायविशेषस्य विषये किञ्चिद्वक्तुम्पार्यते। इत्थमुच्यमाने मनसो गुणभूतत्वान्मन: पर्यायसमूहमात्रमतिरिच्य नाति वर्तते तथैव च शरीरम्। तदेतन्मतं बौद्धाना स्कन्धव्यतिरिक्तस्यात्मनोऽभाव इति मतेन साम्यमावहति। परन्तु बौद्धानाम्मते नित्यस्य द्रव्यस्याऽभाव., स्पिनोजादर्शने तदेव दृढमङ्गीक्रियते। मन.पर्यायाणामेका परम्परा तस्याः समानान्तरं शरीरपर्यायाणामपि परम्परा वरीवर्ति। तयोरसम्बन्धादपि स्वभावत एव मनसः

पर्यायेषु प्रतिपर्यायमेकः पर्याय शरीरपर्यायेषु सवदति, शरीरपर्यायेष्वपि प्रतिपर्याय मनःपर्यायेषु काश्चित्सवादी पर्यायो वर्तत एव । एव मनसि यद्वर्त्तते तच्छरीरेऽपि शरीरे च यद्भवति तन्मनस्यपीति कारण विनाऽपि मनश्शरीरयोरेकस्यैव द्रव्यस्य गुणभूतत्वात् सवाद सिध्यति । प्रकृतिपुरुषयो साख्य-निकायेऽङ्गीकृत सम्बन्ध एतेन मनेन साम्यमावहति केनचिद्रूपेण । एतदनुसारेण ज्ञानमात्र मनोजन्य निश्चयात्मक सहजञ्च भवति । यदा मनस्मिज ज्ञान बाह्यविषयमवलम्ब्यैव भवति तदा तदस्फुट सन्देहास्पद-ञ्च जेगीयते । यदा तु बाह्यालम्बनमवधय मन आत्मन्येव पश्यति तदा भवति स्पष्ट स्फुटमसन्दिग्धञ्च ज्ञानमिति ।

लाइब्नीत्ज—(Leibnitz) नामाऽपरो दार्शनिकश्चेतनाणुवादस्य (Theory of Monads) प्रवर्तक आसीत् । तस्य मतेन यत्किञ्चिद्वितत्य तिष्ठति तत्सर्व विभागमापद्यते । विभागस्य चरमा अवयवा अणव एव । एते चाऽणव स्वय चलन्ति स्वस्मिन्नेव गतिमवष्टभ्य तिष्ठति, न कोऽपीश्वरोऽन्यो वाऽणुषु गतिमा-दधाति । अनयैव गत्या वस्तु वितत्य भवति । तदेवमणवो न वितता अपितु सगतिका एवेति केवल शवित-रूपा एव । यथा प्रवृत्तिरूपा गतिस्तथैवावरोधरूपाऽपि । गतिरेष्वेवाणुषु । अवरोधगत्यैव प्रवृत्तिगतिमन्त -शक्त्यणवोऽपि जडा इव प्रतिभासन्ते । न केवलमेतेऽणवो गतिमन्तस्ते ज्ञानवन्तोऽपि भवन्ति गतिज्ञानञ्च प्रत्यणु सहैव वर्तते । ते पश्यन्ति चलन्ति च । एते चाणवोऽपरिमितसख्याका अनुत्पादव्ययधर्मिणश्च भवन्ति । सर्व वस्तु ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तमेषामणूना सघातरूपम् । ज्ञानप्रवृत्तिनिवृत्तिशक्तिमन्तोऽणवो वैशेषिकाद्यभिमताणुभ्यो भिद्यन्ते । अयञ्चेतनाणुवाद साख्याऽभिमतायास्त्रिगुणाया· प्रकृतेस्साम्यमावहन्नपि प्रकृतेरेकत्वात्ततश्च सर्गप्रवर्तनेन व्यक्तस्याऽनित्यत्वात्प्रकृतेश्च सत्त्वावष्टम्भेऽपि जडत्वात्ततो भिद्यत एव । प्रकृति पुरुषसयोगेन सर्गमाविर्भावयति चेतनाणवस्तु पुरुषसंयोगमनपेक्ष्यैव स्वयम्प्रवर्तन्ते । अणुष्वेव पुरुषतत्त्वस्य चैतन्यस्या-वस्थानमत्र मतेऽङ्गीक्रियते । एते चेतनाणव ईश्वरनिर्मिता ईश्वरेणैव क्षय नेतु शक्यन्ते । न कोऽप्येता-न्प्रभावयितु शक्नोति । ते गवाक्षरहिता (Windowless) उच्यन्ते । तथाऽपि प्रत्येकमणु समग्रं विश्वमात्मनि बिभर्ति तेन विनाऽपि बाह्यसम्पर्के आत्मनि तिष्ठन्नपि विश्वं ज्ञातु शक्नोति । यद्यपि सर्वमात्म-न्येव वर्तते तथाऽपि प्रत्येकमणुषु भेदात्कश्चिदणु स्फुटतरमात्मान जानाति कश्चिच्च न तथेति ज्ञानस्य स्फुटास्फुटाऽभत्वेनाणुषु क्रमो निश्चयते । सर्वमतिशय्य स्फुटतमज्ञानवानणुरीश्वरोऽस्फुटतमज्ञानवन्तश्चाणवो भौतिका उच्यन्ते । शरीरेष्वपि ज्ञातृत्वेनाऽभिमत आत्मा तादृश एव स्फुटतरज्ञानवानणुः अणुराज (Queen monad) इत्याख्यायते । शरीरात्मनोरणुरूपयोरपि तथा सवादो निश्चित ईश्वरेण यथाऽनादि-कालादेव शरीरमात्मा च सहैव गच्छत. न तु एकोऽन्यमुत्पादयति विकारयति वा । सर्वं ज्ञानमात्माख्येऽणौ वर्तते, बाह्यसम्पर्कान्नायातीत्युक्तम् । यदि बाह्यविषयसम्पर्कादेव ज्ञानमुत्पद्येत ज्ञानमनिश्चयात्मकमेव भवेत् भवति तु गणितादिषु निश्चयात्मक ज्ञानमिति ज्ञानं निश्चयात्मकमेव प्रमाणम् । इद तु निश्चयात्मक ज्ञानमनुभवाऽवसरे एव प्रस्फुटीभवति न सर्वदेति वार्ताऽनुभवस्य ज्ञानजनकत्व न परिपोषयति । अस्फुट-ज्ञानवानणु. स्फुटज्ञानवानपि भवितु शक्नोति स्फुटज्ञानवांश्च स्फुटतरज्ञानवानपि जायते सा च स्फुटता-ऽणूनामेव प्रयत्नेनैवापाद्यते तत्र नान्यत्किञ्चित्कारणम् । इत्थ देकार्तस्पिनोजालाइब्नीत्जाना दर्शनेषु ज्ञानस्य मनोमात्रजन्यत्वमनुभवातिगत्वञ्च स्वीक्रियते । एते त्रय ऐकमत्येन शरीरात्मनोरत्यन्तपार्थक्यमुद्घोषयन्ति तस्मादेतेषाम्मत बुद्धिवादे (Rationalism) अनुभवासम्पृक्तज्ञानवादो वोच्यते ।

जान लॉक (John lock) नाम्नो दार्शनिकस्य मते दर्शनन्नाम वस्तुनो यथार्थस्वरूपज्ञानम् । ज्ञानं यदि बुद्धौ मनसि वा भवेत् तत्सर्वदा ज्ञायेत पर ज्ञायत इत्यनुभवावसर एव न सर्वदा । एव ज्ञान मनसा सहैव नोत्पद्यते । तदनुभवादेवायाति । मनो जातमात्रमनुत्कीर्णशिलाकल्प- (Tabula Rasa)

मवतिष्ठते। अनुभवो अत्रोल्लेखं विदधाति। अनुभवश्च द्विधा—इन्द्रियानुभवद्वारा मनोऽनुभूयमान-विषयाणा गुणान् जानाति मनोऽनुभवद्वारा च मन स्वव्यापारप्रक्रिया दर्शनविचारणा, सन्देह, विश्वासतर्क-ज्ञानेच्छा जानाति। एतेषु येऽनुभवा विषयसम्पर्कादागतास्ते न मनसा कदाऽपि विकल्पयितु शक्या। एते मौला अनुभवा (Simple ideas) उच्यन्ते। एताश्च मौलाननुभवान् मनो विकल्प्य मिश्रानुभवेषु (Complex ideas) परिवर्तयति। एषु मौलेष्वनुभवेषु मन प्रक्रियाणामप्यनुभवोऽप्यन्तर्भवति। रूप, शब्दो, गन्धो, रस, स्पर्श, मूर्तिः, गति., धारणा, पार्थक्यम्, दु खम्, सुखम्, ऐक्यम्, अस्तित्वम् अन्ये च तथा-विधा अनुभवा मौला अनुभवा एव विषयमात्रदर्शनजनिता। मिश्राऽनुभवास्तु त्रिधा विभज्यन्ते—पर्यायानुभव (Modes), द्रव्यानुभवः (Substance), सम्बन्धानुभवश्च (Relation)। बहूनाम्मौलानुभवानामेकत्र समवायेनानुभव. पर्यायानुभव—यथा वस्तूना शतस्य ज्ञानम्। बहूनाम्मौलाऽनुभवानामेकत्रावस्थितानामेकत्र कल्पिताऽऽलम्बने एकरूपेण ज्ञानं द्रव्यानुभव—यथा गुणानतिरिच्य द्रव्यस्य कस्यचिदनुभवाभावेऽपि गुणैस्सह द्रव्यस्यानुभवो भवति तच्च कतिपयमेव द्रव्य मन सकल्पजम्। एतानि तु द्रव्याणि भौतिक-चैतन्येश्वरभेदेन त्रिविधानि। द्वयोर्वस्तुनोस्तुलनया सम्बन्धानुभवस्य जन्म भवति—यथा कार्यकारणभाव। तदित्थ स एवाऽनुभवो यथार्थो यो विषयेषु स्वसवादिन कञ्चिल्लभते। पर्यायसम्बन्धानुभवौ मनस्येव तिष्ठत. न वस्तुतो विषयराज्ये पर्याय. सम्बन्धो वा तिष्ठति। द्रव्यानुभवस्तु मनोऽतिरिच्य कस्यचिद्व-स्तुन. कल्पनया न मनस्यवतिष्ठते—तस्य विषयगतत्वात्। अनुभवानाम्परस्पर सवादित्व विसवादित्व वा ज्ञानस्य भवति। यच्चाऽनुभवेन न सवदति तन्मिथ्यैव। परन्तु कदाचिन्मन स्वयमेव कांश्चिद्वि-चारान् कल्पयति, तेषु च विचारेषु परस्पर सम्बन्ध। अत्र विषयसम्पर्काभावेऽपि मनसो व्यापारनियमा ज्ञाने निश्चयमादधति तद्यथा गणिते। एवमनुभवजनिते सवादिनि ज्ञाने विषयसवादान्निश्चायकत्व मनो-व्यापारमात्रजन्ये च मनस. क्रियाद्वारा निश्चायकत्वम्। अत्र मते मनश्शरीरयो. परस्पर सम्बन्ध. स्वीक्रियते नैयायिकादिवत्। बर्कलेनामा (George Berkely) तु दार्शनिको लाकमतमसहमान आह—यद्यनुभव एव न पर प्रमाण तर्हि तदतिरिक्तस्य कस्यचिद्द्रव्यस्य स्वीकारे मानाभाव। गन्तारमन्तरेण गमनक्रिया यद्यपि नास्ति तथाऽपि शाब्दव्यापारसौकर्याय गमनक्रिया गन्तुर्व्यतिरिक्ताऽवसीयते। वस्तुतस्तु गमनक्रिया नाम पृथक्किमपि नास्ति। एवमेवानुभवेषु सत्सु अनुभूयमानो विषयो न ज्ञायते तथाऽपि अनुभूयमानस्य विषयस्य कल्पना क्रियते। यत्किमप्यनुभूयते तत्त्वनुभवादव्यतिरिक्तमेव। अनुभवश्चानु-भवितार विना न भवतीति मनसोऽनुभवितु सिद्धिः। अनुभवाश्चानुभूयन्त इति तेऽपि वास्तवाः। अनुभूयमानत्वमेवास्तित्वम्—(esse est percipi) इति तस्योद्घोष। अस्तित्व वस्तुनोऽनुभवादेव सिध्यति—स चायमनुभवो मत्कृतोऽन्यकृतो वेति यत्किञ्चिदेतत्। सर्वञ्चेश्वरेणानुभूयत इति तस्या-नुभवेनास्तित्ववन्तो विषयाः। शरीरादिभौतिकपदार्थजातन्तु मनो विना न भवति—मनस्येव तु तेषा-मनुभूयमानत्वात्स्थितिरवसेया—अनुभवव्यतिरिक्तस्य कस्यचिदपि कल्पने मानाभावात्। मनो विना बाह्यविषयाणा सिद्धिर्नैव शक्यते कर्तुम्। यदि भवेत् किञ्चिद्द्रव्यादिकं मनो व्यतिरिक्त तच्च ज्ञाय-मानाभावे नास्त्येव। सर्वं मनोराज्यविजृम्भणमित्युक्तिर्विज्ञानवादिबौद्धैस्साम्यमावहति तथाऽपि भेदो-ऽनयोर्मतयो। बर्कलेदार्शनिकस्य मते अनुभवस्य मनस्याश्रितत्वादपि मनोऽनुभवे परवशम्। यदाऽह स्वाक्षि व्यापारयामि तदा पुरोऽवस्थितमेव रूपादिक पश्यामि नान्यत् किञ्चित्स्वेच्छामात्रकल्पितम्। ईश्वरोऽस्मासु निश्चितेनैव क्रमेणानुभवानुत्पादयति भोजनानुभवेन सह तृप्तेरनुभव, अक्ष्णाऽन्यनुभवेनो-ष्णत्वानुभवः सहेत्यादिक्रमेणेश्वरेण निर्धारितत्वात्तथैव मनोऽनुभवति न चान्यथा। यश्चाऽनुभवो नेश्वर-कृतोऽपि तु मनसैवोद्भावितः स भ्रान्त इत्युच्यते। इदञ्च मनः बर्कलेमहोदयेन कर्ता आत्मा (Spirit)

इत्युक्त । कर्ता च न ज्ञानस्यानुभवस्य वा विषयो विज्ञातारमरे को विजानीयादिति मतानुरोधात् । डेविड ह्यूम (Devid Hume) नामाऽपरो दार्शनिको बर्कलेमत न स्वीचकार । सर्वोऽनुभवविषयो बाह्येभ्य आन्तरेभ्यो वा सस्कारेभ्य (Impressions) आगच्छति । विचारा अनुभवा वा सस्काराणामेव प्रतिकृतय । सस्काराभावेऽनुभवाभाव., अनुभवाभावे च ज्ञानाभाव । एकोऽनुभवोऽपरेण सह गच्छति (Association of ideas) न तु कश्चित् केनचिदृढतरान्तरसम्बन्धेन सम्बद्ध । कार्यमपि कारण-प्रतियोग्येव न तु कारण कार्यमुत्पादयत्यात्मान विकार्य । ज्ञान सस्कारादेवागच्छतीत्युक्त प्राक् । तच्च द्विधा—अनुभवाना सम्बन्धेन जनितम् (Relations of ideas) वस्तुगतञ्च (Matters of fact) प्रथमञ्च गणितविज्ञानस्य जनकम् । तच्च निश्चयात्मकमेव । द्वितीयन्तु न तथा निश्चयात्मक तथाऽपि विरोधाभावात्सम्भावनाऽऽत्मकमेव—श्व. सूर्य उदेष्यतीति ज्ञान न निश्चयात्मकमपितु विरोधिकारणाऽसद्भा-वाद्धेतो. सम्भावनाऽऽत्मकमेव । वस्तुतस्तु अनुभवमात्रमेव प्रत्यक्षज्ञानविषयो न तु किञ्चिदनुभूयमान वस्तु । अनुभवातिरिक्तस्य कस्यचिदपि वस्तुन सिद्धेरसम्भवात् । एकोऽनुभवोऽपरमनुभवमुत्पाद-यतीत्यनुभूयते परन्तु कश्चिदनुभवो विषयेणोत्पाद्यत इत्यत्र न किञ्चिदपि मानम् । प्रथमानुभवस्य यदि भवेत् किमपि कारण तत्तु न ज्ञायत एव । यच्च न ज्ञायते तत्राऽभिनिवेशो न शोभते दार्शनिकानाम् । अनयैव दिशा आत्माख्यस्यापि कस्यचिदनुभवो न उदेति । यदाऽहमात्मनि पश्यामि तदा कञ्चिदनुभव-विशेष, वेदनाविशेष, सज्ञाविशेष वा साक्षात्करोमि न तु अनुभववेदनासज्ञादिभिन्न तदाधारभूतं तत्त्व-विशेषमात्माख्यमुपलभे । तदेवमनुभवादिव्यतिरिक्तस्य मनस आत्मनो वाऽभाव एव । मतमेतद् बौद्धाना-मनात्मवादेन साम्यमावहति यत्र रूपवेदनासज्ञासस्कारविज्ञानेभ्यो व्यतिरिक्तस्य कस्यचिदप्यात्मनोऽभावो-ऽङ्गीकृत । अत्राऽनुच्छेदे स्मृताना लॉक-बर्कले-ह्यूमाख्याना दार्शनिकाना मतमनुभववादशब्देनाभिधीयते । तेषां मते ज्ञानन्नाम न किञ्चित्सहजमनुभवातिग यथा बुद्धिवादिभिरङ्गीक्रियतेऽपि तु अनुभवा एवैकीभूय परस्परसम्बद्धा ज्ञान जनयन्ति ।

इमानुएलकान्टनामा (Immanuel kant) सुविख्यात. शर्मण्यदेशवास्तव्यो दार्शनिकप्रवरो बुद्धिवादाऽनुभववादयो. पर्यालोचनया स्वमत सारगर्भित प्रचारयामास । ज्ञान सर्वजनीन निश्चयात्मक-ञ्चेति बुद्धिवादिना मतन्तेनाऽनुमोदितम् । तच्च ज्ञान वस्तूनि यथाऽऽत्मा स्वात्मान निवेदयन्ति तथैव न तु वस्तुन. स्वलक्षण ज्ञायत इति तेनानुभववादिभिस्सह स्वमतस्य सामञ्जस्य प्रदर्शितम् । अनुभव एव तु ज्ञानस्य हेतु पर विश्वजनीन निश्चयात्मक ज्ञानमनुभवान्नायाति । इन्द्रियाणि ज्ञानाय विषयमुपस्थापयन्ति मनस्तु स्वगतक्रियया तानेव विषयान्निश्चयत्वेन सबिभर्ति । इन्द्रियमनसोरेव व्यापारपार्थक्य सिध्यति । ज्ञानञ्च द्विधा स्फुटीभवति—एकस्मिन् ज्ञानस्फोटे विधेयपदमुद्देश्यपदे एवाऽन्तर्भूतम्—यथा शरीर वितत्य तिष्ठति । अत्र विधेयमुद्देश्यस्यैव प्रकाशकत्वेन न किमपि नूत्न ज्ञानमापादयति । सोऽय ज्ञान-स्फोटो विश्लेषणात्मक (Analytical Judgment) इत्युच्यते । अपरश्च ज्ञानस्फोट उद्देश्य-विधेये पृथग्भूते एकीकृत्य प्रवर्तते—यथा शरीराणि भारवन्ति । भारवत्त्व शरीरभिन्नमेव शरीरेण सामञ्जस्यमीयते । अयञ्च सामञ्जस्यात्मको ज्ञानस्फोट (Synthetic Judgment) इत्युच्यते । परन्तु सर्वोऽपि सामञ्जस्यात्मको ज्ञानस्फोटो नावश्यक (Necessary) । बुद्धिस्तेषा स्वीकृतौ न बाध्यते—पुष्प नीलमिति ज्ञान नावश्य पुष्पस्य नीलत्व सर्वदा सर्वत्र च ज्ञापयति । न च तदेव सर्वेषा पुष्पाणा-न्नीलत्वं ख्यापयत्यवश्यम् । एतादृश सामञ्जस्यात्मक ज्ञानमनुभवमात्रजन्य भवति । तदेव तु ज्ञान साम-ञ्जस्यात्मकमावश्यकञ्च यस्य प्रतिद्वन्द्वि न विचारसहम् । तादृशञ्च ज्ञान सार्वत्रिकं भवितुमर्हति । सार्वत्रिकता आवश्यकता च नानुभवेनाऽयाति । तयोरुद्गमस्थानं बुद्धिरेव । त्रिकोणस्य त्रयो कोणा मिलित्वा

समकोणद्वयसमाना इतीदं ज्ञानं नानुभवजन्यमपितु बुद्धिजन्य सत्सामञ्जस्यात्मकमपीति तत् सार्वत्रिक-मावश्यकञ्च न तस्य प्रतिपक्षि अन्यत्किमपि ज्ञान विचारसहम् । आवश्यकत्व ज्ञानस्याऽनुभवातिगत्वेनैव (A priori) । विषयं विना विचारस्याऽभाव, विषयश्चेन्द्रियैरुपह्रियते । इन्द्रियोपहृता विषया विचार्यन्ते । विचारणा बुद्धेर्व्यापार· तेनैव विषया नामभाजो (Concepts) भवन्ति । विषयाऽनुभवो नामविरहितो-ऽन्ध इव नाम च तादृशानुभवरहित शून्यमिव । तदेव ज्ञान बुद्धीन्द्रिययोर्व्यापारमन्तरा न जायत इति स्थितम् । तत्र कथ तावदिन्द्रियाऽनुभवस्य सम्भव इति प्रश्नो विचार्यते । रूपरसशब्दादयोऽनुभूयन्ते त एते इन्द्रियद्वारा बाह्यमेव विषयमुपस्थापयन्ति । अनुभवाश्चैतेषा दिगवच्छिन्ना. कालावच्छिन्नाश्च । विषया न केवला दृष्टिपथमुपयान्ति, यान्ति तु केनचिद्देशेन सहकृता. कालविशेषेण च । आत्मा न केवल-मनुभवानाददाति ताश्चानुभवान् दिक्कालाभ्या सह सम्मेल्यैव जानाति । दिश कालस्य च सम्मेलनं मनो द्वारा भवति । वस्त्वभावेऽपि मनसा सहकारेण दिक्कालयोर्ज्ञानं भवति । तौ च दिक्कालौ न विषयानुभवादापद्येते अपितु आत्मन स्वभाव एव स्थितावनुभवातिगावेव । अन्त करण किञ्चिद्वस्तु काल-विशेष एव प्रत्यक्षीकरोति बाह्यकरणानि च स्वस्वविषयान् दिग्विशेषे । वयं दिग्रूपेण कालरूपेण वा वस्तु जानीमो न तु तावतिरिच्य किमपि ज्ञायते । एतावताऽनुभवमात्रस्य दिक्कालरूपता । पर दिक्कालौ ज्ञातुरेव स्वरूपभूताविति स्वलक्षणे वस्तुनि तयोरारोपमात्र भवति न तु स्वलक्षण वस्तु दिस्कालसहकृतम् । तत्स्वलक्षण वस्तु किमिति न ज्ञायते, ज्ञायते च तस्य स्वात्मनि दिक्कालसहकृत. स्फोट । तदेव मनसा दिक्कालरूपेणानुभवा एकीक्रियन्ते । परन्तु एतावन्मात्रेण ज्ञान न सिध्यति । दिक्कालरूपेणोपस्थापिता अनुभवा यदा परस्पर सम्बद्धास्तदैव ज्ञानमुदेति । यदि सूर्यस्यानुभवस्तदनन्तरञ्च तप्तप्रस्तरपिण्डस्या-नुभवो भवेत् तदा द्वयोरनुभवयोरसम्बन्धान्न जायेत ज्ञानम्—सूर्यतापेन तप्तोऽयम्प्रस्तरपिण्ड इति । तथा ज्ञानस्योत्पादे केनचिदपरेण कारणेन भाव्यम् । तच्च कारणम्बुद्धिरुक्ता । मनसा दिक्कालयो-स्सम्बद्ध्यानुभवा बुद्धचै उपह्रियन्ते । बुद्धिश्चताननुभवान्नामभि सयोजयति । एतानि नामानि न शब्द-रूपाणि । तानि प्रत्ययरूपाणि पदार्थसहशानि । कान्टेन तादृशान्नाम्नान्द्वादशभेदा अङ्गीकृता. । तेषा चतुर्धा विभाग. प्रतिविभागञ्च त्रयो नामभेदा तदित्थम्—परिमाणम्, गुण, सम्बन्ध पर्यायश्चेति । बुद्धिः कदाचित्परिमाणरूपेणानुभवान् सयोजयति—यथा सर्वे मानवा मरणधर्माण । अत्र मरणधर्मत्व सर्व-मानवपरिमाणम् । कदाचित्सा बुद्धिर्गुणेनानुभवान् सयोजयति—यथा मनो न विततम् । अत्र निषेधो गुण. । कदाचित्तु सा तान् सम्बन्धेषु सम्बध्नाति—यथा वायुरुष्ण, यथा वा यदि वायुरुष्णस्तदा तापमापके यन्त्रे पारद ऊर्ध्वं गच्छति । वायोरुष्णत्व गुणगुणिसम्बन्धेन, वायोरुष्णत्व पारदस्य चोर्ध्व-गमनं कार्यकारणसम्बन्धेन । पर्यायस्योदाहरणन्तु—इद वस्तु विषं भवेत् । अत्र विषत्वस्य सम्भावना वस्तुन. पर्याय. । एताननतिरिच्य सम्बन्धान्नानुभवा ज्ञायन्ते । एते च सम्बन्धा न वस्तुतन्त्रा अपितु बुद्धि-तन्त्रा एवेत्यनुभवातिगाः (A priori) उच्यन्ते । परमनुभव विनैषा सम्बन्धाना ज्ञानन्न भवति । जगति परिमाणादीनामभाव. परन्तु बुद्धिस्स्वव्यापारेण तान् वितत्य वर्तते । वस्तुनो ज्ञानमात्रे एतेषामवश्य-सहकारित्वं भवति परञ्च वस्तुन. स्वलक्षणे तु न एते प्रभवन्ति । स्वलक्षणं वस्तु न कदाऽपि ज्ञानस्य विषयः । एतानि न दिशि न वा काले भवन्ति, दिक्कालयोर्मनोव्यापारस्वरूपत्वात् । तानि च परिमाणगुणसम्बन्धपर्यायैर्नामभि. पदार्थकल्पैरप्यकल्पितानि । परिमाणादीना बुद्धिव्यापाररूपत्वात् । मनो-बुद्धयोर्व्यापारानप्रतीत्य वर्तमानानि स्वलक्षणानि कथं ज्ञायेरन् ? एतानि ज्ञानप्रसारस्य मर्यादाभूतान्यु-क्तानि ननु यदि तानि न ज्ञायन्ते कथं तेषामस्तित्वं स्वीक्रियते । किं वा तेषां स्वीकारे प्रयोजनमिति चेच्छ्रूयताम् । वस्तुनोऽभावेऽनुभवानामभावोऽप्यापद्येत । यदि वस्तुनो वास्तवस्याभावेऽपि विज्ञानवादि-

वदनुभवोऽङ्गीक्रियेतं कथ कस्मिन्नेव देशविशेषे तत्राऽपि कदाचिदेवानुभव उदेति न सर्वत्र सर्वदा वेति अनुभवस्योदये चित्तव्यतिरिक्तस्य स्वतन्त्रस्य बाह्यस्य कारणत्वमङ्गीकर्तव्यमेव । तच्च कारण किमिति जिज्ञासायां न ज्ञायत इत्येव वक्तव्यन्न तु तन्नास्तीति । यद्यपि ज्ञानस्याभावस्स्वलक्षणविषये तथाऽपि स्वलक्षणं तर्केण यथाकथञ्चिद्गोचरम्भवत्येव । स्वलक्षणप्रादुर्भूता दिक्कालसहगता पदार्थापरपर्यायिनाम-मवलिना अनुभवा इन्द्रियमनोबुद्धिव्यापारसस्कृता आत्मानम्प्राप्यैव ज्ञानभाजो भवन्ति । अयञ्चात्मा चेतन स्वसवेदकश्च यत्र सर्वे पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टा अनुभवा. सश्लिष्टा भवन्ति तेनैव च तथा संश्लिष्टास्स्वस्मिन् ज्ञायन्ते (Synthetic unity of apperception) । मनोबुद्धयात्मान स्वस्वनियमै परवशा व्याप्रियन्त इति सर्वदा निश्चितमेव भवति । इत्थ ज्ञानस्य सामञ्जस्यात्मकत्व व्याख्यातम् । यथा च स्वलक्षण वस्तु न ज्ञायते तथैव ज्ञाता आत्माऽपि न ज्ञानविषयो भवति । परन्तु ज्ञानव्यापाराणा सम्भवाय तस्यात्मनोऽभावोऽपि निरस्करणीय एव । इत्थ कान्टदर्शने बुद्धिवादिनामभिमत ज्ञानस्य निश्चयात्मक सार्वत्रिकञ्च रूप सगृहीतं भवति । अनुभववादिनामनुभवद्वारेण ज्ञानस्योत्पत्तिरित्यपि मतमङ्गीकृतम् ।

कान्टस्य स्थितिकाल ईसवीय १७२४ तमवर्षादारभ्य १८०४ तमवर्षं यावदासीत् । तदनन्तरञ्च पाश्चात्यदर्शनेतिहासे बहव आचार्यास्स्वस्वमतानि प्रतिपादयामासु । इदानीमपि मनोविषये दार्शनिकेषु प्रचलत्येव विवाद । अद्य तार्किकभाववादिनो विश्लेषणवादिनश्च दार्शनिका पाश्चात्ये जगति मूर्धन्यता भजन्ते । तेषाम्मतेन नास्ति किमपि तत्त्व यन्मन आत्मा वोच्येत । ह्यूममतपरिष्कारेण तु ते मनो नाम शारीरक्रियापद्धति- (Disposition of behaviour) मन्तरा नास्ति किमपीति वदन्तो मनोवादिनो दूषयन्ति । यथा कश्चिद्बलो यन्त्र स्वयञ्चालित दृष्ट्वा चिन्तयेन्नूनमस्य यन्त्रस्याऽभ्यन्तरे केनचित्पिशाचेन भाव्य यो यन्त्रञ्चालयति—अन्यथा जडमिद यन्त्र कथञ्चलेत् ? तथैव शरीर स्वयमेव चलति न तु कश्चिन्मन आख्योऽस्य चालकस्तथाऽपि मूर्खा शरीर केनचिच्चेतनतत्त्वेन चालितं पश्यन्तो हास्यास्पदीभूता एवेत्युपेक्ष्या. ।

तदित्थ दिङ्मात्रमत्र पाश्चात्यदर्शनसम्प्रदायेषु स्वीकृतस्य मनसो रूप दर्शितम् । सस्कृतज्ञा भारतीय-दर्शनेषु लब्धपरिचया इति भारतीयदर्शनपक्षस्याऽत्र न विस्तार कृत इति यदि केचिदनेन निबन्धेन प्रेरिता पाश्चात्यदर्शनमतान्यालोचयेयुर्भारतीयदर्शनेषु च निवेशप्रवेशद्वारा नवीनान्दृष्टिमुद्भावयेयुस्तदा मन्येऽयम्मे प्रयासस्सफलता यायात् । अपरञ्च अत्र पाश्चात्यदर्शनमेवावलम्ब्य विचारास्सङ्कलिता — दर्शनेभ्योऽपि व्यतिरिक्ता बहवो मनोविज्ञानसम्प्रदायास्तत्र प्रचलन्ति । ते मनो विज्ञानपद्धतिद्वाराऽधीयानो तदनुसारेण मनो न दर्शनस्य विषयोऽपि तु विज्ञानस्यैव—यथा भूतानि पृथिव्यादीनि न दर्शनेनापि तु प्रयोगात्मकेन विज्ञानेनैव यथायथ ज्ञातुं शक्यन्ते । नात्र तस्य विज्ञानस्य समुपस्थापने मम प्रयत्न. ।

अभिनन्दनमेतत्स्याच्छब्दब्रह्म समर्चनम् ।
पाण्डेयरामचन्द्रेण कृत श्रीमत्त्रिपाठिन ।।

भट्टप्रभाकरयोः प्रस्थानभेदः

रामचन्द्रशास्त्री खनङ्गः

मीमासाया त्रीणि मतानि बहो कालादारभ्य प्रचलितानि । तानि यथाक्रम भट्टमत प्रभाकरमत, मिश्रमतञ्चेति । तेषु मुरारेस्तृतीय पन्था इति आभाणकानुसोरण मिश्रमत स्वल्पेनैव कालेन केवल तन्त्रान्तरेषु नामोल्लेखपूर्वक मिश्रमतमिति रीत्या स्थितम् । तस्य प्रचार ग्रन्थरूपेण नेदानीमालोक्यते । पर भट्टमत प्रभाकरमतञ्च व्याख्यातट्टीकारूपेण अद्यावधि विद्वन्मण्डलीषु विराजमाने वर्तेते । एतयोः भट्टप्रभाकरयोर्मते विद्वन्मण्डलीषु प्रकृष्ट स्थान प्राप्ते प्रस्थानरूपेण भेद गते । अय भट्टप्रभाकरयो प्रस्थानभेद. कुत्रचिदविभक्त कुत्रचिच्च विभक्तो वर्तते । अतएव पार्थसारथिकृतन्यायरत्नमालाया व्याख्यानावसरे रामानुजाचार्य लिखति—

"अविभक्तविभक्तमार्गयोर्मतयोर्भट्टगुरूपदिष्टयो ।
उभयोरपि पार्थसारथि प्रथित प्राथमिकेऽभियोगवान् ।" इति ।

अनयो प्रस्थानयो न केवल प्रमाणविषय एव भेद किन्तु प्रमेयविषये-शास्त्रविषये-अधिकरण वा विषयेऽपि महान् भेद । तत्र प्रथमत प्रमाणविषये तयोर्भेद प्रतिपाद्यते । तत्र प्रमाकरण प्रमाणमिति द्वयोरनुमतम् । तद्विभागे पर तयोर्मतभेद । अस्य स्फुटीकरणाय पट्टिका प्रदर्श्यते ।

यथाह शालिकाचार्य —

तत्र पञ्चविध मानम् प्रत्यक्षमनुमा तथा ।
शास्त्र तथोपमानार्थापत्ती इति गुरोर्मतम् ।। इति ।

भट्टमतमाह नारायण —

प्रत्यक्षमनुमान च शाब्द चोपमितिस्तथा ।
अर्थापत्तिरभावश्च षट् प्रमाणानि मादृशाम् ।। इति ।

भावे ल्युडन्त प्रमाणशब्दार्थस्तु भट्टमते—कारणदोषबाधकज्ञानरहितमगृहीतग्राहिज्ञानम् । यथाह पार्थसारथि —न च साक्षाद् बाधकमस्तीत्यव्यतिरेकशब्देनोच्यते । अनुपलब्धार्थत्वाच्च नानुवादलक्षणमप्रामाण्यमस्तीति 'अर्थेऽनुपलब्धे' इत्यनेनोक्तम् । एतच्च विशेषणत्रयमुपदानेन सूत्रकारेण कारणदोषबाधकज्ञानरहितमगृहीतग्राहिज्ञान प्रमाणमिति प्रमाणलक्षण सूचितम् ।

प्रभाकरमते तु अनुभूति. प्रमाणम् । यथाह शालिकाचार्य.—अनुभूति· प्रमाण चेति ।

कुमारिलमते इन्द्रियार्थसन्निकर्षज ज्ञान प्रत्यक्षम् । तत्कारणभूतानीन्द्रियाणि घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणि मनश्चेति षट् । तत्र चक्षुर्नाम कनीनिकान्तर्गत तेज । जिह्वाग्रगस्तोयांशो रसनम् ।

गन्धग्राहक पार्थिवमिन्द्रिय घ्राणम् । स्पर्शग्राहक वायवीयमिद्रिय त्वक् । दिग्भाग कर्णशष्कुल्यवछिन्न श्रोत्रम् । सुखदु खाद्युपलब्धिसाधनमन्तरिन्द्रिय मन । सन्निकर्षास्तु सयोग सयुक्ततादात्म्यम् सयुक्ततादात्म्यतादात्म्यं चेति त्रय· ।

प्रभाकरमते—साक्षात्प्रतीति प्रत्यक्षम् । तच्च मेय-मातृ-प्रमास्विति त्रिपुट भवति । यथाह शालिकाचार्य –"साक्षात् प्रतीतिः प्रत्यक्ष मेयमातृप्रमासु सा ।" इति । प्रभाकरविजये नन्दिकेश्वरोऽपि साक्षात्प्रतीति प्रत्यक्षम् । साक्षात्प्रतीति स्वरूपप्रतीति । स्वस्यैव रूप स्वरूप असाधारणरूपमित्यर्थं , यस्य वस्तुनो यदसाधारण स्वरूप, तेनैव रूपेण या व्यवहारयति, सा साक्षात् प्रतीति । जात्यादिविशिष्टस्य सविकल्पकज्ञानस्य साधारणाकारविषयत्वात् प्रत्यक्षत्व न स्यादिति चेन्न, असाधारणाकारेणापि विषयीकरणात् लक्षणसमन्वय । अनुमाने तु साधारणभूतव्यापकाकारेणैव सम्वन्धप्रतीतेर्न साक्षात्त्वमिति । इन्द्रियाणि तु पूर्वोक्तान्येव । तेषा स्वरूपमपि पूर्वोक्तमेवाश्रोत्र पर कर्णशष्कुल्यवच्छिन्न नभ । सन्निकर्षास्त्वेतन्मते—संयोग , सयुक्तसमवाय , समवाय इति त्रेधा । मतद्वयेऽपि निर्विकल्पकसविकल्पकभेदेन प्रत्यक्षद्वैविध्यम् ।

अनुमान भट्टमते—व्याप्यदर्शनादसन्निकृष्टेऽर्थे विज्ञानम् । प्रभाकरमतेऽपि तदेव । यथाह शालिकाचार्य.—"ज्ञातसम्बन्धनियमस्यैकदेशस्य दर्शनात् । एकदेशान्तरे बुद्धिरनुमानमबाधिते ।" इति । उभयमते अवयवास्त्रय प्रतिज्ञाहेतूदाहरणरूपा ।

हेत्वाभासा अपि त्रय एव । असिद्धोऽनैकान्तिको बाधकश्चेति । तत्रासिद्ध पञ्चविध । स्वरूपासिद्ध., सबन्धासिद्ध , व्यतिरेकासिद्ध , आश्रयासिद्ध , व्याप्यत्वासिद्धश्चेति । अनैकान्तो द्विविध । सव्यभिचार , सप्रतिसाधनश्चेति । एतत्सर्व श्लोकवार्तिकत. प्रकरणपञ्चिकात सम्यग् ज्ञातु शक्यते ।

भट्टमते—पदै. स्मारितै. पदार्थैर्यदसन्निकृष्टविषय वाक्यार्थज्ञान, तच्छाब्द प्रमाणम् । एतेऽभिहितान्वयवादिनः । एतन्मतप्रतिपादनावसाने पार्थसारथिमिश्रै. न्यायरत्नमालायामभिहितम् ।—तस्मान्न वाक्य न पदानि साक्षाद्वाक्यार्थबुद्धि जनयन्ति किन्तु पदस्वरूपाभिहितै पदार्थै सलक्ष्यतेऽसाविति सिद्धमेतत् । इति ।

प्रभाकरमते—शब्दविज्ञानापेक्षादात्ममन सन्निकर्षात् यददृष्टविषय ज्ञान तच्छास्त्र नाम प्रमाणम् । यदाह शालिकनाथ.—"शास्त्र तु शब्दविज्ञानात् यदसन्निकृष्टार्थविज्ञानम्" । इति । प्राभाकरा —अन्विताभिधानवादिन । एतेषा मते पदान्येव वाक्यम् । पदार्थ एव वाक्यार्थ । तत्र पदान्येव प्रमाणम् । उक्त चैतत् शालिकनाथेन—

"यद्यदाकाङ्क्षित योग्य सन्निधान प्रपद्यते ।
तेन तेनान्वित स्वार्थ पदैरेवाभिधीयते" ।। इति ।

भट्टमते शब्द· द्रव्यम् । प्रभाकरमते तु स गुण इति भेद ।

उपमान तु मतद्वयेऽप्येकरूपम् । यथाह नारायण –

"दृश्यमानार्थसादृश्यात् स्मर्यमाणार्थगोचरम् ।
असन्निकृष्टार्थसादृश्यज्ञान ह्युपमितिर्मता" ।

शालिकाचार्योऽपि—

"सादृश्याद् दृश्यमानाद्यत् प्रतियोगिनि जायते । सादृश्यविषय ज्ञानमुपमान तदुच्यते" इति ।

भट्टमते दृष्टार्थापत्ति श्रुतार्थापत्तिश्चेत्यर्थापत्तेर्द्वैविध्यम् । प्रभाकरमते श्रुतार्थापत्तिर्नास्ति । अपरिपूर्णस्य वाक्यस्य अन्वयबोधार्थं यत्र शब्दोऽध्याह्रियते तत्र श्रुतार्थापत्ति । यथा द्वारम् इत्यत्रान्वयसिद्धये पिधेहीति-पदाध्याहार । प्राभाकरास्त्वत्र पिधानरूपस्यार्थस्यैवाध्याहारकल्पना कुर्वन्तीति श्रुतार्थापत्ति नाङ्गीकुर्वन्ति ।

अनुपलब्धिस्तु प्रभाकरैरनङ्गीकृतेति प्रमाणविषये भट्टप्रभाकरयोर्मतभेद प्रदर्शित । प्रमेयविषयस्तु प्रदर्श्यते ।

तत्र तावद्भट्टमते प्रमेय पञ्चविधम्। द्रव्यजातिगुणक्रिया अभावश्चेति। यथाह नारायण—
"वय तावत् प्रमेय तु द्रव्यजातिगुणक्रिया। अभावश्चेति पञ्चैतान् पदार्थानाद्रियामहे"।

गुरुमते तु अष्टौ पदार्था। द्रव्यगुणकर्मसामान्यसमवायशक्तिसख्यासादृश्यानीति। तत्र द्रव्यमेषा मते नवविधम्। पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनासि। भट्टमते तु द्रव्यमेकादशविधम्। पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममन शब्दतमासि। तत्र गन्धवती पृथिवी। शरीर तु पार्थिवमेव इदानीतनस्त्रीपुसपरम्परायाश्च तथा दर्शनात्। उद्भिज्ज तु वृक्षादिक शरीरमिति भट्टा। प्रभाकरस्तु—उद्भिज्ज वृक्षादिक न शरीरमिति प्रतिपादयति। तस्यायमाशय—यत् खलु भोगायतन तच्छरीरमिति कथ्यते। वृक्षादौ भोगयतनत्व नास्ति। सर्वस्यैव वेदस्य तन्मते कार्यपरत्वात् 'स्मशाने जायते वृक्ष' इति स्मृतिवचन न तन्मूल सभवतीति।

भट्टास्तु वेदस्य सिद्धार्थेऽपि प्रामाण्यमङ्गीकुर्वाणा अस्या स्मृतेर्वेदमूलकत्वेन प्रामाण्यात् तद्बलादामिषादिसदसद्भावनिवन्धनपुष्टिह्रासादिदर्शनेन दाहच्छेदादिभिरितरशरीरवदेव वैगुण्यावाप्तिदर्शनेन च भोगायतनत्वसिद्धया तदपि शरीरमिति स्वीकुर्वन्ति। अतो भट्टमते जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जभेदात् चतुर्विध शरीरम्। प्रभाकरमते तु जरायुजाण्डजस्वेदजभेदेन त्रिप्रकारमेव। उभयमतेऽपि वायु प्रत्यक्ष। आत्मा भट्टमते मानसप्रत्यक्ष। प्रभाकरमते तु मेयानुभवेषु ज्ञानाश्रयतया प्रकाशते। सर्वाऽपि सविदस्य मते त्रितय प्रकाशिका। अतएव आत्मा विषयाननुविद्धो नावभासते। सवित् फलभागित्वेऽपि पुरुषस्य न कर्मता परसमवेतक्रियाफलभागित्वाभावादिति। पृथिव्यादिवत् नीलरूपवत्त्वान्निर्गन्धत्वाच्च तमो द्रव्यान्तरमिति भाट्टा। अपवारितालोक भूभागादिकमेव तम इति प्राभाकरा।

गुणास्तु भट्टमते—रूपरसगन्धस्पर्शसख्यापरिमाणपृथक्त्वसयोगविभागपरत्वापरत्वगुरुत्वद्रवत्वस्नेहबुद्धिसुखदु खेच्छाद्वेषप्रयत्नसस्कारध्वनिप्राकटचभेदाच्चतुर्विंशतिसख्याका। प्रभाकरमते तु—रूपरसगन्धस्पर्शपरिमाणपृथक्त्वसयोगविभागपरत्वापरत्वगुरुत्वद्रवत्वस्नेहसस्कारशब्दबुद्धिसुखदु खेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्मभेदाद्द्वाविंशतिसख्याका। तत्र बुद्धिस्तु प्रभाकरमते स्वयप्रकाशा। भट्टमते तु—प्राकटचानुमेया प्राकटचान्यथानुपपत्तिप्रसूतार्थापत्तिगम्या वा। कर्म भट्टमते प्रत्यक्षम्। प्रभाकरमते तु—सयोगविभागपरम्परया नित्यानुमेयम्।

जातिस्तु भट्टमते—आश्रयतो भिन्नाभिन्ना प्रत्यक्षज्ञानगोचरा। प्रभाकरमते तु—आश्रयतो भिन्ना प्रत्यक्षज्ञानगोचरा। शब्दत्व-सत्ता-ब्राह्मणत्व-ज्वालात्वादिना जातित्व स्वीकुर्वन्ति भाट्टा। प्राभाकरास्तु नैतेषा जातित्व स्वीकुर्वन्ति। प्रभाकरोक्तयो शक्तिसख्ययोर्भट्टमते गुणेष्वन्तर्भाव, सादृश्यन्तु न पदार्थान्तर किन्तु गुणावयवसामान्ययोगमेव।

प्रागभावादिभेदेन चतुर्विधोऽभाव प्रभाकरैरनङ्गीकृत इति सक्षेपतो भाट्टप्राभाकरयो पदार्थविषये भेदो निरूपित। अथेदानी शास्त्रविषये भेद प्रदर्श्यते।

तत्र तावन्मीमासाशास्त्रे द्वादशाध्याया। तेषु प्रथमाध्याये विध्यर्थवादमन्त्रस्मृतिसदाचारनामधेयस्तुतिशक्त्याख्यान्यष्टौ प्रमाणानि धर्मविषये निरूपितानि। प्रभाकरमते तु—विधिप्रामाण्यनिरूपण प्रथमाध्यायार्थ इति। द्वितीयाध्याये भट्टमते कर्मभेदनिरूपणम्। प्रभाकरमते तु—शास्त्रभेदनिरूपणम्। तृतीयाध्याये तूभयमतेऽपि शेषत्वनिरूपणम्। अवान्तरप्रकरण महाप्रकरण चेति प्रकरणद्वैविध्य भट्टमते। प्रभाकरमते तु अवान्तरप्रकरणं नास्ति। चतुर्थे भट्टमते प्रयोज्यप्रयोजकभावनिरूपणम्। प्रभाकरमते तु ग्राहकग्रहणाख्योपादानप्रमाणगम्य शेषत्व-प्रयुक्त्यधिकारोत्पत्त्ययाख्यचतुष्टयनिरूपणम्। पञ्चमे क्रमनिरूपणम्। स च विधेय इति भट्टा। न विधेय इति प्रभाकरा। षष्ठेऽधिकारनिरूपणमुभयमतेऽपि। सप्तमे

सामान्येनाष्टमे विशेषतश्चातिदेशनिरूपणमुभयमतेऽपि तुल्यम् । तथैव नवमे ऊह । दशमे भट्टमतेऽति-देशतोऽप्राप्ताना बाध. । प्रभाकरमते त्वतिदेशत प्राप्ताना बाध । तन्त्रप्रसङ्गयोरुभयमतेऽपि साम्यम् । इति शास्त्रविषये भेदो निरूपित । अधिकरणरचनाविषये तु भेदो विस्तारभयान्न लिख्यते । सुधीभि तौताततिमततिलकतोऽनुसन्धेय इति । प्राभाकरेभ्यो भाट्टा कुत्र कुत्र भिद्यन्ते तदधस्तनेभ्य. श्लोकेभ्यो-ऽवगन्तु शक्यते ।

संविदोऽस्वप्रकाशत्वमन्यथाख्यातिसशयौ ।
कर्मदिक्कालवियता प्रत्यक्षज्ञानगम्यता ।।
ध्वनेर्विभुत्वद्रव्यत्वे मनसोऽस्पन्दवैभवे ।
भिन्नाभिन्नत्वमेकस्य समवायस्य नास्तिता ।।
विभुद्वयस्य सयोगो नित्यत्वं तस्य चात्मन ।
ज्ञेयत्व मुक्तिवेलाया नित्यानन्दानुभाविना ।।
अभावप्रकटत्व च शक्तेरननुमेयता ।
गुणत्वमन्धकारस्य पुगिरा स्वार्थमानता ।।
पृथिवीत्वादिसामान्य रूपत्वाद्याश्च जातय ।
अनन्विताभिधान च वेदस्याकार्यमानता ।।
श्रुतार्थापत्तिरित्येषु स्थलेषु प्रतियोगिन ।
प्राभाकरा निराकार्या भाट्टमार्गानुसारिणा ।। इति ।

अथेदानीमन्विताभिधानाभिहितान्वयवादयो कश्च वादो ज्यायानिति विचार्यते ।

व्युत्पन्नस्य पुरुषस्य तावत् लोके वाक्यादर्थप्रतीतिर्जायत इति तावदविवादम् । तत्र वैयाकरणा क्रमिकैराशुतरविनाशिभि वर्णै प्रत्येक यौगपद्येन च वाक्यार्थप्रतीतेरसभवात् तत्तद्वर्णाभिव्यङ्ग्यमखण्ड स्फोटाख्य शब्दतत्त्वमविभाग मन्यन्ते । विज्ञानवादिनो बौद्धा बाह्यार्थमपलपन्त विज्ञानमेवैक तत्त्वमिति मन्यमाना वाक्यमपि ज्ञान वाक्यार्थमपि ज्ञानमेव । तत्र शब्दात्मकेन ज्ञानेन अर्थात्मक ज्ञान जन्यत इति कथयन्ति । नैयायिका वैशेषिकाश्च पदार्थप्रतीतिं वाक्यार्थप्रतीतेरङ्गं मन्यमाना. पदसमुदायात्मकाद्वाक्याद् वाक्यार्थप्रतीतिरुपजायत इति मन्यन्ते । पदान्येव पदार्थान्तरान्वितं स्वार्थमभिदधतीनि प्राभाकरा । पदैरभिहिता पदार्था एव वाक्यार्थ प्रतिपादयन्तीति भाट्टा । तत्र वैयाकरणमत वर्णातिरिक्तस्य पदस्य पदातिरिक्तस्य च वाक्यस्य योग्यानुपलब्धिनिरस्तसत्त्वस्य स्वीकारादयुक्तम् । यस्तु एक पदमेक वाक्य-मितिव्यवहार स एकार्थ प्रतिपत्तिनिमित्त । भवति हि बहूनामेककार्यनिबन्धनमेकत्वम् । यथा इष्टिपशु सोमानामेकस्वाराज्यफलनिबन्धन राजसूय इति एकत्वम् । अतएव अर्थैकत्वमजानता नास्त्येकपदावमर्श । यदा वर्णा एव प्रत्यक्षगोचरा नान्यत् स्फोटाख्य तत्त्व तदा वर्णानन्तरजायमानार्थप्रतीति तन्निमित्तैवेति स्वीकर्तव्यम् । तत्र विभूना वर्णाना नित्यानाञ्च कालकृत देशकृतञ्च नैरन्तर्यासभवेऽपि व्यञ्जकाना ध्वनीना क्रमवर्तित्वात्तैर्वर्णेष्वभिव्यज्यमानेषु तदीयक्रमो मुखे आदर्शाल्पत्वमहत्त्वयोरिव वर्णेषु समारोपि-तोऽर्थाभिधानाङ्गता भजते । उक्तञ्च वार्तिके—

"एव ध्वनिगुणान् सर्वान् नित्यत्वेन व्यवस्थिता ।
वर्णा अनुपतन्त स्युरर्थभेदाववोधका" ।। इति ।

बौद्धमत तु बाह्यार्थसाधनादेवापास्तम् ।

नैयायिकवैशेषिकादयो वाक्याद् वाक्यार्थप्रतीति मन्यमाना पदपदार्थसगतिसवित्तत्र कमिवोपकारं

करोतीति कथयन्तु । पदार्थज्ञानमिति चेत्, इद तावदालोच्यताम् वाक्याद् वाक्यार्थप्रतीतौ पदजनितपदार्थ-ज्ञानेन कस्तावदुपकार । कोऽपि नाम कल्प्यत इति चेत् तर्ह्यदृष्टकल्पनैव दोष ।

अत्र प्राभाकरा स्वकीय सिद्धान्त व्यवस्थापयन्तो टीकाकारमुखेनाहु —"पदार्थानेव वाक्यार्थ मिथ सगतिशालिन । आचक्षतेऽभिधीयन्ते पदैस्ते च तथा विधा ।।" पदान्येव वाक्यम् । पदार्था एव वाक्यार्थ इति हि तन्मतम् । यतोऽन्वितेषु व्युत्पत्तेरन्विता एवार्था पदैरभिधीयन्तेऽतोऽन्वितार्थपराणि पदान्येव वाक्यमिति । अत्रेदमालोचनीय यत् पदानामन्विते शक्तिरुत शुद्धे पदार्थे ।

तत्र— "पदानन्तरजाताहि सविदन्वितगोचरा ।
अन्वितार्थाभिधायित्व पदानामुपकल्पयेत् ।।"

वृद्धव्यवहारे पदश्रवणानन्तरं जायमाना हि सविद् विशिष्टविषयव्यवहारदर्शनेन विशिष्टविषया-ऽनुमीयते । तदनन्तर शक्तिग्रहोऽपि विशिष्टविषय एव जायत इत्यन्विताभिधानवादिना मतम् । पदैः पदार्था अभिधार्यन्ते तैश्च वाक्यावगतिरिरिति मते तु प्रमाणान्तरप्रतीतैरर्थैर्वाक्यार्थावगति स्यात् । शब्द-प्रतीतानामर्थानामेवान्वितप्रतिपत्तिकारणत्वमित्यङ्गीकारे शक्तिकल्पनागौरवमापतति । तद्यथा—पदाना तावत् पदार्थाऽभिधानशक्तिरेका, अर्थानाञ्चान्वितप्रतिपादनशक्तिर्द्वितीया, पदानामर्थेष्वन्विता-भिधानशक्त्यनुकूला शक्तिस्तृतीया इति शक्तित्रयकल्पनमभिहितान्वयवादिनामन्विताभिधानवादिना त्वन्विते-ऽन्वये च शक्तिद्वयकल्पनमितिलाघवम् । किञ्च प्रथमावगतानामेव पदानामन्विताभिधायकत्व-मुचित नत्वनन्तरप्रतीतानामर्थानामिति । एव शाब्दत्वमपि समञ्च सभवत्यन्वितप्रतीते । किं च पदार्थ-सामान्यस्य विशेषा खल्वन्वितावस्था सामान्येन नियतविशेषाक्षेप कुत । यथा गामानयेत्यत्र गोपदेन सास्ना-दिमानर्थ. प्रतीत. स्वीया विशेषावस्थामाक्षेप्तु समर्थोऽपि कि कारण यदानयनान्वितामेव गामुपस्थापयति न बन्धनान्विता गामतोऽकामेनापि गुरुमत शरणीकरणीयम् । यत्र—"यद्यदाकाङ्क्षित योग्य सन्निधान प्रपद्यते । तेन तेनान्वित स्वार्थ पदैरेवाभिधीयत" इति न्यायेन पदान्तरोपस्थितानयनान्वितैव गौ गामानयेति वाक्ये प्रतीयते । यद्यप्यस्मिन्मते प्रत्यक्षेणाश्वे सन्निहिते गौरानीयतामित्युक्ते गवान्वितमेवा-नयनमानयतिना प्रतिपाद्यतेऽश्वान्वित कस्मान्न प्रतिपाद्यते । उभयोरपि गवाश्वयो सन्निहितत्वात् । तथा-ऽपि यावन्ति हि पदानि सहत्य प्रयुज्यन्ते तावता सति सभवे सहत्यैव विशिष्टार्थप्रतिपत्तिपरत्व लोके दृष्टम् । तच्च श्रुतयोरेवान्वये निर्वहति अन्यथा बाध्येत । तस्मात्पदान्येवान्विताभिधायीतीति ।

अत्राभिहितान्वयवादिन आहु —यथा प्रत्यक्षेणाश्वे उपस्थितेऽपि गवान्वितमेवानयन गामानयेत्यत्र प्रतीयत एकवाक्यता बलात् । तथास्मत् पक्षेऽपि पदार्थसामान्येन नियतविशेषाक्षेपोप्येकवाक्यता बला-देव । यत एव चाय नियम पदान्तरसमधिगम्याद्वाक्यादेव सिध्यति न पदार्थमात्रादत एव शब्दस्य प्रमाणान्त-रत्वम् । उक्त च वार्तिके—

"तत्रानैकान्तिकानेकवाक्यार्थोपप्लवे सति । अन्योन्यात्मव्यवच्छेदादेकत्र स्थाप्यते मति. ।।"

"अतोन्वयातिरेकाभ्यामनुमाने यदिष्यते । एकार्थैकान्तिकत्वं तदन्यथैवात्र लभ्यते ।।" इति ।

सर्वथा तावत् पदग्रहणानन्तर पदार्थेषु प्रतीतेषु वाक्यार्थावगतिरित्यविवादम् । किंचाव्यवधानात् पदार्थावगतेरेव कारणत्व कल्पयितु युक्त न पदाना व्यवधानात् । अपि च दीर्घतमेषु वाक्येषु पदानु-सन्धाना भावेऽपि पदार्थाऽनुसन्धानमात्रेण वाक्यार्थ प्रतीयत इति सर्वजनीनमेतत् । तेन दृष्टानुगुण्यमपि पदार्थनिमित्तकत्वे न पदनिमित्तकत्वे । उक्त च वार्तिके—

पदार्थानाञ्च सामर्थ्यं गम्यमानमपह्नुतम् ।
आनन्तर्याद्धिवाक्यार्थस्तद्धेतुत्व न मुञ्चति ।। इति । **(शेषांशः ६२ पृष्ठे)**

प्रकृताप्रकृतश्लेषविचारः

टि० वी० रामचन्द्रदीक्षित

राजते सुरभाग्त्या सर्वालङ्कारसभृत ।
श्लेषो मूर्तित्रय बिभ्रत्परमात्मेव सर्वग ।।

सर्वदो माधव पायात्स यो गङ्गामदीधरत् ।
इम सहृदया प्राहु प्रकृतश्लेषमञ्जसा ।।

अब्जेन त्वन्मुख तुल्य हरिणाहितसक्तिना ।
श्लेषस्त्ववर्ण्यविषय पद्मचन्द्रोभयाश्रय ।।

असावुदयमारूढ' कान्तिमान् रक्तमण्डल ।
राजा हरति लोकस्य हृदय मृदुलै करै ।।

प्रकृताप्रकृतश्लेषमिममाहुर्मनीषिण ।
अत्र ये दर्शिता दोषा तन्निरास विदध्महे ।।

तत्र साहित्यविद्याप्रस्थाने प्रधानभूतम्, सर्ववस्तुसत्तास्फूर्तिप्रद परब्रह्मेव अशेषसाहित्यसामग्र्यनुगत-स्वभाव प्रायस्सर्वालङ्कारप्रतिभोत्पत्तिहेतु श्लेष नाम विषयमधिकृत्य किञ्चिदिह प्रस्तूयते, यत्र प्रकृताप्रकृत-श्लेषविषये परैरुद्भाविताना दूषणाना निरास प्राधान्येनात्मान प्रतिलप्स्यते ।

"असावुदयमारूढ" इति पूर्वोक्त पद्यं कुवलयानन्दे प्रकृताप्रकृतश्लेषस्योदाहरण दर्शयन्तिस्म श्रीमद्दीक्षितेन्द्रा । चन्द्रोदयवर्णनाय प्रस्तुतेऽस्मिन्पद्ये राजपद तावत्प्रकरणवशात् चन्द्रमसमभिदधाति । तदनु उदयरक्त-मण्डल-करशब्दा तदन्वयानुगुणानेव उद्गम-रक्तिमबिम्ब-किरणरूपानर्थान्प्रतिपादयन्ति । एव पर्यवसितेऽपि चन्द्रविषयकशाब्दबोधेऽत्रस्थाना राजादिपदाना शक्ते प्रकरणेन चन्द्रादौ नियन्त्रणेऽपि सहृदयाना शक्तिसस्कारात्मकवासनाबलात् राजपदेन नृपतेरुपस्थितौ तत्समभिव्याहृतानि पूर्वोक्तानि पदानि अभ्युदय-अनुराग-देश-नृपतिग्राह्यधनरूपानर्थान् उपस्थापयन्ति । ततस्तदन्वितो नृपतिरूपो द्वितीयोऽर्थो बुध्यते इत्येषात्र प्रतीतिसरणि । तथा चास्मिन्पद्ये राजपदेनैकेनैव प्रस्तुतस्य चन्द्रमस अप्रकृतस्य नृपतेश्चार्थ-द्वयस्य प्रतिपादनान्नानार्थशब्दयोजनलक्षणलक्षित श्लेष, स च प्रकृताप्रकृतोभयविषयतया प्रकृताप्रकृत-श्लेष इति । एवञ्जातीयकेषु 'उन्नत प्रोल्लसद्धार', 'अविरलविगलद्दानोदक' इत्यादिस्थलेषु शब्दशक्ति-मूल ध्वनिमिच्छन्ति प्राञ्च इत्युक्त दीक्षितेन्द्रै । तथाहि—शब्दशक्तिमूल, अर्थशक्तिमूल, उभयशक्ति-मूलश्चेति त्रिविधो भवति सल्लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो ध्वनि । "शब्दार्थशक्त्याक्षिप्तोऽपि व्यङ्ग्योऽर्थ" इति "शब्दार्थोभयशक्त्युत्थ त्रिधा स कथितो ध्वनि" इति च ध्वन्यालोककाव्यप्रकाशोक्ते । एषु ध्वनिषु य आद्यश्शब्दशक्तिमूल, त ध्वनि यथा दर्शितश्लेषोदाहरणेषु प्राञ्चो आनन्दवर्धनमम्मटप्रमुखा मन्यन्त इत्यर्थ । तत्र "असावुदयमारूढ" इत्यादौ राजादिपदै श्रोतृणा सहृदयतासमुल्लासादर्थसौन्दर्यबलाद्वा विशिष्टो नृपत्यादिरूपो द्वितीयोऽर्थोऽवभासत इत्युक्तमेव । तावत्येव यदि विश्राम, तर्हि वाक्यस्य प्रकृतासबद्धनिरुपयोगयत्किञ्चिदर्थाभिधायित्व प्रसज्यते । न च तत्कविना स चमत्कार नानार्थाभिधायि-पदविशेषनिबद्धस्य वाक्यस्य साम्प्रतम् । तस्याद्यथोदयारोहादिविशेषणविशिष्ट' पृथिवीपति स्वल्पै करै. प्रकृतीना मनो वशीकरोति, एवमुदयादिविशेषणयुक्तश्चन्द्रो लोकस्य हृदय रञ्जयति इत्याद्युपमारूप-णादिप्रतिपत्तिरप्यवश्याभ्युपेया । अङ्गीकृता च सर्वैरालङ्कारिकै ।

तत्रैतद्विवेचनीयम्—इह शब्दशक्तिमूलध्वनिमिच्छद्भिः प्राचीनैः किं नृपतिरूपद्वितीयार्थे, तदन्तरा-वगम्योपमादौ च स ध्वनिरिष्यते कि वा यथोदितोपमादावेव स इति। तत्र श्रीमदप्पयदीक्षिताः प्रथम-कल्पमादावुत्थापयन्तः पश्चान्निपुणतरेण विचारेण द्वितीयस्यार्थस्याभिधेयत्वं, व्यङ्ग्यत्वासम्भवञ्च निर्धार्य, पर्यन्तभासमानोपमादावेव शब्दशक्तिमूलो ध्वनिरिति द्वितीयकल्प एव प्राचामाशयः प्रतितिष्ठतीति निर्वर्ण-यन्ति। यदाहु—'तत्प्रकृताप्रकृताभिधानमूलस्योपमादेरलङ्कारस्य व्यङ्ग्यत्वाभिप्रायं नत्वप्रकृतार्थस्यैव व्यङ्ग्य-त्वाभिप्रायमिति'।

रसगङ्गाधरकारास्तु प्रथमं कल्पं रोचयन्तो व्युत्थापयन्ति दीक्षितानां सिद्धान्तम्। तत्रौचित्यं कियदिति परस्तादालोचयिष्यामः। द्वितीयकल्पवादिना तु आशयोऽस्माभिरेवमुन्नीयते—शब्दशक्तिमूलध्वनि-प्रभेदनिरूपणोपक्रमएवानन्दवर्धनाचार्याः तल्लक्षणमेवमुदीरयन्ति—"आक्षिप्त एवालङ्कारः शब्दशक्त्या प्रका-शते।" इति। वृत्तौ च तैरेवमेव विवृतम्—"यस्मादलङ्कारो न वस्तुमात्रं, यस्मिन्काव्ये शब्दशक्त्या प्रकाशते स एव शब्दशक्तिमूलो ध्वनिरित्यस्माकं विवक्षितम्" इति। ध्वन्युदाहरणेषु वक्ष्यमाणेषु द्वितीयोऽर्थोऽभिधीयत एवेति श्लेष एव द्रष्टव्यः। तथापि तत्र प्रतीयमानः उपमादिर्ध्वनिर्भवत्येवेत्यर्थः, अत्र श्लेष एवायमिति शङ्कायां समाधाने च द्वितीयार्थस्याभिधेयत्वमेवेति स्फुटं चकास्ति। वाक्यस्या-सबद्धार्थाभिधायित्वं मा प्रसाङ्क्षीदित्युपमानोपमेयभावः कल्पनीयः" इति समनन्तरग्रन्थेऽभिधायित्वमिति पदस्वरसेन द्वितीयोऽर्थोऽभिधेय एवेत्युक्तमिति गम्यते। अभिनवगुप्तपादा अपि निर्दिष्टं मूलग्रन्थं यथादर्शितार्थपरमेव योजयामासुः। किन्तु "आक्षिप्तएवालङ्कारः" इत्यत्राक्षिप्तपदस्य विवरणानि तेषा-मिमानि पदानि लक्ष्यन्ते" यत्राभिधाया एकत्र नियमहेतुः प्रकरणादिर्दृश्यते, येन द्वितीयस्मिन्नर्थे नाभिधा सङ्क्रामति तत्र द्वितीयोऽर्थोऽसावाक्षिप्त इत्युच्यते। व्यञ्जित इत्युच्यत इत्यर्थः। अत्र द्वितीयार्थस्य स्पष्ट-मेव व्यङ्ग्यत्वमुक्तं यद्यपि, तथापि प्रकरणादिनियन्त्रितनानार्थशब्दस्थले द्वितीयाद्यर्थप्रतिपत्तौ का वृत्ति-शब्दस्येत्यस्मिन्विषये प्रदर्शयिष्यमाणेषु चतुर्षु पक्षेषु आद्यपक्षावलम्बनमिदम्। स च पक्षो न लोचन-काराणां हृदयरुचितः। तथा हि—मूलोक्तेषु "फुल्लमल्लिकाधवलाट्टहासो महाकालः" इत्याद्युदाहरणेषु शब्दशक्तिमूलध्वनित्वं सङ्गमयन्तो लोचनकाराः पूर्वपूर्वापेक्षया श्रेयसः उत्तरोत्तरांश्चतुरः पक्षान्निर्दिशन्ति स्म। तेष्वाद्यो यथा—अत्र केचिन्मन्यन्ते यतः एतेषां शब्दानां पूर्वमर्थान्तरेऽभिधान्तरं दृष्टम्, ततस्त-थाविधेऽर्थान्तरे दृष्टतदभिधाशक्तेरेव प्रतिपत्तुर्नियन्त्रिताभिधाशक्तिकेभ्य एतेभ्यः प्रतिपत्ति ध्वननव्यापारा-देवेति शब्दशक्तिमूलत्वं व्यङ्ग्यात्मत्वं चेत्यविरूद्धम्" इति। अयं भावः शक्तिमूलश्चेन्न व्यङ्ग्यता। व्यङ्ग्यश्चेन्न शक्तिमूलत्वमिति शक्तिमूलत्वध्वनित्वयोर्विप्रतिषेधशङ्का न कार्या, यतो द्वितीयस्मिन्नर्थे पूर्वो-त्पन्नशक्तिग्रहो मूलम्। इदानीं तन्नियन्त्रणे व्यञ्जनोल्लासाद् ध्वनित्वं चेत्युभयाञ्जस्यमिति।

व्यञ्जनाव्यापारेण यदा द्वितीयोऽर्थो बोधनीयः तदा तत्र पूर्वोत्पन्न. शक्तिग्रहः स्वजन्योद्बुद्ध-संस्कारेण व्यञ्जनां सहकारी भवति न वेति प्रष्टव्यम्। यदि भवति, येन शक्तिमूलता सिध्येत्, तर्हि शक्तिनियन्त्रणेऽपि तेनैव द्वारेण द्वितीयार्थस्याभिधेयत्वमागतमेवेति मुधा व्यञ्जनव्यापारकल्पनम्। अथ न भवति स्वरूपसती तर्हि शक्तिस्तत्रोपयुज्यत इति अगृहीतद्वितीयार्थाभिधाशक्तेरपि पुंसस्तदर्थ प्रतिपत्तिः प्रसज्येत इत्यस्मिन्पक्षेऽस्वरसाद्द्वितीयं पक्षमनुक्रामति "अन्ये तु साभिधैव द्वितीयार्थसामर्थ्यं ग्रीष्मस्य भीषणदेवता विशेषसादृश्यात्मकं सहकारित्वेन यतोऽवलम्बते, ततो ध्वननरूपोच्यते" इति। अभिधाया अस्याः सापेक्षतया निरपेक्ष-प्रसिद्धाभिधावैषम्यादर्थसामर्थ्यसापेक्षतया ध्वननसाधर्म्याच्च ध्वनन-मिति गौणो व्यवहारः इत्यर्थः। अर्थसामर्थ्यसापेक्षतार्थशक्तिमूलध्वनेरेव युक्ता न शब्दशक्तिमूलस्येति नाशङ्कनीयम्। अनुभवानुसारेण शब्दशक्तिमूलस्यापि क्वचिदर्थसामर्थ्यापेक्षाया बाधकाभावात्।

अत्रापि द्वितीये पक्षेऽभिधाया गौणलक्षणयाध्वननव्यपदेशो गौरवकर. इति तृतीयं पक्ष प्रस्तौति। एके तु ·· अर्थश्लेषेऽपि शक्तिभेदाच्छब्दभेद.। इति दर्शने द्वितीयश्शब्दस्तत्रानीयते। स च कदाचिदभिधाव्यापारात् यथोभयोत्तरदानाय श्वेतो धावति इति। प्रश्नोत्तरादौ वा तत्र वाच्यालङ्कार एव। यत्र पुन: प्रतीयमानार्थान्तरबलात्स शब्द आनीतस्तत्र शब्दान्तरबलादपि तदर्थान्तरं प्रतिपन्नं प्रतीयमानमूलत्वात्प्रतीयमानमेव युक्तम् इति। अत्राभिधेयस्यापि प्रतीयमानमूलशब्दलभ्यत्वाल्लक्षणया प्रतीयमानत्वव्यवहार इति पूर्वस्माल्लाघवमिति भाव। तदिह दर्शितेषु त्रिषु पक्षेषु प्रथमोऽनुपपन्न एव। द्वितीये गुरुतर गौणलक्षणाकल्पनम्। तृतीयेऽप्यस्त्येव लक्षणाभ्युपगमनेन जघन्यता इत्यनुशयानस्सर्वदोषानाघ्रातं चतुर्थ पक्षमनुसन्धत्ते—"इतरे तु द्वितीयपक्षव्याख्यात यदर्थसामर्थ्य तेन द्वितीयाभिधैव प्रतिप्रसूयते। ततश्च द्वितीयोऽर्थोऽभिधीयत एव न ध्वन्यते। तदनन्तर तु तस्य द्वितीयार्थस्य प्रतिपन्नस्य प्रथमार्थेन प्राकरणिकेन साक या रूपणा तावद्भात्येव, न चान्यतश्शब्दादिति सा ध्वननव्यापारात्। तत्राभिधाशक्तेः कस्याश्चिदप्यनाशङ्कनीयत्वात्" इति। अस्मिंश्च पक्षे शक्तिमूलत्व ध्वनित्व चास्य साधु सङ्गच्छत इत्याह—तस्या च द्वितीयाशब्दशक्तिर्मूलम् तया विना तस्या रूपणाया अनुत्थानात्, इति। न केवलमनाविलोऽय पक्षो याव "दाक्षिप्त एवालङ्कार" इति, "असम्बद्धार्थाभिधायित्वं मा प्रसाङ्क्षीत्" इति च पूर्वोत्तरमूलग्रन्थानुगुणोऽपीति दर्शयति—अतएवालङ्कारध्वनिरिति युक्तम्, वक्ष्यते चासंबद्धार्थाभिधायित्वमित्यादि"। तदेव लोचनादिग्रन्थोपज्ञमयमीदृशेषु स्थलेषु द्वितीयार्थोऽभिधेय एवेति दीक्षिताना सिद्धान्त., न स्विकाभिर्युक्तिभिरेव समर्थित इति ध्येयम्।

जगन्नाथपण्डितस्तु नियन्त्रिताभिधाशक्तिकनानार्थशब्दगतद्वितीयार्थबोधानुकूलवृत्तिविषये लोचनोक्तपक्षेषु प्रथमं पक्षमेव परिजग्राह। योऽस्वरसग्रस्ततयाभिनवगुप्तपादानामनभिमत इत्यस्माभिर्व्याख्यात.। प्रववृते च कुवलयानन्दवृत्तवार्तिकयोर्दीक्षितैस्साधु समर्थित। द्वितीयाद्यर्थस्याभिधेयत्व व्युत्थापयितुम्। तथा हि श्लेषालङ्कारप्रकरणे यथोक्तं दीक्षितानामाशयमनूद्य पण्डितराज एवं विचारयति—यत्तावदुच्येत उपमादेरलङ्कारस्यैव व्यङ्ग्यत्व प्राचीनानामभिप्रेत न त्वप्रकृतार्थस्येति। एव सति "अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते। संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद्व्यापृतिरञ्जनम्॥" इत्यादिस्तेषा ग्रन्थ कथमायुष्मता समर्थित.। उपमादेर्व्यङ्ग्यत्वस्य वाचकतानियन्त्रणानपेक्षत्वात्। इति। तत्र ब्रूम·—कथं वाचकतानियन्त्रणानपेक्षा? प्रथमार्थे वाच्यत्वस्य प्रकरणादिना नियन्त्रणे हि सति परस्परार्थसंबन्ध्यर्थवाचकराजकरादिशब्दसमभिव्याहाररूपशब्दान्तरसान्निध्यादिना द्वितीयार्थाभिधानम्, वाक्यस्यासम्बद्धार्थत्वानुपपत्तिधीश्च भवति। ततश्चोपमादौ व्यञ्जना प्रवर्तते। यत्र तु वाचकतानियन्त्रण नास्ति यथा "येन ध्वस्तमनोभवेन" इत्यादौ, तत्रासबद्धता नैव भाति। "तस्या विनापि हरेण" इत्यत्र अपि शब्देन, "श्लाघ्याशेषतनुम्" इत्यत्राधिकशब्देन, "भ्रमिमरतिमलसहृदयाताम्" इत्यादौ रूपकेण, "दृष्टया केशव" इत्यत्र सलेशपदेनैव चासम्बद्धता निराकृता इति लोचनोक्तदिशानुपपत्तिज्ञानविरहेण व्यञ्जनानुल्लासात्। तस्मादिहभिधानियन्त्रणानपेक्षत्वोक्तिरविमृश्यैव। यत्तूक्तम्—न ह्यनेकार्थस्यापि शब्दस्योपमादिवाचकत्वं प्रसक्त येन तन्नियन्त्रणाय सयोगाद्यनुसरणमर्थवत्स्यात्। इति। तदनुलोपालम्भनमित्युपेक्ष्यमेव। अत्रावाच्यार्थधीकृदिति पदस्यावाच्यो यः प्रकृताप्रकृतयोरुपमादिरर्थस्तज्ज्ञानजनिकेत्यर्थो दीक्षितानामाभिमत इति स्वयमुल्लिख्य पण्डितराजेनेदं दूषणमभ्यधायि। अभ्युपेत्यैव तत्सदोषः सुपरिहर इत्यस्माभिः प्रादर्शि। वस्तुतोऽवाच्य. शक्तिनियन्त्रणेनानभिधेयतां गतो यो द्वितीयाद्यर्थस्तज्ज्ञानहेतुरित्येव तदर्थः सर्वेषामभिमतः। इत्थ संयोगादिभिरर्थान्तराभिधायकत्वे निवारितेऽप्यनेकार्थशब्दस्य यत्क्वचिदर्थान्तरप्रतिपादन तत्र व्यञ्जनमेव व्यापारः इति वृत्तिग्रन्थेन तथैव व्याख्यानात्। परन्त्विदं लोचनदर्शितप्रथमपक्षावलम्बनेन प्रौढिवादमाश्रित्येति द्रष्टव्यम्। अतएव वाच्यसिद्ध्यङ्ग-

गुणीभूतव्यङ्ग्योदाहरणे "भ्रमिमरतिमलसहृदयतामि"त्यत्र 'हालाहल' व्यङ्ग्य भुजगरूपकस्य वाक्यस्य सिद्धिकृदिति काव्यप्रकाशोक्ते "अप्रस्तुतार्थप्रतीतिमूलतया प्रतीयमानयोर्वस्त्वलङ्कारयोर्व्यक्त्यवश्यभावदाढर्याश्रितमप्रस्तुतार्थेऽपि व्यक्ति प्रौढिवादमात्रमवलम्ब्य तत्प्रवृत्तमि"ति प्रौढिवादत्वमुट्टङ्कित वृत्तवार्तिके। ननु अगतिका हीय गतिर्यत्प्रौढिवादाश्रयण नाम। सत्यमेतम्। तथापि, यद्येतदनुशयपरिजिहीर्षया परमार्थवादमिममाश्रयेम, तदा "उपोढरागेण विलोलतारकम्" इत्यादि श्लिष्टविशेषणसमासोक्त्यादौ रागादिपदेषु परश्शता आलङ्कारिकाणा श्लेषव्यपदेशा, श्लिष्टशब्दप्रयोगस्तत्रोभयार्थतामात्रेणे' ति गौणतापादनखलीकारेण कदर्थिता स्यु। न चैतत्पण्डितराजादन्यस्य शोभते। उभयार्थतामात्रेण श्लेषव्यपदेश इति वदन्पण्डितराजो विचारयतु तावत् किं भूयांसः प्राचीनप्रयोगा गौणा. कल्प्यन्ता किं वा क्वाचित्को व्यङ्ग्यत्वव्यपदेश सप्रयोजनप्रौढिवादत्वेन नीयतामिति। वयं तु "अल्पस्य हेतो. बहु हातुमिच्छन्विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम्" इति महाकविदर्शितां नीतिमवलम्ब्य भूयोऽनुग्रहन्यायेन द्वितीय कल्पमेव रोचयामहे।

एतेन यद्यपि पण्डितराजः सकलालङ्कारिकानुमत श्लिष्टविशेषणसमासोक्तौ गूढश्लेष गर्भस्रवेण गलग्रति स्म तत्रापि व्यञ्जनां प्रतिजानान, तदपि प्रत्यूढम्। दर्शितेन पथा तत्राप्रस्तुतार्थस्याभिधेयत्वसम्भवे व्यञ्जनाया प्रमाणाभावात्। समासोक्ति गुणीभूतव्यङ्ग्यभेद वदतो ध्वनिकारात् किमप्यनुकूलाचरण भवता न प्रतिपालयितु युक्तम्। अप्रस्तुतार्थस्याव्यङ्ग्यत्वेऽपि तद्व्यवहारसमारोप व्यङ्ग्य गुणीभूतमादाय तद्वचनस्य प्रवृत्ते.। समासोक्त्याश्लेषस्य बाध्यत्वं निरूपयन् भट्टोद्भटोऽपि बाध्यत्वादेव श्लेषस्य तत्र सद्भावसूचनेन भवतः प्रतिपक्ष एव व्यवतिष्ठते।

तत्र परस्परान्वययोग्यप्रकृतेतरवाचकपदसमभिव्याहाररूपशब्दान्तरसन्निधेर्द्वितीयाद्यर्थाभिधानियामकत्वे 'असावुदयमारूढः' इत्यादावप्रकृतार्थस्यापि प्रथममेव शाब्दधी स्यादित्याक्षिप्य प्रकृतार्थे प्रकरण शब्दान्तरसमभिव्याहार इति नियामकद्वयसद्भावेन प्रथम प्रकृतार्थस्यैव शब्दान्तरसन्निधिरूपनियामकैकसद्भावेन च पश्चादप्रकृतार्थस्य बोध इति दीक्षिता· पर्यहार्षु। प्रकरणादीनामभिधानियामकत्व च स्वविषयेतरवाच्यविषयशाब्दबुद्धिप्रतिबन्धकत्वमित्यभिसन्धिमिता पण्डितराजेन "प्रकृतार्थबोधोत्तरं सा प्रतिबन्धकता केनापहृता प्रकरणादिज्ञानस्य" इति यद्दूषणमुक्तम् तत् 'अत्रेद चिन्त्य'मित्यादिना श्रीभट्टनागेशेनैव निरस्तम्। तत्रायं भाव·—"प्रकृतार्थे प्रकरणवशाज्झटिति बुद्धिस्थे" इति कुवलयानन्दोक्तवाक्ये झटिति पदेन प्रकरणादीनां स्वविषयेतरवाच्यविषयक-स्वविषयविषयकबोधपूर्वशाब्दबुद्धित्वमेव प्रतिबध्यतावच्छेदकमिति सूचितम्। तेन प्रकृतार्थबोधोत्तरं प्रकरणादिज्ञानस्य भावेऽपि तस्याप्रतिबन्धकत्वेन द्वितीयार्थप्रत्ययो निष्प्रत्यूह इति। ततश्च सैव ज्ञानव्यक्तिः प्रतिबन्धिकेत्यायद्यनुक्तोपालम्भनमेव।

नानार्थशब्दस्थले द्वितीयार्थव्यङ्ग्यत्वकथने प्राचीनाना विलक्षणः कश्चिदाशयो दर्शित पण्डितराजेन। "जैमिनीयमलं धत्ते रसनाया महामति." इत्यादौ बाधितार्थबोधस्य शक्त्यादुरूपपादत्वादित्यादि। तत्रोच्यते—बाधितार्थबोध शक्त्या न भवतीति नायमेकान्त। यदाहुर्भर्तृहरिप्रमुखाः "अत्यन्तबाधितेऽप्यर्थे ज्ञान शब्दः करोति हि" इति। हि शब्देन वादिनो· कलहस्थले बाधितत्वाभिमतार्थज्ञानोत्पत्ति· प्रदर्शिता। तस्मात् 'जैमिनीयमल धत्ते" इति वाक्य यदि पुत्र प्रयुङ्क्ते यदि वा श्यालक उभयत्राप्यश्लीलार्थबोधो भवत्येव। किं तत्र व्यवस्थाकरणेन। परन्तु अश्लीलार्थविवक्षा श्यालकादेरस्ति, पुत्रादेर्नास्ती· त्येतावत्येव व्यवस्था। तस्मात्तत्राप्यभिधेयत्वं निर्बाधमिति वस्तुस्थित्यनुसारिसमाधानं तिष्ठत्येव। तथापि श्रीभट्टनागेशेन द्वितीयार्थबोधे वक्तृवैशिष्ट्यादिरपि क्वचित्सहकारी भवति इति पूर्वदर्शितमार्गेण समाधानमभिहितम् "वक्तृबोद्धव्यादिवैशिष्ट्यस्य फलबलेन नियन्त्रितशक्त्युल्लासेऽपि हेतुत्वकल्पनान्न दोष.।" इति।

स्यादेतत्। नानार्थशब्दस्याप्राकरणिको द्वितीयाद्यर्थो अभिधेय एवेति दीक्षितमतदूषयिषया

पण्डितराजप्रवृत्तावस्या काचिदभिनवा शैली दृश्यते यान्येषु तन्मतनिराकरणस्थलेषु नास्ति। तथा हि— द्वितीयाननप्रारम्भे यथादर्शित दीक्षितमतम् "यदप्युच्यते प्रकरणादिज्ञानात्" इत्यादिनोपमाया तु सा कदाचित्स्यादपि। "इत्यन्तेन ग्रन्थेन सविस्तरमनूद्य सर्व तदङ्गीकुर्वन्" अत्रास्माक प्रतिभाति। एवमपि योगरूढिस्थले रूढिज्ञानेन योगापहरणस्य सकलतन्त्रसिद्धतया रूढ्यनधिकरणस्य योगार्थालिङ्गितार्थस्यार्थान्तरस्य व्यक्ति विना प्रतीतिर्दुरुपादेति दूषणमेकमपूर्वमाविर्भावयामास। तदिद दूषण पूर्वोपदर्शितैर्हेतुभिस्सुपरिहरमिति समनन्तरमेव दर्शयिष्याम.। किन्तु श्लेषालङ्कारनिरूपणावसरे .वृत्तिवार्तिकोक्तार्थसक्षेपाभिधान कुवलयानन्दस्थं 'कुवलायन्दकारस्तु' इत्यादिना हिरुक् दर्शयित्वा कणशस्तन्निराकर्तुं यतते पण्डितराज। तत्र पूर्वं स्वाभिमततया सूचितस्यैवार्थस्य तद्विपर्ययेण निराकरणार्थेऽस्मिन्सरम्भे हेतु न जानीम·।

अथापि स्यात् एकग्रन्थस्थयोरनयोरभ्युपगमनिरासयोरविप्रतिषेधाय काममपि व्यवस्था सपादयेम। यद्येकतरपक्षादरणे विनिगमना प्रतिलभेमहि। सा त्वत्र दुर्लभैव। तस्माद्दीक्षितोक्त मयैव निराकृतमिति वल्गनमात्रमेतत्सर्वमिति द्रष्टव्यम्।

यत्तु योगरूढपदस्थले केवलयोगार्थबोधोव्यञ्जनयैवेत्युभयत्रापि ग्रन्थयोर्योगरूढिरूपदुर्भेददुर्गाश्रयणं यदाह् "योगरूढस्य शब्दस्य योगे रूढ्या नियन्त्रिते। धिय योगस्पृशोऽर्थस्य या सूते व्यञ्जनैव सा॥' इति।

अत्रास्माक प्रतिभाति। योगरूढिस्थले रूढेर्बलीयस्त्वाद्योगार्थसमानाधिकरणरूढ्यर्थतावच्छेदकप्रकारकबोधे प्रथममुत्पन्ने सति केवलयोगार्थमात्रविषयबोधसामग्रीसत्त्वे पश्चात्तन्मात्रबोधो निष्प्रत्यूहः। रूढिज्ञानस्य रूढ्यर्थबोधानुत्तरकेवलयोगार्थविषयप्रथमबोधं प्रत्येव प्रतिबन्धकत्वात्। नानार्थशक्तिस्थले प्रकरणादिनियन्त्रणेऽपि शक्त्या द्वितीयार्थबोधनिर्वाहाय लोचनदर्शितचतुर्थपक्षे द्वितीयाभिधाया इव परस्परान्वययोग्यार्थान्तरबोधसमर्थशब्दसन्निधिना योगशक्तेः प्रतिप्रसवाद्वा। अतश्च "चाञ्चल्ययोगिनयनं तव जलजाना श्रिय हरतु। विपिनेऽतिचञ्चलानामपि च मृगाणां कथ हरति", "अबलाना श्रियं हृत्वा", इत्यादौ जलजवारिवाहादिशब्दैः कमलजलधरादिबोधनिर्वृत्तौ मृगचपलादिशब्दान्तरसन्निधिना प्रतिप्रसृतया योगशक्त्या द्वितीयार्थप्रतिपत्तिरभिधयैव। अन्यथा हि क्लृप्तामभिधामुत्सृज्य नवा व्यञ्जना परिगृह्णत· व्यर्थः प्रयासः स्यात्। यैश्चैवं जातीयकैर्हेतुभिर्नानार्थशब्दस्थले द्वितीयार्थप्रतिपत्तिरभिधयैवेत्यवोचाम पुरस्तात्। अविशिष्टा एव ते सर्वेऽत्रापि। तस्माद्योगरूढ्यौगिकरूढपदावष्टम्भेन वयं तु ब्रूम इति पुनरपि योगोऽकिञ्चित्करः। एतेन' अनेकार्थस्थलेऽप्रकृतार्थाभिधाने शक्तेरुक्तिसम्भवेऽप्यस्ति। योगरूढिस्थले सापि दूरापास्ता' इति प्रत्युक्तम् विशेषहेतोरभावात्। अतएव भट्टनागेशोऽपि नानार्थशब्दस्थले वक्तृवैचित्र्यादीनां द्वितीयार्थाभिधोल्लासकत्व समर्थ्य, तदेव योगरूढिस्थलेऽप्यतिदिशन्नाह स्म—"एवं योगरूढपदाना यत्र योगार्थमात्रघटितार्थान्तरबोधकतेष्ट, तत्र तेषां रूढिप्रतिबन्धकताप्यङ्गीकार्या, उत्तेजकता वा" इति।

यत्तु 'अबलानां श्रियमि'त्यत्र पुंश्चलीत्वादिना स्त्रीणां चपलादिशब्दैर्बोधे योगशक्तिर्न क्लृप्ता।' इति प्रत्यवस्थानमेतदेव तद्यदुच्यते लोके "अबद्धं कृत्वा कुचोद्यं करोती"ति। चापलगुणयोगित्वेन योगार्थेनैव हि तासां बोधस्सहृदयानुभवसाक्षिक.। तद्यदि अलीकसहृदयताभिधानं परित्यज्य स्वानुभव. परीक्ष्यते तदा नास्त्येव विप्रतिपत्त्यवसर. कश्चित्। तथापि पुश्चलीत्वादिनैव बोध इति कथञ्चिन्निर्बध्यते, तथापि क्वाचित्कस्स परामर्श पाश्चात्यमानसबोधसमाश्रयेणोपपादनीयो न वैयाञ्जनिकबोधसमाश्रयेण, मा भूद्धूमोऽस्तीति वाक्याद्वह्नेर्व्यङ्ग्यता। यश्चार्थादर्थो न स चोदनार्थ. इति हि न्यायविद.। तस्मादिदमेवात्रानुरूपं समाधानवचन मन्यामहे। योगरूढस्य रूढ्यर्थभिन्ने शब्दान्तरादिना उत्तेजितायोगशक्तिः पर्याप्ता स्वार्थबोधने।

अत्र योगरूढाच्छब्दात्केवलयोगार्थप्रतिपत्तौ व्यञ्जनैव शरणीकरणीयेति स्वाभिमतार्थोपष्टम्भाय स्थलद्वये प्रमितािधकरणमुपवर्णयति पण्डितराज. "अत एव च शब्दादेव प्रमित" इति सूत्रितमुत्तरमीमासाकारैर्व्यासचरणै. इति ब्रुवन् । तत्र कस्मिन्नंशेऽधिकरणमिदमुपष्टंभ ददातीति स प्रष्टव्य. । यदि ब्रूयात्प्रबलया रूढया योगशक्तौ निगडितायां स स्वार्थप्रमितौ न प्रभवतीति प्रकृतार्थ एवेति, त प्रतिब्रूयात् रथकाराधिकरणोत्पन्नो हि योगाद्रूढिर्बलीयसीति"ति न्याय । न प्रमिताधिकरणव्युत्पाद्य. ।

ननु 'शब्दादेवे'ति सिद्धान्तसूत्रावयवेनेशानशब्दस्य परमेश्वरे रूढि प्रदर्शिता । बाढम् । तेनेशानशब्दश्रुत्याङ्गुष्ठमात्रत्वस्य जीवलिङ्गस्य बाध. प्रदर्शितो भवति । रूढया योगशक्त्यपहारस्य का वार्ता ? न खलु "इशानो भूतभव्यस्य"त्यनेन योगमर्यादया जीवप्रत्यापन शङ्कास्पदमपि भवति येन तन्निवृत्त्यर्थमेतत्परमेश्वरे रूढिप्रदर्शन कल्प्येत । पूर्वपक्षवादिनोऽपि हि भूतभव्येशितृत्व जीवव्यावृत्तेश्वरलिङ्गमित्यत्र न विवाद. । किन्तु स मन्यते तदीश्वरलिङ्ग प्रथमश्रुतेनाङ्गुष्ठमात्रस्वरूपजीवलिङ्गेन बाध्यमान कथचिज्जीवे सङ्गमनीयम् इति ।

स्यादेतत् । 'ईश्वर शर्व ईशान." इति कोशवशादीशानशब्दस्य परमेश्वरे रूढिरस्तीति गम्यते । तदयमीशानशब्द. परमेश्वरे श्रुतिरेव । न केवल लिङ्गमात्रम् । तत्कथमस्या जीवलिङ्गेन बाधः पूर्वपक्षिणोऽपि शक्यवचन. इति चेदत्राय पूर्वपक्षिणोऽभिमान योगरूढशब्दाना योगार्थप्रतिसबन्ध्यर्थवाचकपदसमभिव्याहारे रूढिशक्तिस्तावन्नोन्मिषति । अत एव "पद्मानि यस्याग्रसरोरुहाणि । प्रबोधयत्यूर्ध्वमुखैर्मयूखै." इत्यत्राग्रपदसमभिव्याहारेण सरोरुहपदरूढयनुन्मेष मत्त्वा पद्मानीति विशेष्यपद प्रायुङ्क्त महाकवि कालिदासः । तस्मादीशानशब्दयोगार्थैश्वर्यप्रतिसबन्धिवाचकभूतभव्यपदसमभिव्याहारेण प्रकृतेऽनुन्मिषद्रूढिशक्ति ईशानशब्द परमेश्वरे न श्रुतिः इति । एतदभिमाननिराकरणार्थमेव सूत्रित शब्दादेवेति महर्षिणा । श्रुतेरेवेत्यर्थः । एतदुक्तं भवति—योगरूढिस्थले क्वचिद्भवतु काम योगार्थप्रतिसबन्धिवाचकपदसमभिव्याहार. । नैतावता तत्र रूढिशक्तिरपगच्छति विरोधाभावात् । कवयस्तु योगरूढपदेन साक रूढयर्थविशेषवाचक पदमपि समानाधिकरण यत्प्रयुञ्जते, तत्र पूर्ववाद्यभिमतो रूढयनुन्मेषो न हेतु । कर्स्तार्हि ? व्यञ्जनीयार्थविशेषव्यञ्जनौपयिकतया रूढयर्थविवक्षाविरह एव । अतएव तादृशपदसमभिव्याहाराभावेऽपि "कुर्या हरस्यापि पिनाकपाणेर्धैर्यच्युतिं के मम धन्विनोऽन्ये" इति पिनाकपाणिपदेन साक हरपद प्रयुज्यते महाकविना । एवमाद्यभिप्रायविशेषा सूचनेनैव सूत्रस्थ एवकारोऽपि पुष्कलार्थस्सपद्यत इति द्रष्टव्यम् । विस्तरस्तु परिमलादिग्रन्थेष्ववसेय. । तस्मात्प्रकृतविषये कस्याप्यशस्य प्रमिताधिकरणेनोपष्टम्भो दुर्लभ इति तदधिकरणार्थानुवर्णनं केवलमात्मन शास्त्रान्तरपरिचयसद्भावप्रख्यापनमात्रे पर्यवस्यतीति मन्यामहे । सर्वथा तु "उन्नतः प्रोल्लसद्धारः" इत्यादौ नानार्थशब्दानामप्राकरणिकार्थेऽभिधैव व्यापारो न व्यञ्जना । दूरे तामादाय तत्र शब्दशक्तिमूलध्वनित्वव्यपदेश इति ध्वन्यालोक-लोचन-काव्यप्रकाशादिप्राचीनग्रन्थव्यवस्थित. सिद्धान्तः इति सिद्धम् ।

सङ्खारसद्दत्थवण्णना

भिक्खु जगदीसकस्सपो

सपुब्बककरधातुनो भावे घणपच्चय कत्वा सङ्खारसद्दो सिज्झति। सक्कत-'सस्कार'-सद्दानुरूपोयमिति फुटमेव। 'करोतिस्स खो' ५.१३३. ति मोग्गल्लानसुत्तानुसार ककारस्स खकारो कतो ति मन्तब्ब। बुद्धधम्मे अय सद्दो बहुगम्भीरत्थावहो होती ति दस्सेन्तो पण्डितवरो रायसडेविडमहोदयो अत्तनो पालि-इङ्गलिस-अभिधानगन्थे लिखति—"One of the most difficult terms in Buddhist metaphysics, in which the blending of the subjective-objective view of the world and of happening, peculiar to the East, is so complete that it is almost impossible for Occidental terminology to get at the root of its meaning in a translation. We can only convey an idea of its import by representing several sides of its application, without attempting to give a 'word' as a definite translation". इध मय अस्स सद्दस्स नाना अत्थे अत्थसम्पयोगे च दस्सेत्वा एतसद्दसयुत्तपदान पि अत्थे वण्णयिस्साम—

१. नाना अत्था

१. **सङ्खतसङ्खारा**—सङ्खता धम्मा येव सङ्खतसङ्खारा नाम। पच्चयेहि सङ्गम्म कतत्ता सप्पच्चया धम्मा वुच्चन्ति। ते लोकिया रूपारूपधम्मा विपरिणामसीला अनिच्चा। तस्मा दुक्खा अनत्ता च। लोकुत्तर निब्बान असङ्खता धातु। तत्थ अनिच्चता वा दुक्खता वा नत्थि, सुञ्ञसभावत्ता अनत्तता तु अत्थि येव। तस्मा धम्मपदे मग्गवग्गे पञ्चमिछट्ठासु गाथासु सङ्खतधम्मे सङ्खारे अनिच्चे दुक्खे च कथित्वा सत्तमिय गाथाय असङ्खत निब्बान पि सङ्गण्हित्वा सब्बे धम्मे अनत्ते ति दीपित। यथा—

सब्बे सङ्खारा अनिच्चा ति,
यदा पञ्ञाय पस्सति।
अथ निब्बिन्दति दुक्खे
एस मग्गो विसुद्धिया॥ २०.५.

सब्बे सङ्खारा दुक्खा ति,
यदा पञ्ञाय पस्सति।
अथ निब्बिन्दति दुक्खे,
एस मग्गो विसुद्धिया॥ २०.६.

सब्बे धम्मा अनत्ता ति,
यदा पञ्ञाय पस्सति।
अथ निब्बिन्दति दुक्खे,
एस मग्गो विसुद्धिया॥ २०.७.

२. **अभिसङ्खतसङ्खारा**—कम्मनिब्बत्ता तेभूमका रूपारूपधम्मा अभिसङ्खतसङ्खारा नाम। इमस्सं गाथायं—

अनिच्चा वत सङ्खारा,
उप्पादवयधम्मिनो ।
उप्पज्जित्वा निरुज्झन्ति,
तेस वूपसमो सुखो ॥

सङ्खारसद्देन अभिसङ्खतसङ्खारा येव अभिप्पेता । पच्चयसम्भूतत्ता ते पि सङ्खतसङ्खारेसु सङ्गह गच्छन्ति ।

३. **अभिसङ्खरणसङ्खारा**—पटिच्चसमुप्पादे "अविज्जापच्चया सङ्खारा" इच्चस्मि सङ्खारसद्देन ते भूमिककुसलाकुसलचेतना अभिप्पेता । अविज्जागतो पुरिसपुग्गलो पुञ्ञापुञ्ञ सङ्खार अभिसङ्खरोति । तेन सुगतिं दुग्गतिं वा गच्छति । एते सङ्खारा कम्मविपाका पुनब्भवाय हेतुभूता अभिसङ्खरणसङ्खारा नाम ।

सङ्खारसुञ्ञत दस्सेन्तो पटिसम्भिदामग्गे तयो अभिसङ्खारा निद्दिट्ठा—पुञ्ञाभिसङ्खारो, अपुञ्ञाभिसङ्खारो, आनेञ्जाभिसङ्खारो च । तत्थ अभिसङ्खरोति विपाक कटत्तारूपञ्चा ति अभिसङ्खारो । पुञ्ञ अभिसङ्खारो पुञ्ञाभिसङ्खारो । पुञ्ञपटिपक्खतो अपुञ्ञ अभिसङ्खारो अपुञ्ञाभिसङ्खारो । न इञ्ज अनेञ्ज । अनेञ्ज भव अभिसङ्खरोती ति आनेञ्जाभिसङ्खारो । पुञ्ञाभिसङ्खारो दानसीलभावनावसेन पवत्ता अट्ठ कामावचरकुसलचेतना, भावनावसेनेव पवत्ता पञ्च रूपावचरकुसलचेतना ति तेरस चेतना होन्ति । अपुञ्ञाभिसङ्खारो पाणातिपातादिवसेन पवत्ता द्वादस अकुसलचेतना । आनेञ्जाभिसङ्खारो भावनावसेनेव पवत्ता चतस्सो अरूपावचरचेतना । इत्थं तयो पि अभिसङ्खारा एकूनतिंस चेतना होन्ति ।

तत्थेव पटिसम्भिदामग्गे तयो सङ्खारा कथिता—कायसङ्खारो, वचीसङ्खारो, चित्तसङ्खारो च । तत्थ कायतो व पवत्तो कायस्स वा सङ्खारो ति कायसङ्खारो । वचीसङ्खार-चित्तसङ्खारेसु पि एसेव नयो । अयं तिको कम्मायूहनक्खणे पुञ्ञाभिसङ्खारादीन द्वारतो पवत्तिदस्सनत्थ वुत्तो । कायविञ्ञत्ति समुट्ठापेत्वा हि कायद्वारतो पवत्ता अट्ठ कामावचरकुसलचेतना, द्वादस अकुसलचेतना अभिञ्ञाचेतना चा ति एकवीसति चेतना कायसङ्खारा नाम । ता येव च वचीविञ्ञत्ति समुट्ठापेत्वा वचीद्वारतो पवत्ता वचीसङ्खारो नाम । मनोद्वारेन पवत्ता पन सब्बा पि एकूनतिंस चेतना चित्तसङ्खारा नाम

एतेसं तिण्णं अञ्ञे पि एते अत्था दिस्सन्ति—कायसङ्खारा अस्सासपस्सासा, वचीसङ्खारा वितक्काविचारा, चित्तसङ्खारा सञ्ञा च वेदना च । "सञ्ञावेदयितनिरोध समापन्नस्स खो, आवुसो, विसाख, भिक्खुनो पठमं निरुज्झति वचीसङ्खारो, ततो कायसङ्खारो, ततो चित्तसङ्खारो" ति—एत्थ एते येव अत्था गहिता होन्ति । वितक्कविचारा वाच सङ्खरोन्ती ति वचीसङ्खारा नाम, अस्सासपस्सासा कायेन सङ्खरीयन्ती ति कायसङ्खारा नाम, सञ्ञा च वेदना च चित्तेन सङ्खरीयन्ती ति चित्तसङ्खारा नाम ।

तत्थेव पटिसम्भिदामग्गे अपरेऽपि तयो सङ्खारा कथिता—अतीता सङ्खारा, अनागता सङ्खारा, पच्चुप्पन्ना सङ्खारा चा ति । तत्थ सब्बे पि सङ्खतधम्मा सकक्खणं पत्वा निरुद्धा अतीता सङ्खारा, सकक्खण अप्पत्ता अनागता सङ्खारा, सकक्खण पत्ता पच्चुप्पन्ना सङ्खारा ति ।

४. **सङ्खारक्खन्धो**—सङ्खारसद्देन पञ्चसु खन्धेसु एतन्नामको खन्धो गहितो होति, यस्मि द्विपञ्ञास चेतसिका सङ्गहं गच्छन्ति । ते अभिसङ्खरणलक्खणा, आयूहनरसा, विप्फारपच्चुपट्ठाना, सेसक्खन्धत्तयपदट्ठाना । एवं लक्खणादितो एकविधा पि च जातिवसेन तिविधा होन्ति—कुसला, अकुसला, अब्याकता

च। कुसलविञ्ञाणसम्पयुत्ता कुसला, अकुसलविञ्ञाणसम्पयुत्ता अकुसला, अब्याकतविञ्ञाणसम्पयुत्ता अब्याकता। ते सङ्खारे अभिसङ्खरोन्ति रासीकरोन्ती ति। सयुत्तनिकाये भगवा आह—"सङ्खतमभिसङ्खरोन्ती ति खो, भिक्खवे, तस्मा सङ्खारा ति वुच्चन्ती" ति। (३।८७)

अङ्गुत्तरनिकाये एकधम्मपालिय दुतियवग्गे आगतं "य च मनोकम्म यथादिट्ठि समत्तं समादिन्नं या च चेतना या च पत्थना यो च पणिधि ये च सङ्खारा सब्बे ते धम्मा इट्ठाय कन्ताय मनापाय हिताय सुखाय सवत्तन्ति" इच्चेत वण्णयन्तो अट्ठकथाचरियो आह—"दिट्ठिसहजाता व चेतना चेतना नाम, दिट्ठिसहजाता व पत्थना पत्थना नाम, चेतनापत्थनान वसेन चित्तट्ठपना पणिधि नाम, तेहि पन चेतनादीहि सम्पयुत्ता फस्सादयो सङ्खारा नाम"।

५. पञ्च खन्धा—कत्थचि सङ्खारसद्देन सब्बे येव पञ्च खन्धा गहिता होन्ति। यथा—धम्मपदे सुखवग्गे—

"जिघच्छा परमा रोगा,
सङ्खारा परमा दुखा।
एत ञत्वा यथाभूत,
निब्बान परम सुखं"॥

इम गाथ वण्णयन्तो अट्ठकथाचरियो आह—"इध सङ्खारसद्देन पञ्च खन्धा अभिप्पेता। खन्धपरिहरणसम दुक्ख नाम नत्थी ति दीपितं होति"।

तत्थेव मलवग्गे—

"आकासे च पदं नत्थि,
समणो नत्थि बाहिरे।
सङ्खारा सस्सता नत्थि,
नत्थि बुद्धानमिञ्जित"॥

इमस्स गाथाय पि आगत 'सङ्खारा' पदं पञ्च खन्धे दीपेती ति अट्ठकथामतं। पञ्चसु खन्धेसु किञ्चि सस्सत नत्थी ति अत्थो।

पुना पि, तत्थेव ब्राह्मणवग्गे—

"छिन्द सोत परक्कम,
कामे पनुद ब्राह्मण।
सङ्खारान खयं ञत्वा,
अकतञ्ञूसि ब्राह्मण"॥

अत्रागतो सङ्खारसद्दो पञ्चक्खन्धदीपको। पञ्चन्नं खन्धान खयं जानित्वा ति अधिप्पायो। थेरगाथा-गन्थे दुकनिपाते उत्तरत्थेरेन—

"नत्थि कोचि भवो निच्चो,
सङ्खारा वा पि सस्सता।
उप्पज्जन्ति च ते खन्धा,
चवन्ति अपरापर"॥—

इति या गाथा पठिता ताय पि 'सङ्खारा' ति पद पञ्चक्खन्धबोधक। पच्चयेहि सङ्खतत्ता सङ्खारा ति लद्धनामेहि पञ्च खन्धे उपादाय भवसमञ्ञाय सङ्खारा व हुत्वा सम्भूता जरामरणेन च विपरिणमन्ती ति असस्सता विपरिणामधम्मा। तथा हि ते सङ्खारा ति वुच्चन्ति।

२. एतंसद्दसंयुतानि पदानि

'सङ्खार'सद्दो अञ्ञेहि पदेहि संयुत्तो नाना अत्थे बोधेति। इध पालितो कानि चि तानि पदानि उदाहराम—

१. ० **अवसेससमापत्तिपत्तब्बं**—सङ्खारान येव अवसेसा भावनावसेन सब्बसुखुमभाव पत्ता सङ्खारा। तेस पवत्तिया एत पत्तब्ब ति अत्थो। एवरूपेसु हि सङ्खारेसु पवत्तेसु एत पत्तब्ब नाम होति।

२ ० **उपगा**—भवग्गे सत्ता सङ्खारूपगा सङ्खाराभिनिब्बत्तविञ्ञाणाहारसेवनतो ति। एवम्पि यं किञ्चि दुक्ख सम्भोति सब्ब आहारपच्चया ति वेदितब्ब।

३. ० **उपपत्ति**—सङ्खारान येव उपपत्ति, न सत्तस्स न पोसस्स। पुञ्ञाभिसङ्खारेन वा भवूपगक्खन्धान उपपत्ति।

४. ० **उपसमं**—निब्बान, सब्बसङ्खारान उपसमहेतुभूत।

५. ० **उपेक्खा**—पटिसम्भिदामग्गे महावग्गे सङ्खारुपेक्खाञाणनिद्देसे केनट्ठेन सङ्खारुपेक्खा ति वण्णितं—"उप्पादो सङ्खारा, ने सङ्खारे अज्झुपेक्खती ति—सङ्खारुपेक्खा"। तत्थ, आरद्धविपस्सकस्स विपस्सनाञाणेन लक्खणत्तयस्स दिट्ठत्ता लक्खणविचिनने पहीनब्यापारस्स आदित्ते विय तयो भवे पस्सतो सङ्खारग्गहणे मज्झत्तस्स त विपस्सनाञाण ते सङ्खारे विसेसेन च इक्खति गहणेन वज्जितञ्च हुत्वा इक्खति ओलोकेती ति सङ्खारुपेक्खा नामा ति अत्थो।

६. ० **धातु**—सब्बे सङ्खतधम्मा। यथा—आयुसङ्खारो, जातिसङ्खारो, भवसङ्खारो, इच्चादि।

७ ० **निरोधञाणकुसलो**—सङ्खारनिरोधो वुच्चति निब्बान। तम्हि ञाण अरियमग्गपञ्ञा, तत्थ कुसलता।

८ ० **निरोधो**—सङ्खारान अनुप्पादो। सब्बेस सङ्खारान अनवसेस अनुप्पादनिरोधो। हेट्ठिमेन हि मग्गत्तयेन केचि सङ्खारा निरुज्झन्ति केचि न निरुज्झन्ति अविज्जाय सावसेसनिरोधा। अग्गमग्गेन पनस्सा अनवसेसनिरोधा न केचि सङ्खारा न निरुज्झन्ती ति।

९. ० **पदहतो**—सम्पयोगविरिय करोन्तस्स।

१०. ० **परियापन्नानि**—पञ्चसु खन्धेसु सङ्खारक्खन्धे अन्तोगतानि।

११. ० **सीसं**—सब्बसङ्खतसङ्खारान सीसं—कोटि अवसान इति अत्थो। एतेन अनुपादिसेसपरिनिब्बानं वुत्त। सङ्खाराभावमत्तवसेन वा खन्धपरिनिब्बानमेव वुत्त होति।

१२. ० **सुञ्ञं**—सङ्खारो येव सेससङ्खारेहि सुञ्ञो ति।

१३. **सङ्खारानं आदीनवं पकासेसि**—पठममग्गाधिगमत्थ कामान आदीनव कथित्वा उपरिमग्गाधिगमत्थं सङ्खारानं आदीनव च लामकभावं तप्पच्चयं च किलमथ पकासेति। यथा तत्थ नेक्खम्मे एवमिध निब्बाने आनिसंस पकासेति।

इत्थं 'सङ्खार'—सद्दत्थगभीरतं सम्मा साधु पटिविज्झितु पालियं तंसद्दपयुत्तठानानि ओलोकेतब्बानी ति तेसं सङ्केतानि इध उदाहटानि होन्ति—

अम्हाकं देवनागरीतिपिटकगन्थानं पिट्ठङ्कानि दिन्नानि—

महावग्गे—१ (पटिच्च०), १६ (खन्ध) । **दीघनिकाये दुतिये भागे**—३६ (सङ्खारानं आदीनव), ६४ (वयधम्मा सङ्खारा) । **दीघनिकाये ततिये भागे**—२१२ (सङ्खता धातु), १७१ (तयो सङ्खारा), १६६ (सङ्खारट्ठितिका सब्बे सत्ता) । **मज्झिमनिकाये पठमभागे**—७३, ६५, ३२१, ३२५ (पटिच्च०), ७३, २४१, ३७१ (तयो), २३६, २८०, २८३, २८५ (अनिच्चा अनत्ता) । **मज्झिमनिकाये दुतियभागे**—२ (सङ्खार-सङ्खाविमुत्तो), १८२ (सङ्खारा तथागतस्स पहीना), १७६ (सङ्खारान अत्थङ्गमो समुदयो) । **संयुत्तनिकाये पठमभागे**—१३६, १४० (सङ्खतलक्खणसुत्त) । **संयुत्तनिकाये दुतिये भागे**—३,१०,१३,३६,५० (पटिच्च०) । **संयुत्तनिकाये चतुत्थभागे**—४ (कायसङ्खारा अस्सासपस्सासा०), ३२३ (सङ्खारसङ्खाय विमुत्तो), २३१ (सङ्खारदुक्खता) । **संयुत्तनिकाये पञ्चमभागे**—५५ (सङ्खारदुक्खता), ५६ (सङ्खारुपादानक्खन्धो) । **अङ्गुत्तरनिकाये चतुत्थभागे**—६५ (खन्ध), २० (सङ्खारसोखुम्म) । **अङ्गुत्तरनिकाये नवमे भागे**—२ (सङ्खारुपादानक्खन्धो) । उदाने–६३, ६४, ६५ (पटिच्च०)· **सुत्तनिपाते**—३८२, ३८५ (पटिच्च०) । **थेरीगाथायं**—४५८ (सङ्खारे परतो दिस्वा) । **पटिसम्भिदामग्गे**—८८ (सङ्खताधम्मा); सङ्खारनिमित्त १०५; सङ्खारपच्चया विञ्ञाणं ६०, १२७, सङ्खारवत्थुका, अत्तानदिट्ठि १६६–६८ : सङ्खारसीस ११५ ४६६; सङ्खारसुञ्ञ ४३७ : सङ्खारा १२–१४ : सङ्खारा अतीता ४३८ . अभिञ्ञेय्या ८ : आयूहना १८, ५८, ६८ ० कथ उपट्ठन्ति २८६, ३०१ · ०उपपत्ति १८, १६, ६८ . ० उपायासो ६६ . सङ्खारान तयो पटिपस्सद्धिया १११ · सङ्खारारम्मणता ६४ : सङ्खारुपेक्खा ७१, ७२, ३०७ : सङ्खारुपेक्खाय चित्तस्स अभिनीहारो—६८, ६६ : सङ्खारुपेक्खासु ञाण ३, ६७, ६८, ७१–६३ । **धम्मसङ्गणियं**—२६–२८, ६७, १११, १४०, २६४, २८१, ३२१ (खन्ध) । **विभङ्गे**—३, ११, १७, ४५, ५६, ८८, १११ (खन्ध), १६८, २०३, २०५ (सङ्खारपच्चया पि अविज्जा), १७४, १८२, १८४, २०१, २०३, २०५, २१३, २१८, २२२, २२६, २२७, (सङ्खारपच्चया विञ्ञाण), १६३, १६५ (सङ्खारसम्पयुत्त), १८७, १८६, १६१ (सङ्खारहेतुक), ११–१४ (सङ्खारा अतीता, अनागता, ओळारिका, दूरे, बहिद्धा, सन्तिके, हीना), १२६ (सङ्खारुपादानक्खन्धो) , ३६५, ३६६ (सङ्खारेसु ञाण) २१८, २२०–२२४, २२६. २२७, २६६ (सङ्खारो कतमो) । **धातुकथायं**—२५ (सङ्खता धम्मा), ५, ८, ३७, ५०, ६६, ६८, ७५ (सङ्खारक्खन्धो), १७, ४३, ५२ ६६ (सङ्खारपच्चया विञ्ञाण) । **कथावत्थुस्मिं**—४६७, ४६८ (सङ्खारक्खन्धपरियापन्नो), ३५८, ३५६, ३६०, ३६४, ४६८ (सङ्खारक्खन्धो), २०६ (पटिसङ्खानिरुद्धा, अप्पटिसङ्खानिरुद्धा), २६ (सङ्खारेहि पुग्गलो) । **यमके पठमभागे**—३३, ३६, ४०, ४२, ४४ (सङ्खारक्खन्धो) ।

भगवद्भक्तेः स्वरूपम्

डॉ० सिद्धेश्वर भट्टाचार्यः

साधनाया· पराकाष्ठा भक्तिरेव । औपनिषदमपि रहस्य भक्तावधिकारिण एव विदन्तीति वेदान्त-डिण्डिम. । तथा हि श्रीमत्या श्वेताश्वतरोपनिषदि—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मन. ।। ६.२३

सर्वोपनिषत्सारभूताया श्रीमद्भगवद्गीतायामपि भक्तेर्माहात्म्य नि सशय ख्याप्यते । तद्यथा—

ब्रह्मभूत. प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
सम. सर्वेषु भूतेषु मद्भक्ति लभते पराम् ।। १८ ५४

श्रीमद्भगवद्गीताभाष्यभूते श्रीमद्भागवतेऽपि भक्तेर्निस्सीममाहात्म्य जोघुष्यते । रासपञ्चाध्याय्या. सर्वोत्कृष्टत्व के न स्वीकुर्वन्ति ? तस्यामपि उपसहारमुखेन महामुनिरुद्घोषयति—

विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदञ्च विष्णो,
श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादनुवर्णयेद् य ।
भक्ति परा भगवति प्रतिलभ्य काम;
हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीर. ।। १०.३३.३६

एतद्ग्रन्थरत्नत्रयसमुदीरितदिशा एष सिद्धान्त. सुप्रतितिष्ठति यत् सेय भगवति भक्तिरेव सर्वोत्कर्षेण वरीवर्तते पर सहस्रेषु साधनमार्गेषु विराजमानेष्वपीति ।

ननु केय परा भक्तिर्नाम ? 'सा परानुरक्तिरीश्वरे' इति शाण्डिल्यः (सू० सं० २) । केयं परानुरक्तिर्नाम ? श्रीमद्भागवत विषयेऽस्मिन्नेव कथयति—

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये ।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ ।।
लक्षण भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्यु दाहृतम् ।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ।। ३ २९.११

कस्मिन्नाख्याते भूभागे भागीरथी जन्माऽवापेत्यस्मिन् विप्रतिपत्तिर्विद्यते विदुषाम्; किन्तु यत्राऽपि तस्या उत्पत्तिर्भवतु, सा स्रोतस्विनी समुद्राभिमुखं प्रवहति । अन्तराऽन्तरा का का बाधा न समुपस्थिता ? किन्तु तस्या. प्रवाह. कदाऽपि विच्छिन्नो नाभूत् । यदि कश्चित् पृच्छति ताम्—"अये, गङ्गे ! कथं नाम अविश्रान्ता तव गतिः समुद्र प्रति ? किं फलं लप्स्यते तेन सह समागमेन ? कथं वेदं स्थानं गम्यमिदञ्च परिहार्यमिति विचारमकृत्वैव स्वच्छन्दचारिणी सवृत्ता ? कोऽयमध्यवसायः सर्वप्रातिकूल्यप्लावी" ?

किं नामोत्तरं स्यात् ? सा कथयिष्यति—"सेय मे भवितव्यता यत् समुद्रेण सह समागमः स्यात्; अस्यां यात्रायां न फलानुसन्धानं न वा कदाऽपि गतिविच्छेदो नाऽपि केनाऽपि भेददर्शनेनोच्चावचव्यवस्था

स्वीक्रियते मया। सेयमविच्छिन्नाऽहैतुकी, अव्यवहिता च तीर्थयात्रा स्वान्तस्य भगवत्सागरसंगमनाय भक्तिरित्यभिख्या लभते। परमभागवतः प्रह्लादोऽपि कथयामास—

यथा भ्राम्यत्ययो ब्रह्मन् स्वयमाकर्षसन्निधौ।
तथा मे भिद्यते चेतश्चक्रपाणेर्यदृच्छया॥ ७ ६.१४

आकर्षस्याऽयं स्वभावो यल्लोहमाकर्षति। आकर्षसन्निधौ लोहस्यागमने किमपि स्वातन्त्र्य न वर्तते। एतदेव लोहस्य सार्थक्य यदाकर्षमुपगमिष्यतीति। प्रह्लाद. कथयति—

"हे नरराज! पितृदेव! नून भवानिच्छति यदह हरेर्नामानुकीर्तन न कुर्यामिति; किन्तु हे प्रभो! इयमेव हरे सार्वभौमेच्छा यदह त भगवन्त वदेय, तस्यैव नामानुकीर्तन विदध्याम्। सर्वथा पारवश्येन तथैव मया क्रियते। एकत. पितुरादेशपरिपालनमन्यतो भगवदिच्छापरिपूरणम्। कि करोमि? हरिनामान्यगापार न जातु स्थातु शक्नोमि। महाराज! दीयतां मे दण्ड. किन्तु हरिं त्यक्तु न प्रभवाम्यहम्।"

कथ भक्ते. सर्वविरोधपर्यवसायी प्रवाहोऽयम्? श्रीमद्भागवत तस्मिन्नपि विषये प्रमाणम्। सेयं भक्तिर्भगवति। कोऽय भगवान्? श्रीमद्भागवतानुसारं भगवान् नामानन्दमात्रमुपपन्नसमस्तशक्तिरर्थाद् भगवान्नामानन्दघनविग्रह सर्वासा शक्तीना परमाश्रयश्च। सर्वशक्तिमत्त्वात् यथेच्छ करोति; आनन्दस्वरूपत्वाच्च सर्वेषामपि सहजाकर्षणास्पदञ्च भवति। लौकिकदृष्ट्याऽपि पर्यालोचयन्तु भवन्त.—आनन्द प्रति समाकर्षण कस्य न विद्यते? दारापत्यगृहादयः सर्वं एव काम्यमाना. पदार्था पर्यवसाने आनन्दार्थमेव भवन्ति। तथा च बृहदारण्यकोपनिषद् ब्रूते—

"न वा अरे पत्युः कामाय पति. प्रियो भवति; आत्मनस्तु कामाय पति. प्रियो भवति इति" (४-५-६)। तस्मादानन्द प्रति सर्वेषा स्वाभाविकमेव मनस आवर्जन वर्तत इति कृत्वाऽऽनन्दघनविग्रहे भगवति पुरुषोत्तमे मनसः स्वाभाविकी गतिर्नाश्चर्यास्पदम्, अपितु युज्यत एव।

कश्चिदेवं ब्रूयाद्—भक्तिर्नाम भावुकतामात्रं, तत्र ज्ञानस्य लेशोऽपि न दरीदृश्यते। सेयमन्धपरम्परा कथमपि साधनश्रेष्ठत्वपदवी नाऽऽरोढुमर्हति। अस्मिन्नपि विषये श्रीमद्भागवतस्य विचारः सावधानतया सूक्ष्मेक्षिकया च द्रष्टव्य.। श्रीमद्भागवत कथयति—

भक्ति. परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र चैष त्रिक एक काल.।
प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्युस्तुष्टि. पुष्टि· क्षुदपायोऽनुघासम्॥११.२.४२

यथाऽऽहार कुर्वत. प्रतिग्रास सन्तोष., शरीरपोषण, क्षुधानिवृत्तयश्च सहैव भवन्ति तथैव भगवति भक्तिर्विषयेषु विरक्तिर्भगवत्स्वरूपबोधश्च समकालमेवोद्यन्ति। एतत्तु लौकिकदृष्ट्यैव प्रमाणितं स्याद् यदि कुत्रचिद्विषये कस्यचित्परमानुराग. स्यात् तर्हि तादृशस्य व्यसनिनो मनोविषयान्तरात् स्खलेदेव। किन्तु यं प्रति भक्तिरनुरागो वा भवेत् पूर्वं तमधिकृत्य यदि ज्ञान न स्यात् तर्हि अनुराग एव न प्रसरति। यदि कामिनी पूर्वं परिज्ञाता न स्यात् तर्हि तदुपरि प्रेमसञ्चार कथं भवितुमर्हतीति? तस्मात् सर्वत्रैव प्रेम ज्ञान परामृशति। तस्मादेवकारणात् पूर्वोद्धृत-शाण्डिल्यसूत्रे भक्तेर्लक्षणे रक्तिमात्र न सन्निविष्ट किन्त्वनुरक्तिरिति। दर्शनमनु रक्ति." इति अनुरक्ति.। अन्यत्राऽपि श्रीमद्भागवतं कथयति—

वासुदेवे भगवति भक्तियोग. प्रचोदितः।
जनयत्याशु वैराग्य ज्ञानञ्च यदहैतुकम्॥१.२.७

किंबहुना, ज्ञानगर्भितत्वेनैव भक्तेरुत्कर्ष इत्यस्मिन्नपि विषये श्रीमद्भागवतमेव प्रमाणमास्ते—

यथाग्निना हेममलं जहाति ध्मातं पुन. स्वं भजते च रूपम्।
आत्मा च कर्मानुशयं विधूय मद्भक्तियोगेन भजत्यथो माम्॥११ १४.२५

आकरनि सृत सुवर्ण कलङ्काङ्कित तिष्ठति, तस्य श्यामिका अग्नावपगच्छति, तथा च गते मले सुवर्ण स्वाभाविकमुज्ज्वल रूप भजते। तथैव भक्त्यङ्गज्ञानेन चित्तसञ्चित मल सर्वथा नश्यति, तन्नाशे च चित्त विशुद्ध भवति। अलौकिकप्रकाशशीलचित्ते भगवद्रूप स्वच्छतया समुदेति।

श्रीमद्भागवत त्रिविधान् भक्तान् मन्यते—भागवतोत्तमो, भागवतमध्यमो, भागवताधमश्च इति। एतेषा तारतम्य ज्ञानोत्कर्ष एव प्रतितिष्ठतीति सर्वथा ज्ञानमहिमा विराजतेतरा भक्तिजगति।

एष सिद्धान्त परम विरोध सम्मुखीकरोति। कि गोप्य ज्ञानवत्य आसन्? श्रीमद्भागवतमेव निवेदयति—

कृष्णं विदु पर कान्त न तु ब्रह्मतया मुने।
गुणप्रवाहोपरमस्तासा, गुणधिया कथम्॥१०-२९-१२

एष प्रश्न नि सशयमेव प्रतिपादयति यद्गोपीना कृष्णे ब्रह्मबुद्धिर्नासीत्। तासा समीपे तत्रभवान् अनन्यसाधारण. कान्त एव। अथ च परमप्रेमविचारे गोपीना परमोदात्तस्थान भक्तचूडामणिनोद्धवेनैव प्रदत्तम्—

आसामहो चरणरेणुजुषामह स्या
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथञ्च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवी मुनिभिर्विमृग्याम्॥ १०-४७-६१

तस्मादुभयत. पाशारज्जु.—

यदि गोप्य. ज्ञानवत्य आसन् तर्ह्युपर्युक्तवर्णन बाधित स्यात्, यदि च ता अबोधा आसन् तर्ह्युद्धवस्य तादृशोक्तिर्निरर्थिका स्यादिति। तर्हि कि समाधानमस्य? श्रीमद्भागवतमेव तस्य समाधान विधत्ते।

सत्यमेतद् भगवता सह प्रथमसमागमे गोप्य· प्राकृतनार्य इवाबोधा एवासन्। किन्तु भगवति भक्तेर्माहात्म्यात् क्रमश. ज्ञानस्य प्रकृष्ट प्रकाश सवृत्त.। यथा यमुनाकूले यदा भगवान् प्रणष्टस्तदा सर्वत्राऽन्विष्याऽपि ता गोप्यस्त न प्रापु:। भगवदन्वेषणप्रगाढसन्निवेशवशाद् दिव्यदृष्टि. शनै. प्रादुर्बभूव—

न खलु गोपिकानन्दनो भवान्
अखिलदेहिनामन्तरात्मधृक्।
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये
सख! उदेयिवान् सात्वता कुले॥ १०-३१-४

अधुना प्रेमभक्तियोगेन गोप्यो जानन्ति यत् कान्तरूपो भगवान् श्रीकृष्ण उपनिषत्प्रतिपाद्यमन्तर्यामि ब्रह्मतत्त्वमेव, विशेषकार्यवशाद् धरातले प्रादुर्बभूवेति।

तस्मात् ज्ञानस्य, कर्मण:, भक्तेश्च त्रिवेणीसंगम: श्रीमद्भागवतप्रोक्तो भक्तियोग.। केवलं ज्ञानं केवलं कर्म वा, भक्तिधाराविवर्जितं कथमपि न शोभतेतराम्। तथा च श्रीमद्भागवतम्:—

नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं
न शोभते ज्ञानमल निरञ्जनम्।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे
न चार्पितं कर्म न यदप्यकारणम्॥ १-४-१२

एतत्प्रेम-भक्तियोगस्य समुज्ज्वलो दृष्टान्तो वृत्रासुर एव। असख्याना प्रेमभक्ताना मध्ये वृत्रासुरस्य जीवन प्रेमनि.स्यन्दनमिव प्रतिभाति। मरणात् पूर्वं गद्गदकण्ठेन वृत्रासुर. प्रार्थयते—

अह हरे! तव पादैकमूल-
दासानुदासो भवितास्मि भूय ।
मन स्मरेदासुपतेर्गुणाना
गृणीत वाक् कर्म करोतु कायः ॥ ६-११-२४

मुक्तिर्न काम्यते। वार वार वृत्रासुरोऽस्मिन्नेव जगति समागन्तुमिच्छति तथैव तस्याभीप्सितं पूर्तिमापद्येत। का सा वाञ्छा ? भगवद्दासाना दास स्याम् इति। कथमेतद् दासत्व सिद्ध स्यात्? मनः सदैवानन्तस्यानन्तगुणराशौ निमज्जेत, वागिन्द्रियञ्चानन्तगुणधाम्न श्रीभगवतो गुणकीर्तन कुर्यात्; देहस्तु यथाविहितकर्मानुष्ठानैर्भगवन्तमेव प्रीणयेत् इति ‘कायमनोवाग्भिर्भगवदुपासनमेव वृत्रासुरस्य परमभीप्सितम्। एतदुपासनसाफल्यार्थं भगवद्दर्शन काङ्क्षति—

अजातपक्षा इव मातर खगा.
स्तन्य यथा वत्सतरा क्षुधार्ता ।
प्रियं प्रियेव व्युषित विषण्णा
मनोरविन्दाक्ष! दिदृक्षते त्वाम् ॥ ६-११-२६

यथा पक्षिशिशव उड्डयनेऽसमर्था प्रतिमुहूर्तमेव क्षुधानिवृत्त्यर्थं मातरमपेक्षन्ते; यथा दिनावसाने गोवत्सा क्षुधया प्रपीडिता गोचारणद् विनिवृत्ताया मातु स्तन्य प्रतीक्षन्ते, यथा विरहद्रूयमाना नवोढा प्रतिक्षणं विदेशात् पत्युरागमनमभिलषति, हे कमललोचन! भगवन्! हरे! तथैव मे मन त्वा द्रष्टुमभिलषतीति।

श्रीमद्भागवतस्य परमप्रेममयी वार्ता देशाना कालानाञ्चावधिमतिक्रम्य सर्वथा वरीवर्ति दुर्बलानां, मोहसमाच्छन्नानामविदुषा कालकवलिताना कृते। सैव प्रेमभक्तिर्निषेव्या। मनसः स्वाभाविकी तीर्थयात्रा सार्थक्यमुपनेया। श्रीभगवान् तुष्यत्विति शम् ॥

वाल्मीकीये रामायणे रामस्येश्वरावतारत्वम्

म० म० पण्डित गिरिधरशर्मा चतुर्वेदः

वाल्मीकेर्मुनिसिंहस्य कवितावनचारिण. ।
श्रृण्वन् रामकथानाद को न याति परा गतिम् ।।

भगवत श्रीरामचन्द्रस्य चरितबोधकानि बहूनि रामायणानि सन्ति प्रसिद्धानि, पर तेषु सर्वेषु वाल्मीकीय रामायणमेव शिष्टसमाजे परमादर भजते। यद्वाल्मीकिना लिखितं स एव रामचरितस्य मुख्योऽश. समाद्रियते शिष्टै । वाल्मीकिना च भगवतो रामस्य राज्याभिषेकानन्तरमेव तन्महाकाव्य विरचितम्। तदुक्तम्—

"प्राप्तराज्यस्य रामस्य वाल्मीकिर्भगवानृषि. ।
चकार चरित कृत्स्न विचित्रपदमात्मवान् ।।"

(वाल्मीकिरामा० बालकाण्ड ४।१)

एतेन ये महानुभावा वदन्ति यद् रामायण पूर्वमेव वाल्मीकिना भविष्यचरितरूपेण ग्रथितमिति ते इद वाक्यमदृष्ट्वैव भ्रान्ता भवन्तीति भाव्यम्। आस्ताम्। पर बहव एतदाशङ्कन्ते यद् वाल्मीकिना नारदाय साम्प्रत आदर्शभूत· पुरुष कोऽस्तीति पृष्टम्—

"कोऽन्वस्मिन् साम्प्रतं लोके गुणवान् कश्च वीर्यवान् ।
धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च सत्यवाक्यो दृढव्रत. ।। इत्यादि ।

एव पृष्टेन नारदेन राम एवविधोऽस्तीति इत्युत्तीर्य सक्षेपतस्तद्वृत्त श्रावित यन्मूलरामायणमिति प्रोच्यतो तदेव चाश्रित्य महर्षिणा वाल्मीकिना रामचरित विस्तरेणोक्तम्, ततश्च आदर्शपुरुषरूपेणैव भगवतो रामस्य चरित तत्र वर्णितमस्ति। रामो हि भगवान् विष्णोरवतार इति तु वाल्मीकिविरचिते महाकाव्ये न क्वाप्युपलभ्यते ।

यद्यपि वाल्मीकीये रामायणे बालकाण्डे पञ्चदशेऽध्याये भगवतो विष्णो· अवतारग्रहण कृत्वा रावण वधिष्यामि इति वर्णितमस्ति, परमेतदध्याय बहव. प्रक्षिप्त मन्यन्ते । नारदोपदेशे हि अस्य विषयस्य काऽपि चर्चा नास्तीति। किञ्च, लवपुरात् एतदपि प्रकाशितं यत् काश्मीरप्रान्तादुपलब्धे शारदा-लिपिनिबद्धे वाल्मीकिरामायणे न स सर्गो दृश्यत इति ।

बहवश्चैवमपि वदन्ति ऐतिहासिकमन्या यदमरकोषेऽमरसिंहेन विष्णोर्नामसु कृष्णस्य दामोदरा-दीनि सर्वाणि नामानि उक्तानि। तत् पितु· पुत्र-पौत्रादेश्चाऽपि तत्र स्पष्ट विवरण कृतम्। पर रामस्य किमपि नाम तत्र नोल्लिखितम्। जनक-पुत्र-पौत्रादीना तु कथैव दूरापास्ता । तदेवमनुमीयते यदमर-सिंहकालपर्यन्त रामस्यावतारत्व न प्रसिद्धमासीत्। पश्चात्तु कैश्चित् साम्प्रदायिकै. कल्पित रामस्यावतार-त्वमिति। अत्र वयं वदामः—अमरसिंहस्य कालिदासस्य च विक्रम-सभासदत्वमस्माभिरभिमन्यते। ऐतिहासिका अपि एतयोर्बहुकालपार्थक्य नाभिमन्वते। महाकविना कालिदासेन च रघुवशस्य दशमे सर्गे

'देवाना विष्णु-सकाशे गमन भगवतो विष्णोश्च दशरथगृहेऽवतीर्य रावणमह वधिष्यामि यतो हि रावणो देवताभिर्वध्यो नास्तीति ब्रह्मणा तस्मै वरो दत्त । तस्मान्मानुषावतारग्रहणमावश्यकमि'ति सर्वमेतदुक्तम् । तस्मादमरसिंहपर्यन्तं रामस्यावतारत्व न प्रसिद्धमिति कल्पना निस्सारैव । आस्तामिदमप्रकृतम् । भगवता वाल्मीकिनाऽपि तु यत्र रामस्यावैतारत्व व्यञ्जित तत एव स्थल-द्वयमत्रोदाहरिष्याम ।

तथा हि यदा भगवान् रामे विवाह निर्वर्त्य जानक्या स्वपित्रादिभिश्च सह मार्गं अगच्छन्नासीत् तदा बहवस्तत्र उत्पाता प्रादुरभवन् । अन्ते च भगवान् परशुराम तत्रागत्य मिलित । तद्वर्णनमेवं-विधं वाल्मीकीये रामायणे बालकाण्डे एवं दृश्यते—

"इत्युक्त्वा राघव क्रुद्धो भार्गवस्य शरासनम् ।
शर च प्रतिजग्राह •हस्ताल्लघुपराक्रम ।।
आरोप्य स धनू राम. शर सज्य चकार ह ।
जामदग्न्यं ततो राम राम क्रुद्धोऽब्रवीद्वच ।।
ब्राह्मणोऽसीति मे पूज्यो विश्वामित्र-कृतेन च ।
तस्माच्छक्तो न ते राम ! भोक्तु प्राणहर शरम् ।।
इमा पादगतिं राम ! तपोबलसमार्जिताम् ।
लोकानप्रतिभान् क्वा ते हनिष्यामि यदीच्छसि ।।
न ह्यय वैष्णवो दिव्यः शर परपुरजयः ।
मोघं पतति वीर्येण बलदर्पविनाशन. ।।
वरायुधधर राम द्रष्टु सर्षिगणाः सुरा ।
पितामह पुरस्कृत्य समेतास्तत्र सर्वश. ।।
गन्धर्वाप्सरसश्चैव सिद्धचारणकिन्नराः ।
यक्षराक्षसनागाश्च तद् द्रष्टु महदद्भुतम् ।।
जडीकृते तदा लोके रामे वरधनुर्धरे ।
निर्वीर्यो जामदग्न्योऽथ रामो राममुदैक्षत ।।
तेजोऽभिहतवीर्यत्वाज्जामदग्न्यो जडीकृत ।
राम कमलपत्राक्ष मन्दं मन्दमुवाच ह ।।
कश्यपाय मया दत्ता यदा पूर्वं वसुन्धरा ।
विषये मे न वस्तव्यमिति मां कश्यपोऽब्रवीत् ।।
सोऽह गुरुवच कुर्वन् पृथिव्या न वसे निशाम् ।
तदा प्रतिज्ञा काकुत्स्थ कृता भूः कश्यपस्य हि ।।
तदिमा त्व गतिं वीर हन्तु नार्हसि राघव !
मनोजव गमिष्यामि महेन्द्र पर्वतोत्तमम् ।।
लोकास्त्वप्रतिमा राम ! निर्जितास्तपसा मया ।
जहि तान् शरमुख्येन मा भूत्कालस्य पर्ययः ।।
अक्षयं मधुहन्तार जानामि त्वां सुरोत्तमम् ।
धनुषोऽस्य परमर्शात्स्वस्ति तेऽस्तु परतप ।।

एते सुरगणा. सर्वे निरीक्षन्ते समागताः ।
त्वामप्रतिमकर्माणमप्रतिद्वन्द्वमाहवे ॥
न चेयं मम काकुत्स्थ व्रीडा भवितुमर्हति ।
त्वया त्रैलोक्यनाथेन यदह विमुखीकृत. ॥
शरभप्रतिभ राम ! भोक्तुमर्हसि सुव्रत ।
शरमोक्षे गमिष्यामि महेन्द्र पर्वतोत्तमम् ॥" इत्यादि ॥

(वाल्मीकिरामा० बालकाण्ड सर्ग ७६, श्लो० ४–२०)

इह हि दाशरथिना रामेण भार्गवस्य रामस्य तपसा निर्जिता स्वर्गादिलोका. शरेण छिन्ना, इत्यभिहत न च परलोकच्छेदनमनीश्वरेण सभवतीति रामस्य ईश्वरत्व स्फुट व्यञ्जितम् । परशुरामेण चाऽपि स्तुवता तस्य ईश्वरत्व स्फुटमेवोक्तम् ।

अपर च युद्धकाण्डे यदा विभीषण. शरणमागत. तेन चोक्त 'सर्वलोकशरण्याय राघवाय महात्मने । निवेदयत मा क्षिप्र विभीषणमुपस्थितम् ॥' तदा रामेण स्व-स्व-मतदानार्थ वाहिनीपतयः उक्ता., तदा सुग्रीवेण स्पष्टमेवोक्तं यत् रिपुकुलादागतो विभीषणो न विश्वासयोग्य. अत. बद्ध्वा स्थाप्यः । अन्यरपि च कैश्चित् विभीषणे चार-नियोजनार्थ स्वमत प्रकाशितम् । केवल हनुमता 'विभीषणो न दुष्ट. अतः सग्राह्य' इत्युक्तम् । तदा च भगवता रामेण सग्राह्य. इत्येव स्वमत प्रकाशितम् । सुग्रीवे पुन. पुन प्रतिषेधति च भगवता रामेण स्पष्टमुक्तम्—

"सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रत मम ॥"

(युद्धकाण्ड सर्ग १८, श्लोक ३३–३४)

अत्र हि प्रपन्नाय सर्वभूतेभ्योऽभयदानं स्वव्रतत्वेन भगवता रामेण स्पष्टमुद्घुष्ट, न च देवासुर-यक्ष-राक्षस-प्रभृतिभ्य सर्वभूतेभ्योऽभयदानमनीश्वरस्य भवतीति अत्राऽपि स्वस्य ईश्वरत्व भगवता रामेण व्यञ्जित-मेव । एवविधेषु स्थलेषु भगवता वाल्मीकिनाऽपि रामस्येश्वरावतारत्वं ख्यापितमेवेति विदाकुर्वन्तु विद्वास इति ।

संस्कृति और भारतीयता

डॉ० गोविन्दचन्द्र पाण्डेय

संस्कृति का अर्थ

'संस्कृति' और 'प्रकृति' परस्पर सापेक्ष शब्द हैं। प्रकृति मे अतिशय अथवा श्रेष्ठता का आधान ही संस्कार या संस्कृति है। दूसरे शब्दो मे, संस्कृति स्वभाव का सुधार अर्थात् अभीष्ट लक्ष्य की ओर परिणाम है।[1] मनुष्य का स्वभाव क्या है, उसका चरम अभीष्ट क्या है और उसकी प्राप्ति के साधन क्या है, इन प्रश्नो के उत्तर सास्कृतिक प्रक्रिया को निश्चित दिशा प्रदान करते हैं। सस्कृति की परिभाषा उसके जीवन-दर्शनके सहारे ही सम्भव है, यद्यपि उसकी व्यावहारिक सफलता अथवा सिद्धि प्रकृति के ऊपर अधिकार की अपेक्षा रखती है। जीवन-दर्शन मूलत. एक निष्ठा है जिसमें आदर्श, विश्वास, और भावनाएँ सम्पिण्डित रहती है। निष्ठा ही मानव-चेतनाकी मुख्य प्रेरणा और चिरतन साथी है।[2] 'श्रद्धामयोऽय पुरुषो यो यच्छ्रद्ध. स एव स'; 'सद्धा दुतिया पुरिस्स होति'।

भारतीय निष्ठाके अनुसार मनुष्य की एषणाएँ एक अनन्त परमार्थ की ओर उद्दिष्ट है। अनन्त लक्ष्य की प्राप्ति के बिना मनुष्य वस्तुत. सुखी नही हो सकता और न उसके दु ख ही पूर्णरूप से छूट सकते है। सभी कुछ पढ़-लिख कर भी जब नारद शोकसे उत्तीर्ण नही हो पाए उन्हें भगवान् सनत्कुमार ने उपदेश दिया—'भूमा वै सुखम्'। प्राकृत जीवनमें मनुष्य सीमित सुख-दु.खके द्वन्द्व में फसा रहता है। द्वन्द्वात्मक जीवन को दु.खमय समझ कर उससे मुक्ति का यत्न ही साधना है। इस साधना का अर्थ जीवन-सग्राम से पलायन न होकर हृदय की क्षुद्रता और दुर्बलता को त्यागना है। यह मूलत· मन का सुधार ही 'योग' है और इसका परिणाम है निरतिशय अपरोक्षानुभूति और जीवन-का विश्वात्मभाव मे ओत-प्रोत हो जाना। 'यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानत:'।

संस्कृति का प्राचीन पर्याय : आर्य धर्म

बौद्धोंके अनुसार दु ख सत्यका साक्षात्कार होने पर ही मनुष्य 'आर्य' कहलाता है। आर्येतर

---

[1] **तु०, संस्कार विषयक प्राचीन विमर्श, उदा० जैमिनि ३.१३ पर शब्दभाष्य, 'संस्कारो नाम स भवति यस्मिन् जाते पदार्थो भवति योग्यः कस्यचिदर्थस्य'; बादरायण १.१४ पर शंकर, 'संस्कारो हि नाम गुणाधानेन वा स्याद् दोषापनयनेन वा'। आधुनिक विमर्श के प्रसंगमें कहना होगा कि** 'Cultura ex Cultura' **और** 'Cultura ex natura' **इन दोनोंमें अपरिहार्य असामंजस्य नहीं है, दे०** Bidney, Theoretical Anthropology, **पृ० १४६।**

[2] तु०, 'In each age of the world distinguished by high activity there will be found......some profound cosmological outlook, implicitly accepted......a general form of the forms of thought.'—Whitehead, Adventures of Ideas, पृ० २०–२१।

पुरुष 'पृथग्जन' हैं। वैदिक मत के अनुसार भी दीक्षा के द्वारा आध्यात्मिक जन्म सम्पन्न होने पर 'आर्यत्व की प्राप्ति होती है। परम पुरुषार्थ के 'अलौकिक' अथवा 'लोकोत्तर' साधन को धर्म कहते हैं। 'आर्यधर्म' को ही प्राचीन भारतीय अपनी विशेषता मानते थे। वही भारतीय सस्कृति का मर्म है।

बाह्य और अभ्यान्तर पक्ष

प्रकृति-भेद पर आश्रित अधिकार-भेदके कारण चरम पुरुषार्थ की सिद्धि सहसा अथवा समान रूप से नही होती। साधना के रूपमे जीवन का क्रमिक विकास ही सम्भव है। अतएव मुख्य पुरुषार्थ के साथ गौण रूप से 'काम' अथवा ऐन्द्रिक सुख या अनित्य सुख भी 'पुरुषार्थों' में स्थान पाता है। 'धर्म' सभी पुरुषार्थों के लिए अपेक्षित है किन्तु धर्माचरण न्यूनाधिक मात्रा मे लौकिक साधनो की अपेक्षा रखता है। लौकिक साधन 'अर्थ' कहलाते हैं। यदि 'मोक्ष' और 'धर्म' भारतीय सस्कृति का आभ्यन्तर और मुख्य पक्ष हैं 'अर्थ' और 'काम' उसका बाह्य पक्ष हैं।

भारतीय परम्परा अपने 'आध्यात्मिक' पक्ष को चिरन्तन और विश्वजनीन मानती है, 'भौतिक' पक्ष को नही। भौतिक साधन और स्थिति नितान्त ऐतिहासिक हैं और सस्कृति का लक्ष्य और सार्थकता इतिहास के बाहर। फलत भौतिक उत्थान और पतन से सास्कृतिक उत्थान और पतन का निर्णय नही हो सकता, बल्कि लौकिक सफलता और भौतिक सुख की ओर समाज का अत्यधिक ध्यान उसमे आसुरी सम्पदा की वृद्धि प्रकट करता है। धर्म की अवस्था ही सस्कृति की सच्ची अवस्था है।

बाह्य पक्ष के प्राधान्य को बुद्धिस्थ कर सस्कृति को बहुधा 'सभ्यता' की आख्या दी गई है।[३] स्पष्ट ही 'सस्कृति' और 'सभ्यता' का भेद 'औपाधिक' है और आलोचना के प्रसगो अथवा दृष्टियो को विविक्त रखने की सुविधा के लिए है। अथवा, सस्कृति समाज की अन्तश्चेतना है और सभ्यता उसकी बहिरभिव्यक्ति। यह निर्विवाद है कि सामाजिक चेतना और भौतिक साधनो मे अशत एक अनादि कार्य-कारण-भाव है। किन्तु एक दृष्टि से चेतना का प्राधान्य स्पष्ट है—चेतना ही परिस्थिति का मूल्याङ्कन करती है और अपने लक्ष्य के अनुरूप साधनो का निर्माण। बौद्ध पदावली मे, सास्कृतिक चेतना एक 'निरात्मक' और 'प्रतीत्यसमुत्पन्न' सस्कार-प्रवाह है जो कि वैयक्तिक न होकर लोक-साधारण है।[४]

यदि सस्कृति आदर्श अर्थात् स्वरूप-कल्पना है, सभ्यता उससे प्रेरित कर्म और भोग। दोनों का ही उद्गम और विकास ऐतिहासिक और क्रमबद्ध होता है यद्यपि सस्कृति शाश्वत सत्य को आदर्शित करने का दावा करती है और विशुद्ध चिन्तन के क्षेत्र मे उसकी एक सिम्त को इतिहासोत्तर मानना स्वाभाविक है। ऐतिहासिक निरूपण मे घटनाएँ और तिथियाँ निश्चित और आवश्यक होते

---

[३] **इस प्रसंग में अनेक पाश्चात्य मत सुविदित है, यथा स्पेंग्लर** (Spengler) **का मत। यहाँ जयपुरीय पं० मोतीलाल शास्त्री का बृहत् ग्रन्थ 'संस्कृति एवं सभ्यता का चिरन्तन इतिवृत्त' भी विचारार्थ उल्लेख्य है।**

[४] **हेगेल प्रभृति अनेक आधुनिक विचारकों के द्वारा पुरस्कृत 'सामाजिक चित्त' की कल्पना तुलनीय है। चित्त, ज्ञान और वस्तु के अभिसम्बन्ध पर तु० बोसाँके** (Bosanquet, Logic, **द्वितीय भाग, पृ० २६५ और आगे)। इन दार्शनिकों का चित्त ज्ञानात्मक है, अनेक मनोवैज्ञानिकों का 'संस्कारात्मक'। वस्तुतः भूतापेक्षया चित्त विषयी है, आत्मापेक्षया विषय। किन्तु चित्त के स्वरूप विचार में प्रसंगापत्ति दुर्निवार है।**

हुए भी उनका यथार्थ बोध जभी सम्भव है जब उन्हे सार्थकता के अनुसार प्रवृत्तियों और युगो में सगृहीत कर लिया जाय। किन्तु जहाँ घटनाओ और तिथियो की सत्ता वास्तविक है, प्रवृत्तियो और युगों की काल्पनिक। युग-भेद दृष्टि-सापेक्ष होता है और सामाजिक और सास्कृतिक इतिहास मे वह कभी अनिवार्ययता व्यवस्थित और आत्यन्तिक नही होता। ऐतिहासिक जीवन की जटिलताएँ व्यवस्था और नियम की माग को एक सीमित रूप मे ही पूरा करती हैं। अथवा यह कहना चाहिए कि इतिहास को सार्थक समष्टि के रूप मे ग्रहण करने के लिए यह आवश्यक है कि उसे बौद्धिक कल्पना से सँवारा जाए अथवा उसका सारोद्ग्रहण किया जाए। वास्तविक इतिहास के अनन्त तथ्यो मे से एक सीमित अश ही इतिहासकारो को विदित होता है और उस विदित अश को भी पूरी तौर से समझना या समझाना अब तक किसी के लिए सम्भव नही हो सका है—शायद इसलिए कि अविदित अश अधिक है, शायद इसलिए कि सार्थकता और समष्टि-सगति आदर्श सत्ताके गुण है न कि वास्तविक सत्ता के।[५] जीवन-की सार्थकता एक आदर्श है जो कि यथार्थ या इतिहास मे अशत ही चरितार्थ होता है।

संस्कृति और संस्कृतियाँ

आचार-विचार, भाषा और धर्म, इनमे कितना पार्थक्य, एक समाज को दूसरे से पृथक् इकाई बनाने के लिए पर्याप्त है, इसका कोई निश्चित उत्तर नही है। क्योकि सामाजिक एकता और विभेद 'वस्तुगत' न होकर 'भावगत' होते हैं। सास्कृतिक विकास की विविध धाराएँ मानव प्रकृति की विविध सभावनाओ से उत्पन्न होती है, किन्तु मानव-मात्र का चरम लक्ष्य एक ही है और सभी महत्त्वपूर्ण सास्कृतिक धाराएँ एक ही पारावार की ओर न्यूनाधिक मात्रा में प्रवाहित रही हैं—'नृणामेको गम्य-स्त्वमसि पयसामर्णव इव'।

विशिष्ट प्रजाति एवं प्रदेश का आश्रय लेकर सभ्यता का जन्म होता है और तदनुरूप प्रतीको और व्यवस्थाओ मे प्राथमिक अभिव्यक्ति, किन्तु विकास के साथ ही वह अपनी परम्परा और स्व-निर्णीत लक्ष्य की अभीप्सा से अधिकाधिक सचालित होती है और उनके अनुरूप अपनी बाह्य परिस्थिति को मोड़ देनेका यत्न करती है। एक विशिष्ट समाज की जीवन-विधा के रूपमे जन्म लेकर भी सस्कृति क्रमश अपने को एक आदर्श जीवन-विधा मे ढालना चाहती है। स्पष्ट ही उसकी जातीयता अथवा प्रादेशिकता उसकी आरम्भिक उपाधियाँ है न कि उसके मार्मिक तत्व। दूसरे शब्दो मे विभिन्न सस्कृतियाँ वास्तव में जीवन के विभिन्न आदर्श हैं जो कि सभी अपने को परम मानते हैं एव विश्वजनीन और चिरन्तन होने का दावा करते हैं।[६] सस्कृतियो के इतिहास उन्हें पृथक् करते है, उनके आदर्श उन्हें एक ही मानव-प्रकृति के विविध पक्षों से सयोजित। सच यह है कि ऐतिहासिक सभ्यताओ के अन्दर

[५] **ऐतिहासिक बोधकी प्रक्रिया में एक अनिवार्य अनैकान्तिकता है। 'एको भावः सर्वथा येन ज्ञातः सर्वे भावाः सर्वथा तेन ज्ञाताः'। इतिहास का आदर्श एक अप्राप्य सर्वज्ञता है जिसके प्रकाश-में सभी घटनाएँ सह्य हो जायँ**—'Tout comprendre c'est tout pardonnner' तु० 'But it is a laborious, and never completed, task to rediscover the original coherence of a past mode of life from the surviving remains.' (Frankfort, The Birth of Civilization in the Near East पृ० २०)।

[६] तु० Ruth Benedict, Patterns of Culture, पृ० २३–२४।

स्वयं बहुत सास्कृतिक भेद देखा जा सकता है। प्रत्येक समाज की ऐतिहासिक परम्परा जटिल है और उसमे अनेक सास्कृतिक स्तर और दिशाएँ मिलती हैं। किसी सस्कृति की आभ्यन्तरिक एकता तथा अन्य सस्कृतियो से उसका पार्थक्य सर्वथा दृष्टि-सापेक्ष है। उदाहरण के लिए मध्यकालीन मुस्लिम सभ्यता की चर्चा मे भाषा की विविधता गौण होकर धर्म की एकता प्रधान हो जाती है। मध्यकालीन ईरानी और अरब सभ्यताओ की चर्चा मे भाषा और वाङमय का भेद प्रधान हो जाता है, धर्म की एकता गौण।

भारतीयता का प्रश्न

भारतीय सस्कृति की एकता पहिचानने के लिए भी यह आवश्यक है कि उसमें निरूपित जीवन के आदर्श की ओर ध्यान दिया जाय। चूँकि यह आदर्श पारमार्थिक है, यह किसी विशिष्ट व्यावहारिक व्यवस्था से आत्यन्तिक या स्थायी लगाव नही रखता। परमार्थ व्यवहार की अवस्था-विशेष नही है, अपितु उसकी परावृत्ति है जो कि वस्तुत मनोवृत्ति का भेद है। मन का वशीकार ही भारतीय सस्कृति-का मूल मत्र है। यही योग-विद्या है। मन के बदलने से व्यवहार और परमार्थ, ससार और निर्वाण का भेद हट जाता है, समस्त भेद-जगत् ही मिथ्या हो जाता है। जिसने मनको जीत लिया वही सिद्ध है, जीवन्मुक्त है, महात्मा है। इस प्रकार का महात्मा ही समाज मे सर्वाधिक आदर का पात्र है। प्रतापी राजा, धनी सेठ या चतुर शिल्पी से उसका स्थान ऊँचा है। यही भारतीय सस्कृति मे जीवन-का आदर्श है। भारतीय इतिहास के प्रत्येक युग मे ऐसे महापुरुष हुए हैं जिनके जीवन मे यह आदर्श चरितार्थ हुआ और जिनका प्रभाव देशव्यापी था। यही भारतीय सस्कृति की एकता, वास्तविकता और जीवन्तता है। सृष्टि का सामर्थ्य ही जीवन है और अपने आदर्श के अनुरूप पुरुषो को उत्पन्न करने-में समर्थ सस्कृति को जीवन्त ही कहा जायगा।

प्राचीन यूनानी, चीनी और अरब पर्यवेक्षको ने भारत में अन्य देशो से विशिष्ट एक सभ्यता को फैला हुआ पाया। सस्कृत भाषा और वर्ण-व्यवस्था, इन दोनो मे इस सभ्यता का बाहरी वैलक्षण्य प्रकटतम रूपसे सगृहीत था। प्रादेशिक, प्रजातीय और राजनीतिक भेद बहुत होते हुए भी भाषा और धर्म की शिष्ट-परिगृहीत एक व्यापक और समान परम्परा के समक्ष गौण हो गए थे। तथापि, उस समय भी भारत की मौलिक एकता को इन बाहरी और अस्थिर तत्वो मे न खोजना चाहिए। यदि भाषा और सामाजिक सगठन भी भारतीय सस्कृति का मर्म प्रदर्शित नही करते, अन्न-पान, वसन-भूषण आदि में उसका अन्वेषण शरीर-रचना में आत्म-दर्शन का प्रयास है। प्राचीन युगमें इन सभी दृष्टियो से भारत मे एक विशिष्ट सभ्यता का विकास हुआ था किन्तु अनिवार्य ऐतिहासिक परिवर्तनो से पिछली सहस्राब्दी मे यह सभ्यता अनेक अशो में रूपान्तरित और विपरिवर्तित हुई। सस्थाओ के स्वाभाविक विकास और ह्रास के अतिरिक्त विदेशी सभ्यताओ के भारत मे बलपूर्वक प्रवेश और अवस्थान ने विभिन्न मात्राओं मे सास्कृतिक प्रगति, सामाजिक समन्वय अथवा सहावस्थान, भौतिक सग्रथन, सास्कृतिक सकर और अन्ततः देश-हत्या को जन्म दिया। राजनीतिक पराजय और भौतिक दुरवस्था से त्रस्त होकर अनेक भारतीयो की 'आर्य धर्म मे श्रद्धा विचलित हो गई और वे भूल गए कि 'धर्मो रक्षति रक्षित.'। इस प्रकार सभ्यता के अनिवार्य युग-परिवर्तन के साथ-साथ भारत की मूल सस्कृति भी सकटापन्न हो गई है।

इस मूल संस्कृति के आधार पर नाना आर्य और द्रविड़, किरात और निषाद, यवन और

शक, पह्लव और हूण जातियो के सस्कृतियो से एक विशाल और उदार सभ्यता का जन्म हुआ था जिसमें असख्य विभेद अध्यात्म विद्या की सूक्ष्म परम्परा मे गुथे हुए थे— 'सूत्रे मणिगणा इव'* । यह सभ्यता कोरी आदर्शवादी या अव्यावहारिक नही थी । पर यह सच है कि पारमार्थिक आदर्श का यथार्थ अनुसरण अति कठिन है और प्राय: सदा ही जनता में प्रचारित और स्वीकृत धर्म परमार्थ का साधन होने के स्थान पर केवल व्यवहार-सग्रह रह जाता है । फलत प्राचीन भारतीय सभ्यता के अन्दर भी असामजस्य और विरोध अनिवार्य थे, जिन्हो ने क्रमश बढ़ कर उसे एक अन्त सघर्ष प्रदान किया । जातिवाद और वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत वैषम्य इस प्रक्रिया के उदाहरण है ।

धर्म समाज के लिए परम सत्य के रूप मे आविष्कृत हुआ था । 'सत्यस्य सत्यम्' । इसकी एक प्रगतिशील और उदार परम्परा सदा विद्यमान रही है जो उपनिषदों मे और महाभारत में, बौद्धों में और सिद्धों में, सतो मे और आधुनिक सुधारकों मे अविच्छिन्न रूप से देखी जा सकती है । यही मूल संस्कृति की जीवन्त धारा है । दूसरी ओर स्मृतियों और पुराणो ने 'आर्य धर्म' को तात्कालिक प्रथाओ-के सग्रह से निश्चित संस्थागत रूप और देशगत सीमाएँ प्रदान की जिससे वह एक प्रकार का 'राष्ट्र धर्म' बन गया । बौद्ध धर्म के तिरोभाव से तथा आक्रमणकारी 'परधर्म' के भय से, इस वैदिक-पौराणिक परम्परा मे कट्टरता बढ गई और धर्म एक ऐसी समाज-व्यवस्था मे परिणत हो गया जिसके प्रयोग का क्षेत्र एक निर्दिष्ट ऐतिहासिक समाज मात्र था । इस प्रकार अपने आध्यात्मिक और परम लक्ष्य के सहारे नाना जातीय सस्कृतियो को आकती और यथोचित रूपसे आत्मसात् करती हुई एक व्यापक और विकासशील सस्कृति के स्थान पर भारत में अशत एक सकीर्ण और कट्टरपथी सस्कृति का आविर्भाव हुआ जो कि जातीय होते हुए भी समुचित राष्ट्रीय चेतना से युक्त नही थी ।

भारतीय सस्कृति की उपर्युक्त दो धाराओ में एक प्रगतिशील एवं विश्वजनीन किन्तु अपर्याप्त रूपसे व्यावहारिक रही है, दूसरी इसके विपरीत कट्टर, सकीर्ण, किन्तु व्यवहार-समर्थ । पहली अधिकतर निवृत्ति धर्म और सामान्य धर्म की परम्परा है, दूसरी अधिकतर प्रवृत्ति धर्म और वर्णाश्रम धर्म की । धर्म व्यवहार और परमार्थ के बीच का पुल है किन्तु यही धर्म की शाश्वत कठिनाई है कि वह एक तट से संलग्न होकर दूसरे को छोड़ने लगता है । आदर्श और व्यवहार का सार्वधिक असामंजस्य आदर्श के पारमार्थिक होने पर असाध्य-सा होने लगता है । भारतीयता के मूल आदर्श को ऐतिहासिक स्तर पर पूर्णत. चरितार्थ करने का प्रश्न अभी असमाहित है । किन्तु यह भारत की असफलता न होकर समस्त मानव इतिहास की है ।

---

* तु०, म० म० गोपीनाथ कविराज, 'भारतीय संस्कृति और साधना' ।

सुपवासोयक्ष

श्री माँ देवता

कुबेर
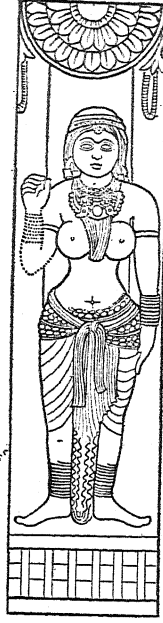
चकवाक नागराज

देवी सरस्वती ?

चुलकोका देवता

भरहुत कला की धर्म भावना

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल

भरहुत का स्तूप प्राचीन भारतीय कला का महान् तीर्थ है। वह किसी उदात्त मस्तिष्क की समृद्ध कल्पना है। स्तूप की वेदिका और तोरण अलंकरणों के चित्र धार्मिक कथाओ के कोश ही बन गए हैं। उनकी उकेरी और सज में जितने विस्तृत अर्थ का समावेश कर दिया गया उसमें प्राचीन भारतीय धार्मिक और सांस्कृतिक जीवन का सुन्दर परिपूर्ण चित्र प्राप्त होता है। भरहुत और सांची के विशाल स्तूप प्राचीन भारतीय कला के दो तेजस्वी नेत्र हैं। इन चक्षुओं की सहायता से सस्कृति की गहराइयो में जो अर्थ छिपा हुआ था, उसका देखना हमारे लिए सुलभ बन गया है।

इन दोनों स्तूपों की भौगोलिक स्थिति जैसे भारतीय महाद्वीप का कलात्मक संयोजन सूचित करती है। पश्चिम मे शूरसेन जनपद की राजधानी मथुरा से अवन्ति जनपद की राजधानी उज्जयिनी को जो मार्ग जाता था उसपर साँची स्तूप का निर्माण हुआ। पूर्व की ओर श्रावस्ती से कौशाम्बी होकर जो मार्ग चेदि-महाकोसल को जाता था उसी के महत्त्वपूर्ण भाग पर भरहुत का स्तूप बनाया गया। इस मार्ग का और भी महत्व था। नर्मदा और शोण के उद्गम के स्थान मेंकला पर्वत के पश्चिमी ढलानो से आरम्भ होकर जो मार्ग पहले उत्तर की ओर आकर फिर पूर्व की ओर शोण नदी की घाटीमें होता हुआ पाटलिपुत्र से जा मिलता था, उसका भी महत्त्वपूर्ण पडाव भरहुत मे था। यो किसी चतुर भूगोलवेत्ता और वास्तु विद्याचार्य ने भरहुत के स्तूप का स्थान निर्णय किया था।

इस स्तूप की कई विशेषताएँ हैं। भारतीय ऐतिहासिक कला का यह सबसे प्राचीन प्रयत्न है, जो इतने विशाल रूपमे किया गया। इससे पूर्व अशोक की मौर्य कला एक दूसरे धरातल पर थी। शुद्ध भारतीय लोक कला और धार्मिक कला का जैसा पूर्णरूप भरहुत के स्तूप मे विकसित हुआ, वह कला के इतिहास की दृष्टि से विशेष अध्ययन की वस्तु है। भरहुत का स्तूप मौर्यकाल के अत और शुग काल के आरम्भ—दूसरी शती ईसवी पूर्व की रचना है। साँची का स्तूप उसके कुछ काल बाद का है। इस स्तूपकी दूसरी विशेषता यह है कि इसके द्वारा हम भारतीय स्तूप, तोरण और वेदिकाओ के समन्वित विकास का दर्शन कर सकते हैं। किसी समय पूर्व युगमें मिट्टी या ईंटो के स्तूप होते थे। कालान्तर में वेदिका और तोरणों के निर्माण की प्रथा पड़ी। इस अवस्था तक पहुँचने में पर्याप्त समय लगा होगा। विकास की वे कडियाँ आज उपलब्ध नही हैं, पर स्तूप बुद्ध के समयसे ही बनने लगे थे। उन स्तूपों से भरहुत के युग तक किस प्रकार नए नए वास्तु के अंग जोड़ने से स्तूप का स्वरूप अधिकाधिक उन्नत होता गया। इस विषय की सामग्री अब लुप्त हो गई है। भरहुत स्तूप में हम विकास की एक पूर्ण अवस्था का दर्शन पाते हैं।

भरहुत स्तूप के तोरण और वेदिकाओं की अन्य विशेषता यह है कि इनके निर्माता शिल्पियो ने अपने से पूर्वकालीन काष्ठ शिल्प शैली की विशेषताओ की अधिक से अधिक मात्रा में रक्षा की। वेदिका स्तम्भो को देखकर ऐसा लगता है मानों काष्ठशिल्प ने पत्थर का चोला पहिन लिया है। अष्टास्त्र-स्तम्भो (पाली>अट्ठस खंभ) पर झूलनेवाली फूलमालाएँ ज्योंकी त्यों लकडी से पत्थर मे उतार दी गई

है। उष्णीषो की गोल मुढेरों की पेदी मे छिदी हुई चूले काष्ठ शिल्प के ही अधिक अनुकूल थी। भरहुत के शिल्पियों ने चमत्कार करके दिखाया, जिसके काष्ठशिल्प की विशेषताओ और मर्यादाओ को पत्थर मे साकार कर दिया। यहाँ की वेदिका की यह भी विशेषता है कि न केवल तोरण बल्कि प्रत्येक वेदिकास्तम्भ उत्कीर्ण किया गया था। साची के वेदिकास्तम्भ नितान्त सादा है, केवल तोरणो पर सजावट है। भरहुत के कुशल शिल्पी अलकरण के धनी थे। हृदय की पूरी उमंग से उन्होने एक-एक वेदिकास्तम्भ, सूची और उष्णीष को सौन्दर्य विधान से लाद दिया है। यह सब कला की अभूतपूर्व सामग्री बन गई है।

भरहुत के शिल्पी भारतीय लोकहृदय के अधिक सन्निकट थे। यह बात कई प्रकार से प्रकट होती है। लोकधर्म के जो देवी-देवता थे, उनका अकन जैसा भरहुत के वेदिकास्तम्भो पर पाया जाता है, भारतीय कला मे अन्यत्र कही नही मिलता। यक्ष, यक्षी और नागों की मूर्त्तियाँ जैसे लोकधर्म की जीवित परम्परा से उठकर किसी नए धार्मिक आन्दोलन मे सम्मिलित होने के लिए चली आ रही हैं। धार्मिक समन्वय का यह महत्त्वपूर्ण अध्याय था। इसका आरम्भ कब हुआ और किसने किया इस प्रश्न की छानबीन अभी नही हुई है, किन्तु पाणिनि के युगमे भागवतो का धार्मिक आन्दोलन शुरू हो चुका था, जिसका उल्लेख उन्होने वासुदेव की भक्ति करनेवाले 'वासुदेव के भक्तो' के रूप मे किया है। ऐसे ही उनके अभिन्न सखा अर्जुन के भक्त अर्जुनक भी पाणिनि के समय मे थे। वासुदेव और अर्जुन दोनो का ही धार्मिक रूपान्तर नारायण और नर की कल्पना मे पाया जाता है। नारायणीय धर्म महाभारत का महत्त्व-पूर्ण धार्मिक प्रकरण है। वह भागवतधर्म की ही समृद्ध कल्पना थी। इसी का विकास चतुर्व्यूहात्मक पचरात्र धर्म के रूप मे हुआ। भागवतो की सबसे बडी विशेषता देवताओ और धर्मों का समन्वय प्रस्तुत करना था। गीता के दसवे अध्याय मे भागवतों का दृष्टिकोण अपने पूरे रूप मे देखा जा सकता है। अर्जुन ने प्रश्न किया 'कृष्ण, अपनी उन विभूतियो का वर्णन करो, जो विभूतियाँ या देवरूप लोक में व्याप्त हैं'—

> 'वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतय ।
> याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्व व्याप्य तिष्ठसि ।।' (गीता १०।१६)

उत्तरमे कृष्ण ने उन अनेक देवताओं का उल्लेख किया है, जिनकी लोक मे मान्यता और पूजा प्रचलित थी—जैसे 'रुद्रों में मैं शकर हूँ। यक्ष राक्षसो में कुबेर हूँ। पर्वतों मे मेरु हूँ। वृक्षो मे पीपल हूँ। नदियों मे समुद्र हूँ। सेना वालों मे स्कन्द हूँ। हाथियों मे ऐरावत हूँ। अश्वों में उच्चै.श्रवा हूँ। गायों में कामधेनु हूँ। नागो मे अनन्त हूँ। सर्पो मे वासुकि हूँ। पक्षियों में गरुड हूँ। स्रोतों मे गंगा हूँ। जलचरों में मगर हूँ। मृगो मे सिंह हूँ। ये मैंने थोडे से रूप बताए और भी बहुत से है, जिनका अन्त नही है।' उस समय लोक मे वस्तुतः इन देवताओ की पूजा प्रचलित थी। सुत्तनिपात की 'निद्देस' नामक टीका में लोकधर्मो की एक अच्छी सूची पाई जाती है। उसमें इन देवताओं का व्रत या भक्ति करनेवालो के नाम हैं हस्ती, अश्व, गौ, कुक्कुर, काक, वासुदेव, बलदेव, पूर्णभद्र, मणिभद्र, अग्नि, नाग, सुपर्ण, यक्ष, असुर, गन्धर्व, महाराज, चन्द्रमा, सूर्य, इन्द्र, ब्रह्मा। 'मिलिन्दपन्ह' में भी लोक धर्मों की एक सूची है, जिसमें पर्वत, चन्द्र, सूर्य, मणिभद्र, पूर्णभद्र के नाम हैं। इस प्रकार अनेक लोकदेवताओ को अपने साथ लेकर भागवतधर्म आगे बढ़ा था। उसमे किसी का निराकरण नही किया गया।

अशोक के अभिलेखो से इस स्थिति पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पडता है। उसमें दो बातें उल्लेखनीय हैं। एक अशोक ने कहा है—'धार्मिक-पूछताछ के लिए मैं लोक के सपर्क मे आया हूँ। मैंने जानपद जन का दर्शन किया है। पहले के राजा अपनी मौज के लिए जो विहार-यात्रा किया करते थे उसे छोड़कर मैंने धर्मयात्रा की है।' जनसपर्क और धर्मयात्रा का जैसा फल होना चाहिए था वही हुआ। अशोक ने लिखा है—

'अमिसा देवा मिसा कटा' (स०>अमिश्रा. देवा मिश्रा कृता)। अशोक का यह वाक्य विद्वानों के लिए बडी उलझन का रहा है। इसका स्पष्ट अर्थ नही समझा जा सका। वस्तुतत. अशोक के कथन की जो पृष्ठभूमि थी, उसी मे इस महत्त्वपूर्ण परिवर्तन को समझा जा सकता है। 'पहले जो देवता मिल हुए नही थे, वे अब मिल गए हैं'—इस कथन का सीधा और सरल अर्थ लेना होगा। ऊपर की सूची के लोकदेवता अपने अपने भक्तो मे माने और पूजे जाते थे, औरो के लिए उनका कोई अस्तित्व और महत्व न था। मिलिन्दपन्ह मे स्पष्ट लिखा है कि ये जो व्रत या भक्तिपूजा के प्रकार हैं वे अपने-अपने भक्तो मे ही प्रचलित हैं। जो जिसमे विश्वास करता है वह उसका रहस्य दूसरे से प्रकट नही करता। अपने गण मे ही उसे छिपाकर रखता है (तेसतेस रहस्स तेसु तेसु गणेसु येव चरित अवसेसाना पिहित)। अब उस स्थिति में परिवर्तन हुआ। अशोक ने जनता से सीधा सपर्क स्थापित किया, उनसे धर्म-विषयक पूछताछ की (धम्मपलिपुछा)। उसका फल यह हुआ कि जानपदजन या लोक के जो धर्म देवता, भक्ति के प्रकार, भाव विभूतियाँ या व्रत थे (ये सब शब्द इस विषय के उल्लेखों में प्रयुक्त हुए हैं), और जो पहले एक दूसरे से अनमिल थे वे अब एक दूसरे से मिल गए।

यह मिलना दो प्रकार से या दो क्षेत्रों में या दो धरातलों पर हुआ होगा। एक भागवतों-का जो आन्दोलन था उसमें लोक देवताओं का भगवान् वासुदेव कृष्ण के साथ मेल किया गया। जैसे रत्नों की माला में एक मध्यमणि के साथ बहुत से रत्न पिरो दिए जाते हैं, ऐसे ही यह सम्मेलन हुआ। दूसरा मेल-जोल बौद्धधर्म के साथ लोकधर्म का हुआ। जैसे एक माला में बहुतसे फूल एक साथ गूंथे जाते हैं, वैसे ही यह मिलना हुआ। अशोक का सकेत इसी महत्त्वपूर्ण धार्मिक घटना से है। यह कोई ऐसा वैसा परिवर्तन न था, बल्कि उसने लोगोंके जीवन को नए उत्साह और नई उमंग से भर दिया। अपने-अपने देवताओं को मानते हुए भी बुद्ध का महान् प्रशान्त प्रफुल्लित व्यक्तित्व उनके लिए सुलभ हो गया। दोनों पक्षों का सौरभ परस्पर मिल गया। यह बुद्ध के धर्म की विजय थी, लोकधर्म की भी कम विजय न थी। अशोक का वाक्य इस महत्त्वपूर्ण धार्मिक परिवर्तन और समन्वय की ओर संकेत करने वाला अर्थगर्भित सूत्र है।

इस परिवर्तन का क्या परिणाम हुआ और उसका कैसा स्वरूप बना—यदि यह जानना चाहें भरहुत स्तूप के तोरण और वेदिका-स्तम्भों का दर्शन करें। अशोक का जो अभिप्राय है, वही यहाँ प्रत्यक्ष दिखाई पडता है। उसने जानपदजन के पास स्वयं पहुँचकर या अपने धर्ममहामात्रों को भेजकर जो धार्मिक चेतना उत्पन्न की थी, उसका सुफल भरहुत के वेदिकास्तम्भो पर अकित है। एक ओर बुद्ध का उदात्त जीवन-चरित और दूसरी ओर लोक की अपनी भक्ति पूजा दोनो एक साथ मिल गए हैं। धर्म, नीति और भक्ति के मिलने से जीवन का जो कलात्मक रूप सभव होता है, वही भरहुत में प्रत्यक्ष है।

बड़े-बड़े यक्षों के राजा और नागों के राजा, देवता और अप्सराएँ, अपने समस्त वैभव, यौवन और सौन्दर्य, अलंकरण और उल्लास की छटा बिखेरते हुए बुद्ध के स्तूप में आकर विराजमान हुए।

उनकी ज्योति से वह स्तूप जो बुद्ध के निर्वाण का प्रतीक था जगमगा उठा एव जीवन के सौन्दर्य से भर गया। जीवन की इस समृद्धि मे बौद्धधर्म का दु खवाद कही वह गया। जो अभाव और निराकरण का पथ था वह कल्याण रूप के दर्शन मे बदल गया। बुद्ध का स्तूप लोकधर्मी-देवताओ का तीर्थस्थान बन गया। यही भरहुत स्तूप का सच्चा स्वरूप है। उत्तरी तोरण के खम्भे पर कुबेर यक्ष (कुपिरो यखो) की मूर्त्ति उत्कीर्ण थी। उसके साथ अजकालक यक्ष और चन्दा यक्षिणी की मूर्त्तियाँ मिली है। कुबेर की पूजामे लोकधर्म की कितनी व्यापक मान्यता थी, उसके कितने बहुसख्यक सूत्र इस एक पूजा मे एकत्र मिले है, इसके विवेचन का यह उपयुक्त स्थान नही है। प्राचीन मान्यता के अनुसार चार लोकपाल अपने गणों के साथ चार दिशाओ की रक्षा करते है, यक्षो के स्वामी कुबेर उत्तर दिशा की, गन्धर्वो के स्वामी धृतराष्ट्र पूर्व दिशाकी, कुम्भाण्डो के स्वामी विरूढक दक्षिण दिशा की ओर नागो के स्वामी विरूपाक्ष पश्चिम दिशा की। ये सब लोक धर्म के बिखरे हुए सूत्र थे। उनके एकसाथ बट जाने से जो मेखला बनी ब्राह्मणधर्म मे उससे अन्तत महादेव का रूप अलकृत हुआ। ये सब महादेव के परिवार मे खप गए। यही लोकदेवताओं का भागवतो के मार्ग से हिन्दूधर्म मे अन्तर्भाव हो जाना था। कुछ विष्णु के परिवार मे और कुछ महादेव के परिवार मे लीन हो गए। विष्णु भागवतो की भाति जगम भागवतो का भी प्राचीन काल मे अस्तित्व था, जिसका पतजलि ने महाभाष्य मे उल्लेख किया है। भरहुत के स्तूप मे चार तोरणो पर चार लोकपालो की मूर्त्तियाँ बनाई गई। स्तूपसे ही इनका कोई विशेष सम्बन्ध न था। ये दिग्पाल देवता थे, दिशाओ की रक्षा से उनका सम्बन्ध था और इसी प्रसग मे चार तोरणो की रक्षा के लिए उनका रूप अकित किया गया। दक्षिण के तोरण पर विरूढक की काय-परिमाण मूर्त्ति उत्कीर्ण मिली है। उनके साथ गगित यक्ष और चक्रवाक नागराज की मूर्त्तियाँ पाई गई है। अजकालक यक्ष, गगित यक्ष ये लोक मे पूजित छुटभैए यक्ष थे। आदिपर्व मे स्थानीय देवता अजक का उल्लेख है, जिसकी पूजा से साल्व जनपद के राजा का जन्म हुआ (आदि पर्व ६१।१७)। सभव है यह कोई ऐसा यक्ष या देवता था जिसकी पूजा तन्तिपाल या गडरिए भेड बकरियो की रक्षा के लिए करते थे। सभापर्व की सूची मे गगिता देवी का नाम आया है। उसी का पुरुष रूप गगित यक्ष रहा होगा। पश्चिम के फाटक पर विरूपाक्ष लोकपाल की मूर्त्ति मिली है। उसी ओर के वेदिका स्तम्भो पर सूचिलोम यक्ष और सुपवासो यक्ष की प्रतिमाएँ पाई गई है। पूर्व तोरण के रक्षक लोकपाल धृतराष्ट्र थे, पर वह खम्भा मिला नही। उधर की वेदिका पर सुदर्शना यक्षी की मूर्त्ति मिली है। इस प्रकार भरहुत मे छ. यक्ष और दो यक्षियो की प्रतिमाएँ वस्तुत प्राप्त हो गई है और भी न जाने यक्षो का कितना बडा परिवार वेदिका के उन खम्भो पर था जो अब खो गए है। यक्षो के अतिरिक्त भरहुत मे तीन अत्यन्त सुन्दर स्त्री-मूर्त्तियाँ उत्कीर्ण है, जिन्हे देवता कहा गया है। अकेला देवतापद कुछ विचित्र सा है, पर सुत्त निपात की सूची मे बाईस देवताओ के नामो मे देवदेवता की गिनती है। यही स्त्रीरूप मे देवता करके पूजे जाते थे। भरहुत मे सिरिमा देवता, महाकोकादेवता, चुलकोकादेवता ये तीन मूर्त्तियाँ मिली है। सिरिमा श्रीलक्ष्मी (या लक्ष्मी) का प्राचीन नाम था। महाकोका, चुलकोका बडी और छोटी कोका नाम की देवियाँ थी। देवताओ मे भी छोटे और बडे इस प्रकार के विशेषण जोड़े जाते है। लोकधर्म मे प्राय· ऐसा होता है। काशी मे यक्ष पूजा की अवशिष्ट सामग्री का अध्ययन करते हुए इसी ढंग के दो नाम मिले। एक लहुराबीर अर्थात् छोटा यक्ष और दूसरा उसकी स्पर्धा मे बुल्लाबीर यानी बडा यक्ष (विपुल>विउल>बुल्ल = बड़ा)। पश्चिमी तोरण का देवता विरूपाक्ष नागो का अधिपति माना जाता है। अतएव भरहुत में बडे-बड़े

नागराज भी उपस्थित होकर बुद्ध की पूजा मे योग देते हैं। इनमे से नागराज एला पत्र और नागराज चक्रवाक की मूर्त्तियाँ मिली हैं, जिनपर नाम अंकित हैं। नागराज एलापत्र बोधिवृक्ष के नीचे बोधिमण्ड पर भगवान् बुद्ध की अदृश्य उपस्थिति को हाथ जोडकर श्रद्धाजलि अर्पित कर रहा है। पूर्वतोरण के रक्षक धृतराष्ट्र गधर्व और अप्सराओ के स्वामी हैं, अतएव भरहुत मे अप्सराओ का अकन भी पाया गया है। सुत्तनिपात की सूची मे गन्धर्व अप्सराओ की पूजा करनेवाले गन्धर्वव्रतिक कहे गए हैं। गीता के विभूति-योग मे गन्धर्वों की पूजा का उनके राजा चित्ररथ के रूपमे नाम आया है। चित्ररथ से या धृतराष्ट्र नाम भेद से लोकमान्यता मे कोई भेद नही पडता। भरहुत मे मिश्रकेशी, अलम्बुषा, सुभद्रा और सुदर्शना इन अप्सराओ के नृत्य और गीत का सुन्दर अकन हुआ है। जिस समय बुद्ध ने यह निश्चय किया कि वे तुषितस्वर्ग से पृथिवी पर आकर जन्म लेंगे देवताओं ने अपने हर्ष को व्यक्त करने के लिए नृत्य और गीत का आयोजन किया। इस दृश्य को भरहुत के लेखमे तीन विशेषण दिए गए हैं 'साडक सम्मदं दुर देवान'—ये तीनो पारिभाषिक शब्द हैं। कनिघम ने लिखा था कि इनका अर्थ ज्ञात नही होता। स्टेनकोनो ने प्रथम शब्द 'साडक' की पहचान सट्टक से की है, जो यथार्थ है। सट्टक एक प्रकार का शुद्ध लोकनाटच था, जिसमे बोलचाल की भाषा के माध्यम से नृत्य और गीत की प्रधानता होती थी। दूसरा शब्द सम्मद है, जिसकी व्याख्या पाणिनि ने अपने एक सूत्रमे की है 'प्रमद सम्मदौ हर्षे' (३।३।६८), अर्थात् सम्मद हर्ष प्रधान उत्सव को कहते थे। तूर्यका अर्थ वृदवाद्य है, अर्थात् कई बाजो को एक साथ बजा कर लयात्मक सगीत उत्पन्न करना। भरहुत के इस दृश्य में कुछ गानेवाले हैं, चार स्त्रियाँ नृत्य कर रही हैं, वृंद वाद्य या तूर्य मे वीणावादिनी, पाणि-वादन या ताल देनेवाली, मड्डुक या हुडक बजानेवाली और मृदंग बजानेवाली मार्दंगि की स्त्रियाँ अंकित की गई हैं। नृत्य करती हुई चारो स्त्रियों के नाम दृश्यमें उत्कीर्ण हैं—सुभगा अछरा, सुदसना अछरा, मिसकेसि अछरा, अलंबुसा अछरा। अतएव यह माना जा सकता है कि इस दृश्य में देवताओ की ओर से उस अवसर पर जो तूर्य के साथ सट्टक का आयोजन किया गया था उसी का अंकन है।

भरहुत के स्तूप मे जिन दृश्यो की कल्पना है, उनमें मानो उस समय का सारा संसार ही आ गया है। लोकदेवताओ के अतरिक्त जीवन के और जितने भी पक्ष थे उन सबका कला में स्वागत किया गया है। मानव, पशु, पक्षी, वृक्ष, वनस्पति, राजा, प्रजा, तपस्वी, भिक्षु, आचार्य, शिष्य—इन सबका अंकन भरहुत शिल्प में यथास्थान हुआ है जिससे उस समय के समाज का परिपूर्ण चित्र हमारे सामने आ जाता है। सम्राट् और राजा इस उत्सवपूर्ण वातावरण में प्रजाओ के धरातल पर आकर उत्साह और उमंग से भाग लेते हैं। एक दृश्य में कोसल के राजा प्रसेनजित् और दूसरे में मगध के राजा अजातशत्रु अंकित हैं। वे राजपरिवार के साथ आकर बुद्ध के प्रति अपनी भक्ति भावना प्रकट करने के लिए बोधिमंड के सामने सिर झुकाकर प्रणाम करते हैं। दृश्य का नाम है—'अजातशत्रु भगवतो वंदते।' दूसरे दृश्य में कोसल के राजा प्रसेनजित् की उस पुण्यशाला का अकन है, जो उन्होंने भगवान् बुद्धके समादर के लिए श्रावस्ती में बनवाई थी। इसी पुण्यशाला के एक भाग में बुद्ध का धर्मचक्र स्थापित है जिस पर लिखा है—'भगवतो धमचकम्।' धर्मचक्र प्रतीकरूप मे बुद्ध की विद्यमानता सूचित करता है। राजा रथ पर चढकर आते हैं और धर्मचक्र को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं। उस समय के जो धार्मिक भवनो का स्वरूप था उन्ही का अकन पुण्यशाला एवं बोधिघर के रूप में हुआ था।

बोधिघर बोधि या पीपल के वृक्ष का मन्दिर था। यह प्राचीन रुक्ख पूजा या वृक्ष पूजा की परंपरा थी, जिसकी लोक में मान्यता थी। बुद्ध से भी पहले पीपल का वृक्ष पवित्र माना जाता था।

अथर्ववेद मे अश्वत्थ को देवसदन या देवो का निवास स्थान कहा गया है। पीपल के एक-एक पत्ते पर देवता बसते हैं। ऐसा लोक विश्वास अभी तक है। बुद्ध धर्म के साथ मिलकर उस पुरानी पीपल पूजामे नया अर्थ भर गया। अब वह नए प्रसंग में पुरानी वृक्ष पूजा न रह कर बुद्ध के बोधि-वृक्ष की पूजा मानी जाने लगी। धार्मिक भावना वही थी, केवल उसकी एक नयी व्याख्या हो गई।

प्राचीन भारतीय लोकधर्म का क्षेत्र बहुत विस्तृत था। पूजा के उत्सव को मह कहते थे। लोग नृत्य गीतके साथ जिस देवता की पूजा करते वह उसी का मह कहलाता था। एक पुरानी सूची मे इनके नाम इस प्रकार हैं—इन्द्रमह, स्कन्दमह, रुद्रमह, मुकुन्दमह, वैश्रवणमह, नागमह, यक्षमह, भूतमह, स्तूपमह, चैत्यमह, वृक्षमह, गिरिमह, दरीमह, अगडमह, नदीमह, सरमह, सागरमह, (रायप्सेणीयसुत्त, कडिका १४८)। कुछ दूसरी सूचियो मे और भी नाम हैं जैसे—उद्यानमह, तडागमह, धनुर्मह, काममह, चन्द्रमह, ब्रह्ममह। महका तात्पर्य देवता के स्थान मे विशेष अवसर पर आयोजित मेले से था। इस प्रकार के मेले को प्राचीन शब्दावली मे यात्रा कहते थे। उसी से प्राकृत मे जत्त और आजकल का जात शब्द बना है। वृक्षों की पूजा के लिए भी उसी प्रकार की यात्राएँ या मह या मेले होते थे जैसे कि अन्य लोकधर्मी देवताओ के लिए। इन मेलो की उत्सव भावना समान थी। बौद्धधर्म के बोधिवृक्ष के पूजन या लोकधर्म के अतर्गत पीपल पूजने के मेले, दोनो मे आनन्द उल्लास और भक्ति-भावना मे कोई अन्तर नही आया। बौद्ध धर्म के अष्टागिक मार्ग के निर्वाण प्रधान आदर्श मे इन लोक-धर्मीय पूजाओ के लिए स्थान था और न मेलो के लिए। किन्तु अशोक के समय तक जो धार्मिक क्रान्ति हो चुकी थी, उसमे लोकधर्म और बौद्ध धर्म के बीच की खाई पाटी जा चुकी थी। उस दीवार के हट जाने से लोकधर्म की बहिया ने बौद्ध धर्म को छा लिया। इसका जो सामाजिक स्वरूप सम्भव था, वही भरहुत शिल्प की मूल प्रेरणा है। यहाँ जीवन के दुख-सुख की ऊहापोह नही है और न तर्कप्रधान बुद्धि का मार्ग है। यहाँ हृदय की सरल भावना है, सीधे सादे लोगो का सरल विश्वास है, जो तर्क नही करते, श्रद्धा करते हैं। उस श्रद्धा के मूल मे उनके जीवन की प्रेरणा थी। न केवल वे स्वय बल्कि उनके स्त्रीपुत्रादि परिवार सभी के लिए इस प्रकार की पूजा और विश्वास जीवन का तथ्य था। लोकधर्म का यही स्वरूप होता है और सदा से रहा है। आज भी जो मेले लगते हैं, देवताओ के लिए जो यात्राएँ होती हैं, उनमे भरहुत कला की वही भावना देखी जाती है।

भरहुत का स्तूप शिल्प कला की दृष्टि से अत्यन्त भव्य है। उसके निर्माणकर्त्ताओ ने कला के क्षेत्रमें निःसदेह बहुत बड़ा साका किया। भरहुत की शिल्प सामग्री का, उसके तोरण और वेदिका स्तभो-का कलात्मक अध्ययन पृथक् वस्तु है। यहाँ भरहुत स्तूप की धार्मिक भावना और मूल प्रेरणा की ओर ही ध्यान दिलाया गया है, जो भारतीय जीवन की परम्परा से सगत है और उसकी तथ्यात्मक व्याख्या करता है। जो स्तूप के निर्माता थे, उनकी दृष्टि मे भरहुत का कलात्मक रूप गौण था, उससे कही अधिक शक्तिशाली वह धार्मिक प्रेरणा थी, जिसने ऐसे स्तूप को जन्म दिया। स्तूप निर्माताओ के लिए शिल्प रचना के आदर्श का पृथक् अस्तित्व न था। उन्हे उस समाज को अकित करना था जिसमें धर्म की ये नई उमगपूर्ण भावनाएँ और हर्षित प्रेरणा ओतप्रोत थी। भरहुत स्तूप शिल्प की भाषा-मे लिखा हुआ उनके जीवन का जो महाकाव्य बना, वह आज भी है।

भारतीय इतिहास में कालिदास और विक्रमादित्य

डॉ० राजबली पाण्डेय

इतिहास में महापुरुषों का संयोग

इतिहास मे यह बहुधा देखा गया है कि महत्त्वपूर्ण युगों का सम्बन्ध एक से अधिक ऐसे प्रभावशाली व्यक्तियो के साथ रहता है जिनके जीवन के विभिन्न क्षेत्रो की उपलब्धियाँ विशेष उल्लेखनीय होती हैं। भारतीय परम्परा ऐसे ही सन्दर्भ मे कालिदास और विक्रमादित्य को, जिनमे एक विचार-सम्पन्न थे और दूसरे कर्मसम्पन्न, भारतीय इतिहास की एक ऐसी सक्रामक स्थिति, ईसा पूर्व प्रथम शती मे ला रखती है जब कि एक महान् युग भीषण सकट की पृष्ठभूमि में प्रारम्भ हो रहा था। कालिदास और विक्रमादित्य का संयोग इतिहास मे कोई अनूठी बात नही है। वह एक ऐसे प्रतिष्ठित युगल-सयोगो की उस परम्परा मे से एक है जिन्होने भारतीय इतिहास को अपनी उपस्थिति से गौरवान्वित किया है। उदाहरण के लिए, वैदिक साहित्य जो कि भारतीय सस्कृति और साहित्य का श्रोत है, उसके द्रष्टा वैदिक युग के उन महान् शासको से सम्बन्धित हैं, जिन मे मनु, मान्धाता, ययाति इत्यादि आते हैं, जो स्वय भी कई वैदिक ऋचाओं के रचयिता हैं। यह भारतीय इतिहास के प्रथम युग मे हुआ जो 'सत्ययुग' या 'कृतयुग' के नाम से जाना जाता है। इसके बाद त्रेतायुग मे सस्कृत के आदि कवि वाल्मीकि और पृथ्वी पर ईश्वर-के सब अवतारों मे श्रेष्ठ राम दोनो ही विख्यात हुए। इसके पश्चात् द्वापर में सर्वतोमुखी-प्रतिभा-सम्पन्न व्यास, जिन्होने वेदो को वर्गीकृत और सम्पादित किया और महाभारत और पुराणो की रचना की। वे भी महाभारत के प्रमुख पात्र कौरव और पाण्डव से ही नही वरन् कृष्ण से भी सबद्ध थे जो उस द्वन्द्व और उलझनमय युग मे जो किसी तरह अपनी जटिल समस्याओ का निदान प्राप्त करना चाहता था, उसके निर्देशक आत्मा थे।[1]

भारतीय इतिहास में संक्रान्ति

ईसा के पूर्व की प्रथम शती वैसे किसी युग का अन्त नही थी किन्तु फिर भी भारतीय इतिहास का वह बडा ही कठिन समय था। परम्परा विरोधी मौर्य-साम्राज्य का विशाल ढाचा ढह गया था, जिसके फलस्वरूप एक राजनैतिक विघटन प्रारम्भ हो गया था। वह धर्म-निष्ठाहीन इस अर्थ में था कि वह परम्परागत सघ-साम्राज्य से च्युत हो गया था और उसके स्थान पर उसने एकात्मक शासन-का स्वरूप, केन्द्रीकरण और निर्दयता से अन्य राज्यो को अपने राज्य में मिलाने की नीति को ग्रहण कर लिया था। बौद्ध और जैन धर्म ने देश की धार्मिक और दार्शनिक परम्पराओ को हिला दिया था और यद्यपि ये धर्म इस युग में क्षीणप्राय थे किन्तु फिर भी इनका वैदिक प्रतिक्रान्ति के साथ, जो शुगो के द्वारा पोषित हो रही थी और जो कि भारतीय सामाजिक जीवन का पुर्ननिमाण और पुनर्गठन करना चाहती थी, कोई सुखद सामजस्य नही था। साहित्य मे विविध-धर्म सुधारको ने अपने कठोर अनुशासनबद्ध

---

[1] वल्मीक प्रभवेन रामनृपतिर्व्यासेन धर्मात्मजः।
व्याख्यातः किल कालिदास कविना श्रीविक्रमार्कोनृपः॥ सुभाषित

और नैतिक व्यवहार से भारतीय साहित्य के शिल्प और उसकी शैली तथा कथ्य को परिवर्तित कर दिया था। पालि और प्राकृत के प्रारम्भिक आन्दोलनो ने इसमे सन्देह नही कि भाषा के इस माध्यम को लोकप्रिय बनाया किन्तु इसके साथ ही प्राकृत मे साहित्य का वैभव और उसकी अभिव्यजना छिन्न-भिन्न हो गई, विशुद्ध साहित्य एक बडी सीमा तक अकिचित और उपेक्षित हुआ। सबसे कठिन परिस्थिति उस समय उत्पन्न हुई जब भारत पर शको का प्रथम आक्रमण हुआ जो अपने विस्तार और परिणाम मे उन सभी आक्रमणो से, जो इसके पहिले पारसीको, यवनो, बारिव्त्रयो और पह्लवो के हुए थे, कही अधिक भयकर था। शको ने पह्लवो को वैसे ही सकट मे डाल रखा था और वे पूरे पूर्वीय यूरोप पर धावा बोल रहे थे। बोलन दर्रे के मार्ग से ये लोग अपनी दक्षिण-पूर्व की विस्तार नीति के आधार पर टिड्डी-दल की भाति भारत की पश्चिमी सीमा पर मँडरा रहे थे। ज्वालामुखी की लावा की तरह फैलती हुई इस जाति ने भारत की जितनी अधिक भूमि अपने अधिकार मे कर ली थी उतनी किसी विदेशी आक्रमण के फलस्वरूप पहले नही हुई थी। इसने भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रान्तो के लिए ही खतरा उत्पन्न नही किया, जिनको लेकर इसके पूर्व के आक्रमणकारी सन्तुष्ट हो गए थे, किन्तु इससे मध्य भारत और पूरे पश्चिमी भारत को सकट उत्पन्न हो गया था। इसका उद्देश्य सम्पूर्ण भारत प्रायद्वीप को अपने अधिकार मे करने का था। प्राय. बहुत से भारत के इतिहासकार इस सकट को इतिहास मे या बहुत घटाकर दिखाते है या इसकी बिलकुल ही उपेक्षा कर देते है या वे इससे अनभिज्ञ है अथवा वे भारतीय परम्पराओ के प्रति जो विश्व-इतिहास मे शको के आतक से सम्बन्धित है, उपेक्षा का रुख अपनाए हुए है। सबद्ध तथ्यो का उचित सश्लेषण अवश्य ही इस युग के इस उल्लेखनीय सत्य को स्थापित कर सकेगा। इस तरह की सकटकालीन स्थिति किसी भी राष्ट्र के अस्तित्व, सतर्कता, पौरुष, पुर्नस्थापन और सृजनात्मक शक्ति के लिए चुनौती होती है। वह उसकी सारी लुप्त और प्रकट भौतिक और आध्यात्मिक शक्तियो को उभार कर ऊपर ले आ देती है। वैसे किसी प्रतिभा के लिए आवश्यक नही कि वह किसी विशेष ऐतिहासिक या भौतिक परिस्थितियो मे बधकर ही आये, पर परिस्थितियो के ज्वालामुखी की लावा से उर्वर भूमि महान् विभूतियो के पल्लवित होने के लिए विशेष सार्थक सिद्ध होती है। वे युग की चुनौती को स्वीकार करते है और परिस्थितियो को सुचारु रूप से सचालित करते हुए इतिहास पर छा जाते है। भारतीय इतिहास के इसी सन्दर्भ मे कालिदास और विक्रमादित्य भारतीय दृश्य-पटल पर इस गम्भीर घड़ी मे प्रकट होते है।

परित्राता और स्रष्टा

भारतीय इतिहास की इन दो विभूतियो, कालिदास और विक्रमादित्य, को परित्राता और स्रष्टा होने का गौरव प्राप्त है। ये एक ओर आन्तरिक पतन और अधोगति तथा दूसरी ओर से विदेशी सकट के बीच परित्राता बनकर आए। उन्होने सास्कृतिक और राजनैतिक भीषण विनाश को दूर कर परिस्थिति को वश मे किया। सुधारवादियो के शुद्धिवाद का साहित्य के शिल्प और कथ्य पर अनिष्टकारी प्रभाव पडा था। यहाँ तक कि रामायण और महाभारत जैसी महान् रचनाएँ भी इस शुद्धतावादी प्रभाव से अछूती न रही। कालिदास के प्रार्दुभाव ने साहित्यिक सृष्टि मे शिल्प, कथ्य और शैली-के क्षेत्र मे एक नये युग का श्रीगणेश किया। साहित्य, मे नव स्फूर्ति आ गई। भाषा मे प्राजलता, लालित्य और अभिव्यजना का प्रादुर्भाव हुआ। कालिदास की रचनाओ मे जो जीवन का वर्णन हुआ है वह पूर्ण और सर्वांगीण है। जैसा कि पहले कहा गया है कालिदास केवल साहित्य के ही परित्राता नही थे वे राजनैतिक और सामाजिक जीवन के भी स्रष्टा थे। उन्होंने विदेशी आक्रमण के विरुद्ध केवल जागृति

ही नही फैलायी किन्तु लोगो के हृदय मे उन्होंने स्वाधीनता, प्रतिकार और पुनर्स्थापन की भावनामयी स्फूर्ति उत्पन्न की। उनके नाटक 'मालविकाग्निमित्र' मे विदेशी बाख्त्री यवन पुष्यमित्र शुग के द्वारा पराजित होते हैं और वे सिन्धु तट के उस पार खदेड दिए जाते हैं। विक्रमोर्वशी में चित्रित पुरूरवा-का विक्रम तत्कालीन सैन्य शक्तिके लिए साहित्यिक प्रेरणा है। कुमारसभव मे देवो और असुरो के बीच युद्ध और कुमार कार्तिकेय का जन्म एक ऐसे मनोवैज्ञानिक प्रतीक की कल्पना है जिससे देशके भयकर से भयकर शत्रु को पूर्ण रूप से समाप्त करने की ओर सकेत मिलता है। रघुवश मे रघु की पारसीको और हूणो को हराकर विश्वविजय, आक्रमणकारियो के विरुद्ध देश के तैयार करने का प्रयत्न है। सामाजिक मान्यताओ के क्षेत्र मे कालिदास साहित्य मे मानवी मूल्यो के सरक्षक थे। धर्म (जीवन को नियमित करनेके सिद्धान्त), अर्थ (जीवन के भौतिक साधन) काम (उचित इच्छाओं की पूर्ति), और मोक्ष (सभी सासारिक बन्धनो से मुक्ति) तथा वर्णाश्रम धर्म का पालन उनके साहित्य के विषय हैं।[२] ये मूल्य और सामाजिक पद्धतियाँ जहाँ एक ओर जैन और बौद्ध मतवादों से विछिन्न हुई थी, वहाँ वे दूसरी ओर यवनो और शको द्वारा भी नष्ट-भ्रष्ट की गई थी। पर जैसे कि पहले कहा गया है कालिदास केवल परित्राता ही नही थे वे एक बहुमुखी प्रतिभासम्पन्न स्रष्टा भी थे। उनकी भूमिका केवल एक प्राचीनता की ओर अपनी रक्षा के लिए लौट जानेवाले प्राचीनता-सेवी की भूमिका नही थी। देश की परम्परा के अनुकूल उन्होने जीवन को एक नवीन गति और स्फूर्ति प्रदान की। जहाँ कही भी परिस्थितिवश उन्हे अपने कलात्मक विकास के लिए नवीनता की आवश्यकता हुई उन्होने परपरा और नीति को छोडने मे कोई हिचक नही दिखाई।[३]

विक्रमादित्य कर्मशील, व्यावहारिक और राजनीति के क्षेत्र में कालिदास के प्रतिरूप हैं। वे भारतीय इतिहास मे उस समय पदार्पण करते हैं जब पश्चिमी भारत और मध्यभारत शको द्वारा विजित और पददलित हो चुका था। लोग बड़ी ही कठिन परिस्थिति मे थे। पूरा देश एक भयावह विपत्ति के द्वार पर खडा हुआ था। प्रभावाकचरित के अनुसार विक्रमादित्य ने एक परित्राता का कार्य किया। 'थोडे ही समय मे शक-वश को उखाड कर राजा विक्रमादित्य एक सार्वभौम सम्राट् की तरह सामने आए। स्वर्णपुरुष के उदय से उन्होने जीवन की सभी महान् उपलब्धियाँ प्राप्त की। देश को अव्यवस्था से मुक्त कर उन्होने अपना एक नया युग प्रारम्भ किया।'[४] इस युगका प्रारम्भिक सृजन सद्गुणो की शक्तियो के उदय का प्रतीक है। यह काल कृतयुग (सत्ययुग, सत्य और आनन्द का समय) उचित ही कहा गया है। राष्ट्र विफलता और हीनत्व की भावना से मुक्त हो, अपनी सुप्तावस्था को छोडकर, नव स्फूर्ति और नव सृजन-शक्ति लेकर उठ खड़ा हुआ।[५]

---

२ सम्पूर्ण रघुवंश एक सुव्यवस्थित और सोद्देश्य जीवन का प्रतीक है।

३ पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेय बुद्धिः॥ (मालविकाग्निमित्र)

४ शकानां वंशमुच्छेद्य कालेन कियताऽपि हि।
राजा श्रीविक्रमादित्यः सार्वभौमोपमोऽभवत्॥
स चोन्नतमहासिद्धिः सौवर्णपुरुषोदयात्।
मेदिनीमनृणां कृत्वाऽचीकरद् वत्सरं निजम्॥ (प्रभावकचरित, ४.६०–६१.)

५ कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरन्॥ (ऐत०ब्रा०–७.१५)

मानवीय प्रयत्नो ने इतिहास के प्रवाह और प्रगतिगामीपन की धारणाओ को झुठला दिया और यह सिद्ध कर दिया कि मानव किस तरह विपरीत परिस्थितियो मे भी नयी आशा और नये सफल जीवन की स्थापना कर सकता है। इस युग का प्रारम्भ सयोग से मालव गणतन्त्र की स्थापना के साथ हुआ।[१] इसके पश्चात् विक्रमादित्य के प्रयत्नो से देश मे सघात्मक राज्यप्रणाली की नीव पड़ी जो अपने राजस्यशासन, न्यायपद्धति और सामाजिक अनुशासन के लिए विख्यात है और जिसके कारण देश मे शान्ति और सुख का साम्राज्य फैल गया।

युगमान और नवयुग

ईसा पूर्व की प्रथम शती इस अर्थ मे महत्वपूर्ण है कि उसने भारत मे एक नये युग का सूत्रपात किया। वह केवल एक काल की नई तिथि के श्रीगणेश के रूपमे ही महत्त्वपूर्ण नही है अपितु वह इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि उसका सम्बन्ध उस युग के सूत्रपात से है जिस युग मे राष्ट्रीय महत्त्व की बड़ी-बड़ी घटनाएँ घटी। इस काल की कुछ उपलब्धियाँ इस प्रकार है—

१. शको की पराजय और एक बडे राजनीतिक सकटका निवारण।
२. मालवगण की स्थापना और गणराज्य की परम्परा का पुनरुत्थान।
३. भारत की राजनीतिक सुरक्षा अगले एक सौ पैंतीस वर्ष (ईसा पूर्व ५७ वर्ष से ईसा पश्चात् ७८ वर्ष तक) के लिए।
४. बाह्य आक्रमण के विरुद्ध विक्रमादित्य के नेतृत्व मे सगठित स्वाधीनता-युद्ध-राष्ट्रीय स्वाधीनता-का चिरकालीन प्रतीक।
५. साहित्य परम्परा मे महाकाव्य और नाटक की नयी परम्परा का श्रीगणेश जो प्राचीन सस्कृत काव्य और महाकाव्य से भिन्न और नवीन थी।
६ जनसाधारण के लिए लोकप्रिय साहित्य का जन्म जो धार्मिक, शास्त्रीय और नैतिक साहित्य से भिन्न था।

ऐतिहासिकों द्वारा भारतीय परम्पराओं का खण्डन

किसी भी भारतीय परम्परा को इतनी निर्दयता के साथ मिटाने का प्रयत्न नही किया गया जितना कि ईसा के प्रथम शती पूर्व के कालिदास और विक्रादित्य की ऐतिहासिकता को। यूरोप के महान् प्राच्य विशेषज्ञो ने ईसा के पूर्व प्रथम शती मे विक्रमादित्य के अस्तित्व को नही माना है और कालिदास को खीचकर गुप्तकाल अर्थात् ४थी और ६वी शती तक घसीटा है। कुछ भारतीय इतिहासकार यूरोपीय विशेषज्ञो से भी आगे है। वे कालिदास और विक्रमादित्य के अस्तित्व को ईसा से पूर्व प्रथम शती मे नही मानते है। वे एक बडी ही करुण चेष्टा करते है। इस भारतीय परम्परा को खण्डित करने की। डॉ० डी० आर० भण्डारकर इन इतिहासकारो के नेता थे। पाठयपुस्तको के रचयिताओ के पास न सामग्री है और न साहस कि वे इस नवीन मिथ्यावादका प्रतिवाद कर सके। वे दूसरो के प्रचारित मतो का ही अनुगमन करते है। इस सन्दर्भ मे संस्कृत साहित्य के नवीतम इतिहास ग्रन्थ मे डॉ० एस० एन० दासगुप्त और डॉ० एस० के० डे ने लिखा है 'इतना कहना पर्याप्त है कि ६३४ ई० के ऐहोले शिलालेखो मे कालिदास का महान् कवि के रूप में उल्लेख है, वे सम्भवत: अश्वघोष के ग्रन्थो को जानते हैं और वे काव्यशैली में अधिक संस्कार सम्पन्न है। इसलिए उनका काल

[१] **श्रीमालवगणाम्ना ते प्रशस्ते कृतसंज्ञिते। (मन्दसोर अभिलेख)।**

निर्धारण मोटे रूप से दूसरी से छठवी शती के बीच मे कर लिया जाता है। कालिदास के ग्रन्थो से ज्ञात होता है कि वे एक सुसस्कृत और नागर सस्कारो के व्यक्ति थे, जिनके पास पर्याप्त समय था और जो विक्रमादित्य की उदारता की छाया मे सुखपूर्वक जीवन-यापन करते थे। इसलिए अस्वाभाविक नही कि उनका सम्बन्ध द्वितीय चन्द्रगुप्त (३८० ई० पू० से ४१३ ई० तक) से रहा हो जिनकी पदवी 'विक्रमादित्य' थी और जिनका युग सम्पन्नता और शक्तिमत्ता का युग था।"[७]

कालिदास के काल-निर्धारण मे सबसे बडी कठिनाई तथाकथित वस्तुवादी (पॉजिटिविस्ट) इतिहासकारो का भारतीय परम्परा के प्रति दृष्टिकोण है। परम्परा के महत्त्व के लिए ओल्डेनबर्ग की इस उक्ति को उद्धृत करना समीचीन होगा—'अनेक विस्तृत शोधो मे एक बड़ी भूल यह हुई है कि प्राचीन स्पष्ट परम्परा का उन्होंने स्पर्श मात्र किया है जबकि उन परम्पराओं को सामने रखकर विषय का विधिवत् विवेचन करके यह देखना था कि क्या हम कोई बात उसके विरोध मे रख सकते हैं।'[८]

वास्तव मे इतिहास के प्रति अन्याय है कि काल-मान्य परम्पराओ को उनके विरुद्ध निश्चित तथ्यो के विना अस्वीकृत कर दिया जाता है। भारतीय साहित्य की कोई परम्परा कालिदास को गुप्त-काल मे नही मानती और न उनका किसी गुप्त शासक से सम्बन्ध स्वीकार करती है। द्वितीय चन्द्र-गुप्त (विक्रमादित्य) को इतना उच्च स्थान आधुनिक इतिहासकारो ने ही दिया है। उनकी परम्परा-च्युत राजनैतिक और सैनिक नीति तथा राज्यो की निर्मम विजय के कारण उन्हे कभी भी भारतीय परम्परा मे उच्च स्थान नही दिया गया। पुराणो मे केवल प्रथम चन्द्रगुप्त का उल्लेख है। एक राष्ट्रकूट शिलालेख मे अकित यह मत चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के यशके लिए बहुत घातक है:

'उस दीन और नीच मनुष्य ने अपने भाई रामगुप्त की हत्या करके उसके राज्य तथा रानी को हड़प लिया। गुप्तवश का यह रत्न लाख का दान देकर करोड़ देने का ढोंग करता था।'[९] चन्द्र-गुप्त की एक पदवी 'साहसाक' भी थी। दूसरे राष्ट्रकूट शिलालेख मे उसके सम्बन्ध मे लिखा है:

'राष्ट्रकूट राज अमोघवर्ष साहसाक की तरह समर्थ होकर भी अपयश का भागी नही था। उसने कभी अपने अग्रज के प्रति क्रूरता नही बरती। अपने भाई की पत्नी को छीन कर उसने कभी अपकीर्ति नही पाई। उसने कभी पिशाच की तरह पवित्रता और सदाचरण का त्याग नही किया और कभी निर्मम होकर क्रूर व्यवहार नही किया।'[१०]

गुप्तकाल के अभिलेख जो उस काल के राज्यमान महत्त्वपूर्ण कवि हरिषेण और वत्सभट्टि का उल्लेख करते है, कालिदास का तनिक भी सकेत नही करते। कालिदास का सम्बन्ध विशेष रूप से

---

[७] संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १२४।

[८] इंडियन ऐण्टिक्वेरी, जिल्द १०, पृष्ठ २१७।

[९] हत्वा भ्रातरमेव राज्यमहरद्देवींश्च दीनस्तथा।
लक्षं कोटिमलेखयत् किल कलौ दाता स गुप्तान्वयः॥ एपि० इंडि०, जिल्द २८, पृ० २४८।

[१०] सामर्थ्यसतिऽनिन्दित्स प्रविहिता नैवाग्रजे क्रूरता।
बन्धुस्त्रीगमनादिभिः कुचरितैरावर्जितं नायशः॥
शौचाचारपराङ्मुखं न च भिया पैशाचमङ्गीकृतम्।
त्यागेनासम साहसश्च भुवने यः साहसाङ्कोऽभवत्॥ —एपि० इंडि०, जिल्द ७, पृष्ठ ३६।

उज्जयिनी से है। उज्जयिनी में गुप्त सम्राटो का कोई भी अभिलेख प्राप्त नही हुआ। उनका घनिष्ठ सम्बन्ध विदिशा और दशपुर से था, परन्तु उज्जयिनी से नही। गुप्तकाल के सम्पूर्ण आलेखो मे कही भी ऐसा सकेत नही है जिससे कालिदास का सम्बन्ध किसी भी गुप्तशासक से सिद्ध हो। गुप्तशासको का विक्रम-सवत् से भी कोई सम्बन्ध नही है। उनका अपना सवत् था 'गुप्तकाल' जो उनके साम्राज्य के पतन के बाद समाप्त हो गया। विक्रम-सवत् एक राष्ट्रीय प्रतीक के रूप मे बाद मे भी चलता रहा।

परम्परा की पुनर्स्थापना

कालिदास-सम्बन्धी परम्परा को बिना तर्कसम्मत और पर्याप्त आधार के आधुनिक इतिहासकारो और उत्साही अध्येताओ ने विकृत कर दिया। यदि कालिदास सम्बन्धी परम्परागत मान्यताओ का उनके मौलिक रूप मे अध्ययन किया जाय और उन्हे तत्कालीन साहित्यिक और पुरातत्त्वीय प्रमाणो से सम्बद्ध करके देखा जाय, ज्ञात होगा कि इनका दृढ आधार है। तब कालिदास और विक्रम दोनो-का काल प्रथम शती ईसापूर्व सिद्ध होगा। यही परम्परागत विश्वास भी है। ब्राह्मण तथा जैन कथा-साहित्यो तथा प्रबन्धो का सहानुभूतिपूर्वक अध्ययन आवश्यक है। इनसे प्राप्त घटनाओ, चरित्रो और कालक्रम को अस्वीकार नही किया जा सकता। इन्हे ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य मे ग्रहण करना चाहिए। इनके समर्थन के लिए निकटस्थ तत्कालीन पुरातत्त्वीय सामग्री तथा इतिहास की गवेषणा करनी चाहिए।

अन्तरग प्रमाणो के अनुसार भी कालिदास का काल प्रथम शती ईसापूर्व ही बैठता है। कालिदास-के नाटको मे से केवल मालाविकाग्निमित्र मे ही स्पष्ट ऐतिहासिक कथा है, जिसके चरित्र है पुष्यमित्र, शुग, उसका पुत्र अग्निमित्र, मालव राजकुमारी मालविका और अग्निमित्र का पुत्र वसुमित्र। पुष्यमित्र का सर्वमान्य काल १८५ ईसा पूर्व है। कालिदास के युग में इन व्यक्तियो और उनसे सम्बद्ध घटनाओ की स्मृति ताजी थी। इसलिए कालिदास इन घटनाओ के बहुत काल बाद नही हो सकते।

वे विदिशा, विदर्भ और मालवा से विशेष रूप से सम्बद्ध है। विक्रमादित्य की परम्परागत राज-धानी होने के अतिरिक्त भी उज्जयिनी पर कालिदास ने विशेष ध्यान दिया है। वे मेघ से मार्ग बदलकर उज्जयिनी जाने के लिए कहते है, जिससे वह महाकाल की पूजा मे भाग लेकर जीवन का उद्देश्य प्राप्त करे।[११] तत्कालीन सब प्रमाण कालिदास का काल प्रथम शती ईसा पूर्व मानते है और विक्रमादित्य से सम्बन्ध जोडते है।

हमारे देश की साहित्यिक परम्परा कालिदास को सस्कृत साहित्य मे एक विशिष्ट गौरव पर अधिष्ठित करती है। वे सर्वश्रेष्ठ कवि और नाटककार माने जाते है। प्राचीनकाल मे जब कवियो की गणना होने लगी कालिदास कनिष्ठिका अगुली से गिने गए। गणना सबसे छोटी अगुली से आरम्भ-की जाती है अर्थात् कालिदास प्रथम गिने गए। दूसरी अगुली का नाम अनामिका अब तक सार्थक हो रहा है, क्योकि अभी तक कालिदास की बराबरी का दूसरा कवि नही मिला।[१२]

सस्कृत साहित्य मे अनेक प्रस्थान पाये जाते है। प्रथम वैदिक साहित्य है जो भारतीय जीवन और साहित्य का अक्षय स्रोत है। भारतीय साहित्यिक प्रतिभा की वैदिक साहित्य मे प्रथम उद्भावना

---

[११] वक्रः पन्था यदपि भवतः प्रस्थितस्योत्तराशाम्।—मेघदूत, १.२७।

[१२] पुरा कवीनां गणनाप्रसंगे कनिष्ठिकाधिष्ठितकालिदासः।
अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावाद् अनामिका सार्थवती बभूव ॥

हुई। दूसरा युग रामायण-महाभारत का है। इन महाकाव्यो ने साहित्य-सृजन का आदर्श रूप प्रस्तुत किया और असख्य, अक्षय तथा प्रचुर सामग्री भविष्य के लिए प्रदान की। महाभारतकार का दावा है कि जो यहाँ है वह अन्यत्र भी प्राप्य है, पर जो यहाँ नहीं है, वह अन्यत्र प्राप्य नही है।[१३] तृतीय युगमान कालिदास ने स्थापित किया जिन्होने ललित काव्य की शैली को पूर्णता प्रदान की। उन्होने वैदिक सस्कृत का सस्कार करके उसे कोमल काव्य की अभिव्यक्ति के योग्य बनाया, उसकी शब्द-शक्ति को सम्पन्न किया, काव्य की मान्यताएँ निर्मित की और नवीन काव्य-सौन्दर्य का विकास किया जिसकी समता आज भी नही है। कालिदास अभी भी सस्कृत साहित्य-गगन के मार्ग-दर्शक नक्षत्र है और सम्पूर्ण भारतीय साहित्य रचना को निर्देशित करते हैं। जहाँ तक विक्रमादित्य का सम्बन्ध है वे भी उसी बराबरी का स्थान भारतीय परम्परा और इतिहास में रखते हैं। इस लोकप्रियता का रहस्य यह है कि उन्होने भारतीय राजनीति और सस्कृति के रगमच पर बड़ी ही प्रभावकभूमि-की सृष्टि की। लोकजीवन बडी सहजता से इतिहास की केन्द्रीय धारा को आत्मसात् कर लेता है परन्तु सहायक छोटी-मोटी धाराओं को छोड़ देता है। विक्रमादित्य एक महान् सैनिक और राजनैतिक व्यक्तित्व वाले पुरुष थे। छठवी शती ईसापूर्व से, जब भारत पर ईरानी आक्रमण हुआ, अब तक भारतीय इतिहास की मुख्य समस्या विदेशी आक्रमण और उनका जनता द्वारा प्रतिरोध रही है। यह इतिहास का स्थापित तथ्य है कि यहाँ विदेशी आक्राताओ को जनता के सशक्त प्रतिरोधो का सामना करना पड़ा और जनता ने कभी उनकी राजनीति, धर्म और सस्कृति की प्रभुता स्वीकार नही की। ईसापूर्व प्रथम शती में बर्बर शको ने बोलन दर्रे से आकर भारत पर विकट आक्रमण किया। विक्रमा-दित्य ने राष्ट्रीय पैमाने पर उनका सगठित सामना किया और उन्हें खदेड दिया। ईसापूर्व चौथी शती में मालव जनता ने सिकन्दर के नेतृत्व में आए यूनानियो का विरोध किया परन्तु उनकी पराजय हुई और उन्हे पंजाब छोडना पड़ा। इस बार विक्रमादित्य के नेतृत्व मे उन्होने शको को खदेड कर मालव-गण की पुन.स्थापना की और कृत-सवत् चलाया।

विक्रमादित्य की महत्ता का दूसरा कारण उनका प्रशासनिक आदर्श था। वह जनता की सेवा के आदर्श से प्रेरित होकर कठिन श्रम करते थे।[१४] विक्रमादित्य का प्रशासनिक आदर्श अभिज्ञान शाकुन्तलम्-में दुष्यन्त के इस चित्र से प्रकट होता है:

'तुम व्यक्तिगत सुख की अवहेलना करके प्रजा के हित की चिन्ता करते रहते हो। प्रत्येक शासक के लिए यही उचित मार्ग है। वृक्ष स्वयं कडी धूप सहकर अपनी छाया में आए प्राणियों को शीतलता देता है।'[१५]

कथा-सरित्सागर में विक्रमादित्य के आदर्श का उल्लेख इन शब्दों में किया गया है:

'वह पितृहीनो का पिता था, पीड़ितो का रक्षक था, वह प्रजा के लिए क्या नही था ?'[१६]

---

[१३] यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्।

[१४] अविश्रामोऽयं लोकतन्त्राधिकारः।—अभिज्ञानशाकुन्तल, ५।

[१५] स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यसे लोकहेतोः
प्रतिदिनमथवा ते वृत्तिरेवं विधैव।
अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीव्रमुष्णं
शमयति परितापं छायया संश्रितानाम्॥ अभिज्ञान०।

[१६] स पिता पितृहीनानामबन्धूनां स बान्धवः।
अनाथानाञ्च नाथः सः प्रजानां कः स नाभवत्॥—कथा० १८.१.६६।

विक्रमादित्य द्वारा कला और सस्कृति का संरक्षण सर्व विदित है। विर्क्रमादित्य पदवीधारी अन्य परवर्ती सम्राटों की राजसभा मे उच्चकोटि के कवियो और कलाकारो की काफी संख्या होती थी। बड़े-वडे कवि नाटचकार, दार्शनिक, ज्योतिविद, चिकित्सक और कलाकार उज्जयिनी मे एकत्रित होते थे। विक्रमादित्य की राजसभा मे कवियो और कलाकारो के मूर्द्धन्य कालिदास थे। उज्जयिनी के सास्कृतिक केन्द्र से सस्कृति की किरणे विकीर्ण होकर दूरस्थ ग्रामो तक पहुँचती थी, और वे देश की साहित्यिक परम्परा से परिचित होते रहते थे।[१७]

विक्रमादित्य का बहुमुखी और विरल व्यक्तित्व था। उनमे राजनैतिक, सास्कृतिक और मानवी गुणो का अद्भुत समन्वय था। उनके व्यक्तित्व मे इन्ही विभिन्न शक्तिमती धाराओ के समाहार के कारण ही भारतीय शासको मे वे विशिष्ट स्थान रखते है। प्रजा की दृष्टि मे उसका स्थान राम और कृष्ण के बाद ही है। चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक, कनिष्क, समुद्रगुप्त और द्वितीय चन्द्रगुप्त तक तथाकथित ऐतिहासिक शासक इतिहासकारो की उपलब्धिमात्र है। उन्हे भारतीय जनता ने पूरी तरहसे भुला दिया है। परन्तु उसने विक्रमादित्य की स्मृति को अभी तक सहेजकर रखा है। वे देश के महापुरषो मे आदर और प्रशसा के साथ गिने जाते है।

'पृथ्वी के भोगो को भोगनेवाले विक्रमादित्य ने वह दिया, जो किसी अन्य ने नही दिया, और उन्होने वे उपलब्धियाँ प्राप्त की जो दूसरे नही कर सके।'[१८]

जैसा कि नवीन इतिहासकार मानते है, विक्रमादित्य कोई लोक-कल्पना की सृष्टि नही है, किन्तु एक ऐतिहासिक व्यक्ति है। उनके विरल गुणो और कृत्यो के कारण उनके सम्बन्ध मे कथाएँ बनी और वे अनुकरणीय आदर्श बन गए। आरम्भ मे विक्रमादित्य एक शासक का व्यक्तिगत नाम था परन्तु आगे चल कर वह एक पदवी बन गया। जो भारतीय शासक महान् कार्य करता था, विशेषकर के विदेशी आक्रान्ताओ को परास्त करता था, वह ही विक्रमादित्य की पदवी धारण करता था। भारत मे इस पदवी को धारण करनेवाले शासको की एक बड़ी सख्या है। इनमे प्रथम समुद्रगुप्त जिन्होने शक-मुरुण्डो से समर्पण कराया। फिर विक्रमादित्य पदवी की एक लम्बी परम्परा चली जिसमे अन्तिम हेमचन्द विक्रमादित्य था, जिसने १५५५ मे पानीपत मे मुगल आक्रमणकारियो का सामना किया। विक्रमादित्य की पदवी सदा लोक-तन्त्र, स्वाधीनता, निर्भयता की प्रेरणादायनी तथा सद्गुण और सस्कार का प्रतीक रहेगी। किसी भी देश की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि यह है कि वह अपने राजनैतिक अस्तित्व और स्वाधीनता को अक्षुण्ण रखे तथा जीवन-मूल्यो की रक्षा और विकास करे। किसी राजनैतिक सुरक्षा से सम्पन्न देश मे ही सास्कृतिक और नैतिक मूल्यो को पूर्ण अभिव्यक्ति मिलती है।[१९] विक्रमादित्य राजनैतिक शक्ति और स्वाधीनता के प्रतीक है और कालिदास सौन्दर्यगत तथा सामाजिक मूल्यो के। ये दोनो संयुक्त रूप से युगो से भारतीय जनता को प्रेरणा दे रहे है और देते रहेंगे।

---

[१७] प्राप्यावन्तीनुदयनकथाकोविदग्रामवृद्धान्। मेघदूत १.३०।

[१८] तत्कृतं यन्न केनापि तद्दत्तं यन्न केनचित्।
तत्साधितमसाध्यंञ्च विक्रमार्केन भूभुजा॥

[१९] शस्त्रेण रक्षिते राष्ट्रे शास्त्र-चर्चा प्रवर्तते।

भारतीय चित्रकला : उद्भव और विकास

वाचस्पति गैरोला

भारतीय चित्रकला का अपना इतिहास है, अपनी क्रमबद्ध परम्परा है । यह इतिहास अपने अतीत मे जितना उज्ज्वल एव गौरवशाली रहा है, अपने वर्तमान मे भी वह उतना ही श्लाघ्य तथा प्रशसनीय है। भारतीय कलानुराग की इस महान् एव चिरन्तन परम्परा के अध्ययन-अनुशीलन के लिए अब तक जो दृष्टिकोण अपनाया गया है वह समादरणीय होता हुआ भी प्राय: एकागी है, क्योंकि उसमें जो अन्तर्दृष्टि निहित है उसका आधार पश्चिम के मान-मूल्य है। कला-विषयक जो विपुल एव मौलिक सामग्री भारतीय साहित्य में सुरक्षित है उसके आधार पर ही भारतीय कला के विविध रूपो का वास्तविक मूल्य आँका एवं स्थापित किया जा सका है।

धर्मनिष्ठ और अध्यात्मप्रवण भारतीय जीवनमें कला को एक विराट् अन्तश्चेतना के रूप में स्वीकार किया गया है। जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज जितनी भी सृष्टि रचना है उसके मूल में यही अन्तस् धारा सार्वभौमिक प्रेरणा के रूप मे अब तक एक जैसी गभीर एवं अजस्र गति से प्रवाहित होती हुई चली आ रही है। यह विराट् सृष्टिकला अपनी अनादि अनन्त और शास्वत सत्तामें प्रतिष्ठित है। यह आनन्दमय सत्ता सोलह कलाओ द्वारा उद्भाषित है। यह पृथिवी, अतरिक्ष, द्यु-लोक, समुद्र, अग्नि, सृष्टि और विद्युत् उस आयतनवान् कलारूप विश्वात्मा के ही अश है।

कलामय परमेश्वर की इस कलात्मक सृष्टि के मूल में जो सौन्दर्यतत्त्व अनुस्यूत है उसकी उपलब्धि ही साधक कलाकार का चरम लक्ष्य रहा है। सौन्दर्य दीक्षा की इसी जिज्ञासा से वैदिक ऋषि उषादेवी तथा रात्रिदेवी के सुसपन्न उज्ज्वल स्वरूप को निहारने और उन बृहती मही नक्तोषसा की 'सुशिल्पे सुरचनाम्' के लिए आतुर हो उठे थे।

वस्तुत सौन्दर्य की जिज्ञासा ही कला के जन्म का हेतु रही है। वही कलाकार का सत्य है और उसी को पाने के लिए वह विभिन्न माध्यमो एवं साधनो से अपने इष्ट लक्ष्य को प्राप्त करता आया है। कलाकार की ही नही, कवि की प्रेरणा का केन्द्रविन्दु भी सौन्दर्य ही रहा है। इसी-लिए हमारे काव्यशास्त्रियो ने सरस एवं रमणीय रचना को काव्य नाम दिया। कलाकार और कवि, दोनों ही मौन्दर्य के अन्वेषी होते हैं। उनके मार्ग भिन्न-भिन्न हैं; किन्तु लक्ष्य एक ही है। कवि के लक्ष्य का माध्यम है भाषा और कलाकार के लक्ष्य का माध्यम है रूप।

वैदिक ऋषि नक्तोषसा में जिस उज्ज्वल दीप्ति को देखकर विह्वल हो उठे थे, वह रूप की ही आराधना थी। जिस विशेष गुण के समावेश से किसी आकृति में सौन्दर्य की अभिव्यक्ति होती है उसी गुणविशेष का नाम 'रूप' है। रूप अनन्त है। उसे किसी सीमा या परिधि मे नही बाँधा जा सकता है। रूप की पहचान के दो माध्यम हैं : एक तो आँखो के द्वारा और दूसरा आत्मा के द्वारा। दृष्टि के द्वारा हम किसी लम्बी, छोटी, चौरस, गोल, सफ़ेद या काली वस्तु को पहचानते है। किन्तु उस वस्तु-के भीतर जो व्यापक सौन्दर्य अनन्त अलंकृति और अपरिमित माधुर्य सन्निहित है उसको हम देखकर

नही, अनुमान कर, चिन्तन कर आत्मा के द्वारा अनुभव कर सकते है। इस नाना रूप जगत् को भिन्न-भिन्न प्रकार से देखना और इस भिन्नता को एक ही अखण्ड वस्तु मे सन्निविष्ट करके देखना—य दोनों बाते दृष्टि और आत्मा के सहयोग पर निर्भर है। रूप से पहला परिचय दृष्टि का होता है और तदनन्तर वह आत्मा का विषय होता है।

किसी भी कलाकृति मे रूप की आराधना जितनी स्वाभाविक और गहरी होगी वह कलाकृति उतनी ही उत्कृष्ट और स्थायी होती है। किसी भी वस्तु के वाह्याभ्यन्तर सौन्दर्य का साक्षात्कार करने के लिए रूपकी साधना सर्वोपरि है। इसीलिए हमारे प्राचीन कलाचार्यो ने चित्रकला के षड्गो का वर्णन करते समय रूप को प्रमुख स्थान दिया है।

रूप का सम्बन्ध रुचि से है। रुचि हमारे अन्तस् की चिरन्तन दीप्ति है, जिसके आलोक मे हम 'रूप' मे 'सुन्दर' और 'असुन्दर' का आधान करते हं, यही सुरुचि कलागत सौन्दर्य है।

भारतीय चित्रकला मे इन रूपभेदों की सूक्ष्मता को बडे कौशल से दर्शाया गया है। पश्चिम के कला-समीक्षक विद्वानो को भारतीय कलाकृतियो को देखकर उनमे जो रेखातिशयता का भ्रम हुआ है उसका कारण इन्ही रूपभेदो की निजी विधा थी, जिससे पश्चिम के कला समीक्षक अपरिचित थे।

रूप के अनन्तर कलागत सौन्दर्यवीक्षा के लिए हमारे कलाचार्यों ने 'प्रमाण' भी एक साधन माना है। प्रमाण चित्रविद्या का वह साधन है, जिसके द्वारा कलावस्तु के विविध पक्षो का सहज ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। लौकिक पदार्थों के मान (तौल) का निर्धारण करने के लिए जिस प्रकार तुला (तराज) की आवश्यकता होती है उसी प्रकार चित्रकला मे किसी भी चित्र की सीमा, स्वरूप, और आयतन और इयत्ता आदि विषयो के समुचित समावेश के लिए प्रमाण की अपेक्षा होती है। किसी कलाकृति मे आकाश की अनन्तता और सागर की अतल गहराई का वास्तविक भावबोध अकित करने के लिए कलाकार जिस साधन का उपयोग करता है उसी को हमारे कलाचार्यों ने प्रमाण की सज्ञा दी है। वस्तुरूप के गोचर होते ही प्रमातृचैतन्य से अन्तःकरणवृत्ति उत्पन्न होकर प्रमेय या वस्तुरूप पर अधिकार कर लेती हं; अन्त.करण प्रमेय, जो वस्तुरूप है, उसमे सगत होकर तदाकार परिणत होता है; अर्थात् मन वस्तुरूप को धारण करता है और वस्तुरूप मनोमय हो जाता है। यह प्रमा हमारे अन्त करण का ऐसा मापदण्ड है, जिससे हम सीमित और अनन्त दोनो प्रकार की वस्तुओ को माप सकते है। प्रमा से केवल समीप और दूरी का ही बोध नही होता, अपितु किस वस्तु को कितना दिखाने से उसमे सौन्दर्योत्कर्ष होता है—इसका भी निश्चय कराती है। ताजमहल के निर्माता शिल्पियो ने उसके गुम्बज को न जाने कैसी परिणति दी है कि किसी भी दर्शक को वह सहज ही मुग्ध कर लेती है। ताज अपने बहुमूल्य होने के कारण सुन्दर नही है, अपितु उसकी परिमिति ने ही उसको श्रेष्ठ और सुन्दर बनाया है।

रूप और प्रमाण के अनन्तर किसी कलाकृति मे सौन्दर्य या सुरुचि के उत्कर्ष के लिए जिस विशेष गुण की आवश्यकता होती है उसको भाव कहते है आकृति की भगिमा को; उसके स्वभाव, मनोभाव एव उसकी व्यग्यात्मक प्रक्रिया को। विभावजनित चित्तवृत्ति का नाम भाव है। निर्विकार चित्त में प्रथम विक्रिया की उत्पत्ति भाव के ही द्वारा होती है। भिन्न-भिन्न भावो की अभिव्यजना से मन मे विभिन्न विकारों का जन्म होता है। भाव एक प्रक्रिया है, जिसके लक्षण कायिक धर्मों द्वारा अभिव्यक्त होते है। मनमे जिस रस का जो भाव पैदा होता है उसी के अनुसार शरीर मे भी परिवर्त्तन के लक्षण प्रकट होते है।

भाव साधना के द्वारा कलाकार अपनी वृत्ति में विविधता का समावेश करता है। मनोविज्ञान हमें बताता है कि विविधता की प्रक्रिया से वस्तुगत सौन्दर्य मे परिवर्तन होता है, जिससे आनन्दानुभूति-का तारतम्य बना रहता है। चित्र में यह विविधता कभी परस्पर विरोधी तत्त्वो तथा वर्णों के समावेश और कभी वक्रता के कारण उत्पन्न होती है। गौरवर्ण मुख पर श्यामवर्ण अलकें—इस प्रकार के विरोधी भाव सौन्दर्य के ही पोषक होते हैं।

भाव का कार्य रूप को भगिमा देना है। इस भगिमा को व्यजनावृत्ति के द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है। कोयल के सुरीले कठ में किसका आह्वान है; हृदय के भीतर धँसी किसकी वेदना वसन्त-की सारी खुशहाली को विषाद के वातावरण मे डुबो रही है—ये बातें चित्र में भाव-भगिमा द्वारा ही दर्शित की जा सकती हैं।

भाव को जब लावण्य का सहयोग प्राप्त होता है, कलाकृति अपने अनुपम सौन्दर्य में गमक उठती है। भाव अन्तस् सौन्दर्य का अभिव्यजक है और लावण्य वाह्य सौन्दर्य का। लावण्य का संस्पर्श पाकर निर्जीव कलाकृति भी सप्राण हो जाती है। कभी कभी भाव की दुरूहता के कारण जब कलाकृति में रूक्षता आ जाती है लावण्य ही उसका परिमार्जन करता है। लावण्य भाव का उत्कर्षक है। भाव की भगिमा को लावण्य की दीप्ति उभारती और प्रकाशित करती है।

किसी कलाकृति में सौन्दर्य के उत्कर्ष के लिए अनिवार्य गुण है 'सादृश्य'। सादृश्य ही सुव्यवस्था का आधार है। सुव्यवस्थित ढग से रखी हुई कोई भी वस्तु देखने में अच्छी लगती है। किसी रूप के भाव को, आकार को किसी दूसरे रूप की सहायता से प्रकट करना सादृश्य का कार्य है। किन्तु सादृश्य दिखाते समय सदृश वस्तु की आकृति के साथ-साथ उसकी प्रकृति तथा उसके गुण-धर्मो का सामजस्य दिखाना भी आवश्यक होता है। उदाहरण के लिए वेणी से सर्प का सादृश्य इसलिए स्थापित किया जाता है कि उसमें केवल आकृति-समानता है, धर्म समानता नही। सिर से लटकना साँप का धर्म नही है और इसी प्रकार मार्ग में पड़ी रहकर साँप का भय दिखाना वेणी का धर्म नही है। चित्र चाहे कल्पना-प्रसूत हो या वास्तविक, किन्तु दर्शक यदि उसको पहचानने मे भूल नहीं करता या किसी प्रकार की द्विविधा में नही पड़ता वही चित्र सादृश्य की दृष्टि से शुद्ध कहा जायगा।

हमारे प्राचीन कलाचार्यों ने किसी कलाकृति की सर्वांगीणता के लिए वर्णिकाभग भी एक साधन स्वीकार किया है। नाना वर्णों की सम्मिलित भगिमा से चित्र में जो रस-भाव का समन्वय होता है उसी-को वर्णिकाभंग कहते हैं। किस स्थान पर किस रंग का प्रयोग करना चाहिए तथा किस रग के साथ किसका संयोजन होना चाहिए—इसका निश्चय वर्णिकाभग के द्वारा ही किया जाता है। वर्णों के विभेद से ही वस्तुओं की विभिन्नता व्यक्त होती है। कला में संयोजन, सघटन, अन्विति इसी के अपर नाम हैं। चित्र में रगों का संयोजन चित्र की सुव्यवस्था का द्योतक है। इसी प्रकार विषय के अनुसार अनुकूल वातावरण और उचित भूमिका उसकी अन्विति है। केवल फूलो का रंग दिखा देना ही वर्णिकाभग नही है, साथ ही उनके सौरभ को भी दिखाना होगा। इसी प्रकार सूर्य की किरणो का रग चित्रित कर देना ही पर्याप्त नही है, दिखाना यह होगा कि प्रातः, मध्याह्न और सायकाल को उसके उत्ताप-का स्पर्श क्या होता है। यही वर्णिकाभंग की विशेषता है।

कला का ध्येय और उपयोगिता

इस देश के अन्तर्द्रष्टा कलाकारो ने कला को कला के लिए नही, उसको लोकमंगल और नैतिक

अभ्युत्थान का साधन स्वीकार किया। जो कला साधक की भोगबुद्धि मे उलझाये वह वास्तविक कला नही, जिससे परमानन्द की उपलब्धि होती है वही श्रेष्ठ कला है।

इसी महान् कलाध्येय के साक्ष्य सिन्धु घाटी, लोथल, मिर्जापुर, पटना, काठियावाड, उदयगिरि, महावलीपुरम्, विंध्य, पचनद, तमिलनाड, नागार्जुनीकोण्ड, उज्जैन, कौशाम्बी, चन्द्रकेतुगढ और राजघाट आदि प्रागैतिहासिक स्थानो की खुदाइयो मे प्राप्त हुए हैं। सिन्धु की चित्रमय मुद्राएँ, हडप्पा तथा मोहेनजोदडो की काँस्यमयी तन्वगी नर्तकियाँ, लोथल के रग-विरगे मनके, विध्य पहाडियो की मृण्मयी मूर्तियाँ, सिहनपुर, तथा **जोगीमारा** की चित्रयुक्त चट्टाने और इसी प्रकार तमिलनाड, आन्ध्र, उड़ीसा, होशगाबाद, पजाब, उत्तर प्रदेश तथा नर्मदा उपत्यका आदि स्थानो से उपलब्ध वस्त्रो, पाषाणो, मृत्तिका पात्रों पर अकित पशुओ, पक्षियो, मनुष्यो और कृमि कीटो की आकृतियाँ इस देश के पुरातन जन-जीवन की कलाप्रियता के सजीव प्रमाण हैं। इस उपलब्ध कला-सामग्री को देखकर सहज ही यह जानने को मिलता है कि इस देश मे सौन्दर्यवीक्षा और कलानुराग की जो अजस्र धारा अतीत की कई शताब्दियो पूर्व प्रवाहित हुई थी वह अनेक केन्द्रो का निर्माण करती हुई निरन्तर गति से आगे बहती रही।

यह कलाधारा कभी तो अन्त.सलिला सरस्वती की भाति अदृश्य, अगोचर रूप मे अपनी सम्पूर्ण थाती और परम्परा को समेटे हुए आगे बढती रही और कभी भागीरथी की उत्तुग तरगो की तरह गिरि-पर्वत पथो की वेणी बनकर इस भारत धरा को अलकृत करती हुई अपनी सुषमा को बिखेरती गयी। उसने हमे कई पावन तीर्थ दिए। अजन्ता, एलोरा, एलिफेंण्टा, **जोगीमारा**, बाघ, बादामी, सित्तनवासल आदि कलातीर्थ आज भी हमें अपने उज्ज्वल अतीत मे ले जाकर सहसा उसमे समाहित कर लेते हैं। वस्तुतः वे स्वनामधन्य कलाकार वन्दनीय थे, जिनके भौतिक शरीर तो काल की असख्य पर्तों में विलीन हो गये; किन्तु जिनका महान् कृतित्व आज भी इस देश के कला-गौरव को अमर बनाये हुए है।

जिस युग मे देश के ओर-छोर तक इन कलातीर्थो का निर्माण हुआ वह युग सास्कृतिक बौद्धिक और धार्मिक अभ्युदय की दृष्टि से अपने चरम उत्कर्ष पर था। साहित्य और कला की जो विपुल विरासत आज हमे उपलब्ध है उसके सचय और सरक्षण का सम्पूर्ण श्रेय इसी युग को है। बडे-बडे कला सस्थानो और विद्या निकेतनो का निर्माण कर यहां के जनजीवन मे कलानुराग और विद्याप्रेम की ज्योति जलाकर राष्ट्र की बौद्धिक तथा सांस्कृतिक उन्नति की दिशा मे इस युग का उल्लेखनीय योग रहा है। कला का उद्देश्य न तो कोरा बौद्धिक व्यायाम ही हुआ करता था और न वह विलासिता का साधन मात्र ही समझी जाती थी। लोकजीवन के लिए वह मगलविधायिनी थी और पारमार्थिक दृष्टि से श्रेयप्राप्ति का साधन।

देश के वृहद् विद्या केन्द्रो मे कला को अध्ययन का अनिवार्य अग समझा जाता था। साधारण व्यक्ति की कौन कहे, एक युवराज को विशेष योग्यता का माप-दण्ड भी कला को ही स्वीकार किया गया था। कला को कुलधर्म के रूपमे मान्यता प्राप्त थी और एक साधारण नागरिक को भी अपने कुलधर्म पर इतना स्वाभिमान था कि नि शक होकर वह अपने राजा से यह कह सकता था 'अस्माक चाय कुलधर्मः शिल्पज्ञस्य कन्या दातव्या नाशिल्पज्ञस्येति।'

यह कला-परम्परा अपने नये परिवेशो के साथ निरन्तर आगे बढती गयी। धर्म, राजनीति, लोकरुचि और परिस्थितियो के प्रभाव से उसकी अन्तश्चेतना का स्वरूप नित नये रूप मे सामने आया। प्राचीन भारत में कला का जो उद्देश्य और महत्व था, मध्ययुगीन भारत मे उसकी मान्ताएँ सर्वथा

बदल गयी । कला को शृंगार, शौर्य और पराभव का प्रतीक मानकर एक ओर मुगलो ने और दूसरी ओर राजपूतो ने उसका प्रवर्तन किया । इस युग मे कला ने देश की विषम धार्मिक परिस्थितियो और विपदग्रस्त राजनीतिक वातावरण मे समन्वय स्थापित करके एक जीवनदायिनी शक्ति के रूप मे समाज को उत्साहित और प्रेरित किया । इसने सामाजिक जीवन मे नवोत्साह का स्फुरण करके राष्ट्र की मर्यादा बनाये रखने मे महत्त्वपूर्ण योग दिया । धर्म और शासन के विषाक्त वातावरण का उपशमन करके कला ने इस देश की सास्कृतिक थाती को तो आगे बढाया ही, साथ ही उसकी रक्षा भी की ।

मध्ययुग कला-निर्माण की दृष्टि से बहुत उन्नत रहा । इस युग में कला ही साहित्य और धर्म-का केन्द्रविन्दु बनी रही । समाज ने अपनी धार्मिक प्रवृत्तियों को कला के माध्यम से प्रस्तुत करने मे विशेष रुचि दर्शित की । इसी प्रकार संस्कृत, हिन्दी और इरानी कथा, काव्य, इतिहास तथा आत्मचरित विषयक बहुसख्यक कृतियो के दृष्टान्त चित्र उतारे गये । इस प्रकार की बहुमूल्य सचित्र पुस्तके आज भी देश-विदेश के सग्रहालयो, कलासस्थाओ और व्यक्तियो के पास पर्याप्त रूप मे सुरक्षित हैं ।

कला की यह प्राचीन और मध्ययुगीन विरासत आधुनिक पीढी को जिस रूपमें उपलब्ध हुई उसने उसको युग की परिस्थितियो तथा अभीप्साओं के अनुरूप नयी शिल्प-विद्या, नवीन विषय-वस्तु एवं नये मान-मूल्यो के अनुसार ग्रहण करके कला के इतिहास में नये युग का सूत्रपात किया । कला की इस महान् परम्परा का वर्तमान युग के अनुरूप अभिनवीकरण करने वाले ख्यातनाम कलाचार्यों एव कलाकारों मे राजा रविवर्मा, अलाग्री नायडू, अवनीन्द्रनाथ ठाकुर, नन्दलाल वसु, यामिनीराय, शैलोज मुकर्जी, रामकिंकर, अमृताशेरगिल आदि का नाम मुख्य है, इन यशस्वी एवं युगविधायक कलाचार्यों ने स्वयं जो कार्य किया उसका विशिष्ट महत्त्व है । उन्होंने जिन सैंकड़ो प्रतिभाशाली कलाकारो को तैयार किया उसका कम महत्व नही है । इन सामयिक कलाकारो ने न केवल परम्परा को अभिनव रूप दिया, अपितु उसमें आज के व्यापक दृष्टिकोण का भी समन्वय किया ।

आज कला को अन्तर्राष्ट्रीय सम्मान प्राप्त है । आज देश और क्षेत्र की सीमाओं में बाँधकर कला के वास्तविक महत्त्व को नही आंका जा सकता । विश्व की उन्नत कला-शैलियो की पृष्ठभूमि में जो व्यापक दृष्टि और विशिष्ट विद्या का सन्निवेश है उसकी समीक्षा-परीक्षा किये बिना आज कला के धरातल को ऊँचा नही किया जा सकता । आज की कलाकृतियो मे निहित सकेतात्मक सूक्ष्म दृष्टि, जो कि वस्तु और विषय के बाह्य रूप की अपेक्षा उसके अन्तस् में अन्तर्निहित है, उसे तभी ग्रहण किया जा सकता है, जब अध्ययन तथा अभ्यास दोनो पर्याप्त रूप में विद्यमान हो ।

काशी के हाथीदाँत के चित्र

डॉ० राय गोविन्दचन्द

१८वी शताब्दी के अन्तिम चरण मे प्राय. १७८० के लगभग शाहजादा जवान्दर बख्त अपने पिता शाह आलम द्वितीय के क्रुद्ध होने पर दिल्ली से लखनऊ भाग आये और वहाँ से काशी पधारे जो उस समय मोहम्मदाबाद के नाम से विख्यात थी। यहाँ शिवाले पर उनके रहने का प्रबन्ध हुआ। इनके साथ दिल्ली से बहुत से, परिवार आये थे। इन्ही के लश्कर में उस्ताद लालजी मल्ल भी थे। ये मुगल शैली के अच्छे चित्रकार थे और मुगल कारखाने मे काम कर चुके थे। इस कारण उस शैली के कयडे से पूरे परिचित थे। इन्होने तात्कालिक काशी की चित्र शैली को एक दूसरा मोड़ दिया। इस समय तक जो चित्र काशी मे बनते थे उन पर राजपूत कला का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। उसी भाति के रग, वही रूप, वही वेषभूषा, वही प्रमाण, वही गति, वही भाव का अंकन इनमे भी दिखाई देता है। अब उस्ताद के आगमन के पश्चात् चित्रो के अकित करने के हेतु नेपाली और कालपी के कागजो का व्यवहार होने लगा और उनको घोटा से चिकना करके तूलिका से रेखाओ द्वारा तरह देना, बुत बाँधना या आकार अंकित करना प्रारम्भ हुआ। इसी के साथ-साथ पुराने चरवो से खाका झाड़ना और इसके आधार पर चित्र बनाने के कार्य का भी श्री-गणेश हुआ। उस्ताद जी स्याह कलम से शबीह आंकने के पश्चात् चित्रो पर फिर घोटा लगाते थे, तत्पश्चात् एक हलके सफेदे का अस्तर देते थे और सुच्ची तिपाई के हेतु आबरग का व्यवहार करते थे। यह आबरग काजल, प्योरी तथा गुलाली को मिला कर बनाते थे इसके अनन्तर रग भरते थे। रंग के भरने मे रग की प्रत्येक तह हलके रग से लगाई जाती थी जिसमे चिप्पड़ न उखड़े। इन रगो को उनके शिष्यगण बड़ी सावधानी से बनाते थे। इनको खूब पीस कर पानी मे छाना जाता था और पानी से रग निकाला जाता था फिर इसमें बबूल की गोद मिला कर इसे अगुली से मथा जाता था। मुगल कालीन चित्रकारो ने राग के स्वभाव की भाति रंगो के स्वभाव को भी निश्चित कर दिया था। इसी कारण ये इच्छित वातावरण उत्पन्न करने के हेतु कभी शोख, कभी चटक और कभी बदरग रग लगाते थे। इस कार्य के पश्चात् फिर चित्र की घोटाई होती थी। उस्ताद जी खोलाई का काम करते थे और परदाज करके रगो को मिलाते थे। अन्तिम रेखायें और विन्दु उस समय लगाते थे जब वसलीगर को चित्र देना होता था। कभी-कभी वसली पर चित्र चढाने के पश्चात् भी अन्तिम रेखाएँ दी जाती थीं।

इन्ही उस्ताद लालजी मल्ल के साथ कुछ वसलीगर भी दिल्ली से आये थे। ये दफ्ती तैयार करते थे जिस पर चित्र चिपकाये जाते थे। इसे बनाने के हेतु ये पुराने कागजो की तह लेई बना कर जमाते थे और उस पर फिर ये एक सादा कागज चिपकाते थे। लेई ये आरारोट या इमली के बीज से बनाते थे। लेई लगाने के पश्चात् ये दफ्ती को घोंटते थे और फिर उस पर बेल, बूटे, शिकार-गाह इत्यादि रंगों से या सोने का तबक छिड़क कर बनाते थे। जब बसली तैयार हो जाती थी,

उस पर चित्र चिंपकाया जाता था। चित्र के चारो ओर की रेखाएँ पहिले ही बना ली जाती थी और उसी के भीतर चित्र रहता था। वसली पर की कारीगरी चित्र से मोटी रहती थी जिसमें चित्र की ही ओर ध्यान आकर्षित हो।·रग भी चित्र से हलके रखे जाते थे। मुगल काल में वसली इतनी सुन्दर बनने लग गयी थी कि चित्र को भी कभी-कभी दबा लेती थी। यों प्रायः वसलीगर अपनी कारीगरी का परिचय देते हुए भी इस बात का ध्यान रखते थे कि हाशिये से चित्र दब न जाय। मुगलकाल में वसलीगरों की अपनी एक श्रेणी बन गयी थी। ये प्राय. चित्रकारो के साथ ही एक दरबार से दूसरे दरबार में जाते थे।

तूलिका या कलम बाँधने का या बनाने का ढंग भी उस्ताद जी का अपना था। ये प्राय. बछिये के दुम के बाल या काली बिल्ली के बाल या गिलहरी के दुम के काले बाल अपनी कलम के लिए चुना करते थे। ये कहते थे कि तूलिका के हेतु वे ही बाल काम में आ सकते हैं जो पानी मे डालने के पश्चात् छितरा न जायँ और मुलायम भी हों। इन बालो को एकत्रित करके कबूतर के पख की डण्डी मे पिरो दिया करते थे फिर उसे तागे से बाँध देते थे। इस काम को ये अपनी भाषा में परगजा मे कलम उतारना कहते थे। इनके कलमों की अनी या नोक बडी बारीक या पतली रहती थी। इसके पश्चात् ये उस पर की डण्डी को काटकर किलिक की कलम की बेंट लगाकर अपनी तूलिका तैयार करते थे।

रगों का व्यवहार करते-करते इनके विविध दोष-गुणों का इनको पूरा परिचय हो गया था। वर्णिका भग द्वारा किस प्रकार के रगो से किस प्रकार के ऋतुओ का वैचित्र्य तथा भावो की उत्पत्ति इत्यादि दिखाया जाता है इसका उन्हे पूरा ज्ञान था। ये सफेद रग के हेतु जस्ते का ही सफेदा व्यवहार करते थे, सीसे का सफेदा नही लगाते थे; क्योकि ये कहते थे वह कुछ दिन में काला पडने लगता है। काला रग भी ये काजल ही से तैयार करते थे। लाल रंग ये कई प्रकार के लगाते थे। इनके हेतु ये गेरू, हिरौंजी सिन्दूर, इगुर, क्रमदाना व्यवहार करते थे। पीला रग ये रामरज, सारेरेवन और हडताल से बनाते थे। हरे रंग के हेतु ये हरा माटा तथा जंगाल लगाते थे। गहरा हरा रग हडताल और नील को मिला कर तैयार करते थे। नीला रंग प्रायः नील से ही बनाया जाता था, कभी-कभी मूल्यवान चित्रो के हेतु लाजवर्द या लजवर्द के खोटे संग जमुनिया को पीस कर तैयार किया जाता था। इस प्रकार के मूल्यवान् पत्थरों से बनाये हुए नीले रग में कुछ न कुछ नील मिलाया जाता था। बैंगनी रग नील और इंगुर मिला कर, कलछौट बैंगनी काजल तथा हिरौंजी मिलाकर, मोन जर्द पियुरी और हिरौंजी मिलाकर, नारंगी रंग पियुरी और इंगुर मिलाकर, फाकतई रंग या कबूतर के शरीर का रंग कागज में सफेदी मिला कर उत्पन्न किया जाता था। ये मोना और चाँदी का भी व्यवहार अपने चित्रों में करते थे। इन धातुओं के रंग बनाने के हेतु ये इनके तबक को शहद में हल करते थे और सोनाकारी के समय सहरेस का भी व्यवहार करते थे। चाँदी बहुत कम व्यवहार की जाती थी। रगों के जमाने के हेतु सभी रगों में बबूल की गोंद व्यवहार होती थी परन्तु सफेदा और पियुरी में घऊ पेड की गोंद को मिलाया जाता था। दूसरे रगों में इसे मिलाने से रग लढ़िया जाता है ऐसा ये कहते थे। इन्ही रंगों में से पारदर्शी वस्त्रों का भी चित्रण बडे ढंग से करते थे।

मुगल कालीन चित्रों की कुछ अपनी परम्परायें थी जिनका उस्ताद जी भी पालन करते थे। ये पेड पत्ती और शबीह में आकार को प्रधानता देते थे और आकार सादृश्य लाने का प्रयत्न भी

करते थे परन्तु पाश्चात्य चित्रो की भाति ये न परछाईं दिखाते थे न प्रत्येक वस्तु पर पडते हुए अजोरा अधेरा अकित करते थे । ये मनुष्य के शरीर, चेहरे तथा वृक्ष, पर्वत इत्यादि के आकार ओर मोटाई की पोल बडे बारीकी से दिखाते थे परन्तु भाव सादृश्य या व्यग का इनके चित्रों मे अभाव रहता था । लावण्य की मात्रा अधिक करके ये चित्र को आकर्षित बना देते थे परन्तु बहुत-सी बात एक साथ दर्शाने की उत्कंठा मे भाव-भंगिमा इनके चित्रो मे खो जाती थी । इन चित्रो को देखकर ऐसा आभास होता है कि चित्रकार ऊँची खिडकी पर से सामने पथ पर का दृश्य देख रहा है पाश्चात्य चित्रकारो की भाति सामने से नही । हमारे शास्त्रो मे मूर्त्तियों के नाप के प्रमाण दिये गये थे ।[१] इन्होंने भी कैंडे के प्रमाण निश्चित कर रखे थे । यह परम्परा भारतीय थी । इनके यहाँ कद के हिसाब से शरीर की ऊंचाई यदि आठ अगुल मान ली जाय, चेहरो का विस्तार एक अगुल रखा जाता था, छाती दूसरे अगुल पर बनाई जाती थी, नाभि तीसरे अगुल पर, लिंग चौथे पर, जाँघ पाँचवे पर, घुटने छठवे पर, पैर का जोड सातवे पर और पैर आठवे पर दिखाये जाते थे । सुमेर के कलाकारो की भाति ये शरीर से कही अधिक चेहरे को सही-सही बनाने पर (मुगल चित्रकारो की परम्परा के अनुसार) जोर दिया करते थे । प्राय: उस्ताद जी को एकचश्मी या डेढ चश्मी चेहरा बनाना अच्छा लगता था । इनकी रेखाये कठोर, कोमल, अति कोमल स्वाभावानुसार अपने आप बनती थी ।

कम्पनी कालीन कला

१८वी शताब्दी मे ही ईस्ट इण्डिया कम्पनी का प्रभुत्व भारत मे काशी तक फैल गया था । काशी मे भी इनके अफसर नियुक्त हो गये थे ।[२] इनमे बहुत से अपने साथ चित्रित चीनी के बर्त्तन और हाथी दाँत के चित्र इग्लिस्तान से भारत ले आए थे । इन्हे ये अपने मित्रो को तथा भारतीय राजे महाराजाओं को उपहार मे दिया करते थे क्योकि उस प्रकार के न चीन के बर्तन और न हाथीदाँत के चित्र यहाँ बनते थे । इस काल मे इग्लिस्तान के उच्च तथा मध्यम वर्ग के स्त्री पुरुषो में अपनी छवि अकवाने की प्रथा बहुत चल पडी थी । इस प्रकार के चित्र प्राय. मोटे कपडों पर, कागज पर, हड्डी पर, तथा हाथी दाँत पर बना करते थे । इस काल के अंग्रेजी कलाकारो मे रोमने, रेनाल्ड, रेमर्न गेन्सबरो इत्यादि बडे विख्यात थे । कलाकार रिचर्ड कोज़वे (१७४२-१८२१) के समय मे तो यह मनोवृत्ति अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयी थी । जब भारत मे अग्रेज रहने लगे, स्वभावत उनकी यह इच्छा हुई कि उनके स्वदेश के चित्रकार यहाँ आकर कुछ चित्र बनायें । ऐसे ही अग्रेजों के आग्रह पर कोज़वे के शिष्य जॉन स्मार्ट (१७४०-१८११), जो अपने समय के उत्कृष्ट कलाकार थे, डायना हिल के साथ भारत आये[३] और यहाँ इन लोगो ने अग्रेजो के चित्र कागज पर, कैनवेस पर और हाथी दाँत पर बनाये । इनकी कृतियाँ पाश्चात्य कला की प्रतीक थी । इनसे ही भारतीयो ने भी हाथी-दाँत पर चित्र बनाना सीखा और उन्ही की चित्रकारी की

---

[१] विष्णु धर्मोत्तर पुराण – ३. ४१. ३ ।

[२] बनारस गज़ेटियर – पृष्ठ २०५-२०७ ।

[३] मिल्ड्रेड आर्चर, पटना पेंटिंग–पृष्ठ १५ ।

पद्धति अपनाई जैसे चित्र बनाकर उस पर बारनिश करना[४] परन्तु इन्होने न अपने रंगों मे वारनिश मिलाया न तैल रगो का व्यवहार किया।

इस काल में भारतीय कागज उतने सफेद नही होते थे जितने चीनी के बर्तन या हाथी दाँत के टुकडे इस कारण १८वी और १९वी शताब्दी मे राजा महाराजाओ ने मूल्यवान चित्र हाथी दाँत पर ही बनवाने प्रारम्भ किये। दिल्ली, लखनऊ, पटना और मुर्शिदाबाद मे इस प्रकार की चित्रकारी के केन्द्र बन गये। भारतीय चित्रकार छोटे-छोटे चित्रो के बनाने मे बडे कुशल थे इस कारण हाथीदाँत की चित्रकला को अपनाने मे इन्हे कोई कठिनाई नही हुई। यो हाथीदाँत पर खोदाई करके चित्र उत्कीर्ण करना तथा उस पर स्थान-स्थान पर रग लगाना भारतीय जानते थे जैसा हाथी दाँत के फलक पर उत्कीर्ण चित्रो से जो बम्बई के प्रिस ऑव वेल्स म्यूजियम मे सगृहीत है पता चलता है[५] और जैसा बेगराम से प्राप्त हाथीदाँत के फलको से ज्ञात होता है[६] परन्तु सादे हाथीदाँत की तख्ती पर रंग से चित्र बनाना भारतीयो ने सम्भवत. पाश्चात्य फिरंगियो से ही सीखा।

तकनीक

उस्ताद जी के शिष्यो ने काशी मे जब हाथी दाँत पर चित्र बनाना प्रारम्भ किया, उन्होने अपनी ही चित्रण विधि अपनाई और अपने ही रगो का व्यवहार किया। ये चित्र बनाने के हेतु ऐसे ही हाथीदाँत की तख्ती व्यवहार करते थे जिसमे पारदर्शिता बहुत अधिक न हो जो बीच से फटी न हो और जिसमे रेखाये न दिखाई पड़ती हो। ये आधे सूत से एक सूत मोटी तख्ती पर ही चित्र बनाते थे। इस प्रकार की बड़ी तख्ती न मिलने के कारण छोटे ही चित्र बनाये जाते थे। जब कोई बडा चित्र बनाना ही पड़ता था हाथी दाँत के दो बराबर तख्तियो के किनारो पर खोल बनाकर उनको सहरेस से जोड़ देते थे। परन्तु इस प्रकार जोड़ी हुई तख्तियाँ कुछ दिन मे ऋतु के प्रभाव से खुलकर अलग हो जाती थी। तख्ती का आकार निर्धारित करके उसके कोने या गोलाई आरी से बराबर करा ली जाती थी। तख्ती को समतल करने के हेतु उसे पत्थर से माँजा जाता था और फिर उसे समुद्रफेन से चिकना किया जाता था।[७] इस प्रकार तख्ती तैयार हो जाने पर उसे दबा कर रखा जाता था जिसमें वह टेढी न हो जाय।

इस प्रकार की तख्ती पर सर्वप्रथम सीसे की पेसिल से या वर्तिका से रेखाएँ अकित की जाती थी फिर इन रेखाओ को लिखती से पक्की किया जाता था। हाथीदाँत की तख्ती पर सफेदा लगाने की आवश्यकता नही पड़ती थी। कभी-कभी रेखाये चरवे पर खीच कर उससे तख्ती पर उतारी जाती थी। इस कार्य में रेखाओ पर महीन सूई से छेद बनाये जाते थे और उस पर सूखा काला रग भुरका जाता था जिससे नीचे तख्ती पर रेखाएँ बन जाती थी। उनको पक्की करने के पश्चात् रंग की हलकी परतें लगाई जाती थी। रंग लगाने के समय रीठे का पानी व्यवहार किया जाता था, इस हेतु रीठे को पानी में भिगो दिया जाता था और जब वह पानी में फूल जाता था उसी

[४] ऐसा ही एक चित्र वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के संग्रहालय में सुरक्षित है, सं०५९४५।

[५] मोतीचन्द्र : एंश्येंण्ट इण्डियन आइवरीज, प्रिस ऑफ वेल्स, म्युजियम बुलेटिन पृष्ठ : ३७।

[६] हाकिन : नूवेलरिसेर्श आ बेग्राम, पृष्ठ १४।

[७] मोतीचन्द्र : दि टेकनीक ऑव मोग़ल पेंटिंग,यू० पी० हिस्टारिकल सोसाइटी जर्नल, पृष्ठ १४-१६।

पानी को कूँची से उठा कर रग मे मिला लेते थे क्योंकि यो पानी का रंग हाथीदात पर ठहरता नही। विलायत मे हाथी दाँत पर चित्रकारी के हेतु तैल रगो के साथ वारनिश मिलाई जाती थी परन्तु भारतीयो ने यह ढग नही अपनाया। चित्र का कुछ भाग बिना रगे छोड़ा जाता था जिसमे नीचे का हाथीदाँत दिखाई देता रहे । इससे चित्र की आभा बढती थी परन्तु कागज पर चित्रकारी करते समय इस काल के भारतीय चित्रकार कागज को कभी सादा नही छोडते थे। इस प्रकार से हाथीदाँत की तख्ती के कुछ भाग को सादा छोडना इन्होने विलायत वालो से ही सीखा। रग मे सफेदा भी बहुत कम मिलाया जाता था। छवि बन जाने पर परदाज करके उसे पूरा किया जाता था।

इस काल के हाथी दाँत पर बने चित्रो में प्राय विशिष्ट पुरुषो की आकृतियाँ तथा ऐतिहासिक इमारते ही दिखाई देती है। इनके आकने का ढग भारतीय होने पर भी बहुत कुछ पाश्चात्य ही था क्योकि इनमे आकार सादृश्य की प्रधानता दृष्टिगोचर होती है। चेहरे अब एक चश्मी और डेढ चश्मी के अतिरिक्त पौने दो चश्मी और पूरे दो चश्मी के भी बनने लगे उसमे पोल के अतिरिक्त पाश्चात्य चित्र शैली की नकल पर अब कुछ छायातप या साया और उजाला भी दिखाया जाने लगा। आकार जिसमे सादृश्य पूरा उभड़ आये। चित्रो मे राजपूत काल की गति के स्थान पर मुगल कालीन स्तब्धता दिखायी जाने लगी तथा भाव के स्थान पर कला का कौशल। यो चेहरे और हाथो पर रग बहुत हलका लगाया जाता था जिसमे नीचे के हाथी-दाँत की झलक मिलती रहे। आबदारी या चमक उत्पन्न करने के हेतु जैसे केश की चिकनाई दिखाने को या सिल्क के कपडो की परते दिखाने को हलका गोद का घोल बनाकर रग लगाने के पश्चात् स्थान-स्थान पर हलके हाथ से लगाया जाता था। रगो को बहुत चटक करके नही दिखाया जाता था अन्यथा वे रग चित्र के और रगों से मिलते-जुलते न होकर अलग दिखाई देने लगते थे। इस घोल को बडी सावधानी से लगाया जाता था जिसमे यह चित्र के और भागो मे न फैले। हाथी दाँत के काशी के चित्रकार अपने मुगलकालीन रग ही व्यवहार करते थे और उसी प्रकार की कूँची भी बनाते थे। इनको इन्होने पाश्चात्य चित्रकारो से नही लिया। शैली मे पाश्चात्य तथा प्राच्य का सम्मिश्रण होना प्रारम्भ हो गया है।

प्रारम्भिक काल के चित्रो का एक बडा सुन्दर उदाहरण वाराणसेय सस्कृत विश्वविद्यालय के सग्रहालय मे उपस्थित है। इसकी शैली मुगलकालीन शैली से बहुत कुछ मिलती हुई है। इसमे दो सखियाँ या प्रसादिकायें अकित है। एक के हाथ मे मदिरा की सुराही है और दूसरे के हाथ में मदिरा का प्याला। चेहरे एक चश्मी है और वेष-भूषा सभी मुगलकालीन है। चित्रकारी करके इस पर रंगो की रक्षा के हेतु वारनिश भी लगायी गयी है, वारनिश का व्यवहार यह सिद्ध करता है कि कलाकारो ने पाश्चात्य शैली को अपनाना प्रारम्भ ही किया था (चित्र १)। दूसरा उदाहरण है एक दुर्गा के चित्र का। यह चित्र कागड़ा शैली पर आधारित है परन्तु हाथी दाँत पर बना है इसमे देवी को रुद्र पर आसीन दिखाया गया है। देवी के वस्त्र लाल हैं। इस पर कोई वारनिश नही है। यह चित्र भी वाराणसेय सस्कृत विश्वविद्यालय के सग्रहालय मे संगृहीत है (चित्र २)। तीसरा उदाहरण एक महरट्टा सरदार के चित्र का है कदाचित् यहाँ बालाजी राव पेशवा को अंकित करने का प्रयत्न किया गया है। इसमे दूर पर माधोराव का धरहरा तथा उसके पास की मस्जिद भी अकित है। बाला जी ने एक मन्दिर इसी मस्जिद के पास बनवाई थी इस कारण हो सकता है है कि उन्ही की यह छवि हो। यह चित्र स्याह कलम मे अकित है परन्तु चेहरे के पोल की बारीकी
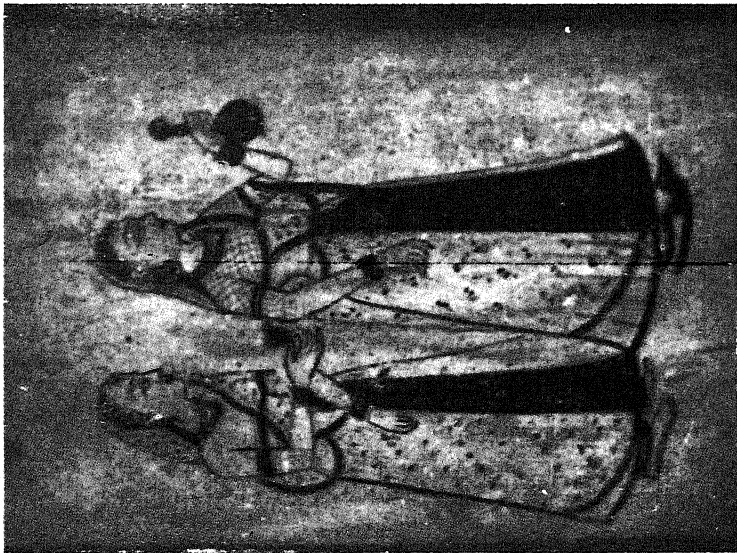
चित्र – १
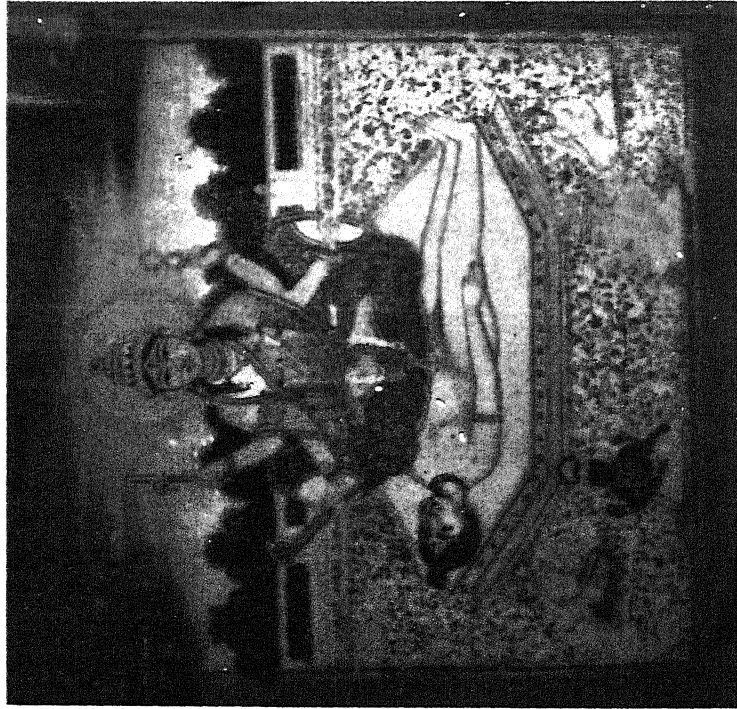
चित्र – २

चित्र – ३
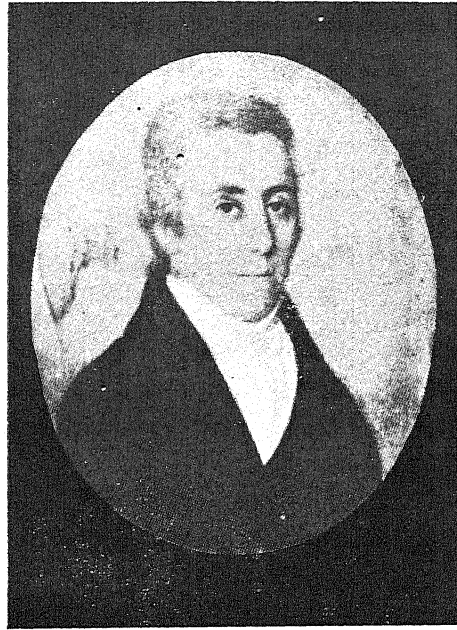
चित्र – ४

चित्र – ५

चित्र – ६

देखने लायक है (चित्र ३) । इसी युग का एक और उदाहरण एक फिरंगी का चित्र है। सम्भव है कि यह किसी बडे फौजी अफसर का हो क्योकि इसे फौजी नीला कोट पहिने दिखाया गया है। इसमें चेहरे का रग बनाने में बड़ी कारीगरी से काम लिया गया है बिल्कुल अंग्रेजो के रग से रंग मिला दिया गया है कपडे पर छाया और आलोक दिखाने का भी प्रयत्न किया गया है। (चित्र ४) एक और चित्र एक अधेड़ अंग्रेज पादरी का है। इसके काले कोट पर गोद लगा कर चमकाने का भी प्रयत्न किया गया है जिससे यह ज्ञात हो कि यह कोट काले साटन का है। इसके चेहरे में पोल दिखाने का सफल प्रयत्न किया गया है (चित्र ५) । ये दोनों चित्र भारतीय चित्रकारों की कला के नमूने हैं क्योकि इनमें पाश्चात्य और प्राच्य शैलियो का मिश्रण दिखाई देता है। ओठों की लाली इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। ऐसे और बहुत से चित्र काशी नरेश के संग्रहालय में तथा काशी के एक प्राचीन चौखम्बा के वसु घराने मे सुरक्षित है।

काशी के एक सिक्खी ग्वाल ने उस्ताद लालजी मल्लै से मुगलकालीन चित्रकला के भेद उनकी सेवा करके प्राप्त कर लिए थे। इन्ही के वशज उस्ताद रामप्रसाद थे[८] ये पटना शैली के उत्कृष्ट चित्रकार श्री ईश्वरी प्रसाद के समकालीन थे। रायकृष्णदास जी के संरक्षण में १६१५-४२ के बीच अनेक चित्र बनाये। ये प्रायः मुगलशैली के ही चित्र बनाते थे परन्तु पाश्चात्य चित्र शैली से भी पूर्णरूपेण परिचित थे।[९] इनकी कृतियो में हाथी दाँत पर एक राधाकृष्ण का चित्र[१०] तथा एक महादेव का चित्र बहुत अच्छे बन पडे। राधाकृष्ण की जोडी इन्होने वृन्दावन के कुज मे दिखाने का प्रयत्न किया है सयोग का ऐसा सुन्दर चित्रण कम दिखाई देता है। इस चित्र में राधा का आत्मसमर्पण स्पष्ट दृष्टि-गोचर होता है। महादेव के चित्र में भगवान् हिमालय की गोद में बाघम्बर पर पद्मासन में बैठे दिखाये गये है। ये ध्यान मे मग्न है और इनके सारे शरीर से आभा की किरणें प्रस्फुटित होती हुई दिखाई पड़ती हैं। शान्ति इनके मुख से टपक रही है। पीछे हिमालय की हिमाच्छादित चोटियाँ दिखाई देती हैं जो चारो ओर के वातावरण को शीतलता प्रदान कर रही हैं। इनके बाईं ओर गड़ा हुआ त्रिशूल जिसके सहारे एक मुण्ड लटक रहा है शान्ति की घोषणा कर रहा है (चित्र ६)।

हाथीदाँत पर अच्छे चित्र बनाना कठिन है तथा कागज की अपेक्षा श्रमसाध्य भी। हाथीदाँत की तख्ती भी उतनी अच्छी नही मिलती। इन कारणो से भी इस कार्य से चित्रकार विमुख होते जारहे हैं। यो इस कला का अपना स्थान है। रग के नीचे की हाथीदाँत की तख्ती जो रगो में एक लोच उत्पन्न करती है उससे इन चित्रो में एक विशेष आभा दृष्टिगोचर होती है। आधुनिक चित्रकला में जो अमूर्त शैली को प्रश्रय देती है—इस माध्यम का कोई स्थान नही है क्योकि आज हम वैज्ञानिक जगत् की आराधना में लगे हैं जिसमें न अन्तर आत्मा की रसानुभूति के दर्शन कराने की आवश्यकता है और न कला के कौशल के प्रदर्शित करने की। आज एक कण से रेगिस्तान बनता है पानी के एक बूंद से समुद्र बनता है। इस चित्र कला की भाषा ही दूसरी है, इसका कौशल ही दूसरा है जिसका हाथी दाँत की चित्रकारी से कोई सम्बन्ध नही है। वह अब एक अतीत की वस्तु हो गयी।

[८] रायकृष्णदास : भारत की चित्रकला, पृष्ठ : १०३।

[९] इनके तैल मिश्रित रंगों से कैनवस पर बनाये हुए चित्र लेखक के पास हैं।

[१०] रायकृष्णदास जी के निजी संग्रह में।

मथुरा कला में मांगलिक चिह्न

नीलकण्ठ पुरुषोत्तम जोशी

भारत की कलाकृतियो मे प्रतीक चिह्नो का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये चित्र विशेष प्रकार की आकृतियाँ होती है जिनके अपने निश्चित अर्थ स्थिर किये गये है। इनमे कुछ का सम्बन्ध देवताओं से तथा कुछ का सप्रदाय विशेष से होता है। कुछ चिह्न केवल मागल्य के द्योतक होते हैं, और कई सप्रदायो मे समान रूप से चलते है। प्राचीन भारत के तीन प्रमुख मत अर्थात् ब्राह्मण, बौद्ध और जैन अपने-अपने ग्रन्थों मे इन मगल चिह्नो की विस्तृत तालिकाएँ देते है। मथुरा से तीनो मतो की प्रतिमाएँ मिली है। इनमे से प्रारम्भिक काल की मूर्त्तियो पर अनेक रूपो से मागलिक चिह्नो का अकन किया गया है। इनमे से कुछ रूपो का समकालीन साहित्य मे भी वर्णन मिलता है। प्रस्तुत लेख मे मागलिक चिह्नो के इन्ही विविध रूपो का विवरण देने की चेष्टा की जा रही है।

कला में मांगलिक चिह्नो की परम्परा

कला मे मागलिक चिह्नों के दर्शन हमे मौर्य काल से मिलने लगते है। साची की शुगकालीन कला मे एक स्थान पर मगलमालाएँ दिखलाई पड़ती है। इनमे से एक माला मे ग्यारह और दूसरी मे तेरह चिह्न बने है।[१] मथुरा की कलाकृतियो को देखने पर ऐसा लगता है कि कुषाणकाल मे आठ मागलिक चिह्न विशेष प्रिय हो गये थे। इनका सम्मिलित नाम अष्ट मगल चल पडा। कुषाण काल से ही आठ मागलिक चिह्नो वाली माला अष्टमगलक नाम से पहिचानी जाने लगी थी।[२] निश्चित रूप से सातवी शताब्दि तक यह अलंकार प्रचलित रहा क्योकि महाकवि बाण ने भी इसका उल्लेख किया है।[३] अब प्रश्न यह है कि ये आठ मागलिक चिह्न कौन-कौन से थे। इसके विषय मे कई मतभेद है।

ईसवी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियो के एक लोकप्रिय बौद्ध ग्रन्थ 'ललितविस्तर' मे विशेष अवसरो पर मगल चिह्नो की कई सूचियाँ गिनाई गई है। उदाहरणार्थ भगवान् बुद्ध की हथेलियो पर शख, ध्वज, मीन, कलश, स्वस्तिक, अकुश व चक्र इन सात चिह्नो के बने होने का वर्णन मिलता है।[४] एक दूसरी सूची मे यह सख्या तेरह है। ये चिह्न निम्नाकित है[५] :—गधोदक से भरा हुआ पूर्णकुभ, मयूर, हस्तक या मोरछल, ताल वृक्षक, गधोदक से पूर्ण भृंगार या झारी, विचित्र पडलक या कमल के आकार का पुष्पपात्र, प्रलम्बनमाला या द्वारमध्य मे लटकने वाली माला, रत्न-रत्नभद्रा-

---

[१] मार्शल : मान्यूमेण्ट्स ऑव सांची, प्लेट ३७।

[२] अंगविज्जा, अष्टमंगलक, पृष्ठ १६३।

[३] वासुदेवशरण अग्रवाल : हर्षचरित्र का एक अध्ययन, ५,१२०।

[४] ललित विस्तर, अध्याय २१, पृष्ठ : मिथिला विद्यापीठ प्रकाशन।

[५] वही अध्याय ७, पृष्ठ : ७१।

लकार, भद्रासन, घण्टा लिये हुए ब्राह्मण, हाथी, घोडे, रथ और पैदल सिपाही। इसी प्रकार जैनो के एक प्रसिद्ध ग्रन्थ रायपसेणिय सुत्त मे मगल चिह्नो की तालिकाएँ मिलती हैं। वहाँ इन्हे मगलभित्ति-चित्र कहा गया है इनमे मुख्यतया निम्नांकित चिह्नो की गणना की गई है—स्वस्तिक, श्रीवत्स, नन्द्यावर्त, एक पात्र को ढूँढकर रखा हुआ दूसरा पात्र या वर्द्धमानक, भद्रासन, कलश, मत्स्य और दर्पण।[६] ब्राह्मण धर्म के ग्रन्थ भी इस बात मे पिछडे हुए नही हैं। इस प्रसग मे एक उदाहरण पर्याप्त होगा। स्कदपुराण मे पार्वती के विवाह के अवसर पर अकित मगल चिह्नो की एक लम्बी सूची मिलती है जिसमें सिह, हस, मोर, नाग, घोडे, मृग, द्वारपाल घुडसवार, चामर, हाथी, फूलो की माला, फूल को हाथ मे लिये हुए पुरुष, पताकाएँ, महालक्ष्मी, रथ, नदी, बैल, ऋषि, लोकपाल, सुवर्ण, कलश, रभा या केले का वृक्ष, मायामय अर्थात् काल्पनिक बैल, नाग आदि वस्तुओं की गणना कराई गई है। इनमे से कितने ही चिह्न आज भी द्वारो पर अकित किये जाते हैं।

साहित्य मे प्रचुरता से उपलब्ध होने वाले ये मंगल-चिह्न कला मे विशेषतया मथुरा की कुषाणकालीन ईसवी सन् की प्रथम से तृतीय शती तक की कला मे बहुलता से दिखाई पड़ते हैं। अध्ययन की सुगमता के लिए इन्हें निम्नाकित वर्गो मे बाँटा जा सकता है—

१. महापुरुषो के शरीर पर अकित मगल चिह्न,
२. आभूषणो मे प्रयुक्त मगलचिह्न;
३. पवित्रता एवं महत्ता के द्योतक मागलिक चिह्न।

महापुरुषों के शरीर पर अंकित मांगलिक चिह्न

आचार्य तथा देवताओ के पुरुषोत्तम होने का संकेत करने वाले चिह्न मुख्यतया मागलिक चिह्न ही हैं। प्रथम बुद्ध मूर्ति को ले। यह प्रसिद्ध ही है कि भगवान् बुद्ध की प्रथम प्रतिमा कुषाणकाल मे और वह भी मथुरा मे बनी। उसके निर्माण के सिद्धान्त भी समकालीन साहित्य के आधार पर ही स्थिर किये गये थे। 'ललितविस्तर' और 'दिव्यावदान' नामक ग्रन्थो मे जो उस समय निश्चित ही विद्यमान रहे, बुद्ध के शरीर पर अकित चिह्नो का वर्णन मिलता है। उनकी हथेलियो पर अंकित चिह्नों को हम गिना चुके हैं। दिव्यावदान मे इनकी हथेलियो को चक्र, स्वस्तिक और नन्द्यावर्त से युक्त बतलाया है।[९] मथुरा से प्राप्त बुद्ध और बोधिसत्व की मूर्त्तियों की हथेलियो पर चक्र अवश्य बना रहता है (चित्र १)। साथ ही साथ उगलियो के अन्तिम पर्वो पर भी मगल चिह्न बने रहते हैं। उदाहरणार्थ कटरा केशवदेव से मिली हुई सुप्रसिद्ध बुद्ध प्रतिमा मे अगूठे पर 'त्रिरत्न' और बाकी सभी उगलियो पर स्वस्तिक बने हैं (चित्र २)[१०]। एक दूसरी समकालीन मूर्त्ति की उगलियो पर स्वस्तिक, श्रीवत्स तथा मीन ये चिह्न विद्यमान हैं (चित्र ३)[११]। इस मूर्त्ति की शेष उंगलियाँ टूटी और घिसी होने के कारण अन्य चिह्नो के विषय मे कुछ नही कहा जा सकता।

[६] **रायपसेणियसुत्त, कण्डिका ६६, पृष्ठ १४५।**

[७] **स्कन्दपुराण अध्याय २४, श्लोक ६-३०।**

[८] **जोशी, नीलकण्ठ पुरुषोत्तम: 'हमारी द्वारालंकरण की प्राचीन परम्परा', 'आज' दिनांक १-१२-६२ वाराणसी।**

[९] **दिव्यावदान, ३ मैत्रेयावदान, पृष्ठ ३४।**

[१०] **मथुरा संग्रहालय, मूर्त्तिसंख्या ए—१।**

[११] **वही, मूर्तिसंख्या १८८।**

इन मूर्तियों के पैरों के तलुओं पर हाथों के समान त्रिरत्न और चक्र अवश्य बने रहते हैं। लखनऊ संग्रहालय में प्रदर्शित एक बोधिसत्व प्रतिमा के पैरों पर चक्र के साथ श्रीवत्स चिह्न भी बना है। तीसरा चिह्न जो कदाचित् त्रिरत्न रहा हो, अब अस्पष्ट हो गया है।[१२] इसी प्रकार पैरों की उंगलियों के अन्तिम पर्वों पर कहीं-कहीं स्वस्तिक[१३] तथा कहीं स्वस्तिक के साथ अन्य चिह्न भी विद्यमान रहते हैं (चित्र ३)।[१४]

चित्र—२ चित्र—३
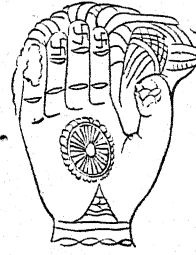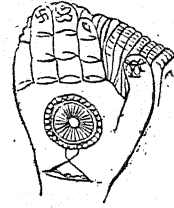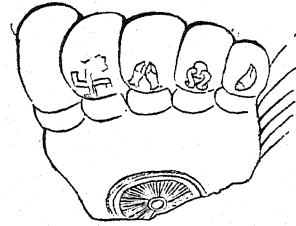
चित्र—१ चित्र—४

बुद्ध मूर्तियों के समान कुषाणकालीन माथुरी कला की जैन तीर्थंकरों की प्रतिमाओं पर भी मंगलचिह्नों के दर्शन होते हैं। इन मूर्तियों की एक विशेषता उनके वक्षस्थल के मध्य में बना हुआ श्रीवत्स का चिह्न है। स्थान, काल और कलाकार के भेद से इस चिह्न की कई प्रकार की आकृतियाँ मिलती हैं। तीर्थंकरों की हथेलियों पर चक्र तथा पैरों के तलुओं पर त्रिरत्न और चक्र इस काल में अपरिहार्य रूप से मिलते हैं। जहाँ तक उंगलियों पर बने हुए चिह्नों का सम्बन्ध है बौद्ध मूर्तियों की अपेक्षा तीर्थंकर प्रतिमाओं में ये चिह्न कम मिलते हैं। राजकीय संग्रहालय, लखनऊ के पुरातत्त्वविभाग में प्रदर्शित तीर्थंकर प्रतिमाओं में केवल तीन ही ऐसी हैं जिनके पैर की उंगलियों पर मंगल चिह्न दिखाई पड़ते हैं। इनमें एक प्रतिमा (जे-१९) में हाथ के अंगूठे पर त्रिरत्न और मध्यमिका पर स्वस्तिक बना है। दूसरी (जे–१७) पर अंगूठे का त्रिरत्न अस्पष्ट है पर शेष चिह्न घिसे या टूटे हैं। तीसरी प्रतिमा (जे-१०) के हाथों पर चिह्नों

---

[१२] लखनऊ संग्रहालय, मूर्तिसंख्या बी १८।

[१३] वही, मूर्तिसंख्या बी २।

[१४] मथुरा संग्रहालय, मूर्तिसंख्या ए—२४।

के धूमिल अवशेष भर विद्यमान हैं। प्रथम उल्लेखित दोनो मूर्तियाँ क्रमश सन् १२३ व १२६ मे स्थापित हुई थी।

तीर्थंकर प्रतिमाओ मे पार्श्वनाथ की मूर्तियाँ विशेष प्रकार की होती हैं। उनके मस्तक पर सर्पफणा बनी होती है जिसमे बहुधा सात सर्पमुख बने रहते हैं। कुषाणकालीन पार्श्वनाथ की मूर्तियो मे सर्पमुखो पर ऊपर की ओर मागलिक चिह्न भी बनाये जाते थे। इस पद्धति का सबसे सुन्दर उदाहरण मथुरा संग्रहालय की एक प्रतिमा है जिसमें श्रीवत्स, पूर्णकुभ, स्वस्तिक, मत्स्य, त्रिरत्न तथा शरावसपुट या वर्धमान के दर्शन होते हैं।[१५]

इस कला के लोक धर्म का एक प्रधान अग नाग पूजन था। विशेषतया मथुरा में नागपूजा के अनेक प्रमाण मिलते हैं। यहाँ पर नागो की दो प्रकार की मूर्तियाँ बनी—एक वे जो शुद्ध नाग रूप मे थी और दूसरी वे जो नराकार थी पर उनके मस्तक पर सर्पफणा बनाई जाती थी। इन मूर्तियो मे प्रथम प्रकार की नाग मूर्तियो मे कभी कभी मगल चिह्नो का उपयोग किया गया है। उदाहरणार्थ मथुरा सग्रहालय की एक नाग मूर्त्ति की फणा पर (सख्या ४०-२८८६) त्रिवर्तुल व **'हनीसिकिल'** चिह्न बने है। इसी प्रकार समकालीन पुरुषाकार नाग मूर्तियो मे विशेषतया

चित्र—५

सकर्षण या बलराम की मूर्तियों मे देवता के मस्तक को आवृत करनेवाली सर्प फणाएँ मागलिक चिह्नो से अलंकृत हैं। यहाँ हमे स्वस्तिक, श्रीवत्स आदि चिह्नो के दर्शन होते हैं। (चित्र ४)[१६]

आभूषणों में प्रयुक्त मंगल चिह्न

ललितविस्तर मे कुमार सिद्धार्थ के मस्तक के केशो का वर्णन करते समय बुद्ध ज्योतिषी असित द्वारा बालक के केश कलाप पर श्रीवत्स, स्वस्तिक, और नन्द्यावर्त चिह्नो के होने की बात कही गई है।[१७] मूर्तिकला मे इस तथ्य का प्रत्यक्षदर्शन बुद्ध और बोधिसत्व की प्रतिमाओं में नही होता पर शुगकालीन मिट्टी की प्राचीन स्त्री मूर्तियों में अवश्य होता है।[१८] इनके खूब सजे सजाये केश संभार मे एक ओर या दोनो ओर श्रीवत्स, चक्र, अकुश आदि दिखलाई पड़ते हैं। स्पष्ट है कि ये आभूषण विशेष ही होगे।

भरहुत, साची व मथुरा की कला कृतियों में रमणियो की शरीरयष्टि पर ऐसे कितने ही

---

[१५] **मथुरा संग्रहालय, मूर्तिसंख्या बी ६२ लखनऊ संग्रहालय, मूर्तिसंख्या जे ३९।**

[१६] **मथुरा संग्रहालय, मूर्तिसंख्या १४-१५, ४३९।**

[१७] **ललितविस्तर, अध्याय ७, पृष्ठ ७५।**

[१८] **मथुरा संग्रहालय।**

आभूषण दिखलाई पडते हैं जिनमे अभिप्रायों के रूप मे मगल चिह्नो का प्रयोग हुआ है। इनके कण्ठाभरणो मे बलय एव ककणो के सिरो पर, मेखलाओ के फुदो पर तथा कठुलों मे त्रिरत्न का खूब प्रयोग हुआ है।

पावित्र्य के द्योतक चिह्न

कभी वस्तुओं को मगलमयी बनाने के लिए अथवा उनकी महत्ता और प्रभाव को बढाने के लिए उनमे मगल चिह्न जोड दिये जाते थे। उदाहरणार्थ साची की कलाकृतियों मे तलवारों के कोशों पर अलकरण के रूप मे त्रिरत्न का उपयोग हुआ है।[२०] इसी प्रकार पात्रो के अलकरणों के लिए मांगलिक चिह्नो का उपयोग होता था। राजघाट, वाराणसी की खुदाई मे एक ऐसा पात्र-खण्ड मिला है, जिस पर बड़े ही सुन्दर ढग से मागलिक चिह्न बनाये गये हैं। मथुरा सग्रहालय में भूतेश्वर से प्राप्त एक यक्षी की मूर्ति के हाथ मे जो आसव-घट दिखलाया गया है उस पर त्रिरत्न और पचदल के दर्शन होते हैं।

वास्तु कला ने भी मागलिक चिह्नो को प्रश्रय दिया। अशोक की मौर्यकालीन कृतियो से आज तक अभिप्रायो के रूप मे मागलिक चिह्न व्यवहृत हुए हैं। जहाँ तक माथुरी कला का सम्बन्ध है, उस प्रकार के चिह्न सर्वप्रथम हमे यहाँ से मिले हुए महाक्षत्रप के लेखाकित स्तभशीर्ष पर दिखलाई पडते हैं। यहाँ हमे त्रिरत्न के दर्शन होते हैं। द्वार-स्तभ या साधारण स्तभो पर मागलिक चिह्नो का अकन कुषाण काल की लोक प्रिय पद्धति थी। अबतक ऐसे कितने ही लेखाकित चिह्नो के नीचे वाले भाग या कुभ मिले हैं जिन पर त्रिरत्न, स्वस्तिक, शख और श्रीवत्स बने हैं।[२२] यहाँ पर इन्हे पुष्पमालाओं के अलकरणों मे बडी चतुरता से पिरोया गया है। इनके अतिरिक्त पूजनार्थ बचे हुए खंभो या चैत्यस्तभों पर ये चिह्न अवश्य ही दिखलाई पडते हैं। मथुरा की एक कलाकृति मे जिसे 'आयागपट्ट' नाम से पहचाना जाता है चक्र और त्रिरत्न से अकित चैत्यस्तभ दिखलाये गये हैं।[२३] घरो की छतो पर लगे शिखरो को भी त्रिरत्न से अंकित करने की पद्धति मथुरा कला कृतियो मे दिखलाई पड़ती है।[२४]

खभो के अतिरिक्त ईंटो को भी इन अलकरणो से शोभित किया जाता था। मथुरा के पुरातत्त्व सग्रहालय में ऐसी कई ईंटे सुरक्षित हैं जिन पर बडे ही सुन्दर ढग से स्वस्तिक, त्रिरत्न, पूर्णकुभ, श्रीवत्स आदि चिह्न उकेरे गये हैं।[२५] कुछ विद्वानो का अनुमान है कि कभी ये ईंटे मथुरा के कुषाणकालीन राजप्रासादो की शोभा बढाती होंगी।

पूर्णकुभ और उससे ऊपर आनेवाली कमललता एक बहुत ही लोक प्रिय मागलिक चिह्न

---

[१९] मथुरा संग्रहालय।

[२०] कनिंघम : भिलसा, टोपस्, प्लेट ३३, फिगर्स २,३।

[२१] मथुरा संग्रहालय, मूर्तिसंख्या ११,१५१।

[२२] मथुरा संग्रहालय, मूर्तिसंख्या पी—२३।

[२३] लखनऊ संग्रहालय, मूर्तिसंख्या बी—१०८।

[२४] मथुरा संग्रहालय, मूर्तिसंख्या क्यू० २।२४—वही, मूर्तिसंख्या १७—१३४३।

[२५] वही, मूर्तिसंख्या—श्रीवत्स—१८.१४९४; चक्र—१८—१४९६; त्रिरत्न—१८—१४८४।

रहा है। अग्निपुराण के अनुसार यह अभिप्राय स्वय श्री लक्ष्मी का प्रतीक है। इसके उपयोग का इतिहास शुगकाल से प्रारम्भ होता है और आज तक अक्षुण्ण रूप से चला आता है। माथुरी कला के द्वार-स्तभो पर इसके भी उदाहरण प्राप्त होते हैं।[२६]

ऊपर गिनाये गये स्थलो के अतिरिक्त अन्यत्र भी मागलिक चिह्नो का प्रयोग हुआ है जिसमें सबसे अधिक उल्लेखनीय वे विशाल छत्र है जो कभी बुद्ध और बोधिसत्व प्रतिमाओ की शोभा बढ़ाते थे। इन पाषाण छत्रो पर मागलिक चिह्नो की पातें सजाई गई हैं। सारनाथ (वाराणसी) के सग्रहालय मे रखा हुआ बोधिसत्व का विशाल छत्र जो मथुरा कला की ही देन है, स्पष्ट और भव्य आकार के मागलिक चिह्नो से अलकृत है। मथुरा के सग्रहालय मे ऐसा ही एक वर्गाकार खण्डित छत्र है।[२७] उस पर स्वस्तिक, पडलक या कमल के आकार का पुष्पपात्र, एव लड्डुओ से भरा पूर्ण पात्र भी स्पष्ट रूप से विद्यमान है। इस प्रकार के मंगल भित्ति-चित्रो से युक्त छत्रो का वर्णन रायपसेणिय सुत्त मे मिलता है।[२८]

यहाँ कनिष्ठिका पर शख उसके बाद क्रम से श्रीवत्स, मीन युग्म व स्वस्तिक वने हैं। अंगूठा टूट गया है इसलिए उस पर का चिह्न अज्ञात है। कदाचित् वह त्रिरत्न रहा हो जैसा कि हाथो के अंगूठो पर दिखाई पड़ता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि ईसवी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों में भी समाज मे मागलिक चिह्नो का कितना बोल बाला था। प्रस्तुत लेख मे केवल मथुरा की सामग्री पर वह भी मुख्यत. कुषाणकालीन सामग्री पर विचार किया गया है: भरहुत, साची, अमरावती, गोली, अजता, नागार्जुनीकोडा आदि स्थानो की प्राचीन कला इस विषय पर बहुत अधिक प्रकाश डालती है। विशेषतया समकालीन साहित्य के साथ किया गया इस सामग्री का अध्ययन सजीव और सागोपाग चित्र उपस्थित करेगा।

---

[२६] वही, मूर्तिसंख्या ५७४४७।

[२७] वही, मूर्तिसंख्या २७४४।

[२८] रायपसेणिय सुत्त, कण्डिका १०६, ५—१७८—६।

सैन्धव स्थापत्य

पृथ्वीकुमार अग्रवाल

सिन्धु की घाटी मे ताम्रप्रस्तरयुगीन सभ्यता के अवशेषों की खोज से भारतीय सस्कृति, साथ ही कला, के इतिहास मे एक नया रोचक अध्याय जुडा। यद्यपि प्रागैतिहासिक सस्कृति के अवशेष सारे भारत में बिखरे है, किन्तु 'सैंधव' सभ्यता की सामग्री का प्रामाण्य और लबी परम्परा मिलती है। सिंध के लरकाना जिले में लरकाना से २५ मील दूर दक्षिण की ओर स्थित मोहेजोदड़ो (सिंधी, मोया-जो-दडो, अर्थात् मृतकों का टीला) नामक ढूह के ऊपरी हिस्से पर दूसरी-तीसरी शती ईसवी के एक बौद्धस्तूप तथा बिहार की खुदाई के दौरान १६२२ मे श्री राखालदास वद्योपाध्याय को बौद्ध-वास्तु के नीचे कुछ ऐसे अवशेष मिले, जिनके प्रागैतिहासिक स्वरूप को उन्होंने तत्काल पहचानते हुए लोगो का ध्यान उस ओर खीचा। प्राय एक वर्ष पूर्व १६२१ मे भारतीय पुरातत्त्व विभाग की ओर से पजाब के मॉन्टगोमरी जिले मे हडप्पा मे भी खुदाई की गई थी। हड़प्पा के खण्डहरो से पशु-आकृतियो तथा अज्ञात लिपि मे लिखे लेख युक्त टिकरे सर अलेग्ज़ेन्डर कनिंघम को सन् १८६१ में मिले थे और उनके बाद भी प्राय पाए जाते रहे थे। उनकी अत्यन्त प्राचीन तिथि के बारे मे प्राय विचार प्रकट किया जाता था। हडप्पा, जिसकी पहचान ऋग्वेद के 'हरियूपिया' से असम्भाव्य नही जान पडती तथा मोहेंजोदड़ो के क्रमिक तथा व्यवस्थित उत्खनन से जिस सभ्यता का स्वरूप सामने आया वह समय की दृष्टि से मिस्र और सुमेर की प्रागैतिहासिक सभ्यताओं के समकक्ष और विस्तार तथा कलासाधना की दृष्टि से कही बढी-चढ़ी थी।

बलूचिस्तान तथा सिंध प्रदेशो के विस्तृत पुरातात्त्विक सर्वेक्षण और केन्द्रित उत्खनन से इस सभ्यता से सबद्ध साठ से भी ऊपर अन्य स्थल सामने आए, जहाँ से अनेक महत्त्वपूर्ण अवशेष प्राप्त हुए। यद्यपि इनमे से अनेक छोटे पहाडी कस्बो तथा गाँवो से अधिक नही है, किन्तु उनमे हडप्पा-मोहेंजोदडो की सुसंस्कृत नागरिक सभ्यता का छिट-पुट उत्फलन रोचक और महत्वपूर्ण है। स्वतत्रता प्राप्ति के बाद भारतीय पुरातत्त्व-विभाग की बीकानेर मे घग्घर की शुष्क तलहटी मे २५ से अधिक और नीचे सौराष्ट्र में उतर कर (रगपुर-लोथल आदि) समकक्ष स्थलों की उत्साहवर्धक शोध तथा खुदाई से हड़प्पा-सभ्यता का जितना देशगत विस्तार सामने आया है, वह मिस्र मे नील नदी के किनारे तथा दजला-फरात नदियो के काँठे की सभ्यताओ से कही अधिक है।

हडप्पा और मोहेंजोदडो सिंधुघाटी की प्रागैतिहासिक ताम्रप्रस्तरयुगीन सभ्यता के दो प्रमुख नगर केन्द्र थे, जिनमें पहला पजाब के मॉन्टगोमरी जिले में रावी की एक प्राचीन धारा पर बसा स्थान है, और जो इस सभ्यता के प्रसार का उत्तरी केन्द्र था। मोहेंजोदड़ो सिंध में इस सभ्यता की पश्चिमी राजधानी थी। इसका फैलाव शिमला की पहाड़ियो के निचले हिस्से मे बसे रूपड़ से लेकर अरबसागर (महोदधि) के किनारे सुटकागनडोर तक था। इतना ही नही खुदाई मे पूरब की ओर इसका विस्तार

मेरठ जिले मे उखलीना तथा दक्षिण की ओर काठियावाड मे रगपुर, लोथल, सोमनाथ, (जिला हालार) आदि तथा आगे नर्मदा तथा ताप्ती के मुहाने के पास खम्भात की खाड़ी तक पाया गया है। रूपड़ से लेकर सुटकागनडोर और हडप्पा से लेकर भगतराव तक की दूरी १००० मील से भी अधिक है और प्रसार के विस्तृत प्रदेश की दृष्टि से सिन्धु सभ्यता मिस्र की नील घाटी की सभ्यता से तुलनीय है, जिसका अधिकतम विस्तार ५०० मील से कम ही है।

इतने विस्तृत अवशेषों के बावजूद भी सैंधव सभ्यता की तिथि के सम्बन्ध मे कोई निश्चित सर्वमान्य मत नही प्रतिपादित हो सका है। समय-निर्णय का मुख्य आधार मेसोपोटामिया के पूर्वेतिहासिक नगरों से ईसा पूर्व की तीसरी सहस्राब्दी के परवर्ती भाग और दूसरी सहस्राब्दी के प्रारम्भिक भाग मे भारत से ज्ञात होने वाले सम्पर्क का समुचित निर्णय रहा है। श्री गैड महोदय ने १९३२ मे ब्रिटिश संग्रहालय मे सगृहीत विशेषत् ऊर से प्राप्त सिंधुशैली की सीलो की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित करते हुए इसे विचार का विषय बनाया। किश, सूसा, लघश, उम्मा, तल्लअस्मर से प्राप्त आठ तथा दो-अज्ञात-उद्गम वाली पूर्वसूचित सीलों के साथ-साथ ऊर की तथा ३ अन्य ज्ञात सीलें मिल कर २९ या ३० की एक प्रभावशाली अध्ययन-सामग्री प्रस्तुत करती हैं। इनमे से कम से कम १२ ऐसी हैं, जिनके सम्बन्ध मे पुरातात्त्विक तिथिक्रम का साक्ष्य प्राप्त है और जिनमे से ७ अक्कद राजा सारगोन के काल की हैं, जिसका समय २४०० ई० पू० निश्चित किया जाता है। एक पूर्वसारगोन काल तथा ४ सागोरन परवर्ती मानी गई हैं। अतः सिन्धुसभ्यता का समकक्ष समय २५०० ई० पू० के आसपास रखा जाना कठिन नही, जिसका प्रसार १५०० ई० पूर्व तक है। इसकी पुष्टि में श्री ह्वीलर ने हडप्पा की एक विषमकोणसमचतुर्भुजाकार सील तथा चनहुदडो की हडप्पा-परवर्ती काल की एक सील की ओर ध्यान दिलाया है, जिस पर बनी हुई गिद्धाकृति सूसा (ल० २४०० ई० पू०) तथा उत्तरी सीरिया के तल्लब्रक (ल० २१०० ई० पू०) में मिलने वाले अंकनों की भांति है। इसके अतिरिक्त उन्होंने सिन्धु तथा मैसोपोटामी सभ्यताओ मे परस्पर तुलनीय हड्डी, मिट्टी, धातु की वस्तुओं के उदाहरण दिए हैं, जिनके लिए द्रष्टव्य, उनकी पुस्तक 'सिन्धु सभ्यता' (दि इडस सिविलिज़ेशन, पृष्ठ ८४ से आगे)।

यह निष्कर्ष निश्चय ही सिन्धु सभ्यता को, जिसने भारतीय इतिहास तथा कला की प्राचीनता को २००० वर्ष पूर्व पहुँचाया, विश्व की प्रागैतिहासिक सभ्यताओं के तिथि-तारतम्य में निर्दिष्ट स्थान देता है। किन्तु सिन्धु सभ्यता के अपने महान् विस्तार के अन्तरग क्रम के लिए दूसरा दृष्टिकोण ही सहायक है। विद्वानो ने वैदिक सभ्यता मे सिन्धु सभ्यता के सूत्रो को ढूँढ़ा है और निःसदेह वह अध्ययन काफी शोध-पूर्ण होते हुए वैदिक सभ्यता को समवर्ती पुरातात्त्विक अवशेष और सिन्धु अवशेषों को समकालीन (?) भाषा प्रदान करता है। किन्तु प्राय. यह मान्यता है कि ये भिन्न-भिन्न सस्कृतियों के द्योतक हैं अर्थात् आर्य एव अनार्य। कभी-कभी सिन्धु सभ्यता के विध्वस का श्रेय वैदिक आर्यो को ही दिया जाता है।

हडप्पा और मोहेंजोदड़ो उत्तम नगर-विन्यास के नमूने हैं और ऐसा लगता है कि दोनों का निर्माण दुर्ग या पुर के रूप मे हुआ था और वे दो बडे नगर-केन्द्रो के रूप मे बसे थे। इनकी भूमिस्थ रूपरेखा मे प्राय समानता है। इनमे से प्रत्येक का विस्तार मोटे तौर पर लगभग ३ मील से अधिक और एक जैसा था। एक रावी के दक्षिण तथा दूसरा सिन्धु के पश्चिमी किनारे पर बसा होने पर भी दोनो नगरों का सामान्य रूप उत्तर से दक्षिण की ओर ही मिला है। दोनो ही नगरों मे किले-

बन्दी या परकोटे का प्रमाण है। यह दुर्ग या गढी समानान्तर चतुर्भुज आकार मे निचले शहर से हटकर पश्चिम की ओर है। (४००-५०० गज उत्तर-दक्षिण तथा २००-३०० गज पूर्व-पश्चिम, और अधिकतम वर्तमान ऊँचाई ४०)। सभवत इसमे राजकीय या शासनिक सत्ता का निवास था और जिसके उपयोग के लिए विशाल आकार वाले भवनो के अवशेष प्राय इसी के भीतर मिले है। यह किलेबन्दी मोहेजोदडो मे नगर के ही, जिसका सूत्रमापन की दृष्टि से मुख्य सडके विभिन्न खण्डो को घेरती हुई वर्गीकरण करती है, एक वर्ग मे है। हडप्पा मे भी ऐसी ही रूपरेखा अनुमित है। स्पष्ट है कि इनका निर्माण पहले से सोची-समझी और अभ्यस्त योजना प्रणाली पर हुआ था, जिसका फल सडको की सुव्यवस्थित रचना और उनपर मकानो की योजना मे और भी प्रशसनीय है। कालीबगा मे प्राप्त ऐसी ही समानान्तर विन्यास-प्रणाली एक और उदाहरण जोडती है। इसमे सन्देह नही कि सिन्धुघाटी के अवशेषो से जो 'पुर' का ढाचा सामने आया है वह नगर-विन्यास की कला का चमत्कारी नमूना है और समकालीन सभ्यताओ मे अपना जोड नही रखता।

यद्यपि हडप्पा अवशेषो को वर्षो तक ईट के खोजियो ने पहले ही इस बुरी तरह उधेड दिया था कि वहाँ की खुदाई मे व्यवस्थित सामग्री का अभाव रहा, किन्तु मोहेजोदडो मे नगर-मापन की श्रेष्ठता और सुसगठित योजना का पूरा चित्र प्राप्त होता है। हडप्पा की अपेक्षा मोहेजोदडो छोटा नगर था, फिर भी इसका क्षेत्र एक वर्ग मील से अधिक है। सम्भव है यह आकार मे और बडा रहा हो, जिसके फैलाव के चिह्न सिन्धु के बालू के नीचे दबे जान पडते है। यह मार्के की बात है कि हडप्पा से प्राप्त कुछ परवर्ती वस्तुओ के अतिरिक्त दोनो नगरों के अवशेष प्राय एक-से है। मोहेजोदडो मे २० से लेकर ७० फुट ऊँचे ढूहो की खुदाई मे पानी की सतह तक अवशेषो की ७ तहे मिली है, जिनमे ऊपर की तीन परतें उत्तर युग, बीच की तीन मध्ययुग और अन्तिम सातवी पूर्व युग की है। समय के दौरान सिन्धु की तलहटी के स्तर मे २० फुट या अधिक ऊँचाई आ जाने के कारण यह सम्भव नही हो सका कि सातवी परत के नीचे सभ्यता के प्राचीनतम स्तर तक पहुँचा जा सके। यह एक सामान्य धारणा है कि हडप्पा का समय कुछ पुराना है यद्यपि इसके लिए हमारे पास साक्ष्य का अभाव है। सम्भवत. अन्तिम विध्वस के पूर्व इन विभिन्न स्तरों में नगर के कई बार बाढ या किन्ही आकस्मिक कारणों से तात्कालिक उच्छेद की लगभग आठ सौ वर्षों की कहानी छिपी हुई है फिर भी यह एक श्लाघ्य तथ्य है कि वास्तुविद्याचार्यों ने पहली बार जो समझे-बूझे नगर विन्यास की आधार शिला रख दी थी, उसके प्रति निर्माताओ की श्रद्धा ज्यो की त्यो बाद मे भी बनी रही। उस व्यवस्था का उल्लघन नही किया गया और घरो आदि के निर्माण मे सडको-वीथियो को दबाकर उसका रूप आद्यत नही बिगड़ा। फिर भी, अन्तिम काल मे इस नियम के प्रति उपेक्षा के उदाहरण इसके अपवाद हैं।

मोहेजोदडो के अवशेषों से ज्ञात होता है कि सारे नगर मे सडको का जाल-सा बिछा था। महापथो और पथो के निर्धारित सयोजन के कारण शहर अनेक मुहल्लो मे विभक्त था। सडके बिलकुल सीधी और एक दूसरे को समकोण पर काटती है। हवा का रुख दक्षिण और पश्चिम से उत्तर और पूर्व की ओर होने से सडको का विन्यास यथावत् किया गया था। मुख्य राजमार्ग जो, उत्तर से दक्षिण को है, ३३ फुट तक चौडा पाया गया है। उस पर कई गाडियाँ एक साथ चल सकती है। पूर्व से आने वाला दूसरा महापथ उसे नगर के दक्षिणी भाग की ओर हट कर काटता है जहाँ एक प्रशस्त चतुष्पथ था जो किसी भी आधुनिक महानगर के चौराहे से तुलनीय है। अन्य सड़कें

कम चौड़ी और १६' से ६' तक है, जिन्हें ४' तक की गलियाँ मिलाती थीं। यद्यपि सड़कों पर ईंटों के बिछाने की प्रथा नहीं थी, किन्तु बीच में बहने वाली नालियाँ पक्की बनती थीं और उनकी सफाई का भरपूर ध्यान रक्खा जाता था। बँटे हुए वर्गाकार और आयत मुहल्लों का एक स्वतन्त्र अस्तित्व सार्वजनिक कुएँ तथा निजी जल-प्रणाली से स्पष्ट है।

उचित स्थलों पर कूड़ेदान की भी व्यवस्था है। सर्वोपरि नालियों का सुन्दर प्रबन्ध है, जो नागरिकों की स्वास्थ्यप्रियता का प्रमाण है। ये सब जगह ईंटों के पटाव से चूने-मिट्टी की सहायता से पक्की बनी हैं। चौड़ी नालियों के ढकने में बड़ी ईंटें अथवा पत्थरों का प्रयोग है। बड़े नाले २' तक गहरे तथा छोटी नालियाँ ९" से १८" तक गहरी पाई गई हैं।

वीथियों और गलियों के किनारे तरतीबवार दोनों ओर मकान बनाए गए थे। दर्शक भवन-निर्माण कला की सादगी और प्रांजलता से चौंक उठता है। मकान कहीं भी आगे निकल कर रास्ता नहीं छेंकते। चौराहे के मोड़ों पर बने भवनों के कोने घिसे हुए मिले हैं। अनुमान है कि या भारवाही पशुओं की रगड़ से घिसे होंगे या इसका ध्यान रख कर मूलतः ऐसे ही बनाए जाते थे। भवनों के प्रवेश-द्वार सँकरी गलियों की ओर खुलते हैं। यह व्यवस्था एकान्त तथा सुरक्षा के ध्यान से की जाती थी। ये आपस में सटे बने हैं, पर कभी-कभी दो मकानों के बीच फुट-भर की जगह छोड़ी गई है। इन सँकरी गलियों की परम्परा हमारे देश में अनजानी नहीं है। आज भी प्राचीन नगरों में यह देखा जा सकता है कि विशाल भवनों के स्नानागार प्रायः गलियों या मार्गों की तरफ ही होते हैं। भवनों की दीवारें इतनी शक्तिशाली और मोटी होती थीं कि वे दो या तीन तीन छतों का बोझ वहन कर सकती थीं। दीवारों में समचतुर्भुज अथवा चतुर्भुजाकार छिद्र स्पष्ट व्यक्त करते हैं कि छतों के निर्माण के लिए धरनें तथा बल्लियों का प्रयोग किया जाता था, जिन पर सरकन्डे फैला कर मिट्टी की मोटी तह बिछा दी जाती थी। ऊपरी मंजिल पर चढ़ने के लिए सीढ़ियाँ भी मिली हैं, किन्तु वे १५" ऊँची और केवल ५" ही चौड़ी हैं। सिंध निवासी सोपानश्रेणी के अतिरिक्त लकड़ी की सीढ़ी भी काम में लाते रहे होंगे। यद्यपि मकानों की छत कहीं भी अवशिष्ट नहीं मिली, किन्तु वह और ऊपरी मंजिल लकड़ी की बनती रही होंगी।

औसतन मकान ३०'×२७' के होते थे और विशेष भवन इसके प्रायः दुगने। यह महत्त्वपूर्ण बात है कि सिन्धु-सभ्यता के भवनों में आंगन एक प्रमुख तत्त्व था, जिसके तीन ओर कक्षों का निर्माण होता था और एक तरफ प्रवेश मार्ग था। यह विशेषता आजतक भारतीप परम्परा के भवनों के लिए सही उतरती है, जहाँ रोशनी धूप तथा खुली हवा का घरों में प्रबन्ध स्वास्थ्य के लिए अत्यावश्यक है। आंगन के तीन ओर बने हुए कमरों में रसोई, स्नानागार भी सम्मिलित हैं। किन्हीं घरों में शौचालय का अस्तित्व भी ज्ञात होता है। साधारण परिवार के दो कक्षों के मकान से लेकर विशालतम भवनों में तीस कक्ष तक दृष्टिगत हुए हैं।

प्रकाश की व्यवस्था दरवाजों से ही की जाती थी। परन्तु कतिपय साक्ष्य जालीदार वातायनों के भी अवश्य हैं। यद्यपि लकड़ी से बने किवाड़ों का कोई अतिस्त्व नहीं मिला है, किन्तु यह कहना सम्भव नहीं कि सिन्धु घाटी के निवासी गृहों में सुरक्षा का ऐसा साधन नहीं प्रयुक्त करते थे। औसतन द्वार ३'–४" चौड़ा तथा दुगना ऊँचा है। विशाल भवनों के द्वार अपवाद स्वरूप हैं। उदाहरणतः २७'–१०" चौड़े द्वार के अवशेष प्राप्य हैं। इन्हें बन्द करने का तरीका ब्योंड़े से रहा होगा जो कि आजतक प्राचीन भारतीय घरों में देखा जाता है।

भोजन बनाने के लिए सैन्धव निवासी आगन का प्रयोग करते रहे होगे। रसोई के लिए एक कक्ष भी लिया जा सकता था। विशाल इमारतो मे एक कक्ष में पाकशाला ज्ञात होती है, जिसमे चल्हों के लिए ईंटों की नालियाँ बना देते थे। उनमे ईंधन लगाते थे। एक विशाल भवन मे दीर्घाकार तदूर भट्टी का अवशेष प्राप्त होता है, जो इस बात को स्पष्ट रूप से बताता है कि सिन्धु के लोग भी मैसोपोटामिया के वासियो की भाति भट्टियो का प्रयोग करते थे। आज-तक पश्चिमी भारत तथा पजाब मे इसका प्रचलन है। किन्ही अनुमित रसोइयो मे जमीन मे गड़े मृत्पात्र मिलते है, जो गन्दे पानी के लिए रहे होंगे।

बडी सडको की ओर ईंटों से चिनी हुई भीते १८' की मिली हैं, जबकि गलियो मे उनकी ऊँचाई २५' तक निकाली गई है। कारण सभवत सिन्धु प्रदेश मे घनघोर वर्षा का होना था, जिसने खुली सड़कों को और अधिक क्षति पहुँचाई होगी। जैसा कि ऊपर कहा गया है, ये दीवारे इतनी मोटी हैं कि इन पर ऊपरी मंजिलों की व्यवस्था बहुत सुचारु हो सकती थी। चिनाई का ढग एकदम सीधा था। बाहरी ओर भित्तियाँ बिलकुल सादी है और भीतर भी सुधालेप या पलस्तर बिरले ही है। कमरो के फर्श मिट्टी कूट कर कच्चे ही बने थे।

इसके विपरीत स्नानागार, जो कि प्राय. प्रत्येक घर मे पाया गया है, पक्के गच वाले थे, जिसकी जुडाई तथा गारे-चूने की लिपाई ऐसी है कि एक बून्द पानी भी नही रिस सकता। कही-कही सेलखडी या खक्खड चूने का प्रयोग भी मिलता है। फर्श एक तरफ को ढालुआँ रक्खा जाता था। ये स्नानागार प्राय जनपथो की ओर होते थे। इसका कारण स्पष्ट है। इससे स्नान आदि मे प्रयुक्त जल सरलता से स्नानकक्ष से बाहर किया जा सकता था। कतिपय अवशेषो मे प्राप्त सडास या शौचागार का स्थान प्रायः स्नानकक्ष तथा गली की ओर की दीवार के बीच मे ज्ञात होता है। इसमे भी चौरस पक्के फर्श का अस्तित्व था।

इसके जोड़ की 'प्रणाली व्यवस्था' है। गन्दे पानी के निकास के लिए समुचित प्रबन्ध दृष्टि-गोचर होता है। ऊपरी मजिल से वर्षा तथा स्नानागार आदि के पानी के गिरने के लिए पक्के परनाले है, जो नीचे की घर के भीतर से आने वाली छोटी मोरियो के साथ मिल कर एक नाली द्वारा मुहल्ले के नाले से जुडे थे। नालियो और मोरियो की ईंटे भी इस प्रकार बिछाई जाती थी कि उनमें पानी भरने की सभावना न रहे। वस्तुत घर के पानी के निकास की इतनी वैज्ञानिक व्यवस्था तत्कालीन सभ्यताओ मे क्या बाद की १८वी सदी तक की ससार की किसी नगरी मे भी अलभ्य है। सफाई की दृष्टि से ढकी नालियो की सामयिक सफाई के लिए पूर्वनिश्चित प्रबन्ध था। वर्षा तथा घर की मोरियों से आया गन्दा जल सीधा सड़क की नालियों मे नही जा मिलता था अपितु पहले मोरी घर से निकल कर एक गढ्ढे या गर्त मे गिरती थी और फिर जल मार्ग के प्रमुख नालों से मिलता था। इससे कूडा-करकट जाकर गड्ढों में बैठ जाता था, जिनकी सफाई नियमित रूप से सम्भव थी। फलत बिना किसी अवरोध के प्रमुख प्रणाली कार्यरत रहती थी। बड़ी तथा लम्बी नालियों की सफाई के लिए 'मैनहोल' भी है, जो ढक्कनों से ढके रहते थे। सीमान्तों पर नगर का गन्दा पानी जाने के लिए विशाल नाले ढाई फुट चौड़े तथा ४ से ५ फुट ऊँचे है, जिनको ढकने के लिए घोड़िया या पट्टेदार मेहराब की चिनाई काम में लाई गई है।

नालियों की ही भाति मोहेंजोदड़ो की जल व्यवस्था अत्यन्त प्रशसनीय तथा उच्चकोटि की

है। प्रत्येक गली में एक सार्वजनिक कुआँ होता था। इतना ही नही प्राय: प्रत्येक अच्छे घर में निजी कुआॅ मिलता है। ये कूप पक्की सूजापट्टी की ईंटो के बने है, जिनके जोड़ और मोड बड़ी सावधानी से मिलाए गए थे। कुओं की ऊँची जगत भली भाति पीट कर बनाई गई थी। उन पर जल-पात्रों के चिह्न अभी तक दृष्टिगत होते है। अवशेषों से प्रतीत होता है कि कुओं पर जब कुछ लोग पानी भरते थे दूसरे शेष लोग अपनी बारी के लिए बैठकर प्रतीक्षा करते थे, जिसकी विशेष व्यवस्था है। मोहेंजोदडो के कुएँ अत्यन्त सकरे है और उनका घेरा कम से कम दो या तीन फुट तथा अधिक से अधिक ७ फुट तक है। हडप्पा में एक विशेषता यह देखने मे आती है कि जैसे जैसे आवास भूमि का स्तर ऊँचा उठता गया है वैसे वैसे कूपो को भी ऊँचा उटाया जाता रहा।

हडप्पा तथा मोहेंजोदडो दोनों ही पकाई ईंटों से बने है। यद्यपि इसके कुछ अपवाद है, जहाँ पक्की तथा कच्ची दोनों प्रकार की ईंटो प्रत्यावर्ती रद्दो मे या कही-कही केवल कच्ची ईंटे लगाई गई हैं। सभी प्रकार की ईंटे, कच्ची या पक्की, सुडौल तथा उचित अनुपात मे हैं। नियमत. वे चौडाई की दुगनी लम्बी तथा आधी मोटी हैं। उनकी नाप १०¼″ × ५″ × २½″ से २०½″ × ८½″ × २½″ तक है। बहुत बडे आकार की ईंटें विशेष उपयोग के लिए है, जिनमे ११″ × ५¼″ × २½″ की ईंटे नाली पाटने मे प्रयुक्त हुई है। बिन पकाई ईंटे सामान्य रूप से प्रयुक्त पक्की ईंटो से बडी है। ईंटों का उत्पादन खुले साँचे मे पाथकर होता था, जैसा कि आज भी भारत तथा पूर्वी देशो मे होता है। हड़प्पा सभ्यता के भवनों में प्रयुक्त इन करोड़ों ईंटो को पकाने के लिए पास के जगलो की मनो लकड़ी ईंधन का काम देती थी।

विशेष कामों के लिए अन्य आकार की ईंटे ढाली जाती थी, जैसे कुएँ बैठाने के लिए सूजापट्टी की ईंटे। किन्तु आश्चर्य की बात है कि इनका अन्य उद्देश्य के लिए प्रयोग नही है यद्यपि सच्ची डाट का प्रयोग समकालीन तथा प्राचीन मैसोपोटामिया मे ज्ञात था। फर्श की जुडाई या अन्य विशेष कामों के लिए ईंटों को छोटे टुकड़ो मे काट लेते थे और कोर घिस-रगड़ कर साफ कर ली जाती थी।

बड़े कक्षों मे पक्की ईंटों के एक या अधिक स्तभ अक्सर मिले है, जिन पर छत टिकी थी। सभी स्तंभ वर्गाकार या चौकोर है तथा ऊपर नीचे एक ही नाप के है। केवल एक गावदुम स्तम्भ देखने में आया है जो आधार मे तीन फुट वर्गाकार है तथा ऊपर पतला होता हुआ ढाई फुट ही रह गया है। परन्तु समकालीन अन्य सभ्यताओ के लोग खम्भो का प्रयोग करते थे जैसा कि सुमेर मे खुदाई से ज्ञात होता है। ऐसा लगता है कि सैंधव लोग रूढिवादी थे और उन्होने कभी भी गोल स्तभो के प्रयोग का प्रयत्न नही किया। यद्यपि प्रयुक्त सूजापट्टी की ईंटो से गोल खम्भे बनाना सरल तथा स्वाभाविक था। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने प्रस्तर निर्मित खम्भों का भी प्रयोग नही किया। मोहेंजोदडो मे कई जगह से चूने पत्थर के बने वृत्ताकार १६″ से १९″ व्यास तक के लगभग फुट भर ऊँचे छल्ले मिले है, जिनके उपयोग के बारे में कुछ विद्वानो का अनुमान है कि लकडी के लम्बे लट्ठे पर उन्हे पिरोकर स्तभ का काम लिया जाता था। इसके विपरीत अन्य लोग इन वृत्ताकार खण्डों का 'योनि' के रूप मे धार्मिक उद्देश्य मानना पसन्द करते है।

मोहेंजोदडो नगर मे कई ऐसे भवनों की प्राप्ति हुई है जो विशिष्ट सार्वजनिक महत्त्व के ज्ञात होते है। किन्ही सडकों के मुहानो पर ऐसी इमारते है, जिनके बडे कक्षों मे पक्का फर्श है, जिसमे जगह-जगह कटोरे जैसे उथले गढ्ढे है, जिनके बनाने मे सूजापट्टी की ईंटे लगी है। अनुमान

है कि इनका उपयोग सार्वजनिक भोजनालय या ढाबे जैसा था। इसकी पुष्टि दो मुख्य सड़को के मिलने की जगह बने एक ऐसे भवन से होती है, जिसमे सीढी से चढकर एक विशाल मण्डप मे जाने का रास्ता है, जिससे सटी हुई रसोई का कमरा है। यह भी सम्भव है कि इन भोजनगृहो मे से कुछ का उपयोग विशिष्ट लोगो की सभा या जमावडे के लिए होता था।

नगर के उत्तरी भाग मे 'राजपथ' के उत्तरी ओर एक विशिष्ट महदाकार भवन के अवशेष हैं जो २४२'×११२' का है। उसकी बाहरी दीवारे ५' से भी अधिक मोटी हैं। उसमे प्रवेश मार्ग दक्षिण और पश्चिम की ओर से हैं। इसके उत्खनक के विचार मे यह किसी सार्वजनिक इमारत का भाग था जो ज्ञात सामग्री से प्राय एक महल प्रतीत होता है।

वस्तुत. इसके पास ही दक्षिण की ओर महल सी दीखने वाली एक इमारत भी खुदाई मे सामने आ चुकी है। यह महत्त्वपूर्ण एव विशाल भवन अच्छे वास्तु का नमूना है, जिसमे दो विशाल मण्डप हैं, जिनके बीच ५ फुट का बरामदा है। चारो ओर इनसे सटे हुए कक्ष हैं, जिनकी पहचान नौकरो की कोटरियों तथा भाण्डागारो से की गई है। इस घरेलू भवन मे एक ३½" ऊँचा ३' ८" व्यास वाला गोल तदूर भी मिला है जो इस प्रदेश क्या सारे एशिया मे आज तक उपयुक्त होता है। इसमे ऊपरी मजिल या छत तक ले जाने वाली चार सीढियाँ भी हैं। (आकार २२०'×११५')

इसकी खुदाई से यह बात स्पष्ट ज्ञात होती है कि क्रमिक युगो मे इसकी हालत गिरती गई और अन्तिम काल मे किसी अज्ञात कारण या अत्यधिक महत्व गिर जाने से यह बहुत विपन्नावस्था मे थी।

डी-के हिस्से की एक अन्य विशाल इमारत उल्लेखनीय है, जिसे यात्रियो या पथिको के लिए पाथागार या आवासगृह समझा गया है। इसमे मुख्य बात इसका अग्रेजी के 'एल' आकार का मण्डप है, जिसमे दीवार से निकले हिस्सो पर छत की भारी धरन टिकती थी या वे स्वयं चारों ओर की वीथी बनाते थे। एक छोटे कक्ष मे कुआँ तथा परवर्ती काल मे जोडा गया शौचालय उल्लेखनीय है।

जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है कि हडप्पा तीसरी सहस्राब्दी ई० पू० मे रावी पर बसा हुआ था और नगर को किसी भी समय बाढ़ का खतरा हो सकता था। इसमे कोई सन्देह नही कि दुर्ग रक्षा के प्रारम्भिक काल मे बने विशाल परकोटे का मिट्टी और ईटो का बधा या वप्र बाढ के पानी से बचाने के उद्देश्य से बनाया गया था। बाह्य प्राचीर पर्याप्त ऊँची थी तथा दुर्ग-द्वार अत्यन्त विशाल था। यद्यपि साधारणत. प्राचीर कच्ची ईटो की बनी है, परन्तु सम्मुख भाग मे जहाँ बाह्य आक्रमण का विशेष भय होता था पक्की ईटो का प्रयोग किया जाता था। यह चालीस फुट मोटी तथा ३५ फुट ऊँची थी। मोहेंजोदडों मे भी जिसकी स्थिति द्वीप जैसी है, नदी के निकटतम भाग में प्रागैतिहासिक बँधे के अवशेष मिले हैं।

दोनों ही नगरो मे इन पश्चिमी ढ़ूहो का स्वरूप कोट से घिरे पुरो का है, जिनमें तीस रूढ या उससे भी अधिक ऊँचे ईटे-गारे के चबूतरे पर कई विचित्र रूपरेखा वाली महत्त्वपूर्ण इमारते बनी थी। इनके चारो ओर अन्दर कच्ची तथा बाहर पकाई ईटो से बनी दीवार रक्षात्मक प्राकार है, जिसमे स्थान-स्थान पर चौकोर अट्टालक तथा विशाल गोपुर द्वार थे। हड़प्पा मे ऐसा देखा गया कि विशाल पुर के (४००×२०० गज) चबूतरे के ऊपर चारो तरफ बने प्राकार मे प्रमुख द्वार उत्तर की ओर था और पश्चिम की ओर बने गोपुर को सभ्यता के परवर्ती काल में पूर्णतः

या अशत. बन्द कर दिया गया था। यद्यपि यह निश्चित है कि हडप्पा के विशेष महत्व के भवन जिन्हे राजकीय या सार्वजनिक कहा जायगा इसमे स्थित थे, किन्तु ये प्राय पूर्णतया नष्ट हो चुके है। सौभाग्य से मोहेंजोदडो मे पुर के भीतर बने भवनो का स्वरूप अधिक स्पष्टता से सामने आता है।

मोहेजोदड़ो मे भी ऐसी ही रक्षा प्राचीर थी। इस अनुमान की पुष्टि मे १९५० मे श्री ह्वीलर पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध करने मे सफल हुए। यहाॅ खुदाई मे सबसे बडी रुकावट कुषाण-कालीन बौद्ध स्तूप ने पैदा कर रखी है। अनुमान है, जो सत्य के निकट प्रतीत होता है, कि इस थूहे के नीचे प्रागैतिहासिक भवनो के महत्त्वपूर्ण खण्डहर दबे पडे है। किन्तु परकोटे के भीतर बने हुए अन्य भवनो मे महास्नान कुण्ड, अन्नागार, महल, सस्थागार आदि है।

महास्नानकुण्ड—मोहेजोदड़ो मे स्तूप के पश्चिम सबसे प्रसिद्ध तथा निराली इमारत महास्नान कुण्ड है। इसकी लम्बाई ३९′ तथा चौडाई २३′ है, जिसमे पानी की गहराई ८′ रहती थी। इस कुण्ड मे उतरने के लिए आमने-सामने (उत्तर-दक्षिण) दोनो किनारो से सीढियाँ बनी है, जिसके सोपान ९′ से कुछ अधिक चौड़े तथा ८′ ऊँचे है। प्रत्येक सोपान किनारे पर इस प्रकार उठा हुआ है कि सरोवर के उपयोग के समय उन पर लकडी के तख्ते लगाए जाते थे। जहाँ दोनो सोपान मालाओ की परम्परा समाप्त होती है वहाँ पर दोनो ओर कुण्ड की चौडाई मे १९″×३९″ के चबूतरे बने है। सरोवर के चारो ओर १५′ चौडी भ्रमणी है, जिसके फर्श की बनावट पक्की ईंटो के बने तथा मिट्टी से पटे चौकोर चट्टों की है। उसके आगे एक दीवार थी, जो इस समय पूर्ण भग्नावस्था मे है। कुण्ड खाली करने के लिए दक्षिणी-पश्चिमी कोड मे एक चौकोर मार्ग था जिसकी छत लकडी की आड़ी बल्लियो पर टिकी थी। पश्चिमी तरफ सफाई तथा निरीक्षण की सुविधा के लिए एक प्रवेश मार्ग था। वहाँ से पानी एक नाली द्वारा आगे जाता था, जो २′ ४″ चौडी थी। उसकी पट्टेदार छत इतनी ऊँची है कि सामान्य कद का पुरुष आसानी से बिना झुके जा सकता है। कुण्ड के तीन ओर बने बरार्डों के पीछे कक्ष-परम्परा मे से पूर्व स्थित एक कक्ष मे एक बडा जल कूप है, जो बाहर तथा भीतर दोनो ओर से सुलभ है। पूर्ववर्णित नालिका से तालाब मे कूप का साफ पानी सरलता से भरा जा सकता था और सम्भवत. इसी कारण उसकी नियमित सफाई का प्रबन्ध था।

सरोवर की दीवारे बडी सावधानी से निर्मित थी। उनमे किसी भी प्रकार से जल प्रवेश का भय न था। इसमे जुडाई खड-चूने से हुई है और ऊपर एक इच मोटा राल या चूने का पलस्तर चढ़ा है।

कुण्ड के उत्तर तरफ एक जल-प्रणालिका-मार्ग के दोनो तरफ ४-४ की सख्या मे स्नान गृह बने है, जिनमे स्नान के लिए प्रयुक्त जल, साथ के जल-पथ से जाता था। प्रत्येक स्नानागार (लगभग ९½′×६′) का फर्श पक्का है और सीढियो की परम्परा ऊपर जाती हुई मिलती है यद्यपि ऊपरी मंजिल के कक्ष अब गिर चुके है, जिसके अवशेष खुदाई मे मिले राख के ढेर से समझे जा सकते है। स्नान के लिए ऊपरी कक्षो मे रहने वाले विशेष लोग ही सीढी के मार्ग से आ सकते रहे होंगे। इस कक्ष समूह के दक्षिण पूर्व तरफ एक कक्ष मे एक बडा गोलाकार कुआँ है जो इन स्नानागारो के लिए जल प्रदान करता था।

महास्नान कुण्ड तथा उसके सलग्न स्नानकक्षों से लगे हुए, पश्चिम की तरफ प्रारम्भिक खुदाई से ज्ञात किसी इमारत के ५′ ऊँचे पक्के भग्नावशेषो को श्री मार्शल ने "हम्माम" समझा था जिसमे स्नानार्थ जल गरम किया जाता था। किन्तु १९५० मे श्री ह्वीलर की देखरेख मे की गई समग्र

खुदाई के फलस्वरूप मूलत १५० × ७५ फुट आकार के अन्नागार का भवन प्रकट हुआ, जिसमे दक्षिण की ओर परवर्ती परिवर्धन भी किए गए थे। ह्वीलर के दिए वर्णन तथा सलग्न रूपरेखा के अनुसार इसमे मूलत २७ कोठे थे, जिनमे अन्न भरा जाता था। ईंटो के बने इन कोठारो का आकार यद्यपि बदलता हुआ है, किन्तु फिर भी व्यवस्थित है। उत्तर की ओर बनते समय ही इन्हे बडा (लगभग दूना) कर दिया गया था। कोठारो के बीच मे बना आवागमन की वीथियो का आडा-तिरछा जालीनुमा विन्यास हवा के नीचे-ऊपर प्रवहन के विचार से हुआ था। ऊपरी हिस्सा लकड़ी का था और पूर्व तथा दक्षिण की तरफ के हिस्सो मे बने लम्बवत् खाचो मे सभवत. लकड़ी की सीढ़ी फँसाई जाती थी।

इसके उत्तरी ओर इसी का एक हिस्सा ईंटो का लम्बा चौतरा है, जिससे अनाज उतारा-चढ़ाया जाता था। उसके पश्चिमी किनारे पर भीतर की ओर दबी हुई सधि है, जिसमे बैलगाड़ी आदि वाहन अन्दर पास तक जा सकते थे। इसकी दीवार सीधी है अन्यथा चबूतरे की भीत और अन्य बाहर की ओर पडने वाली दीवारे ढालुआँ थी, जो इसे स्वत. एक किले का रूप देती थी।

यह उल्लेखनीय बात है कि यह अन्नागार साथ के महासरोवर के भवन से पहले का था, क्योकि उसकी मुख्य प्रणाली से अन्नभाण्डागार की जगती का पूर्वी भाग कटने के कारण नष्ट-भ्रष्ट हो गया है।

परकोटे के दक्षिणी भाग मे एक विशाल वर्गाकार ९० फुट के भवन का अवशेष प्राप्त हुआ है इसकी छत २० चौकोर खम्भो पर टिकी हुई थी जो पाँच-पाँच के समूह मे चार श्रेणियों मे विभक्त थे। परवर्ती काल मे लोगो द्वारा भवन के स्वरूप मे परिवर्तन आदि के कारण भूमिस्थ रूपरेखा अस्पष्ट है। स्तभो के मध्य से चार गलियारे उत्तर से दक्षिण जाते थे जिनकी भूमि पर ईंटे बिछाई गई थी। ५'-६" चौड़ी एक पट्टी उत्तर से दक्षिण छोड दी गई थी। विद्वानो का अनुमान है कि इन खाली पट्टियो पर लम्बी-लम्बी बेन्चे लगाई जाती थी। मार्शल का सुझाव है कि इस भवन मे बैठने की ठीक वैसी ही व्यवस्था थी जैसी समीप के बौद्ध सघाराम मे रही होगी। कुछ विद्वानो के अनुसार यह धर्म-सभा भवन था। अन्य लोगों का विचार इसे "राजकीय आपण' या 'मण्डी' मानने का है। किन्तु इसे राजसभा या सस्थागार मानना उचित प्रतीत होता है।

महाकुण्ड के उत्तरपूर्वी तरफ एक असाधारण रूप से लम्बी इमारत (२३०' × ७८') मिली है, जिसकी पहचान किसी उच्च पदाधिकारी सभवत. मुख्य पुरोहित के आवास सी की गई थी। वर्तमान अपर्याप्त अवशेषो के आधार पर कोई निश्चित मत देना सभव नही। किन्तु निश्चय ही यह एक मजबूत बनी हुई इमारत है, जिसमे ३३' वर्गाकार आगन के तीनो तरफ बने हुए खुले बराण्डे हैं। साधारण ढग की कोठरियो का समूह सम्भवत. मूल भवन से परवर्ती काल का है। इसके उपयोग के बारे मे पूरी खुदाई से पूर्व कोई निश्चित निष्कर्ष निकलना कठिन है।

स्तूप टीले के ठीक उत्तर की ओर विशाल अजिर के अवशेष बहुत महत्त्वपूर्ण और प्रभावशाली हैं। इसका केवल थोडा-सा भाग ही साफ किया गया है, जिसमे दक्षिणी तथा पश्चिमी भारी भित्तियाँ लगभग ६' ९" मोटी थी। दक्षिणी भित्ति स्तूप ढूह के नीचे आगे जाती हुई पाई गई है, किन्तु पश्चिमी दीवार काफी भग्नावस्था मे है। वस्तुत. किसी समय अजिर का उत्तरी-पूर्वी भाग दीवार के ठीक बाहर लगी हुई मुख्य सड़क और बहुत संभव है साथ ही दुर्ग की प्राचीर लिए-दिए जमीन में धँस गया था। श्री मैंके का विचार है कि दुर्घटना पुर के इस भाग को स्पष्टतः ले

बीती और यह सदिग्ध है कि कभी इस महाअजिर की उत्तरी तथा पूर्वी भित्तियो का पता चल सकेगा। स्तूप इ्ह के नीचे गर्भित मदिर से सलग्न होने के विचार से उन्होने इसकी तुलना मे ऊर में घाटो और नन्नर आवास के बीच स्थित मिलते-जुलते महा अजिर से की है, जिसका उपयोग ऐसा अनुमान है मदिर की उपज या माल के रूप मे आई आय जमा करने के लिए होता था।

हड़प्पा

जैसा कि कहा जा चुका है, हड़प्पा मे ईंटो की लूट-खसोट के कारण दुर्गस्थ इमारतो का कोई भी बुद्धिगम्य स्वरूप सामने नही आया। किन्तु उत्खनित भागो से यह स्पष्ट है कि वहाँ भवन-निर्माण पूरी तरह से हुआ है।

दुर्ग के उत्तरी ओर कई अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आगारों और भवनो के अवशेष दृष्टिगोचर होते हैं। इस ओर के बीस फुट ऊँचे टीले की खुदाई से तीन भवन-समूह पहचाने गए हैं। उनमे से दक्षिणी समूह को उत्खननकर्त्ताओ ने 'कर्मकर-आवास' की सज्ञा से अभिहित किया था। वही उत्तर की ओर आगे पाँच वृत्ताकार चबूतरे बने है। समीप ही अन्नागार के छोटे-छोटे कक्ष है।

दक्षिण की ओर दुर्ग के पार्श्व मे बने कर्मकरो के घरो की दो कतारे हैं। प्रत्येक परिवार के निवास के लिए दो कक्ष थे, जिनमे एक आगन जैसा रहा होगा। इनके फर्श अंशत पक्की ईंटो से पीट कर बने हैं। इन आवासो की एकरूपता से ऐसा ज्ञात है कि ये राजकीय निर्माण थे। मजदूरों के इस मुहल्ले के समीप ही कुछ ऊँचाई पर नाशपाती के आकार की १६ भट्टियो के अवशेष देखने को मिले हैं। इन्हे धातु-गलाने की भट्ठी माना जा सकता है।

इन अवशेषों के उत्तर लगभग १०' की गोलाई के प्रायः १८ वृत्ताकार चबूतरे हैं, जिनके मध्य मे ओखली जैसे गढ्ढे बने हुए हैं। इन्हे अनाज कूटकर आटा बनाने के यन्त्र माना गया है। कूटने के लिए लकड़ी के बड़े-बडे भारी मूसल प्रयुक्त होते थे। इस प्रकार आटा पीसने की पद्धति आज भी कश्मीर और भारत के अन्य भागो मे प्रचलित है। इन तथाकथित ओखलों मे गेहूँ और चावल के अस्तित्व के सकेत भी मिलते हैं। इनके पास ही खडे होकर राजकीय मजदूर सामूहिक रूप से अन्न कूटते थे। इसका प्रमाण उनके नगे पैरो के निशान हैं, जो आज भी देखे जा सकते हैं। इन ओखलो से १०० गज उत्तर हट कर महा धान्यागार की स्थिति है। यह १६९' लम्बा तथा १३५' चौडा विशालकाय भवन है, जो चौडाई मे बीचोबीच २३' फुट लम्बे रास्ते से दो भागो बे बटा है, जिनमे से प्रत्येक मे ६-६ बडे प्रकोष्ठ एक श्रेणी मे हैं। प्रत्येक श्रेणी-भाग मे १२ दीवारें हे। प्रत्येक दो दीवारे मिलकर एक (५०'×२०") प्रकोष्ठ बनाती है और प्रत्येक अन्न प्रकोष्ठ दूसरे से ५' चौड़े रास्ते द्वारा पृथक् है। प्रत्येक प्रकोष्ठ मे तीन छोटे-छोटे कुएँनुमा गढ्ढे बने हुए हैं। ये कक्ष ४ फुट ऊँची पीठिका पर बने हैं और इनका प्रवेश द्वार उत्तर की ओर था। अनुमान है कि इस धान्यकोष मे अनाज रूप मे मिला 'कर' एकत्र किया जाता था, जो नदी की समीप बहने वाली धारा से यहाँ तक सुविधापूर्वक लाया जा सकता था।

अन्य सन्निवेश

श्री मैके के शब्दो में, 'हड़प्पा वासियो के भवन निर्माण सम्बन्धी क्रिया-कलापो का एक अन्य स्वरूप श्री न० गो० मजूमदार के द्वारा किए गए सिंध और बलोचिस्तान सीमा के दो स्थलो के परीक्षण से प्रकट हुआ था। यहाँ चट्टानी क्षेत्र पर दो बडे सन्निवेश थे। प्रत्येक भारी पत्थरी किलेबन्दी से रक्षित था। इन दो स्थलों का अभी तक सम्यक् सर्वेक्षण नही हुआ है, किन्तु ऐसा

प्रतीत होता है कि कम से कम एक अनगढ ढोको की दुहरी दीवार से रक्षित था। दूसरी जगह दीवार पत्थर मे स्थूल रूप से गढे (आकार मे २×१×१ फुट के) खण्डो की बनी थी। यह दूसरा किला, अली-मुराद, आसन्न कीरथ शृखला मे अबतक निरतर चलने वाले दर्रे का नियत्रण करता है और इसका वहाँ होना इस बात का अतिरिक्त प्रमाण उपस्थित करता है कि प्राचीन सैधव नगरो को बलूचिस्तान के कबीलो से भय बना रहता था।

लोथल

सिधुघाटी के निवासियो को किसी कारणवश बहुत सभव है आक्रमणो के दबाव मे अपने मूल अधिकृत अधिवास को छोडकर नीचे दक्षिण की ओर उतरना पडा। उनकी सभ्यता के अन्तिम काल मे गुजरात-काठियावाड का ही प्रदेश उनका सन्निवेश था। कला के इतिहास की दृष्टि से लोथल का अत्यन्त महत्त्व है और प्राय. उसे इस प्रदेश मे हड़प्पा सभ्यता का सबसे पहला अधिस्थल माना जाता है।

समुद्र की सतह के अक्सर बढ जाने के कारण आबादी को डूबने से बचाने के लिए यह आवश्यक था कि सामान्य बाढ के स्तर से ऊँचाई पर मकान बनाए जायँ। इसके लिए कच्ची ईटो के चबूतरे पर मकान बनाए गए थे। ध्यातव्य है कि हर बार जब भी बाढ के द्वारा क्षति पहुँचती थी, चबूतरो की ऊँचाई बढाई जाती थी और पुन घर बसाए जाते थे। इस तरह की चार बाढ़ो के अवशेष हैं, जिनमे सभवत चौथे और अतिम विनाश के फलस्वरूप लोगो को स्थान छोड कर दूसरी जगह जाना पडा।

इन चबूतरो के अतिरिक्त लोथल की खुदाई से सामने आए महत्त्वपूर्ण अवशेष एक ईट पकाने के भट्टे के प्रतीत होते हैं। यह १५ फुट ऊँचे १४०'×६०' के चबूतरे पर बना हुआ है। उसमे धूप मे सूखी ईंटो के १२ घनाकार चट्टे हैं जो तीन-तीन चट्टों की चार पाँतो मे लगे थे। दो चट्टो के बीच मे लगभग पौने-तीन फुट की जगह छूटी हुई है। चट्टो की पार्श्व तथा ऊपरी सतह आग मे पकने से लाल हो गई है। इन चट्टों के साथ ही छूटी नालियो से मिट्टी के पके ढोके, गोलियाँ, टुकडो के साथ-साथ अजधला कोयला और राख का ढेर पाया गया था। इन्ही मे से एक नाली मे ७५ महत्त्वपूर्ण ठप्पे भी मिले थे। अनुमान है कि इस भट्टे का प्रयोग बडी तादाद मे मिट्टी की चीजे पकाने के लिए होता था।

१९५८-५९ की खुदाई से लोथल ताम्रयुगीन बडे बन्दरगाह के रूप में सामने आता है, जहाँ अन्य खण्डहरो के साथ एक विशाल गोदी मिली है। इसका आकार विषम-समचतुर्भुज जैसा है, जिसके पूर्वी तथा पश्चिमी पुश्ते ७१०' लम्बे थे तथा उत्तरी और दक्षिणी क्रमश., लगभग १२४' तथा ११६' लम्बाई के हैं। इसके बधो की अधिकतम ऊँचाई १४' तक है। इसकी रचना ऐसी की गई थी कि पानी के चढाव के समय पूर्वी ओर के रास्ते से जहाज बन्दर के भीतर आ सकते थे और उतार के समय प्रवेश के पास बना हुआ नीचा बंधा पानी रोक रखता था। दक्षिण की तरफ अधिक पानी के निकास के लिए एक उत्क्रमण कुल्या है, जिसके मुहाने पर दरवाजे फसाने के खाचे बने हैं। अन्त मे सिरे पर बनी सीढीनुमा में केड द्वारा इच्छित स्तर तक पानी रोक रखने की सुविधा भी है।

किसी समय समुद्री जहाजो के समुचित परिवहन को संभव बनाने वाली यह गोदी इस बात का प्रमाण है कि लोथल ताम्रयुगीन एक बडा बन्दरगाह था, जिसका सैधव लोगो की सभ्यता के सामुद्रिक तथा भूमिगत प्रव्रजन में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान था।

संस्कृत-साहित्य की पृष्ठभूमि और विशिष्टता

डॉ० विद्यानिवास मिश्र

सस्कृत भाषा मे न केवल भारत के इतिहास, दर्शन, प्राचीन विज्ञान, सौन्दर्यबोध और अतीन्द्रिय अनुभव की निधि है, उसमे विश्व-मानव की अद्वितीय उपलब्धि है और वही वेद है। सस्कृत भाषा का इतिहास बहुत ही विवादग्रस्त विषय रहा है, पर एक बात असदिग्ध है कि संस्कृत जीवित भाषा थी और कई मानो मे भारतीय जीवन के गम्भीर एवं पवित्र क्षणो मे आज भी वह एक जीवित माध्यम के रूप मे प्रयुक्त है। संस्कृत नाम प्राकृत का विरोधी नही है जैसा कि पश्चिम के विद्वानो ने समझ रखा है, प्राकृत सहज, सस्कृत गढी हुई। वस्तुत प्राकृत का अर्थ है प्रकृति (संस्कृत) से उद्भूत; जैसा कि वररुचि ने प्राकृत-प्रकाश के प्रारम्भ मे लिखा है। इसलिए यदि सस्कृत प्रकृति है तो वह प्राकृत या किसी अनगढ भाषा का परिमार्जित या कृत्रिम रूप कैसे हो सकती है? वस्तुत. सस्कृत नाम इसके बोलने वालो के सस्कार-केन्द्रित जीवन का प्रमाण है। वाणी की शक्ति और उसके सस्कार पर प्रारम्भ से ही बल दिया गया है। सस्कार का अर्थ कृत्रिम प्रक्रिया नही, बल्कि जीवन के गहन प्रयोजन की योग्यता पाने की सहज प्रक्रिया है। जब कालिदास ने 'सस्कारवत्येव गिरा मनीषी' यह उपमा दी तो इसी शक्ति की ओर इगित किया। वैसे यह भी सही है कि संस्कृत नाम प्राचीन नहीं है। स्वय पाणिनि ने छदस् और भाषा (और पतजलि ने लौकिक और वैदिक भाषा) का प्रयोग किया है। सस्कृत इन दोनो के लिए सामान्य अभिधान है और बाद मे देववाणी के नाम का प्रचलन भी इसमे निहित ज्ञानराशि के महत्व के कारण हुआ। वस्तुतः छन्दस् और भाषा एक ही भाषा की दो अवस्थाएँ हैं। जब छन्दस् मे निहित साहित्य रहस्य और पवित्रता के प्रभामण्डल से आवृत हो गया तो उस भाषा को ही लोकातीत भाषा या परोक्ष जगत् या अतीन्द्रिय अनुभव या रहस्य की भाषा कहा जाने लगा। यह धारणा भी भ्रान्त है कि पाणिनि ने सस्कृत को बाँधा। तीसरी-चौथी शताब्दी मे सस्कृत की उत्तराधिकारिणी भाषाओं का प्रचार प्रारम्भ हुआ। ये भाषाएँ सस्कृत की ही प्राच्य, उदीच्य, मध्य आदि अनेक विभाषाओं से उद्भूत हुईं। अशोक के अभिलेखो की विभाषाओं का भेद भी यह प्रमाणित करता है कि उत्तर-पश्चिम भारत की भाषा की वर्णसघटना सस्कृत के बहुत समीप थी। मध्य विभाषा की रूप-सघटना भी सस्कृत के बहुत समीप थी, पर प्राच्य विभाषा की वर्णसघटना और रूपसघटना दोनो ही सस्कृत से अपेक्षाकृत दूर हो गई थी। इसी कारण पूर्व के वैयाकरण पतजलि को यह चिन्ता हुई कि शिष्ट जन की भाषा के रूप मे जो भाषा सीमित हो गई है उसकी रक्षा कैसे की जाय। पर यह स्मरण रखना चाहिए कि उन्होने भी 'रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम्' ही कहा। यह नही कहा कि लोकभाषा की रक्षा के लिए व्याकरण का अध्ययन जरूरी है।

यहाँ इस चर्चा का विस्तार अपेक्षित नही है, केवल इतना ही कहना प्रासगिक होगा कि पाणिनि ने जिस भाषा का वर्णन किया वह भाषा शिष्ट जीवन मे यदि प्रतिमान बनी तो यह इतिहास

की प्रक्रिया थी, पाणिनि का प्रयोजन नही था। यह भी स्मरण रखने की बात है कि पाणिनि के सामने भाषा का बोला जानेवाला रूप भी उपस्थित था। वही रूप भारत के प्राचीन जीवन मे महत्त्वपूर्ण था भी, सत्य-क्रिया (पालि मे सच्चकिरिया) का प्रमाण के रूप मे ग्रहण भी इसीकी पुष्टि करता है। सस्कृत भाषा, लोकभाषा जब न भी रही तब भी, लोकसमादृत भाषा बनी रही। वह धार्मिक-सस्था, शासन या चिन्तन की भाषा तो गौण रूप से रही, मुख्य रूप से वह सामान्य जन के जीवन को सस्कार देनेवाली भाषा के रूप मे विकसित होती रही। यदि ऐसा न होता तो जिन लोगो ने आग्रहपूर्वक इसकी अवहेलना पहले की थी वे भी दो-तीन शताब्दियो मे अपनी भूल मानकर सस्कृत के माध्यम से अपने मत का प्रचार क्यों करते? सक्षेप मे हम वैदिक सस्कृत और लौकिक सस्कृत यह भेद न स्वीकार करके सस्कृत की तीन अवस्थाएँ मानते हैं: छन्दस्, भाषा और शिष्ट भाषा। भाषा मे सहज क्रम से जो परिवर्तन होते हैं वे परिवर्तन शिष्ट भाषा मे यद्यपि कम हुए हैं, पर इतने हुए हैं कि यह सलक्ष्य हो जाता है कि उनकी सघटना वही नही है जो कि पाणिनि की भाषा की थी।

सस्कृत भाषा के बारे मे इतनी सूचना दे देने के बाद यह आवश्यक हो जाता है कि उसे बोलनेवाले समुदाय के बारे मे भी जानकारी दी जाय। जातीय आधार पर यह सप्रमाण कहा जा सकता है कि यह समुदाय एकजातीय नही था। इसमे अनेक जातियो, जनो और स्तरो का प्रारम्भ से ही सम्मिश्रण था। अथर्ववेद के पृथिवी सूक्त मे ही इस नानात्व की सूचना है। इसलिए हम आर्य शब्द का व्यवहार ही जातिवाचक अर्थ मे उचित नही मानते। इस शब्द का व्यवहार सदैव ही श्रेष्ठ या आदर्शपरायण अर्थ मे अर्थात् गुणवाचक अर्थ मे होता रहा है। आर्य होने के लिए द्रविड़, मगोल, नार्डिक या कोल किसी एक रक्त का होना न होना महत्त्व नही रखता रहा है, आचरण ही आर्यत्व का विवेचक रहा। इसलिए हम वर्ग या समुदाय के अर्थ मे इस शब्द के व्यवहार को (यद्यपि यह मत १०५ वर्षो से प्रचलित रहा है) उचित नही मानते। उक्त समुदाय के बारे में भौगोलिक सीमा जरूर निर्धारित की जा सकती है। इस भौगोलिक सीमा का क्रमश: उत्तर-पश्चिम भारत और मध्य देश से आगे प्राच्य और दक्षिण भारत तक और कालान्तर मे बृहत्तर भारत तक विस्तार हुआ। पर सुदृढ परम्परा भारत की भारतीय उपमहाद्वीप मे ही अधिक काल तक सुरक्षित रही। इसका कारण यह नही था कि इस भाषा की मर्यादा राज्य की मर्यादा से नियन्त्रित थी, न यही था कि वह किसी एक या एक से अधिक धार्मिक विश्वास से ही नियन्त्रित थी। इसका वास्तविक कारण यह था कि यह आचरण के कुछ सर्वस्वीकृत मानों से मर्यादित थी।

सस्कृत बोलनेवाला समुदाय सस्कृत था। इसीलिए सस्कृत देश, काल, जाति की विश्वास की सीमाओ मे कभी बँधी नही रही। उसने मुक्त रूप से द्रविड भाषाओ से शब्द लिये, कोल-परिवार की भाषाओं से शब्द लिये तथा कुछ शब्द मगोल-परिवार की भाषाओं से लिये, उसी प्रकार जिस प्रकार भारतीय जीवन मे अनुष्ठान की बीसो प्रक्रियाएँ अनेक स्रोतो से आयी, पर सभी संस्कृत हो गयी।

संस्कृत-भाषी समुदाय की तीसरी विशेषता थी ज्ञान की निरन्तर खोज के लिए आग्रह। जिन लोगों ने वेद का प्रामाण्य माना उन्होने वेद को ज्ञान का स्रोत माना, ज्ञान का पूरा विस्तार नही और इसीलिए प्रत्येक उपलब्धि को उस स्रोत तक सूत्रबद्ध देखने की उन्होने कोशिश की। उनका आग्रह ज्ञान की निरन्तरता का आग्रह है, कूटस्थता का नही। जिन्होने वेद का प्रामाण्य

स्वीकार नही किया उन्होंने भी इस निरन्तरता की ही स्थापना के लिए (दूसरे शब्दों मे परम्परा) नेयार्थ और नीतार्थ शास्ता के दो प्रकार के वचन माने और नये अन्वेषण को प्राचीन अन्वेषण मे जोड़ने का एक नया मार्ग (या बहाना) ढूँढ निकाला। पर मानते सब रहे कि ज्ञान मे प्रतिष्ठा पाये बिना जीवन मे कोई मान-प्रतिष्ठा नही पा सकता। इसीलिए शास्त्रार्थ के द्वारा मत-परिवर्तन का इतिहास विश्व मे यही पर सबसे अधिक है। इसका अवश्यभावी प्रभाव ज्ञान की अभिव्यक्ति के माध्यम (भाषा) के विकास पर भी पडा। शब्दों का तथा शब्द के अवयवो का अर्थ इसीलिए सस्कृत मे बहुत परिच्छिन्न होता गया है। शब्द की तीन प्रकार की शक्तियो का अन्वेषण भी ज्ञान की इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए हुआ। व्याकरण को छ. वेदागो मे मुख्य भी इसीलिए माना गया। भाषा में इसीके कारण बहुत कसाव आया।

सस्कृत-भाषी समुदाय की चौथी विशेषता है वाचिक परम्परा में विश्वास। यह बात चीन के सन्दर्भ मे अधिक आसानी से समझी जा सकती है। चीन का इतिहास लिखित परम्परा का रहा है, वहाँ भाषा वदली है; लिखित सकेत नही बदले हैं। इसीलिए जो लिखा है वही उनके लिए नित्य है। शब्द जो बोला जाता है वह उस नित्य की अधूरी अभिव्यक्ति मात्र है, क्योकि वह इतिहास बतलाने में समर्थ नही है, विशेष करके प्रतीकग्रहण का इतिहास बतलाने मे। इसके विपरीत भारत मे जिस रूप मे मन्त्र का उच्चारण प्रत्येक शाखा मे हुआ उस रूप मे उसे सुरक्षित करने का प्रयत्न जो अद्यावधि होता रहा है वह यही प्रमाणित करता है कि बोले जानेवाले शब्द का महत्व भारतीय जीवन में बहुत अधिक रहा है। सामाजिक जीवन में भी वचन का मोल सबसे ज्यादा आँका जाता रहा है। वेदों का दर्शन श्रुति के द्वारा है, शब्द आकाश का गुण है, अनादि निधन है, जगत् उसका विवर्त है, साधनों मे सबसे अधिक परिष्कृत है, शिव की शक्ति है, यज्ञ का साधन है, देवत्व का वाहक है आदि-आदि मान्यताएँ वाचिक परम्परा के महत्व को ही प्रतिपादित करती हैं। इन्ही मान्यताओ के कारण वाणी के परिष्कार के ऊपर भारतीय शिक्षा के इतिहास मे सर्वाधिक, सर्वदा, सबसे अधिक ध्यान दिया जाता रहा है। जो लोग अक्षर-ज्ञान नही रखते थे वे भी भाषा के उच्चारण और प्रयोग मे ऊँचा प्रतिमान स्थापित करने की कोशिश करते रहे हैं। सस्कृत भाषा मे अर्थगर्भता के साथ-साथ निरन्तर साधना के कारण सहजता है। सामर्थ्य का वहन करते हुए भी उसमे पृथगर्थता पर बल है। समासों को ग्रहण करते हुए भी वाक्य-विन्यास की स्पष्टता है, वाणी के सस्कार के ऊपर इतना अधिक ध्यान देने के कारण ही।

सस्कृतभाषी समुदाय की पाँचवी मुख्य विशेषता है जगत् के साथ उसकी समरसता। प्रत्येक सस्कृति-समुदाय ने अपने परिवेश के प्रति एक निश्चित दृष्टि रखी है और उस समुदाय का इस दृष्टि के अनुसार आचरण भी नियमित होता है। पर इससे यह न समझना चाहिए कि यह दृष्टि समुदाय के प्रत्येक व्यक्ति मे प्रत्येक समय सलक्ष्य होती है। इस दृष्टि की सबसे अधिक शक्तिशाली अभिव्यक्ति काव्य-साहित्य में मिलती है। परिवेश के दो अग हैं—सामाजिक परिवेश और वस्तु-जगत् का परिवेश। वस्तु-जगत् मे भी प्रकृति और मनुष्य की निर्मिति के दो विभाजन किये जा सकते हैं। भारतीय सस्कृति मे इन दोनो प्रकार के परिवेशो के साथ समरसता की दृष्टि पाई जाती है। समरसता पाने के लिए यत्न इसलिए प्रखर नही है कि समरसता को सिद्ध पदार्थ माना गया है, साध्य नही। बल है समरसता के मार्ग मे जो बाधाएँ हैं, जो आवरण हैं उनको दूर करने पर। इसीलिए सघर्ष परिवेश के साथ नही है, परिवेश के अज्ञान के साथ है। इस समरसता की दृष्टि

का दूसरा प्रभाव यह है कि इस समता को महत्व न देकर तादात्म्य को महत्व दिया गया है। इसी तादात्म्य को मिथुनीभवन के द्वारा भी प्रतीत कराया गया है जैसे—आकाश और पृथ्वी के मिथुनीभवन से अग्नि या प्रकाश का उद्भव है, उसी तरह मन और वाक् के मिथुनीभवन से सकल्प का उदय है। तन्त्रो मे इसका और अधिक विस्तार हुआ है और भक्ति मे इसीका रसोद्रेक भी हुआ। इसी मिथुनीभवन की बाधा पर आक्रोश व्यक्त करते हुए वाल्मीकि ने कहा—

मा निषाद प्रतिष्ठा त्वमगम. शाश्वती. समा.।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधी काममोहितम् ॥

इसीकी अभिव्यक्ति कालिदास के मेघदूत मे हुई है जिसमे मेघ को प्रकृति-पुरुष के रूप मे देखा गया है और विद्युत् से उसके वियोग न होने की कामना की गयी है।

सस्कृतभाषी समुदाय की छठी विशेषता है स्वातन्त्र्य की परिकल्पना। 'आत्मार्थं पृथिवी त्यजेत्' का उच्चतम आदर्श पृथिवी के तिरस्कार के लिए नही है, वह आत्मा को आत्मा मे पूर्ण रूप से अवस्थित करने के लिए है। स्वातत्र्य का अर्थ 'पर' का लोप नही है, बल्कि 'स्व' का विस्तार है। जिस स्वात्मायतन विश्रान्त-प्रतिभा की कल्पना अभिनवगुप्त ने की है वह अखण्ड बोध की कल्पना है, यह स्वतन्त्रता की कामना 'स्व' की सीमा से है, 'पर' से नही। इसीलिए कोरे बौद्धिक ताटस्थ्य मे और इस स्वातन्त्र्य मे बहुत बडा अन्तर है। अनुभव की सार्थकता उसकी बौद्धिकता मे नही स्वसविद्विश्रान्ति मे है। इसीलिए स्वातन्त्र्य मे जितनी भी बाधाएँ हो सकती है उनको क्रमिक स्तरों मे इस तरह रखा जा सकता है कि उत्तरोत्तर पहली बाधा का खण्डन अपने आप होता चलता है और अपने-अपने स्तर पर वह बाधा कितनी भी बडी क्यो न लगे, अपने उच्चतर स्तर पर एकदम ध्वस्त हो जाती है। इन बाधाओ से मुक्ति एकाएक पाने की कामना भी इसीलिए नही की जाती और इसीलिए इन बाधाओं का निवारण वर्जन के द्वारा नही, उन्नयन के द्वारा किया जाता है। यही कारण है कि जीवन की एक अखण्ड दृष्टि इस संस्कृत-भाषी समुदाय मे मिलती है।

अन्तिम विशेषता है परोक्षप्रियता। ब्राह्मणो मे देवताओ को 'परोक्षप्रिय' कहा गया है। ब्राह्मणो मे वर्णित 'पुष्करपर्ण', जो अग्नि या वसिष्ठ का जन्मस्थान है और इसीलिए जो समस्त भूत का आधार है, वनस्पति जगत् का पुष्करपर्ण नही है। वनस्पति जगत् का पुष्करपर्ण केवल एक निर्देश है परोक्ष पृथ्वी के लिए। यज्ञ या उपासना की प्रक्रिया मे जब तक परोक्ष के इस सन्दर्भ को नही देखा जाता तब तक उसका ठीक अर्थ नही लग सकता। कला मे भी इसीका अर्थविस्तार हुआ है। जैसा कि कुमारस्वामी ने कहा है—"कला का कमल ऐन्द्रिय-अनुभव का कमल नही है, यह परोक्ष है उनके लिए जो कला की समझ नही रखते। वनस्पति जगत् के कमल के बहुत से अनुषग इसीलिए कमल प्रतीक मे नही मिलते—दूसरे शब्दो मे, यह कमल अधिदैवत है, प्रत्यक्ष नही।" परोक्षप्रियता ने ही प्रतीक का आग्रह सस्कृत-भाषी समुदाय की सस्कृति मे ला दिया है। ऐसा नही है कि दूसरी सस्कृतियो मे यह बात न हो पर जितने विस्तार मे और जितना बल देकर यह आग्रह इस सस्कृति मे मिलता है उतना अन्यत्र नही। परोक्ष का अर्थ अबुद्धिगम्य नही है, है केवल अतीन्द्रिय। इसीलिए सस्कृत-साहित्य का आपात मूल्याकन करते समय यह आग्रह उबानेवाला लगता है। पर जब हम उसके प्रयोजन पर ध्यान देते है तो यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रतीक-प्रतीयमान सम्बन्ध ही अर्थ का द्वार है, इसीलिए वह साहित्य का प्राण है।

सस्कृतभाषी समुदाय की उपरिलिखित विशेषताएँ शायद आशसापरक ही अधिक लगे, पर

इसका अर्थ यह नहीं है कि हम उसकी दुर्बलताओ पर पर्दा डालना चाहते है। वे दुर्बलताएँ जहाँ साहित्य मे प्रतिबिम्बित हुई हैं वहाँ इनका उल्लेख किया जा सकता है। पर यहाँ तो वैशिष्टच बतलाना उद्देश्य था, चाहे वह कितना भी विरल क्यो न हो। इस वैशिष्टच के ही कारण सस्कृत-साहित्य मे एक ऐसा आकर्षक गुण है जो उसे पश्चिमी साहित्य से विलग करता है। इस विलगाव के मुख्यत. पाँच प्रकार है।

पहला प्रकार है अर्थग्रहण का। वस्तु-जगत् का दर्शन किसी एक झरोखे से करने का यत्न सस्कृत-साहित्य मे नही है। वस्तु-जगत् जिस रूप मे अनुभव करनेवाले रचनाकार या सहृदय के मन मे है, उमी रूप मे वह साहित्य मे अभिव्यक्त किया गया है। इसलिए साहित्य का अर्थ न तो काल्पनिक है न वास्तविक। वह एक शब्द मे कहा जाय तो आनुभविक है। यह स्मरण रखने की बात है कि बल जगत् के अनुभूत होने पर नही, बल्कि अनुभविता के उस जगत् मे होने पर है। यही कारण है कि कभी-कभी जगत् का चित्र बहुत गणितात्मक सा लगने लगता है। सौन्दर्य के वर्णन भी ऊपरी दृष्टि मे लकीर मे बँधे दिखते हैं। गहराई में जाने पर ही यह पता चलता है कि ऐसे वर्णनो मे बँधे उपमान केवल साधना का काम देते है। वे माध्यम मात्र है जिनके सहारे 'इद-मित्थम्' रूप मे अनिर्वचनीय अनुभविता व्यक्त होती है। वे बार-बार दुहराए इसलिए जाते है कि अर्थग्रहण करनेवाले को बाहर के वैशिष्टच पर अधिक भटकना न पड़े। इसका सबसे बड़ा प्रमाण है ध्यान-मुद्राओं को व्यक्त करनेवाली मूर्त्तियाँ। इन मूर्त्तियो मे कौन आयुध किस हाथ मे होगा; नेत्र, हाथ और पैर की मुद्रा किस प्रकार की होगी; शरीर का भग (लोच) किन-किन जोड़ो पर होगा; उष्णीश की रचना किस प्रकार की होगी और पार्श्ववर्ती या अधोवर्ती अनुचर और वाहन कौन से होंगे, इन सबकी निश्चित व्यवस्था है। वह व्यवस्था शिल्प, नृत्य, नाटच, साहित्य, धर्म-साधना, सर्वत्र सर्वमान्य है। कलाकार की प्रतिभा की परीक्षा इन निश्चित विधानो मे ही नूतन अर्थ को अच्छी तरह अभिव्यक्त करने मे है। इस प्रकार प्राचीन भारतीय साहित्य और कला मे अर्थ न तो अगविशेष मे केन्द्रित है और न ऐन्द्रिय-ग्रहण मे सीमित। वह अर्थसवेदन से शब्दाकाश मे फेका गया प्रतिक्षेप है।

दूसरा उल्लेखनीय प्रकार है दिक्कालातीत बोध। पश्चिमी साहित्य में स्वभावत एक गृहीत क्षण मिलेगा या विद्युल्लेखा की एक कौंध मिलेगी या दूसरे शब्दो मे, काल की सीमा की सजगता मिलेगी और देश के वैशिष्टच का आग्रह। पश्चिम का साहित्य इसीलिए ऐतिहासिकता से ग्रस्त है। वह ईश्वरपुत्र ईसामसीह को भी ऐतिहासिकता से मुक्त नही कर पाया। प्राचीन भारतीय साहित्य मे इतिहास और 'मिथ' पर्यायवाची है और साहित्य के आराध्य जन इसीलिए इतिहास से मुक्त हैं। इसीलिए वाल्मीकि के राम और भवभूति के राम मे कोई विरोध नही है; क्योकि राम इतिहास-निरपेक्ष व्यक्ति हैं। वे निरन्तर सत्य है। इसीलिए भारतीय साहित्य मे एक क्षण पर नही, क्षणो की सन्तानवाही धारा पर और जीवन के गतिशील प्रवाह पर बल है। कमल और हसमिथुन की पट्टिका के द्वारा कला मे और अनेक जन्म-जन्मान्तर तक चलनेवाले व्यापार के द्वारा कला-साहित्य मे, एक प्रदीप से प्रवर्तित होनेवाले दूसरे प्रदीप की शृखला के द्वारा काव्यो मे इसीकी अभिव्यक्ति की गयी है। जिसको पश्चिमी आलोचक ऐतिहासिक बोध का शोचनीय अभाव कहते है वह सस्कृत साहित्य की कमजोरी नही, इस माने मे, शक्ति है कि इतिहास का मूल्य सूचना देने तक सीमित है और साहित्य का प्रयोजन सूचना से ऊपर उठना है। प्राय जो सूचनाएँ निष्कर्ष के रूप मे निकाली भी जाती है और

जिनके आधार पर वैदिक युग, महाभारत युग, रामायण युग जैसे वर्गीकरण कर लिये जाते है वे स्वय मे सूचनाएँ नही है, कम से कम कालविशेषबद्ध सूचनाएँ तो नही ही है। युग-विशेष का वातावरण कहना भी जहाँ अभिप्रेत है वहाँ युग काल का बोधक नही, वृत्ति का बोधक है। ऊपर जो कहा गया है उसका अभिप्राय यह नही कि कालचक्र की एकदम उपेक्षा ही सस्कृत-साहित्य मे है। इसके विपरीत वहाँ कालचक्र के प्रवाह की बहुत प्रखर अभिव्यजना मिलती है, क्योकि वह प्रवाह मानव-जीवन के प्रवाह से सम्पृक्त है। ऋतुचक्र का, सवत्सर का जीवन के साथ एकीकरण है, क्योकि दोनो ही यज्ञ के साधन है और सारा जगत् यज्ञ की प्रक्रिया है। जो यज्ञ नही मानते वे धर्मचक्र मानते है। हाँ, काल को एकदम अलग स्वतन्त्र और निरपेक्ष माननेवाले दर्शन भी कम है और साहित्य-साधक तो और भी कम। इसी प्रकार लैंड्स्केप मे जिस दिक्सीमा का रहना आवश्यक है उसका प्राय अभाव-सा ही सस्कृत-साहित्य मे मिलता है। जैसे भारतीय शिल्प और चित्रकला मे प्राकृतिक पृष्ठभूमि का चित्रण होता है वैसे ही साहित्य मे भी प्रकृति-वर्णन मूल वर्णन से अलग न होकर उसके शीर्षस्थ रहता है। कारण यह है कि प्रकृति-वर्णन का उद्देश्य वस्तु को उतना उभारना नही है जितना कि उसको ओतप्रोत करना। दूसरे शब्दो मे, अगर कहा जाय कि उसमे खण्ड-दृष्टि नही है, जीवन, धर्म, ईश्वर, ससार या प्रकृति की कोई अलग सीमा नही है। एक ही सत्ता के ये विभिन्न पहलू है। प्रकृति व्यवहार मे जड नही है और वह भी चैतन्य से उतनी ही ओतप्रोत है जितना कि मनुष्य। साथ ही प्रकृति चरमसाध्य भी नही है। प्रकृति के अन्दर इसीलिए रमकर भी, उससे ग्रहण कर भी, उसको अपने मे अधिष्ठित कर भी अपने चैतन्य से उसको प्रक्षालित करने का चैतन्य सस्कृत-साहित्य मे वर्तमान है। प्रकृति के दान से सन्तुष्ट रहना सस्कृत-कवि ने नही सीखा। यह तो देश का एक अर्थ हुआ। शुद्ध भौगोलिक अर्थ मे भी देश का बोध एक सीमा के रूप मे न होकर सीमातीत विश्व के सदृश अभिव्यक्ति के रूप में है। हिमालय भारत का मानदण्ड नही है, पृथ्वी का मानदण्ड है। गगा उत्तर भारत की नदी नही है, तीन लोको मे प्रवाहित होनेवाली शुचिता की धारा है। विन्ध्याटवी भारत की ही मेखला नही, समस्त भूमण्डल की मेखला है। भारत का निर्धारण प्राचीन सस्कृत-साहित्य मे केवल कुछ भौगोलिक नामो की सूचियो से नही। निर्धारण है एक विशाल कुल की कल्पना के द्वारा जिसमे पर्वत-नदी से लेकर देव-किन्नर तक, पशु-पक्षी से लेकर वनस्पति तक सभी बराबर के साझीदार है। भारत की सीमा का निर्धारण मुख्यत आचरण और आचरण मे एकान्त निष्ठा से है। इसी कारण वह तप और कर्म की भूमि है। वह एक सदैव चढा हुआ धनुष है, जगती हुई यज्ञ-देवी है। वह भौगोलिक आकार से काफी ऊपर उठा हुआ मानवीय विश्वास का आकार है।

तीसरा प्रकार है पुरुषवाद। यह पुरुषवाद मानववाद से इस माने मे भिन्न है कि पुरुष संज्ञा से बोध मनुष्य मात्र का न होकर देव, असुर, यक्ष, गन्धर्व, विद्याधर, पशु, पक्षी, वनस्पति—इन सभी चैतन्य, प्रवहमान पिण्डों का होता है और इन सबमे एक अखण्ड प्रवाह देखना ही सस्कृत-साहित्य का परम पुरुषार्थ है। इसी दृष्टि से भागवत मे यह कहा गया—

न यद्वचश्चित्रपदं हरेर्यशो जगत्पवित्रं प्रगृणीत कर्हिचित्।
तद्वायस तीर्थमुषन्ति मानसा न यत्र हंसा निरमन्युशिक् क्षयाः॥

वह वाणी व्यर्थ है जिसने जगत् को पवित्र करनेवाले हरि की कीर्ति-गाथा नही गायी। उस काव्य में कौओं के काँव-काँव का बसेरा भले हो जाय मानसावगाही हंसों का लीला-केन्द्र नही हो सकता।

इसके पीछे निहित अर्थ वस्तुत यह है कि शब्दार्थ की रमणीयता व्यजक है अनन्तता और अखण्डता की यशोगाथा की। पुरुषवाद का अर्थ है लोकातीत विराट् पुरुष की प्रतिष्ठा। वह पुरुष हव्य, होता और आहुति—तीनो एक साथ है। कश्मीर शैवदर्शन की भाषा मे प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण तीनो एक साथ है। भक्ति की भाषा मे उपास्य, उपासना और उपासक तीनों एक साथ है। मानववाद तो इस पुरुषवाद का एक वामन रूप है जो अभिमानी को छलने भर को है। कहा जा सकता है कि यह पुरुष सस्कृत-साहित्य मे भी बहुत विरल है, क्योकि सस्कृत-साहित्य मे राजवशो के वर्णन हैं, भौतिक जीवन के विलास हैं, विषय-वासना है। इन सबमे कहाँ तक पुरुषवाद का अर्थ खीचतान कर निकाला जा सकता है। इस शंका का समाधान यह है कि पुरुषवाद की यह कल्पना सुख-दु ख, राग-द्वेष, ऐन्द्रिय-इन्द्रियातीत जैसे द्वन्द्वो की कल्पना से ऊपर है। इन द्वन्द्वो का अस्तित्व काव्यास्वाद से भिन्न धरातल पर स्वीकार करते हुए भी काव्यास्वाद के धरातल पर काव्यास्वाद मे ही विलीन कर दिया गया है। यही सस्कृत साहित्य-शास्त्र का रसवाद है। रस के व्यजक पदार्थ इस जगत् के हैं, सामान्य अनुभव के हैं और तब भी उनसे जो व्यजना होती है वह इस जगत् की सीमा के विगलन रूप मे होती है। जब तक काव्य इस व्यजना को देने मे समर्थ नही है तब तक वह उत्तम नही कहा जा सकता। रस मौलिभूत प्रयोजन है। वस्तु या नेता इसके साधन हैं। बहुधा रस कहने से चित्तवृत्ति का जो बोध होता है वह आभास मात्र है और जहाँ आभास नही है वहाँ रसता की प्राप्ति नही है। ऐसे स्थल साहित्य मे काफी मिलते हैं। रस के स्थल से संख्या मे ज्यादा ही मिलते हैं पर इससे रस की मूर्धन्यता मे कोई क्षति नही होती, क्योकि ये असफलताएँ अप्राप्त सफलता की ही ओर इगित करती हैं। इसलिए रस साहित्य का आराध्य-सौन्दर्य (कुमारस्वामी के शब्दों में 'आइडियल ब्यूटी) है। रस-सिद्धान्त ही साहित्य के चरित्र और वस्तु को सहजता प्रदान करता है। बाणभट्ट इसी को 'रसेन शय्या स्वयमभ्युपागता' के द्वारा कहा है। रस अनुभव की एक समानान्तर स्थिति है और वैषयिक अनुभव की न तो वह विरोधिनी है और न अनुवर्तिनी। वैषयिक अनुभव से असपृक्तता टी० एस० ईलियट की दृष्टि में भी आदर्श की स्थिति है—"भोक्ता और रचयिता मे भेद है। यह भेद जितना ही बड़ा होता है कला उतनी ही महनीय होती है।" पर ध्यान देने की बात यह है कि ईलियट ने जहाँ भोक्ता और रचयिता—दोनो स्थितियो की बीच मे दूरी बढाने पर बल दिया है वहाँ भारतीय विचारको ने दूरी या सान्निध्य की चिन्ता ही नही की है; क्योकि रचयिता भी भोक्ता है और रचना भी भोग है। रचयिता मे रचयिता का अह रहता है, पर रस के भोक्ता मे भोक्ता का अहं नही रहता। वे अपने शिल्पी, चित्रकार, कवि या कथाकार स्वयभू माने जाते हैं और उनकी कला शिव की, आनन्दशक्ति की, अभिव्यजक सर्वकर्तृत्व रूप क्रियाशक्ति मानी जाती है, जिस क्रियाशक्ति मे मन, बुद्धि, अहकार और अन्त.करण समा जाते हैं। कला सन्धिनी शक्ति है, पर यह सन्धान स्थापित करती है शिव और साधक के बीच न कि मनुष्य और उसकी दुर्बलता के बीच।

चौथा प्रकार है शिव-दृष्टि। कही-कही इसका निषेधमुख से 'शिवेतरक्षति' के रूप मे प्रतिपादन हुआ है और कहीं-कही विधिमुख से हुआ है लोकमगल के रूप मे। पर यह शिवदृष्टि सर्वत्र है। अभिनवगुप्त ने सबसे ऊँची प्रतिभा को शिवा कहा है। परशुराम-कल्पसूत्र मे शिव के रूप मे स्वयं साधक है जो होता और अग्नि दोनो बनता है। प्रश्न उपनिषद् में बहुत पहले ही कहा जा चुका है—

या ते तनुर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या च चक्षुषि ।
या च मनसि सन्तता शिव ता कुरु नोत्क्रमी ।।

तुम्हारा शरीर जो तुम्हारी वाणी मे, श्रुति मे, दृष्टि मे और तुम्हारे मन मे प्रतिष्ठित है उसको शिवमय करो, उसके बाहर उछल-कूद न करो। देह को इसलिए सस्कृत-साहित्य ने सहजात पाप (ओरिजिनल सिन) नही माना है, इसे आनन्द का अधिष्ठान माना है—"आनन्द ब्रह्मणो रूप तद्धि देहे व्यवस्थितम्" (परशुराम कल्पसूत्र)। इसीलिए सस्कृत-साहित्य मे आध्यात्मिकता का कोई नारा सुनने को नही मिलता। आधुनिक भारतीय साहित्य मे अध्यात्मवाद पश्चिम की देन है। देह को शिवमय बनाने पर जो बल है वही मगलान्त कल्पना का मूल है। दु ख मे अन्त वही होगा जहाँ देह या दृश्य जगत् एक अकाम्य और पारमार्थिक दृष्टि से प्रतिकूल स्थिति है। इसी सिलसिले मे बात आती है अशिव की क्षति की। प्रश्न है कि अशिव है क्या? शिव का प्रतिषेधी है या शिव से इतर है। उत्तर मिलता है, शिव से इतर है, क्योकि शिव का प्रतिषेध तो कही है ही नही और शिव से इतर होने का अर्थ है शिव से केन्द्रानुसारी होना। शिव की कल्पना भारतीय सस्कृति की सुन्दरतम कल्पना है। वे योगीश्वर है अर्थात् वे उस बडे योग के साधक है जो समत्व (समत्व योगमुच्यते—गीता), कुशलता (योग. कर्मसु कौशलम्), चित्तवृत्ति-निरोध (योगश्चित्तवृत्तिनिरोध —योगसूत्र) इन सभी अर्थों मे प्रयुक्त होनेवाले योग से युक्त है। इस योग का फल है आत्मा और जगत् का ब्रह्म मे विलयन, शक्ति के साथ सामरस्य, अपने कचुकों से पूर्ण स्वातत्र्य, जगत् के तारक रामनाम मे स्थिति, अमृतकला का स्फुरण और त्रितापनिवारिणी गगा के द्वारा अभिषेक। साहित्य मे शिव दृष्टि की बात जब हम कहते है तो हमारे सामने रहती है शिव से उपलक्षित होने वाली समग्र साधना। तपोवन की, गृहस्थ-आश्रम की, गुरु-सेवा की, सत्यपालन की, त्याग की और लोक-सग्रह की। इसीके कारण तप और तपोवन की महिमा है, जीवन का अखण्ड बोध है, व्यष्टि और समष्टि मे सामजस्य है और धर्म का जीवन से इतना लगाव है।

पश्चिमी साहित्य का जो इतना मान है वह इसलिए कि सघर्ष की विवशता साहित्य को अभिभूत किये हुए है और इस सघर्ष को ही उदात्त बनाकर जीवन मे सार्थकता लाने की कोशिश की गयी है। वहाँ भी कल्याण-भावना है पर कल्याण अकृतार्थ होकर ही तीव्र है। वहाँ कल्याण दु ख से चित्त के परिष्कार मे है, सुख के सस्कार मे नही। इसीलिए वहाँ नैतिक निरपेक्ष इस प्रकार के मान-सघर्ष होते रहते है। सस्कृत-साहित्य मे शिव की स्थिति लोकोत्तर स्थिति है, अतिक्रामी (ट्रान्सेण्डेण्टल) स्थिति है, उस प्रकार के मान-सघर्ष की सम्भावना भी यहाँ नही रही।

संस्कृत-साहित्य का पाँचवाँ वैशिष्टच (जो सबसे अधिक चौकानेवाला है) विवेक है। मयूरवाहनी सरस्वती तो उत्तरकालीन शब्दाडम्बर की प्रवृत्ति की द्योतिका है, हसवाहनी सरस्वती ही सस्कृत की कृतियों की आराध्य है। इसीलिए हस कामपुरुष मेघ को पथ दिखलाता है, शारदा की अगवानी करता है, वेद अर्थात् ज्ञान का रक्षक विष्णु-अवतार बनता है। हंस विवेक का प्रतीक है और भारत की सर्वशुक्ला सरस्वती का वाहक बनने मे समर्थ है। यह अवश्य है कि यह विवेक सद्-असद् या धर्म-अधर्म का उतना नही जितना परमार्थ-सत् और व्यवहार-सत् का है। यह धर्म-अधर्म के प्रपच को परमार्थ से विविक्त करता है। जिन लोगो की दृष्टि सस्कृत-साहित्य मे भौतिक विलास, उद्दाम शृगार और निभृत प्रेमलीला मात्र पर जाकर टिकती रहती है उन्हे यह भी स्मरण करना चाहिए कि प्रेम की तीव्रता का निरूपण इतने स्वाभाविक रूप मे इसलिए कराया गया है कि—

दु सहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधुताशुभा.
ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्या क्षीणमंगला ।
तमेव परमात्मान जारबुद्ध्यापि सङ्गता
जहुर्गुणमय देह सद्य प्रक्षीणबन्धना ॥

वह तीव्रता पुण्य-अपुण्य दोनो का क्षय कर सके, परमात्मा से सगत कर सके। यहाँ विवेक है आत्मा और अनात्मा मे। कालिदास के काव्य मे पार्वती का 'पर्याप्तचन्द्रेव शरत् त्रियामा' के रूप मे चित्रण प्रेम की धौत शुभ्रता का चित्रण है, भवभूति की सीता की 'दुग्धकुल्येव' दृष्टि से राम का अभिषेक सीता मे निहित अमृतकला का ही छिडकाव है, बाणभट्ट की कादम्बरी और श्रीहर्ष की दमयन्ती के प्रेम मे भी जो एकनिष्ठता है वह विवेक को बिसरा कर नही, क्योकि ये दोनो नायिकाये मर्यादा का अतिक्रमण न करती हुई भी एकनिष्ठ रह जाती है। विवेक के इस स्वर के ही कारण उत्तम नायक उद्धत नही, प्रशान्त नही, ललित नही, उदात्त है। विवेक की पुकार पर ही काम भस्म होता है और तप रूप की अवन्ध्यता लाता है। इसीके कारण रोमाटिक प्रवृत्ति का लगभग अभाव सा दीखता है सस्कृत-साहित्य की मूल धारा मे। एक छोटी-सी धारा है रोमाटिक प्रणय-गाथा की, पर वह भी विवेक की चौडी धारा मे आकर विलीन हो गयी है। यह विवेक ही सस्कृत-काव्य के मानव का मस्तक देवता के सम्मुख युद्ध मे उन्नत रखता है। रघु, अर्जुन, नल और राम इसीलिए तो सस्कृत-साहित्य की मानवी परिकल्पना के प्रतिमान बन गये है। पर इतना है कि वह विवेक ताटस्थ्य का विवेक नही, यह तादात्म्य लानेवाला विवेक है। यह आरोपित भी नही है, यह अन्त-करण का सहज विवर्त्तन है। यही यह पश्चिमी बौद्धिकता से (जो कभी-कभी क्या प्राय. बहुत निर्मम है) और चीनी निश्चिन्तता से विलग है।

ब्रह्मी अथवा ब्राह्मी-वैदिक भाषा और लिपि

डॉ० विश्वम्भरशरण पाठक

ब्राह्मी (प्राकृत बभी) शब्द लौकिक संस्कृत मे साधारणत एक लिपि का अभिधान है, किन्तु कही-कही पर भाषा के अर्थ मे भी प्रयुक्त होता है।

ब्राह्मी की व्युत्पत्ति ब्राह्मण और जैन-परम्पराओं मे पौराणिक कथाओ के आधार पर की गयी। नारद-स्मृति मे ब्रह्मा के द्वारा प्रणीत होने के कारण इसे ब्राह्मी का नाम दिया गया।[1] चीनी विश्व-कोष (सन् ६६८ ई० मे निर्मित) फा-युअन-चू-लिन को भी यह परम्परा ज्ञात थी; क्योकि उसके अनुसार दो भारतीय लिपियाँ ब्राह्मी एव खरोष्ठी क्रमशः ब्रह्मा एव आचार्य खरोष्ठ के द्वारा प्रणीत है।[2] ब्रह्मा एव ब्राह्मी व्याकरण के नियमो से सम्बद्ध है ही, हिन्दू देवता-मण्डल मे ब्रह्मा की शक्ति का नाम भी ब्राह्मी ही है।

जैन-परम्परा मे ब्राह्मी लिपि एव भाषा आदि तीर्थंकर ऋषभनाथ ने अपनी ब्राह्मी नाम की पुत्री के लिए प्रणीत की। अभयदेव सूरि ने 'भगवती सूत्र' और 'समवायाग सूत्र' की टीकाओ मे उपर्युक्त परम्परा का उल्लेख किया है।[3]

किन्तु ये दोनो परम्पराएं कथात्मक है, अत काल्पनिक है। आचार्य डॉ० राजबली पाण्डेय का कथन है कि यह लिपि भारतीय आर्यों के द्वारा 'ब्रह्म' अर्थात् वेद के सरक्षण के लिए निर्मित हुई और प्रमुखतया ब्राह्मणो के द्वारा वैदिक परम्परा को जीवित रखने तथा आनेवाली पीढियो मे मौखिक और लिखित रूप से सक्रान्त करने के लिए प्रयुक्त हुई।[4] ब्राह्मी का ब्रह्म से सम्बन्ध ही युक्ति-सगत है।

परवर्ती साहित्य मे ब्राह्मी शब्द ब्रह्म (परम तत्त्व) से सयुक्त है। कलचुरि अभिलेखो का प्रारम्भ 'ब्रह्म' के नमन से होता है, फिर शिव-रूप ब्रह्म की स्तुति और बाद मे ब्राह्मी का उल्लेख है।[5] भगवद्-गीता मे भी ब्राह्मी स्थिति का वर्णन 'ब्रह्म' को दृष्टि मे रखकर किया गया है।[6] अन्यत्र[7] भी ब्राह्मी शब्द इसी प्रसग मे उपलब्ध होता है; किन्तु ब्रह्म का अर्थ यहाँ वेद से नही लिया जा सकता।

---

[1] म० म० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा : प्राचीन भारतीय लिपि माला, पृष्ठ १।

[2] वही, पृष्ठ १८।

[3] "तथा 'बंभित्ति' ब्राह्मी, आदिदेवस्य भगवतो दुहिता ब्राह्मी वा संस्कृतादिभेदा वाणी तामाश्रित्य तेनैव या दर्शिता अक्षरलेखनप्रक्रिया सा ब्राह्मी लिपिः।" अभयदेवसूरि-कृत 'समवायांग सूत्र' की टीका। 'बंभीए लिविए' लिपिः पुस्तकादावक्षर-विन्यासः, सा चाष्टादश प्रकाराऽपि श्रीमन्नभयजिनेन स्वसुताया ब्राह्मीनामिकया दर्शिता ततो ब्राह्मीत्यभिधीयते। अभयदेवसूरिकृत 'भगवती सूत्र' की टीका।

[4] डॉ० राजबली पाण्डेय : इण्डियन पेलियोग्राफी, पृष्ठ ३४, वाराणसी, ५२।

[5] कार्पस इंस्क्रिप्शन्स इण्डिकेरम् ४, पृष्ठ २५५, श्लोक २।

[6] गीता २, ७२, शांकरभाष्य—ब्राह्मी-ब्रह्मणि मता।

[7] गोपथब्राह्मण—१, १, १६।

ऋग्वेद (९, ३३, ५-६) मे 'ब्रह्मी' शब्द आया है —

तिस्रो वाच उदीरते गावो मिमन्ति धेनव. ।
हरिरेति कनिक्रदत् ।।
अभि ब्रह्मीरनूषत यह्वी ऋतस्य मातर ।
मर्मृज्यन्ते दिव. शिशुम् ।।

(सायण के अनुसार—ऋक्, यजु एवं साम की त्रिविध स्तुतियाँ उच्चरित हो रही है। प्रीतिदायक गाये दोहन के कारण आवाज कर रही है। पीत वर्ण का सोम स्वर करता हुआ कलश मे प्रवेश करता है। ब्राह्मण-प्रेरित महान् तथा यज्ञ-निर्मात्री स्तुतियाँ स्तवन करती है। देवताओ का शिशु परिमृष्ट होता है।)

यहाँ 'ब्रह्मी' के साथ ही 'यह्वी' शब्द ऋत् की माताओ का विशेषण है। वैदिक 'यह्वी' और अवस्ता का 'यज्वी' एक ही शब्द के दो रूप है। अवस्ता मे (यश्न, १३१, ८) ज़रस्थुस्त्र की कनिष्ठा पुत्री का नाम यज्वी था। फ्रेञ्च विद्वान् रेनू के अनुसार यहू (यजू) 'यजुप पुत्रो' (फरहगे ओ इम, ३९) का ही रूप है जिसमे 'पुत्रो' शब्द हटा दिया गया और इसलिए यजुष् शब्द ही 'युवक पुत्र' का अर्थ द्योतित करता है।[८] ऋग्वेद मे नदियो, सूर्य के हरिताश्व (५, ४१, ७) उषा तथा रात्रि के विशेषण के रूपमे यह्वा और यह्वी शब्द आते है। पाश्चात्य वैदिक विद्वान् प्रसग और वेद-अवेस्ता के तुलनात्मक अध्ययन से इस शब्द का अर्थ 'युवक-युवती' करते है, यद्यपि सायण के भाष्य मे 'महान्', 'महती' पर्याय है।

ब्रह्मी विशेषण की सज्ञा 'ऋतस्य मातर.' भी अनिश्चित और विवदनीय अर्थ रखनेवाला वाक्याश है। द्विवचन मे 'ऋतस्य मातरौ' कभी 'रोदसि-द्यावापृथिवी' (९, १०२, ७; १०, ५९; ८, ६, १७, ७) और कभी 'उषा और नक्त' (१, १४२, ७; ५, ५, ६) के लिए ऋग्वेद मे आया है। बहुवचन 'ऋतस्य मातर.' केवल इसी ऋचा में प्रयुक्त हुआ है। सायण के अनुसार 'यज्ञ की निर्मात्री स्तुतियाँ' (ब्रह्मी) इसका अर्थ है। पाश्चात्य विद्वानो के पास इसकी निश्चित व्याख्या नही।

'ब्रह्मी' शब्द का अर्थ ज्ञात करने के लिए अधिक सहायक है "तिस्रो वाच"। यह ऋग्वेद मे प्रस्तुत ऋचा के अतिरिक्त तीन बार (९, ५२, ९, ९७, ३४, ७; १०१, १) आया है। सायण इसका अर्थ 'ऋग्यजुसामात्मिका स्तुतिरूपा' करते है। एक स्थान पर (७, १०१, १) 'द्रुतविलम्बितमध्यमभेदेन त्रिविधा वाच.' के रूप से उनकी व्याख्या है। यह अर्थ एक स्थान पर गेल्डनर स्वीकार करते हैं।[९] किन्तु ल्यूडर्स अपनी सद्यः प्रकाशित पुस्तक 'वरुण' मे सप्तम मण्डल की ऋचा (१०१, १) की व्याख्या करते हुए 'तिस्रो वाचः' का अर्थ 'तीन दिव्य नदियाँ' करते हैं।[१०] पुस्तक के सम्पादक एल्सडॉर्फ़ प्रस्तुत ऋचा (९, ३३, ५) मे प्रश्नवाचक चिह्न के साथ टिप्पणी करते है कि ऋक्पाठ, गायों का मिमियाना और सोम का अभिषव के कारण स्वर करना तीन बोलियाँ (?) है।

'ब्रह्मी' शब्द की व्याख्या सायण के मतानुसार है—'ब्राह्मणप्रेरिता स्तुतयः'। पाश्चात्य वैदिक

---

[८] बुलेटिन ऑव दि स्कूल ऑव ओरियण्टल ऐंड आफ्रिकन स्टडीज़, जि० २०, पृष्ठ ४७५।

[९] ऋग्वेद, ७, १०१, १ का अनुवाद : हार्वर्ड ओरियण्टल सीरीज़ में प्रकाशित।

[१०] ल्यूडर्स : 'वरुण', पृष्ठ ३९२, ६९२।

विद्वानो के लिए यह शब्द एक प्रहेलिका है। ओल्डेनबर्ग इसके व्याकरण की दृष्टि मे असामान्य रूप के कारण कल्पना करते है कि 'यह्वी' के साथ प्रयुक्त होने के कारण उसके तौल पर ही 'ब्रह्मी' शब्द का ऋषि ने उपयोग किया।[११] रेनू भी इसकी निस्सदिग्ध व्युत्पत्ति देने मे असमर्थ है। उनके अनुसार यह सदिग्ध है कि 'ब्रह्मन्' का स्त्रीलिग 'ब्रह्मी' है—यद्यपि इसकी सम्भावना की जा सकती है। जिस प्रकार 'अथर्वन्' और 'अथर्वी' शब्द प्राप्त होते है वैसे ही 'ब्रह्मन्' और 'ब्रह्मी' शब्द भी है।[१२] गेल्डनर 'ब्रह्मी' को स्त्रीलिग मानकर, उसका अर्थ 'स्त्री-स्तोता-गण' करते है। एल्सडॉर्फ पहले इसको प्रस्तुत ऋचा मे 'गायो' का विशेषण मानते है, किन्तु टिप्पणी मे प्रश्नवाचक चिह्न के साथ 'ऋक्-पाठ' भी 'तीन बोलियो' मे एक स्वीकार करते है।

एल्सडॉर्फ यद्यपि प्रश्नवाचक चिह्न के साथ 'तिस्रो वाच.' की व्याख्या करते है तथापि प्रसग मे उनका अर्थ ही ठीक उपयुक्त लगता है। तीन बोलियो—गायोका मिमियाना, सोमाभिषव का रव और ब्रह्मी—मे ब्रह्मी भी एक 'वाक्' है। ब्रह्मी का चाहे गेल्डनर का अर्थ 'स्त्री-स्तोतावृन्द' स्वीकार किया जाय, चाहे सायण का 'ब्राह्मण-प्रेरिता-स्तुतय', किन्तु प्रसग मे उसका 'वाक्' से सम्बन्ध प्रतीत होता है।

अत 'ब्रह्मी-वाक्' का अर्थ प्राचीन भाष्यकार तथा भाषा-विज्ञानविद् भी नही दे सकते। 'ब्रह्मी-वाक्' का महाभारत मे प्रयोग है। अपरिचत ययाति से देवयानी ने प्रश्न किया—

राजवद् रूपवेषो ते, ब्राह्मी-वाचं विभाष च।
को नाम त्व कुतश्चासि, कस्य पुत्रश्च शस मे ।।

'राजवद्रूपवेष' एव ब्राह्मी-वाक् के सहसगति की जिज्ञासा का प्रतिउत्तर—

ब्रह्मचर्येण वेदो मे कृत्स्नो श्रुतिपथ गत।
राजाह राजपुत्रश्च ययातिरिति विश्रुत ।।

'राजपुत्र' होने के कारण राजवद्वेष और समग्र वेद के अध्ययन करने के कारण 'ब्राह्मीवाक्' में सभाषण। सस्कृत मे लौकिक बोलना राजा के लिए असगतिजनक नही, परन्तु वैदिक सस्कृत मे? तभी तो 'वेदो मे कृत्स्नः श्रुतिपथ गत.' कहकर समाधान दिया गया। अन्यत्र भी महाभारत में ब्रह्म और ब्राह्मी शब्द वैदिक मन्त्र भाषा के लिए प्रयुक्त हुए है :—

अहन्त्वा वर्धयिष्यामि ब्राह्मैः मन्त्रै. सनातनै.[१३]।

शान्तिपर्व के वर्ण-धर्म-प्रसग मे भी ब्राह्मी शब्द वैदिक भाषा के लिए प्रयुक्त है—

इत्येते चतुरो वर्णाः येषा ब्राह्मी सरस्वती।
विहिता ब्राह्मणा सर्वे लोभादज्ञानतां गता[१४] ।।

सम्भवत. ब्रह्मी-ब्राह्मी का अर्थ मूलतः वैदिक भाषा और उससे सम्बद्ध लिपि एवं अक्षर-प्रक्रिया ही हो। इस अर्थपरम्परा का मूल ऋग्वेद तक जायगा तभी ब्राह्मी-लिपि का उद्भव भारत मे माना जा सकेगा।

---

[११] वही—पृष्ठ ४३३, टि० २।

[१२] अन्य उद्धरणों के लिए देखिए डॉ० वी० एम० डॉ आप्टे का 'काणे कोमेमोरेशन वाल्यूम' में प्रकाशित 'वैदिक साइटेशंस इन दि महाभारत'।

[१३] उद्योग, १६, ८।

[१४] शान्ति-पर्व १८८, १५।

श्रीकृष्ण का लौकिक चरित : एक विश्लेषण

बलदेव उपाध्याय

श्रीकृष्ण के लौकिक चरित की महत्ता

वृन्दावनविहारी नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र के अलौकिक व्यक्तित्व की इतनी अधिक चर्चा भक्ति-साहित्य तथा कृष्णकाव्यो मे है कि उनका लौकिक व्यक्तित्व आलोचको तथा सामान्य जनो की दृष्टि से एक प्रकार से ओझल ही रहता है—सत्ता होने पर भी वह असत्ता के साम्राज्य मे ही अधिकतर विचरण करता दिखाई देता है। भक्तो की उधर दृष्टि ही नही जाती कि उनका लौकिक जीवन भी उतना ही भव्य तथा उदात्त था जितना उनका अलौकिक जीवन मधुर तथा सुन्दर था। पुराणो मे, विशेषकर 'श्रीमद्भागवत' मे, श्रीकृष्ण परमैश्वर्यमण्डित, निखिल ब्रह्माण्डनायक, अघटितघटनापटीयान् भगवान् के रूप मे चित्रित किये गये हैं। वे वाणी के परमवर्णनीय विषय माने गये है। जो वाणी श्रीकृष्ण के चरित्र का वर्णन नही करती, वह वायसतीर्थके समान उपेक्षणीय तथा गर्हणीय है, हसतीर्थ के समान श्लाघनीय तथा आदरणीय नही—

> न तद्वचश्चित्रपद हरेर्यशो
> जगत् पवित्र प्रगृणीत कर्हिचित्।
> तद्ध्वाङ्क्षतीर्थं न तु हससेवित
> यत्राच्युतस्तत्र हि साधवोमला.॥ (भागवत १२।१२।५०)

यह कथन कृष्णचन्द्र के लौकिक चरित्र के अनुरोध से भी सम्बन्ध रखता है। इस अलौकिक चरित्र से पृथक् तथा भिन्न उनका एक लौकिक चरित्र भी था जिसमे उदात्तता का कम निवास न था।

हरिवंश तथा पुराण—ये दोनो ही जनता मे कृष्ण के प्रति भव्य भावुक भक्ति के उद्भावक ग्रन्थ हैं। फलत इन दोनो मे श्रीकृष्ण का अलौकिक जीवनवृत्त ही प्रधानतया प्रतिपाद्य है। लौकिक वृत्त के चित्रण का मुख्य आधार है महाभारत, जहाँ श्रीकृष्ण पाण्डवो के उपदेशक तथा जीवन-निर्वाहक मुख्य सखा के रूप मे चित्रित किये गये हैं। जीवन के नाना पक्षो के द्रष्टा, स्वय कार्य करनेवाले, महाभारत युद्ध के लिए पाण्डवो के मुख्य प्रेरक के रूप में महाभारत उन्हे प्रस्तुत करता है। उसी स्वरूप का विश्लेषण कर उनकी उदात्तता तथा मूर्धन्यता प्रकट करने का यह एक सामान्य प्रयास है।

श्रीकृष्ण की अद्वयता

प्रथमत विचारणीय है कि कृष्ण एक थे अथवा अनेक? कृष्ण के बाल्यकाल तथा प्रौढ़काल के जीवनवृत्तो का असामजस्य ही उनके अनेकत्व की कल्पना का आधार है। उनका बालजीवन इतने अल्हडपने से भरा है—नाच-गान, रगरेलियो की इतनी प्रचुरता है उसमे कि लोगो को विश्वास नही होता कि वृन्दावन का बालकृष्ण ही महाभारत के युद्ध मे अर्जुन का सारथी तथा गीता के अलौकिक ज्ञान का

उपदेष्टा है। यूरोपीय विद्वानो ने ही इस असामजस्य के कारण दो कृष्णो के अस्तित्व की कल्पना की जो डॉ० रामकृष्ण भाण्डारकर के द्वारा समर्थित होने पर भारतीय विद्वानो के लिए एक निर्भ्रान्ति सिद्धान्त के रूप मे प्रस्तुत हुआ।[१] परन्तु श्रीकृष्ण के दो होने की कल्पना नितान्त भ्रान्त तथा सर्वथा अप्रामाणिक है। पौराणिक कृष्ण तथा महाभारतीय कृष्ण के चरित्र मे पार्थक्य होना तत्तत् आधारग्रन्थो की भिन्नता के ही कारण है। पुराणो का लक्ष्य कृष्णचद्र के प्रति जनता की भक्ति जागरूक करना था, फलत. अपने लक्ष्य से बहिर्मुख होने के कारण इन्होने श्रीकृष्ण के प्रौढ जीवन की लीला का वर्णन नही किया। पुराणो मे केवल श्रीमद्भागवत ने श्रीकृष्ण के उभयभागीय वृत्तो का उचित रीति से वर्णन किया है। दशम स्कन्ध का पूर्वार्द्ध कसवध तक ही सीमित है, परन्तु इसके उत्तरार्ध मे महाभारत युद्ध से सम्बद्ध कृष्णचरित्र-का पूर्ण सकेत तथा सक्षिप्त विवरण दिया गया है। महाभारत का प्रधान लक्ष्य श्रीकृष्ण के प्रौढ जीवन की घटनाओ का वर्णन है—उन घटनाओका, जब ये पाण्डवो के सम्पर्क मे आते है तथा भारत-युद्ध का सचालन करते है। फलत वह उनके बाल्यजीवन की घटनाओ का वर्णन नही करता अपने उद्देश्य-पूर्ति के बहिरग होने के कारण। परन्तु समय-समय पर उन घटनाओ का सकेत अभ्रान्त रूप मे करता है। सभापर्व मे राजसूय की समाप्ति पर अग्रपूजा के अवसर पर शिशुपाल ने श्रीकृष्ण के ऊपर नाना प्रकार के लाछन जब लगाये थे, उसने उनके बालचरित को लक्ष्य कर ही ऐसा किया था—

> यद्यनेन हता बाल्ये शकुनिश्चित्रमत्र किम्।
> तौ वा श्ववृषभौ भीष्म यौ न युद्धविशारदौ ॥७॥
> चेतनारहित काष्ठ यद्यनेन निपातितम्।
> पादेन शकटं भीष्म तत्र किं कृतमद्भुतम् ॥८॥
> वाल्मीकमात्र: सप्ताह यद्यनेन धृतो चल.।
> तदा गोवर्धनो भीष्म न तच्चित्रं मतं मम ॥९॥
> भुक्तमेतेन बह्वन्नं क्रीडता नगमूर्धनि।
> इति ते भीष्म शृण्वाना. परे विस्मयमागता ॥१०॥
> यस्य चानेन धर्मज्ञ भुक्तमन्न बलीयस।
> स चानेन हत. कस इत्येतन्न महाद्भुतम् ॥११॥ सभापर्व, ४१ अध्याय।

इन पद्यो मे श्रीकृष्ण की सामान्यत. आश्चर्यभरी लीला का यौक्तिक उपहास किया गया है। सप्तम श्लोक मे पूतना, केशी तथा वृषभासुर के वध का सकेत है। आठवे श्लोक मे चेतनारहित शकट के पैर से तोड डालने का उपहास है, नवम श्लोक बतलाता है कि कृष्ण के द्वारा गोवर्धन पर्वत का हाथ पर धारण करना कोई अचरजभरी घटना नही है, क्योकि इसे चीटियो ने खाकर खोखला बना डाला था। पहाड के शिखर पर नाना पकवानो के भक्षण की बात सुनकर दूसरे लोग ही अर्थात् मूर्ख लोग ही आश्चर्य मे पडते है। जिस कस के अन्न को इसने खाया था, उसे ही मार डालना अद्भुत काम नही है—यह कृतघ्नता की पराकाष्ठा है!

शिशुपाल की निन्दाभरी वक्तृता श्रीकृष्ण के एकत्व स्थापन मे पर्याप्त प्रमाण है। यह स्पष्ट बतला रही है कि युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ मे जिस व्यक्ति की अग्रपूजा की गई है, वह उस व्यक्ति से

---

[१] **देखिए, भांडारकर : वैष्णविज्म, शैविज्म ऐंड माइनर सेक्ट्स, पूना संस्करण।**

भिन्न नही है जिसने[२] बाल्यकाल मे पूतना, वृषासुर, केशी, नामक राक्षसो का वध किया था, गोवर्धन पर्वत-को हाथ पर धारण किया था तथा उसके शिखर पर उसने बहुत सा अन्न अकेले ही खा डाला था तथा राजा कस का वध किया था। ये श्रीकृष्ण की बाल्यकाल की आश्चर्यरस से भरी लीलाये हैं। फलत. महाभारत की दृष्टि मे कृष्ण की एकता तथा अभिन्नता इस प्रकार समर्थित तथा प्रमाणित है।

श्रीकृष्ण का सौन्दर्य

श्रीकृष्ण की वाह्य आकृति, उनका साँवला रग, उनका पीताम्बर, उनके शरीर की गठन आदि भौतिक शरीर उस युग के मानवो के ही लिए आकर्षक न था, प्रत्युत गत सहस्रो वर्षो से वह कवियो के आकर्षण का विषय बना हुआ है। बाल्यकाल मे उनकी रूपछटा का अवलोकन कर यदि सरल ग्रामीण गोप-वधुएँ तथा नगर की स्त्रियाँ आनन्द से आप्लुत हो उठती थी, तो यह हमारे चित्त मे इतना कौतूक नही उत्पन्न करता ? जब हम देखते हैं कि भीष्म पितामह—श्रीकृष्ण के पिता के समवयस्क, सौ वर्ष से ऊपर वयवाले, शरशय्या पर योग के द्वारा अपना जीवन समाप्त करने के इच्छुक, इच्छामरण भीष्म—श्रीकृष्ण के सामने आने पर उनके शरीर-सौन्दर्य से आकृष्ट हुए बिना नही रहते, तो फिर श्रीकृष्ण के शारीरिक सौन्दर्य और आकर्षण को हठात् मानना ही पडता है। यह है उनकी प्रौढ़ावस्था की घटना। इसीलिए भीष्म नारायण के रूप मे श्रीकृष्ण की स्तुति करते हुए भी उनकी शारीरिक सुषमा का विशद संकेत करते हैं—

त्रिभुवनकमनीय तमालवर्णं
रविकरगौरवराम्बरं दधाने ।
वपुरलककुलावृताननाब्ज
विजयसखे रतिरस्तु मेनवद्या ॥

आशय है कि उनका शरीर त्रिभुवन सुन्दर तथा श्याम तमाल के समान साँवला है, जिस पर सूर्य किरणो के समान श्रेष्ठ पीताम्बर लहराता है, और कमल सदृश मुख पर घुंघराली अलके लटकती रहती हैं, उन अर्जुनसखा कृष्ण मे मेरी निष्कपट प्रीति हो।

यह वर्णन है श्रीकृष्ण की प्रौढावस्था के रूप का और वर्णनकर्ता हैं उस युग के सबसे विद्वान् ज्ञानी शिरोमणि भीष्म, जिनके ऊपर पक्षपात का दोषारोपण नही किया जा सकता। श्रीकृष्ण की देह-काति सचमुच ही अत्यन्त ही चमत्कारी थी। पीताम्बर के बाह्य परिधान से वह और भी सुसज्जित की गई थी। इस बाह्य सौंदर्य को श्रीकृष्ण ने मानसिक गुणों के सवर्धन से और भी चमत्कृत तथा उदात्त बना रखा था। क्योकि उस युग के सबसे प्रौढ विद्वान् काशीवासी साम्प्रत उज्जयिनीप्रवासी सान्दीपनि गुरु से चतुष्षष्टि विद्याओ और कलाओ का अध्ययन कर उन्होने विद्या के क्षेत्र मे भी अपनी चरम उन्नति की थी। गीता के उपदेशक होने की योग्यता का सूत्रपात श्रीकृष्ण के जीवन-प्रभात मे ही इस प्रकार मानना सर्वथा युक्तिसगत प्रतीत होता है।

---

[२] **इन लीलाओं का वर्णन अनेक पुराणों में एक समान ही किया गया है—विशेषतः विष्णु-पुराण के पंचम अंश में तथा श्रीमद्भागवत् के १०म स्कन्ध के पूर्वार्ध में। यथा—पूतना वध भाग १०।६, वृषासुर वध १०।३६, केशीवध १०।३७, गोवर्धनधारण तथा अन्नभक्षण १०।२४-२५, कंस का वध, १०।४४।**

श्रीकृष्ण की अग्रपूजा

युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के पर्यवसान में अग्रपूजा का प्रसग उपस्थित था। यज्ञ के अन्त मे किसी महनीय उदात्त व्यक्ति की पूजा की जाती है जो 'अग्रपूजा' की सज्ञा से याज्ञिकों द्वारा अभिहित की जाती है। सहदेव के पूछने पर भीष्म पितामह ने श्रीकृष्ण को ही अग्रपूजा का अधिकारी बतलाया। इस अवसर पर उन्होंने कृष्ण के चरित्र का जो प्रतिपादन किया, वह यथार्थत उनकी उदात्तता, महत्ता तथा अलोकसामान्य वैदुषी और सौदर्य का स्पष्ट प्रतिपादक है। इस प्रसग के एक-दो ही श्लोक पर्याप्त होगे—

एषत्वेषा समस्ताना तेजोबलपराक्रमै।
मध्ये तपन्निवाभाति ज्योतिषामिव भास्कर ॥
असूर्यमिव सूर्येण द्विर्वातिमिव वायुना।
भासित ह्लादित चैव कृष्णेनेद सदौहिन. ॥ —सभा० प० ३६।२८-२६

इन पद्यो का तात्पर्य है कि इस सभा मे एकत्र राजाओ के बीच—जहाँ भारतवर्ष के समस्त अधीश्वर उपस्थित थे—तेज, बल तथा पराक्रम के द्वारा श्रीकृष्ण ही ज्योतियो के मध्य सूर्य के समान तपते हुए की भाँति प्रतीत होते हैं। जिस प्रकार सूर्य से विरहित अन्धतामिस्र से युक्त स्थान को भगवान् सूर्य चमका देता और निर्वात स्थान को—जहाँ लोगो का हवा के बिना दम घुटता रहता है—वायु आल्हादित कर देता है, ठीक उसी प्रकार कृष्ण के द्वारा यह सभा उद्भासित तथा आह्लादित की गई है।

शिशुपाल इस अग्रपूजा के अनौचित्य पर क्षुब्ध होकर कृष्ण के दोषों का विवरण देकर भीष्म के ऊपर पक्षपात तथा दुराग्रह का आरोप करता है। इसके उत्तर मे परमज्ञानी दीर्घजीवी तथा जगत् के व्यवहारो के नितान्त अनुभवी भीष्म का कथन ध्यान देने योग्य है। कृष्ण की अग्रपूजा का कारण उनका सम्बन्धी होना नही है, प्रत्युत अलोकसामान्य गुणो का निवास ही मूल हेतु है। उनमे दान, दक्षता, श्रुत (शास्त्र का परिशीलन), शौर्य, ह्री, कीर्त्ति, उत्तम बुद्धि सन्तति, श्री, धृति, तुष्टि तथा पुष्टि का नियत निवास है। इसीलिए वे अर्च्यतम हैं (सभा० प० ३८।२०)। अपने गुणो से कृष्ण ने चारो वर्णों के वृद्धो को अतिक्रमण कर लिया है (३८।१७)। वे एक साथ ही ऋत्विक्, गुरु, विवाह्य, स्नातक, नृपति तथा प्रिय हैं। इसीलिए उनकी अर्चा अन्य महापुरुषो के रहते हुए की गई है (३८।२२)। "सबसे बडी बात यह है कि वेदवेदाग का यथार्थ ज्ञान ब्राह्मण के महत्व का हेतु होता है और बल-सम्पत्ति क्षत्रिय के गौरव का कारण होती है। ये दोनो ही कृष्ण मे एकसाथ अन्यून भाव से विद्यमान हैं। इसलिए मेरी स्पष्ट सम्मति है कि इस मानव-लोक मे कृष्ण से बढकर क्या कोई भी व्यक्ति वर्तमान है ?" भीष्म पितामह की यह सम्मति यथार्थरूपेण श्रीकृष्ण के परम गौरव तथा उदात्त चरित्र की प्रतिष्ठापिका उक्ति है—

'वेदवेदागविज्ञान बल चाभ्यधिक तथा।
नृणां लोके हि कोऽन्योस्ति विशिष्ट केशवादृते ॥

—वही, ३८।१६

सजय भी उस युग के विशिष्ट विद्वान्, कुरुपाण्डवो के हितचिन्तक तथा धृतराष्ट्र को शुभ मन्त्रणा तथा श्लाघ्य प्रेरणा देनेवाले मान्य पुरुष थे। श्रीकृष्ण के प्रभाव का सकेत उनके ये शब्द कितनी विशदता से दे रहे हैं—

एकतो वा जगत् कृत्स्नमेकतो वा जनार्दन. ।
सारतो जगत कृत्स्नादतिरिक्तो जनार्दन ।।
भस्म कुर्यात् जगदिद मनसैव जनार्दन ।
न तु कृत्स्न जगच्छक्त भस्म कर्तुं जनार्दनम् ।।
यत सत्य यतो धर्मो यतो ह्रीरार्जव यत ।
तत. भवति गोविन्दो यत· कृष्णस्ततो जय. ।।

—उद्यो० पर्व ६८।६-१०

इस प्रसग मे ये श्लोक नि सन्देह महनीय तथा मननीय है ।

समस्त जगत् तथा केवल कृष्ण की तुलना की जाय तो सार-मूल्य-गौरव की दृष्टि मे समस्त जगत् से कृष्ण बढकर हैं । जनार्दन में इतनी शक्ति है कि वे मन से ही केवल समस्त ससार को भस्म कर सकते हैं, परन्तु पूरा संसार भी उनको भस्म नही कर सकता । इस पद्य मे 'मनसैव' पद किसी अलौकिक जादू-टोना का प्रतिपादक नही है, प्रत्युत वह एक चिन्तन, ध्यान तथा केन्द्रित विचार-शक्ति का स्पष्ट निर्देशक है । यही इसका व्यङ्ग्यार्थ प्रतीत होता है । जिस ओर सत्य रहता है, धर्म होता है, ह्री (अकार्यात् निवृत्ति ह्री = अर्थात् बुरे काम करने से निवृत्त होना) रहती है और जिधर आर्जव (ऋजुता, स्पष्टवादिता तथा निर्दुष्ट चरित्र) रहता है, उधर ही रहते है गोविन्द और जिधर कृष्ण रहते हैं, उधर ही जय रहता है । फलत कृष्ण का आश्रय विजय का प्रतीक है ।

कितना सुन्दर चरित्र-विश्लेषण है श्रीकृष्ण का इन नपे-तुले शब्दो मे । और ये वचन हैं भी किसके ? ये कौरव-पक्ष के अनुयायी व्यक्ति के हैं जिसके ऊपर पक्षपात करने का आरोप कथमपि मढा नही जा सकता । पाण्डव-पक्ष का व्यक्ति मिथ्या प्रशंसा का दोषी ठहराया भी जा सकता है, परन्तु भीष्म तथा सजय के इन वचनो मे पक्षपात की कही गन्ध भी नही है ।

इस अवसर पर श्रीकृष्ण की सहिष्णुता भी अपने पूर्ण वैभव के साथ प्रद्योतित होती है । शिशुपाल श्रीकृष्ण के विरोधी दल का नेता था, उसे यह अग्रपूजा तनिक भी न जँची । लगा वह कृष्ण पर गालियो की बौछार बरसाने । ध्यान देने की बात है कि इन गालियो मे कृष्ण के शौर्याभास का ही विवरण है, किसी लम्पटता तथा दुराचार का सकेत भी नही (जो आजकल लोग उनके चरित्र पर लाछन लगाया करते हैं गोपी प्रसग को लेकर) । कृष्ण के बाद वह टूट पडा भीष्म के ऊपर और लगा उन्हे भी कोसने नाना प्रकार की पक्षपात भरी बातो का हवाला देकर । भीष्म ने अपने पक्ष के समर्थन मे बहुत ही युक्तियाँ दी तथा तर्क उपस्थित किये, परन्तु श्रीकृष्ण ने अपनी मौन मुद्रा का भजन तब किया जब अपनी बुआ को दी गई पूर्व प्रतिज्ञा की समाप्ति हो गई । श्रीकृष्ण अपनी प्रतिज्ञा के पालन मे एक धुरन्धर व्यक्ति थे जिसका सकेत उन्होने द्रौपदी को आश्वासन देते समय स्वय किया था—

सत्यं ते प्रति जानामि राज्ञा राज्ञी भविष्यति ।
पतेत् द्यौर्हिमवान् शीर्येत् पृथिवी शकली भवेत् ।
शुष्येत् तोयनिधि. कृष्णे न मे मोघ वचो भवेत् ।।

—वन प० १२।३०-३१

आकाश चाहे गिर जाय, हिमालय चूर्ण-विचूर्ण होकर धराशायी हो जाय, पृथ्वी टुकडे-टुकडे हो जाय, और समुद्र सूख जाय, परन्तु हे कृष्णे (द्रौपदी), मेरा वचन व्यर्थ नही हो सकता । ऐसे सत्यप्रतिज्ञ की प्रतिज्ञा कभी झूठी नही होती ।

इस प्रसंग मे श्रीकृष्ण की महती सहिष्णुता तथा भूयसी दृढ प्रतिज्ञा का पर्याप्त परिचय मिलता है।

श्रीकृष्ण की स्पष्टवादिता

स्पष्टवादिता महापुरुष का एक महनीय लक्षण है। जो व्यक्ति अपने चरित्र की त्रुटियो को जानता ही नही, प्रत्युत वह उन्हे भरी सभा मे, गण्य-मान्य पुरुषो के सामने नि सकोच भाव से कहने का भी साहस रखता है, वह सचमुच एक महान् पुरुष है, आदर्श-उदात्त मानव है। इस कसौटी पर कसने से श्रीकृष्ण के चरित्र की महनीयता स्वतः प्रस्फुटित होती है। एक ही दृष्टान्त उनकी प्राञ्जल स्पष्टवादिता को प्रदर्शित करने में पर्याप्त होगा। विष्णुपुराण (४ अंश अध्याय) मे स्यमन्तक मणि की कथा विस्तार के साथ सुबोध सस्कृत गद्य मे निबद्ध की गई है। शतधन्वा नामक यादव ने सत्यभामा के पिता सत्राजित की हत्या कर स्यमन्तक मणि को छीन लिया। कृष्ण को सत्यभामा ने अपने पिता की निर्मम हत्या की सूचना स्वयं दी। वारणावत से वे द्वारिकापुरी मे आये। इसकी खबर पाते ही शतधन्वा अपनी शीघ्रगामिनी वडवा पर चढ़ पूरब की ओर भाग खडा हुआ और श्रीकृष्ण ने अपने अग्रज बलभद्र-जी के साथ चौकडी-जुते रथ पर चढकर उसका पीछा किया। द्वारिका से भागा हुआ शतधन्वा नाना प्रान्तों को पार करता मिथिला पहुँचा जहाँ उसकी वह तेज घोड़ी रास्ते में थकान के मारे अकस्मात् गिरकर मर गई जिससे वह पैदल ही भागा। कृष्ण ने अपना सुदर्शन चलाकर उसका सिर वही काट डाला, परन्तु उनके विषाद की सीमा न रही जब उसके कपडो के टटोलने पर भी वह मणि नही मिली। बलभद्र ने सत्या के मिथ्या वचनो मे आसक्ति रखनेवाले अपने अनुज की बडी भर्त्सना की और रुष्ट होकर वे मिथिलेश राजा जनक के यहाँ चले गये। खाली हाथ कृष्ण द्वारिका लौट आये और अपने विपुल उद्योग की विफलता पर खेद प्रकट किया। शतधन्वा ने वह मणि श्वफल्क के पुत्र अक्रूर जी-के पास रख दिया था जिन्होंने उससे प्रतिदिन उत्पन्न होनेवाले सोने का वितरण कर 'दानपति' की महनीय उपाधि प्राप्त की थी। 'दानपति' अक्रूर जी ने स्यमन्तकमणि को श्रीकृष्ण को देने का प्रस्ताव किया, परन्तु यादवो की भरी सभा मे उन्होंने इसे अस्वीकार करते समय जिस स्पष्टवादिता का परिचय दिया, वह वास्तव मे श्लाघनीय तथा वन्दनीय थी। श्रीकृष्ण ने कहा—यह स्यमन्तक मणि राष्ट्र की सम्पत्ति है। ब्रह्मचर्य के साथ पवित्रता से धारण करने पर ही यह राष्ट्र का कल्याण साधन करता है, अन्यथा यह अमगलकारक है। दस हजार स्त्रियो से विवाह करने के कारण उस आवश्यक पवित्रता का अभाव मुझे इसे ग्रहण करने की योग्यता प्रदान नही करता; सत्यभामा तब कैसे ले सकती है? हमारे अग्रज बलराम जी को मद्यपान आदि समस्त उपभोगो को इसके लिए तिलाजलि देनी पड़ेगी। इसलिए अक्रूर जी के पास ही इस मणि का रहना सर्वथा राष्ट्रहित के पक्ष मे है। इस प्रसग मे श्रीकृष्ण के मूल शब्दों पर ध्यान दीजिये—

एतच्च सर्वकाल शुचिना ब्रह्मचर्यादिगुणवता ध्रियमाणमशेषराष्ट्रस्योपकारकम्; अशुचिना ध्रियमाणम् आधारमेव हन्ति ॥१५५॥ अतोऽहमस्य षोडशस्त्रीसहस्रपरिग्रहादसमर्थो धारणे, कथमेतत् सत्यभामा स्वीकरोति ॥१५६॥ आर्य बलभद्रेणापि मदिरापानाद्यशेषोपभोगपरित्याग कार्यः ॥१५७॥ तदल यदुलोको य बलभद्र सत्या च त्वा दानपते प्रार्थयाम —तद् भवानेव धारयितु समर्थः ॥१५८॥

—विष्णुपुराण ४।१३

इतनी अमूल्य मणि के पाने का सुवर्ण अवसर कृष्ण के पास था, परन्तु उन्होंने राष्ट्र के कल्याण के लिए अपनी अयोग्यता अपने मुँह से यादव सभा मे स्वीकार की। यह नि.स्पृहता तथा इतनी स्पष्टवादिता

श्रीकृष्ण के चरित्र को नितान्त उदात्त सिद्ध करती है। इतना ही नही, वे निरभिमानता की उज्ज्वल मूर्ति थे। इसका स्पष्ट प्रमाण मिलता है युधिष्ठिर के राजसूय मे, जब ब्राह्मणों के पाद-प्रक्षालन का क्षुद्र काम श्रीकृष्ण ने अपने ऊपर लिया था और यज्ञ के महनीय तथा उच्च पदो का अधिकार दुर्योधन आदि कौरवो के सपुर्द कर दिया था। 'कृष्ण पादावनेजने' (भागवत ७५।५)

चरणप्रक्षालने कृष्ण ब्राह्मणाना स्वय त्वभूत् ।
सर्वलोकसमावृत्त पिप्रीषु फलमुत्तमम् ॥

—सभा पर्व ३५।१०

उत्तम फल पाने की इच्छा से कृष्ण ने ब्राह्मणो के पैर पखारने का काम अपने जिम्मे लिया—यह काम सचमुच ही श्रीकृष्ण के निरभिमानी व्यक्तित्व का स्पष्ट परिचायक है।

श्रीकृष्ण का सन्धि कार्य—

महाभारत युद्ध के आरम्भ होने से पहले श्रीकृष्ण ने अपना पूरा उद्योग तथा समस्त प्रयत्न युद्ध रोकने के लिए किया। वे पाण्डवो तथा कौरवो के बीच सम्भाव्यमान युद्ध की भयकरता तथा विपम परिणाम से पूर्णतया परिचित थे और हृदय से चाहते थे कि भारत मे रणचण्डी का वह प्रलयंकारी नृत्य न हो और इसके लिए उनके मनोभावो का तथा तीव्र प्रयत्नों का पर्याप्त वर्णन महाभारत का उद्योग-पर्व करता है। धृतराष्ट्र के पास प्रधान पुरुष होकर भी स्वय सन्धि का सदेश लेकर जाना और दूत का कार्य करना श्रीकृष्ण के उदात्त चरित का पूर्णतया परिचायक है। पाण्डवो के सामने अपने दौत्य कर्म की सम्भावनीय असफलता को स्वीकार करते हुए भी वे कहते हैं कि पार्थ, वहाँ मेरा जाना कदाचित् निरर्थक नही होगा। सम्भव है कदाचित् अर्थ की प्राप्ति हो जाय—सन्धि का प्रस्ताव स्वीकृत हो जाय। इतना न हो, तो भी अन्त मे हमे निन्दा का पात्र नही बनना पड़ेगा—

न जातु, गमनं पार्थ ! भवेत् तत्र निरर्थकम् ।
अर्थप्राप्ति कदाचित् स्यादन्ततो वाप्यवाच्यता ॥

इतना ही नही, श्रीकृष्ण भावी आलोचना का स्वय उत्तर प्रस्तुत करते हैं कि अधर्मिष्ठ, मूढ तथा शत्रु लोग मुझे ऐसा न कहे कि समर्थ होकर भी कृष्ण ने क्रोध से हठी कौरवो और पाण्डवो को नही रोका—इसलिए यह दौत्य कर्म मेरे लिए नितान्त उचित तथा समजस है। कृष्ण के ये मार्मिक वचन ध्यान देने योग्य हैं—

उभयो साधयन्नर्थमहमागत इत्युत ।
तत्र यत्नमह कृत्वा यच्छैवं नृष्ववाच्यताम् ॥
मम धर्मार्थयुक्त हि श्रुत्वा वाक्यमनामयम् ।
न चेदादास्यते बालो दिष्टस्य वशमेष्यति ॥

किसी सभा के सभासदो का भी यह पवित्र कर्तव्य होता है कि वे न्याय के पक्ष का अवलम्बन कर न्यायोपेत तथ्य का ही निर्णय करे। यदि वे ऐसा नही करते, न्याय की उपेक्षा करते हैं तथा सत्य का गला जानबूझ कर घोटते हैं, तो सभासद ही उस अधर्म से स्वय विद्ध हो जाते हैं। पाण्डवो के एतद्विषयक वचनो को कहकर श्रीकृष्ण सभासदो के उदात्त कर्तव्य की चेतावनी देते हैं इन विशिष्ट शब्दों मे—

यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्य यत्रानृतेन च ।
हन्यते प्रेक्षमाणाना हतास्तत्र सभासदः ॥

विद्धो धर्मो ह्यधर्मेण सभा यत्र प्रपद्यते।
न चास्य शल्य कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासद.।।
धर्म एतानारुजति यथा नद्यनुकूलजान्।।
—वही ६५।४८-५०।

कितनी नीति भरी है इन वचनो मे तथा धर्माधर्म का कितना मार्मिक विवेचन करना न्याय्य है सभासदो-की ओर से। श्लोको का अभिप्राय है—जहाँ सभासदो के देखते-देखते अधर्म के द्वारा धर्म का और मिथ्या के द्वारा सत्य का गला घोटा जाता हो, वहाँ वे सभासद नष्ट हुए माने जाते है। जिस सभा मे अधर्म से विद्ध हुआ धर्म प्रवेश करता है, और सभासदगण उस अधर्म रूपी कॉटे को काटकर निकाल नही देते है, वहाँ उस कॉटे से सभासद् ही बिधे जाते है अर्थात् उन्हे ही अधर्म से लिप्त होना पड़ता है। जैसे नदी अपने तट पर उगे हुए वृक्षों को गिराकर नष्ट कर देती है, उसी प्रकार वह अधर्मविरुद्ध धर्म ही उन सभासदो का नाश कर डालता है। श्रीकृष्ण के वचन सभाधर्म का निष्कर्ष प्रस्तुत करते है। ऐसी भावना विदुरजी ने द्रौपदी के चीरहरण के प्रसग पर सभापर्व (अ० ५६) मे भी प्रकट की थी जहाँ 'विद्धो धर्मो' वाला श्लोक पहले ही आया है (श्लोक ७७)।

अहापयन् पाण्डवार्थं यथावत्
शम कुरूणा यदि चाचरेयम्।
पुण्य च मे स्याच्चरितं महात्मन्
मुच्येरंश्च कुरवो मृत्युपाशात्।।
—उद्योग प० ६३, अ० १७-१६

आशय है कि मै दोनों—कौरवो तथा पाण्डवो का कल्याण सिद्ध करने आया हूँ। मै इसके लिए पूर्ण यत्न करूँगा जिससे मै जनता मे निन्दा का भाजन होने से बच जाऊँगा। मेरे दौत्यकार्य का उद्देश्य क्या है ? महात्मन्, यदि मै पाण्डवो के न्याय्य स्वत्व मे बाधा न आने देकर कौरवों तथा पाण्डवों मे सन्धि करा सकूँगा, तो मेरे द्वारा यह महान् पुण्यकर्म बन जायगा और कौरव लोग भी मृत्यु के पाश से बच जायेगे।

श्रीकृष्ण ने ये वचन दोनो पक्षो के महनीय हितचिन्तक तथा राजनीति के कुशल पण्डित विदुर जी से कहे थे जिनसे उनके शुद्ध हृदय की पवित्र भावनाओ की रुचिर अभिव्यक्ति हो रही है। ये वचन कितने मर्मस्पर्शी है और कितनी रुचिरता से श्रीकृष्ण की शान्ति भावना के प्रख्यापक है।

पाण्डवो के प्रतिवाद की अवहेलना कर श्रीकृष्ण धृतराष्ट्र को समझाने तथा पाण्डवो के लिए केवल पॉच गॉवो के देने का प्रस्ताव रखने कौरव-सभा मे गये और अपना बडा ही विशद, तर्कपूर्ण तथा युक्ति-समन्वित भाषण दिया (६५ अध्याय) जिसका अनुशीलन उनके निश्छल परिश्रम तथा प्रयत्न पर एक निर्दृष्ट भाष्य है। युद्ध के अकल्याणकारी रूप को दिखला कर उन्होने कहा कि युद्ध मे कभी कल्याण नही होता। न धर्म सिद्ध होता है और अर्थ की ही प्राप्ति होती है, तो सुख कहाँ ? अब विजय भी अनिवार्य रूप से युद्ध मे सम्भव नही होती। ऐसी दशा मे युद्ध मे अपना चित्त मत रखो—युद्ध बडी भयानक वस्तु है।

न युद्धे तात कल्याण न धर्मार्थौ कुत. सुखम्।
न चापि विजयो नित्य न युद्धे चेत आधिथाः।।
—उद्योग प० १२६।४०

अर्थ और काम का मूल धर्म होता है। उसका आश्रय न करना राजा के लिए सर्वथा विघ्नकारी होता है—

कामार्थौ लिप्समानस्तु धर्ममेवादितश्चरेत् ।
न हि धर्मादपेत्यर्थं कामो वापि कदाचन ।।
इन्द्रियै. प्राकृतो लोभा धर्मं विप्रजहाति य. ।
कामार्थानपायेन लिप्समानो विनश्यति ।।

—उद्योग प० १२४।३६,३७

श्रीकृष्ण कौरवो तथा पाण्डवों के परस्पर सौहार्द तथा मैत्री के दृढ अभिलाषी थे और इसके लिए धृतराष्ट्र के प्रति उनके ये वचन सुवर्णाक्षरो मे अकित करने लायक हैं—अपने पुत्रो से समन्वित धृतराष्ट्र वन है तथा पाण्डु के पुत्र व्याघ्र हैं। व्याघ्र के साथ वन को मत काटो। ऐसा दुर्दिन भी न आये कि वन से व्याघ्र नष्ट हो जायँ—

वन राजा धृतराष्ट्र सपुत्रो
व्याघ्रास्ते वै सजय पाण्डुपुत्रा ।
मा वन छिन्धि सव्याघ्र
मा व्याघ्राऽनीनशन् वनात् ।।

—वही २९ अ०, ५४ श्लोक

व्याघ्र तथा वन का यह दृष्टान्त सचमुच बडा ही हृदयग्राही और तथ्यपूर्ण है। बिना जंगल के व्याघ्र मार डाला जाता है और बिना व्याघ्र के जगल भी काट डाला जाता है। अर्थात् दोनों में उपकार्योपकारक भाव है। दोनो के परस्पर सौहार्द से दोनो का मगल सिद्ध होता है। इसलिए व्याघ्र को वन की रक्षा करनी चाहिए तथा वन को व्याघ्र का पालन करना चाहिए—

निर्वनो वध्यते व्याघ्रो निर्व्याघ्रं छिद्यते वनम् ।
तस्माद् व्याघ्रो वन रक्षेद् वन व्याघ्र च पालयेत् ।।

—वही श्लोक ५५

यह दृष्टान्त कितना सुन्दर है और कितनी रुचिर है परस्पर उपकार की भावना। परन्तु इतने तर्कपूर्ण उपदेश का पर्यवसान क्या हुआ—दुर्योधन द्वारा श्रीकृष्ण को बन्दी बनाने का उपहासास्पद उद्योग। कृष्ण इस अवसर पर अपनी अलौकिक महिमा से अपना विराट् रूप दिखलाकर बच गए, परन्तु ऐसे सदुपदेशो की उपेक्षा करनेवाला कौरवराज दुर्योधन महाभारत-युद्ध में भस्म होने से न बच सका। इतनी सद्भावना देखकर भी क्या श्रीकृष्ण के ऊपर युद्ध के प्रेरक होने का लांछन लगाना न्याय्य है ? नही, कभी नही।

श्रीकृष्ण की राजनीतिज्ञता

श्रीकृष्ण अपने युग में राजनीति के—पुस्तकस्था राजनीति के ही नही, प्रत्युत व्यावहारिक राजनीति के—प्रौढ़ विद्वान् थे। इस तथ्य के अंगीकार करने के अनेक प्रबल प्रमाण हैं। शान्ति पर्व के ८१वें अध्याय का अनुशीलन इस विषय में विशेषत. महत्वशाली है। वह अध्याय श्रीकृष्ण के राजनीतिक वैदुष्य, व्यावहारिक कुशलता और नि सहाय होने पर भी अकेले ही यादवीय राजनीति के संचालन-पाडित्य का पूर्ण परिचायक तथ्य प्रस्तुत करता है। ऐतिहासिक तथ्य है कि यादवो मे दो प्रधान कुल थे—

वृष्णि तथा अन्धक। और दोनो का गणतन्त्र राज्य सम्मिलित गणतन्त्र के रूप मे प्रतिष्ठित था। इस गणतन्त्र के दो मुख्य (आजकल की भाषा मे 'अध्यक्ष' = प्रेसिडेन्ट) थे उग्रसेन तथा श्रीकृष्ण। वृद्ध होने के कारण उग्रसेन अपने राजनीतिक कार्य के निर्वाह मे उतने जागरूक नही थे, फलत. उस गणतत्र के सचालन का पूरा उत्तरदायित्व श्रीकृष्ण के ही ऊपर था। अपने एकाकीपन तथा राजनीतिक सघर्ष का विवरण देकर श्रीकृष्ण ने नारदजी से उपदेश की प्रार्थना की है। वृष्णि कुल की ओर से उस लोकसभा मे आहुक नेता थे तथा अन्धक कुल की ओरसे अक्रूर। दोनो मे अपने-अपने स्वार्थ के लिए निरन्तर सघर्ष चला करता था जिसका प्रशमन कर गणतत्र को अभ्युदय की ओर ले जाना श्रीकृष्ण की राजनैतिक वैदुषी तथा व्यावहारिकता के लिए भी एक चुनौती थी। इसी की चर्चा करते हुए श्रीकृष्ण के ये वचन कितने मर्मस्पर्शी तथा तथ्यपूर्ण हैं—

दास्यमैश्वर्यभावेन ज्ञातीना वै करोम्यहम्।
अर्धभोक्तारि भोगाना वाग्दुरुक्तानि च क्षमे ॥५॥
बल संकर्षणे नित्यं सौकुमार्य पुनर्जदे।
रूपेण मत्त. प्रद्युम्न सो सहायोऽस्मि नारद ॥७॥
सोऽह कितवमातेव द्वयोरपि महामुने।
नैकस्य जय नाशसे द्वितीयस्य पराजयम् ॥११॥

'नारद जी महाराज, मैं अपनी दुरवस्था की बात क्या कहूँ आपसे। मैं कहने के लिए तो ईश्वर (शासक) हूँ, परन्तु वस्तुत. मै अपने दायादो की चाकरी करता हूँ और उनके कड़वे वचन सहता हूँ। अपने राजकार्य मे मैं एकान्त असहाय हूँ। मेरे भाई तथा पुत्र दोनो ही अपनी राह चलते हैं, मुझे सहायता देने की उन्हे चिन्ता ही नही। मेरे अग्रज सकर्षण (बलराम) मे बल है,[१] मेरा अनुज गद सुकुमारता तथा कोमलता का जीवित रूप है। मेरा ज्येष्ठ पुत्र प्रद्युम्न अपने अलौकिक रूप मे भूला है। कहिए, मेरी असहायता का क्या कही अन्त है? आहुक तथा अक्रूर की राजनीतिक कुछ चालो से तथा आपसी सघर्ष से मै और भी चिन्तित और व्यग्र रहता हूँ। दोनो को शान्त रखने का मैं यथावत् प्रयत्न करता हूँ। मेरी दशा दो जुवाड़ी पुत्रो वाली उस माता के समान है जिसके दोनो पुत्र आपस

[१] महाभारत युग में चार योद्धा महाबलशाली माने जाते थे—बलराम, भीम, मद्रराज शल्य तथा मत्स्यराज का सेनानी कीचक। परन्तु इन चारों में भी बलरामजी सबसे अधिक बलिष्ठ थे। उन्होंने गदायुद्ध में भीष्म को भी परास्त किया था। श्रीकृष्ण के कथन का ध्वन्यर्थ यह भी प्रतीत होता है कि शारीरिक बल से सम्पन्न होने से वे राजकाज में विशेष सहायता देने के योग्य भी नहीं है। महाभारत के ये श्लोक इस विषय में ध्यातव्य है—

साम्प्रतं मानुषे लोके सदैत्य-नर-राक्षसे।
चत्वारस्तु नरव्याघ्रा बले शक्रोपमो भुवि ॥
उत्तमप्राणिनां तेषां नास्ति कश्चिद् बले समः।
बलदेवश्च भीमश्च मद्रराजश्च वीर्यवान् ॥
चतुर्थः कीचकस्तेषां पंचमं नानुशुश्रुम।
अन्योन्यान्तरबलाः परस्परजयैषिणः ॥
येन नागायुतप्राणो सकृद् भीष्मः पराजितः ॥

में जुआ खेलते है और एक दूसरे को हराने की चिन्ता मे लगे रहते हैं। वह दोनो का हित चाहती है। न वह एक का जय चाहती है और न दूसरे का पराजय।

'कितवमाता' की यह उपमा कितनी सुन्दर तथा अर्थाभिव्यजक है। उसे दोनो पुत्रो का मगल अभीष्ट है। फलतः वह न एक के जय की अभिलाषिणी है और न दूसरे के पराजय की। यह उपमा श्रीकृष्ण के राजनीतिक चिन्ताग्रस्त जीवन के ऊपर भाष्यरूपा है। यह श्रीकृष्ण की ही अनुपम राजनीतिमत्ता थी कि यह वृष्ण्यन्धक संघ इतने दिनों तक अपना प्रभुत्व भारत के पश्चिमी प्रान्त मे बनाये रहा।

महाभारत-युद्ध के प्रधान सूत्रधार होने से भी श्रीकृष्ण की कूटनीतिज्ञता का परिचय अनुमेय है। उन्होंने अपने मुख से भी इसका परिचय तथा संकेत स्थान-स्थान पर किया है—

मयानेकैरुपायैस्तु • मायायोगेन चासकृत्।
हतास्ते सर्व एवाजौ भवता हितमिच्छता ॥
यदि नैवविधं जात, कुर्या जिह्ममह रणे।
कुतो वो विजयो भूय· कुतो राज्य कुत सुखम् ॥

—शल्य पर्व ६१।६३-६४

श्लोको का तात्पर्य है कि भीष्म, द्रोण, कर्ण और भूरिश्रवा भूतल पर अतिरथी के नाम से विख्यात थे। मायायुद्ध का आश्रय लेकर ही मैंने अनेक उपायो से उन्हे मार डाला है। यदि कदाचित् युद्ध मे इस प्रकार—माया—कौशलपूर्ण कार्य नही करता, तो फिर आपको विजय कैसे प्राप्त होती? राज्य कैसे हाथ मे आता और सुख कैसे मिल पाता? यह नई बात नही है। देवो ने भी प्राचीन काल मे ऐसा ही आचरण किया था। यह मार्ग सज्जनो के द्वारा पूर्वकाल मे समादृत हुआ है और इसके करने मे मेरा कोई भी दोष नही है—

पूर्वैरनुगतो मार्गो देवैरसुरघातिभिः।
सद्भिश्चानुगत. पन्था. स सर्वैरनुगम्यते ॥

—शल्य पर्व ६१।६८

इस निबन्ध मे श्रीकृष्णचन्द्र के राजनीतिक जीवन के महत्वपूर्ण स्वरूप को दिखलाने का प्रयत्न किया गया है। उनके आध्यात्मिक उपदेष्टा का रूप स्वतः विख्यात है। अतः उसे यहाँ देने की आवश्यकता नही। महाभारत के सन्देहहीन स्थलो का उद्धरण देकर दिखलाया गया है कि श्रीकृष्ण उस युग के महामहिमशाली राजनीतिक नेता थे, जिन्होंने कौरवो को पूर्णतया समझा कर पाण्डवो का हित-साधन करते हुए भी युद्ध रोकने का यथावत् प्रयत्न किया, परन्तु कौरवो के दुराग्रह तथा हठधर्मिता से वे अपने इस सार्वभौम मगलकारी कार्य मे कृतकार्य न हो सके। राजनीतिक दूरदर्शिता मे, भारतीय राष्ट्र की मगल चिन्तना मे तथा राष्ट्र को धर्ममार्ग मे अग्रसर करने मे श्रीकृष्ण की वैदुषी अनुपमेय थी—इसमे सन्देह करने के लिए लेशमात्र भी स्थान नही। व्यास जी का यह कथन 'इतिहास' के पृष्ठो में सदा-सर्वदा गूँजता रहा है और भविष्य मे भी गूँजता रहेगा—

यत्र योगेश्वर. कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥

—गीता १८।७८

पुराणों में कल्पसूत्र का प्रसंग

डॉ० रामशंकर भट्टाचार्य

कल्पसूत्र—वेद के छ अगो मे कल्पसूत्र (श्रौत-गृह्य-धर्मसूत्र एव शुल्बसूत्र) की गणना चिरकाल से प्रचलित रही है।[1] यह गणना पुराणो मे भी मिलती है।[2] पुराणो मे कल्पसम्बन्धी सामान्य निर्देश ही मिलते हैं, कदाचित् ही कोई विशिष्ट निर्देश मिलता है। नारदपुराण मे कल्पसम्बन्धी एक विशद विवरण मिलता है (१।५१ अ०)। ऐसा विशद विवरण अन्यत्र नही मिलता।

कल्प की प्रामाणिकता और उपादेयता—इस विषय मे पुराणो का ऐकमत्य है। यज्ञादि-कर्मकाण्ड मे सूत्र के मुख्यत और गौणत. उल्लेख बहुत स्थलो पर मिलते हैं। चतुर्दशविद्यास्थानो की गणना मे सर्वत्र वेदाङ्गभूत कल्प गणित होता ही है (विष्णु०, ३।६।२८-२९)। अनुशासन पर्व मे शिव का एक नाम ही 'सकल्प' कहा गया है, जिसकी व्याख्या मे नीलकण्ठ कहते हैं—'यज्ञकल्पकेन प्रयोगविधिविचारेण सहितो मीमासान्यायसघ ।' कल्प तो 'प्रयोगविधि' ही है, जैसा हम आगे दिखाएँगे।

कल्प (स्वकुलक्रमागत सूत्र) के अनुसार ही धर्मकार्य करना चाहिए, ऐसा निर्देश पुराणो मे सर्वत्र मिलता है। 'स्वगृह्योक्तविधानेन' वाक्य इस प्रसग मे द्रष्टव्य है (पद्म०, ४।१०४।२७; भविष्य० २।२।१९।१८१)। कर्मकाण्ड के प्रसग मे 'यथाविधि', 'विधानत.' (पद्म० ४।६।२९) आदि जो वचन मिलते हैं, उनका तात्पर्य भी कल्पसूत्रीय निर्देश से है (कल्पमूलक ब्राह्मणादि भी)। कुलक्रमागत सूत्र का अतिक्रमण करना निन्दित कर्म माना गया है—

"यः स्वसूत्रमतिक्रम्य परसूत्रेण वर्तते। अप्रमाणमृषि कृत्वा सोऽप्यधर्मेण युज्यते ।।"

(२।१२७।१४८–१४९)।

कल्प के पर्याय—विष्णुपुराण मे 'अनुवाकाश्च ये क्वचित्' वाक्य मिलता है (१।२२।८२)। यहाँ श्रीधरस्वामी 'अनुवाका कल्पसूत्रादय' कहते हैं। कल्पसूत्र का अनुवाक रूप पर्यायशब्द अन्यत्र अप्रसिद्ध है। कल्प को कभी-कभी 'यज्ञविद्याङ्ग' कहा गया है, जैसा कि आदिपर्व ७०।३९ के 'यज्ञ-विद्याङ्गविद्भि.' पद की व्याख्या मे नीलकण्ठ ने कहा है—"यज्ञविद्यायामङ्गभूतानि कल्पसूत्रादीनि। इससे कल्पशास्त्र का स्वरूप भी बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है।

कल्पस्वरूप—वर्गद्वयवृत्ति मे कहा गया है—'कल्पो वेदविहिताना कर्मणामानुपूर्व्येण कल्पना-शास्त्रम् (पृष्ठ १३)। पुराणो मे यह लक्षण सर्वथा स्वीकृत हुआ है—'मन्त्राणा कल्पना चैव विधि-दृष्टेषु कर्मसु (वायु०, ५९।१४१; ब्रह्माण्ड०, १।३३।५७)। विष्णुधर्मोत्तर ३।१७।१ का 'कल्पना च

---

[1] देखिये मुण्डक १।१।५—'शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति'। आपस्तम्ब धर्मसूत्र २।८।११ में षड् वेदाङ्गों की गणना है। कौटिल्य कहते हैं—'शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दोविचितिः ज्योतिषमिति' (१।२ अध्याय)।

[2] शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं ज्योतिषं तथा। छन्दःशास्त्रं षडेतानि वेदाङ्गानि विदुर्बुधाः ।। (नारदीय० १।५०।१०)। देवीपुराण में कहा गया है—'शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषं षडङ्गानि भवन्त्येते' (१०७।२४-२५)। देवीपुराण का यह अध्याय चरणव्यूहानुसारी है।

तथा कल्पा कल्पश्च ब्राह्मणस्तथा' (यहाँ का पाठ ईषद्भ्रष्ट है) वचन भी इस तथ्य का ज्ञापक है। किस वेदविहित कर्म के लिए किस मन्त्र का विनियोग करना चाहिए, यह श्रौतसूत्र का मुख्य विषय है। धर्म-गृह्य-सूत्र मे भी वेदानुसारी वर्णाश्रमधर्मोचित कर्म एव गृह्याग्निसाध्य कर्म तथा तदनुकूल वेदमन्त्र उपदिष्ट हुए हैं। कल्प मे बहुलतया 'प्रयोग' है, अत. 'कल्पप्रयोग' शब्द प्रयुक्त होता है। अनुशासन १०।३८ के 'कल्पप्रयोग' शब्द का अर्थ 'कल्पसूत्रोक्त यज्ञप्रयोग' किया गया है (नीलकण्ठ-टीका)। वस्तुत कल्प शब्द का अर्थ 'प्रयोग' ही है। बोधायन धर्मसूत्रगत 'अघमर्षणकल्प' शब्द की व्याख्या मे गोविन्दस्वामी कल्प = प्रयोग ही कहते हैं।

कल्पसूत्रीय-प्रयोग और इष्टसिद्धि—'देवीभागवत' मे कहा गया है—

"उपचार परा नून वेदमन्त्रा सहस्रश । वाञ्छितार्थकरा नून सूत्रै. संलक्षिता किल ॥" (५।२२।४)।

कामनासिद्धि के हेतुभूत यज्ञकर्म के चयनादि के प्रसग मे कल्पसूत्र का निर्देश यत्रतत्र मिल जाता है—'चयनानि कल्पसूत्रविधानत' (कुमारिका० ११।४२), 'स्वकल्पोक्तप्रकारेण होम कुर्यात्' (धर्मारण्य०)। कल्पशास्त्रसबद्ध अध्याय (नारदपुराणगते १।५१ अ०) मे कामनापरक अनेक यज्ञ कहे गए हैं।

कल्प के भेद—कल्पसूत्र के तीन भेद प्रसिद्ध हैं—श्रौत, धर्म और गृह्य। श्रौत-धर्म-सूत्रो का शब्दत. प्रत्यक्ष उल्लेख शायद ही कही मिलता हो, पर कर्मकाण्ड के प्रसग मे श्रौत-धर्म-सूत्रो का गौण निर्देश पुराण मे मिलता है। गृह्यसूत्र का शब्दत. निर्देश है—'स्वगृह्योक्तविधानेन' आदि वाक्य इस प्रसग मे द्रष्टव्य है। सोमसस्था—हवि सस्था—पाकसस्थाओ का विवरण (गार्हपत्य—दक्षिण—आहवनीयाग्निसाध्य कर्मो की चर्चा) पुराणो मे बहुधा मिलती है। ये सब कर्म सूत्रानुसार अनुष्ठेय होते हैं। शाखाभेद के अनुसार श्राद्धादिकर्म मे भिन्नता होती है—'श्राद्धस्य बहवो भेदा शाखाभेदै-र्व्यवस्थिता.' (नागरखण्ड)। शाखाभेद से सूत्रभेद होता है और सूत्रो को देखकर ही कर्म का अनुष्ठान किया जाता है। यज्ञादिगत अनुष्ठान का स्पष्ट—विशद-ज्ञान सूत्रो से जितना सम्भव है, सहिता-ब्राह्मण से उतना नही हो सकता।

शाखा और कल्प के निकटतम सबन्ध को देखकर ही 'सकल्पा शाखा' ऐसा प्रयोग पुराण-कारो ने किया है (कुमारिका ५।११४)। जहाँ भी स्वशाखाध्ययन कहा गया है (पद्म० ४।१००।४२) वहाँ सहिता-ब्राह्मण के साथ सूत्र का अध्ययन भी आवश्यक माना गया है। अङ्गो के साथ वेद का अध्ययनकारी अनूचन कहलाता है, यह स्मृतिशास्त्रोक्तमत नारदपुराण मे भी स्मृत हुआ है (१।५०।१२)।

पञ्चविध कल्प का एक विशिष्ट निर्देश नारदीय १।५१।१–८ मे मिलता है। यहाँ नक्षत्रकल्प (नक्षत्राधीश्वरों का आख्यान), वेदकल्प (पुरुषार्थों की सिद्धि के लिए वेदमन्त्रों का विधान), संहिता कल्प (मन्त्रो के ऋषि-छन्द-देवता का निर्देश), आङगिरसकल्प (मारण आदि षट् कर्मो का प्रतिपादन) एव शान्तिकल्प (दिव्य-भौम-अन्तरिक्षोत्थ उत्पात की शान्ति)—इन पाँच कल्पो का विवरण है। यहाँ इन पाँच कल्पो का सम्बन्ध वेदसामान्य के साथ है, ऐसा कहा गया है, पर बाद में इन पाँचो का सम्बन्ध अथर्ववेद के साथ विशेष रूप से जोडा गया है जैसा कि सायण ने अथर्ववेदभाष्यभूमिका में दिखाया है। अथर्ववेद के परिशिष्टों मे इन कल्पो का भी विस्तार के साथ प्रतिपादन मिलता है।

कल्प के प्रवक्ता—पुरुषोत्तम० १७।५४ मे 'कल्पकारा' शब्द प्रयुक्त हुआ है। ये कल्पकार कौन है, इस विषय में पुराण में बहुत ही महत्त्वपूर्ण एक उक्ति है—'ऋषिपुत्रा प्रवक्तार कल्पाना ब्राह्मणस्य तु' (ब्रह्माण्ड० १।३३।२२)। यह जानना चाहिए कि यहाँ ऋषिपुत्र का अर्थ ऋषि के

पौत्र आदि भी हैं, जैसा कि कहा गया है—'तत्पुत्रपौत्रनप्तार ऋषिपुत्रा इति स्मृता" (आर्यविद्या-सुधाकर, पृष्ठ २९-३० मे उद्धृत पूर्वाचार्यवाक्य)। ऋषिपुत्र भी ऋषि ही हैं (एक ही ज्ञानधारा के प्रवर्तक-प्रचारक होने के कारण), जैसा कि चरकसूत्र-स्थान की व्याख्या मे चक्रपाणि कहते हैं—"अनेन चतुर्विधा अपि ऋषय ऋषिका ऋषिपुत्राश्च देवर्षयो महर्षयो गृह्यन्ते" (अ० १)।

कल्प और ब्राह्मणो के प्रवक्ता ऋषि हैं, यह कल्पकारो के नामो को देखने से भी ज्ञात होता है। व्याकरणशास्त्रीय तद्विषयता का नियम (जो सहिता-ब्राह्मण मे प्रवर्तित होता है) कल्पसूत्र पर भी प्रवर्तित होता है (अष्टा०, ४।२।६६)। कल्पसूत्र मे छन्दोवत् कार्य होता है, यह 'छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ति' वाक्य से भी जाना जाता है। अन्य वेदाङ्ग की अपेक्षा (वैदिक कर्म की दृष्टि मे) कल्प का वेद के साथ निकटतम सम्बन्ध है, यही कारण है कि 'त्रिधावद्ध.' की व्याख्या मे निरुक्त मे 'मन्त्र-ब्राह्मणकल्पै.' (१३।४ खण्ड) कहा गया है—अन्य किसी वेदाङ्ग का नाम नही लिया गया।

कल्प-प्रवचन के विषय मे पुराणो मे एक विशिष्ट कथन उपलब्ध होता है। कई पुराणो मे कहा गया है कि द्वापरयुग मे कल्पों का बहुविध प्रवचन किया गया है (वायु०, ५८–१४, ब्रह्माण्ड० १।३१।१४, लिङ्ग० १।३९।६०, कूर्म० १।२९।४६; मत्स्य० १४४।१३)। श्लोक है—'ब्राह्मण कल्पसूत्राणि मन्त्रप्रवचनानि च' (कही-कही स्वल्प पाठान्तर मिलता है)। जान पडता है कि अत्यन्त प्राचीन काल मे कल्पसूत्र बहुसख्यक नही थे। बाद मे याज्ञिक क्रिया मे जैसा-जैसा परिवर्तन होता गया, कल्पसूत्रो की रचना भी बढती गई। यज्ञ की सख्या-वृद्धि और यज्ञ मे परिवर्तन आदि कालानुसार हुए हैं, इस विषय मे पुराणो का 'तत प्रभृति यज्ञोऽय युगै सह विवर्धित' वाक्य प्रमाण है।

कल्पकारों के नाम—पुराणो मे सूत्रकारो के नाम शायद ही कही मिलते हो। स्कन्द पुराण के नागरखण्ड मे वेदसूत्रकार कात्यायन का उल्लेख मिलता है (१३१।४८)। यह कात्यायन श्रौत-गृह्य-धर्मसूत्रो के अतिरिक्त शुक्लयजु पार्षद आदि ग्रन्थो के रचयिता हैं। इष्टिकर्ता आपस्तम्ब का नाम मत्स्य० ७।३३-३४ मे है; निश्चित ही ये गृह्यादिसूत्रकार आपस्तम्ब हैं।

कल्पसूत्र वाक्य—क्वचित् पुराणो मे कल्प के वाक्य और मतो का स्पष्ट निर्देश मिलता है। कुमारिकाखण्ड मे कहा गया है—

"तथा हि गृह्यकारेण श्रुतौ प्रोक्तमिद वच:। नकुल सकुल ब्रूयात् नकश्चिन्मर्मणि स्पृशेत्॥" (१३।८४-८५)।

यह वाक्य किस सूत्र का है, यह अन्वेषणीय है। अनुशासनपर्व मे 'अनृता: स्त्रिय इत्येवं सूत्रकारो व्यवस्यति' कहा गया है (१९।६)। धर्मसूत्रो मे इस भाव के प्रतिपादक वाक्य मिलते हैं।

कही-कही श्रुति कहकर भी कल्पसूत्रो का मत कहा गया है। यद्यपि श्रुति पद से कल्पसूत्र का ग्रहण मुख्यत. नही होता, पर चूँकि कल्पसूत्र मन्त्रब्राह्मण प्रतिष्ठित है, इसलिए गौणरूप से कल्पसूत्र के मतो को 'श्रुतिमत' के रूप मे कहा गया है। स्वय पुराण 'श्रुति' मे वेदाङ्गो का (जिनमे कल्पसूत्र है) अन्तर्भाव करता है—'ऋचो यजूँषि सामानि ब्रह्मणोऽङ्गानि च श्रुति.'।

कल्पमत को श्रुतिमत कहकर उल्लेख करने का एक उदाहरण दिया जा रहा है। अनुशासन पर्व मे एक क्रिया को लक्ष्यकर कहा गया है—'वेदश्रुतिनिदर्शनात्' (८५।१४८)। इस वाक्य से किसी कल्प का मत निर्दिष्ट किया गया है, ऐसा नीलकण्ठ ने कहा है—'वेदश्रुतिरिति।' अग्नावनुगतेऽन्तरा आहुतीर्हिरण्य उत्तरा जुहुयात् इति कल्पकारेण दर्शिता।"

मनुस्मृति की कुछ समस्याएँ

डॉ० हरिहरनाथ त्रिपाठी

मनु का उल्लेख ऋग्वेद से प्रारम्भ हो जाता है। उन्हे मानवी सृष्टि का मूल पुरुष मानने से ही 'मानव' सज्ञा का निर्देश होता है। परम्परानुसार मनु के मूल का सम्बन्ध वैवस्वत, स्वायम्भुव और सार्वाणि से है। अदिति विवस्वत पुत्र होने से उन्हे वैवस्वत कहा जाता है। स्वयं उत्पन्न होने से स्वायम्भुव नाम पडा। विवस्वत की स्त्री 'सवर्णा' थी अतएव वे सार्वाणि भी कहे गये। सृष्टि के मूल पुरुष के रूप मे होने से उन्हे प्रजापति भी कहा गया और यज्ञ मे भाग मिला।[१] मैत्रायण ब्राह्मणोपनिषद् मे भी उन्हे दैवी रूप मे प्रस्तुत किया गया।[२] दैवी रूप के बाद ऋषि रूप मे उनका उल्लेख मिलता है।[३] प्रलय के बाद इडा से सृष्टि का विकास करनेवाले मनु द्वारा अपने पुत्रो मे सम्पत्ति विभाग करने का उल्लेख तैत्तिरीय सहिता मे मिलता है।[४] मनुष्य रूप मे सदाचारो का पालन करते हुए शतपथ ब्राह्मण मे उनका उल्लेख है।[५] पुरूरवा, शर्याति और इक्ष्वाकु के पिता के रूप मे भी मनु का उल्लेख है। उन्होने विभिन्न वैदिक भाषाओ का दर्शन किया। महाभारत मे उन्हे 'श्राद्धदेव' कहा गया है।[६] छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार उसके अन्तिम अश का दर्शन ब्रह्मा (हिरण्यगर्भ) के द्वारा कश्यप प्रजापति को हुआ; उनसे मनु को मिला और उन्होने उसे मानव मात्र मे प्रसारित किया। योग भी भगवान् से विवस्वान को, उनसे मनु और उनसे इक्ष्वाकु को प्राप्त हुआ।[७]

मनु शब्द से अभिप्रेत मनु या मनुओ का उल्लेख मिलता है। लेकिन कही मनु के लिए बहुवचन शब्द का प्रयोग नही है जिससे यह कहा जाय कि मनु विभिन्न थे। साथ ही सभी उल्लेखो को यदि एकत्र कर दिया जाय, फिर भी यह नही कहा जा सकता कि मनु एक ही थे।

मानव आचार, सदाचार एव विधि के सम्बन्ध मे मनु के नियम थे। उनके सम्बन्ध में कहा गया है कि 'मनु' ने जो कुछ कहा वह भेषज है।[८] मनु-संहिता की एक परम्परा थी इसका ज्ञान निरुक्त

---

[१] प्रजापतये मनवे स्वाहा। तै० ब्रा० ३।२।८।१, ४।१।६।१।

[२] मै० ब्रा० ५।१।

[३] यामथर्वा मनुष्पिता दध्यङ धियमत्नतः। ऋ० १।८०।१६।
याभिः पुरा मनवे गातुमीषथुः ऋ० १।११२।१६।

[४] मनुः पुत्रेभ्यो दायं व्यभजत् (वै० सं० ३।१।६।४)।

[५] शतपथ ब्राह्मण १।८।१।

[६] महाभारत १२।१२१।२६।

[७] भगवद् गीता ४।१-२।

[८] यद्वै किंच मनुरब्रवीत् तद्भेषजम् तै० सं० २।२।१०।२।
मनुर्वै यत्किंचिदवदत्तद्भेषजमृतायै। ताण्ड्य ब्राह्मण २३।१६।१७।
यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः।
सं सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः।। मनु० २।८।

से भी होता है।[९] निरुक्त ने स्वायम्भुव मनु के जिस वचन को उत्तराधिकार के सम्वन्ध मे उद्धृत किया है, वह वर्तमान मनुस्मृति में मिलने को कौन कहे, उत्तराधिकार सम्बन्धी उसके नियम के भी प्रतिकूल है। श्राद्ध शब्द और कर्म का प्रारम्भ मनु से हुआ, इसका उल्लेख आपस्तम्ब मे है।[१०] गौतम ने भी मनु के निर्देश का उल्लेख किया है।[११] पुत्रो मे समान विभाग के सम्बन्ध मे मनु को प्रमाणित माना गया है।[१२] ऋतुमती होने के बाद कन्या के विवाह करनेवाले पिता को पातकी मानने मे बौधायन ने मनु का अनुकरण किया है।[१३]

महाभारत मे मनु का २४ बार उल्लेख आया है। १६ में केवल मनु नाम, १ मे प्राचेतस् मनु के विचार राजधर्म के सम्बन्ध मे, ७ मे स्वायम्भुव मनु के स्मृति-सम्बन्धी उद्धरण आये हैं। एक स्थान पर ब्रह्मा से खड्ग उपलब्ध होता है, जिसमे धर्म अन्त.सन्निविष्ट है, वे उस खड्ग से प्राणिमात्र की रक्षा करते हैं। भगवद्गीता चार मनु का उल्लेख करती है। पुराण १४ मनुओ का उल्लेख करते हैं, जिनसे मन्वन्तर का क्रम विकसित होता है और इनमे ६ मनुओ का काल बीत गया। हमारा युग वैवस्वत मे चल रहा है। महाभारत मे जिस प्राचेतस् मनु का उल्लेख है उनका नाम १४ मनुओ मे नही आता। उनका नाम १० ऋषियो में आता है, जिन्होने मनु को उत्पन्न किया। मनुस्मृति या पुराणो मे सृष्टि-रचना का काल-परिगणन विशाल है। उनमे काल-चक्र-प्रवर्त्तक मनु ही हैं। वे सृष्टि के मूल पुरुष एव संरक्षक होते रहे। वे पशु, पक्षी एव समग्र सृष्टि के निर्माता होने के साथ ही विधि-प्रदाता भी रहे हैं। स्वायम्भुव मनु की विधि-सहिता मे वर्णधर्म की प्रतिष्ठा की गयी। वर्णधर्म एव मनु-सहिता दोनो को दैवी रूप दिया गया।

सभी मनुओ और ऋषियो का अमरत्व पुराणो मे प्रतिपादित है। वे सदाचार एव परम्परा के संचालक एव विधि के नियामक हैं। वे धर्मज्ञ हैं, धर्मपालक हैं और प्रलय के बाद भी स्थिर रहते हैं। उनसे ही विश्व-चक्र चलता है। वे प्रत्येक सृष्टि के प्रारम्भ मे आकर प्रजा को धर्म का ज्ञान कराते हैं। वर्तमान सृष्टि के लिए मनुस्मृति मनु द्वारा घोषित विधि-सहिता है।[१४] मेधातिथि ने 'मनु' के नाम के स्थान पर 'पद' बताया है। इस प्रकार की परम्परा चलने से सम्प्रदाय अविच्छिन्न रहता है। वर्तमान मनु को अग्नि, इन्द्र, वायु आदि देवताओ का रूप एव उनकी स्मृति को वेद पर आधारित बताया है।[१५] अतएव मनु से विपरीत किसी स्मृति का प्रमाण नही।[१६]

---

[९] अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मतः।
मिथुनानां विसर्गादौ मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्॥ (निरुक्त ३।४)।

[१०] सह देवमनुष्या अस्मिंल्लोके पुरा बभूवुः। अथ देवाः कर्मभिर्दिवं जग्मुरहीयन्त मनुष्याः। तेषु ये कर्माण्यभिरमन्ते सह देवैर्ब्रह्मणा चामुष्मिन् लोके भवन्ति। अथैतन्मनुः श्राद्धशब्दं कर्म च प्रोवाच प्रजानिःश्रेयसं च। आ० ध० सू० २।१६।१।

[११] त्रीणि प्रथमान्यनिर्देश्यानि मनुः। गौ० ध० सू० २१।८।

[१२] बौ० २।३।२, आप० २।१४।११।

[१३] बौ० ४।१।१३ तुलनीय : मनु० ६।६०-६१।

[१४] मत्स्य पुराण, अ० १४५।

[१५] मनु० २।७; ७।४२; १२।१२५।

[१६] वेद प्रतिबद्धत्वात् प्रामाण्यं तु मनोः स्मृतम्।
मन्वर्थविपरीता तु या स्मृतिः सा न शस्यते। बृहस्पति स्मृति : गाय ८५ संस्कार १३।

कल्प, मन्वन्तर एव युग के साथ नैतिकता के नियमो मे भी परिवर्तन होता आया है। प्रारम्भ मे तप, उसके बाद ज्ञान, पुन यज्ञ और अन्तिम युग मे दान की नैतिकता की प्रधानता मानी गयी। स्मृतियो मे विभिन्न विधियो के होने मे युगान्तर-विषय कारण रहा है। इस प्रकार का सकलन अपने वर्त्तमान युग के लिए 'कलिवर्ज्य' है। 'स्मृत्यर्थ सार' मे आयी हुई धारणा का मूल महाभारत और मनुस्मृति है। काल-भेद से शक्ति मे भेद हो जाता है। अतएव दान, भक्ति, यज्ञ एव प्रायश्चित्त मे प्रतिनिधि की व्यवस्था मानी गयी। कुछ ऐसे अवसर एव कार्य है जिनमे प्रतिनिधि नही माना गया। कुछ का कलियुग मे शक्तिहीनता के कारण निषेध कर दिया गया। तप एव प्रायश्चित्त मे शूद्रो के लिए सरल विधान किये गये और फल मे वे द्विजातियो के समान माने गये। लेकिन बिना युगभेद के मनु ने शूद्रो को विशेष नियम मे बाँध दिया। उन्हे ऐसे नियमो के साथ रखा गया, जिन्हे देखकर कहा जा सकता है कि शूद्रो को प्राचीन भारतीय विधि-सहिता मे कोई स्थान ही नही। द्विजातियों के लिए कुछ क्षेत्रो मे जाने का निषेध है, किन्तु शूद्र किसी भी स्थान पर जा सकता है।[१७] शूद्र को कोई पातक नही और उसे सस्कार की अपेक्षा भी नही। उसका अधिकार भी धर्म मे नही।[१८] युगभेद से द्विजातियो के आचारो मे इस प्रकार के परिवर्तन आये कि समाज के उस काल के द्विजातियो पर विमर्श होने लगा। शूद्र तो केवल दान से शुद्ध हो जाता है।[१९] नियोग की वैदिक विधि का मनु ने घोर विरोध किया और उसे पशु-धर्म बताया।[२०] इस निषेध मे तप आदि की शक्ति-हीनता को बृहस्पति ने कारण बताया है।[२१]

परम्परावादी भारतीयों के अनुसार वेद ज्ञानमय एव विद्याओ का मूल है। उसमे शका व्यक्त करना नास्तिकता है और उसे सामाजिक अधिकार भी नही मिलते। उन्हे 'वेदबाह्य', 'वेद-निन्दक' और 'नास्तिक' कहा जाता रहा। पुराण, इतिहास और स्मृतियाँ वेद की परम्परा का विकास करती है। मनु सर्वज्ञ (सर्वज्ञानमयो हि स) थे, अतएव उन्होने अपनी स्मृति मे स्थापित सभी विधियो को वेद पर ही आधारित किया। अतएव मनुस्मृति ब्राह्मणो एव उनके शिष्यो को पढ़ना चाहिए।[२२] स्मृति पढनेवाला ही विद्वान् एव शसित व्रत माना जाता है।[२३] मनुस्मृति के ही आधार पर जीवन-यापन करने से पितर भी मुक्त होते है और स्वय का लौकिक एव पारलौकिक कल्याण होता है।[२४] मनु के अनुसार वेद-शास्त्रविद् से ही सेनापतित्व, राज्य एव दण्डनेतृत्व तथा सर्वलोकाधिपत्य सम्भव है।[२५]

---

[१७] शूद्रस्तु यस्मिन् कस्मिन् वा निवसेद् वृत्तिकर्शितः। मनु० २।२४।

[१८] न शूद्रे पातकं किंचिन्न च संस्कारमर्हति।
नास्याधिकारो धर्मेऽस्ति न धर्मे प्रतिषेधनम्। मनु० १०।१२६।

[१९] शूद्राणां नोपवासः स्यात् शूद्रो दानेन शुध्यति। चरा० ६।५१।

[२०] मनु० ६।६४, ६६–६८।

[२१] बृहस्पति व्यवस्था २५।१६-१७।

[२२] विदुषा ब्राह्मणेष्वेदमध्येतव्यं प्रयत्नतः।
शिष्येभ्यश्च प्रवक्तव्यं सम्यङ्मान्येन केनचित्॥ १।१०३।

[२३] इदं शास्त्रमधीयानो ब्राह्मणः शंसितव्रतः। १।१०४।

[२४] मनु० १।१०५।

[२५] सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति॥ १२।१००

वेदो से सूत्रकाल तक ब्राह्मणो मे उक्त कार्यो की योग्यता एव अधिकार नही माना गया। आपत्काल मे शस्त्र उठाने की इतस्तत परवर्ती काल मे उक्ति चलती रही। उसे वैधानिक रूप भी दिया गया, किन्तु मनु ने यह नयी घोषणा वेद पर कैसे आधारित की, इस पर टीकाकार ध्यान नही देते। स्पष्ट है कि मनुस्मृति का यह सस्करण सेनापति पुष्यमित्र का समर्थन कर रहा है।

मनुस्मृति के संस्करण

मनुस्मृति के वर्तमान सस्करण मे १२ अध्याय और २६६ श्लोक है। यह सभी स्मृतियो से विशाल है। प्रथम अध्याय मे वर्ण्य विषय का निर्देश दिया गया है।[२६] विषय-निर्देश[२७] की परम्परा अति प्राचीन नही है। मेधातिथि आदि के काल, बृहस्पति-स्मृति मे मनु पर विचार आदि से मनुस्मृति सातवी शताब्दी मे व्यवहार मे थी, इस प्रकार का अनुमान होता है।[२८] मनुस्मृति मे स्वय उल्लिखित परम्परा से ज्ञात होता है कि वह स्वायम्भुव मनु से प्रारम्भ होती है। वे उसे ब्रह्मा से उपदेश रूप मे प्राप्त करते है। स्वायम्भुव मनु ने दस ऋषियो को उसका उपदेश किया, क्योकि वे सृष्टि-निर्माण कर रहे थे (१।३५,३६)। मनु ने स्वय शास्त्र का निर्माण किया और उसे मानसपुत्र भृगु को प्रदान किया (५।१-३।, १२।१-२)। उन्होने मनु के भावो को ७ अध्यायो मे सगृहीत किया।[२९] कुछ मे उपलब्ध श्लोक के आधार पर कहा जाता है कि वर्तमान मनुस्मृति परम्परा से सम्पादित एव सम्बधित है।[३०] वर्तमान स्मृति का तृतीय या चतुर्थ सस्करण होते हुए भी इसे मूल वेद से सम्बद्ध रखने के प्रयास से इसकी प्रामाणिकता कही जाती है। परम्परावादी धारणावाले इस वर्तमान मनुस्मृति मे प्रतिपादित उन अशो पर ध्यान नही देते जिनका सम्बन्ध वेदो से नही है। उन्हें लुप्त श्रुति का स्मरण मानने से समस्या नही सुलझती।

मनुस्मृति की मान्यता और रचनाकाल

परम्परावादियो के अनुसार मनुस्मृति वेद के समान ही प्रमाण है। वेद मे मनु के विधान का उल्लेख ही नही, उसके पालन का विवरण मिलता है।[३१] उस काल (अनादि) से आज तक की स्मृति एक ही है। लेकिन उपलब्ध स्मृति में 'मनु द्वारा कहा' (मनुराह, मनुरवदीत्, मनुरनुशासनम्) जैसे उद्धरण इस तथ्य के प्रतिकूल है।[३२] वस्तुत. मनुस्मृति के विभिन्न सस्करणो का उल्लेख स्वय पुराण एव टीका-ग्रंथ करते है।[३३] भृगु, नारद, बृहस्पति और आगिरस ने मनुस्मृति को सक्षिप्त किया।

---

[२६] मनु० १।१११-११८।

[२७] कौटिल्य अर्थशास्त्र के पूर्व इसका व्यवहार प्रायः नहीं मिलता। निबन्ध-ग्रन्थो में अवश्य इसका बाहुल्य प्रयोग हुआ।

[२८] पी. वी. काणे : हिस्ट्री ऑव धर्मशास्त्र, जिल्द १ पृष्ठ १५०।

[२९] मनु० ३।२२२।, ४।१०३।, ५।४१, १३१।, ५।५६।, ८।१२४, ८।१३६, ८।१६८, २०४, २४२। २७६, २९२, और ३३६, ९।१५८, १८२, २३६, १०।६, ७८।

[३०] स्वायम्भुवे नमस्कृत्य ब्रह्मणेऽमिततेजसे। मनुप्रणीतान् विविधान् धर्मान् वक्ष्यामि शाश्वतान्।

[३१] मानपथः पित्र्यान्मानववादिधि दूरं नैष्ट परावतः। ऋ० ८।३०।३।

[३२] मनु० ९।१४५।, १०।७८।, ८।१३९।, २७९।, ९।२३९।

[३३] मनु० १।५८ पर मेधातिथि। दानखण्ड पृष्ठ ५२८, संस्कार-मयूख पृष्ठ २ में उद्धृत भविष्य-पुराण का वचन।

स्वायम्भुव के नाम से विश्वरूप ने जिन वचनो का उद्धरण किया है वे वर्तमान मनुस्मृति मे नही मिलते ।[३४] इसी प्रकार अपरार्क के उद्धरण भी मनुस्मृति मे नही मिलते । तात्पर्य यह कि कुछ शताब्दियो मे इतना बडा पाठभेद हो गया, तो फिर सनातनी परम्परा से अनादिकालीन वेद मे उपलब्ध स्मृति का पाठ आज तक कैसे मिल सकता है ?

मनुस्मृति की रचना एव उसका काल निर्धारित करना सरल नही है। ऋग्वेद के मनु से वर्तमान स्मृति का कोई सम्वन्ध नही। तथाकथित मानवधर्म-सूत्र और मनुस्मृति मे भी सम्वन्ध नही है। मानवगृह्य-सूत्र और मनुस्मृति मे भी भिन्नता एव विरोध है ।[३५] डाक्टर कैलेड के अनुसार श्राद्धकल्प और मनुस्मृति के एक श्लोक की समानता है, किन्तु शव-सस्कार के कोई भी श्लोक समान नही हैं। ब्रैडक भी इस प्रकार की तुलनात्मक व्याख्या प्रस्तुत करते है। महाभारत मे मनु को धर्मशास्त्र और मनु प्राचेतस को अर्थशास्त्र, राजशास्त्र, राजधर्म एव अर्थविद्या का प्रतिष्ठापक कहा गया है। कौटिल्य[३६] के मनु का मनुस्मृति मे कोई भी विचार नही मिलता। वे स्वायम्भुव से भिन्न अर्थशास्त्र के मनु हैं। विलक्षणता यह है कि 'मानवा.' के नाम से प्रस्तुत विचार मनुस्मृति मे नही हैं; किन्तु कौटिल्य मे मनुस्मृति के वाक्य के वाक्य हैं ।[३७] मनु ने जिस साहित्य का उल्लेख किया वे कालविशेष के हैं। उनमे एव उद्धरणो मे अन्तर के साथ उनसे मनु के काल पर प्रकाश पडता है। वे ३ वेद और अथर्ववेद को अथर्वागिरस श्रुति के रूप मे उद्धृत करते हैं ।[३८] वे स्वय केचित् अपरे, अन्ये का उदाहरण अरुचि से देते हैं ।[३९] फलत कहा जा सकता है कि मनुस्मृति अपने से पूर्व काल की परम्परा का खण्डन भी करती है।

विपुल प्रमाण इसके लिए उपलब्ध है कि मनुस्मृति का परम्परावादियों के अनुसार माने गये काल के साथ समन्वय नही है। मनुस्मृति में वेद, वेदाग, धर्मशास्त्र (स्मृति २।१०), वेद के खिल, आरण्यक, धर्मशास्त्रों का उल्लेख, आख्यान, इतिहास और पुराणो के उद्धरण है। मीमासक, निरुक्त (Etymology), धर्मपाठक, हेतुक (Logician) का नाम परिषद् निर्माण करनेवालो में आता है ।[४०] अग्नि, गौतम, शौनक और भृगु के विचारों से शूद्र से विवाह करनेवाला ब्राह्मण जाति-

---

[३४] याज्ञ० २।७३।, ७४, ८३, ८५।, ११।८७, २५२ पर विश्वरूप ।

[३५] मानव० गृ० सू० २।१२।१–२। मनु० ३।१।, मा० गृ० सू० १।४।७ मनु० ४।९५।, मा० गृ० सू० १।१२८।१ मनु० २।३४।, मा० गृ० सू० १।२१।१ । मनु० २।३५। मा० गृ० सू० १।२२।१। मनु० २।३६ ।, मान० गृ० स० २।१२।१-२ । मनु० ३।८४-८६ आदि ।

[३६] शान्तिपर्व २१।१२।, ५७।४३।, ५८।२।

[३७] अलब्धलाभार्था कौ० १।४। अलब्धमिच्छेद्दण्डेन—मनु० ७।१०१।, तस्माल्लोकयात्रार्थी नित्यमुद्यतदण्डः स्यात्—कौ० १।४ । नित्यमुद्यतदण्डः स्यात्—मनु० ७।१६२।, असभाष्ये देशे साक्षिभिर्मिथः संभाषते—कौ० ३।१, असभाष्ये साक्षिभिश्च देशे संभाषते मिथः—मनु० ८।५५।, साहसमन्वयत् प्रसभकर्म—कौ० ३।१७। स्यात्साहसं त्वन्ववयत् प्रसन्नं कर्म यत् कृतम्—मनु० ८।३३२ ।

[३८] मनु० ११।३३ ।

[३९] मनु० ३।२६, १०।७०, ९।३२ ।

[४०] मनु० १२।१११

बहिष्कृत कर दिया जाता है।[४१] वैखानस का भी उद्धरण दिया गया है।[४२] सूद में वसिष्ठ के मत का उद्धरण आता है।[४३] अवैदिक सम्प्रदायो या सगठनो का उल्लेख और उनके लिए निषेध प्रस्तुत किया गया है।[४४] स्पष्टतया इन्हे वेदबाह्य कहा गया है।[४५] नास्तिक और नास्तिक्य का उल्लेख हुआ है।[४६] नास्तिकाक्रान्त राष्ट्र तथा नास्तिक ब्राह्मण का वर्णन आया है।[४७] वेद-निन्दको के साथ ही वेद-वाह्य स्मृतियों का अस्तित्व भी मनु के समय मे था।[४८] पुत्र पर पिता के अधिकार के समय विभिन्न मतों के आधार पर विमर्श किया गया है।[४९] सृष्टि के आदि मे यदि मनुस्मृति का प्रणयन या स्मरण किया गया तो क्या इन तत्वों एव सगठनो का अस्तित्व था? ऋतम्भरा प्रज्ञा से श्रेय एवं प्रेय का भावी ज्ञान उन्हे था? यह धारणा तथ्यहीन है। इस आधार पर इन समस्याओ का अध्ययन नही किया जा सकता। मेधातिथि आदि ने मनु को 'सर्वज्ञानमय' के स्थान पर 'पुरुष-विशष' ही माना है।[५०]

स्वायम्भुव मनु को स्मृति की परम्परा मे ब्रह्मा के विधान से लगाया जाता है।[५१] वर्तमान मनुस्मृति के मनु के सामने समस्या अवैदिक समाजो एव सम्प्रदायो से वैदिक परम्परा एव समाज की सुरक्षा की थी। अतएव उन्होने अपने मत को दैवी उत्पत्ति से जोड दिया। विभिन्न विचार-धाराओ मे परस्पर सम्मिश्रण हो रहा था। अतएव सदाचार, परम्परा एव विधि पर भी उसका प्रभाव पड रहा था। एकात्मकता के लिए दैवी-विधान का आश्रय लेना आवश्यक था, क्योकि दैवी-विधान ही आवश्यक एव सार्वभौम हो सकता था। वर्तमान समाज की पृष्ठभूमि मे स्मृति का तात्पर्य लगाने के लिए न्याय, युक्ति एव परिषद् को आधार माना गया और उन्ही से शास्त्र का अर्थ उपलब्ध हो सकता था।

मनु, भृगु आदि की परम्परा से मूलस्मृति का नया रूप सामने आता रहा। नियोग,[५२] ब्राह्मण-शूद्रा-विवाह[५३], विभिन्न वर्णों के अनुसार विवाह के भेद[५४] मास-भक्षण,[५५] आचार्य और पिता का

---

[४१] मनु० ३।१६।

[४२] मनु०—वैश्वानरमते स्थितः ६।२१।

[४३] मनु० ८।१४०।

[४४] पाखण्डिनो विकर्मस्थान् तथा हेतुकान् बकवृत्तींश्च वाङमात्रेणापि नार्चयेत्। मनु० ४।३०।

[४५] ये वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः। १२।९५; ४।६१; ५।८९-९० ९।२२५; ११।६६; १२।९५-९६।

[४६] २।२, ४।१६३; ११।६६; ८।२२।

[४७] ३।५, २।११; ३।१६१।

[४८] १२।९५।

[४९] १०।८०-८२।

[५०] मनुर्नाम कश्चित्पुरुषविशेषः १।१।

[५१] वात्स्यायन कामसूत्र, १।१।५-५८, नारदस्मृति (सम्पा० जॉली) १८८० पृ० १-३, भविष्यपुराण उद्धृत हेमाद्रि पृष्ठ ५२८।

[५२] ९।५९-६३, ११।६४-६९।

[५३] ३।१२-१३।

[५४] ३।२३-२६।

[५५] ५।२७-५६।

स्तर-निर्धारण एव भृगु की उत्पत्ति[५६] के चित्रण से मनुस्मृति की आधुनिकता स्पष्ट हो जाती है। इसमे परस्पर असगतियाँ विभिन्न काल के सम्पादन की असावधानी से विद्यमान है। परम्परा के अनुसार इसमे विभिन्न मतो का सकलन भी होता रहा।[५७] बूलर के अनुसार वर्तमान स्मृति मे आधा अश प्रक्षिप्त है और मनुस्मृति उसी सूत्र से ली गयी है, जिससे विष्णुस्मृति। कुछ अश प्रत्यक्षत पौराणिक ढग के है अत. उनका सम्बन्ध स्मृति से नही होना चाहिए। इन दो उक्तियो के आधार पर बूलर के विचारो का प्रासाद खडा होता है, जिसे अब विद्वान् मानने के लिए प्रस्तुत-नही।[५८]

कल्पसूत्र की अपेक्षा मनुसहिता का क्षेत्र व्यापक है। दोनो के विषय में पूर्ण समानता नही है। स्मृति मे लेखक का व्यक्तित्व स्पष्ट ही पृथक् है। याज्ञवल्क्य-स्मृति मनु की अपेक्षा योग पर अधिक ध्यान देती है। उसकी भाषा मे भी अन्तर है, लेकिन इसका तात्पर्य यह नही कि दोनो के विकास-क्रम की कडी जुडी है। दोनो मे भेद वर्णन के उद्देश्य से है। उद्देश्य के अनुसार वर्णन-पद्धति मे भेद आ ही जाता है। बृहस्पति, नारद एव कात्यायन की वर्णन-शैली की भिन्नता के आधार पर यह निष्कर्ष निकालना कि वे मनु और विष्णु के बाद उस काल मे लिखी गयी जब वैधानिक विकास हो चुका रहता है, कुछ मूल तथ्यो की अवहेलना करना है। इस प्रकार के मत प्रस्तुत करनेवाले स्वय मनु एव विष्णु मे आधुनिक विचार प्रस्तुत करते है। वास्तविकता यह है कि उत्तर-वर्त्ती काल के लेखक वैयक्तिक अनुभव, आत्मप्रेरणा आदि की अपेक्षा पूर्ववर्ती विधि-सहिता के साथ अपने युग की समस्या एव उसका समाधान कर विधिरूप मे अपने विचार प्रस्तुत कर देते है। इसमे उन्हे पूर्ववर्त्ती स्मृतिकारो से साराश बनाने मे सुविधा रहती है। याज्ञवल्क्य और कौटिल्य अर्थशास्त्र मे तुलना करने पर सैद्धान्तिक मतभेद नही प्रस्तुत होगा, केवल वर्णन के प्रकार एवं उद्देश्य मे भेद होगा। भारत मे सास्कृतिक बिखराव, लोकाचार एव जात्याचार के सम्मिश्रण से नयी स्थितियाँ उत्पन्न होती रही। उनमे समन्वय करने से सामान्य नवीनता आयी, किन्तु उससे नैतिकता एव सदाचार के नियमो मे मतभेद नही उत्पन्न हुआ। यह नही भूलना चाहिए कि यदि सभी स्मृतियाँ एक ही बात कहती जायँ, तो उनके पृथक् निर्माण की आवश्यकता ही क्या? नयी स्मृतियो के निर्माण मे नयी विधि की स्थापना करना उद्देश्य नही रहा। उनका उद्देश्य यही रहा कि पूर्ववर्ती स्मृतियो मे स्थापित सिद्धान्तो को युग की स्थिति में स्पष्ट किया जाय।

आधुनिक मत

बूलर ने अर्थशास्त्र के प्रकाशन के पूर्व निष्कर्ष प्रस्तुत किया था। उन्हे यदि अर्थशास्त्र के प्रकाशन का ज्ञान होता तो वे अवश्य अपने निष्कर्षो मे सशोधन करते। बूलर मनु मे उपस्थित प्रक्रिया (Procedure) के आधार पर कहते है कि 'मनु प्रक्रिया मे वास्तविकता एव व्याव-हारिकता के स्थान पर नैतिकता पर अधिक जोर देते है। प्रक्रिया के अशो का विकास याज्ञवल्क्य और नारद मे होता है।' वस्तुत. यह उद्देश्य के आधार पर अन्तर ज्ञात होता है, विकास और स्तरभेद पर नही। बूलर मनु का काल अधिक से अधिक १०० ई० पू० मानने को तैयार है।

---

[५६] १।३५, ६।३२-५६।

[५७] **हिस्ट्री ऑव धर्मशास्त्र। जि० १ पृष्ठ १४८-५१।**

[५८] **के० बी० रंगस्वामी आयंगर : आस्पेक्ट्स ऑव सोशल ऐण्ड पोलिटिकल सिस्टम ऑव मनुस्मृति, पृष्ठ ५४।**

क्या यह माना जा सकता है कि उस समय या उससे पूर्व प्रक्रिया का विकास या प्रयोग भारत में नही था ? याज्ञवल्क्य एव नारद की भी प्रक्रिया मे नैतिक अशो का परित्याग नही किया गया।

धर्मसूत्र और मनुस्मृति के काल मे भेद होने से उनके उद्देश्य मे भी भेद हो जाता है। धर्मसूत्र के सामने वे समस्याएँ नही थी, जो मनु के समय मे वैदिक समाज का ध्वस कर रही थी। धर्मसूत्र शिष्यो के माध्यम से सामने आते है और स्मृतियो मे विधि की उद्घोषणा होती है। मनु के सामने वैदिक विधि, परम्परा एव सामाजिक मान्यता मे अविश्वास करनेवालो की समस्या थी। राष्ट्र 'शूद्रभूयिष्ठ' एव 'नास्तिकाक्रान्त' हो रहे थे।[५९] वेद एव स्मृति की पवित्रता भग की जा रही थी। परम्परा से प्राप्त विधि के प्रसग मे मनु ने सामाजिक स्थिति का समन्वय किया। परिषदो मे तार्किको की सदस्यता आवश्यक समझी, जिससे समाज की स्थिति मे अनुकूल विधि की वास्तविक व्याख्या हो सके।[६०] 'न्याय' को प्रमाण माना।[६१] इस नयी स्थिति के लिए प्रस्तुत विधि के पीछे दैवी सम्पर्क भी लगा दिया गया।

मनुस्मृति के काल पर प्रकाश डालने के लिए कुछ अन्तर-बाह्य साक्षियाँ है जिन पर ध्यान देना आवश्यक है। मेधातिथि (९वी शती) एव विश्वरूप ने मनुस्मृति का जो स्वरूप दिया है वह आज भी उपलब्ध है। शकराचार्य ने वेदान्तसूत्र मे मनु का उद्धरण दिया है।[६२] बृहदारण्यक उपनिषद् मे मनु का मत मिलता है।[६३] वे मनु को 'शिष्ट' मानते है।[६४] तन्त्रवार्तिक मे कुमारिल मनु को गौतम से उच्च स्थान देते है। मृच्छकटिक मे मनु के आदेश पर निर्णय होता है।[६५] पाँचवी शती के आसपास के वल्लभी आदि शिलालेखो मे मनु का उल्लेख है।[६६] बृहस्पति ने मनु के लिए लिखा है कि वेद से अधिक निकट होने से मनु का सर्वाधिक प्रामाण्य है।[६७] बृहस्पति ने विभिन्न स्थानो पर मनु का उद्धरण दिया है। एक स्थान पर उनका विरोध भी किया है।[६८] भृगु का मनुस्मृति से सम्बन्ध बृहस्पति को भी ज्ञात था[६९]। अश्वघोष के वज्रसूची मे मनु का उद्धरण है। रामायण भी मनु

---

[५९] यद्राष्ट्रं शूद्रभूयिष्ठं नास्तिकाक्रान्तमद्विजम्। विनश्यत्याशु तत्कृत्स्नं दुर्भिक्षव्याधिपीडितम्॥ मनु० ८।२२।

[६०] मनु० १२।१११।

[६१] मनु० १२।१०५।

[६२] वेदान्तसूत्र १।३।२८; ४।२।६; ३।४।३८; १।३।३६; २।१।११ में क्रमशः मनु० १।५,२१। १।२७; २।८७; १०।४, १२६; १२।९१, १०५-६ का उद्धरण है।

[६३] बृ० उ० १।४।१७ पर 'मानवे च सर्वाः प्रवृत्तिर्कर्महेतुक्येवेति'।

[६४] वेदान्तसूत्र ३।१।१४

[६५] मृच्छ० ९।३९

[६६] ए० इं० जिल्द ८, पृष्ठ ३०३, जिल्द ४, पृ० १०५।

[६७] वेदार्थोपनिबन्धृत्वात्प्राधान्यं तु मनुस्मृतौ। मन्वर्थं विपरीता या स्मृति सा न प्रशस्यते॥ तावच्छास्त्राणि शोभन्ते तर्कव्याकरणानि च। धर्मार्थमोक्षोपदेष्टा मनुर्यावन्न दृश्यते॥ मनु० १।१ पर कुल्लूक द्वारा उद्धृत बृहस्पति वचन।

[६८] याज्ञ० २।११९ पर अपरार्क द्वारा उद्धृत।

[६९] विवाद रत्नाकर पृ० १००।

का उद्धरण देता है।[७०] महाभाष्य मे भी मनु का वचन मिलता है।[७१] इन उद्धरणो से इतना तो सिद्ध होता है कि द्वितीय शताब्दी तक के ग्रन्थो मे मनुस्मृति का उद्धरण दिया गया है।

मनुस्मृति मे परस्पर विरोधी मत भी है। ब्राह्मण को शूद्रा के साथ विवाह का विधान[७२] और निषेध[७३] दोनो है। एक स्थान पर नियोग का समर्थन है[७४] और दूसरे स्थान पर उसे पशु-धर्म कहा गया है।[७५] श्राद्ध एव मधुपर्क मे मॉस का विधान[७६] और सर्वत्र मॉस-प्रयोग का निषेध है।[७७] एक श्लोक मे पिता आचार्य से श्रेष्ठ और दूसरे मे आचार्य पिता से श्रेष्ठ कहा गया है।[७८] भृगु को अग्नि से उत्पन्न और स्वायम्भुव मनु से भी उत्पन्न माना है। इन आधारो पर कहा जाता है कि मनुस्मृति के विभिन्न सस्करण हुए और उनपर देश, काल एव परिस्थिति का प्रभाव पडा। लेकिन इस प्रकार के सस्करण तीसरी शती तक हो चुके थे। वर्तमान स्मृति मनु की अपेक्षा भृगु से अधिक सम्बद्ध है। नारद और बृहस्पति स्मृतियाँ मनुस्मृति पर निर्भर करती है, यद्यपि उनमे भी परिवर्तन हुआ। तीसरी शताब्दी के बाद भी मनुस्मृति के मूल मे परिवर्तन की बात तथ्य की अपेक्षा करती है। यह कहना कि विश्वरूप आदि के उद्धरण वर्तमान मनुस्मृति मे नही मिलने यह उनकी स्मरण-शक्ति एव उद्धरण की शैली पर निर्भर करता है। वह भी शिलालेख मे मनु का वचन जिस रूप मे दिया गया है, वह वर्तमान मनुस्मृति मे नही है। क्या इससे यह कहा जा सकता है कि वर्तमान मनुस्मृति का रूप ७वी शती तक भी नही स्थिर हो सका था?

अन्त साक्ष्य की भी कुछ बातें विचारणीय है। याज्ञवल्क्य स्मृति की अपेक्षा मनु की प्रक्रिया और वैधानिक शब्दावलियाँ अव्यवस्थित है। अतएव मनुस्मृति को तीसरी शती से पूर्व का ही माना जा सकता है, लेकिन बहुत पूर्व नही। मेड, आन्ध्र, पौण्ड्, चौण्ड्, द्रविड, काम्बोज, यवन, शक, पारद, पह्लव, चीन, किरात, दरद और खश आदि तीसरी शती के आसपास के है जिनका वैधानिक समाधान मनुस्मृति मे मिलता है।[७९] अतएव ईसा से तीसरी शताब्दी से आगे उसका काल नही जाता। सेनापति का उल्लेख सेनापति पुष्यमित्र की ओर सकेत करता है।[८०] धर्मसूत्रो से मनुस्मृति की भाषा नवीन है। इन आधारो पर बूलर इस निष्कर्ष पर आते है कि ईसा से २०० वर्ष पूर्व से ईसा से २०० वर्ष बाद के बीच मे मनुस्मृति का सम्पादन सम्पन्न हुआ; लेकिन यह वर्तमान स्मृति के सम्बन्ध मे है। जिस स्मृति का सम्पादन सम्पन्न हुआ उसका सम्बन्ध महाभारत से है।

---

[७०] **रामायण किष्कि० १८।३०–३२।**

[७१] **महाभाष्य ३ पृष्ठ ५८। उद्योग ३८।१।**

[७२] **मनु० ३।१२–१३।**

[७३] **मनु० ३।१४–१९।**

[७४] **मनु० ९।५९–६३।**

[७५] **मनु० ९।६४–६९।**

[७६] **मनु० ५।३१–३२, ३५, ३९, ४१।**

[७७] **मनु० ५।४८–५०।**

[७८] **मनु० २।१४५।**

[७९] **मनु० १०।४४, ४८।**

[८०] **जायसवाल, कलकत्ता वीकली, जिल्द १५।**

वी० एन० माण्डलिक के अनुसार मनुस्मृति महाभारत से ली गयी है।[८१] बूलर यह मत स्वीकार करते हुए लिखते हैं कि महाभारत के १२वे एव १३वे पर्व मे मानव-धर्मशास्त्र का उल्लेख है। उसका सम्बन्ध मनुस्मृति से हो सकता है, किन्तु वह इससे अभिन्न नही है। लेकिन वे स्वय आगे मानते हैं कि महाभारतकार धर्मसूत्र जानते थे।[८२] हाप्किंस 'मनुराह' एव 'मनुरब्रवीत्' आदि के आधार पर मानते हैं वैदिक मनु के दार्शनिक विचार महाभारत और मनुस्मृति मे उल्लिखित हैं। उन दार्शनिक भागो को दो ग्रन्थो ने व्यवस्थित ग्रन्थ से नही लिया। अतएव परस्पर असमन्वय और बिखराव है।[८३] इन विचारको ने कुछ बातो पर ध्यान नही दिया। महाभारत मे मनुस्मृति का उल्लेख नही; किन्तु मनुस्मृति मे इतिहास (बहुवचन) का उल्लेख है।[८४] मनुस्मृति मे आये ऐतिहासिक सकेतो मे महाभारत का भी अश है। आगिरस, अगस्त्य, वेन, नहुष, सुदास, निमि, पृथु, मनु, कुबेर, वसिष्ठ, वत्स, अक्षमा, शार्ङ्गी, दक्ष, अजीगर्त, वामदेव, भारद्वाज, विश्वामित्र, पृथु आदि इसके प्रमाण हैं।[८५] इनमें वशिष्ठ, अजीगर्त एव आगीरस का जिस सन्दर्भ मे उल्लेख है, उनका सम्बन्ध वेदो से है।[८६] अन्य व्याख्यान भी महाभारत से पूर्ववर्त्ती हैं। द्यूत आदि का सम्बन्ध भी वेदो से है।[८७] ऋग्वेद की ऋचा को महाभारत ज्यो का त्यो लेता है।[८८] बूलर इन तथ्यो पर पर्दा डालते हैं। महाभारत मे स्वय 'मनुरब्रवीत्' 'मनु का राजधर्म' आदि कहा है। बूलर वन, अनुशासन एव शान्ति पर्व के २६० श्लोक मनुस्मृति मे पाते हैं। अन्यत्र भी सैकडो श्लोक मनुस्मृति के महाभारत मे विद्यमान हैं। हार्प्किस मानते हैं कि अनुशासनपर्व एक मनुस्मृति का सकेत देता है जो आज की मनुस्मृति से भिन्न नही है। बूलर भी स्वीकार करते है, किन्तु उसका नामकरण मानव-धर्मशास्त्र कर देते हैं।

अनुशासन पर्व स्पष्ट 'मनु से अभिहित शास्त्र' का उल्लेख करता है।[८९] मनु से 'गाये हुए' दो श्लोको का उद्धरण भी शान्तिपर्व मे है।[९०] प्राचेतस मनु के राजधर्म के श्लोक का भी उद्धरण है।[९१] मनु, प्राचेतस मनु, एवं स्वायभुव मनु की अर्थविद्या, राजधर्म और अनुशासन अनेक स्थानो पर आया है।[९२] हार्प्किस की धारणा है कि अनुशासन पर्व ही मनुस्मृति को जानता था, अन्यत्र

[८१] व्यवहार मयूख की भूमिका।

[८२] सेक्रेड बुक्स ऑव दि ईस्ट, जिल्द २५।

[८३] ग्रेट एपिक्स ऑव इण्डिया, पृष्ठ २१-२२।

[८४] मनु० ३।२३२।

[८५] मनु० २।१५१-५२; ५।२२; ७।४१-४२; ८।११०,११६; ९।२३; ९।१२८-१२९; १०।१०५-१०८; ९।४४, ३१४।

[८६] ऋग्वेद ७।१०४।१५, बृहद्देवता ६।३२-३४, ऐ० ब्रा० ७।१६, ताण्ड्य महाब्रा० १३।३।२४।

[८७] ऋ० १०।३४।

[८८] उद्योग० ३७।१९।

[८९] मनुनाभिहितं शास्त्रं यच्चापि कुरुनन्दन। अनु० ४७।३५।

[९०] शान्ति० ५६।२३-२५।

[९१] शान्ति० ५७।४३-४५।

[९२] महाभारत, द्रोण० ७।१, शान्ति० २१।१२; ७८।३१; ८८।१४, १६; १२१।१०, १२; १५२।३०; २४६।५; अनुशासन० ११४।१२; ४४।१८, २३; ६५।१, ३; ६७।१९; ६८।३१; ८८।४; ११५।५२-५३; वन० १८०।३४-३५; ३२।३९; आदिपर्व ७३।९; १२०।३२-३६; ४१।३१; ७४।३९। उद्योग० ३७।१-६; ४०।९-१०।

वैदिक मनु से ही सम्बन्ध है। काणे हाप्किंस का उत्तर देते हुए लिखते हैं कि मनु के राजधर्म एव अर्थविद्या का उल्लेख अन्यत्र भी हुआ है।[९३] हमने पीछे दिखाया है कि मनुस्मृति से महाभारत मे आये हुए मनु के राजधर्म एव अर्थविद्या मे कोई सम्बन्ध नही। कौटिल्य ने मानव-अर्थशास्त्र के जितने उद्धरण दिये हैं या उनके विचार मनुस्मृति-सम्मत नही हैं। बूलर मानवधर्मसूत्र को ही महाभारत का प्रतिपाद्य मानते हैं। लेकिन महाभारत मे विभिन्न धर्मशास्त्रकारो का उल्लेख होते हुए[९४] भी मनु को धर्मसूत्रकार के रूप मे कही नही कहा गया। एक स्थान पर सूत्रकार का नाम न देते हुए भी सूत्रकार का वचन अनुशासन पर्व मे आया है और वह भाव मनुस्मृति में मिलता है।[९५] आश्चर्य तो यह है कि महाभारत मे हस्तिसूत्र और अश्वसूत्र मिलते हैं,[९६] किन्तु किसी धर्मसूत्र या नीतिसूत्र का उल्लेख नही है।

उक्त तथ्यो से बूलर का मत समीचीन नही है। वस्तुत ईसा से प्राय ४०० पूर्व मानव-धर्मशास्त्र था और प्राचेतस मनु का राजधर्म। दोनो सम्बद्ध भी हो सकते हैं। महाभारत मे आया प्राचेतस वचन मनुस्मृति में है।[९७] मनुस्मृति का सम्बन्ध महाभारत से न होकर मानव-धर्मशास्त्र से है। मनुस्मृति का वर्तमान रूप २०० ई० के आसपास तक हो पाया। इसमे प्राचीन परम्परा के साथ नवीन आदर्शो का भी समन्वय किया गया। नारद के अनुसार यह कार्य सुमति भार्गव (भृगु) से हुआ। वे वृद्ध मनु और बृहन्मनु को अलग रखते हैं। यही मनुस्मृति हमारे काल तक आ सकी और उसका प्रभाव लंका, वर्मा, जावा तथा अन्य द्वीपों पर पड़ा।

---

[९३] काणे : हिस्ट्री ऑव धर्मशास्त्र, जिल्द १ पृष्ठ ५४।

[९४] शान्ति० १६७।४; २९८।४०; ३४१।७४। अनुशासन० १९।८९; ४५।१७-२०। वनपर्व २०७।८३, २९३।३५, ३१३, १०५। आदि० ३।३२, ७७।

[९५] अनृता स्त्रिय इत्येवं सूत्रकारो व्यवस्यति। अनु० १९।६, तुलनीय : निरिन्द्रिया ह्यमन्त्राश्च स्त्रियो नृतमिति। मनु० ९।१८।

[९६] सभापर्व ५।२०।

[९७] मनु० ४६।१-२। मनु० ३।५४।

मध्यकालीन तांत्रिक धर्मों का विकासस्थल

शिवकुमार शर्मा 'मानव'

उड्डीयान पीठ

स्वायभुव मन्वन्तर मे दक्षयज्ञ के विध्वस के बाद विष्णु के सुदर्शनचक्र से छिन्न होकर सती के अग जिन-जिन स्थानो पर गिरे वे स्थान 'पीठ' के नाम से प्रसिद्ध हुए। इन पीठो का वर्णन तन्त्र-ग्रन्थो को छोडकर सर्वप्रथम महाभारत मे देखने को मिलता है। उसके बाद सस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रश आदि साहित्यो मे तथा भारत की बँगला, गुजराती, मराठी, तेलगू, तमिल आदि प्रान्तीय भाषाओ मे प्राप्त होता है, परन्तु इन पीठो की सख्या के बारे मे काफी मतभेद है। देवीभागवत मे इनकी सख्या १०८ गिनायी गयी है।[१] शिवचरित्र मे ५१, देवीगीता में ७२, तन्त्रचूडामणि मे ५३, गौरीतन्त्र, विद्युल्लता आदि प्राय सभी तन्त्रो मे तथा विशेषकर मेरुतन्त्र मे मातृकापरक ५१ पीठ माने गये हैं।

वर्तमान मे तन्त्रविद् आचार्यगण महाभारत की गवाही पर तन्त्रचूडामणितन्त्र के अनुसार इक्यावन पीठ मानते हैं। इस तन्त्र मे विभिन्न पीठो से सम्बद्ध विभिन्न देवियो एव भैरवो का भी उल्लेख मिलता है। सख्या के सम्बन्ध मे कहा जा सकता है कि हस्तलिखित ग्रन्थो मे जो ह्रास-वृद्धि आदि दोष पाये जाते हैं, उसी के कारण इसमें तिरपन सख्या प्रतीत होती है। मूलत तन्त्रचूडामणि मे इक्यावन पीठ ही माने गये हैं, लेकिन 'वामगण्ड' शब्द की द्विरुक्ति अथवा प्रक्षेप से सख्या तिरपन हो गयी है।[२]

इस समय इक्यावन पीठो मे से नौ पीठ भारत के बाहर है, जिनमे से ५ पीठ पाकिस्तान मे है। प्रथम पीठ हिंगलाज मे है। हिंगलाज कराची से १० मील उत्तर-पश्चिम मे नदी के तट पर स्थित गुफा मे है। वहाँ पर ज्योति का दर्शन होता है। द्वितीय पीठ भवानीपुर मे, जहाँ वगौडा स्टेशन (पूर्वी पाकिस्तान) से जाना पडता है। अपर्णा देवी का मन्दिर है। तृतीय पीठ भी पूर्वी पाकिस्तान के शिकारपुर की सुनन्दा नदी के तट पर स्थित है, जहाँ उग्रतारा का मदिर है। पाँचवाँ स्थान चटगाँव से २४ मील दूर (सीताकुण्ड स्टेशन) चन्द्रशेखर पर्वत पर है। यह भवानी मन्दिर के नाम से प्रसिद्ध है। तिब्बत मे मानसरोवर पर दाक्षायणी गौरी का मदिर है। दो पीठ नेपाल मे है। प्रथम पीठ गुह्येश्वरी देवी के मदिर मे महामाया का स्थान है। द्वितीय पीठ गण्डकी के उद्गम-स्थान पर है जहाँ गण्डकी भैरवी का मदिर है। एक स्थान लका मे भी माना गया है, जहाँ पर इन्द्राक्षी देवी का स्थान होना चाहिए। पर इस स्थान का अभी ठीक-ठीक पता नही है। इसी तरह आठ स्थान और भी हैं जिनका बिलकुल पता नही है। कुछ स्थान ऐसे

---

[१] **देवीभागवत—७।३०।५४, ५८।**

[२] **तंत्रचूडामणि—"पञ्चाशदेक पीठानि तथा भैरवदेवताः। अङ्गप्रत्यङ्गपातेन विष्णुचक्रक्षतेन च॥"**

सदिग्ध है, जिनके बारे मे यह दावा नही किया जा सकता कि ये वे ही प्राचीन स्थान है जिनका उल्लेख शास्त्रो मे किया गया है।

कामाख्या, पूर्णगिरि, उड्डीयान और जालन्धर चार आदि पीठ माने जाते है। इनमे से उड्डीयान और पूर्णगिरि भी सदिग्ध स्थानो की तालिका मे है। साधनमाला मे वज्रयान के कामाख्या, सिरिहट्ट, पूर्णगिरि और उड्डीयान नामक चार आदि पीठो का वर्णन मिलता है।[३] इस सम्बन्ध मे नाथ और तात्रिक बौद्ध-साहित्य पर अनुसन्धान करनेवाले विद्वानो ने काफी काम किया है, पर अभी भी यह बात सदिग्ध ही है कि उड्डीयान पीठ कहाँ था? इस सम्बन्ध मे आधुनिक विद्वानो के मत निम्नलिखित है।

इन्द्रभूति को उड्डीयान का राजा माना जाता है।[४] गुरु पद्मसभव, जो शान्तिरक्षित की सहायता करने तिब्बत गये थे, इन्द्रभूति के पुत्र माने जाते है। पद्मसभव ने शान्तिरक्षित की एक बहिन से शान्तिरक्षित के ही प्राचीन देश जाहोर में शादी की थी। इन्द्रभूति ने अपने पुत्र पद्मसभव को राजद्रोह करने के कारण अपने देश से निकाल दिया था। उसी निष्कासन की अवस्था मे ही उसने शान्तिरक्षित की बहन से शादी की थी। उस जाहोर को पूर्वीय बगाल के ढाका जिले के साभार ग्राम से अभिन्न सिद्ध किया जाता है। वेडेल ने, जो स्वात घाटी के उद्यान से उड्डीयान को अभिन्न मानते है, जाहोर को आधुनिक लाहोर माना है। शान्तिरक्षित का मूल स्थान जाहोर था, जहाँ के राजवश मे वे उत्पन्न हुए थे। इसलिए यह असभव है दूसरे देश का राजा काशगढ जैसे दूर के भाग से आनेवाले घुमक्कड के साथ अपनी बहिन की शादी होने देगा। यह सम्बन्ध तभी सभव है जब उड्डीयान और जाहोर को एक दूसरे के समीप मान लिया जाय। उड्डीयान का उल्लेख कामाख्या और श्रीहट्ट के साथ होता है, जबकि ये दोनो एक दूसरे के बहुत नजदीक है। अत यह कठिनता से सभव है कि बौद्ध तत्रो मे उड्डीयान को उन दो ऐसे स्थानो से सम्बद्ध किया गया होगा, जो बहुत दूर के होगे।

पैग साम जॉग जैन के प्रमाण के आधार पर उड्डीयान ऐसा स्थान है जहाँ तात्रिक बौद्ध धर्म सबसे पहले विकसित हुआ। चौरासी सिद्धो के इतिहास मे उड्डीयान को पाँच लाख कस्बोवाला प्रदेश बताया गया है। उसे दो राज्यो मे बाँट दिया गया है। एक राज्य साभल मे इन्द्रभूति राज्य करता था, जबकि दूसरे राज्य लकापुरी मे जालेन्द्र राज्य करता था जिसके पुत्र ने इन्द्रभूति की बहिन लक्ष्मीकरा से शादी की थी। जब इन्द्रभूति से दीक्षित होकर लक्ष्मीकरा सिद्ध बन गयी तो इन्द्रभूति अपने पुत्र को राज्य देकर वन मे चला गया।

अत. उड्डीयान का निर्णय अब लकापुरी पर आधारित है जिसे कभी अमरकटक की चोटी या मध्यभारत के या आसाम के एक स्थान 'सीलोन' से अभिन्न माना जाता है। लेकिन लका को सुदूर पूर्व-पश्चिम या सुदूर उत्तर मे कभी भी नही माना गया। यदि हम आसाम मे लका को मान लें तो उड्डीयान को भी उसी प्रदेश मे मानना पडेगा, सभवत. आसाम के पश्चिम भाग में। यह अधिक सभव भी मालूम पडता है, क्योकि सिलहट और कामाख्या दोनो ही आसाम मे है, जो अभी-अभी बंगाल के भाग बन गये है। यदि लकापुरी को, जो उड्डीयान का पूरक भाग था, जैकोबी के अनुसार आसाम मे मान लिया जाय, तो उड्डीयान को भी आसाम मे मानना होगा, सभवत उसके

---

[३] साधानमाला—पृष्ठ ४५३, ४५५।

[४] ऐन इन्ट्रोडक्शन टु बुद्धिष्ट एसोटेरिज्म—डॉ० विनयतोष भट्टाचार्य, पृष्ठ ४३,४४,४५,७३,७६।

पश्चिमी भाग में, जो स्वय बगाल का एक भाग है। ऐसी स्थिति मे उड्डीयान कें बगाल मे ही होने की संभावना अधिक है।[५]

डॉ० प्रबोधचन्द्र बागची ने उपर्युक्त मत की आलोचना करते हुए लिखा है कि इस तरह डॉ० भट्टाचार्य ने कभी तो उड्डीयान को आसाम मे और कभी उडीसा मे सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।[६] यह ध्यान मे रखना चाहिए कि तिब्बत मे इस नाम के दो रूप मिलते हैं—(१) ओडियन (२) ओडिया या ओडिशा। इनमे से एक रूप तो इन्द्रभूति से सम्बद्ध है, जबकि दूसरे रूप का उनसे कोई सम्बन्ध नही है। प्रथम रूप के भी कई रूप मिलते हैं—ओडियान, उड्डीयान। सिल्वॉ लेवी ने इसे स्वात घाटी मे स्थित सिद्ध करने के लिए अनेक प्रमाण उपस्थित किये हैं।

(१) सभी चीनी स्रोतो ने, यथा फाह्यान, ह्वेन्त्साग, उड्डीयान को स्वात घाटी मे बताया है। आठवी-नौवी शताब्दी के एक हस्तलिखित ग्रन्थ मे "ओड्डियान मे मगकोष्ठ के वज्रपाणि" सकेत आया है। मगकोष्ठ मगलपुत्र का केवल दूसरा नाम है और मगलपुत्र स्वात घाटी का प्रधान नगर था। (२) हेवज्र जैसे प्राचीन तत्र के सातवे पटल मे पीठों का वर्णन इस प्रकार है—

पीठं जालधर ख्यात ओडियानं तथैव च।
पीठ पूर्णगिरी चैव कामरूपस्तथैव च।।[७]

अत. उड्डीयान किसी भी स्थान के समीप होगा तो वह कामरूप के समीप नही, जालधर के समीप होगा। (३) तंग के सिद्धान्त मे उड्डीयान को सिन्धु-सौराष्ट्र के साथ गिना गया है। (४) 'तग एनरुल्स चवन्नअ डाकुमेन्टस्' मे उड्डीयान की सीमा बतायी गयी है—दक्षिण मे भारत, पश्चिम मे चित्राल।[८] कहा गया है कि यह सिन्धु के उत्तर मे स्थित है। (५) उड्डीयान की प्राचीनता के विषय में कहा गया है कि कुषाण युग के सातवे वर्ष के एक शिलालेख मे उड्डीयान के एक निवासी जीवक की भेट की ओर सकेत मिलता है। (६) उड्डीयान, ओडियान आदि शब्द एक ही शब्द के रूपान्तर हैं।

डॉ० भट्टाचार्य ने तीन सदेह और रखे हैं—(१) जाहोर कहॉ था जिसके राजवश से शान्तिरक्षित सम्बद्ध था, क्योकि इन्द्रभूति ने, जो उड्डीयान का राजा था, अपनी बहिन की शादी जाहोर मे की थी, अत. जाहोर उड्डीयान के समीप होना चाहिए। (२) लकापुरी जिसका राजा पहले जालेन्द्र था तथा जिसके पुत्र ने इन्द्रभूति की बहिन से शादी की थी, उड्डीयान के समीप होना चाहिए। (३) तिब्बती परम्परा के अनुसार लुइपा उड्डीयान के राजा के कर्मचारी थे।

तिब्बती परम्परा में जाहोर के विषय मे कहा गया है कि उसकी यात्रा इन्द्रभूति ने उड्डीयान छोडने के बाद की थी। उसने विद्ध की श्मशान-भूमि की यात्रा की थी, जो काश्मीर का विशेष श्मशान था। अन्तत जाहोर को लका कहा गया है। अत. किसीको भी किसी सन्दर्भ के बिना किसी शब्द को उद्धृत करने का अधिकार नही है। इस विषय मे काश्मीर का सकेत यह कह रहा है कि जाहोर नेपाल और काश्मीर की सीमा पर था, जो उड्डीयान से बहुत दूर नही था। ऐसे बहुत से सकेत हैं जो यह बताते हैं कि पश्चिमोत्तर भाग मे एक-न-एक स्थान ऐसा अवश्य था, जिसे लका कहते थे।

---

[५] **साधनमाला—डॉ० विनयतोष भट्टाचार्य, इन्ट्रोडक्शन, पृष्ठ ३७,३९।**

[६] **स्टडीज इन दि तंत्राज—डॉ० प्र० चं० बागची, भाग १, पृष्ठ ३७,४०।**

[७] **हेवज्रतंत्र, सातवाँ पटल,—देखिए—स्टडीज इन दि तंत्राज, भाग १ वही।**

[८] **स्टडीज़ इन दि तंत्राज, भाग१, वही—'तंग एनरुल्स चवन्नअ डाकुमेन्ट्स सम्बन्धी संदर्भ।**

चक्रसम्बर तंत्र के तिब्बती अनुवादक जयभद्र लंका के ही थे। उन्होंने भी उसे लंका ही कहा है। इस समय तक सीलोन को लोग लंका के नाम से नहीं जानते थे। चक्रसम्बर तंत्र का सीलोन से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसके विपरीत बात यह है कि सम्बर तंत्र की सभ्यता का सम्बन्ध सम्भल से था, जो उड्डीयान का एक भाग कहा जाता है। अतः जयभद्र की लंका जालेन्द्र की लंकापुरी है।

. ह्वेन्त्सांग ने बताया है कि उसके समय में लेंगकिलो में जो सिन्धु की निचली घाटी में था, १०० विहार तथा हीनयान और महायान के ६०० भिक्षु थे। यह लंगा या लंका नाम बिलूचिस्तान की उस लंग नाम की जाति से मिलता है, जो इस समय भी वहीं कहीं रह रही हैं। यह असंभव नहीं कि इस जाति ने स्वात घाटी पर कभी अधिकार कर लिया हो और उसके नाम से इस प्रदेश का नाम लंका पड़ गया हो।

तिब्बती परम्परा और काडियार दोनों ही मत्स्येन्द्र और लुइपा को एक मानते हैं।[९] यह सम्भव है कि योगियों का जो सम्प्रदाय मत्स्येन्द्र से प्रचलित हुआ, उसका प्रचार दूर देशों तक हुआ हो और मत्स्येन्द्र से अभिन्न लुइपा बंगाल और उड्डीयान दोनों से सम्बद्ध कर दिये गये हों। कारण यह है कि आज भी योगी जाति और सम्प्रदाय सारे भारत में परस्पर सम्बद्ध होकर दूर देशों तक फैले हुए हैं।

नाथसंप्रदाय के इतिहास की लेखिका डॉ० कल्याणी मल्लिक ने अपने ग्रन्थ में इस विषय की आलोचना इस प्रकार की है—तिब्बती मत से लूइपा पहले सामन्त शोभा के नाम से प्रसिद्ध थे। इन्होंने उड्डीयान में बंगाली शबरीपाद से दीक्षा ग्रहण की थी। उड्डीयान एक समय बौद्ध-तांत्रिकों में प्रधान पीठ था। जादू विद्या के लिए भी उड्डीयान प्रसिद्ध था। उड्डीयान राजकुमारी लक्ष्मीकरा और उसके भाई इन्द्रभूति जादू-विद्या में निपुण थे। बाद में इन दोनों ने चौरासी सिद्धों में स्थान पाया। उड्डीयान पीठ के सम्बन्ध में विभिन्न मतामत हैं—(क) हरप्रसाद शास्त्री उड्डीश, भट्टाचार्य के मत से आसाम, (ख) लेवी के मत से उत्तर-पश्चिमी सीमा पर स्थित सौवाट् उपत्यका, (ग) मालिनी दासगुप्त के मत से बंग देश। कहा गया है कि उड्डीयान के राजा इन्द्रभूति ने जाहोर की राजकन्या से विवाह किया था और लंकापुरी के राजकुमार ने उड्डीयान की राजकुमारी लक्ष्मीकरा से विवाह किया था। इसलिए भट्टाचार्य महाशय का अनुमान है कि उड्डीयान, जाहोर और लंकापुरी तीनों एक ही अंचल में होंगे। कामाख्या और कामरूप आज भी जादू-विद्या के लिए प्रसिद्ध हैं। इसलिए भट्टाचार्य महाशय के पिता शास्त्री महोदय ने तंत्रसार ग्रन्थ के पीठ स्थान के नाम का उल्लेख करके उड्डीयान को उडीशा कहा है। किन्तु तंत्रसार का उड्डीयश नाम उड़ीसा के लिए है एवं उड्डीयान का पृथक् भाव से उल्लेख होने के कारण उड्डीयान उडीशा में नहीं हो सकता। प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि उड्डीयान उत्तर-पश्चिमी सीमा की सौवाट उपत्यका में मान लिया जाय तो जाहोर और लंकापुरी कहाँ हैं? उड्डीयान के कर्मचारी लुइपा ने बंगला में पदरचना किस प्रकार की? बागची महाशय ने बताया है कि उड्डीयान के राजा इन्द्रभूति ने जाहोर और वहाँ पर अवस्थित लंकापुरी नामक समाधि का दर्शन किया था। उनके अनुसार जाहोर काश्मीर और नेपाल की सीमा पर है।[१०]

---

[९] स्टडीज इन दि तंत्राज—भाग१, वही—'काडियार'—कैटलग, पृष्ठ ३३ के सन्दर्भ द्रष्टव्य।

[१०] नाथ-संप्रदायेर इतिहास-दर्शन ओ साधनाप्रणाली,— डा० कल्याणी मल्लिक, पृष्ठ ११३–११४—स्ट० इन दि तं०—पृष्ठ ३९; कदली राज्य—पृष्ठ १०; ना० सं० इ० द० सा० प्र०—पृष्ठ ११४; साधनमाला, द्वितीय भाग, भूमिका, कदलीराज्य, पृष्ठ ११।

भट्टाचार्य महाशय ने साधनमाला की भूमिका मे ढाका के साभार ग्राम को स्पष्टतया जाहोर माना है और स्वय ही यह भी कहा है कि आसाम मे लका होने पर उड्डीयान उसीके समीप होगा। अध्यापक नाथमहाशय ने जैक का उल्लेख करते हुए आसाम की लका को लका स्थिर किया है और उसीके निकट जाहोर को स्थिर बताया है। लका के निकट होजाइ अचल ही उनके मत से उड्डीयान है। दासगुप्त महाशय ने अनेक युक्तियो द्वारा उड्डीयान को बगदेश मे स्थिर करने का प्रयास किया है।

किन्तु लुइपा का जन्म बगदेश में हुआ था और उनका प्रथम स्थान उडीशा मे था। यही विवाद प्रचलित है। उनका जन्म उडीशा मे हुआ था यह तथ्य नाथमहाशय ने चौरासी सिद्धो के इतिहास से उद्धृत किया है। अतएव उड्डीयान की स्थिति बगदेश मे थी, इस विचार मे कोई सार्थकता नही है। सिद्धो के जन्मस्थान के सम्बन्ध मे जो किवदन्तियाँ प्रचलित है, उनका कोई विशेष मूल्य नही। कारण यह है कि जिस समय जिस देश मे जिस सिद्ध व्यक्ति ने प्रतिष्ठा प्राप्त की, उसके जन्मस्थान के सम्बन्ध मे भी उसी स्थान का निर्देश करने की चेष्टा की गयी है। ऐसा सर्वत्र देखने मे आता है। बुद्धदेव मगध और कोशल के बाहर कभी भी किसी भी जगह नही गये। परन्तु परवर्ती बौद्ध-साहित्य मे उनके बगाल में भ्रमण करने की बात पायी जाती है। लुइपा का जन्म बगदेश मे हुआ था तथा उड्डीयान मे कर्मचारी थे। इस अवस्था मे बगला मे पदरचना करना कोई असभव बात नही, आदि। उपर्युक्त वितण्डावाद से केवल एक ही बात समझ मे आती है और वह यह है कि विजयी जाति द्वारा अपने जीवन के मान-प्रतिमान और साधनो का विजित जाति पर आरोप और विजित जाति द्वारा उनके अधानुकरण द्वारा अपनी ही सस्कृति और इतिहास का बर्बरीकरण होता है।

धार्मिक तत्त्वो का प्रतिपादन करने के लिए उपर्युक्त आधार अपर्याप्त हैं और साथ ही तथ्यहीन भी। आदिकाल से भारतवर्ष एक धर्मनिष्ठ देश रहा है। धर्म का अपना एक इतिहास है, अपनी एक परम्परा है, अपना एक विश्वास है, उसके साथ-साथ धर्म का नाम लेने पर जनसाधारण के मन मे जो भाव उत्पन्न होते है, वे भी अपना एक स्वतत्र स्थान रखते है और उनके अपनी ही तरह के मान-प्रतिमान भी स्थित है। शुष्क भौतिक इतिहास को आधार मानकर किसी भी धर्म के किसी पक्ष पर विचार सर्वथा असंभव है।

पीठ तत्त्व

पीठो का जहाँ तक सम्बन्ध है, ये धर्म-विशेष की विशिष्ट सम्पत्ति है। पीठ कब, कैसे और क्यों पैदा हुए, ये किस संप्रदाय-विशेष की सम्पत्ति है, साधनात्मक भूमिका मे इनका क्या स्वरूप या उपादेयता है, किस पीठ-विशेष पर किस प्रकार की साधना करनी चाहिए तथा तत्तत् पीठो पर किस प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती है, या यो कहिये इसके सिद्ध या सिद्धि-तत्त्व क्या है, तथा किस-किस पीठ से किन सिद्धो और सप्रदायो का सम्बन्ध रहा है—आदि प्रश्न ही वस्तुत. विचारणीय है। पीठो को नाथ, तात्रिक बौद्ध और शाक्त नामक तीन सप्रदायो द्वारा मान्यता प्राप्त है। पीठो का विचार इन्ही दो पक्षो से किया गया है। किन्तु इन्हे छोड, उपर्युक्त प्रकार का विचार करने से अनेक प्रकार की असगतियाँ उत्पन्न होती है।

यह स्पष्ट है कि पीठ शक्ति-अग सभूत है। अत. ये शक्ति-सप्रदाय की विशेष धरोहर है। आधुनिक इतिहासकारों ने तथा बौद्ध एव नाथ-साहित्य के अध्येताओ ने बिना किसी हिचकिचाहट के कामाख्या, जालधर और पूर्णगिरि को स्वीकार कर लिया है, जबकि वहाँ पर बौद्धो या नाथो का कोई भी अस्तित्व दिखलाई नही पड़ता। ठीक इसके विपरीत, तथ्य यह है कि आदिकाल से लेकर

शाक्त-सम्प्रदाय का इन पर अधिकार रहा है और जो आज भी विद्यमान है। इसके प्रमाण के लिए इनके पास पर्याप्त सामग्री है और पर्याप्त साहित्य भी। इतना ही नही, नाथो और बौद्धो के भी ग्रन्थ स्वत इसके लिए प्रमाण हैं कि इन लोगो ने सहसा पीठो को स्वीकार नहीं किया। इन्हे क्रमश: स्वीकार करने का एक इतिहास है जिसे स्वय इन्ही के ग्रन्थ स्वत बतलाते हैं।

नाथो के सिद्धसिद्धान्तसग्रह नामक ग्रन्थ मे कामाख्या और उड्डीयान नामक दो ही पीठो को स्वीकार किया गया है, जिनमें उड्डीयान को सिद्धिप्रद स्थान माना गया है। कौलज्ञाननिर्णय मे उप-पीठों के साथ कामाख्या, ओडियान तथा पूर्णगिरि नामक तीन पीठो को स्वीकार किया गया है।[११] इसमे जालन्धर पीठ का उल्लेख नही है। अर्बुद को अर्धपीठ के रूप मे स्वीकार किया है। इस तरह मत्स्येन्द्रनाथ ने साढे तीन पीठ माने हैं और उड्डीयान को, सिद्ध पीठ होने के नाते, महापीठ कहा है। योगशिखोपनिषद्-काल मे नाथ लोग चारो पीठो को पूर्ण रूप से मानने लगे। इस विकास की पुष्टि चाहे इतिहास से न हो, पर यह तथ्य पारम्परिक मान्यताओ के क्रम को तो उद्घाटित करता ही है।

इसी प्रकार बौद्धो ने भी साधनमाला नामक ग्रन्थ में कामाख्या, सिरिहट्ट, पूर्णगिरि और उड्डीयान नामक चार पीठो को स्वीकार किया है।[१२] इसमें जालन्धर पीठ की जगह सिरिहट्ट है। हेवज्रतत्र मे कामाख्या, पूर्णगिरि, उड्डीयान, जालन्धर और अर्बुद नामक पाँच पीठो के साथ-साथ मालव और सिन्धुनगर नामक दो उपपीठ भी माने गये हैं। इसमें अर्बुद को विकल्प रूप से स्वीकार किया गया है और सिरिहट्ट की जगह जालन्धर को माना है। क्षेत्र-उपक्षेत्र आदि की भी इसमे नयी कल्पना है। बौद्ध गान ओ दोहा मे २४ पीठ माने गये हैं।[१३] इस प्रकार पीठ, उपपीठ महापीठ, क्षेत्र-उपक्षेत्र आदि की क्रमबद्ध शृखला को देखते हुए यह जोर देकर कहा जा सकता है कि बौद्धो ने भी बहुत सोच-समझ कर धीरे-धीरे पीठ-तत्त्व को स्वीकार किया है। पाश्चात्य विद्वानों ने जिन-जिन स्थानो की ओर सकेत किया है, हो सकता है, वे स्थान उपपीठ, क्षेत्र आदि मे से कुछ रहे हों, परन्तु मूल पीठ नही। हाँ, जिस पीठविशेष से पीठ-क्षेत्र, उपक्षेत्र, उपपीठादि को सबद्ध किया गया होगा वहाँ पर तत्तत् पीठ के साधनात्मक परिवेश का पाया जाना सभव है, पर पाँच लाख कस्बोवाले किसी राज्य का विवरण पुराण, इतिहास या किसी सम्प्रदायविशेष के इतिहास मे न पाये जाने से इतिहासज्ञों की बात गले के नीचे नही उतरती।

शाक्त-सम्प्रदाय और उड्डीयान पीठ

उत्कलेनाभिदेशस्तु विरजा क्षेत्रमुच्यते।
विमला सा महादेवी जगन्नाथस्तु भैरव ॥[१४]

---

[११] **कौलज्ञाननिर्णय पृष्ठ २४, पटल ८—"प्रथमं पीठमुत्पन्नं कामाख्यानाम सुव्रते। उपपीठस्थिते सप्त-देवीनां सिद्धिआलयम् ॥ पुनः पीठद्वितीयं तु संज्ञा पूर्णगिरि प्रिये। ओडियान महापीठ उपपीट-समन्वितम् ॥ अर्बुदस्त्वर्द्धंपीठन्तु उपपीठसमन्वितम् ॥"**

[१२] **साधनमाला पृष्ठ ४५३–४५४—ऐन इन्ट्रोडक्शन टु बुद्धिष्ट एसोटेरिज्म–पृष्ठ ४३।**

[१३] **बौद्ध गान ओ दोहा—चर्या०२, सं० टी०।**

[१४] **तंत्रचूड़ामणि।**

शाक्त-सम्प्रदाय जगन्नाथ मदिर (पुरी) मे, जहाँ गुप्तगृह मे विमला भैरवीचक्र बताया जाता है, उस स्थल-विशेष को ही उड्डीयान पीठ मानता है। यहाँ, उत्कल मे, विरजाक्षेत्र मे, भगवती की नाभि गिरी थी। इसकी अधिष्ठात्री देवता विमला देवी और जगन्नाथ भैरव है। जगन्नाथ भैरव का सम्बन्ध ऊपर रखी हुई काष्ठमूर्तियो से नही है। ऊपर भी कुछ कालपूर्व काले पत्थर की भैरव की मूर्ति तब तक विद्यमान थी, जब तक मदिर पर पुरी के शकराचार्य का आधिपत्य रहा। बाद मे वह मूर्ति हटा दी गयी। परन्तु आज भी पुरी के जगन्नाथ मदिर मे बाह्याचार मे भैरवी-चक्र का परिवेश पाया जाता है, उच्छिष्टोच्छिष्ट का विवेक वहाँ नही है। जिस पीठ को लेकर बौद्ध तथा नाथ-साहित्य के अध्येताओ ने ऊहापोह किया है, वह उड्डीयान पीठ न होकर महा उड्डीयान पीठ था। बीच-बीच मे इन लोगो ने उसे महापीठ कहा भी है। वर्तमान मे एक ऐसा स्थान मिला है जिस पर विचार करने से उपर्युक्त सभी समस्याएँ हल हो जाती है।

पंचसागरतीर्थ

यह स्थान मयूरभज स्टेट (उड़ीसा) मे है। यहाँ तक पहुँचने के लिए हावड़ा से पुरी एक्स-प्रेस या मद्रास मेल से रूपसाया बालेश्वर मे गाडी बदलकर ब्राच लाइन से वारिपदा उतरना पडता है। यहाँ से-वृन्दागढी जाने के लिए उदला बस सर्विस की बसे मिलती है। वृन्दागढी से १८ मील दूर घोर जगल मे यह परम पुनीत स्थान है जिसे 'पचसागरतीर्थ' कहते है। यहाँ पर देवकुण्ड, देवी-कुण्ड, हरिद्राकुण्ड, तैलकुण्ड और भूदारकुण्ड नामक पाँच अति प्राचीन सरोवर है। इन्हे रत्नाकर या सागर भी कहते है। इसीलिए यह स्थान 'पचसागरतीर्थ' के नाम से शास्त्रो मे प्रसिद्ध है। इन कुण्डो की अधिष्ठात्री देवताएँ इस प्रकार है—

सागर-नाम	अधिष्ठात्री देवता	पीठेश्वरी
१. देवकुण्ड	त्रिपुरा रत्नेश्वरी	त्रिदशाम्बिका
२. हरिद्राकुण्ड (हस्तिपीठ)	मातगी रत्नेश्वरी	गौरीश्वरी
३. तैलकुण्ड	भुवनेश्वरी	त्रिपादमुद्रा
४. देवीकुण्ड	सिद्धलक्ष्मी	अम्बिका देवी
५. भूदार कुण्ड	वार्तालि रत्नेश्वरी	वाराही देवी

पाँच स्थानो मे से दो स्थान ऐसे है जिनकी गणना इक्यावन पीठों के अन्तर्गत की गयी है।

अम्बिका पीठ या महाउड्डीयान पीठ

विराट् देशमध्ये तु पादागुलिनिपातनम्।
भैरवश्चामृताख्यश्च देवी तत्राम्बिका स्मृता ॥
अधो दतो महारुद्रो वाराही पचसागरे ॥[१५]

देवीकुण्ड के ऊपर एक विशाल कृष्ण शिला के मध्य भाग मे वाम पाद की पाँचो अँगुलियो के चिह्न है और इस चित्र के ठीक पीछे शिव-शक्ति का प्रतीकात्मक (योनिलिङ्ग) सामरस्य महायन्त्र है। यही अम्बिका का रहस्यात्मक स्वरूप है। यन्त्रस्थ (योनि) लिंग का नाम ही अमृताख्य भैरव

[१५] तंत्रचूड़ामणि।

है। इसे दक्षिणामूर्ति भैरव भी कहते हैं। इस लिंग से अहर्निश बूँद-बूँद पारद गिरता रहता है। योनि अम्बिका देवी का रहस्यात्मक प्रतीक है। अम्बिका को तन्त्रो मे पराम्बिका, उड्डीयाना, कुरुकुल्ला ओड्रेश्वरी शिवा, त्रिपुरसुन्दरी, वज्रप्रस्तारिणी आदि नामो से सम्बोधित किया गया है। इस सामरस्य पीठ के सामने लिगयुक्त योनि-यन्त्र है। इस महायोनितंत्र के चारो तरफ एक सौ पैंतीस योनियाँ चिह्नित हैं और भगमालिनी के मन्त्र मे भी १३५ अक्षर हैं। अत इसे भगमालिनी यन्त्र कहा जाता है। इस कुण्ड की सिद्धलक्ष्मी अधिष्ठात्री और पीठेश्वरी अम्बिका देवी हैं।[१६] अम्बिका पीठ के उड्डीयान पीठ के नाम से प्रसिद्ध होने का इतिहास गौरीतन्त्र मे इस प्रकार है—

विराटानाम्मण्डलोऽस्ति उड्डीयानास्पदे भुवि।
पीठाना परमे पीठे महोड्डीयानसंज्ञके ।।

वसु नाम के राजा को इन्द्र से एक स्फटिक-विमान मिला था जिससे वह प्रतिदिन आकाश-मार्ग मे भ्रमण किया करता था। इसी कारण इस राजा का दूसरा नाम उपरिचर भी था। राजा उपरिचर अम्बिका देवी के परम भक्त थे। अम्बिका देवी की कृपा से इन्होने बहुत-सी सिद्धियाँ प्राप्त की थी। राजा उपरिचर प्रत्यह स्फटिक-विमान पर आरूढ होकर शून्यमार्ग से देवकुण्डस्थित महापीठ में अम्बिका महादेवी का अर्चन-पूजन करने के लिए जाते थे। कालक्रम से यही विमान राजा उपरिचर के पुत्र मत्स्यराज विराट को प्राप्त हुआ। वे भी प्रत्यह शून्यमार्ग से सपरिवार यमुनाकच्छ से अम्बिका महादेवी का अर्चन-पूजन करने के लिए आया करते थे। विराटो के यातायात के कारण, क्रमश, यह स्थान विराटो के मण्डल के अन्तर्गत माना गया। विराटो ने यहाँ पर गाँव, नगर, भवन, मदिर, दुर्ग आदि का भी निर्माण करवाया। मत्स्य-राज विराट प्रत्यह स्फटिक-विमान पर आरूढ होकर शून्यमार्ग से उडकर शून्यवाहिनी अम्बिका का पूजन करने सपरिवार आया करते थे। अत यह स्थान उड्डीयान (पीठ) के नाम से प्रसिद्ध हुआ। विराटो की पुरानी राजधानी जयपुर (राजस्थान) से ४१ मील उत्तर मे स्थित वैराट ग्राम मे भी मानी जाती है। यहाँ पर विराट नगर के प्राचीन खण्डहर और पाण्डव गुफाएँ हैं तथा अम्बिका देवी का मदिर भी है। इस स्थान के बारे में भी यही प्रसिद्धि है कि सती के वामपाद की अगुलियाँ यहाँ गिरी थी। पर इसका कोई शास्त्रीय प्रमाण प्राप्त नही है।

इस प्रकार शाक्त तन्त्रो के अध्ययन से स्पष्ट है कि उड्डीयान प्रदेश स्थित 'अम्बिका-पीठ', जिसे 'महाउड्डीयान' कहा गया है, मध्ययुग में सम्प्राप्त सभी तान्त्रिक संप्रदायो का मूलस्थान रहा है। यही स्थान उड्डीयान नाम से प्रसिद्ध था। इस पीठ के दो प्रधान तत्त्व हैं। प्रथम और सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व है—शिव-शक्ति का मिथुन पिण्ड, जिसे सामरस्य, समरस या सपरिष्वक्त रूप कहा जाता है। यही बौद्धो के यहाँ युगनद्ध, सहजतत्त्व या महासुख के नाम से अभिहित किया जाता है। दूसरा है अमृताख्य भैरव, जिसे रस (पारद) लिंग कहा जाता है। मध्ययुग के कापालिक सम्प्रदायो, वज्रयान तथा इनसे प्रादुर्भूत होनेवाले सभी तान्त्रिक धर्मो के सम्बन्ध मे दो ही बातें मुख्य मानी जाती हैं। एक तो यह कि सभी रसवादी थे और दूसरी यह कि सभी सम्प्रदाय अपनी-अपनी मूल साधना के रूप मे सहज तत्त्व को स्वीकार कर चुके थे। नाथ-सम्प्रदाय के मूल प्रवर्तक मत्स्येन्द्रनाथ ने भी दिव्य-वीर-क्रम के भेद से कुलजा और सहजा कुण्डलिनी के रूप मे सहज तत्त्व को स्वीकार

[१६] **'आर्यदर्पण'—बंगला मासिक पत्रिका, वर्ष ४६, अंक १, 'पंचसागर तीर्थ' शीर्षक लेख, लेखक— महाराजकुमार पी. सी. भंजदेव।**

किया है[17] और सिद्धमार्ग को सिद्धामृत मार्ग कहा है[18] जो स्पष्टतया अमृताख्य भैरव को अपने मूल देवता के रूप में स्वीकृत करने का प्रतीक है, क्योंकि सहस्रार का अमृत नही सिद्ध किया जाता। वह तो स्वयसिद्ध है। इस अवस्था मे इस बात को स्वीकार किये बिना और कोई उपाय समझ मे नही आता कि अमृताख्य भैरव ही नाथ-सम्प्रदाय के आराध्य देवता और पराम्बिका मूल देवी थी। रसेश्वर सम्प्रदाय के गठन के बारे मे भी यही प्रसिद्धि है कि नाथ-सम्प्रदाय के ही गोरक्षनाथ आदि प्रमुख व्यक्तियो ने अपने योगबल से रसेश्वर-सम्प्रदाय की स्थापना की थी।[19] रसलिग, जिन्हे अमृताख्य भैरव कहा जाता है, रसेश्वर-सम्प्रदाय के मूल देवता है।[20] नाथ-सम्प्रदाय[21] और स्वय मत्स्येन्द्रनाथ की उत्पत्ति[22] पराम्बा (ललिता) के पादागुष्ठ से तथा भगवती के दक्षागुष्ठ से मानी जाती है। इसके और भी बहुत से प्रमाण मिलते है।

सहजयान का मूल सहज तत्व ही है। सहजयान की प्रवर्तक इन्द्रभूति की बहिन लक्ष्मीकरा थी और इन्द्रभूति उनके सहायक थे। सहजयान के मूल प्रवर्तक होने के नाते सिद्धसाहित्य मे इन्हे उड्डीयान प्रदेश का राजा माना गया है। लुइपा और मत्स्येन्द्रनाथ के सम्बन्ध को बौद्ध तान्त्रिक सम्प्रदायवादियो ने अपने ढग से चित्रित किया है। इसका ऐतिहासिक दृष्टि से कोई मूल्य नही। प्राय सभी तथ्य चौरासी सिद्धो के इतिहास, अन्यान्य सिद्धो के जीवनचरित से, विशेषकर तिब्बती सूत्रो से सम्प्राप्त सूचनाओं के आधार पर सगृहीत कर शोध-साहित्य मे उपस्थित किये गये है। तिब्बती सूत्रो का जहाँ तक सम्बन्ध है, वे विशेष विश्वासयोग्य नही है। केवल बौद्ध दृष्टिकोण से सिद्धो पर शोधप्रबन्ध लिखनेवाले डा० धर्मवीर भारती ने अपने सिद्ध-साहित्य नामक शोधग्रन्थ मे तिब्बती साहित्य मे पाये जानेवाले ऐतिहासिक तथ्यो की परीक्षा करके बतलाया है कि ऐतिहासिक दृष्टि से तिब्बती साहित्य से सम्प्राप्त ऐतिहासिक सूचनाएँ विश्वसनीय नही है।[23] इस बात को डा० भारती ने अपने ग्रन्थ मे कई बार दोहराया है। जो भी हो, इन्द्रभूति राजा रहे हो या नही, हमे सम्प्रदाय के स्वपक्षस्थापन के अर्थ मे ही इन्हे ग्रहण करना चाहिए। इन्द्रभूति का इस स्थान पर आधिपत्य था, सभवत. इसी अर्थ मे राजा शब्द का प्रयोग धर्म-ग्रन्थो मे किया गया है। जैसा भी हो, सम्प्रदाय या सिद्ध-साहित्य की दृष्टि से इस बात को मानने मे कोई आपत्ति नही कि अम्बिका पीठ का, जो उड्डीयान प्रदेश के अन्तर्गत माना जाता है तथा जिसकी मूल साधना सहजप्रधान ही रही है, एक समय राजा इन्द्रभूति ही था। योगिनीहृदय मे उड्डीयान पीठ के नाथ को कलियुग का नाथ कहा है।[24] मध्ययुग के सिद्ध-साधना-साहित्य को तथा इस पीठ के तत्कालीन वैभव को देखने से प्रतीत होता है कि शक्ति-सम्प्रदाय भी इसी अम्बिका पीठ को उड्डीयान पीठ के रूप मे मानता था

---

[17] **कौलज्ञाननिर्णय—पृष्ठ २२ और ५४।**

[18] **वही पृष्ठ ६१।**

[19] **नाथ-संप्रदाय—पृष्ठ १७४।**

[20] **मातृकाभेदतंत्र रसरत्नसमुच्चय—अध्याय ६, पृष्ठ ६२।**

[21] **कौलज्ञाननिर्णय—पृष्ठ १, श्लोक १।**

[22] **ललितासहस्रनाम भाष्य—पृष्ठ ४६।**

[23] **सिद्धसाहित्य—पृष्ठ ३१०।**

[24] **योगिनी हृदय का उद्धरण 'कल्याण' के 'शक्तिअंक' में गोपीनाथ कविराज के लेख से उद्धृत।**

और नाथ-सम्प्रदाय भी इसी पीठ को उड्डीयान पीठ मानता था। आज भी उड़ीसा का यह मयूरभज प्रदेश नाथो का गढ है और वहाँ मत्स्येन्द्रनाथ की पूजा होती है।

कापालिक मत और वज्रयान का आदिस्थान वाराही पीठ

"अधोदन्तो महारुद्रो वाराही पचसागरे।"

अम्बिका पीठ के दो कुण्डो के बाद ही भूदार कुण्ड या भूडार सागर है। यहाँ पर भगवती की दतपक्ति गिरी है। इस रत्नाकर की अधिष्ठात्री शक्ति वार्ताली रत्नेश्वरी एव पीठेश्वरी वाराही देवी है। इसे स्वप्नवाराही, वज्रवाराही तथा भूदारचण्डी भी कहते है। इसका भैरव महारुद्र है। इसके एक ही शिवलिग मे सौ लिंग बने हुए है। अत इसे शतरुद्र भी कहते है। इसी के पास जगदम्बा की 'त्रिपादमुद्रा' तथा नूपुरो के चिह्न भी शिला पर विद्यमान है। शिवलिग के दक्षिण मे बगलादेवी का योनिपीठ भी है। इस तरह वाराही पीठ के दतपक्ति, वाराही, शतरुद्र भैरव, त्रिपादमुद्रा, नूपुर आदि महत्त्वपूर्ण तथ्य है। इसका रहस्यमय पीठत्व भगवती की दतपक्ति है। इस स्वयभू तत्त्व का अर्चन-पूजन करके साधक उस पराम्बा भगवती की कृपादृष्टि प्राप्त कर लेता है। ऐसी वस्तुओ को धारण करना, उनका पूजन करना ही यहाँ का समयाचार है।

वराह शब्द का अर्थ एक कल्प परिमित काल है। वर शब्द का अर्थ श्रेष्ठ अर्थात् आत्मा है। उसे जो आहत या आवृत्त करे उसीका नाम वराह है। कालसत्ता ही सर्वप्रथम आत्मा को आवृत करती है। इसी कारण से कालशक्ति का नाम ही वाराही है। यही पृथ्वी को पाताल से दाँतो द्वारा निकालना है। उस अधिष्ठान चैतन्य के आधार पर जो आधारशक्ति निर्भर है, वही वाराही शक्ति है। इसका कोई वाहन नही, क्योकि वह किसी आधार पर प्रकाशित नही होती।[२५]

तन्त्रो मे वाराही, दण्डिनी, वाराही मातृका, स्वप्नवाराही, वाराहीयोगिनी, लघुवाराही आदि बहुत से रूप प्राप्त होते है। अद्यावधि वाराही के जितने भी रूप प्रकाश मे आये है, यह उन सबसे भिन्न है। इस वाराही की विशेषता यह है कि इसने अपने दाँतो पर पृथ्वी के स्थान पर पराम्बिका को धारण कर रखा है। इससे यह आभास होता है कि यह पराम्बिका अर्थात् अम्बिका पीठ की धर्मसत्ता को नियन्त्रित कर अपनी सत्ता, धर्म या स्वभाव द्वारा आवृत्त किये हुए है। इसके प्रमाण मे कहा जा सकता है कि त्रिपादमुद्रा[२६] (गुरुचरणत्रय) अर्थात् गुरुतत्त्व इसी पीठ पर विद्यमान है, अम्बिका पीठ पर नही। इससे एक बात यह भी[२७] समझ मे आती है कि यह किसी सम्प्रदाय-विशेष का मूलस्थान अवश्य रहा है।

वज्रयान और वाराही

बौद्धों में वज्रयान के परमोच्च देवता हेरुक उपाय है।[२८] उनकी शक्ति वाराही प्रज्ञा है। प्रज्ञा या वाराही ज्ञान है और उपाय या हेरुक ज्ञेय है। इन दोनो से अवधूतीमण्डल का निर्माण

---

[२५] 'कल्याण', शक्ति अंक', पृष्ठ ५६७।

[२६] योगिनीहृदय—पृष्ठ १४८, ५८–५६।

[२७] वही—पृष्ठ २५२—'संप्रदायो....गुरुमुखे स्थितः'।

[२८] तांत्रिक बौद्ध साधना और साहित्य—पृष्ठ १३६।

होता है। अद्वयवज्रसग्रह मे प्रज्ञा को शक्ति और उपाय को वज्र कहा गया है । साधनमालातन्त्र[२९] मे हेरुक के ध्यान मे कहा गया है कि वे अपने कानो मे तथा दोनो हाथो मे नरास्थि की माला धारण किये हुए है तथा शाक्ततन्त्र मे प्राप्त् वाराही के शिव (शतरुद्र) के ध्यान मे शिव को गले मे मुण्डो की माला तथा हाथो मे धनुष और वज्र धारण किये हुए बताया गया है। इस तरह बौद्धो की वाराही या वज्रवाराही ब्राह्मणो की वाराही या दण्डिनी से प्राय मिलती-जुलती है। शाक्तो की वाराही के महारुद्र भैरव एव बौद्धों की वाराही के हेरुक भैरव, जिनकी तुलना शिव से की गयी है, दोनों ही, अस्थियो के आभूषण और मुण्डमाला धारण करनेवाले हैं। उपर्युक्त सभी बातो को विद्वानो ने स्वाभाविक रूप से स्वीकार किया है तथा अनुसधान करनेवाले विद्वानो का मत है कि वज्रयान ने दो महत्त्वपूर्ण कार्य किये हैं।[३०] प्रथम गुरुतत्त्व की महती प्रतिष्ठा और दूसरा अपने सभी देवी-देवताओ को तथा पूजन की सामग्रियो को अर्थात् साधना मे प्रयुक्त होनेवाले सभी उपकरणो को वज्राकित करना। अर्थात् वज्रयान का साधनात्मक और धार्मिक प्रतीक वज्र है। गुरुतत्त्व और वज्र इस पीठ की प्रधान धरोहर हैं। अत. विशेष प्रमाण जुटाने की जरूरत नही। इन आधारो पर यह स्पष्ट है कि बौद्धो का इस देवता से तथा पीठ से सम्बन्ध रहा है और बौद्धो की कल्पना का मूल आधार भी यही रहा है।

नाथ-संप्रदाय (कापालिक मत) और वाराही पीठ

मत्स्येन्द्रनाथ ने अपने कौलज्ञाननिर्णय[३१] नामक ग्रन्थ मे कौलों का जो विभाजन किया है, उसमे कण्ठकूपोद्भव कौल को पादोत्थ कौल कहा है। कण्ठकूप मे विशुद्धाख्य चक्र माना जाता है। यहाँ पर प्राणो का निरोध करनेवाली मुद्रा का नाम जालन्धरबन्ध या मुद्रा है। नाथ-सप्रदाय के योगविषयक ग्रन्थो मे इस बात का भी उल्लेख पाया जाता है कि जालन्धरनाथ जालन्धरबन्ध के पण्डित थे और इन्ही के नाम पर इस बन्ध का नाम जालन्धरबन्ध पडा।[३२] उड्डीयान और जालन्धरबन्ध का सम्बन्ध जालन्धरनाथ से परम्परा के अनुसार भी माना जाता है। स्मरण रखना चाहिए कि उड्डीयानबन्ध के बाद ही जालन्धरबन्ध लगाया जाता है। गुरुचरण से प्राप्त शिक्षा-दीक्षा पर चलनेवाले या आरूढ रहनेवाले को पादोत्थ कौल कहा जाता है। ये सभी लोग कापालिक थे, यह सर्वमान्य मत है।[३३] मत्स्येन्द्रनाथ ने गुरु के द्वारा प्राप्त मार्ग छोड दिया था, परन्तु जालन्धरनाथ उस पर आरूढ रहे। मत्स्येन्द्रनाथ ने पादोत्थ कौल पर कण्ठकूपोद्भव कौल की व्याख्या करते हुए जिन विशेषताओ का वर्णन किया है और विशुद्धाख्यचक्र की जो व्याख्या प्राप्त होती है,[३४] उन दोनो मे, अद्भुत साम्य है। ऐसा मालूम होता है, मानो एक दूसरे ने एक ही वस्तु को छन्दभेद से लिखा हो।

विशुद्धाख्यचक्र की शाकिनीदेवी भी वाराही की ही तरह शून्यवाहिनी है, अस्थि पर विराजमान है और वाराही भी दताधिष्ठात्री देवता है। इस तरह दार्शनिक और साधनात्मक आधार दोनो

[२९] **नाथ-संप्रदाय—पृष्ठ ८३।**

[३०] **तांत्रिक बौद्ध साधना और साहित्य पृष्ठ १३६।**

[३१] **कौलज्ञाननिर्णय—पृष्ठ ४६, ४८, ४६।**

[३२] **नाथ-संप्रदाय—पृष्ठ ७८।**

[३३] **प्राचीन बंगला ओ बंगाली—पृष्ठ ३२ तथा नाथसंप्रदाय—पृष्ठ ६।**

[३४] **कौलावलीनिर्णय—उडरफ, पृष्ठ १३६।**

के एक ही हैं। स्पष्ट है कि विशुद्धाख्यचक्र की शाकिनी देवी और वाराही अस्थ्यधिष्ठात्री देवता हैं। महारुद्र शिव और हेरुक भी अस्थ्याभरण धारण करनेवाले देवता हैं। इस अवस्था मे "देवो भूत्वा देव यजेत्" के आधार पर कापालिको तथा वज्रयानियो के समयाचार और परिधान आदि के साम्य देखकर कहा जा सकता है कि इन लोगो के आराध्य देवता वाराही और महारुद्र या शतरुद्र भैरव थे। इस स्थान से त्रिपादमुद्रा अर्थात् गुरुतत्त्व का जड़ित होना यह सूचित करता है कि कापालिको का तथा परिवर्तित अर्थ मे नाथ-सम्प्रदाय का एव वज्रयान का मूल स्थान यही था। वज्रयान के मूल प्रवर्तक भी कापालिक थे। जालन्धरनाथ ही वाराही पीठ के महान् उपासक थे, इस तत्व के उद्भट और निर्भीक उद्गाता थे तथा तत्कालीन कापालिक या औघड-सम्प्रदाय के आचार्य थे। जनसाधारण की भाषा मे इन्हे वाराही पीठाधीश्वर महन्त या मालिक कहा जा सकता है। या यो कहना चाहिए कि वाराही पीठ में जालन्धरनाथ का एकछत्र राज्य था। तान्त्रिक बौद्ध साहित्य, नाथ-साहित्य और शाक्त-तन्त्रो के पर्यवेक्षण से इतना स्पष्ट है कि वज्रयान और कापालिक सप्रदाय का मूल स्थान वाराही पीठ ही था जिस पर जालन्धरनाथ (जालेन्द्र) शासन करते थे। सहजयान, कौल-सप्रदाय तथा रसेश्वर-संप्रदाय का मूल स्थान अम्बिका पीठ या उड्डीयान पीठ था जिस पर इन्द्रभूति और मत्स्येन्द्रनाथ का आधिपत्य था। यहाँ के मूल उत्तराधिकारी मत्स्येन्द्रनाथ ही थे पर बौद्ध-सम्प्रदाय-वादियों ने इन्हे कर्मचारी के रूप मे चित्रित किया है, जबकि वे आज भी तिब्बत में अवलोकितेश्वर के रूप मे पूजे जाते हैं। पर लका नामक स्थान की मूल समस्या अभी भी रह गयी। इसके सम्बन्ध मे शाक्त तन्त्र-ग्रन्थो की मान्यता इस प्रकार है।

लंका

> लकाया नूपुरं चैव भैरवो राक्षसेश्वर.। इन्द्राक्षी देवता तत्र इन्द्रेणोपासिता पुरा ॥
> उड्डीशाख्य महातन्त्रं सिद्ध भवति तत्र तु। नूपुर· पतितो यत्र डामरश्चोपपीठकम् ॥[३५]

लका नामक स्थान मे सती का नूपुर गिरा है। इस स्थान की अधिष्ठात्री देवी इन्द्राक्षी और भैरव राक्षसेश्वर हैं। जहाँ पर सती का नूपुर गिरा है, उस स्थान पर उड्डीशाख्य तंत्र सिद्ध होता है। यह स्थान डामर उपपीठ के नाम से प्रसिद्ध है। उपर्युक्त प्रमाण यह सिद्ध करते हैं कि जहाँ पर सती का नूपुर गिरा है, उस स्थान का नाम लका है। उड्डीशाख्य तन्त्र का सिद्ध होना भी यही सूचित करता है कि यह स्थान उडीशा (उड्डीयान) मे ही होना चाहिए और वह भी उड्डीयान प्रदेश के उस महत्त्वपूर्ण बिन्दु पर जो सिद्धियो का मूल आश्रय हो। वज्रयान, सहजयान, कापालिक-सप्रदाय तथा नाथ-सप्रदाय के ८४ सिद्धों का मूल स्थान वाराही पीठ और अम्बिका पीठ ही रहा है। इस अवस्था मे लंका का भी उसी स्थान पर अवस्थित रहना कोई बडी बात नही।

इन्द्राक्षी देवी का विद्या, उपविद्या या महाविद्या की गणना में न आने से इनका स्वतंत्र ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है। आज प्राय. दशमहाविद्या का ही सामान्य साहित्य उपलब्ध होता है। वैसे इन्द्राक्षी का अपना माहेन्द्रीतन्त्र या इन्द्राक्षीतन्त्र अवश्य है। माहेन्द्रीतंत्र की गणना प्रधान चतु.षष्टि तन्त्रो में बहुरूपाष्टक के अन्तर्गत की जाती है, पर वह तंत्र भी उपलब्ध नही है। वर्तमान मे इन्द्राक्षी की सामान्य पूजापद्धति तथा स्तोत्रादि ही उपलब्ध हैं। उन्ही के आधार पर कुछ विचार किया जा सकता है। इन्द्राणी या ऐन्द्री या माहेन्द्री अष्टमातृकाओं मे मानी जाती हैं। इन्द्र द्वारा पूजित होने

[३५] मेरुतंत्र—पृष्ठ २३६।

के कारण इन्द्राक्षी के नाम से प्रसिद्ध हुई। इन्द्राक्षी का इन्द्रकृत अष्टश्लोकी स्तोत्र[३६] प्राप्त होता है। फलश्रुति आदि को लेकर इसमे सपूर्ण चौदह श्लोक है। सहस्रनाम, शतनाम, स्तोत्र, हृदय आदि के रूप मे जितने भी स्तुत्यात्मक स्तोत्र प्राप्त होते हैं, उनमे अष्टश्लोकी स्तोत्र का बहुत बडा महत्व है, क्योकि उसमे स्तुत्य देवता की विशेषताओ का सारभूत अश ही रहता है। इस स्तोत्र मे इन्द्राक्षी के दिव्य नामो में से निम्नलिखित नाम महत्त्वपूर्ण हैं—

महिषासुरहंत्री च चामुण्डागर्भदेवता।
वाराही भीमरूपा च भीमा भैरववाहिनी ॥

इन्द्राक्षी चामुण्डागर्भदेवता है। उड्डीयानक्रम मे चामुण्डा शब्द वाराही का पर्यायवाची माना जाता है; क्योकि वाराही को भूदारचण्डी भी कहा जाता है। चण्डी और चामुण्डा शब्द सर्वत्र समान अर्थ मे प्रयुक्त होते हैं। इस तरह स्तोत्र के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इन्द्राक्षी की कोई प्रतिमा नही होनी चाहिए और न अभी तक कोई प्रतिमा ही प्राप्त हुई है। 'चामुण्डागर्भदेवता' पद यही बतलाता है कि इन्द्राक्षी वाराही मे ही अन्तर्हित देवता है। इसकी पूजा वाराही पीठ पर ही होनी चाहिए। वाराही विशेषण भी इसी बात को पुष्ट करता है कि यह वाराही की ही अशभूता मरीचि है। शतरुद्र शिव की बगल मे ही डामर उपपीठ है। अत इसका भैरव भी यही शिवविशेष है और वाराही का भैरव भी यही है। अत. यह भी सभव है कि इसकी पूजा महारुद्र (शतरुद्र) भैरव के शिवलिंग पर ही होती हो, क्योकि इसे भैरववाहिनी भी कहा गया है। जब तक अन्य साहित्य तथा इन्द्राक्षी की मूर्ति उपलब्ध नही होती तब तक यही मानना चाहिए। स्वयंभू तत्व के आगे साकार विग्रह का प्राप्त होना न होना कोई महत्व नही रखता।

ऋग्वेद मे शची को ही प्रज्ञा कहा गया है। वेद मे इन्द्र के साथ शक्ति के रूप मे (शची का) ग्यारह बार प्रयोग हुआ है।[३७] बाद मे नारी के रूप मे, सार्वजनिक रूप से इन्द्राणी के रूप मे, स्वीकृत की गयी है। बौद्धो ने इसी परम्परा के अनुरूप इसे ग्रहण किया है।[३८] बौद्धो का वज्र मूल रूप मे इन्द्र का ही वज्र है। एक स्थान पर वज्र को त्रिदन्त कहा गया है और बुद्ध, धर्म और सघ को तीन अस्थियाँ बताया गया है। अपने विरोधियो से रक्षा के लिए यह अमोघ अस्त्र सब तरह से बौद्ध साधको के लिए इतना सर्वाच्छिन्नकारी बना कि बौद्धो ने पचध्यानी बुद्धो के अधिष्ठाता परम दैवत के रूप मे वज्रसत्त्व नामक छठे बुद्ध की कल्पना की जो प्रज्ञापारमिता (इन्द्राणी) रूपी शक्ति के पति हैं, जिनका अस्त्र अमोघ वज्र है तथा जो युगनद्ध रूप मे सदैव अपनी शक्ति से समन्वित रहते हैं।[३९] साधनागत भेद से कापालिक बौद्ध वाराही को तथा वज्रयानी लंकापीठ को विशेष मानते थे। इस तरह बौद्ध साहित्य तथा तत्रशास्त्र के अनुसार इन्द्राक्षी पीठ वही स्थल था, जिसका नाम लकापीठ भी था। इसे ही इतिहासकारो ने लकापुरी कहकर उधृत किया है।

---

[३६] **दुर्गार्चनसृति—पृष्ठ ४५३–४५४।**

[३७] **ऋग्वेद—३.६०.२।**

[३८] **सिद्धसाहित्य—पृष्ठ १२८ तथा टिप्पणी संख्या ७६, पृष्ठ ४६१।**

[३९] **वही—पृष्ठ १४२।**

शाक्त-तन्त्रों के आधार पर यह स्पष्ट है कि उड्डीयान से सटा हुआ लका नामक स्थान यही था और जालेन्द्र भी यही राज्य करते थे। जालेन्द्र जालन्धरनाथ का ही दूसरा नाम है। राज्य का अर्थ आधिपत्य से है। पहले यह सिद्ध किया जा चुका है कि जालन्धरनाथ ही वाराही पीठ के एक-मात्र मालिक (आचार्य) थे। अत: जालेन्द्र की लका यही थी और इन्द्रभूति का उड्डीयान प्रदेश भी अम्बिका पीठ नामक स्थान ही था। इस तरह तन्त्रो के आधार पर लका और उड्डीयान का विभाजन साधनागत भेद के रूप मे प्राप्त होता है।

इस सबध मे निम्न महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ ध्यान देने योग्य हैं।

अत्रोपास्य महादेवी जामदग्न्यो महामुनि।
द्रक्ष्यति प्रयतस्ता वै वत्स्यतीदैव तद्गत ।।
कल्पसूत्रं तदादिष्टो रचयन्नत्र सोऽग्रणी ।।

जामदग्न्य परशुराम ने भी यही (अम्बिकापीठ) बैठकर कल्पसूत्रो (परशुरामकल्पसूत्र) की रचना भगवती के आदेश से की थी। हरिद्राऋषि, कापालि मुनि के शिष्यो का तथा कालामुख सप्रदाय का इस स्थान (वाराही पीठ) से विशेष सम्बन्ध रहा है। साम्प्रत मे पुनर्निर्माण काल में मदिर की नीव खोदते समय कुषाणकालीन ताम्रमुद्राएँ भी प्राप्त हुई हैं जो स्व० महाराजकुमार पी. सी. भजदेव, नगरपदा (मयूरभंज) के निजी सग्रहालय मे सुरक्षित हैं तथा वर्धमान मे उन्ही के चिरजीव श्री प्रवीणचन्द्र भजदेव, बस्तरनरेश के अधिकार मे है। जीर्णोद्धार के समय द्विभुजा महिष-मर्दिनी की मूर्ति, हेरम्ब तथा क्षेत्रपाल की मूर्ति और कुषाणकालीन अति सुन्दर बटुक भैरव की प्रतिमा भी मिली है, जो पुरातत्त्व की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। नौकारूढ़ा अम्बिका की अष्टधातु की प्रतिमा तथा एक युगनद्ध की भी मूर्ति मिली है। ऐसी मूर्ति अभी तक कही भी नही मिली थी और न किसी मदिर मे प्रतिष्ठित ही है। यह अज्ञात ऐतिहासिक श्रृखलाओ को जोडने के लिए महत्त्वपूर्ण कडी सिद्ध होगी।

लगभग ६ठी-७वी शताब्दी से लगभग १७वी शताब्दी तक के साम्प्रदायिक, दार्शनिक एवं साधनात्मक विकास को देखने से तात्रिक साहित्य एवं साधन के व्यापक प्रभाव का स्पष्टीकरण हो जाता है। इस तात्रिक साहित्य के अध्ययन की प्रथम सीढी सिद्ध-साहित्य है। सिद्ध-साहित्य पर अभी तक जो भी कार्य हुआ है, भारतीय दृष्टि से नही के बराबर है। यह कार्य 'बौद्ध गान ओ दोहा' की सापेक्षता में हुआ है। तांत्रिक बौद्धों को मूल मानकर एकागी मत, जो शोधकार्य किये गये हैं, वे एकाकी और पूर्वाग्रह से ग्रस्त हैं। वस्तुत 'बौद्ध गान ओ दोहा' का साहित्य न तो केवल बगला भाषा का साहित्य है, जैसा कि बहुत से विद्वान् सिद्ध कर चुके हैं और न 'बौद्ध गान ओ दोहा' के रचनाकार ही बगाली थे। यहाँ तक कि सरहपाद, शबरपाद, भुसुक आदि, जिनके पदो मे "आज भूसु बगाली भइली" आदि वाक्यों में जो बग या बंगाली का प्रयोग हुआ है, वे भी बगाली नही थे। 'बौद्ध गान ओ दोहा' के सम्पादक म. म हरप्रसाद शास्त्री महोदय ने अपने मुखबन्ध मे प्रधान सिद्धो को बग-देशीय माना है, तथा अन्यान्य सिद्धो को उनकी परम्परा मे मानकर ८४ सिद्धो को बगसतति सिद्ध करने का असफल प्रयत्न किया है। उसी आधार पर शोधकर्ताओ ने भी तत्कालीन बगदेशीय सस्कृति, सामाजिक मान्यताओ, तत्कालीन सम्प्राप्त राजवशो से सम्बन्ध आदि के आधारो पर मूल तथ्यों के रहस्योद्घाटन का प्रयत्न किया है। वस्तुत. मूलाधार के दूषित होने पर तदाधृत सभी विवेचन दूषित होते हैं।

इस सम्बन्ध मे स्मरण रखना चाहिए कि कान्हू भट्ट ने 'बौद्ध गान ओ दोहा' का सपादन यह प्रतिपादन करने के लिए किया था कि सहजयान ही निर्वाणमार्ग है, यह सरल सुबोध तथा जन-साधारण का सर्वसम्मतधर्म है, इस साधना को प्रत्येक व्यक्ति कर सकता है। इसी बात को प्रतिपादित करने के लिए विभिन्न सिद्धो के वचनो का सग्रह 'चर्याचर्यविनिश्चय' नाम से किया गया है। इस अर्थ मे यह जरूरी नही कि पदकर्ता बौद्ध सिद्ध ही हो, किसी ग्रन्थ के भाष्य मे प्रयुक्त ग्रन्थ उस मूल सप्रदाय के ही नही होते, जिस सप्रदाय-विशेष के ग्रन्थ पर भाष्य किया गया है। इस ग्रन्थ का मूल नाम 'चर्याचर्यविनिश्चय' है जिसका सामान्य अर्थ है कि कौन-सा साधन करणीय है और कौन-सा अकरणीय, इसकी मीमासा। इसी अर्थ मे 'बौद्ध गान ओ दोहा' का विनियोग है। पर, इसका विनियोग एकागी रूप मे ही किया गया है, अत सबका सब एक दूसरे के विपरीत हो गया है। अत बिना इस विनियोग को ध्यान मे रखे, सत-परम्परा के बारे मे भी कुछ कहना उचित नही।

(पृष्ठ १०६ का शेषाश)

युवान-च्वाङ् ने चाहे वृद्ध वसुबन्धु का उल्लेख किया हो चाहे कनीयस् वसुबन्धु का, कम से कम 'विक्रमादित्य' का उल्लेख करते समय उसका तात्पर्य कनीयस् वसुबन्धु के संरक्षक से न होकर वृद्ध वसुबन्धु के सरक्षक से था। इस प्रकार फ्राउवाल्नर का यह दावा कि किसी साक्ष्य से भी वृद्ध वसुबन्धु का किसी गुप्त-सम्राट् से सम्बन्ध सकेतित नही है, गलत हो जाता है और वामन के चन्द्रप्रकाश को युवान-च्वाङ् के विक्रमादित्य और समुद्रगुप्त से अभिन्न मानने के लिए पर्याप्त आधार मिल जाता है। वस्तुत फ्राउवाल्नर ने इस तथ्य को सर्वथा विस्मृत कर दिया है कि वामन के साक्ष्य को परमार्थ के साक्ष्य के विरुद्ध कहकर उसी स्थिति मे अमान्य ठहराया जा सकता है जब हम वामन द्वारा उल्लिखित चन्द्रप्रकाश को नरसिहगुप्त बालादित्य अथवा पाचवी शती ई० का कोई अन्य गुप्त-सम्राट् माने। चन्द्रप्रकाश और समुद्रगुप्त को एक मानने से इस अस्वीकृति के लिए कोई कारण नही रह जाता और युवान-च्वाङ् के साक्ष्य की भी अधिक तर्कयुक्त मीमांसा हो जाती है।[३२] हमारा यह सुझाव फ्राउवाल्नर के दो वसुबन्धुओ के अस्तित्व और उनके जीवन-वृत्तान्त विषयक मत के सर्वथा अविरुद्ध ही नही है, वरन् उसे सबलतर भी करता है; क्योंकि इसके स्वीकार से यह कहना सम्भव हो जाता है कि दोनो वसुबन्धुओ को विक्रमादित्य उपाधिधारी नरेशो का सरक्षण उपलब्ध हुआ था, इसलिए परमार्थ अथवा उसके शिष्यो से उन्हे एक मानने की गलती हो गयी।

---

[३२] यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि वामन द्वारा उद्धृत श्लोक में 'चन्द्रप्रकाश' शब्द को चन्द्रगुप्त के पुत्र का नाम न मानकर 'तनयः' का विशेषण भी माना जा सकता है (पाठक, आई०, ए०, १९११, पृ० १७०; एलेन (कैटेलॉग', मू० पृष्ठ ५३, पा० टि० ३, दशरथ शर्मा, आई० एच० क्यू०, १०, पृष्ठ ७६०)। उस अवस्था में इसका अर्थ होगा 'यह चन्द्रगुप्त का पुत्र जिसकी शोभा चन्द्रकांति के समान है—'। इस श्लोक और मेहरौली-प्रशस्ति के 'चन्द्राह्वेन समग्रचन्द्रसदृशी वक्त्रश्रियं बिभ्रता' पद की सादृश्यता स्पष्ट है।

वसुबन्धु की तिथि और संरक्षक सम्राट्

श्रीराम गोयल

वसुबन्धु की तिथि

पाँचवीं शती ईसवी विषयक मत--वसुबन्धु का काल-निर्णय भारत के साहित्यिक और दार्शनिक इतिहास की एक गम्भीर समस्या है। यह सर्वसम्मत रूप से स्वीकृत किया जाता है कि वे गुप्तकाल में आविर्भूत हुए, लेकिन चौथी शती ई० में या पाँचवी शती ई० में, यह प्रश्न विवादास्पद है। सर्वश्री नोएल पेरी[1], वी० ए० स्मिथ[2], विनयतोष भट्टाचार्य[3], सतीशचन्द्र विद्याभूषण[4], मेक्डोनल[5], विटरनित्ज़[6], राधागोविन्द बसाक[7], राहुल सांस्कृत्यायन[8], क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय[9] तथा र० च० मजूमदार[10] प्रभृति विद्वान् उनका समय चौथी शती मानते हैं तथा ताकाकुसू[11], वोगीहारा[12], एलन[13], होर्नले[14] तथा पाठक[15] आदि पाँचवी शती। ताकाकुसू और उनके समर्थकों का मत मुख्यतः परमार्थ

---

[1] नोएल पेरी, बी० ई० एफ० ई०, ११ (१९११), पृष्ठ ३३९—९०, उनके अधिकांश तर्कों का ई० फ्राउवाल्नर ने 'ऑन दि डेट ऑव बुद्धिस्ट मास्टर ऑव ला वसुबन्धु' (रोम १९५१), में विस्तार से तथा स्मिथ ने 'अर्ली हिस्ट्री ऑव इण्डिया' (पृष्ठ ३२६-२७) में संक्षेप में उल्लेख किया है।

[2] स्मिथ, वही।

[3] तत्वसंग्रह, मू०, पृ० ६६-७०।

[4] स० च० विद्याभूषण, 'दिङ्नाग एण्ड हिज़ प्रमाण समुच्चय', जे० ए० एस० बी०, १९०५, पृष्ठ २२७।

[5] मेक्डोनल, 'हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर', १९६१, पृष्ठ ३२७।

[6] विंटरनित्ज, एम० ए० 'हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर', भाग २, पृष्ठ ३५५ अ०।

[7] रा० गो० बसाक, 'हिस्ट्री ऑव नॉर्थ ईस्टर्न इण्डिया', पृष्ठ ३३।

[8] राहुल सांकृत्यायन, 'पुरातत्व निबन्धावलि', पृष्ठ १७६-७७।

[9] क्षे० च० चट्टोपाध्याय, दि डेट ऑव कालिदास, पृष्ठ १६४।

[10] वाकाटक गुप्त एज, पृष्ठ १५५।

[11] ताकाकुसू, जे०, जे० आर० ए० एस०, १९०५, पृष्ठ ३३ अ०। बाद में ताकाकुसू को भी अपने मत में संशोधन करने और वसुबन्धु को प्राचीनतर मानने की आवश्यकता अनुभव होने लगी थी, वही १९१४, पृष्ठ १३ अ०।

[12] वोगीहारा, यू०, 'इंसाइक्लोपीडिया ऑव रेलिजन एंड एथिक्स', खंड १२, पृष्ठ ५९५-९६।

[13] एलेन, 'कैटेलॉग', मू० पृष्ठ ५१–५२।

[14] जे० आर० ए० एस०, १९०९, पृष्ठ १०२; आई० ए०, १९११, पृष्ठ २६४।

[15] के० बी०, पाठक 'कुमारगुप्त, 'दि पेट्रन ऑव वसुबन्धु', आई० ए०, १९११, पृष्ठ १७० अ०।

(५००-५६१ ई०) नामक भारतीय बौद्ध-धर्म-प्रचारक द्वारा लिखित 'वसुबन्धु की जीवनी"[१६] नामक ग्रन्थ तथा चीनी-यात्री युवान-च्वाङ[१७] द्वारा उल्लिखित कुछ तथ्यो पर निर्भर है।

(१) परमार्थ ने वसुबन्धु का समय भगवान् बुद्ध के निर्वाण के ११०० वर्ष उपरान्त माना है और युवान-च्वाङ ने १००० वर्ष उपरान्त। उनके द्वारा प्रदत्त ये तिथियाँ निर्वाण-सम्वत् की विभिन्न गणना पर आधृत है और सम्भवत मूलत. अभिन्न है। इनसे वसुबन्धु का समय पाँचवी शती ई० निर्धारित होता है।

(२) परमार्थ ने वसुबन्धु को बुद्धमित्र का शिष्य बताया है। इस नाम के एक बौद्ध-भिक्षु का उल्लेख कुमारगुप्त प्रथम के शासनकाल के मकुवार-अभिलेख (४४८-४९ ई०) मे हुआ। पाठक महोदय ने उसे वसुबन्धु के गुरु से अभिन्न माना है।[१८]

(३) परमार्थ के अनुसार वसुबन्धु विक्रमादित्य और बालादित्य के शासनकाल मे हुए। उसने लिखा है कि अयोध्यानरेश विक्रमादित्य पहले साख्यदर्शन को मानते थे, लेकिन वसुबन्धु ने अपने ग्रन्थ 'परमार्थसप्ततिका' मे साख्याचार्य विन्ध्यवास की सफल आलोचना करके उनकी सद्धर्म मे रुचि उत्पन्न की। यहाँ तक कि विक्रमादित्य ने अपने युवराज बालादित्य की शिक्षा का भार भी उन्हीको सौप दिया था। विक्रमादित्य की मृत्यूपरान्त बालादित्य और राजमाता ने वसुबन्धु को (जो इस बीच मे अपनी जन्मभूमि लौट गये थे) अयोध्या बुलाया और राजसरक्षण प्रदान किया। वही अस्सी वर्ष की आयु मे उनकी मृत्यु हुई। ताकाकुसू आदि का कहना है कि परमार्थ द्वारा उल्लिखित ये नरेश स्पष्टतः पाँचवी शती ई० मे रखे जाने चाहिए।[१९]

चौथी शती विषयक मत—वसुबन्धु को पाँचवी शती ई० मे आविर्भूत माननेवाले विद्वानो की ये युक्तियाँ काफी सबल लगती है, लेकिन जो विद्वान् उन्हे चौथी शती ई० मे रखते है, उनके समवेत-रूपेण रखे गए निम्नलिखित तर्क भी उपेक्षणीय नही कहे जा सकते —

(१) यह सही है कि परमार्थ और युवान-च्वाङ ने वसुबन्धु को पाँचवी शती मे रखा है, लेकिन बौद्ध-साहित्य मे निर्वाण के ९०० वर्ष के उपरान्त उनकी सर्वाधिक मान्य तिथि रही है। स्वय परमार्थ भी वसुबन्धु की इस तिथि को मानते थे, यह क्युई-ची और हुई-शियाग (७वी शती ई०) नामक प्राचीन चीनी-लेखको ने उसके ग्रन्थो को उद्धृत करते समय लिखा है। युवान-च्वाङ के अनुयायी

---

[१६] **जे० आर० ए० एस०, १९०५, पृष्ठ ४४–५३।**

[१७] **वाटर्स, टा० 'ऑन युवान-च्वांङ्स ट्रेविल्स इन इण्डिया', खण्ड १, पृष्ठ २१० अ०, खण्ड २ पृष्ठ ३५५ अ०।**

[१८] **के० बी० पाठक, 'ऑन बुद्धमित्र, दि टीचर ऑव वसुबन्धु', आई० ए०, १९१२, पृष्ठ २४४।**

[१९] **परमार्थ द्वारा उल्लिखित विक्रमादित्य और बालादित्य को ताकाकुसू, वोगीहारा, पाठक और फ्राउवाल्नर ने क्रमशः स्कन्दगुप्त और नरसिंहगुप्त बालादित्य माना है, एलेन और बी० पी० सिन्हा (डिक्लाइन ऑव दि किंग्डम ऑव मगध, पृष्ठ ८१) ने पुरुगुप्त और नरसिंहगुप्त बालादित्य, हरप्रसाद शास्त्री (जे० आर० ए० एस० बी०, १९०५ पृष्ठ २५३) ने चन्द्रगुप्त द्वितीय और कुमारगुप्त प्रथम तथा डी० आर० भण्डारकर (आई० ए०, ४१, पृष्ठ १ अ०) ने और आर० एन० सालेतोर (लाइफ़ इन दि गुप्त एज, पृष्ठ २८) ने चन्द्रगुप्त द्वितीय और गोविन्दगुप्त।**

भी इस तिथि को ही अधिक विश्वसनीय मानते थे। इसके स्वीकार करने से वसुबन्धु का समय चौथी शती ई० निर्धारित होता है।

(२) वसुबन्धु का समय कुमारजीव नामक भारतीय विद्वान् से, जो ३८५ ई० में चीन पहुँचे थे, पहले माना जाना चाहिए। इसके कई कारण हैं। एक, चीनी-ग्रन्थो मे कुमारजीव का एक कथन सुरक्षित है जिसके अनुसार उनकी युवावस्था (लगभग ३६० ई०) मे उनके गुरु सूर्यसोम ने उनसे वसुबन्धु के एक ग्रन्थ का अध्ययन करने का आग्रह किया था। दूसरे, चिग मायि द्वारा ६६४-६५ ई० मे तैयार की गई बौद्ध-ग्रन्थ-सूची मे कुमारजीव द्वारा लिखित 'वसुबन्धु की जीवनी' का उल्लेख हुआ है। यह जीवनी आजकल अनुपलब्ध है। ताकाकुसू ने इसके अस्तित्व मे शका प्रकट की है, परन्तु इसका कारण नही बताया है। तीसरे, 'तत्वसिद्धिशास्त्र' के लेखक हरिवर्मन के ग्रन्थ का कुमारजीव ने चीनी भाषा मे अनुवाद किया था। जबकि हरिवर्मन की तिथि ८९० निर्वाण-सम्वत् है, इसलिए वसुबन्धु-को जिनकी तिथि ९०० निर्वाण-सम्वत् मानी गई है, हरिवर्मन के समय और कुमारजीव के पूर्व रखना होगा। चौथे, कुमारजीव द्वारा स्वय वसुबन्धु प्रणीत दो ग्रन्थो—'शतशास्त्रटीका' और 'बोधिचित्तोत्पादनशास्त्र'—के चीनी भाषा मे किये गये अनुवाद सुरक्षित हैं। मेक्डॉनल ने इस तथ्य को वसुबन्धु की तिथि के लिए निर्णायक माना है।

(३) एक बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार धर्मरक्ष नामक विद्वान् ने वसुबन्धु के अग्रज असंग द्वारा रचित 'बोधिसत्वभूमि' ग्रन्थ का ४१३–३१ ई० मे अनुवाद किया था।

(४) बोधिरुचि नामक भारतीय बौद्ध विद्वान् ने, जो ५०८ ई० मे चीन पहुँचे, वसुबन्धु-कृत 'वज्रच्छेदिकाप्रज्ञापारमिताशास्त्र' की टीका को ५३५ ई०मे चीनी भाषा मे अनूदित किया था। इसमें उसने वसुबन्धु की तिथि ५३५ ई०से २०० वर्ष पूर्व अर्थात् ३३५ ई० बताई है।

(५) परमार्थ ने 'वसुबन्धु' की जीवनी लिखने के अतिरिक्त वसुबन्धु के शिष्य दिङ्नाग, दिङ्नाग के शिष्य शकरस्वामी एव साख्याचार्य ईश्वरकृष्ण (जो सम्भवत दिङ्नाग के समकालीन थे और जिनकी 'कारिका' पर उस समय तक एक प्रामाणिक टीका भी लिखी जा चुकी थी) के ग्रन्थो का भी चीनी भाषा मे अनुवाद किया था। परमार्थ ५४६ ई० मे चीन पहुँचे थे। अब अगर हम यह माने कि वसुबन्धु की मृत्यु ५०० ई० या इसके कुछ पूर्व हुई तो फिर स्वीकृत करना होगा कि उपर्युक्त सब विद्वानो ने, जो उनसे परवर्ती थे, अपने ग्रन्थो की रचना और ख्याति का अर्जन ५०-६० वर्ष में ही कर लिया था। यह स्पष्टत असम्भव है।

(६) सारमति नामक बौद्ध विद्वान् के 'महायानावतार' नामक ग्रन्थ में, जिसका चीनी भाषा मे अनुवाद ४३७–३९ ई० मे हुआ, वसुबन्धु के अग्रज असग के ग्रन्थ 'महायानसूत्रालकार' को उद्धृत किया गया है।

(७) तिब्बती अनुश्रुतियो के अनुसार वसुबन्धु और तिब्बतीनरेश ल्हा-थो-यो-री (मृ० ३७१ ई०) समकालीन थे।

फ्राउवाल्नर का मत—उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वसुबन्धु की तिथि-विषयक उपर्युक्त दोनो मतो के पक्ष मे काफी सबल युक्तियाँ दी जा सकती हैं। इसका कारण सम्भवत: वसुबन्धु नाम के दो बौद्ध विद्वानों का, जो क्रमश: चौथी और पाँचवी शती ई० मे आविर्भूत हुए, अभिन्न मान लिया

जाना है। इस सम्भावना की ओर किमूर[२०], कीथ,[२१] पूसें[२२] तथा शेरबास्की[२३] जैसे कुछ विद्वानो का ध्यान पहले ही गया था। वसुबन्धु कृत 'अभिधर्मकोश'- के टीकाकार यशोमित्र का (जो परमार्थ के कनीयस् समकालीन थे) यह स्पष्टत कहना कि 'अभिधर्मकोश' के रचयिता वसुबन्धु के पहले भी वसुबन्धु नाम के एक और विद्वान हो चुके है[२४], एव प्राचीन चीनी-बौद्ध-साहित्य मे परमार्थ द्वारा लिखित 'वसुबन्धु की जीवनी' के अतिरिक्त वसुबन्धु नामक भारतीय विद्वान् के अन्य प्रकृत्या भिन्न जीवन-चरित विद्यमान होना इस सम्भावना को पर्याप्त आधार प्रदान करते है।[२५] हाल ही मे फ्राउवाल्नर ने परमार्थ द्वारा लिखित 'जीवनी' पर इस दृष्टि से विचार करके यह लगभग निर्णायक रूप से सिद्ध कर दिया है कि इसे विभिन्न स्रोतो से ली गई सामग्री की सहायता से सम्भवत. कई व्यक्तियो ने विभिन्न समय मे लिखा था।[२६] उन्होने सब ज्ञात तथ्यो का अत्युत्कृष्ट विश्लेषण करके निष्कर्ष निकाला है कि असग के अनुज वसुबन्धु (३२०–८० ई०) 'अभिधर्मकोष' के रचयिता वसुबन्धु (४४०-८० ई०) से भिन्न थे। असग के अनुज अथवा वृद्ध वसुबन्धु का जन्म पुरुषपुर (पेशावर) मे एक ब्राह्मण परिवार मे हुआ था। वह पहले सर्वास्तिवादी थे, बाद वे असग के प्रभाव से योगाचार सम्प्रदाय मे श्रद्धा रखने लगे। कनीयस् वसुबन्धु के जन्मस्थान और परिवार विषयक तथ्य अज्ञात है। वह स्थविर बुद्धिमित्र के शिष्य थे। उन्होने 'अभिधर्मकोश' नामक सुप्रथित ग्रन्थ का प्रणयन किया था। उनके सरक्षक स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य (४५५-६७ ई०) और नरसिंहगुप्त बालादित्य प्रथम (४६७–७३ ई०) थे। उनकी अस्सी वर्ष की आयु मे अयोध्या मे मृत्यु हुई थी। परमार्थ अथवा उसके शिष्यो ने गलती से इन दोनो वसुबन्धुओ को अभिन्न मान लिया, जिससे उनका तिथिविषयक यह भ्रम उत्पन्न हो गया है।

वसुबन्धु का संरक्षक सम्राट्

वामन का साक्ष्य—फ्राउवाल्नर का उपर्युक्त विश्लेषण हमे सही प्रतीत होता है; क्योकि इससे वसुबन्धु की तिथि विषयक परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले लगभग सभी साक्ष्य सगत हो जाते है। लेकिन वसुबन्धु के सरक्षक सम्राट् का अभिज्ञान स्थिर करते समय उनका वामन के साक्ष्य को स्वीकृति न देना सुचिन्तित नही जान पडता। वामन (लगभग ८०० ई०) कश्मीर-नरेश जयापीड की राजसभा मे थे। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'काव्यालकार-सूत्रवृत्ति' मे एक प्राचीन, सम्भवतः गुप्तकालीन, कृति से एक श्लोक उद्धृत किया है जिसका अर्थ है 'यह चन्द्रगुप्त का युवक पुत्र चन्द्रप्रकाश जो विद्वानो का आश्रय है और अब राजा हो गया है, अपने परिश्रम मे सफलीभूत हुआ।' इसके आगे उसने एक टिप्पणी दी है जिसके अनुसार इस श्लोक मे 'आश्रयः कृतधिया' यह विशेषण साभिप्राय है, क्योकि वसुबन्धु

---

२० विंटरनित्ज (पृष्ठ ३५५, पाद टिप्पणी ६) द्वारा उद्धृत।

२१ कीथ, ए० बी०, 'बुद्धिस्ट फिलॉसफी इन इण्डिया एण्ड सीलोन', पृष्ठ १५६ अ०।

२२ विंटरनित्ज द्वारा उद्धृत।

२३ शेरबास्की, टी०, 'बुद्धिस्ट लॉजिक', १, पृष्ठ ३१ अ०।

२४ शेरबास्की, टी०, 'दि सेन्ट्रल कन्सेप्शन ऑव बुद्धिज़्म, पृष्ठ २, पा० टि०, २; ई०, फ्राउवाल्नर, वही, पृष्ठ २१ अ०।

२५ फ्राउवाल्नर, वही, पृष्ठ ४७।

२६ वही, पृष्ठ १४ अ०।

चन्द्रप्रकाश के सचिव थे।[२७] इससे स्पष्ट है कि वामन के अनुसार वसुबन्धु का सरक्षक चंद्रगुप्त का पुत्र चन्द्रप्रकाश था।[२८] प्रश्न उत्पन्न होता है कि यह चन्द्रगुप्त कौन था—चन्द्रगुप्त प्रथम अथवा चन्द्रगुप्त द्वितीय ? पाठक महोदय ने उसे चन्द्रगुप्त द्वितीय और चन्द्रप्रकाश को कुमारगुप्त प्रथम माना है और परमार्थ द्वारा उल्लिखित विक्रमादित्य और बालादित्य को क्रमश स्कन्दगुप्त और नरसिहगुप्त बालादित्य। इसके विपरीत स्मिथ महोदय, जो वसुबन्धु का समय चौथी शती ई० मानते थे, यह विश्वास करते थे कि वामन द्वारा उल्लखित नरेशो को क्रमश. चन्द्रगुप्त प्रथम और समुद्रगुप्त मानना चाहिए। और क्योकि वह एक ही वसुबन्धु के अस्तित्व मे श्रद्धा रखते थे, इसलिए उनकी यह भी मान्यता थी कि परमार्थ के विक्रमादित्य और बालादित्य का तादात्म्य भी चन्द्रगुप्त प्रथम और समुद्रगुप्त से ही स्थापित किया जाना चाहिए। फ्राउवाल्नर को ये दोनो सुझाव अस्वीकाय हे। वे कनीयस् वसुबन्धु को पाँचवी शती मे रखकर उसका सरक्षक स्कन्दगुप्त और नरसिहगुप्त को तो मानते है, परन्तु वामन के साक्ष्य को सर्वथा अमान्य ठहराते है। उनके लिए काव्यशास्त्र के लेखक वामन के साक्ष्य को 'वसुबन्धु की जीवनी' के लेखक परमार्थ के साक्ष्य की तुलना मे महत्वहीन मानना और इसलिए चन्द्रप्रकाश को वसुबन्धु कनीयस् से सर्वथा असम्बद्ध मानना उचित ही है। उनका यह कहना भी बुद्धिगम्य है कि वामन द्वारा उल्लिखित नरेशो को चन्द्रगुप्त द्वितीय और कुमारगुप्त प्रथम भी नही माना जा सकता, क्योकि उस अवस्था मे स्वीकृत करना होगा कि वसुबन्धु प्रथम की युवावस्था मे, उसके सम्राट् बनते ही, उसके सचिव हो गए थे और नरसिहगुप्त बालादित्य प्रथम के शासनकाल तक गुप्त-सरक्षण का उपभोग करते रहे। यह पूर्णत. अकल्पनीय है। लेकिन फ्राउवाल्नर महाशय की यह घोषणा कि वामन का साक्ष्य सर्वथा त्याज्य है और इसके आधार पर वृद्ध वसुबन्धु को भी समुद्रगुप्त का सचिव नही माना जा सकता, युक्तिसगत नही कही जा सकती।

परमार्थ का साक्ष्य—फ्राउवाल्नर ने अपनी इस घोषणा के पक्ष मे केवल एक बात कही है, और वह यह कि वृद्ध वसुबन्धु का किसी गुप्त-सम्राट् से सम्बन्ध था, यह बात किसी अन्य स्रोत से ज्ञात नही होती। यहाँ यह स्मरणीय है कि वसुबन्धु का गुप्त-सम्राट् से सम्बन्ध निर्देशित करनेवाले केवल तीन स्रोत है—परमार्थ, युवान-च्वाङ् और वामन। इनमे वामन का साक्ष्य तो विचाराधीन है ही। शेष दो मे परमार्थ का साक्ष्य, जैसा कि देखा जा चुका है, कनीयस् वसुबन्धु के सम्बन्ध मे है। लेकिन इसमे वृद्ध वसुबन्धु के सरक्षक का नाम उल्लिखित न होने का कारण वृद्ध वसुबन्धु को किसी सम्राट् का निश्चयत. सरक्षण न मिलना नही, वरन् दोनो वसुबन्धुओ के जीवन-वृत्तान्तो का घुलमिल जाना है। जैसा कि फ्राउवाल्नर ने स्वय प्रदर्शित किया है, परमार्थ के ग्रन्थ मे जहाँ वसुबन्धु की जन्मभूमि और

---

[२७] साभिप्रायत्वं यथा—

'सो यं सम्प्रति चन्द्रगुप्ततनयश्चन्द्रप्रकाशो युवा।
जातो भूपतिराश्रयः कृतधियां दिष्ट्या कृतार्थश्रमः॥'

आश्रयः कृतधियामित्यस्य च वसुबन्धु साचिव्योपक्षेपपरत्वात्साभिप्रायत्वम्॥

—काव्यालंकारसूत्रवृत्ति ३।२।२।

[२८] हरप्रसाद शास्त्री, रंगा स्वामी सरस्वती, नरसिंह चर्यर तथा क्षे० च० चट्टोपाध्याय का कहना है कि वामन ने वसुबन्धु का नहीं, 'सुबन्धु' का उल्लेख किया है। लेकिन पाठक, होर्नले, स्मिथ तथा एलन ने 'वसुबन्धु' पाठ को ही मान्यता दी है। फ्राउवाल्नर ने भी इस पाठ को सत्य के निकटतर माना है।

माता-पिता आदि का उल्लेख है वहाँ वृद्ध वसुबन्धु विषयक तथ्य मिलते हैं और जहाँ उसके तत्कालीन सम्राट् से सम्बन्ध का वर्णन है वहाँ कनीयस् वसुबन्धु-विषयक तथ्य। इसलिए उसमें एक ओर कनीयस् वसुबन्धु के माता-पिता के नाम अनुल्लिखित रह जाते हैं तो दूसरी ओर वृद्ध वसुबन्धु के सर्वथा सम्भव सरक्षक का नाम आने से रह गया है। इस दृष्टि से विचार करने पर फ्राउवाल्नर का यह कथन कि किसी साक्ष्य से वृद्ध वसुबन्धु और गुप्त-सम्राट् का सम्बन्ध सकेतित नही है, कम से कम परमार्थ के सम्बन्ध मे निस्सार हो जाता है।

युवान-च्वांङ् का साक्ष्य—युवान-च्वाङ् के अनुसार वसुबन्धु के समय श्रावस्ती-नरेश विक्रमादित्य-का शासन था जिसने हाल ही मे 'भारतो' पर विजय प्राप्त करके ५ लाख सुवर्ण-मुद्राएं दान दी थी। उसने वसुबन्धु की अनुपस्थिति मे अन्यायपूर्वक उसके गुरु मनोरथ को एक शास्त्रार्थ मे पराजित घोषित करवा दिया था। इस घटना का विवरण वसुबन्धु के पास भेजकर मनोरथ मृत्यु को प्राप्त हुए। इसके कुछ समय उपरान्त ही विक्रमादित्य ने अपना साम्राज्य खो दिया और एक ऐसा व्यक्ति राजा बना जो विद्वानो का आदर करता था। वसुबन्धु ने उससे आग्रह करके मनोरथ के विरोधियो को शास्त्रार्थ के लिए बुलवाया जिसमे वे सब पराजित हो गए। युवान-च्वाङ् द्वारा विक्रमादित्य-विषयक प्रदत्त ये तथ्य परमार्थ द्वारा प्रदत्त तथ्यो से भिन्न है और स्कन्दगुप्त से अधिक समुद्रगुप्त पर लागू होते हैं। उदाहरणार्थ, उसकी 'भारतो' पर विजय का उल्लेख अनायास समुद्रगुप्त का स्मरण दिलानेवाला है। इसी प्रकार, उसके द्वारा सुवर्ण-मुद्राएँ दान दिये जाने का उल्लेख गुप्त-अभिलेखो के इस कथन से मिलता है कि समुद्रगुप्त ने करोडो सुवर्ण-मुद्राएँ दान दी थी।[२९] स्कन्दगुप्त को तो इतनी विपत्तियो का सामना करना पडा था कि उसके शासनकाल मे गुप्त-मुद्राओ का स्तर ही गिर गया।[३०] युआन-च्वाङ् का यह कथन भी कि 'इसके कुछ समय बाद ही विक्रमादित्य ने अपना साम्राज्य खो दिया और एक ऐसा व्यक्ति राजा बना जो विद्वानो का आदर करता था, समुद्रगुप्त की मृत्यूपरान्त रामगुप्त के शासनकाल मे गुप्तो की शको द्वारा पराजय और बाद चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के राज्यारोहण से साम्य रखता है, स्कन्द-गुप्त की मृत्यूपरान्त बालादित्य के राज्यारोहण के साथ नही।[३१] यहाँ यह स्मरणीय है कि युवान-च्वाङ् ने बालादित्य का, जिसका उसने अनेकत्र उल्लेख किया है, वसुबन्धु के सबध मे कही नाम तक नही लिया है।

इस पृष्ठभूमि मे विचार करने पर यह तथ्य कि, समुद्रगुप्त ने 'श्रीविक्रमः' विरुद भी धारण किया था, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो जाता है और यह बात निर्विवाद लगने लगती है कि (शेषांश पृष्ठ १०० पर)

[२९] समुद्रगुप्त के लिए 'न्यायागतानेक-गो-हिरण्य-कोटि-प्रदस्य'—पद का प्रयोग उसके अपने गया और नालन्दा अभिलेखों में तथा उसके उत्तराधिकारियों के अनेक अभिलेखों में हुआ है। उसके एरण अभिलेख में भी कहा गया है कि उसने सुवर्ण-दान में पृथु, राघव और अन्य नरेशों को मात कर दिया था।

[३०] प्रारम्भिक गुप्त-सम्राटों की मुद्राओं में शुद्ध सुवर्ण सामान्यतः ९० प्रतिशत मिलता है और स्कन्दगुप्त की मुद्राओं में ७८ प्रतिशत; देखिये—अल्तेकर, 'क्वायनेज' पृष्ठ २४१।

[३१] फ्राउवाल्नर ने युवान-च्वांङ् के इस कथन को स्कन्दगुप्त पर लागू करने के लिए मान लिया है कि उसे अपने शासन-काल के अन्त में हूणों के विरुद्ध युद्ध करना पड़ा था (फ्राउवाल्नर, वही, पृष्ठ ३१, पा० टि० १) परन्तु यह पूर्णतः निराधार कल्पना है। देखिये—बी० पी०, सिनहा, डिक्लाइन ऑव दि किंग्डम ऑव मगध, पृष्ठ ५९।

मध्ययुगीन भारतीय समाज

डॉ० वासुदेव उपाध्याय

भारत के प्राचीन समाज का इतिहास वैदिक युग से ही उपलब्ध होता है, परन्तु स्मृति-ग्रन्थो मे सामाजिक सस्थाओं का अधिक वर्णन किया गया है। मध्ययुग का भारतीय समाज अपनी एक विशेषता रखता है जिसकी जानकारी हमे अभिलेखो से पर्याप्त रूप मे होती है। स्मृतियो में वर्णित समाज की रूपरेखा का चित्रण प्रशस्तिकारो ने पूर्ण रीति से किया है। यद्यपि वह प्रासगिक है, किन्तु सामाजिक इतिहास की उपलब्धि अभिलेखो के आधार पर (साहित्य के अतिरिक्त) समुचित रूप से हो जाती है। मध्ययुगीन भारतीय समाज का जो वर्णन प्रशस्तियो अथवा ताम्रपत्रो मे निहित है, वही किसी न किसी रूप मे आज भी वर्तमान है। भारत के उन्नयन तथा गौरवमय जीवन का बहुत कुछ श्रेय वर्णाश्रम नामक सस्था को है। भारतीय अभिलेखो का उद्देश्य वर्णाश्रम का विवरण उपस्थित करना नही था, तथापि शासन अथवा दान के प्रसग मे वर्ण के नाम उल्लिखित मिलते हैं। मौर्य-युग से गुप्त-काल तक किसी वर्ण का नाम लेखो मे विशेष प्रसग को लेकर आया है। अशोक के तीसरे, चौथे तथा आठवे प्रधान शिलालेखो मे यह विचार व्यक्त किया गया है कि ब्राह्मण का दर्शन तथा उन्हे दान देना श्रेयस्कर है (वाम्हण-समणान साधुदान; वाम्हण-समणान दसणे च दाने)। इसी प्रकार द्वितीय शताब्दी के क्षत्रप अभिलेख मे 'ब्राह्मणेभ्य. षोडश ग्रामदानं' (नासिक गुहालेख) वाक्य स्पष्टतया ब्राह्मण को दानग्राही के रूप मे वर्णित करता है। महाक्षत्रप रुद्रदामन के जूनागढ शिलालेख मे यौधेय गण को क्षत्रियो मे शौर्य से उपेत माना गया है। इसी प्रकार गुहाकालीन इन्दौर के ताम्रपत्र मे ब्राह्मण को दान देते समय क्षत्रियवशी दाता अचलवर्म एव भ्रुकुण्ठ सिह के नाम उल्लिखित हैं। इस कथन का तात्पर्य यह है कि वर्णो की चर्चा लेखो मे यदा कदा किसी प्रसग मे की जाती थी।

गुप्तयुग के पश्चात् बौद्धो के कारण वर्णाश्रम मे शिथिलता आने लगी। इसी संस्था के आधार पर हिन्दू-समाज अवलम्बित था। सम्भवत समाज की स्थिति बनाए रखने के निमित्त पूर्व मध्ययुग से शासको का यह कर्त्तव्य निश्चित किया गया कि वे वर्णाश्रम-सस्था को नष्ट होने से बचावे। साहित्य के अध्ययन से ऐसे विचार का निर्देश नही मिलता, किन्तु मध्ययुग के अभिलेखों का परीक्षण शासको के कार्य तथा कर्त्तव्य पर प्रकाश डालता है। वैदिक धर्मानुयायी अथवा बौद्ध धर्मावलम्बी नरेश इस सस्था को सबल बनाने एव समाज को समुचित रूप से स्थिर रखने के निमित्त प्रयत्नशील थे। लेखो के अध्ययन से यह स्पष्ट प्रकट होता है कि शासकगण वर्णाश्रमधर्म की रक्षा करना अपना कर्त्तव्य समझते थे।

वर्णाश्रमधर्म

सातवी शती से लेकर बारहवी शती तक के अभिलेखो, मुहरो अथवा दानपत्रो में ऐसी चर्चा मिलती है जिसका स्पष्टीकरण निम्नलिखित कुछ उदाहरणो से हो जाता है। परिव्राजक नरेश के खोह (मध्यभारत का भूभाग) के ताम्रपत्र में 'वर्णाश्रमधर्मस्थापननिरतेन' का उल्लेख है (कारपस इन्स्क्रप्शन

इण्डिकेरम्, ३, पृ० ११४)। हर्षवर्धन के पिता प्रभाकरवर्धन के समक्ष भी यही समस्या थी जिसका आभास बासखेरा के ताम्रपत्र मे उल्लिखित वाक्य से 'वर्णाश्रमव्यवस्थापनप्रवृत' मिल जाता है (एपिग्राफिया इण्डिका ४, पृ० २१०)। मौखरिनरेश अवन्तिवर्मन के लिए इन्ही शब्दो का प्रयोग मिलता है (ए० इ० २७, पृ० ६४)। सातवी शती के कामरूप (असम प्रदेश) के नरेश भास्करवर्मन के लेख से प्रकट होता है कि राजा वर्णाश्रम सस्था को सुव्यवस्थित रखने मे दत्तचित होकर लगा रहा ('आवकीर्ण वर्णाश्रमधर्मप्रविभागाय निर्म्मितो'—निधानपुर ताम्रपत्र, ए० इ० १२, पृ० १७५)। उसी प्रदेश के राजा इन्द्रपाल ने इस सस्था की मर्यादा स्थिर रखने का प्रयत्न किया था ('सम्यक् विभक्त चतुराश्रमवर्णधर्मा'—गोहाटी ताम्रपत्र, ज० ए० सो० व १८९७, पृ० १२५)। समाज को विघटन से बचाने के प्रश्न को मध्ययुगीन शासक पूर्ण रीति से समझते थे और उसके दुष्परिणाम का भी अनुमान लगा लिया था। यही कारण था कि बौद्धधर्मानुयायी पालवशी नरेश वर्णाश्रम को सुव्यवस्थित रखने मे प्रयत्नशील थे। वे आर्यधर्म के प्रकाश से प्रकाशित हो उठे थे। 'मर्यादा परिपालनैकनिरत' वाक्य का प्रयोग पाल-नरेशो के लिए किया गया था (बानगढ का लेख—ए० इ० १४, पृ० ३२६)। धर्मपाल ने भी इसके महत्त्व को समझा तथा समस्त वर्णो को अपनी सीमा मे रहने के लिए बाधित किया ('वर्णानाम् प्रतिष्ठापयता स्वधर्मे'—इ० ए० २१, पृ० २५५)। इसी वश के राजा विग्रहपाल तृतीय को चारो वर्णो का रक्षक कहा गया है ('चातुर्वर्ण्यसमाश्रय'—वही पृ० ९९)। सम्भवत. भारत के पूर्वी भाग मे तत्रयान के प्रचुर प्रसार से शासकगण सतर्क थे और उन्हे 'वर्णाश्रमपरमोपासक' के विशेषण से विभूषित किया गया था। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्रजा को वर्णाश्रमधर्म पालन करने के निमित्त विवश किया जाता था। मध्ययुग मे उत्तरी भारत पर बाहरी आक्रमण हो रहे थे, अतएव तत्कालीन स्मृतिकारो ने भी समाज की एकरूपता को स्थिर रखने के लिए नियम तैयार किये। उनके उल्लघन तथा विघटनकारी प्रवृत्तियों को रोकने का राजाओ ने प्रयत्न किया जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

मध्ययुग के अभिलेखों का अध्ययन एक बात को स्पष्ट कर देता है कि ब्राह्मणसमूह की विभिन्न उपजातियाँ स्थानविशेष से सम्बन्धित होने के कारण क्षेत्रीय नाम से प्रसिद्ध हुई। पञ्चगौड ब्राह्मणो के विभिन्न नामकरण उसी आधार पर किये गये और यही कारण है कि कान्यकुब्ज, सरस्वती का भूभाग, उत्कल, मिथिला तथा गौड़ (उत्तरी बगाल) प्रदेशो के निवासी होने के कारण ब्राह्मण पाँच नाम से प्रसिद्ध हुए। इनके स्थानान्तरित होने पर भी प्रशस्तिकारो ने उन्हे उसी नाम से उल्लिखित किया है। गहड़वाल नरेश गोविन्दचन्द्र देव के पालिलेख मे सरयूवारा अथवा सरयूपारा (उत्तर प्रदेश का उत्तर-पूर्वी भाग) नामक भूभाग का वर्णन आता है ('गोविन्दचन्द्र देवो विजयी सरूवारा'—ए० इ० ५, पृ० ११४) जिस भाग के ब्राह्मण सरयूपारी नाम से प्रसिद्ध हुए। यद्यपि सरयूपारी ब्राह्मण पञ्चगौड के अन्तर्गत माने जाते हैं, किन्तु इनका नामकरण पालि-अभिलेख से स्पष्ट विदित हो जाता है और इसकी सार्थकता प्रकट होती है।

मध्ययुगीन अभिलेख मे मग नामक ब्राह्मणवर्ग का नामोल्लेख मिलता है। गया (बिहार प्रदेश) जिले के गोविन्दपुर प्रशस्ति मे मग (शाकद्वीपी ब्राह्मण) का विस्तृत विवरण उपलब्ध होता है जिनके सूर्य के पुजारी होने की चर्चा भविष्यपुराण मे मिलती है। लेकिन गोविन्दपुर का लेख मग ब्राह्मण का पूर्व सम्बन्ध शकद्वीप से बतलाता है जिससे शाकद्वीपी नाम की सार्थकता प्रकाशित होती है—'शाकद्वीपस्य दुग्धाम्बुनिधि बलयितो यत्र विप्रे मगाख्या।' (ए० इं०, भाग २, पृ० ३३३)।

मध्ययुग के लेखो मे ब्राह्मणो के वर्गीकरण का प्रश्न अत्यन्त सरलता से सुलझाया गया है। बारहवी शती के लेख मे पाँच सौ दान लेनेवाले ब्राह्मणो के नाम मिलते हैं जिनका गोत्र भी उल्लिखित है। ('नाना गोत्रेभ्य पचशतसख्येभ्य. ब्राह्मणेभ्य.'—चन्द्रावती दानपत्र, विक्रम सवत् ११५०, ए० इ० १४, पृ० २०२-९)। चन्देलनरेश परमर्दि के सेमरा-अभिलेख मे चालीस गोत्र के नाम आते हैं जिनमे आजकल सभी प्रचलित नही हैं। काश्यप तथा भारद्वाज गोत्र अधिक लोकप्रिय थे ऐसा प्रकट होता है (ए० इ० ४, पृ० ११५-७)। गोरखपुर (उत्तर-प्रदेश) जिले के कलहा, ताम्रपत्र से भी ऐसी ही सूची उपलब्ध होती है (ए० इ० ७, पृष्ठ ८७)। ब्राह्मणो का दूसरा वर्गीकरण वेद की शाखा से सम्बन्धित है। ब्राह्मण जिस वैदिक शाखा का अध्ययन करता था उसीसे वह प्रसिद्ध था। मालवा के लेख, मध्यदेश के अभिलेख तथा कन्नौज-शासको के दानपत्रों मे माध्यन्दिन, छान्दोग्य, वाजसनेय, आश्वलायन तथा कौथुम आदि शाखाध्यायी ब्राह्मणों के नाम मिलते हैं। पाल तथा सेनवशी प्रशस्तियों मे उल्लिखित वैदिक शाखाओ के आधार पर ब्राह्मण पृथक्-पृथक् वर्णित हैं। अतएव मध्ययुगीन दानपत्रो से ब्राह्मणो की शिक्षा, कार्य तथा उपजातियो के सम्बन्ध मे पर्याप्त ज्ञान हो जाता है।

इस युग की प्रधान घटनाओ मे ब्राह्मणो के देशान्तर-गमन को प्रमुख स्थान दिया जा सकता है। मध्यदेश यानी कान्यकुब्ज के भाग से शासकों के निमत्रण पर अथवा आर्थिक सकट के कारण ब्राह्मण बगाल, मालवा तथा मध्यभारत मे निवास करने लगे। 'मध्यदेशविनिर्गताय' वाक्य से इस घटना को व्यक्त किया गया है (ए० इ० भाग ४, १०, ११, १२ १४, १५ आदि)। यही कारण है कि कान्यकुब्ज ब्राह्मण उत्तरी भारत मे फैले और वर्तमान समय तक उनके वंशज विभिन्न भागो मे निवास कर रहे है।

सातवी शती के पश्चात् प्रशस्तियों मे राजपुत्रों का वर्णन आता है जो राजनैतिक परिस्थिति के कारण समाज मे अग्रणी हो गए थे। ये प्राचीन क्षत्रियो के वशज थे तथा अधिक सख्या मे एव लम्बी अवधि तक शासक बने रहने के कारण मालवा के समीप का भाग राजपूताना के नाम से विख्यात हुआ। इनकी वीरता और कौशल का विस्तृत विवरण अभिलेखों मे पाया जाता है। आजकल की तरह 'राजपट्ट' या 'श्रीपट्ट' (एक प्रकार का तमगा) नामक प्रशसा-पत्र दिए जाते थे (राजपट्ट उपार्जिता श्रीमद् कमलपालेन बुद्धचा—कमौली दानपत्र, १२वी शती, ए० इ० ४, पृष्ठ १३१) तथा युद्ध मे मृत्यु हो जाने पर उस वीर सैनिक के वशज को वृत्ति (मृत्युक-वृत्ति) भी दी जाती थी (मृत्युक-वृत्तौ प्रदत्त इति—ए० इ० भा० १६, पृष्ठ २७५)।

मध्ययुग की आर्थिक स्थिति

दान के प्रसग में प्रशस्तिकारो ने आर्थिक विवरण भी उपस्थित किया है। मदिर-निर्माण तथा प्रतिमा-पूजन के निमित्त धन की आवश्यकता को ध्यान मे रखकर विभिन्न वणिक् वर्गों का उल्लेख किया गया है। हाट या मेले के अवसर पर एकत्रित कर (टैक्स) पूजानिमित्त दान मे दे दिया जाता था। उसी प्रसग मे अनेक श्रेणियो (वणिको की सामूहिक संस्था) के कर्तव्य का वर्णन किया गया है (ए० इ० ११, पृष्ठ ६०)। वैश्य-समाज के स्थानीय व्यवसाय, सार्थवाह की क्रिया, सामुद्रिक व्यापार तथा विभिन्न कारोबार का विवरण उस प्रसग की आवश्यक चर्चा थी। यही कारण है कि वणिक वर्ग के कार्यों, कर-दान तथा धार्मिक कृत्य का विवेचन हमें लेखो से मिल जाता है (ए० इ० १, ३, ४, २१ आदि)।

मध्ययुग के समाज मे कायस्थ नामक एक जातिसमूह की चर्चा मिलती है जो प्रशस्तियो के लेखक के रूप मे शासन से सम्बन्धित थे । क्योकि प्रशस्तियो मे 'कायस्थ वश', 'कायस्थ जातीय' अथवा 'धर्मलेखीं' शब्दो का प्रयोग मिलता है, अतएव जाति के रूप मे कायस्थ की स्थिति प्रमाणित हो जाती है (ए० इ० १, ४, ११, १५, १६ आदि) । उनके सम्बन्ध मे सुन्दर अक्षर तथा ललित ढग से दानपत्र लिखने की चर्चा की गई है—लिखिता रुचिरा अक्षरा (ए० इ० १, पृष्ठ १२९) एव स्फुटललितनिवेशैरक्षरैस्ताम्रपट्टम् (ए० इ० भा० १६, पृष्ठ १४) । चन्देल तथा चेदि वश के लेखो मे गौड़-कायस्थ का उल्लेख है जो सुन्दर लिखने के लिए विख्यात थे । वे गौड देश (उत्तरी-बगाल) से निमत्रण पाकर आते रहे । आज भी उन्ही के वशज गौड अथवा करण-कायस्थ हिन्दू-समाज मे प्रतिष्ठित है । इसके अतिरिक्त पचम वर्ण अन्त्यज (चाण्डाल) तथा कुछ आदिम निवासी धीरू, भिल्ल, सबर तथा पुलिन्द के नाम अभिलेखो मे यत्र-तत्र उल्लिखित हैं । तात्पर्य यह है कि मध्ययुग की जातियों का स्वरूप, उपजातियों का विभेद तथा कार्यशैली आज भी हमे स्पष्टतया विदित हो जाती है ।

मध्ययुगीन लेख प्रधानतया दान-पत्र के रूप मे अकित किये गये थे, अत उसी प्रसग मे समाज के विभिन्न पहलू पर आकस्मिक चर्चा मिलती है । स्मृतियो मे काल, देश एव पात्र का विवेचन दान के लिए परमावश्यक समझा गया है, इस कारण दानपत्र मे पात्र-सम्बन्धी विचार अधिकतर मिलता है । दानग्राही ब्राह्मण की योग्यता, शिक्षा-दीक्षा आदि पर विचार करते समय वैदिक तथा वेदाङ्ग शिक्षा का विवेचन किया गया है । अतएव प्रासगिक रूप से चारो आश्रमो के निर्दिष्ट कार्यों का भी वर्णन है । ब्रह्मचारी तथा यति-समाज भिक्षा माँगकर जीवित रहते थे, गृहस्थ दान देकर तथा राजा युवराज को राज्य समर्पित कर निजी कर्तव्यो का पालन करते रहे । अन्तिम दो आश्रमों का अत्यन्त सुन्दर वर्णन अभिलेखो मे मिलता है । स्वर्ण-प्राप्ति के लिए राजा राज्य त्यागकर पुण्यक्षेत्र मे निवास करता था तथा अनशन या नदी मे प्रवेश कर भौतिक शरीर का अन्त कर देता (अन्ते चानशन कृत्वा स्वर्गलोकं समागत —ए० इ० १३, पृष्ठ २९२, अम्भसीव करीषाग्नौ मग्न स पुष्पपूजित —का० ई० इ० ३, पृष्ट ४२) । आश्चर्य की बात है कि सन्यासी (कौपिनधारी) मध्ययुग मे मदिरो के प्रबन्धक भी हो गए थे । यही कारण है कि वर्तमान समय मे भी मठाधीश उसी वेशभूषा मे रहकर सन्यासी का जीवन व्यतीत करते दृष्टिगोचर होते है ।

संस्कार

जहाँ तक सामाजिक सस्कारो का प्रश्न है, दानपत्र मौन है । लेकिन गहडवाल लेखों मे जातकर्म तथा नामकरण सस्कार सम्पन्न करते समय जयचन्द्र ने दान दिया था (ए० इ० ४, पृ० १२०-६), ऐसा उल्लेख आया है । इसी प्रकार कलचुरि राजा कर्णदेव द्वारा पिता का वार्षिक श्राद्ध (साम्वत्सरिक पार्वणि श्राद्धे) करने का वर्णन लेखो मे मिलता है । पुराने समय से ही राजघरानों में बहु-पत्नी व्रत की प्रणाली प्रचलित थी । शासक एकसाथ कई स्त्रियो से विवाह कर लेता था । मध्ययुग मे यह परिपाटी अप्रिय न हो सकी और यहाँ तक कि चेदिनरेश गागेयदेव ने डेढ़ सौ स्त्रियों से विवाह किया था (सार्धंशतेन गृहिणी—ए० इ० १२, पृष्ठ २०६) । दो-चार पत्नियों की कथा सामान्य थी ।

स्त्रियों की दशा

प्रशस्तिकारों ने राजमहिषी अथवा सामान्य स्त्रियो के चाल, व्यवहार, रहन-सहन आदि का भी

विवरण यदा-कदा उपस्थित किया है। प्रतिहारनरेश महेन्द्रपाल की पहेवा-प्रशस्ति मे व्यङ्ग रूप से कहा गया है कि राजा के सामतो द्वारा शत्रुओं की पत्नियो के केश सीधे कर दिए गए हैं। अर्थात् विधवा होने से केश-ग्रथि तथा शृगार का अभाव है (ए० इ० १, पृष्ठ २४६)। इसी प्रकार चन्देल-लेख मे वर्णन है कि राजा ने शत्रु-वाराङ्गनाओ को सिन्दूररहित कर दिया था तथा अजन के प्रयोग से उन्हे विमुख कर दिया (वही, पृष्ठ १२६)।

भोजन और पेय

इस प्रसग मे यह कहना अप्रासगिक न होगा कि राजदरबार मे किसी घटना का उल्लेख करते समय भोजन तथा पेय का सन्दर्भ मिलता है। राजघराने मे मधुपान साधारण सी बात थी। 'सम्यक् बहुघृतदधिभि व्यञ्जनै युक्तमन्नम्' का वाक्य देवपाल के नालन्दा ताम्रपत्र मे प्रयुक्त है (ए० इ० २०, पृष्ठ ४४)। देवता को नैवेद्य अर्पित करते समय गोधूम, घृत, मूँग आदि वस्तुओ का प्रयोग करते थे। साधारण जनता के लिए रसवती (ताडी) पेय समझा जाता था (ए० इ० २१, पृष्ठ ६६ भा० ६८)। मद्य तैयार करने के लिए कल्लपाल नामक व्यक्ति का वर्णन है। इस प्रकार अभिलेखो मे सामाजिक बातो की चर्चा की जाती थी।

तंत्र-मंत्र का प्रभाव

समाज की उन्नति मे अन्धविश्वास और कल्पित कथाएँ बाधक समझी जाती है, परन्तु स्यात् ऐसा कोई युग न था जिसमे जनता इनसे मुक्त हो। मध्ययुग मे मन्त्र-तन्त्र का प्रभाव बढ रहा था। बौद्धो के मन्त्रयान ने पूर्वी-भारत मे घर बना लिया था। स्वर्ग कामना से ही शासक दान-पुण्य करते थे, ताकि उसके द्वारा ससार का बन्धन नष्ट हो जाय (इ० हि० क्वा० भा० ८, पृष्ठ ३१२ : ए० इ० ३, ११, पृष्ठ २६६, भा० १८, पृष्ठ ६६)। स्वर्ग की कामना तथा नरक के भय से राजाओं द्वारा दान की प्रतिष्ठा मानी जाती थी (धर्मश्लोका, ए० इ० १२, पृष्ठ २४)। मध्ययुगीन दान के कालविषयक वार्त्ता मे ग्रहण को प्रमुख स्थान प्राप्त था जिससे राहु द्वारा सूर्य या चन्द्रमा पर आक्रमण की कल्पित कथा का प्रसार प्रकट होता है (राहुग्रस्ते दिवाकरौ—ए० इ० ४, ११)। यह विश्वास धार्मिक जनता मे आज भी उसी तरह प्रचलित है। भूतप्रेत तथा पितृ-तर्पण मे विश्वास आज की तरह मध्ययुग मे भी था जिसका वर्णन लेखो मे आता है (ए० इ० ४, कमौली दानपत्र)।

ऐसे वातावरण तथा राजनैतिक विषम परिस्थिति मे रहकर भी शासक गण आदर्श मार्ग का पालन करते थे। यद्यपि पुरातत्व विषयक अन्य सामग्रियो के आधार पर लोगों में कामुकता की भावना का प्राबल्य दिखलाई पडती है, परन्तु विभिन्न लेखो मे 'निजवनितापरितुष्टो' या 'परदार-निवृत्तचित्तवृत्ते' वाक्यों का प्रयोग राजाओ के लिए किया गया है (ए० इ० १३, पृष्ठ २६२)। पाल-प्रशस्ति मे धर्मपाल तथा वाकपाल का जीवन तुलना मे राम-लक्ष्मण के सदृश वर्णित है (ए० इ० १५, पृष्ठ २६३)। राजा-प्रजा सभी धार्मिक विचार मे मग्न रहकर दान से पुण्यलाभ एव स्वर्ग-प्राप्ति की कामना करते रहे। वैदिक यज्ञ के स्थान पर पौराणिक देवताओं की पूजा ने जनता के हृदय मे स्थान बना लिया था। सभी बातो पर विचार कर यह कहना सर्वथा उचित होगा कि आज का हिन्दू-समाज मध्ययुगीन समाज का प्रतिबिम्ब है।

महायान बौद्धधर्म की उत्पत्ति और विकास

डॉ० लालमणि जोशी

हीनयान और महायान

तथागतश्रेष्ठ, मुनीन्द्र, गौतम बुद्ध की देशना बौद्धधर्म के ऐतिहासिक विभागद्वय—'हीनयान' और 'महायान'—अति प्राचीन काल से भारत एव भारतेतर एशियाई बौद्ध-साहित्य मे सुविख्यात है। 'हीनयान' को कतिपय आधुनिक लेखको ने 'प्राचीन बौद्धधर्म', 'पालि बौद्ध धर्म' एवं 'दक्षिणी बौद्ध-धर्म' तथा 'महायान' को 'नवीन विकसित बौद्धधर्म', 'सस्कृत बौद्धधर्म' तथा 'उत्तरी बौद्धधर्म' आदि नामो से सम्बोधित किया है। इस प्रकार के काल-क्रम, भाषा-विषयक अथवा भौगोलिक नामकरणो के पर्याप्त आधार नही है। इसके विपरीत अनेक ऐतिहासिक युक्तियाँ उपस्थित की जा सकती है। उदाहरणार्थ, अनेक बौद्ध-सम्प्रदायो, यथा सर्वास्तिवाद का साहित्य सस्कृत मे है, परन्तु वे महायानी न होकर 'हीनयान' के अन्तर्गत आते है। लका (जो एशिया के सुदूर दक्षिण मे है) मे भी महायान बौद्धधर्म का प्रभाव और प्रचलन एक ऐतिहासिक तथ्य है। 'महायान' की अनेक मूलभूत बाते 'हीनयान' अथवा 'पालि-बौद्धधर्म' (तथाकथित 'प्राचीन बौद्धधर्म') मे विद्यमान है जिन्हे 'नवीन' कहना निर्भ्रान्त नही है।

बौद्धधर्म के विकास मे दो 'साम्प्रदायिक' विभागों को इगित करनेवाले 'हीनयान' और 'महायान' शब्दो की उत्पत्ति कब और कैसे हुई, यह गवेषणीय विषय है। बौद्धधर्म के प्राचीनतम वाङमय, पालि त्रिपिटक मे ये शब्द अविदित है। आध्यात्मिक प्रगति का साधन होने के कारण धर्म की कल्पना 'यान' के रूप मे की गयी है। 'यान' से अर्थ 'पथ' अथवा 'मार्ग' से है। उपनिषदो मे 'देवयान', 'देवपथ', 'ब्रह्मपथ' आदि शब्दो का प्रयोग हुआ है।[1] सुत्तनिपात मे भी 'देवयान' शब्द का प्रयोग 'पथ' अथवा 'मार्ग' के लिए हुआ है।[2] चीनी सयुक्तागम मे अष्टाङ्गमार्ग को 'सद्धर्म-विनययान' तथा 'देवयान' की सज्ञाएँ दी गयी है।[3] स्पष्ट है कि 'हीनयान' और 'महायान' शब्दो का अर्थ क्रमश 'लघुतर मार्ग' और 'बृहत्तर मार्ग' से है।

'हीनयान' और 'महायान' शब्दो का प्रयोग सर्वप्रथम महायानसूत्रो मे हुआ है। इन शब्दो की शास्त्रीय और तुलनात्मक व्याख्या हमे अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता, सद्धर्मपुण्डरीकसूत्र, लङ्कावतारसूत्र आदि के अतिरिक्त आचार्य नागार्जुन, असङ्ग आदि के ग्रन्थों मे देखने को मिलती है। इनके अनुसार 'महायान' से तात्पर्य प्रशस्त, बृहत्, गम्भीर, उत्तम, उच्चतम और वास्तविक आध्यात्मिक मार्ग से है। 'हीनयान' का अर्थ तुच्छ, लघु, सकुचित, निम्नतर तथा प्रारम्भिक धार्मिक पथ से है। यदि

---

[1] छान्दो० उप० ४।१५।६।

[2] खुद्दक निकाय, भाग १, नालन्दा देवनागरी पालि ग्रन्थमाला में भिक्षु जगदीश काश्यप द्वारा संपादित, पृष्ठ २८६। प्रस्तुत लेख में त्रिपिटक का यही संस्करण काम में लाया गया है।

[3] श्री आर० किमुर का 'ए हिस्टॉरिकल स्टडी ऑफ दि टर्म्स हीनयान एण्ड महायान' शीर्षक का लेख, कलकत्ता विश्वविद्यालय द्वारा जर्नल ऑफ दि डिपार्टमेण्ट ऑफ लेटर्स, भाग १२, १९२५ में प्रकाशित, पृष्ठ १२१।

हीनयान दूध के समान है, तो महायान उस दूध का नवनीत है; पहला साधारण योग्यता के लोगो को अनुसरणीय है, परन्तु दूसरा विकसित बुद्धि और गम्भीर चिन्तनशक्ति युक्त व्यक्तियो के लिए है। इसमे सन्देह नही कि इस प्रकार का अर्थ रखनेवाले इन शब्दो के जन्मदाता महायानी थे, न कि हीनयानी।

श्रावकयान, प्रत्येकबुद्धयान तथा बोधिसत्त्वयान

हीनयान और महायान के अतिरिक्त प्रारम्भिक महायान साहित्य मे हम 'श्रावकयान', 'प्रत्येकबुद्धयान' और 'बोधिसत्त्वयान' का यत्र-तत्र उल्लेख पाते है। 'श्रावकयान' का अर्थ है श्रोताओ अथवा शिष्यो का मार्ग; 'प्रत्येकबुद्धयान' व्यक्तिगत या व्यक्तिवादी बुद्धो का पथ है—ऐसे बुद्धो का मार्ग जो स्वय अपने आप और अपने ही कल्याण के लिए बोधि प्राप्त करते है। 'बोधिसत्त्वयान' भावी बुद्धो का, बोधिसत्त्वो का मार्ग है; बुद्धत्व प्राप्ति की इच्छा से पारमिताओ का अभ्यास करने-वालो का मार्ग बोधिसत्त्वयान कहलाता है। श्रावकयान और प्रत्येकबुद्धयान दोनो ही हीनयान के अन्तर्गत हैं।[४] श्रावकयान को अर्हत्‌यान भी कहते हैं—इस मार्ग के पथिक अर्हत् पद के लिए चेष्टा करते है। श्रावकयान तथा प्रत्येकबुद्धयान का लक्ष्य बोधि अथवा निर्वाण प्राप्त करना है। श्रावकगण सद्धर्म की शिक्षा बुद्ध से अथवा बुद्ध के शिष्यो से प्राप्त करते है, वे सद्धर्म का प्रचार करके दूसरो को उसमें दीक्षित करते हैं। परन्तु प्रत्येक बुद्ध[५] ऐसा नही करते, वे न शिष्य होते है और न आचार्य, वे स्वय के प्रयत्नो से स्वय अपने लिए निर्वाण प्राप्त करते है। बोधिसत्त्वयान वस्तुत महायान है; इसे 'बुद्धयान', 'एकयान' तथा 'पारमितायान' आदि नामों से सबोधित किया जाता है। इस मार्ग के पथिक बोधिसत्त्वचर्या का अनुसरण करते है, उनका ध्येय प्राणियो के कल्याण के लिए असंख्य जन्मान्तरो तक पारमिताओं यथा शील, दान, क्षान्ति, वीर्य, ध्यान, प्रज्ञा आदि के अभ्यास द्वारा बुद्ध-भूमि प्राप्त करना है। बोधिसत्त्व कौन है? जिसने प्राणियो के सुख और हित के लिए बुद्ध होने की प्रतिज्ञा कर ली है और उस प्रतिज्ञा को पूरा करने के लिए जो सतत प्रयत्नशील है वह बोधिसत्त्व है। दूसरे शब्दो में, जैसा कि भाष्यकार ने लिखा है: 'तत्र बोधि. अभिप्रायोऽस्येति बोधिसत्त्व.'।[६] बोधि अथवा निर्वाण पर अभिप्राय निश्चित करनेवाले इन सत्त्वो को बोधिचित्तोत्पाद[७] करना पडता है और बोधिसत्त्वचर्या[८] अपनानी पड़ती है। प्रज्ञा और करुणा बोधिचित्त के दो आवश्यक अग है। प्रज्ञा द्वारा साधक ससार के नि-स्वभाव और प्राणियों के दु खो का ज्ञान प्राप्त करता है। प्रज्ञा 'शून्यता' का नामान्तर है[९], यह ज्ञान की पराकाष्ठा का द्योतक है; शून्यता वस्तुओ के वास्तविक स्वभाव का सम्यक् ज्ञान है, यह लोकोत्तर और अतीन्द्रिय ज्ञान है; यही परमार्थसत्य का बोधक है। करुणा से ओत-प्रोत हृदय होने के कारण साधुगण जीवो को ससाररूपी दु खसमुद्र से पार

[४] प्रोफेसर लुई द ला वाली पुसें का 'महायान' शीर्षक का लेख इन्साइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड एथिक्स वॉल्यूम ८ में।

[५] प्रत्येक बुद्धों पर देखिए—डॉ० जी० पी० मललसेकेर रचित 'डिक्शनरी ऑफ पालि प्रापर नेम्स', जिल्द २, पृष्ठ ६४-६५, २९४-२९५।

[६] बोधिचर्यावतारपञ्जिका, डॉ० प० ल० वैद्य द्वारा संपादित, पृष्ठ २००।

[७] वसुबन्धु कृत बोधिचित्तोत्पादसूत्रशास्त्र, विश्वभारती एनल्स, भाग २ में भदन्त शान्ति भिक्षु शास्त्री द्वारा सम्पादित व अनूदित।

[८] बोधिसत्त्वभूमि, प्रोफेसर उनरई वोगिहरा द्वारा संपादित।

[९] बोधिचर्यावतार, डॉ० प० ल० वैद्य द्वारा संपादित, ९ वॉ परिच्छेद।

निर्वाणनगरी तक ले जाने का निश्चय और प्रयत्न करते हैं।[१०] यही 'सवर' है, यही बोधिचित्त का उत्पादन है, यही महायान का उद्देश्य है।

सभी प्राणियो मे तथागताङ्कुर है, सभी जीव सम्यक् सम्बुद्ध हो सकते हैं। अतएव सभी प्राणियो को निर्वाण दिलाने मे समर्थ मार्ग—महायान अथवा बोधिसत्त्वयान—वस्तुत महान् और श्रेष्ठ यान है। यही एकमात्र यान है, दूसरा कोई यान नही है. 'एक हि यान द्वितीय न विद्यते'।'[११]

महायान बौद्धधर्म के अभ्युदय की शास्त्रीय परम्परा

महायान सूत्रो, शास्त्रो, परवर्ती बौद्ध तान्त्रिक ग्रन्थो एव चीनी तथा तिब्बती बौद्ध-साहित्यों मे महायान के उद्भव, प्राचीनता एव प्रामाणिकता के बारे मे जो परम्परा सुरक्षित है वह इस प्रकार है। भगवान् बुद्ध ने सारनाथ के निकट मृगदाव मे प्रथमधर्मचक्रप्रवर्तन द्वारा हीनयान की देशना की थी। इस प्रथम उपदेश मे शाक्यमुनि ने श्रावकोपयोगी धर्म का प्रचार किया था। परन्तु निर्वाण-प्राप्ति के १६वे वर्ष मे उन्होने राजगृह के निकट गृध्रकूट पर्वत-शिखर पर बोधिसत्त्वो की विशाल सभा मे महायान का उपदेश दिया था। अतएव महायान बौद्धधर्म भी उतना ही प्राचीन है जितना स्वयं बुद्ध। इसके सूत्र बुद्ध-प्रोक्त हैं। प्रत्येक महायान सूत्र 'एव मया श्रुतम्। एकस्मिन् समये भगवान राजगृहे विहरति स्म गृध्रकूटपर्वते · ' इस वाक्य से प्रारम्भ होता है, महायान का साहित्य उतना ही प्रामाणिक माना जाना चाहिये जितना कि पालि त्रिपिटक। आचार्य नागार्जुन के अनुसार बुद्ध ने दो प्रकार के उपदेश दिये थे—'व्यक्त' उपदेश और 'गुह्य' उपदेश। व्यक्त-उपदेश अर्हतों से सम्बन्धित, हीनयानविषयक थे; परन्तु गुह्य-उपदेश बोधिसत्त्वो से सम्बन्धित, महायानविषयक थे।[१२] सद्धर्मपुण्डरीकसूत्र, अमितार्थसूत्र तथा सेकोद्देशटीका प्रभृति ग्रन्थों मे बुद्ध द्वारा गृध्रकूट पर्वत मे द्वितीय धर्मचक्रप्रवर्तन की परम्परा का उल्लेख मिलता है।[१३] परम श्रद्धालु बौद्ध पडित और परिव्राजक युवान-च्वाङ भी इस शास्त्रीय परम्परा का उल्लेख करते हुए लिखते हैं कि 'तथागत ने सद्धर्म के विकसित स्वरूप की देशना गृध्रकूट शिखर पर की थी।'[१४] तिब्बती बौद्ध विद्वान् बु-दोन अपने 'छोय-जुङ्' मे इस किंवदन्ती का उल्लेख करते हैं।[१५] आचार्य मैत्रेयनाथ तथा असङ्ग की दृष्टि में हीनयान और महायान का अभ्युदय साथ-साथ हुआ था।[१६] ई-चिङ ने भी दोनो यानो को समान रूप से उत्तम, प्रामाणिक एव बुद्ध-वचनानुसार माना है।[१७]

---

[१०] भावनाक्रम (प्रथम), प्रोफेसर ज्युसिप तुची द्वारा माइनर बुद्धिस्ट टेक्स्टस, भाग २ में संपादित।

[११] सद्धर्मपुण्डरीकसूत्र, डॉ० प० ल० वैद्य द्वारा संपादित, पृष्ठ ३१।

[१२] श्री किमुर, पूर्वोल्लिखित ग्रन्थ, पृष्ठ ५७।

[१३] सद्धर्मपुण्डरीकसूत्र, डॉ० नलिनाक्ष दत्त द्वारा संपादित, पृष्ठ ४४-४५; सेकोद्देशटीका, डॉ० एम. ई. कारेली द्वारा संपादित, पृष्ठ ४।

[१४] बुद्धिस्ट रिकार्ड्स ऑफ दि वेस्टर्न वर्ल्ड, साम्युल बील द्वारा अनूदित, पृष्ठ ३७१-३७२ (कलकत्ता से प्रकाशित)।

[१५] हिस्ट्री ऑफ बुद्धिज्म, डॉ० ई० ऑबरमिलर द्वारा अनूदित, भाग २, पृष्ठ ४६–५२।

[१६] महायान सूत्रालङ्कार, डॉ० सिल्वाँ लेवी द्वारा संपादित, १।७।

[१७] ए रिकार्ड आफ दि बुद्धिस्ट रिलीजन एज प्रेक्टिस्ड इन इण्डिया एण्ड मलय आर्किपिलेगो, डॉ० जे० तकाकुसु द्वारा अनूदित, पृष्ठ १५।

यद्यपि उपर्युक्त 'शास्त्रीय परम्परा' महायानी दृष्टिकोण से पर्याप्त बलवती है, तथापि इसे ऐतिहासिक दृष्टि से पूर्णरूपेण सत्य मानना निर्भ्रान्त नही है। प्राचीनतम बौद्ध साहित्य, पालि त्रिपिटक में इस प्रकार की घटना का कोई आभास नही मिलता। बुद्ध के जीवन के इतिहास मे महायान के लिए आयोजित द्वितीय धर्मचक्रप्रवर्तन की ऐतिहासिक पुष्टि के लिए कोई निर्विवाद प्रमाण नही है। परवर्ती बौद्ध-साहित्य में महायान सूत्रो की प्रामाणिकता पर सन्देह की झलक मिलती है।[१८] ऐसे महायान सूत्र जो ई० सन् की पहली या दूसरी शताब्दी मे रचे गये है वे बुद्ध-प्रोक्त नही हो सकते। इसी प्रकार बौद्ध तन्त्र, यथा गुह्य समाजतन्त्र, हेवज्रतन्त्र आदि भी बुद्ध-प्रोक्त नही कहे जा सकते। यह सच है कि 'सूत्र' (तिब्बती भाषा में '(म) दो') तथा 'तन्त्र' (तिब्बतीभाषा मे 'ग्र्युद') दोनो ही श्रेणी के ग्रन्थ अपने को बुद्ध-प्रोक्त कहते है। इस प्रसग मे सुविख्यात महायानी कथन 'यत्किचिन्मैत्रेय सुभाषितं सर्वं तद्बुद्धभाषितम्'[१९] ध्यान देने योग्य है। असङ्ग द्वारा 'मैत्रेय' से 'रहस्यवादी' बौद्ध धर्म (गुह्य-धर्म) विषयक उपदेश प्राप्त करने की परम्परा चीनी और तिब्बती बौद्ध-साहित्य में सुविदित है।[२०] अपने सूत्रों और सिद्धान्तों को प्रामाणिक बनाने की चेष्टा मे महायानियो ने उपर्युक्त परम्परा की सृष्टि की होगी। शाक्यमुनि बुद्ध ने अपने आध्यात्मिक अनुभव को 'गुह्य' एव 'व्यक्त' अथवा 'महायान' और 'हीनयान' नामक दो श्रेणियों मे विभाजित करके दो भिन्न-भिन्न अवसरो पर उनका प्रकाशन किया था, यह बात महायान के पक्ष मे है और इस पर विश्वास करनेवाले श्री आर० किमुर के समान अन्य विद्वान् भी है।

आचार्य नागार्जुन और महायान की उत्पत्ति

भारत, नेपाल, तिब्बत तथा चीन मे विद्यमान कतिपय महायान ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि महायान बौद्धधर्म के अभ्युदय और प्रारम्भिक विकास में आचार्य नागार्जुन की कृतियो का बहुत अधिक प्रभाव पडा था। लङ्कावतारसूत्र मे घोषणा की गयी है कि तथागत के महापरिनिर्वाण के चार सौ वर्षों के पश्चात् आचार्य नागार्जुन द्वारा महायान का प्रकाशन होगा।[२१] आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प नामक वैपुल्य-सूत्र में भी यह महत्त्वपूर्ण उल्लेख पाया जाता है।[२२] कश्मीरी इतिहासकार कल्हण भी नागार्जुन द्वारा बोधिसत्त्वों की सुरक्षा और संवृद्धि का उल्लेख करते है।[२३] तिब्बती इतिहासकार गो-लोत्सावा जोङ्नुपल भी अपने 'देबथेर ङोन पो' में नागार्जुन को बुद्ध के परिनिर्वाण के चार सौ वर्षों बाद रखते है[२४]। महायान के विकास मे नागार्जुन के विशिष्ट और अद्वितीय प्रयत्नो का विशद उल्लेख सुम-पा-कनपो तथा तारानाथ के ग्रन्थों में भी देखा जा सकता है।[२५] अधिकाश आधुनिक लेखकों

---

[१८] उदाहरणार्थ, बोधिचर्यावतार, ६।४२–४४।

[१९] शिक्षासमुच्चय, डॉ० प० ल० वैद्य द्वारा संपादित, पृष्ठ १२।

[२०] टॉमस वाटर्स, ऑन युवान-च्वाङ्स ट्रेवेल्स इन इण्डिया, दिल्ली से १९६१ में प्रकाशित, भाग १, पृष्ठ ३५५-३५७; जी० एन० रोरिक, दि ब्लू एनल्स, भाग १, पृष्ठ २३३ तथा पादटिप्पणी।

[२१] लङ्कावतारसूत्र, डॉ० नान्जियों द्वारा संपादित, पृष्ठ २८६।

[२२] मञ्जुश्रीमूलकल्पसूत्र, पंडित टी० गणपति शास्त्री द्वारा सम्पादित, पृष्ठ ६१६।

[२३] राजतरंगिणी, डॉ० एम० ए० स्टाइन द्वारा संपादित, १.१६९-१७३।

[२४] दि ब्लू एनल्स, भाग १, पृष्ठ ३४।

[२५] मिस्टिक टेल्स ऑफ लामा तारानाथ, बी० एन० दत्त द्वारा अनूदित, पृष्ठ ९–१०; इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली १९५४, पृष्ठ ९३-९४।

ने नागार्जुन को दूसरी शताब्दी ई० मे रखा है और महायान के अभ्युदय से उनका अनन्य सम्बन्ध माना है। तिब्बती तथा चीनी परम्पराओ मे आचार्य नागार्जुन के विषय मे अत्यधिक गड़बड सूचनाये पायी जाती है। तिब्बती ग्रन्थो मे, महायानी, माध्यमिक विचारक, सातवाहनयुगीन नागार्जुन और परवर्तीकाल के तान्त्रिक सिद्ध, सरह के शिष्य, ८४ सिद्धो मे १६वे, रसायनशास्त्र के कुशल पडित नागार्जुन के बीच कोई अन्तर व भिन्नता न समझने की भूल हुई है। इस भ्रामक सूचना को और भी शक्तिशाली बनाने की चेष्टा मे तिब्बती व चीनी लेखको ने नागार्जुन को छ या सात सौ वर्षो की दीर्घायु भी प्रदान की है। इसमे सन्देह नही कि नागार्जुन नाम के एक से अधिक व्यक्ति प्राचीन भारत मे हुए है।

महायान के मूल श्रोत

शाक्यमुनि बुद्ध की शिक्षाओं मे अनेक बाते महायान के बीजरूप मे सुरक्षित प्रतीत होती है। महायान तथाकथित हीनयान के गर्भ से उदित होता है और महायान सूत्रो व शास्त्रो मे प्रतिपादित सिद्धान्त-निकायो मे सुरक्षित सुत्तो की उपज है। पालि त्रिपिटक मे यत्र-तत्र उल्लिखित बुद्ध का स्वरूप, उनका विलक्षण व अनिर्वचनीय व्यक्तित्व, उनकी अपरिमित शक्ति, लोकोत्तरता, महाकरुणा, 'बुद्ध' तथा 'धर्म' का तादात्म्य प्रभृति कितनी ही बाते 'महायानी बुद्ध' की यादे दिलाती है। एक स्थान पर भगवान् कहते है—'यो म पस्सति सो धम्म पस्सति'।[२६] दूसरे स्थल पर तथागत कहते है—'मै देव नही हूँ, गन्धर्व नही हूँ, यक्ष नही हूँ, मनुष्य भी नही हूँ। मै बुद्ध हूँ'।[२७] यह स्मरणीय है कि भगवत्, अर्हत, तथागत, सुगत और सम्यक्सम्बुद्ध आदि सज्ञाओ से सबोधित होने-वाले बुद्ध स्वय घोषित करते है कि 'मै मनुष्य नही हूँ'। पालि त्रिपिटक मे भी बुद्ध अलौकिक ही नही, अपितु लोकोत्तर भी है। अन्यत्र बुद्ध कहते है कि "ससार मे उत्पन्न होकर, ससार में वृद्धि को प्राप्तकर, मै ससार से ऊपर उठ चुका हूँ, जिस प्रकार पुण्डरीक (जल मे विकसित होकर भी) जल से लिप्त नही होता, उसी प्रकार मै ससार से लिप्त नही होता।"[२८] एक बार एक व्यक्ति ने तथागत की जाति, स्थिति, गोत्र आदि जानने की इच्छा प्रकट की थी। उसे उत्तर मिला—'न मै ब्राह्मण हूँ, न राजपुत्र, न व्यापारी, मै 'कुछ' भी नही हूँ, अकिञ्चन, गृहत्यागी, अहभावविहीन, निर्लिप्त साधु की भाँति लोक मे विचरण करता हूँ। मेरे गोत्र आदि विषयक प्रश्न पूछना अनुचित है।'[२९] आनन्द से एक बार बुद्ध ने कहा था—"यदि चाहे तो तथागत कल्पान्त तक जीवित रह सकता है।"[३०] बुद्ध के समकालीन व्यक्ति उनके व्यक्तित्व और कृतित्त्व को 'अब्भुत' (अद्भुत) मानते थे।[३१] सचमुच वे माध्यमिको के 'शून्यता' की नाई चतुष्कोटिविनिर्युक्त एव प्रपञ्चोपशम थे।[३२] जब बुद्ध किसी विपुल सभा मे उपदेश देते थे, लोग समझते थे और कहते थे "कौन है यह जो इस प्रकार बोलता है? मनुष्य अथवा देव?"[३३]

---

[२६] संयुत्त निकाय, भाग २, पृष्ठ ३४०–३४१।।
[२७] अङ्गुत्तर निकाय, भाग २, पृष्ठ ४०–४१।
[२८] अङ्गुत्तर निकाय, भाग २, पृष्ठ ४१।
[२९] सुत्तनिपात (खुद्दकनिकाय, भाग १ मे), पृष्ठ ३३४–३३५।
[३०] एफ० एल० वुड्वर्ड, समसेयिंग्स ऑफ दि बुद्ध, पृष्ठ ३३७।
[३१] दीघनिकाय, भाग २, पृष्ठ ८।
[३२] दीघ निकाय, भाग १, 'अब्याकटापञ्हा', पृष्ठ १५६ से आगे।
[३३] दीघनिकाय (अंग्रेजी अनुवाद) सेक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट, भाग ११, पृष्ठ ४८।

लेखक की दृष्टि मे बौद्ध धर्म के इतिहास के प्रथम पाँच सौ वर्षो मे सबसे महत्त्वपूर्ण विचार-विकास बुद्ध-विषयक था। महायान धर्म मे भी सर्वाधिक आकर्षक और व्यापक सिद्धान्त बुद्ध-विषयक ही है। उपर्युक्त विचार जो प्राचीन पालि वाङमय से चुने गये है, महायान सूत्रो मे वर्णित लोकोत्तर, देवातिदेव, त्रिकालदर्शी, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सर्वभूतानुकम्पी, धर्मकाय, परमार्थस्वरूप, देवताओ और मनुष्यो के शास्ता, अनुत्तर सम्यक्-सम्बोधि की निर्मल देशना देनेवाले, त्रयस्त्रिशत-लोकवासी, कालातीत, एव प्रत्यात्मवेदनीय तथागत के स्वरूप के सिद्धान्त के विकास के मूल श्रोत थे। बुद्ध के दैवीकरण के और भी अकुर पालित्रिपिटक मे विद्यमान है।[३४]

न केवल बुद्धविषयक विचार, अपितु महायान दर्शन—माध्यमिक एव विज्ञानवाद—की भी लगभग सारी सामग्री निकायो मे सुरक्षित है। नागार्जुन के दार्शनिक सम्प्रदाय—माध्यमिकनय—का नामकरण वस्तुत. तथागत के मध्यम-मार्ग (मज्झेन धम्मो, मज्झिमापटिपदा) पर आधारित था। शाश्वतवाद और उच्छेदवाद का अतिक्रमण करना बुद्ध-दर्शन—प्रतीत्यसमुत्पाद, निर्वाण, नैरात्म्य आदि—के मूल मे निहित था। इसीका नामान्तर माध्यमिकनय अथवा शून्यतादर्शन है जो सत्-असत्, अस्ति-नास्ति, आदि प्रपञ्चपूर्ण मतो का निराकरण करता है। माध्यमिककारिकाओ मे प्रतिपादित शून्यता-दृष्टिकोण वस्तुत बुद्ध द्वारा प्रतिपादित अनित्यता एव प्रतीत्यसमुत्पन्नता के सिद्धान्तो का तार्किक निष्कर्ष है। सुञ्ञ (शून्यम्) शब्द का प्रयोग निकायो मे अनेक स्थलो मे हुआ है। एक स्थान पर भगवान् आनन्द से कहते है—"यस्मा च खो आनन्द, सुञ्ञ अत्तेन वा अत्तनियेन वा, तस्मा सुञ्ञो लोको ति वुच्चति।"[३५] सत्य तो यह है कि परिव्राजक निग्रोध बुद्ध की प्रज्ञा को 'शून्यता-ग्राही' कहा करता था।[३६] अर्हन्तसुत्त मे 'व्यवहार-सत्य' और 'परमार्थ-सत्य' का भेद ध्यान देने योग्य है।[३७]

महायान के प्रज्ञापारमिता साहित्य मे प्रज्ञा की जो महिमा है उसका बीजरूप हमे निकायो मे मिलता है। 'पञ्ञाचक्खु' अनुत्तर कहा गया है।[३८] प्रज्ञावानो (पञ्ञवन्ता) की सख्या अत्यल्प है।[३९] निर्वाणगामिनी प्रतिपदा के तीन आवश्यक तोरणो मे प्रज्ञा ही अनुत्तर विमुक्ति के निकट है।[४०] प्रोफेसर आर्थर बेरीडेल कीथ[४१] द्वारा प्रतिपादित यह मत कि महायान के 'प्रज्ञापारमिता' के सिद्धान्त के विकास मे यूनानी 'सोफिया' और एशियाटिक यूनान (बैक्ट्रिया आदि यूनानी बस्तियो) के 'ग्नॉसिस' के सिद्धान्त का प्रभाव पडा था, सर्वथा निस्सार एव निराधार मालूम होता है। उन्होने महायान की जन्मभूमि उत्तरपश्चिमी प्रदेश, गन्धार-कश्मीर आदि को माना है। परन्तु, प्रज्ञापारमितानय अथवा महायान का उदय उत्तर-पश्चिम मे नही, दक्षिणी भारत मे हुआ था। इसके अतिरिक्त,

---

[३४] प्रोफेसर एच० नकामुरा का 'दि डिइफिकेशन ऑफ गोतम दि मेन' शीर्षक का लेख, नवीं आइ० सी० एच० आर०, टोक्यो १९५८ की प्रोसीडिंग्ज में प्रकाशित।

[३५] संयुक्तनिकाय, भाग ३, पृष्ठ ५०-५१; सुञ्ञ शब्द के लिये देखिये—दीघनिकाय, भाग १, पृष्ठ १७; अङ्गुत्तरनिकाय, भाग १, पृष्ठ २७९, आदि।

[३६] दीघनिकाय, भाग ३, पृष्ठ ३०।

[३७] संयुक्त निकाय, भाग १, पृष्ठ १५ तथा आमुख पृष्ठ ६।

[३८] खुद्दकनिकाय, भाग १, पृष्ठ २१८।

[३९] अङ्गुत्तरनिकाय, भाग १, पृष्ठ ३५।

[४०] दीघनिकाय, भाग २, पृष्ठ ९५।

[४१] बुद्धिस्ट फिलॉसफी इन इण्डिया एण्ड सीलोन, पृष्ठ २१६।

'सोफिया' और 'प्रज्ञा' के अर्थों मे मौलिक भेद है। सोफिस्ट विचारको की 'सोफिया' सूक्ष्म बुद्धि (विज़डम) है; परन्तु महायान सूत्रो की 'प्रज्ञापारमिता' शून्यता, धर्मता, तथता आदि का पर्याय है।

विज्ञप्तिमात्रतादर्शन की जड़े भी दृढता के साथ निकायो के पृष्ठो पर अटकी हुई है। इस तथ्य की ओर पहले भी प्रोफेसर कीथ, प्रोफेसर पुसे, प्रोफेसर विधुशेखर भट्टाचार्य एव प्रोफेसर गोविन्दचन्द्र पाण्डे प्रभृति विद्वानो ने हमारा ध्यान आकृष्ट किया था।[५२] धम्मपद की प्रारम्भिक पक्तियाँ मानो विज्ञानवाद की घोषणा कर रही है--

> "मनोपुब्बङ्गमा धम्मा मनो सेट्ठा मनोमया।
> मनसा चे पुदुट्ठेन भासति वा करोति वा।
> ततो 'नं दुक्खमन्वेति' चक्कं व वहतो पद।'।"[५३]

'चित्तसुत्त' मे मन को विश्व का शासक व नियन्त्रा कहा गया है।[५४] दीघनिकाय मे 'मन', 'चित्त' एवं 'विज्ञान' एक दूसरे के पर्याय के रूप मे प्रयुक्त हुए है।[५५] यह तथ्य वसुबन्धु की विशतिका की प्रारम्भिक पक्तियो का स्मरण दिलाता है। अंगुत्तरनिकाय मे एक स्थान पर मानो विज्ञप्तिमात्रता के सिद्धान्त की व्याख्या कर दी गयी है—"पभस्सरमिदं, भिक्खवे, चित्त। त च खो आगन्तुकेहि उपक्किलेसेहि उपक्किलिट्ठति।"[५६]

महायान के बोधिसत्त्व के आदर्श एव सिद्धान्त के लिए जातक-कथाये तथा शाक्यमुनि की जीवनी पर्याप्त पृष्ठभूमि प्रस्तुत करते है। महाभिनिष्क्रमण, बोधिलाभ और धर्मचक्रप्रवर्तन आदि घटनाये "बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय, लोकानुकम्पाय" महाकारुण्य, उपायकौशल्य एव बोधिचित्तप्रमाद के उत्कृष्ट उदाहरण है।[५७] विस्तृत जातक-साहित्य मे पारमिताओ में परिपूर्णता प्राप्त करने के महान् प्रयत्नो का विशद वर्णन मिलता है। इस प्रकार हम पालिलिपिटक मे—प्राचीनबौद्धधर्म मे—त्रिकायवाद, शून्यवाद, विज्ञानवाद, प्रज्ञापारमिता, बोधिसत्त्वचर्या आदि महायान के आधारभूत सिद्धान्तों के अङकुर पाते है।

सम्राट्श्रेष्ठ अशोक के धार्मिक एवं समन्वयात्मक प्रयत्नो के फलस्वरूप बौद्धधर्म मे ब्राह्मण-धर्म तथा भारतीय जन-विश्वासो एवं सामान्य आचरणो का आक्रमण हुआ होगा। वैष्णव-सम्प्रदाय का, विशेषरूप से विष्णु-पूजा, कृष्णभक्ति, अवतारवाद आदि का महायान के विकास मे कुछ प्रभाव सम्भाव्य होते हुए भी गवेषणीय है।

महासांघिक बौद्ध विचार-धारा का विकास

बुद्ध के परिनिर्वाण के लगभग एक शताब्दी पश्चात् वैशाली मे सम्पन्न हुई द्वितीय बौद्ध-

---

[५२] **इन लेखकों के द्रष्टव्य ग्रन्थ, क्रमशः प्रि-कैननिकलबुद्धिज्म, इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली १९३६; इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली, १९३४; एन्साइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड एथिक्स में 'महायान' लेख; स्टडीज इन दि ओरिजिन्स ऑफ बुद्धिज्म, पृष्ठ ४९३, ४९८ तथा अन्यत्र।**

[५३] **खुद्दक निकाय, भाग १, पृष्ठ १७।**

[५४] **संयुक्त निकाय, भाग १, पृष्ठ ३७।**

[५५] **दीघनिकाय, भाग १, पृष्ठ २०।**

[५६] **अङ्गुत्तरनिकाय, भाग १, पृष्ठ १०।**

[५७] **द्रष्टव्य महावग्ग, पृष्ठ ६–१३।**

सगीति मे बुद्धशासन और भिक्षु-संघ दो निकायो मे विभक्त हो गया था। इस घटना की सूचना हमें पालि साहित्य, सिंहली साहित्य, चीनी साहित्य तथा तिब्बती साहित्य से प्राप्त होती है।[४८] इन दो निकायो—(१) स्थविरवाद और (२) महासांघिक—मे पहला कट्टर और ऐतिहासिक दृष्टि से यथार्थवादी तथा रूढ़िवादी था; परन्तु दूसरा उदार, जनतन्त्रात्मक और आदर्शवादी था। महासांघिक बौद्ध शाखा का जन्म ई० पूर्व चौथी शताब्दी के मध्य मे रखा जा सकता है; यही शाखा महायानी विचारो के विकास मे अग्रणी रही होगी; क्योकि इन्ही महासांघिको की परम्परा से आगे चलकर 'लोकोत्तरवादी' बौद्ध शाखा का विकास हुआ। लोकोत्तरवादियो का उदयकाल लगभग ई० पूर्व तीसरी शताब्दी प्रतीत होता है। लोकोत्तरवादी महासांघिक बौद्धो की एक उप-शाखा 'वेतुल्यको' की थी; इन वेतुल्ल-वादी (वैतुल्यक, वैपुल्यक) बौद्धो को ही वस्तुत महायान का 'वास्तविक' जन्मदाता कह सकते हैं। जैसा कि त्रिपिटकाचार्य राहुल सांकृत्यायन, डॉ० एन्ड्रो बारो तथा प्रोफेसर गोविन्दचन्द्र पाण्डे महाशय ने माना है, इन वेतुल्यको का सम्बन्ध वैपुल्यसूत्रो (महायान सूत्रो) तथा वज्रपर्वतवासीनिकाय (वज्रयान) से था।

मध्यदेशीय महासांघिक लोकोत्तरवादियो का एक प्रामाणिक शास्त्र महावस्तु अवदान है। हर्ष का विषय है कि यह महान् और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ मूलरूप मे प्रकाशित और आग्ल भाषा में अनूदित किया जा चुका है।[४९] प्रोफेसर पुसे का यह कथन कि महावस्तु हीनयान और महायान के मध्य पुल की तरह है, युक्तियुक्त है। लोकोत्तरवादियो के अनुसार बुद्ध लोकोत्तर थे। न केवल बुद्ध वरन् बोधिसत्त्व भी लोकोत्तर होते हैं। बुद्धो की सभी क्रियाएँ लोकोत्तर होती हैं; उनकी विष्ठा सुगन्धित होती है। इस ग्रन्थ मे बुद्धो और बोधिसत्त्वों की असीमित सख्या, उनकी पारमार्थिक सत्ता तथा उनके दैवी और अतिमानुषिक स्वभाव व व्यवहार पर आस्था प्रकट की गयी है। बुद्ध माँ के गर्भ से नही जन्मते, उनका जन्म कोख से होता है, वह जन्म मनोमय होता है, शारीरिक या भौतिक नही। महाकरुणा से ओतप्रोत हृदय होने के कारण बुद्धो के कार्य लोकानुवर्तन के अनुकूल होते हैं। दशभूमिक शीर्षक के अध्याय मे बोधिसत्त्वचर्या के सिद्धान्त का प्रारम्भिक रूप भी स्पष्ट देखा जा सकता है।[५०] लोकोत्तर सिद्धान्तो का विकास करने में महासांघिक और उनके उप-निकायो का कितना हाथ था इसका समुचित विवेचन प्रोफेसर एम० अनेसकी ने अपने एक निबन्ध में किया है।[५१]

[४८] **बौद्ध निकायों के उद्गम और उनके प्रभेदों के इतिहास के मूल साक्ष ये हैं :—चुल्लवग्ग, पृष्ठ ४१६ से आगे; महावंस, अध्याय ४–५; दीपवंस, अध्याय ५–६; डब्ल्यु० रॉकहिल, लाइफ ऑफ बुद्ध, अध्याय ५ से आगे; जे० मसुदा, ओरिजिन एण्ड डॉक्ट्रिन्स ऑफ अर्ली इण्डियन बुद्धिस्ट स्कूल्स, एशिया मेजर, भाग २ में; वाटर्स, युवान-च्वाङ तथा तकाकुसु, ई-चिङ; ब्लु एनल्स, भाग १; आधुनिक ग्रन्थों में विशेष उल्लेखनीय ये हैं:—डॉ० नलिनाक्ष दत्त, अर्ली मॉनस्टिक बुद्धिज्म, भाग २; डॉ० ए० बारो, ले सेक्त्स बुद्धीक्स दु पेटीट् वेहिकुल; डॉ० गोविन्दचन्द्र पाण्डे, बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, पृष्ठ १८३ से आगे, तथा डॉ० ई० लामोत, हिस्त्वायर दु बुद्धिस्मे इण्डीन, भाग १।**

[४९] **ई० सेनार द्वारा पेरिस से ३ भागों में संपादित और जोन्स द्वारा अंग्रेजी में अनूदित तथा लन्दन से प्रकाशित।**

[५०] **महावस्तु, ई० सेनार द्वारा संपादित, भाग १, पृष्ठ १४२–१९३।**

[५१] **देखिये 'बुद्धिस्ट डॉसेटिसिज्म' नामक लेख इन्साइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड एथिक्स में।**

महायान का प्रकाशन श्रीपर्वत तथा श्रीधान्यकटक में (ई० पूर्व दूसरी शताब्दी)

ई० सन् की प्रारम्भिक शतियों के अनेक ब्राह्मी अभिलेखो से ज्ञात होता है कि महासाघिक परम्परा का विकास दक्षिणापथ मे आन्ध्रशासको—सातवाहन तथा इक्ष्वाकु राजवशो के शासनकाल मे—अपरशैल, पूर्वशैल तथा चैत्यको द्वारा हुआ था।[५२] अमरावती तथा नागार्जुनीकोडा से प्राप्त बौद्ध पुरातत्त्वावशेष इस तथ्य की पुष्टि करते है।[५३] स्मरणीय है कि मञ्जुश्रीमूलकल्प इसी प्रदेश से प्राप्त हुआ था, यह ग्रन्थ विदिशा को उत्तर-पश्चिम के मध्य मे उल्लिखित करता है, जिससे इसका आन्ध्रदेश मे रचा जाना सकेतित है।[५४] यह एक महायान वैपुल्यसूत्र है। इसमे श्रीपर्वत-महाशैल को बुद्ध-उपासना और चैत्यवादियो का केन्द्र कहा गया है।[५५] युवान-च्वाङ के अनुसार महासाघिक भदन्तो की परम्परा मे एक ग्रन्थ ऐसा था जो 'विद्याधरपिटक' अथवा 'धारणीपिटक' कहलाता था।[५६] इस प्रकार का साहित्य महायान सूत्रो के अति निकट है।

तिब्बती साक्षो से ज्ञात होता है कि शैल-सम्प्रदाय के बौद्धो ने एक प्रज्ञापारमिता-ग्रन्थ को प्राकृत भाषा मे लिपिबद्ध कर लिया था।[५७] वेतुल्यको ने बोधिसत्त्वो के लिए विशेष अभिप्राय से 'मेथुनोधम्मो' का प्राविधान अपने विनय के अन्तर्गत रखा था, यह एक प्रकार का उपायकौशल्य ही मानना पडेगा। इसकी सूचना हमे कथावत्थु से मिलती है।[५८] यह ग्रन्थ अभिधम्म-पिटक का भाग है और इसके रचयिता अशोक के बौद्ध उपाध्याय स्थविर मोग्गलिपुत्ततिस्स बताये जाते है। इस प्रकार हम देखते है कि महासाघिक परम्परा से प्रस्फुटित लोकोत्तरवाद, अपर-शैल, पूर्वशैल, चैत्यवादी तथा वैतुल्यवादी बौद्ध निकायो द्वारा ऐसे साहित्य और सिद्धान्तो का विकास हुआ जो महायान बौद्धधर्म की आवश्यक तथा निकटतम प्रस्तावना के विषय थे।[५९] इन्ही परिस्थितियो मे कुछ प्रज्ञापारमिता सूत्रों का आविर्भाव हुआ। प्रज्ञापारमिता साहित्य का प्रकाशन वस्तुत महायान का प्रकाशन माना जाना चाहिये। प्रज्ञापारमिता साहित्य का प्रकाशन ई० पूर्व दूसरी शताब्दी मे रखा जा सकता है। इस मत के समर्थन मे यह कहा जा सकता है प्राचीनतम प्रज्ञापारमिता-ग्रन्थ प्राकृत मे निबद्ध रहा होगा; इसकी पुष्टि एक ओर तिब्बती परम्परा से होती है जिसके अनुसार शैलशाखाओ ने प्रज्ञा-ग्रन्थ को प्राकृत मे रचा था, दूसरी ओर यह ध्यान देने योग्य है कि लगभग सभी महायान-सूत्र सस्कृत भाषा मे होते हुए भी प्राकृत भाषा के शब्दो का पर्याप्त प्रयोग करते है; उनकी भाषा सस्कृत और प्राकृत भाषाओ का मिश्रण है। प्रोफेसर फ्रेकलिन एडजर्टन ने इसे 'हाइब्रिड सस्कृत' कहा है जो युक्त है।[६०] प्रोफेसर हाजिमे नकामुरा का यह सुझाव कि प्रारम्भ मे सभी महायान-

---

[५२] एपीग्राफिया इण्डिका, भाग ६, पृष्ठ १३६, १४१, १४६; इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली, १९३१; एन्शियन्ट इण्डिया, नं० १६, दिल्ली १९६०, पृष्ठ ६८-६९।

[५३] जेम्स बर्जेस, बुद्धिस्ट स्तूप्स ऑफ अमरावती एण्ड जग्गयपेट, पृष्ठ १००; डॉ० नलिनाक्ष दत्त, एस्पेक्टस ऑफ महायान बुद्धिज्म, पृष्ठ २२।

[५४] मंजुश्रीमूलकल्प, टी० गणपति शास्त्री द्वारा संपादित, भाग १, पृष्ठ १७५।

[५५] मंजुश्रीमूलकल्प, भाग १ पृष्ठ ८८।

[५६] बुद्धिस्ट रिकॉर्डस ऑफ दि वेस्टर्न वर्ल्ड, पृष्ठ ३८१।

[५७] वासिल्ज्यू, देर बुद्धिस्मस, पृष्ठ २९१; दत्त, ऐस्पेक्टस, पृष्ठ ३९।

[५८] कथावत्थु, पृष्ठ ५३५।

[५९] पं० राहुल सांकृत्यायन, पुरातत्त्वनिबन्धावली, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १०७।

[६०] बुद्धिस्ट हाइब्रिड संस्कृत, ग्रैमर एण्ड डिक्शनरी, २ भागों में।

सूत्र प्राकृतभाषा मे लिपिबद्ध रहे होगे, वास्तव मे बहुत आकर्षक और सत्य से भरा प्रतीत होता है।[६१] प्रज्ञापारमिता साहित्य के साथ आचार्य नागार्जुन का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। आचार्य नागार्जुन का प्रादुर्भाव ई० पूर्व प्रथम शताब्दी मे हम पहले ही बतला चुके है और उसके लिए सबल साक्षो का उल्लेख भी ऊपर किया जा चुका है। नागार्जुन से पूर्व ही प्रज्ञापारमिता सूत्रो का प्रकाशन हो चुका था, क्योकि उन्होने एक प्रज्ञापारमितासूत्र पर विस्तृत टीका लिखी थी जो महाप्रज्ञापारमिताशास्त्र के नाम से चीनी अनुवाद में अब भी विद्यमान है।[६२] प्रोफेसर लामोत ने इस महान शास्त्र का फासीसी भाषानुवाद भी प्रकाशित कर दिया है।[६३] उपर्युक्त विवरण से हम निम्नलिखित निष्कर्षो पर पहुँचते है—

१ महायान बौद्धधर्म के मूल श्रोत बुद्ध के उपदेशो मे और पालित्रिपिटक मे विद्यमान थे।

२. महासाघिकों के उप-निकायो द्वारा, विशेषरूप से, लोकोत्तरवादी तथा वैतुल्यक शाखाओ द्वारा, महायान की दिशा मे विचार और साहित्य का विकास हुआ। महायान और हीनयान उपाधियो का प्रयोग सर्वप्रथम इन्ही बौद्धो ने किया होगा।

३. महायान की पृष्ठभूमि को विकसित करनेवाले इन बौद्ध-सम्प्रदायो अथवा निकायो के क्रीड़ा-क्षेत्र दक्षिण भारत मे, आन्ध्र-प्रदेश मे, विशेषरूप से, श्रीपर्वत और धान्यकटक थे। अत. महायान की जन्मभूमि दक्षिणापथ मे निश्चित होती है।

४. प्राथमिक महायान सूत्रो—प्रज्ञापारमितासूत्रो—की रचना प्राकृत भाषा मे दक्षिण मे ई० पूर्व दूसरी शताब्दी मे हो चुकी होगी।

५. आचार्य नागार्जुन का आविर्भाव ई० पूर्व प्रथम शताब्दी मे हुआ। उन्होने प्रथम प्रज्ञापारमितासूत्र मे भाष्य लिखा और महायान की प्रारम्भिक प्रक्रिया को निश्चित दिशा प्रदान की।

६. महायान बौद्धधर्म का उन्मीलन ई० पूर्व दूसरी शताब्दी तथा ई० पूर्व प्रथम शताब्दी के मध्य मे दक्षिण भारत हो चुका था।

आलोचना

अधिकाश आधुनिक विद्वानो ने महायान का ऐतिहासिक उन्मीलन प्रथम खिष्टाब्दी (ई० सन् की प्रथम सदी) में माना है, इसी प्रकार महायान के प्राचीनतम सूत्रो—प्रज्ञापारमितासूत्रो—का प्रकाशनकाल भी प्रथम शताब्दी ई० पूर्व माना गया है, अत आचार्य नागार्जुन का समय पहली व दूसरी शताब्दी ई० का मध्य माना जाता है। इस प्रकार के मतों के माननेवालो मे ला वाली पुसें, यामाकामी सोगन, हेनरी कर्न, मौरिश विन्टर्नित्स, नलिनाक्ष दत्त, चार्ल्स इलियट, मैक्गवर्न, डॉ० पाण्डे आदि प्रसिद्ध विद्वानो के नाम गिनाये जा सकते है।[६४] दूसरी ओर, महायान के अभ्युदय मे

---

[६१] बुलेटिन ऑफ दि ओकुरायामा ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीटयूट, नं० २, १९५७।

[६२] बी० नञ्जियो, कैटलॉग ऑफ दि चाइनीज ट्रान्सलेशन ऑफ दि बुद्धिस्ट त्रिपिटक, संख्या ११६९ में उल्लिखित।

[६३] ल त्रेते द ग्रांद वर्तु द साजेस द नागार्जुन, २ भागों में।

[६४] क्रमशः 'महायान' इन्साइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड एथिक्स में; सिस्टम्स ऑफ बुद्धिस्टिक थॉट; मैनुअल ऑफ इण्डियन बुद्धिज्म; हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, भाग २; एस्पेक्टस ऑफ महायान बुद्धिज्म; हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म, भाग ३; इन्ट्रोडक्शन टु महायान बुद्धिज्म तथा बौद्धधर्म के विकास का इतिहास।

आर्थर बेरीडेल कीथ सरीखे लेखको ने बौद्धेतर एव अभारतीय प्रभाव देखा है और उसकी जन्मभूमि उत्तर-पश्चिम में—गन्धार—कश्मीर के प्रदेशो मे व तिथि कुषाण कनिष्क के समय मे निश्चित की है।

१. आचार्य नागार्जुन के आविर्भाव के विषय मे मञ्जुश्रीमूलकल्प, लङ्कावतारसूत्र तथा देब-थेर स्ङोन-पो मे स्पष्ट कहा गया है कि बुद्ध के परिनिर्वाण के चार सौ वर्षो बाद उनका जन्म हुआ।[६५] प्रसिद्धि है कि नागार्जुन एक दीर्घायु मनीषी और सिद्धियुक्त योगी थे। युवान-च्वाङ, ई-चिङ, गो-लोत्सावा ज़ोङ्नु पल, तारानाथ तथा सुम-पा-कनपो आदि सभी प्राचीन और मध्यकालीन बौद्ध-विद्या-विशारद एक मत से इस बात की पुष्टि करते हैं कि आचार्य दीर्घायु थे और शातवाहन राजा के समय मे उनकी मृत्यु हुई।[६६] यह शातवाहन राजा सम्भवत यज्ञश्री-गौतमीपुत्र (ई० १६६–१९६) था। उक्त वश के राजा और सुविख्यात आचार्य की मैत्री का प्रमाण 'सुहृल्लेख' मे भी है जो आचार्य द्वारा शातवाहन राजा को 'पत्र मित्र को' के रूप मे लिखा गया है।[६७] यद्यपि नागार्जुन को छ-सात सौ वर्षो की आयु नहीं दी जा सकती जैसा कि तिब्बती साहित्य मे पाया जाता है; परन्तु ई० पूर्व प्रथम शताब्दी मे पैदा होकर दूसरी शताब्दी ई० के उत्तरार्द्ध मे मृत्यु को प्राप्त होना नागार्जुन जैसे महर्षि के लिए बहुत सभव है। अतएव आचार्य नागार्जुन का जन्म ई० पूर्व प्रथम शती और मृत्यु ई० सन् की दूसरी शती मे निश्चित की जा सकती है।

२. जब नागार्जुन का जन्म ई० पूर्व प्रथम शताब्दी मे सिद्ध होता है तो प्रज्ञापारमिता-सूत्रो की प्राचीनतम तिथि निश्चय ही नागार्जुन से पूर्व तय हो जाती है। एक प्रज्ञापारमितासूत्र, कदाचित् अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमितासूत्र का चीनी भाषा मे अनुवाद लोकरक्ष ने ई० सन् १४८ मे ही कर लिया था। परन्तु नागार्जुन ने जिस प्रज्ञापारमितासूत्र पर महाप्रज्ञापारमिताशास्त्र नाम की विशाल टीका लिखी थी उसे ई० पूर्व दूसरी शताब्दी मे रखना ही पडेगा। डॉक्टर एम० विन्टरनित्स ने यहाँ तक कहा है कि नागार्जुन ने सद्धर्मपुण्डरीकसूत्र को उद्धृत किया था। अत. यह प्रख्यात सूत्र भी अति प्राचीन होना चाहिये।

३. जहाँ तक महायान के उन्मीलन-क्षेत्र का प्रश्न है, उसके अभ्युदय का यूनानी धर्मों या इसाई धर्म से सम्पर्क का प्रश्न है, प्रोफेसर कीथ, डॉ० सुकुमार दत्त आदि विद्वानो की इस भ्रामक धारणा का[६८] कि महायान की उत्पत्ति कश्मीर-गन्धार मे कनिष्क के नेतृत्व मे हुई, मूलोच्छेद प्राचीन एव प्रामाणिक साहित्यिक साक्ष्य के एक ही प्रहार से कर देना समीचीन होगा। अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमितासूत्र मे कहा गया है—"शारिपुत्र: षट्पारमिता प्रतिसयुक्ता सूत्रान्तास्तथागतस्यात्ययेन दक्षिणापथे प्रचरिष्यन्ति दक्षिणापथात् पुनरेव वर्तन्या प्रचरिष्यन्ति वर्तन्या पुनरुत्तरापथे प्रचरिष्यन्ति।"

[६५] **मंजुश्री मूलकल्प, पृष्ठ ६१६; लङ्कावतारसूत्र, पृष्ठ २८६; ब्लु एनल्स, भाग १, पृष्ठ ३४।**

[६६] **वाटर्स, युवान-च्वाङ, भाग २, पृष्ठ २००-२०५; तकाकुसु, ई० चिङ, पृष्ठ ३५, १५८, १६६; ब्लु एनल्स, भाग १, पृष्ठ ३४ तथा आगे, मिस्टिक टेल्स, पृष्ठ ९–१०; पग सम जॉन-जङ्ग की सूचना के लिए देखिये—इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली, १९५४, पृष्ठ ९३–९४। और भी द्रष्टव्य तारानाथ के छोय-जुङ्ग की सूचना के लिये, इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली, १९३२-१९३४।**

[६७] **द्रष्टव्य—तकाकुसु, ई० चिङ, पूर्वस्थल; कम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग २, प्रोफेसर नीलकण्ठ शास्त्री द्वारा संपादित, पृष्ठ ३७७।**

[६८] **कीथ, बुद्धिस्ट फिलॉसफी, पृष्ठ २१६; सुकुमार दत्त, दि बुद्ध एण्ड फाइव आफ्टर सेन्चुरीज, पृष्ठ २४२–२४३।**

स्पष्ट है कि प्रज्ञापारमितानय अथवा महायान का अभ्युदय दक्षिण भारत मे (आन्ध्रदेश मे) हुआ; इसका प्रसार पूर्वी भारत (उडीसा, मगध) मे और उत्तरी-पश्चिमी भारत (कश्मीर, गन्धार) मे कालान्तर मे हुआ।[६९]

४. महायान के विकास मे नागार्जुन का महत्त्वपूर्ण हाथ था। तिब्बती परम्पराओ मे प्रज्ञापारमिता के साथ नागार्जुन का अपरिहार्य और अनिवार्य सम्बन्ध बताया गया है।[७०] इन साक्षो मे तथा अन्यत्र भी श्रीपर्वत को नागार्जुन का प्रमुख कार्य-क्षेत्र बताया गया है। डा० पी० एस० शास्त्री[७१] ने सुझाव रखा है कि नागार्जुन आन्ध्रदेशीय ब्राह्मण थे और वेदली उनका जन्म-स्थान था। यह ऊपर कहा जा चुका है कि आन्ध्रदेशीय शासक सातवाहन राजा उनका उपासक-मित्र था। इस प्रसग मे प्रोफेसर सिल्वाँ लेवी ने समुचित प्रकाश डाला है।[७२]

५. तारानाथ के छोय-जुङ्ग के अनुसार महायान का उदय प्राची मे, उड़ीसा मे महापद्मनन्द के समय मे हुआ।[७३] नागार्जुन के प्रज्ञापारमिताशास्त्र के अनुसार भी प्रज्ञापारमिता पर उपदेश पूर्व में, मगध मे हुआ, और वहाँ से दक्षिणापथ की ओर और दक्षिणापथ से उत्तरापथ की ओर उसका प्रसार हुआ।[७४] इन साक्षो मे भी महायान का उदय उत्तर-पश्चिम मे न होकर पूर्वी और दक्षिणी भारत मे ही हुआ इगित होता है। स्मरणीय है कि 'महायान' पर द्वितीय धर्मचक्रप्रवर्तन का परम्परागत स्थान गृध्रकूट पर्वत राजगीर के निकट मगध मे था। परन्तु जहाँ इसके पक्ष मे प्रमाणों की कमी है वहाँ श्रीपर्वत व धान्यकटक मे महायान के जन्म होने के पक्ष मे अनेक प्रमाण गिनाये गये है।

महायान बौद्धधर्म की विशेषतायें

यदि हम प्रज्ञापारमितासूत्र, सद्धर्मपुण्डरीक सूत्र, चतुःशतक, सी-यू-की अथवा शिक्षासमुच्चय का पारायण करे तो हमे महायान बौद्धधर्म की निम्नलिखित प्रमुख विशेषताये अधिगत होगी—

(अ) बुद्धो की विपुल सख्या, उनकी लोकोत्तर सत्ता और महत्ता।

(आ) बुद्धो के प्रति श्रद्धा और भक्ति और बुद्ध-मूर्ति की उपासना।

(इ) बोधिसत्त्व का आदर्श, प्रत्येक प्राणी के बोधिसत्त्व होने की सामर्थ्य, अत बोधिसत्त्वो की अगणित सख्या पर आस्था।

(ई) बोधिसत्त्वचर्या के रूप मे बोधिचित्त (महाकरुणा), योग, पारमिताओं और भूमियो का गूढ़ एव विस्तृत प्राविधान।

(उ) 'पुग्दलशून्यता' के साथ-साथ 'धर्मशून्यता' के सिद्धान्त की चर्चा।

---

[६९] अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता, राजेन्द्रलाल मित्र द्वारा संपादित, पृष्ठ २२५।

[७०] द्रष्टव्य—डॉ० इवान्स-वेन्ज, टिबेटन योग एण्ड सेक्रेट डॉक्ट्रिन्स, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ३४४-३४६; तथा इन्हीं की टिबेटन बुक ऑफ दि ग्रेट लिबरेशन पृष्ठ १५६–१५७।

[७१] इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली, १९५५, पृष्ठ १९३–१९९।

[७२] जर्नल एशियाटिक, १९३६, पृष्ठ ६१–१२१।

[७३] छोयजुङ्ग (जेस्चाइते देस बुद्धिस्मस इन्डीन, अनुवादक शीफनेर) पृष्ठ ५८; देखिये—इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली, १९३२, पृष्ठ २४७–२५२।

[७४] ल त्रेते द ग्रांद वर्तु द साजेस द नागार्जुन, भाग १, पृष्ठ २४-२५, प्रोफेसर पाण्डे द्वारा अपने बौद्ध-धर्म के विकास का इतिहास, पृष्ठ ३३४ में उद्धृत।

(ऊ) बुद्धो और बोधिसत्त्वो के साथ-साथ अनेक देवी-देवताओ की उपासना, यथा प्रज्ञा-पारमिता, तारा, हारीती, वज्रपाणि, नाग, यक्ष, गन्धर्व आदि ।

(ए) महायानसूत्रो का पारायण, धारणियो तथा मन्त्रो का प्रार्थना के रूप मे प्रयोग ।

(ऐ) सूत्रो, शास्त्रो एव भाष्यो की रचना सस्कृत भाषा मे होना ।

(ओ) दार्शनिक चिन्तन एव दार्शनिक गुत्थियो अथवा दृष्टियो के सूक्ष्म तार्किक विश्लेषण पर आवश्यक बल ।

(औ) बौद्धेतर और महायानेतर सिद्धान्तो एव विचारो के खण्डन के लिए 'वाद' अथवा तर्कशास्त्र का आश्रय ।

प्रज्ञापारमितासूत्रो मे उपर्युक्त लगभग सभी बाते सामान्य रूप से पायी जाती है । महायान धर्म का समुचित और सर्वांगीण परिचय जानने के लिए हमे सूत्र-रत्न सद्धर्मपुण्डरीकसूत्र[७५] का अध्ययन करना पडेगा । सर्वास्तिवादी चीनी बौद्ध सत ई-चिङ के आचार्य हुई-शी ने इस ग्रन्थरत्न का ६० वर्षो तक नित्यप्रति पारायण किया था, इस प्रकार उन्होने इसको बीस सहस्र बार पढा ।[७६] ई-चिङ (ई० ६७१-६८१) के अनुसार 'जो महायान सूत्रो का अध्ययन करते और बोधिसत्त्वो की उपासना करते थे वे महायानी कहलाते थे ।'[७७] ईस्वी सन् की दूसरी शताब्दी के बाद महायान बौद्धधर्म का विकास और प्रसार तीव्र गति से हुआ । कालान्तर मे महायान बौद्धधर्म और हिन्दू पौराणिक धर्म मे परस्पर अनेक तत्त्व समान रूप से विकसित हुए । इस समन्वय और घनिष्ठ सम्पर्क के घातक परिणाम बौद्धधर्म के लिए विनाशकारी सिद्ध हुए ।

श्रद्धा (सद्धा) का स्थान प्राचीन बौद्धधर्म मे भी महत्त्वपूर्ण था । महायान मे श्रद्धा और भक्ति सर्वोपरि हो जाते है—'श्रद्धा हि परम यानं' । बुद्ध-भक्ति की झलक अश्वघोष के बुद्ध-चरित में स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है । शान्तिदेव का बोधिचर्यावतार भक्ति-प्रधान महायान कविता का सर्वोत्कृष्ट नमूना है । सुखावतीव्यूहसूत्रो में अमिताभ बुद्ध की भक्ति ही प्रमुख विषय है । युवान-च्वाङ की 'सी-यु-की' मे ७वीं शती के भारत मे प्रचलित बौद्ध-भक्ति, पूजा-पद्धति और पोषध (उपोसथ) आदि बौद्ध त्योहारों, तथा ई-चिङ के 'नान-हाइ-ची-कुई-नाई-फा-चुआन' मे बौद्ध-उपासना, तीर्थयात्रा, प्रव्रज्या, उपसम्पदा, सामूहिक स्वाध्याय एवं दार्शनिक तर्क-वितर्क आदि का विशद चित्रण पाया जाता है । मौर्य-शुङ्ग राजवंशो के शासनकाल से लेकर सम्राट् हर्षवर्धन के समय तक सम्पूर्ण भारतवर्ष मे सहस्रों बौद्ध-विहार, स्तूप, चैत्य-गृह, बुद्धो और बोधिसत्त्वों की प्रतिमाओ, अनेक विश्वविद्यालयो एवं पुस्तकालयो का निर्माण और विकास हुआ जिनके पुरातात्त्विक अवशेष अब भी काल के निरन्तर प्रहार का सामना कर रहे है । इन सबके मूल मे महायान की प्रेरणा थी ।

बोधिसत्त्व के आदर्श ने पारमिताओ का विकास न केवल साहित्य में, वरन् व्यवहार और दैनिक जीवन में भी किया । पारमिताओ के अभ्यास से ही महायानी कहलाते थे—'ये सद पारमितासु चरन्ती ते प्रतिपन्न इहो महयाने ।' पारमिताओ मे दान, शील और प्रज्ञा तो सर्वोत्कृष्ट थे—'दान हि बोधिसत्त्वस्य बोधिरिति ।' दान और शील से सुसज्जित राजा-महाराजा 'शीलादित्य', 'धर्मादित्य' तथा

---

[७५] **अनेक संस्करणों में प्रकाशित, आधुनिकतम दरभंगा से १९६१ में; एक सुन्दर आंग्लभाषानुवाद, प्रोफेसर कर्न द्वारा लन्दन से प्रकाशित ।**

[७६] **तकाकुसु, ई-चिङ, पृष्ठ २०५ ।**

[७७] **तकाकुसु पृष्ठ १४–१५ ।**

'परमसौगत, सुगतइव' आदि उपाधियो से विभूषित होते थे । प्रज्ञापारमिता तो ज्ञान की पराकाष्ठा है— 'प्रज्ञापारमिता ज्ञान अद्वय स तथागत.' । महायानी बौद्धाचार्य अश्वघोष सस्कृत के प्रथम नाटककार थे, महायान दार्शनिक नागार्जुन संस्कृत मे कारिका-शैली के पिता थे; महायानी तत्त्ववेत्ता दिङनाग भारतीय तर्कशास्त्र के जन्मदाता थे, महायान ने न केवल बौद्ध-सस्कृति का, अपितु भारतीय सस्कृति का भारत और भारतेतर देशो मे शताब्दियो तक नेतृत्व किया ।

महायान का साहित्यिक और दार्शनिक विकास

महायान-साहित्य के विकास एव इतिहास के अध्ययन के क्षेत्र मे आधुनिक काल मे राजा राजेन्द्रलाल मित्र, पडित हरप्रसाद शास्त्री, प्रोफेसर मैक्समूलर, प्रोफेसर नन्जियो, प्रोफेसर सुजुकी, प्रोफेसर लेवी, प्रोफेसर पुसें, प्रोफेसर विन्टरनित्स, महापण्डित साकृत्यायन, प्रोफेसर तुची, डॉ० कॉन्ज, डॉ० वैद्य तथा डॉ० दत्त प्रभृति विद्वानो के श्लाघनीय एव पाडित्यपूर्ण कार्यों के हम अत्यन्त ऋणी हैं ।

महायान का प्राचीनतम साहित्य प्रज्ञापारमिता साहित्य है जिसकी विशालता, विविधिता एव मार्मिकता की झॉकी डॉ० कॉन्ज द्वारा सकलित एक ग्रन्थ से प्राप्त होती है । प्रज्ञापारमिता नाम के अनेक ग्रन्थ रचे गये थे । इनमे शतसाहस्रिका, पञ्चविशति साहस्रिका, दशसाहस्रिका, अष्टसाहस्रिका सप्तशतिका तथा वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता सुविदित हैं । सम्पूर्ण प्रज्ञासाहित्य का मूल मन्त्र और केन्द्रबिन्दु 'शून्यता' समझना चाहिये ।

महायान सूत्रो मे नव-धर्म सुविख्यात है । ये नौ महायानसूत्र है । ललित-विस्तर, लङ्कावतार, अष्टसाहस्रिका, समाधिराज, सद्धर्मपुण्डरीक, गण्डव्यूह, दशभूमिक, सुवर्णप्रभास तथा तथागतगुह्यक-सूत्र । इनमे से तथागतगुह्यकसूत्र के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकाशित हो चुके हैं । अन्य महायान-सूत्रों मे सुखावतीव्यूह, अमितायुर्ध्यानिसूत्र, शूरङ्गमसूत्र, करुणापुण्डरीक, अक्षोभ्यव्यूह, बुद्धावतंसक, कारण्डव्यूह, अगुलियमालिय, राष्ट्रपालपरिपृच्छा, तथा मञ्जुश्रीमूलकल्पसूत्र उल्लेख्य हैं ।

आचार्य नागार्जुन के 'सूत्र-समुच्चय' में ६० महायानसूत्रो से उद्धरण सकलित किये गये हैं । 'महाव्युत्पत्ति' मे १०५ सूत्रो की तालिका पायी जाती है जिसमे अधिकाश महायान सूत्र हैं । आचार्य शान्तिदेव के 'शिक्षा समुच्चय' मे लगभग ११० सूत्रो से उद्धरण संकलित किये गये हैं, वे सभी महायान ग्रन्थ के हैं । चीनी त्रिपिटकाचार्य युवान-च्वाङ ने ७४ बौद्ध-ग्रन्थों को चीनी भाषा मे अनूदित किया था जिनमे अधिकांश महायान सूत्र और शास्त्र थे ।[७८] अनेक भारतीय और मध्य-एशियाई बौद्ध विद्वानों ने समय-समय पर प्राचीन काल मे महायान-साहित्य को चीनी भाषा में अनूदित किया था ।[७९] प्रोफेसर बन्चु नन्जियो द्वारा संग्रहीत चीनी बौद्ध त्रिपिटक की सूची में सूत्रभाग के अन्तर्गत ५४१ महायान सूत्रो का उल्लेख है ।[८०] ८२४ ई० मे 'पल-ब्रत्सेजे' तथा 'नम्क्-स्ञिङ्पो द्वारा संकलित 'देन-'कर पुस्तकालय की सूची में ६३६ महायान बौद्ध-ग्रन्थो के नाम सम्मिलित किये जा चुके थे ।[८१] तिब्बती बौद्ध धार्मिक साहित्य-संग्रहों—'तन्ज्युर' तथा 'कन्ज्युर'—में लगभग पाँच हजार बौद्ध-ग्रन्थ

[७८] भिक्षु थिच-मिन्ह चऊ कृत युवान-च्वाङ दि पिलग्रिम स्कॉलर, वियतनाम से १९६३ में प्रकाशित, पृष्ठ ८५–९६ ।

[७९] देखिये—राहुल सांकृत्यायन, बौद्ध संस्कृति, कलकत्ता १९५२ ।

[८०] पूर्व उल्लिखित कैटलॉग ।

[८१] प्रोफेसर श्यूकी योशिमुरा, दि 'देन-'कर मा एन ओल्डेस्ट कैटलॉग ऑफ दि टिबेटन बुद्धिस्ट कैनन, क्याटो १९५० ।

सस्कृत से तिब्बती मे अक्षरश. अनूदित किये हुए अभी भी विद्यमान है।[a] अनेक महायान ग्रन्थो की सस्कृत पाण्डुलिपियाँ तिब्बत से त्रिपिटकाचार्य राहुल साकृत्यायन तथा अकादमीशियन तुची द्वारा प्रकाश में आ चुकी है। नेपाल मे विद्यमान महायान बौद्ध-साहित्य का सक्षिप्त परिचय राजा राजेन्द्रलाल मित्र, श्री सेसिल बेन्डल तथा पडित हरप्रसाद शास्त्री द्वारा सकलित विस्तृत तालिकाओ (डेस्क्रिप्टिव कैटेलॉग्स) से प्राप्त होता है। मध्य एशिया, चीनी तुर्किस्तान तथा गिलगिट से प्राप्त महायान-साहित्य के अवशेषो का परिचय प्रोफेसर होर्निल, प्रोफेसर लेवी तथा डॉ० दत्त के प्रकाशनो से अधिगत होता है। यह एक ऐतिहासिक एव खेदपूर्ण तथ्य है कि बौद्ध-साहित्य का बहुत बडा भाग भारत मे पूर्णरूपेण नष्ट हो गया। 'महावस्तु' का उल्लेख पहले किया जा चुका है, यह लोकोत्तरवाद का विनय-ग्रन्थ है और महायान के उष काल का प्रतिनिधि है। इसी कोटि मे हम 'अवदानशतक', 'दिव्यावदान' तथा अश्वघोष के 'बुद्धचरित' को भी रख सकते है। ये ग्रन्थ हीनयान और महायान के बीच की कडी प्रस्तुत करते है, इसीलिए दोनो बौद्धधर्मो के अनुयायियो मे इनका समादर रहा है। 'बोधिचित्तविवरण', 'बोधिसत्त्व प्रातिमोक्ष', 'बोधिसत्त्व-पिटक' तथा 'धारणी-पिटक' आदि महत्त्वपूर्ण सस्कृत बौद्ध-ग्रन्थो का रचनाकाल अनिश्चित है, परन्तु महायान के धार्मिक विकास मे इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। 'महायान श्रद्धोत्पादशास्त्र' के लेखक अश्वघोष सभवत पाँचवी शताब्दी के व्यक्ति थे। इसी काल में महान् कवि शूर अथवा आर्यशूर ने 'जातकमाला' और 'सुभाषित रत्नकरण्डक कथा' की रचना की थी। जातकमाला का प्रभाव अजन्ता के भित्तिचित्रो मे पाया जाता है, उसकी लोकप्रियता का विस्तृत उल्लेख ई-चिङ के 'रिकार्ड' मे भी पाया जाता है।

महायान दर्शन

महायान की प्रवृत्ति प्रारम्भ से ही दार्शनिक गुन्थियो के विश्लेषण की ओर थी। प्रज्ञा-साहित्य मे गूढ एव सूक्ष्म दार्शनिक विचार सन्निहित है। महायान के प्रथम आचार्य नागार्जुन सर्वाधिक मेधावी विचारक एव तत्त्व-चिन्तक थे।

बौद्ध-धर्म-दर्शन के ख्यातिप्राप्त इतिहासकारो एव व्याख्याकारो मे अधिकाश ने महायान के गह्वर विचारसागर मे साधारणतया दो दार्शनिक पद्धतियो का ही अवलोकन किया है। इन्हे माध्यमिक अथवा शून्यवाद और योगाचार अथवा विज्ञानवाद कहते है। महायान मे त्रिविध दार्शनिक परम्पराये ये है—

१. नागार्जुन की परम्परा—माध्यमिक दर्शन।
२. मैत्रेयनाथ की परस्परा—विज्ञानवाद दर्शन।
३. दिङ्नाग की परम्परा—तर्कशास्त्रीय तत्त्वदर्शन।

इनमे से प्रथम विचार-तरंग प्रज्ञापारमिता सूत्रो तथा आचार्य नागार्जुन द्वारा सयुक्तरूपेण प्रवाहित हुई थी। द्वितीय तरंग का स्पष्ट एवं सैद्धान्तिक उन्मीलन सन्धिनिर्मोचनसूत्र, लङ्कावतारसूत्र तथा आचार्य मैत्रेयनाथ के ग्रन्थो मे हुआ। प्राचीन हिन्दू दार्शनिकों ने महायान बौद्धदर्शन मे केवल इन्ही दो पद्धतियो का अनुशीलन किया था, इनके अतिरिक्त वैभाषिक और सौत्रान्तिक नयो को हीनयान दार्शनिक पद्धतियो के अन्तर्गत रखा था। यही व्यवस्था आधुनिक काल मे भी अधिकांश लेखको ने अपनायी है, परन्तु यह सदोष है। बौद्धधर्म का गम्भीर एव समुचित अध्ययन करनेवाले इस निष्कर्ष पर पहुँचेगे कि बौद्ध-विचार और तत्त्व-चिन्तन का चरम विकास आचार्य दिङ्नाग की

[a] **ए कम्प्लीट कैटलॉग ऑफ दि टिबेटन बुद्धिस्ट कैनन, तोहाकु इम्पीरियल यूनिवर्सिटी, सेन्डइ (जापान) से प्रकाशित।**

परम्परा मे हुआ। दिङ्नाग द्वारा प्रवाहित 'तर्कशास्त्रीय तत्त्व-दर्शन' की तरगिणी को 'माध्यमिक' एव 'विज्ञप्तिमात्र' दर्शनो से पृथक् समझना सर्वथा समीचीन जान पड़ता है। दिङ्नाग न केवल बौद्ध-न्यायशास्त्र के जन्मदाता थे, अपितु भारतीय तर्कशास्त्र अथवा प्रमाण-विद्या के भी वास्तविक व्यवस्थापक वही थे। उन्होने 'सौत्रान्तिक' अथवा 'आलोचनात्मक यथार्थवाद' तथा 'चित्तमात्रता' (विज्ञप्तिमात्रता) अथवा 'पूर्णाद्वैत आदर्शवाद' के बीच समुचित समन्वय और सामञ्जस्य स्थापित किया। बौद्ध-दर्शन के विरोधी वितडावादियो के खण्डन का सामना करने, विशुद्ध बुद्धिवादियो को बौद्धिक सन्तोष प्रदान करने तथा बुद्ध-दर्शन की वैज्ञानिक प्रामाणिकता एव पारमार्थिक उपयोगिता की प्रतिष्ठा स्थापित करने के लिए उन्होने न्याय अथवा तर्कशास्त्र का शिलान्यास एव विकास किया। अतएव दिङ्नाग द्वारा विकसित तर्कशास्त्रीय तत्त्वदर्शन की यह अद्वितीय तरग महायान के दार्शनिक विकास मे ही नही, वरन् बौद्धदर्शन के इतिहास मे अपना व्यक्तिगत और विशिष्ट स्थान रखती है।

उपर्युक्त दार्शनिक पद्धतियो के ऐतिहासिक विकास-क्रम की रूपरेखा इस प्रकार है—

(१) माध्यमिक-नय का विकास-क्रम

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि आचार्य नागार्जुन एक दीर्घजीवी मनीषी और युग-प्रवर्तक विचारक थे। बुद्धाब्द की चौथी शती मे उनका आविर्भाव और खीष्टाब्द की दूसरी शती के उत्तरार्द्ध मे शातवाहन सम्राट् की प्रेरणा से उनका देहान्त हुआ।[८३] इस लम्बी आयु की तरह उनकी साहित्यिक कृतियाँ भी पाठकों को चकित कर सकती हैं। महाप्रज्ञापारमिताशास्त्र, दशभूमिविभाषा-शास्त्र, मूलमध्यमकारिका, विग्रहव्यावर्तनी, सूत्रसमुच्चय, अकुतोभया, सुहृल्लेख, युक्तिषष्टिका तथा द्वादशमुखशास्त्र नागार्जुन की असदिग्ध कृतियाँ हैं। परन्तु उनकी रचनाओ मे उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त शून्यता-सप्ति, व्यवहारसिद्धि, प्रज्ञादण्ड, धर्मसग्रह, चतु स्तव, उपायकौशल्यहृदय, महायान-विंशिका, बोधिचित्तविवरण, प्रतीत्यसमुत्पादहृदय तथा प्रमाणविघटन आदि की भी गणना की जाती है। माध्यमिक दर्शन का समुचित ज्ञान प्राप्त करने के लिए मध्यमकशास्त्र अथवा मूलमध्यमककारिका तथा विग्रहव्यावर्तनी ही पर्याप्त हैं। प्राचीन भारत के अबौद्ध-विचारको और बौद्धदर्शन के आलोचको ने नागार्जुन की विचार-तरगिणी को 'शून्यवाद' नाम दिया है।[८४] कतिपय आधुनिक लेखको ने भी इसी नाम को अपनाया है। इस नामकरण का कारण 'शून्य' एवं 'शून्यता' शब्दो का इस दर्शन-साहित्य मे प्रचुर प्रयोग है, परन्तु इसे 'शून्यतावाद' कहना भ्रान्तिमूलक है। माध्यमिक साहित्य में कही भी इसे 'शून्यवाद' नही कहा गया है। माध्यमिक विचारक अपने को 'शून्यवादी' नही कहते हैं। माध्यमिकनय किसी प्रकार का 'वाद' नही है, चिन्तन की एक पद्धति है जो सर्वप्रकार के 'वादों', 'मतों' या 'सिद्धान्तों' को सदोष सिद्ध करके उनका निराकरण करती है।[८५] दोषयुक्त दृष्टि से अज्ञान की उपज होती है और सम्यक् दृष्टि के मार्ग मे बाधक होती है; उसका निराकरण किये बिना प्रपञ्चोपशम नही हो सकता और प्रपञ्चसमतिक्रान्त किये बिना प्रत्यात्मवेदनीय परमार्थ-

[८३] देखिये—युवान-च्वाङ, भाग २, पृष्ठ २००–२०५; एम० वालेजेर, 'लाइफ ऑफ नागार्जुन फ्रॉम टिबेटन एण्ड चाइनीज सोर्सेज' एशिया मेजर, भाग १, पृष्ठ ४२१ से आगे तथा पूर्व उल्लिखित साक्ष।

[८४] उदाहरणार्थ शङ्कराचार्य, ब्रह्मसूत्र भाष्य, २.३१, निर्णयसागर प्रेस संस्करण, पृष्ठ ३५१-५२।

[८५] द्रष्टव्य—द्वादशमुखशास्त्र, प्रोफेसर एन० अय्यस्वामी शास्त्री द्वारा चीनी से संस्कृत में अनूदित, विश्वभारती एनल्स भाग ६ में प्रकाशित।

सत्य की अनुभूति दुर्लभ है। अतएव प्रपञ्चसम्भूत अथवा विकल्पसम्भव सभी दृष्टियो या दर्शनो का खण्डन आध्यात्मिक आवश्यकता है जिसके लिए शून्यता-बोध ही एकमात्र उपाय है। इस दर्शनश्रेष्ठ माध्यमिक दर्शन को 'शून्यवाद' समझनेवालो का ध्यान हम 'विग्रहव्यावर्तनी' के २९वे श्लोक—

'यदि काचन प्रतिज्ञा स्यान्मे तत एष मे भवेद्दोष ।
नास्ति च मम प्रतिज्ञा तस्मान्नैवास्ति मे दोष ।।'

तथा 'मध्यमकारिका' के १३वें अध्याय की ८वी कारिका—

'शून्यता सर्वदृष्टीना प्रोक्तानि.सरण जिनै ।
येषा तु शून्यतादृष्टिस्तानसाध्यान् बभ्भसिरे ।।'

की ओर आकृष्ट करना चाहते है।

नागार्जुन के बाद दूसरा प्रख्यात माध्यमिक विचारक आर्यदेव था; जो नागार्जुन का शिष्य था। 'चतु शतक' मुष्टिप्रकरण तथा 'अक्षरशतक' आर्यदेव के प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। माध्यमिक विचारो का चरम विकास छठी और सातवी शताब्दियों मे हुआ। छठी शताब्दी मे बुद्धपालित और भावविवेक प्रसिद्ध माध्यमिक चिन्तक थे। उनमे परस्पर पद्धतिविषयक मतभेद होने के कारण माध्यमिको के दो भेद हो गये थे। बुद्धपालित ने मध्यमक शास्त्र पर टीका लिखकर 'प्रासगिक' शाखा का श्रीगणेश किया और भावविवेक ने मध्यमकशास्त्र पर 'प्रज्ञाप्रदीप' नामक टीका तथा मध्यमार्थसग्रह, करतलरत्न-शास्त्र तथा तर्कज्वाला नामक ग्रन्थो का सृजन किया और 'स्वातन्त्रिक' शाखा का उद्घाटन किया। ७वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे चन्द्रकीर्ति एक प्रतिभाशाली माध्यमिक दार्शनिक थे जिन्होने प्रासगिक दृष्टिकोण अपनाया और नागार्जुन की दार्शनिक परम्परा का उत्कृष्ट प्रतिपादन 'प्रसन्नपदा' नाम की माध्यमिककारिका की वृत्ति मे प्रस्तुत किया। इसके अतिरिक्त चतु शतक वृत्ति, युक्तिषष्टिकावृत्ति, शून्यतासप्ततिवृत्ति, प्रदीपउद्योतन, मध्यमकावतार एव मध्यमकावतारभाष्य चन्द्रकीर्ति की महत्त्वपूर्ण रचनाएँ है। ७वी शताब्दी के मध्य मे महायान सत, कवि, बौद्धशास्त्रो एवं सूत्रो के प्रकाड पण्डित एवं प्रखरबुद्धि माध्यमिक विचारक शान्तिदेव थे। उन्होने शिक्षासमुच्चय तथा बोधिचर्यावतार नामक ग्रन्थ लिखे। इनमे बोधिचर्यावतार का ९वाँ परिच्छेद माध्यमिक दृष्टिकोण से लिखा गया प्रासंगिक प्रकरण है। अन्य माध्यमिक विचारको मे 'शतशास्त्र' एव प्राण्यमूल्यशास्त्र' के लेखक सिंहरश्मि, 'माध्यमिकसत्यद्वयविभङ्ग' के लेखक ज्ञानगर्भ, 'प्रज्ञाप्रदीपटीका' के लेखक अवलोकितव्रत तथा 'बोधि-चर्यावतारपञ्जिका' के रचयिता प्रज्ञाकरमति के नाम उल्लेख्य है।[८]

---

[८] माध्यमिक दर्शन के मूल, आधारभूत व प्रामाणिक ग्रन्थों में मध्यमकशास्त्र (मूलमध्यमककारिका) पुसें द्वारा सेंटपीटर्सबर्ग से प्रकाशित; विग्रहव्यावर्तनी, राहुल सांकृत्यायन द्वारा संपादित; चतुःशतक (उत्तरार्द्धमात्र) विधुशेखर भट्टाचार्य तथा परशुराम वैद्य द्वारा अलग-अलग तिब्बती से संस्कृत में अनूदित; करतलरत्न एवं मध्यमार्थसंग्रह, एन० अय्यस्वामी शास्त्री द्वारा संपादित; प्रसन्नपदा, पुसें द्वारा सेंटपीटर्सबर्ग से संपादित तथा बोधिचर्यावतार परशुराम वैद्य द्वारा संपादित उल्लेख्य है। आधुनिक ग्रन्थों में डॉ० स्तशेर्बात्स्की कृत 'बुद्धिस्ट कन्सेप्शन ऑफ बुद्धिस्टिक थॉट; डॉ० टी० आर० वी० मूर्तिकृत, 'सेन्ट्रल फिलॉसफी ऑफ बुद्धिज्म', डॉ० पाण्डेकृत 'बौद्धधर्म के विकास का इतिहास' तथा डॉ० कॉञ्जकृत 'बुद्धिस्ट थाट इन इण्डिया' उल्लेख्य है।

(२) विज्ञप्तिमात्रता दर्शन का विकास-क्रम

तिब्बती तथा चीनी बौद्ध-परम्पराओं मे आचार्य असङ्ग को योगाचार अथवा विज्ञानवाद का प्रवर्तक माना गया है। परन्तु आधुनिक गवेषणाओं[८७] से ज्ञात होता है कि असङ्ग के वास्तविक गुरु मैत्रेयनाथ एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे; वस्तुत मैत्रेयनाथ को ही विज्ञानवाद-योगाचार का प्रथम आचार्य माना जाना चाहिये। उनका समय दूसरी-तीसरी शताब्दियों का सन्धिकाल माना गया है। मैत्रेयनाथ ने महायानसूत्रालङ्कारकारिका, मध्यान्तविभङ्ग, धर्मधर्मताविभङ्ग, महायानोत्तरतन्त्रशास्त्र तथा अभिसमयालङ्कारकारिका नामक ग्रन्थो की रचना की थी। योगाचारभूमिशास्त्र की मूल कारिकाओं की रचना भी सम्भवत. उन्होंने ने ही की, असङ्ग ने मैत्रेय के ग्रन्थो पर विद्वत्तापूर्ण भाष्य लिखकर योगाचार-दर्शन के सिद्धान्तो का विस्तृत प्रतिपादन किया और अपने उपाध्याय के स्थान पर स्वय यशस्वी बन गये।

आचार्य असङ्ग पेशावर के ब्राह्मण थे। उनका समय चौथी शताब्दी जान पडता है। वह आचार्य वसुबन्धु के ज्येष्ठ भ्राता और योगाचार के प्रकाड पडित थे। उन्होने मैत्रेय के शास्त्रो मे भाष्य लिखने के अतिरिक्त निम्नलिखित ग्रन्थो की रचना की थी—महायानसम्परिग्रह, प्रकरण-आर्यवाचा, महायान अभिधर्मसगीति (सम्भवत अभिधर्मसमुच्चय) तथा त्रिशतिकाया प्रज्ञापारमिताया. कारिकासप्तति (वज्रच्छेदिका पर टीका)।

असङ्ग के भाई वसुबन्धु (४००-४८० ई०) विज्ञानवाद के सर्वश्रेष्ठ विचारक और महायान बौद्धधर्म के एक प्रमुख आचार्य थे। तिब्बती तथा चीनी परम्पराओ मे उन्हे 'एक सहस्र ग्रन्थों का लेखक' कहा गया है जो अक्षरश सत्य न होते हुए भी वसुबन्धु की साहित्यक सृष्टि का बहुमुखी और बहु-सख्यक होने का सकेत है। यद्यपि सन्धिनिर्मोचनसूत्र, लकावतारसूत्र तथा मैत्रेय-असङ्ग के ग्रन्थो द्वारा विज्ञप्तिमात्रतादर्शन का पर्याप्त विकास और प्रसार हुआ, परन्तु इसका चरम उत्कर्ष वसुबन्धु के समय मे ही हुआ। वह वसुबन्धु अभिधर्मकोश के लेखक वसुबन्धु से भिन्न थे, इस प्रश्न पर और वसुबन्धु की तिथि पर प्रोफेसर फ्राउ वाल्नर के गवेषणापूर्ण निष्कर्ष उचित जान पड़ते हैं।[८८]

वसुबन्धु ने विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिशास्त्र की दो पुस्तके 'विंशतिका' तथा 'त्रिंशिका' लिखकर विज्ञप्तिमात्रता दर्शन का उत्कृष्ट साराश प्रस्तुत किया। उन्होंने वादविधि, वादविधान, वादहृदय, व्याख्यायुक्ति, कर्मसिद्धिप्रकरण, पञ्चस्कन्धप्रकरण, तथा अपरिमितायुसूत्रोपदेश नामक अन्य ग्रन्थ लिखे। इनके अतिरिक्त वज्रच्छेदिका, महापरिनिर्वाणसूत्र, सद्धर्मपुण्डरीकसूत्र, महायानसूत्रालंकार, प्रतीत्यसमुत्पाद-सूत्र तथा मध्यान्तविभङ्ग पर टीकाये भी लिखी। विज्ञानवाद दर्शन मे बाह्य पदार्थो की पारमार्थिक सत्ता का निषेध और निर्गुण, निराकार, स्वयसिद्ध, स्वयप्रकाश 'चित्तमात्र' (विज्ञान, विज्ञप्ति, मन, चित्त) की सत्ता प्रतिपादित की गयी है।

वसुबन्धु के पश्चात् विज्ञप्तिमात्रता दर्शन की परम्परा को आगे बढ़ानेवालो मे गुणप्रभ, गुणमति, स्थिरमति, धर्मपाल, जयसेन, नन्द, बोधिरुचि, शीलभद्र, शीलेन्द्रबोधि, जिनमित्र तथा हरिभद्र

---

[८७] देखिये—प्रोफेसर एच० उई, स्टडीज इन इण्डियन फिलॉसफी, भाग १, पृष्ठ ३५६; प्रोफेसर जी० तुची, ऑन सम एस्पेक्टस ऑफ दि डॉक्ट्रिन्स ऑफ मैत्रेय (नाथ) एण्ड असङ्ग, अध्याय १; प्रोफेसर एम० विन्तर्नित्ज, हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, भाग २, पृष्ठ ३५४; पंडित हरप्रसाद शास्त्री, इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली, १९२५, पृष्ठ ४६५।

[८८] देखिये—सेरी ओरियन्टल रोमा, भाग ३, रोम १९५१।

के नाम प्रमुख रूप से उल्लेखनीय है। धर्मपाल तथा स्थिरमति ने विज्ञप्तिमात्रता के सैद्धान्तिक विवेचन मे भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण अपनाये। इनके महत्त्वपूर्ण विचारो व विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिशास्त्र पर लिखी गयी अन्य आठ भारतीय टीकाओ मे उपलब्ध प्रतिवादो का सग्रह करके युवान-च्वाड ने चीनी भाषा मे अनूदित किया था।

(३) तर्कशास्त्रीय बौद्ध तत्त्वदर्शन का विकास-क्रम

आधुनिक काल मे इस विषय पर अत्यन्त उत्कृष्ट, प्रामाणिक एव विस्तृत कार्य रूसी अकादमीशियन प्रोफेसर स्त्शेर्बात्स्की तथा भारतीय मनीषी महामति राहुल साकृत्यायन ने किया है। बौद्ध-दर्शन मे न्यायानुसार तत्त्वचिन्तन की आलोचनात्मक पद्धति के प्रवर्तक आचार्य दिङनाग थे जिनका समय पाँचवी शती का उत्तरार्ध और छठी शती का पूर्वार्ध था। दिङनाग ने अभिधर्मकोश, मर्मप्रदीप, प्रज्ञापारमितापिण्डार्थ, आलम्बनपरीक्षा, त्रिकालपरीक्षा, हेतुचक्रहमरू, न्यायमुख, प्रमाणसमुच्चय एव प्रमाणसमुच्चय-वृत्ति आदि ग्रन्थो की रचना की। वे दर्शन मे विज्ञानवादी और न्याय मे सौत्रान्तिक थे।

बौद्ध-न्याय मे 'प्रत्यक्ष' तथा 'अनुमान' नाम के दो ही प्रमाण सम्यक् ज्ञानप्राप्ति के साधन माने गये हैं। दिङनाग की दार्शनिक परम्परा मे न्याय (तर्कशास्त्र), सौत्रान्तिकदर्शन एवं विज्ञानवाद का सम्मिश्रण पाया जाता है। दिङनाग के शिष्यो मे शकरस्वामी और ईश्वरसेन के नाम प्रसिद्ध है। शकरस्वामी ने 'न्यायप्रवेश' नामक ग्रन्थ लिखा। ईश्वरसेन के मतो का उल्लेख धर्मकीर्ति ने किया है। तर्कशास्त्रीय बौद्धधर्म के इतिहास मे उज्ज्वलतम रत्न आचार्य धर्मकीर्ति है। उनका समय ७वी शताब्दी का उत्तरार्ध है। तिब्बती परम्परा के अनुसार वह तिब्बत के सम्राट् स्त्राग-रसन गपो के समकालीन थे और प्रसिद्ध मीमासाचार्य कुमारिलभट्ट के भान्जे और आलोचक थे। उन्होने शास्त्रार्थ मे कुमारिल को पराजित कर बौद्ध-दर्शन की उत्तुग पताका सम्पूर्ण देश मे फहराई। धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक, प्रमाणविनिश्चय, न्यायबिन्दु, हेतुबिन्दु, वादन्याय, सम्बन्धपरीक्षा तथा सन्तानान्तरसिद्धि नामक उत्कृष्ट ग्रन्थ न्याय पर लिखे और बौद्ध न्यायशास्त्र का विकास पराकाष्ठा पर पहुँचाया। धर्मकीर्ति के पश्चात् आठवी शताब्दी मे आचार्य शान्तरक्षित सर्वाधिक प्रतिभाशाली बौद्ध दार्शनिक थे। वे भारतीय दार्शनिक पद्धतियो के असाधारण विद्वान् और अकाट्य आलोचक थे। तत्त्व-सग्रह उनका महान् ग्रन्थ है जो भारतीय दर्शन के इतिहास मे कई दृष्टियो से अद्वितीय स्थान रखता है। शान्तरक्षित ने तत्त्व-सग्रह के अतिरिक्त वादन्याय-वृत्ति, मध्यमकालकारकारिका आदि अन्य ग्रन्थ भी लिखे। बौद्ध धर्म-दर्शन का नेपाल व तिब्बत मे प्रचार करने का श्रेय मुख्य रूप से शान्तरक्षित व उनके सहयोगियो—कमलशील तथा पद्मसम्भव को है। कमलशील शान्तरक्षित के शिष्य तथा नालन्दा विश्वविद्यालय के प्रोफेसर थे। उन्होने तत्त्व-सग्रह-पञ्जिका, माध्यमिकालोक तथा तीन छोटे-छोटे ग्रन्थ भावना-क्रम पर लिखे है।

तत्त्व-सग्रह तथा उसकी पञ्जिका के लेखको के बाद बौद्ध-धर्म दर्शन का भारत मे ह्रास प्रारम्भ हो जाता है। परन्तु बौद्ध न्याय-परम्परा कुछ समय तक बनी रही। इस काल के बौद्ध-विचारको मे न्यायबिन्दुटीका, अपोहप्रकरण, परलोकसिद्धि, क्षणभङ्गसिद्धि, प्रमाणपरीक्षा तथा प्रमाणविनिश्चय टीका के लेखक धर्मोत्तर, ईश्वरभङ्गकारिका, सर्वज्ञसिद्धिकारिका, श्रुतिपरीक्षाकारिका, बाह्यार्थसिद्धिकारिका तथा अन्यापोहसिद्धि के लेखक कल्याणरक्षित के नाम उल्लेख्य है।

वैदिक देवता अग्नि

चन्द्रचूड़ मणि

अप नः शोशुचदघमग्ने शुशुग्ध्या रयिं । अप नः शोशुचदघम् ।। (ऋ० १.९७.१)

अग्नि की व्यापकता, उसकी व्यावहारिकता और पवित्रता से प्रेरित होकर मनुष्य ने अपने हृदय में जिस धार्मिक भावना को प्रश्रय दिया था, उसका उल्लेख प्राय समस्त जातियों के आरम्भिक इतिहास में मिलता है। प्राचीन यूनानियो के मत से अग्नि पहल पृथ्वी पर न थी। मनुष्य के हित के लिए प्रोमेथियस ((Prometheus) या प्रमन्थ नामक देवता स्वर्ग से अग्नि को चुरा लाये जब से यूनान मे अग्नि के साथ साथ प्रमन्थ की भी पूजा होने लगी। प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक हेरेक्लिटस (Heraclitus) के अनुसार सारा जगत् ही अग्निमय है। अग्नि मे ही विश्व का निर्माण हुआ है और अग्नि मे ही उसका समाहार।[१] संसार की अन्य प्राचीन जाति रोमन, अग्नि की 'वलकन' (> Vulcan) या 'उल्का' नाम से उपासना करती है। लैटिन मे अग्नि को 'इग्निस' (> Ignis) और स्लाव मे 'ओग्नि' (> Ogni) कहते हैं। इसी प्रकार ईरानी या पारसीक 'अतर' नाम से अग्नि की उपासना करते आये हैं और उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'अवेस्ता' मे अग्नि के प्रति बहुत-से मन्त्र दिये हुए हैं। पारसीको के यहाँ अग्नि को साक्षात् ईश्वर का प्रतिरूप मानते हैं और उनके यहाँ दिन-रात अग्नि जलती हुई रखी रहती है। कुटुम्ब का प्रत्येक व्यक्ति भक्तिपूर्वक अग्निदेव की उपासना करता है। जब पारसीको ने पहली बार भारत मे प्रवेश किया था, उनके एक हाथ मे उनका धार्मिक ग्रथ अवेस्ता और दूसरे में अग्नि थी। चीनियो के 'शुकिंग' नामक धार्मिक ग्रन्थ मे भी अग्नि की उपासना पर काफी जोर दिया गया है। पर ससार की जितनी अग्निपूजक जातियाँ हैं उन सबमे आर्य सबसे प्राचीन और बुद्धिमान् हैं।

ऐतिहासिक अन्वेषणो से पता चलता है कि ससार की समस्त जातियो ने, यहाँ तक कि जो आर्य नही हैं—मंगोल, सेमेटिक या हेमेटिक हैं, अग्नि की उपासना प्राचीन आर्यो से ही सीखी थी। आर्य ही अग्नि-पूजा के प्रथम प्रचारक थे। 'वेद' इसके प्रमाण हैं। सम्पूर्ण वैदिक वाङमय अग्नि-पूजा से भरा पड़ा है। ऋग्वेद मे जितने मन्त्र या ऋचायें अग्नि-सम्बन्धिनी हैं उतनी इन्द्र को छोडकर किसी भी देवता के सम्बन्ध की नही। ऋग्वेद का प्रथम सूक्त ही 'आग्नेय सूक्त' है और उसकी पहली ही ऋचा अग्नि-पूजा से आरम्भ होती है—

'ॐ अग्निमीळे पुरोहित यज्ञस्य देवमृत्विजं । होतार रत्नधातमम् ।'

---

[१] Heraclitus declared the world to be an ever-living fire, and fire, therefore, to be the essence of all things, he understood by this a '*pxn*' not a material or substance which survived all its transformations, but just the transforming process itself in its ever-darting, vibrating activity (zungelnde), the soaring up and vanishing which correspond to the Becoming and passing away.—'A History of Philosophy,' Chap. 1, § 4, by Dr. W. Windelband.

अर्थात् यज्ञ के पुरोहित, दीप्तिमान, देवों को बुलानेवाले, ऋत्विक् और रत्नधारी अग्नि की मैं स्तुति करता हूँ। इस मन्त्र के आरम्भिक प्रणव (ॐ) में अग्नि की भावना का यथोचित प्रतिपादन हुआ है, क्योंकि ॐ (=अ+उ+म्) में—'अ' से तात्पर्य विराट्, अग्नि और विश्व से ही है, 'उ' से हिरण्यगर्भ, वायु, तैजस् तथा 'म्' से ईश्वर, आदित्य और प्रज्ञा समझना चाहिए।[२] किञ्चित् इसी तरह की प्रतीकात्मक व्याख्या वैदिक देवताओ के सम्बन्ध में योगी अरविन्द ने की है। अरविन्द ने वैदिक धर्म को रहस्य-पूर्ण बतलाते हुए सूर्य से 'प्रज्ञा', 'अग्नि से 'इच्छा' और सोम से 'अनुभूति' का अर्थ-निर्देश कर ऐतिहासिक इल्यूसीनियन (Eleusinian) एवं ऑर्फिक (Orphic) रहस्यों को वैदिक विचारधारा का अवशेष बतलाया है।[३]

वैदिक साहित्य में अग्नि की भौतिक कल्पना का भी परिचय जहाँ तहाँ मिलता है। किन्तु उसके आधार पर आर्यो को जडोपासक, असभ्य और बर्बर मान लेना पाश्चात्य विद्वानो की मिथ्या धारणा है। आर्यो की जडोपासना के भीतर अधिष्ठातृ-रूप से एक एक चेतन अग्नि, वायु आदि चैतन्यदेव की दार्शनिक भावना भी छिपी हुई है। पाश्चात्य सभ्यता के आलोक में वैदिक-साहित्य का अध्ययन करते हुए पाश्चात्य विद्वान् प्राय इस वैज्ञानिक तत्त्व को भूल जाते हैं। 'शुक्ल यजुर्वेद' के माध्यन्दिन–वाजसनेयी शाखा के आधार पर 'रुद्रकल्प' में अग्नि की इस तरह की कल्पना मिलती है—

---

[२] गफ (Gough) 'Upanishads'; पृ० ६८–६३

[३] The hypothesis I propose is that Ṛg-veda is itself the one considerable document that remains to us from the early period of human thought of which the historical Eleusinian and Orphic mysteries were the failing remnants, when the spiritual and psychological knowledge of the race was concealed for reasons now difficult to determine, in a veil of concrete and material figures and symbols which protected the sense from the profane and revealed it to the initiated. One of the leading principles of the mystics was the sacredness and secrecy of self-knowledge and the true knowledge of the gods. This wisdom, was, they thought, unfit for, perhaps even dangerous, to the ordinary human mind, or in any case liable to perversion and misuse and loss of virtue if revealed to vulgar and unpurified spirits. Hence they favoured the existence of an outer worship effective but imperfect for the profane, and an inner discipline for the initiate, and clothed their language in words and images which had equally a spiritual sense for the elect and a concrete sense for the mass of ordinary worshippers. The Vedic hymns were conceived and constructed on these principles.
—Ārya, Vol. i., p. 60.

'रुद्रतेज. समुद्भूत द्विमूर्धान द्विनासिकम् । षण्नेत्र च चतु श्रोत्र त्रिपाद सप्तहस्तकम् ॥
वाम्यभागे चतुर्हस्त सव्यभागे त्रिहस्तकम् । स्रुव स्रुच च शक्ति च अक्षमाला च दक्षिणे ॥
तोमर व्यजन चैव घृतपात्र तु वामके । बिभ्रत सप्तभिर्हस्तैर्द्विमुख सप्तजिह्वकम् ॥
दक्षिणे च चतुर्जिह्व त्रिजिह्वमुत्तरे मुखम् । द्वादशकोटिमूर्त्याख्य द्विपञ्चाशत् कलायुतम् ॥
स्वाहास्वधावषट्कारैरङ्कित मेषवाहनम् । रक्तमाल्याम्बरधर रक्तपद्मासनस्थितम् ॥
रौद्र तु वह्निनामान वह्निमावाहयाम्यहम् ॥' ('अग्नेर्ध्येयरूपम्' रुद्रकल्पे)

जिसके सम्बन्ध मे विद्वान् वाचस्पति ने सप्त जिह्वाओ और नवशक्तियो की गणना की है । अग्नि की सप्त जिह्वाओं[४] मे—(१) कराली, (२) धूमिनी, (३) श्वेता, (४) लोहिता, (५) नीललोहिता, (६) सुवर्णा, (७) पद्मरागा और नवशक्तियो मे (१) पीता, (२) श्वेता, (३) अरुणा, (४) कृष्णा, (५) धूम्रा, (६) तीक्ष्णा, (७) स्फुलिङ्गिनी, (८) ज्वलिनी, (९) ज्वालिनी ये नाम आते हैं । ऋग्वेद के त्रयोदश सूक्त की, जिसका नाम 'आप्ती' (विशेष प्रीतिकर) सूक्त भी है, बारह ऋचाओ में इन बारह नामो से अग्नि की उपासना की गई है[५]—

(१) सुसमिद्ध । (२) तनूनपात् । (३) नराशस । (४) इला । (५) बर्हि । (६) देवीद्वार । (७) नक्त ओर उषा । (८) देवीद्वय । (९) इला, सरस्वती, मही । (१०) त्वष्टा । (११) वनस्पति । (१२) स्वाहा ।

और अग्निहोत्र के समय की विशेष अग्नि के पॉच नाम हलायुध ने इस प्रकार दिये हैं

'आवसथ्याहवनीयौ दक्षिणाग्निस्तथैव च ।
अन्वाहार्यो गार्हपत्य इत्येते पञ्च वह्नय ॥'

उपनिषद् के एकेश्वरवाद (Monotheism) मे यद्यपि अग्नि को एक ब्रह्म के अन्तर्गत मानकर वायु आदि देवताओं की तरह अपना कर्त्तव्य-मात्र पालन करने का सकेत मिलता है,[६] अथर्वण् के

---

[४] तु० मुण्डकोपनिषद् १।२।४ ।

[५] सुसमिद्धो न आवह देवाँ अग्ने हविष्मते । होतः पावक यक्षि च ॥
मधुमन्तं तनूनपाद् यज्ञं देवेषु नः कवे । अद्या कृणुहि वीतये ॥
नराशंसमिह प्रियमस्मिन् यज्ञ उपह्वये । मधुजिह्वं हविष्कृतम् ॥
अग्ने सुखतमे रथे देवाँ ईड़ित आवह । असि होता मनुर्हितः ॥
स्तृणीत बर्हिरानुषग्घृतपृष्ठं मनीषिणः । यत्रामृतस्य चक्षणम् ॥
विश्रयन्तामृतावृधो द्वारो देवीरसश्चतः । अद्या नूनं च यष्टवे ॥
नक्तोषासा सुपेशसास्मिन् यज्ञ उपह्वये । इदं नो बर्हिरासदे ॥
ता सुजिह्वाउपह्वये होतारा दैव्या कवी । यज्ञं नो यक्षतामिमम् ॥
इड़ा सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयोभुवः । बर्हिः सीदन्त्वस्रिधः ॥
इह त्वष्टारमग्रियं विश्वरूपमुपह्वये । अस्माकमस्तु केवलः ॥
अव सृजा वनस्पते देव देवेभ्यो हविः । प्रदातुरस्तु चेतनम् ॥
स्वाहा यज्ञं कृणोतनेन्द्राय यज्वनो गृहे । तत्र देवां उपह्वये ॥

[६] तैत्तिरीय उपनिषद्, २।८ ।

'मुण्डकोपनिषद्' मे अग्नि को ब्रह्म का मस्तक कहा गया है।[७] और कही-कही जैसे 'प्राणाग्निहोत्र' उपनिषद् मे अग्नि को ब्रह्म का ही प्रतिरूप मान लिया है।[८] वैदिक देवताओ की इस जटिल धारणा ने अनेक दार्शनिकों को आश्चर्य मे डाल रक्खा है और ब्लूमफील्ड (Bloomfield) की तरह वे सब केवल इसी निष्कर्ष तक पहुँच सके है कि अनेकेश्वरवाद (Polytheism) की सबसे बड़ी कठिनाई यही है कि प्रत्येक देवता को शासन-भार सौपा जाता है और सभी उस भार को वहन करने मे अपने को असमर्थ पाते है।[९] ऐसी अवस्था मे ऋग्वेद का एकमात्र 'एकम् सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' का सिद्धान्त ही सर्वमान्य हो सकता है।[१०]

वैदिक वाङमय मे अग्नि की उत्पत्ति के विषय मे भी विस्तृत विवरण मिलता है। अग्नि की उत्पत्ति आकाश और जल मे हुई। 'कठोपनिषद्' मे अग्नि की दो माताओ का उल्लेख है, अर्थात् दो लकड़ियो के सघर्षण से उनकी उत्पत्ति बतलाई गई है—

अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभि ।
दिवे दिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्नि एतद्वै तत् ।।
(कठोपनिषद् २।४।८)

अग्नि का एक नाम 'तनूनपात्' है जिससे पता चलता है कि अग्नि की स्वय उत्पत्ति हुई। पर अन्यत्र अथर्वण का उल्लेख मिलता है। अथर्वण पहले ऋषि थे जिन्होने 'अरणी' से अग्नि उत्पन्न की। भृगु ने अग्नि को मनुष्यो मे स्थिर किया और मनु ने उन्हे 'पुरोहित' की सज्ञा दी। 'भारतीय दर्शन' नामक स्वरचित ग्रन्थ मे डॉ० एस० राधाकृष्णन् ने अग्नि के यज्ञ-सम्पादन-विधान की तुलना प्राचीन यूनान के देवाह्वानकारी यज्ञ-विधान से की है जिसमे लोक-हित के लिए अग्नि देवो को हविर्युवत करते थे।[११] ऋग्वेद के ७७वे सूक्त मे अग्नि की इसी रूप मे आराधना भी मिलती है.

कथा दाशेमाग्नये कास्मै देवजुष्टोच्यते भामिने गी. ।
यो मर्त्येष्वमृत ऋतावा होता यजिष्ठ इत् कृणोति देवान् ।।१।।
यो अध्वरेषु शन्तम ऋतावा होता तनूनमोभिरा कृणुध्वम् ।
अग्निर्यद्वेर्मर्ताय देवान् सचा बोधाति मनसा यजाति ।।२।।
स हि क्रतु समर्य ससाधुर्मित्रो न भूतद्भुतस्य रथी ।
त मेधेषु प्रथम देवयन्तीर्विश उपब्रुवते दस्ममारी. ।।३।।
(ऋ० १।७७।१—३)

---

[७] **अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ**
दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः ।
वायुः प्राणे हृदयं विश्वमस्य
पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ।। (मुण्डकोपनिषद् २।१।४)

[८] **विश्वोऽसि वैश्वानरो विश्वरूपं त्वयाधार्यते जायमानम् ।**
विश्वं त्वाहुतयः सर्वा यत्र ब्रह्मामृतोऽसि ।। (प्राणाग्निहोत्रोपनिषद्)

[९] **दि रेलिजन ऑव दि वेद, पृ० १९९ ।**

[१०] **ऋ० २।१६४।४६ ।**

[११] **डॉ० एस० राधाकृष्णन् : इंडियन फिलॉसफी, खंड १, पृ० १०७ पाद टि० ।**

आर्यो के आरम्भिक औपनिवेशिक विस्तार (Colonisation) के समय इन्ही अग्निदेव की स्वीकृति वान्छनीय समझी जाती थी। क्योकि एक स्वरूप से यह यज्ञ मे सहायक होते थे और दूसरे से सौ नेत्रो द्वारा जगलो को भस्म कर मनुष्यो के निवास योग्य 'जनपद' स्थापित करते थे। 'शतपथ ब्राह्मण' मे प्राचीन विदेघ (विदेह) की कुछ सस्मृतियाँ पाई जाती है जब उस प्रान्त को आर्यो ने अपना उपनिवेश नही माना था। उक्त ग्रन्थ मे आर्यो के पूर्वीय विस्तार-क्रम मे तीन प्रधान सीढियो का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। पहले विदेह के राजा माठव केवल सारस्वत प्रदेश के अधिपति समझे जाते थे। ब्राह्मण-सभ्यता के आदि प्रतिनिधियो मे से अग्नि वैश्वानर के नेतृत्व मे वे अपने पुरोहित गौतम राहुगण के साथ सदानीर (वर्तमान गण्डक) के तट तक पहुँचे। इसके पहले ब्राह्मणो ने यह समझकर कि सदानीर का पूर्वी भाग अग्नि द्वारा परिष्कृत नही हुआ है इस नदी को कभी पार करने का विचार तक नही किया था। वास्तव मे सदानीर का पूर्वी प्रदेश उस समय घने जगलो और ऊँची नीची भूमियो से भरा हुआ था। माठव के पूछने पर कि 'हमारा आवास कहाँ हो?' अग्नि ने नदी का पूर्वी भाग बसाने का आदेश दिया।[१२]

इसी तरह आर्य-सभ्यता की प्रसार-भूमिका मे जहाँ कही आर्यो के बसने-बसाने का क्रम पाया जाता है, शोभनीय क्षेत्र, मार्ग और धन के लिए अग्नि की अभ्यर्चना अनिवार्य हो जाती है।

'सुक्षेत्रिया सुपातुया वसूया च यजामहे। अप न शोशुचदघम्॥' (ऋ० १।९७।२)

क्योकि अग्नि धन एव आवास के मूल तथा उपासक की कामना पूरी करनेवाले है—

रायो बुध्न सङ्गमनो वसूना यज्ञस्य केतुर्मन्मसाधनो वे।
अमृतत्व रक्षमाणास एन देवा अग्नि धारयन्द्रविणोदाम्॥
नू च पुरा च सदन रयीणा जातस्य च जायमानस्य चक्षाम्।
सतश्च गोपा भवतश्च भूरेर्देवा अग्नि धारयन्द्रविणोदाम्॥
द्रविणोदा द्रविणसस्तुरस्य द्रविणोदा सनरस्य प्रयसत्।
द्रविणोदा वीरवतीमिष नो द्रविणोदा रासते दीर्घमायु॥ (ऋ० १।९६।६–८)

उपनिषत्काल मे सर्वत्र याज्ञिक अग्नि जला करती थी और सबके यहाँ दैनिक हवन का विधान था। दैनिक पञ्च महायज्ञ मे (१) देव पूजन, (२) पितृ पूजन, (३) अतिथि पूजन, (४) ससार पूजन और (५) गृह्यदेव पूजन होता था। वेदो मे अग्निहोत्र की विशाल महिमा का वर्णन हुआ है। और उससे प्रातःकालीन वायु का परिष्कार एव शारीरिक तथा बौद्धिक स्वास्थ्य का सम्वर्धित होना बतलाया गया है।[१३] सम्पूर्ण वेद मे जिन सोलह होत्रियो या ऋत्विको का प्रसङ्ग-वश उल्लेख मिलता है उनके नाम ये है—

ऋग्वेद के—(१) होता, (२) मैत्रावरुण, (३) अच्छावाक्, (४) ग्रावस्तुत।
यजुर्वेद के—(५) प्रतिप्रस्थिता, (६) नेष्टा, (७) उन्नेता। (८) अध्वर्यु।

---

[१२] शतपथ ब्राह्मण की यह कहानी प्रोफ़ेसर मैकडॉनेल के संस्कृत-साहित्य के इतिहास में भी उद्धृत हुई है।
दे० 'ए० हिस्ट्री आॅव सस्कृत लिटरेचर' (१९२९), अ० ८, पृ० २१४-१५।

[१३] सायं सायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातः प्रातः सौमनसस्य दाता॥१॥
प्रातः प्रातर्गृहपतिर्नो अग्निः सायं सायं सौमनसस्य दाता॥२॥
(अथ०, कां० १९। अनु० ७। मं० ३।४)

सामवेद के—(९) उद्गाता, (१०) प्रस्तोता, (११) सुब्रह्मण्य, (१२) प्रतिहर्त्ता।

अथर्ववेद के[१४]—(१३) ब्रह्मा, (१४) ब्राह्मणाच्छसी, (१५) पोता, (१६) अग्नीध्र।

वेदो मे अग्निहोत्र की महिमा इससे और प्रकट होती है कि सबसे बडे ऋत्विक् अग्नि स्वय हैं

तवाग्नेहोत्र तव पोत्रमृत्विय तव नेष्ट्र त्वमग्निदृतायत।
तव प्रशास्त्र त्वमध्वरीयसि ब्रह्मा चासि गृहपतिश्च नो दमे ।। (ऋ० २।२।१-२)

और जो लोग अग्निहोत्र करते है, वे सब द्युलोक मे आदित्य और अग्नि के साथ एक ही जगह निवास करते हैं।[१५] अग्नि अमर है ही, मरणशील मनुष्य भी अग्नि की उपासना से अमर हो जाते हैं। इसीसे वैदिक कवि को कहना पडा कि 'अग्निदेव! आओ, हम परस्पर प्रशसा करे।'

'अथा न उभयेषाममृत मर्त्यानाम्। मिथ सन्तु प्रशस्तय ।।' (ऋ० १।२६।९)

तथा 'हे अग्नि! तुम ज्योति स्वरूप हो। मनु ने मनुष्यो मे तुम्हे स्थापित किया था और यज्ञ के लिए उत्पन्न होकर हव्य-द्वारा तृप्त हो, तुम्ही कण्व के प्रति प्रकाशित हुए थे। मनुष्य तुम्हे नमस्कार करते हैं।'—

नि त्वामग्ने मनुर्दधे ज्योतिर्जनाय शश्वते।
दीदेथ कण्व ऋतजात उक्षितो य नमस्यन्ति कृष्टय ।। (ऋ० १।३६।१९)

ऋग्वेद के २४वे सूक्त मे कवि ने आरम्भ मे ही देवार्चन के सम्बन्ध मे एक अत्यन्त सुन्दर जिज्ञासा प्रकट की है कि देवो मे किस श्रेणी के देवता का सुन्दर नाम उच्चारण करूँ जो हमे दीर्घायु तथा माता-पिता मे अक्षय भक्ति से पुरस्कृत करे। और दूसरे ही मन्त्र मे देवो मे पहले अग्नि का सुन्दर नाम लेकर अपनी उस उदयोन्मुखी जिज्ञासा का 'उत्तर' ढूँढ निकाला है—

कस्य नूनं कतमस्यामृताना मनामहे चारु देवस्य नाम।
को नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितर च दृशेय मातरं च ।।
अग्नेर्व्वय प्रथमस्यामृताना मनामहे चारु देवस्य नाम ।।
स नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितर च दृशेय मातर च ।। (ऋ० १।२४।१-२)

वैदिक कवि के इसी 'उत्तर' मे अग्नि की उपासना का सारा 'रहस्य' छिपा हुआ है। इसीलिए वेदो मे ऋग्वेद और सामवेद दोनो अग्नि-गायन से आरम्भ किये गये थे। और यजुर्वेद तथा अथर्ववेद के आरम्भ मे यद्यपि 'अग्नि' का नाम न लेकर 'इत' एव 'एतृशप्त' शब्द प्रयुक्त हुए हैं, उनकी अनेक ऋचाओ मे अग्नि की आराधना मिलती है। ईशावास्योपनिषद् के निम्नलिखित अवतरण मे भी यशस्वी और पुण्यमय जीवन व्यतीत करने के लिए ही इसी अग्नि-उपासना की ओर इङ्गित किया गया है, जो वैदिक धर्म का एक विशिष्ट अङ्ग है—

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्
विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो
भूयिष्ठा ते नमउक्ति विधेम ।। (ईशावास्योपनिषद् १।१८)

---

[१४] **अथर्ववेद में (१) सदस्य, (२) पत्नी दीक्षिता, (३) शमिता, (४) गृहपति, (५) अङ्गिरा, (६) वैकर्त्ता और (७) चमसाध्वर्यु भी ऋत्विक् माने गये है।**

[१५] **शतपथ ब्राह्मण ११।६।२–५।**

भारतीय कला का दार्शनिक आधार

डॉ० बलराम श्रीवास्तव

भारतीय कला को दर्शन का व्यापक आधार मिला है। सौन्दर्य-शास्त्र के अनुसार कला की उद्भावना सौन्दर्यानुभूति की अतिरेकता से होती है। कला के क्षेत्र मे यह धारणा काफी हद तक सही भी उतरती है, किन्तु भारतीय कला का आधार केवल सौन्दर्यवाद ही नही है, भारतीय कलाकारो ने सौन्दर्यवाद को उसी सीमा तक मान्यता दी है जिस हद तक भारतीय दर्शन, धर्म तथा नैतिकता उसका समर्थन कर सकने मे समर्थ है। कला की दृष्टि से भारत मे अनेक ऐसी सुन्दर कृतियाँ बनी हैं जिनके मूल मे ऐन्द्रिक सौन्दर्य की भावना सिद्ध हो सकती है; किन्तु कला की इस धारा को न तो व्यापकत्व मिला और न समर्थन तथा सहानुभूति। इसके विपरीत भारतीय कला की उसी धारा को प्रश्रय और सहयोग प्राप्त हुआ जो कि यहाँ के दर्शन और धर्म की मान्यताओ के अनुकूल पडे। आनन्द का स्रोत सौन्दर्य है, किन्तु भारतीय कला-चिन्तन मे आनन्द और सौन्दर्य दोनो ही अध्यात्ममूलक है। और दूर तक विचार करे तो यह भी अनुभव होता है कि कला-रचना का जितना सम्बन्ध आनन्द से है, उतना सौन्दर्य से नही। सौन्दर्यहीन वस्तु भी कलात्मक हो सकती है यदि उसके द्वारा आनन्द का उद्रेक सम्भव हो। यही कारण है कि रूपयोजना की दृष्टि से बनी भद्दी प्रतिमा भी भक्त के लिए आनन्द का अपार सागर उडेल देती है, यदि वह भक्त की धारणा के अनुकूल बनी हो। मूर्ति-शास्त्र का आकृतिविज्ञान, मुद्राविज्ञान, अलकरणविज्ञान तथा आयुध-विज्ञान अपने निश्चित मान्यताओ के आधार पर जो प्रतिमा सुन्दर सिद्ध करते है वही प्रतिमा भक्त की भी उपास्य हो पाती है। यही कारण है कि धर्मसूत्रो और कर्मकाण्ड मे उस प्रतिमा की उपासना का विरोध किया गया है जो आयुधादि से सम्पन्न न हो और भग हो गयी हो। टूटी प्रतिमाएँ सग्रहालयो की निधि भले ही हो, किन्तु मन्दिरों मे उनके लिए स्थान नही है। यहाँ स्पष्ट है कि भक्त के मन पर कला की उसी कृति की छाप पड़ती है, वही कला आनन्द का स्रोत हो पाती है जो कि आध्यात्मिक सौन्दर्य के अनुकूल हो।

अध्यात्ममूलक आनन्दवाद का कला के क्षेत्र मे एक दूसरा भी प्रभाव पडा। वह यह कि जहाँ देश और काल के प्रभाव से सौन्दर्य का मानदण्ड बदलता रहता है और बदलता जाएगा, वहाँ आनन्द की आध्यात्मिक अनुभूति कभी पुरानी नही पड़ती। विश्वनाथ जी की प्रतिमा देशकाल भेद से अनेक रूप धारण कर सकती है, किन्तु आनन्द की अनुभूति भक्त के लिए सदैव एक सी है। वह नित नूतन नही है। इन्ही दो कारणो से भारतीय कलाकारो ने कोरे सौन्दर्य और आनन्दवाद का सहारा छोड अध्यात्ममूलक दर्शन का छोर पकडा और यह उसके लिए अच्छा ही हुआ। यह कहना सर्वथा गलत है कि दर्शन और धर्म के कारण भारतीय कला का स्वतन्त्र उन्मेष न हुआ और कला दर्शन और धर्म का साधनमात्र बन गयी। भारतीय दर्शन की व्याप्ति अनन्त है। षड्दर्शन या इसी प्रकार के अन्य भेदो-प्रभेदो के बाँधो को तोड-फोड़कर भारतीय मनीषी की चिन्तन-परम्परा

अबाध रूप से चलती रही, जिसके कारण जिस प्रकार भारतीय मस्तिष्क को दार्शनिक उद्भावना के लिए विशाल क्षेत्र मिलता गया, उसी प्रकार कलाकार को भी धर्म, अध्यात्म और दर्शन के मनोरम वसन मे नैसर्गिक सौन्दर्य की झाँकी देने का सुअवसर मिलता रहा। इसके विपरीत यदि हम पाश्चात्य कला, मुख्यतया ग्रीस और रोम की मूर्तिकला को देखे, जिसे सौन्दर्यवाद का आधार तो मिला, किन्तु अध्यात्म का सहारा नही मिला है, तो लगेगा कि वह जितनी रूढिग्रस्त और निष्प्राण है उसमे सौन्दर्य की, मुख्यतया मानवीय सौन्दर्य की, अनन्यतम उद्भावना हुई है, किन्तु उसमे वह सजीवता, सप्राणता नही है जो भारतीय मूर्तिकला मे है। गान्धार कला, जो भारत की आचलिक कला होते हुए ग्रीसदेशीय सौन्दर्यवाद से प्रभावित थी, इसी कारण तत्कालीन मथुरा या परवर्ती मध्यदेशीय (गुप्तकला) की तुलना मे आध्यात्मिक सौन्दर्य की दृष्टि से हीन सिद्ध होती है। हिन्दू, बौद्ध तथा जैन देववाद, जो वस्तुत. भारतीय दर्शन का मूर्तरूप ही है, इतना व्यापक और सम्पन्न है कि भारतीय कलाकार आज तक उस व्याप्ति को पहुँच ही नही पाया है। अतएव यही सिद्ध होता है कि धर्म और दर्शन के प्रभाव से भारतीय कला को बहुत ही व्यापक क्षेत्र मिला है।

ब्रह्मवैवर्तपुराण मे देवप्रतिमा को साक्षात् देवता उस रूप मे माना गया है जैसे यज्ञ को पुरुष (यज्ञो वै पुरुष)। वहाँ यह भी कहा गया है कि मूर्ति धर्म की पत्नी है। मूर्ति के बिना विश्व के कण-कण मे व्याप्त रहने वाला पूर्ण ब्रह्म निराधार हो जाएगा।[१] विष्णुधर्मोत्तरपुराण के अनुसार दर्शन और धर्म ने कला को आवश्यकता से विवश होकर सहचरी बनाया। धारणा है कि कलियुग मे देवता के दर्शन का यही मात्र माध्यम है। कृत, त्रेता और द्वापर युग मे लोग देवता का साक्षात् दर्शन करते थे—

विशेषेण कलौ काले कर्तव्य देवतागृहम्।
कृतत्रेताद्वापरेषु नरा पश्यन्ति देवताम्॥

—विष्णुधर्मोत्तरपुराण, काड ३, अध्याय १, श्लोक ५।

मौलिक उपादानो से बनी प्रतिमा या चित्र मे देवत्व का आरोप भावनापूर्वक ही सम्भव है। मूर्ति-प्रतिष्ठा के समय चलनेवाले कर्मकाण्ड और विधि-विधानो से मूर्त्ति के प्रति ऐसी आस्था मनोवैज्ञानिक रीति से जगायी जाती है या भक्ति-भावना के सहज उद्रेक से जग भी जाती है।

'दिव्यावदान' मे इस सम्बन्ध मे एक मनोरम कथा है। बुद्ध के शिष्य एक बार मथुरा आये। वहाँ यक्ष-पूजा का बाहुल्य था। मार नामक यक्ष ने उपगुप्त को विवश किया कि वे यक्ष की पूजा करे, किन्तु यह उपगुप्त के अनुकूल न था। वे केवल बुद्ध के प्रति आस्था रखते थे। अतएव छलपूर्वक मार यक्ष ने बुद्ध का स्वरूप धारण कर लिया। इस पर उपगुप्त नतमस्तक हुए। किन्तु मार ने तुरन्त उपगुप्त से कहा कि जब मै बुद्ध नही, यक्ष हूँ, तो तुम क्यो नतमस्तक होते हो? तो उपगुप्त ने कहा कि जिस प्रकार मूर्तिपूजक पूजा करते समय उस मिट्टी की पूजा नही करते जिसकी प्रतिमा बनी है, बल्कि उस देवता या शक्ति की पूजा करते हे जिसकी कि प्रतिमा है। उसी प्रकार मै तुम्हारी पूजा नही करता, क्योंकि तुम बुद्ध के रूप के माध्यम मात्र हो :

मृण्मयेषु प्रतिकृतितिष्यमाणा यथा जन।
मृतसज्ञामनाहृत्य नमत्यमरसज्ञया॥

---

[१] आर. एन. मुखर्जी : 'सोशल फंक्शन ऑव आर्ट', पृष्ठ ४ में उद्धृत।

तथाह त्वामिहोद्वीक्ष्य लोकनाथवपुर्धरम् ।
मारसञ्ज्ञामनाहत्य नत. . सुगतसञ्ज्ञया ।।[१]

उपगुप्त के इस कथन से यह साफ प्रकट है कि मूर्ति के पीछे जो मूल दर्शन था वह बहिरग न होकर अन्तरग था। भक्त के मन मे मूर्ति या प्रतिमा भगवान् की एक अवस्था है जो आगे चलकर साधना के बल पर अमूर्त, सरूप या परम रूप धारण कर लेता है। वेदान्त-दर्शन की व्यावहारिक दृष्टि मे मूर्ति को महत्व मिला है। मूर्तिसाधना मे सिद्ध हो जाने के बाद ही ईश्वर के प्रति पारमार्थिक दृष्टि की उपलब्धि होती है। शाक्त और वज्रयान (बौद्धतत्र) की धारणा के अनुसार साधना के अनेक क्रम हैं जो स्थूल से सूक्ष्म की ओर ले जाते हैं। साधनमाला मे स्थविर अनुपमरक्षितरचित तारा के साक्षात्कार की एक साधना वर्णित है जिसके कुछ स्तर ये होगे—पहले साधक चन्द्रमा का ध्यान करे, फिर कमल का, इसके बाद असख्य बुद्ध और बोधिसत्वो का, फिर सुगत, प्रत्येक श्रावक, जिन बोधिसत्व सुतो का, त्रिरत्न का, इसके बाद मैत्री, मुदिता, दया और उपेक्षा नामक चारो ब्रह्माओ का फिर आर्यतारा और उसके बाद ध्यानी बुद्ध अमोघसिद्धि का और फिर अन्त मे देवी तारा का ।[२]

विकास-क्रम की दृष्टि से यदि विचार किया जाय तो सिद्ध होगा कि दर्शन ने भारतीय कला को प्रागैतिहासिक युग से ही प्रभावित किया है।

दर्शन का आधार भौतिक जीवन की अनुभूतियाँ हैं। अतएव प्रागैतिहासिक युग मे प्रकृति के प्रति मानव का जो दृष्टिकोण रहा उसका प्रभाव उस समय की कला पर पडा। पहले मनुष्य ने सोचा कि वह प्रकृति को जीत लेगा। किन्तु अपनी सीमाओ के कारण जब वह ऐसा न कर सका, उसने किसी असीम की कल्पना की। किन्तु असीम दृश्य नही था, अतएव दृश्य-जगत् के प्राकृतिक अभिधान ही उसके आस्था के आधार बने। वर्षा, जल, अग्नि, वायु आदि की उपासना करके उसने प्राकृतिक शक्ति से त्राण पाने और उनका उपभोग कर जीवन को सुखी करने की चेष्टा की। अब प्रश्न होता है कि उस असीम को वह क्या रूप दे। भारतीय ताम्रयुग की कुछ ऐसी ताम्र-मूर्त्तियाँ मिलती हैं जो मानवाकृति की सरलतम अभिव्यक्ति कही जा सकती हैं। इसमे देह के प्रमुख अवयव, सिर, धड़, हाथ और पैर समवाय रूप मे एक पत्तर पर काट दिये गये हैं। गगा की घाटी मे ऐसी कई मूर्त्तियाँ मिली हैं, जिनमे से एक भारत-कला-भवन मे सुरक्षित है। हडप्पा और मोहेंजोदड़ो की मुहरो तथा अन्य चित्रो की अनुकृतियो से भी यही पता चलता है। प्रारम्भ से ही मनुष्य ने देवता की शरीर-कल्पना करते समय मनुष्य-शरीर का ही ध्यान रखा। दूसरे शब्दो मे हम कह सकते है कि जभी से मनुष्य ने दार्शनिको के इस महान् तथ्य को समझ लिया कि ईश्वर और जीव के मूल मे एक ही सत्ता है। बाद को पल्लवित होनेवाले सभी दर्शनो ने (चारवाक्, जैन को छोडकर) यही माना है कि परमात्मा अव्यक्त है और जगत् उसकी छाया है। परमात्मा कर्ता होते हुए भी अपनी कृति (जीव) मे भिन्न नही है। अद्वैतवादियो ने जीव और ब्रह्म के बीच के आवरण को माया कहा है। माया का नाश ज्ञान या कर्म से होता है। माया का नाश जीव और ब्रह्म की विभिन्नता का नाश है। कबीर ने इस तथ्य को अत्यन्त सीधे ढग से समझाया है—

---

[१] दिव्यावदान (नालन्दा) पृष्ठ २२८।

[२] साधनमाला, साधना ९८।

'जल मे कुभ है कुभ मे जल है बाहर भीतर पानी ।
फुटा कुभ जल जलहिं समाना, यह तत कह्यो गयानी ।।'

इस महातथ्य का ज्ञान ग्रीस देश के कलाकारो को भी हुआ, किन्तु उनको सत्य का एकागी साक्षात्कार हुआ। भारतीय कलाकार जहाँ यह जानते थे कि ईश्वर मनुष्य की तरह ही रूपधारी है, वहाँ यह भी जान गये कि परमात्मा के शरीर और मनुष्य के शरीर मे असीम और ससीम का अन्तर है। अतएव देवता की शरीर-कल्पना मे उसने परमात्मा की असीम शक्तियो की उद्भावना देने के लिए देवता के अनेक मुख, अनेक हाथ, अनेक पैर और नेत्रादि की कल्पना की । पूरी सम्भावना इसकी है कि भारतीय कलाकार के मन मे वैदिक दार्शनिको की धारणा 'सहस्रशीर्षा पुरुष सहस्राक्ष सहस्रपात्' (ऋग्वेद १०-९०-१) घर की गयी हो। किन्तु ग्रीस देश के मूर्तिकार सम्भवत इस रहस्य से अवगत नही थे, अतएव उन्होने मानव की सुन्दरतम रूप-कल्पना को ही देवत्व माना। उनके पास भारतीय कलाकारो का मूर्तिविधानीय कौशल नही था।

वैदिक ऋषियो का दार्शनिक चिन्तन भारतीय कला के अभिप्रायों और प्रतीको (Art motifs) को अधिकतम मात्रा मे प्रभावित किये हुए है। यह भी कहा जा सकता है कि भारतीय कला और प्रतीको का आधार वैदिक दर्शन ही है । 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' का सत्य और क्षेत्रो मे चाहे कुछ भी हो, किन्तु भारतीय कला के क्षेत्र मे सर्वथा सत्य है । सच यह लगता है कि ऐसे पुराणो ने वैदिक दार्शनिक तथ्यो का कथात्मक उपबृहण किया, उसी प्रकार भारतीय कलाकारो ने भी वैदिक चिन्तनप्रसूत मान्यताओ का प्रतीकात्मक उपबृहण किया। वैदिक ही नही, वैदिकोत्तर दर्शनो के साथ भी भारतीय कलाकार का ऐसा ही तादात्म्य बना रहा। इस प्रकार भारतीय मस्तिष्क का जो कुछ चिन्तन-मनन साररूप मे था, वही कला के क्षेत्र मे दृश्यगत हुआ । वैदिको की सृष्टि-विद्या या हिरण्यगर्भ–विद्या का मर्म भारतीय कलाकारो ने समझ लिया था और उन्होने अमूर्त भावनाओ और दार्शनिक तथ्यो को जो रूप दिया तथा वाना पहनाया वह इतना सटीक बैठा कि दर्शन के दुरूहतम तथ्य भी कला के माध्यम से मुखर हो पडे।

प्रजापति या स्वयभू ने सृष्टि की रचना की । उन्होने सृष्टि की जब इच्छा की, सर्वप्रथम अपने शरीर से जल उत्पन्न किया और फिर विविध प्राणी और वनस्पति की उत्पत्ति के लिए अपने शक्ति-रूपी बीज को जल मे डाल दिया—'अपएव ससर्जादौ तासु बीजमवसृजत्' (मनु० १–८)। यह अप्स ही सृष्टि का मूल उपादान है, अतएव सृष्टि-विद्या और दर्शन को मूर्त रूप देते समय भारतीय कलाकारो ने इसी जल को अपना प्रतीक माना। जल का स्वरूप सूक्ष्म है, अतएव सृष्टिमूलक जल की कलात्मक अभिव्यक्ति के लिए जलीय जीवो और वनस्पतियो को जल का प्रतिनिधि मानकर सृष्टि के दुर्गम रहस्य को सुगम बनाया गया। मकर, कमलनाल, शख, मत्स्य आदि कला के प्रसिद्ध और बहुमान्य प्रतीक सिद्ध हुए। हिरण्यगर्भ भारतीय सृष्टि-विद्या का मर्म और भारतीय दार्शनिक चिन्तन की अलौकिक देन है। साख्यदर्शन का मूलाधार भी बहुत कुछ अशो मे हिरण्यगर्भ विद्या से प्रभावित है । हिरण्यगर्भ की कलात्मक व्यजना बड़ी ही सरल रीति से 'पद्ममूल' के द्वारा सम्पन्न हुई। जिस प्रकार हिरण्यपिण्ड या अण्ड मे सम्पूर्ण जीव और वनस्पति जगत् को नही, अपितु सप्तद्वीपा मेदिनी सन्निहित है, उसी प्रकार पद्ममूल मे भी सम्पूर्ण सृष्टि का मूलतत्व वर्तमान है। भारतीय प्रतीक विद्या का 'पद्ममूल' की कल्पना एक अनुपम देन है। सृष्टि की इच्छा होते ही प्रजापति से 'पद्म' उत्पन्न होता है। यह पद्म सहस्रदल है और उसकी आभा स्वर्णवर्ण की है।

कमल सृष्टि का प्रथम उत्पादन है। अतएव यह ब्रह्म आदि देवताओं का आधार है। विष्णु की नाभि से निकला कमल महाभारत में 'सनातनकमल' के नाम से अभिहित हुआ है।

'पद्म' को सृजन के प्रतीकत्व के लिए सार्वभौम स्वीकृति मिली। हिन्दू मूर्त्तिविधान के अनुसार 'पद्म' प्रायः सभी देवताओं का आसन बनाया गया। बौद्धों की दार्शनिक परम्परा में भी 'पद्म' को यही मान्यता मिली। बुद्ध जब कभी बैठे दिखाये जाते हैं, उन्हें एक या दो कमल-दलों की पंक्तियों पर स्थित किया जाता है। 'ललित-विस्तर' के अनुसार बोधिसत्व की उत्पत्ति के पूर्व माता के गर्भ से एक कमल उद्भूत हुआ (६४-११)। श्रावस्ती का चमत्कार (जिसका सर्वोत्तम मूर्त्तिकाल सारनाथ में हुआ) दर्शाते हुए कमल का सृजनत्व प्रमाणित किया गया है। महाभिनिष्क्रमण के पूर्व सिद्धार्थ ने सात स्वप्न देखे थे जिनमें दूसरा स्वप्न कमल था।[४] यह कमल सम्बोधि का पूर्वाभास प्रस्तुत करता है। इस स्वप्न में बुद्ध ने नाभि से कमल निकलता हुआ देखा था। नेपाली अनुश्रुति के अनुसार आदि बुद्ध की उत्पत्ति कमल से हुई है।[५]

अपस् जो सृजन का मूल तत्व है, दो स्वरूप धारण करता है—एक अग्नि और दूसरा सोम। (अग्निसोमात्मकं जगत्)। अग्नि का स्वरूप घोर है और सोम का उदात्त या शीतल। दोनों ही सृजनमूलक हैं। एक शक्ति है, दूसरा शक्तिमान, एक पुरुष है दूसरा प्रकृति, एक रुद्र है दूसरा

---

४ ज़िमर : मिथ्स् ऍंड सिम्बल्स इन एंश्येंट इण्डिया, पृष्ठ ९२।

५ गोल्डेन जर्म, पृष्ठ ५६-५७।

रुद्राणी। एक लिंग है दूसरा योनि। इस दार्शनिक तथ्य की कलात्मक व्यंजना प्रागैतिहासिक युग से आज तक चली आ रही है जैसे पुरुष (अग्नि) की लिंग रूप में और प्रकृति (योनि) की योनि रूप में। कालान्तर में रुद्र और रुद्राणी को जब मानवाकृति दी गयी, पुरुष और स्त्री रूप में शंकर-पार्वती, राम-सीता, राधाकृष्ण आदि की प्रतिमाएँ इसी दार्शनिक आधार पर बनने लगीं। इन दोनों में भेद नहीं है। 'ललिता सहस्रनाम' के अनुसार दोनों में उसी प्रकार एकत्व है जैसे चन्द्रमा और चन्द्रिका में। (चन्द्रस्य चन्द्रिकेवायं शिवस्य सहजा शिवा, पृष्ठ ६५)। दोनों ही की अद्वैत सत्ता प्रदर्शित करने के लिए कलाकारों ने अर्द्धनारीश्वर की प्रतिमा का निर्माण किया।
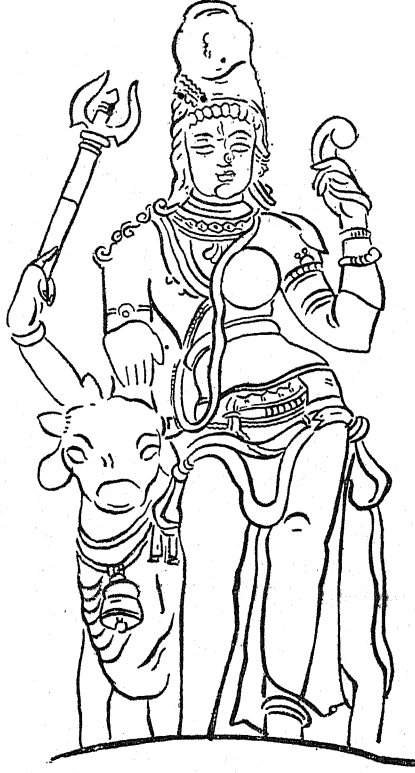
रुचि और उपासना के भेद से कोई पुरुष-शक्ति की उपासना करता है, कोई पुरुष और स्त्री शक्तियों की, और कोई केवल स्त्री-शक्ति की। स्त्री-शक्ति की अपेक्षा मातृशक्ति कहना अधिक समीचीन होगा। मातृशक्ति की कल्पना भी प्रागैतिहासिक है। अदिति के रूप में हड़प्पा-संस्कृति में प्रतिमाएँ बनती थीं। मातृ-कल्पना में परोक्ष रूप में आदि और सृजनमूलक सत्ता की ही पूजा की जाती है। शाक्त-दर्शन में, बज्रयानीय बौद्धदर्शन में मातृशक्ति की महत्ता पुरुष-सत्ता से कहीं अधिक है। इन दर्शनों में मातृशक्ति ही जगन्नियंता और अधिष्ठात्री तथा ब्रह्मस्वरूपा है। दुर्गासप्तशती में देवी को स्वाहा, स्वधा, तथा वषट्कार कहा गया है ('त्वं स्वाहा त्वं स्वधा त्वं हि वषट्कारः स्वरात्मिका'। १-४७)। यह देवी ही सृष्टि, पालन और संहार करती हैं।

अमृतरूपा प्रागैतिहासिक और वैदिक अदिति ही सांख्यदर्शन का महत् या बुद्धि तथा बौद्ध-

तन्त्रों की प्रज्ञापारमिता का आधार प्रतीत होती है। यही बुद्धिस्वरूपा सरस्वती भी हैं। मूर्त्तिशास्त्र की दृष्टि से सरस्वती और प्रज्ञापारमिता में सम्भवतः इसी कारण साम्य है।

यही परमशक्ति अनेक शक्तियों में प्रस्फुटित होकर सृष्टि का पालन और संहार करती रहती है। शाक्तों में इन्हीं शक्तियों के आधार पर दशमहाविद्याओं की परिकल्पना की गयी, जिसका परिणाम मूर्तिविधान पर भी पड़ा। शाक्तों की देवी और उपदेवी सम्बन्धी कल्पना बज्रयानियों और गुह्यसमाजियों को भी ग्राह्य हुई, क्योंकि उनकी मान्यताएँ बहुदेववाद के अनुरूप थीं। 'अदव्य-वज्रसङ्ग्रह' के अनुसार शून्यवादी मानते हैं कि आदि में यद्यपि शून्य ही है जो स्वरूपहीन है, किन्तु शून्यता के विस्फोट होने पर उससे रूप, आकृति तथा विविध देवी-देवता उत्पन्न होते हैं।

सांख्यदर्शन का त्रिगुणवाद, जिसके वैषम्य और संक्षोभ से ही सृष्टि की उत्पत्ति होती है, कला में बहुत प्रचलित हुआ। त्रिमूर्त्ति प्रतिमा का निर्माण इसी आधार पर हुआ। बौद्धों को भी यही त्रिगुणवाद ग्राह्य हुआ। उनके देववाद में मैत्रेय, नामसंगीति, मंजुश्री, मंजुकुमार, हयग्रीव, हलाहल, ध्वजाग्रकेयूर आदि मूर्तियों की परिकल्पना का मूल भारतीय दर्शन का त्रिगुणवाद ही है।

किन्तु जब इस त्रिगुणात्मक सत्ता को पृथक्-पृथक् रूप से दिखाना अभीष्ट हुआ बड़े ही सहज रीति से तीनों गुणों को पृथक्-पृथक् नाम और रूप दार्शनिकों तथा कलाकारों द्वारा दिया गया।

यह मूल भावना थी कि मूल शक्ति एक ही है और वही शक्ति समय-समय पर नाना रूप और नाम धारण करती है :

'एकात्मा च त्रिधा भूत्वा संमोहयति यः प्रजाः।' —(वायु० पु० ६६–११६)

भारत के प्राचीन विश्वविद्यालय और स्त्री-शिक्षा

चन्द्रबली त्रिपाठी

समाज का सुनियोजित सघटन सभ्यता का प्रधान विषय है। वैदिक जीवन मे वर्णो के कर्तव्य-भेद स्थापित हो जाने से शिक्षा के प्रक्रम मे भी कतिपय विभेद किये गये और कदाचित् इसीलिए यद्यपि शूद्र विद्या के अधिकारी माने गये, उनके लिए वेदाध्ययन और ब्रह्मचर्य आश्रम आवश्यक कर्तव्य नही हुआ और द्विजाति मात्र तक सीमित रहा, जैसा कि मनुस्मृति तथा अन्य स्मृतियो से प्रकट है। शिक्षा मे यद्यपि दूसरे विषयो का स्थान था, पर वेदाध्ययन उसका मुख्य और अनिवार्य अग था जिसमे ब्रह्मचर्य-पालन पर अत्यधिक आग्रह था। इसीलिए इस शिक्षा को ब्रह्मचर्य प्रणाली भी कहते है और यह शिक्षा ज्यादा करके गुरुकुलो मे ही दी जाती थी जिससे इसे 'गुरुकुल प्रणाली' की भी सज्ञा दी जाती है।

प्राचीन काल मे ऋषियो के बडे-बडे आश्रम वनो मे, परन्तु गाँवो अथवा नगरो से बहुत दूर नही, होते थे जो न केवल तपस् और आध्यात्मिक चिन्तन के केन्द्र होते, वरन् विश्वविद्यालयो के समान विविध विद्याओ की शिक्षा देते थे। इन गुरुकुलो मे गुरु अथवा आचार्य बहुधा गृहाश्रमी होते थे और ब्रह्मचारी उनके परिवार वर्ग का सदस्य-सा होकर गुरु और गुरुपत्नी के प्रति निष्ठावान रहता था। इस परिवार मे नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए जहाँ उसे सच्चा मानव बनने का अवसर मिलता गुरु और गुरुपत्नी से माता-पिता के स्नेह और शुभाकाक्षा की सुधाधार प्राप्त होती रहती। किसी-किसी आश्रम मे अनेक आचार्य और उपाध्याय होते थे और कोई इतने बडे होते कि उनके विद्यार्थियो की सख्या दस हजार तक पहुँच जाती थी और उनके प्रधान अधिष्ठाता को 'कुलपति' कहते थे। महर्षि कण्व जिनके आश्रम मे शकुन्तला की उत्पत्ति और शिक्षा हुई ऐसे ही एक प्रख्यात कुलपति थे। महर्षि कश्यप उन्ही के समकालीन थे जिनके आश्रम मे भारत वश के प्रवर्तक दौष्यति भरत का सवर्धन हुआ था जो आगे चलकर भारत के प्रसिद्ध सम्राट् हुए।

रामायण काल मे महर्षि विश्वामित्र, वसिष्ठ, वाल्मीकि और अगस्त्य इत्यादि के लोकविश्रुत नाम मिलते है जिनके गुरुकुलो मे विविध विद्याएँ पढायी जाती थी। महाभारत काल के कुछ आश्रम और महर्षि वेदव्यास, भरद्वाज, शौनक इत्यादि के प्रसिद्ध गुरुकुल थे। शौनक एक अत्यन्त विख्यात कुलपति थे जिनका आश्रम नैमिषारण्य के निमिष क्षेत्र मे ऋषियो के आवास के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध था। यहाँ पर कुलपति शौनक ने, जो असाधारण दीर्घजीवी महात्मा थे, एक बारह वर्षो तक समाप्त होनेवाला यज्ञ किया जिसमे उग्रश्रवा ने ऋषियों को 'महाभारत' की कथा सुनायी थी। हरद्वार मे महर्षि भरद्वाज का गुरुकुल था जहाँ वेदो की शिक्षा के साथ क्षात्र-विद्या, जिसमे धनुर्वेद की प्रधानता थी, विशेष रूप से बतलायी जाती थी। महर्षि भरद्वाज से धनुर्वेद मे आचार्यत्व प्राप्त कर ऋषि अग्निवेश ने यह विद्या इसी गुरुकुल मे द्रोणाचार्य तथा द्रुपद को पढ़ायी थी। अवती (वर्तमान उज्जैन) मे ऋषि सादीपनि का गुरुकुल भी विख्यात था जहाँ अकिंचन सुदामा के साथ श्रीकृष्ण ने वेदो की शिक्षा प्राप्त की। ऋषियो के आश्रमो मे, जहाँ एक ओर अनेक ऋषि ब्रह्मचिन्तन करते और योग्य शिष्यो को 'ब्रह्म-विद्या' बतलाते थे जिससे आरण्यकों और उपनिषदों का निर्माण हुआ, दूसरे अनेक ऋषि अनेक शास्त्रो के प्रणयन एवं शोध के अमूल्य कार्य करते थे। इसी परम्परा के अनुसार व्यास
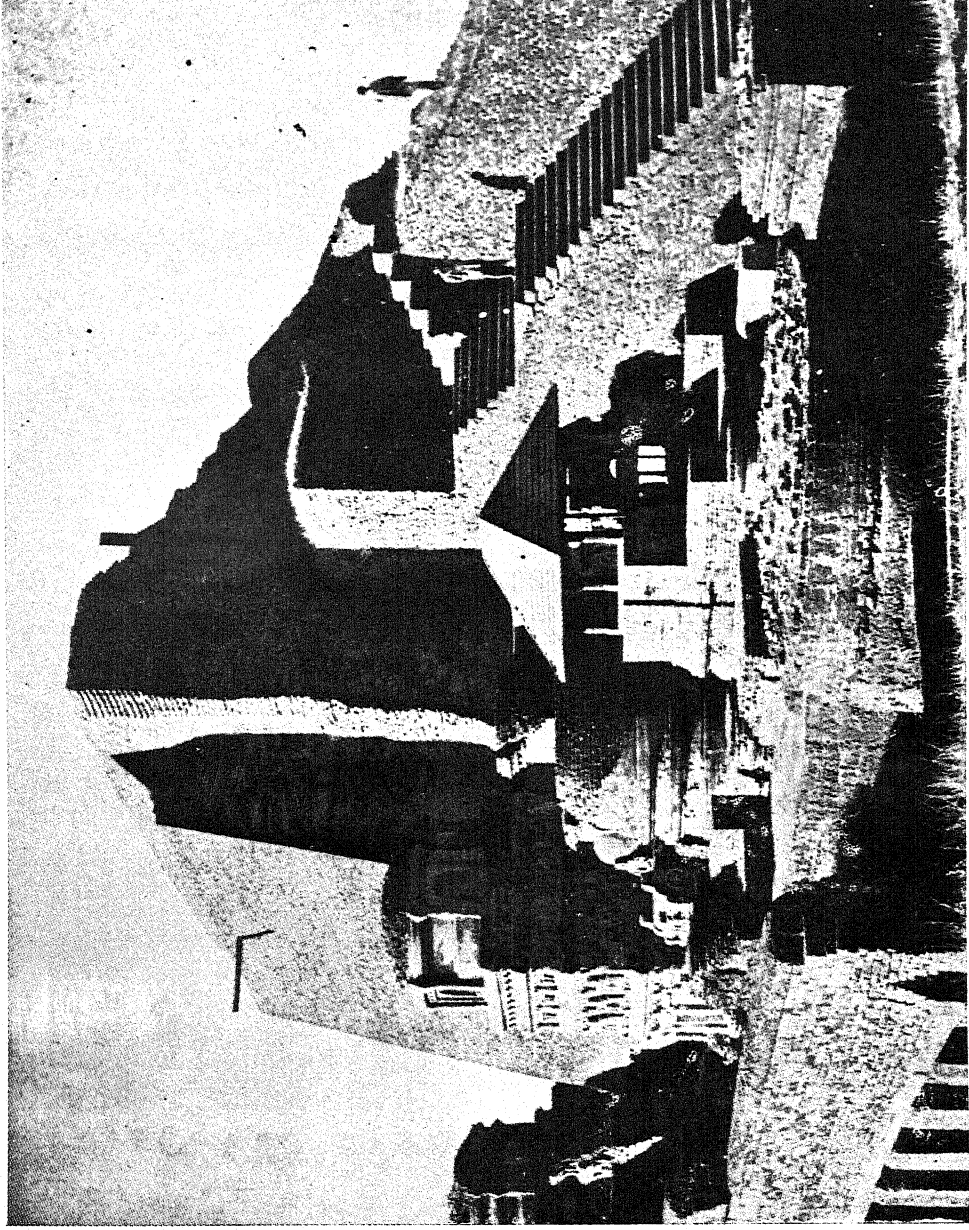
नालन्दा विश्वविद्यालय

ने अपने आश्रम मे चारो वेदो का सम्पादन करके वैशपायन, जैमिनि, सुमतु और पैल इत्यादि प्रधान शिष्यो को वेद-प्रचार का कार्य-भार दिया था।

महाभारत काल मे वनो के गुरुकुलो के अतिरिक्त हस्तिनापुर जैसे बड़े नगरो मे भी बड़े विद्यापीठो का होना पाया जाता है। कौरव-पाडवो की शिक्षा आरम्भ मे हस्तिनापुर मे ही आचार्य कृप के विद्यालय मे हुई थी और यही पर भीष्म के अनुरोध पर द्रोणाचार्य ने उन बालको को क्षात्र विद्या की विशेष शिक्षा के लिए एक बहुत बडी पाठशाला स्थापित की जिसने अपनी ख्याति के कारण दूर-दूर के नवयुवको को आकर्षित किया।

इस विद्यापीठ की एक विशेषता यह देख पडती है कि द्रोणाचार्य ने अपने शिष्यो की परीक्षा स्वय लेने के उपरान्त उसका सार्वजनिक रूप से एक महान् प्रदर्शन भी किया जिसके प्रेक्षण मे सभ्रात पुरुषो के साथ महिलाओ ने भी पूरी अभिरुचि दिखायी।

प्राचीन विश्वविद्यालय : तक्षशिला, नालंदा और विक्रमशिला

जान पडता है कि महाभारत-काल मे तक्षशिला के महान् विश्वविद्यालय की जड जम चुकी थी जैसा कि महाभारत मे उसके आचार्यो मे प्रमुख धौम्य का पता चलता है जिनके शिष्य उपमन्यु, आरुणि और वेद की गुरुभक्ति के उदाहरण आज भी दिये जाते हैं।

रावलपिडी से लगभग बीस मील पश्चिम तक्षशिला रेलवे स्टेशन के समीप उस विश्वविद्यालय के खडहर आज भी उसकी मूक गाथा सुना रहे हैं। सभवत तक्षशिला की स्थापना भरत ने की थी जिसके पुत्र तक्ष उसके शासक थे और उन्ही के नाम पर उसका यह नाम पडा। रघुवंशियो का विद्या-प्रेम बहुत बढा-चढा था जिसके प्रमाण मे रघु का इतना ही कहना पर्याप्त है कि 'लोगो मे इस प्रवाद का नया अवतार न सुनायी पडे कि गुरु-दक्षिणा की याचना रघु से करके एक भग्नमनोरथ वेद-पारगत-स्नातक किसी दूसरे के पास चला गया।'[१] यही पर आगे चलकर जनमेजय का नागयज्ञ सम्पन्न हुआ जिसमे वैशपायन ने प्रथम बार सामूहिक रूप से महाभारत की कथा सुनायी थी।

तक्षशिला विश्वविद्यालय की ख्याति ईसवी पूर्व सातवी शताब्दि मे भारतव्यापी हो चुकी थी और उसमे देश के विभिन्न भागो से विविध विद्याएँ सीखने के लिए विद्यार्थी आते थे, यहाँ तक कि कतिपय विषयो मे विशेष योग्यता के लिए वह काशी, उज्जयिनी और मिथिला जैसे प्रसिद्ध विद्या-केन्द्रो से भी विद्यार्थियो को आकर्षित करता था। भगवान् बुद्ध (ई० पू० ६ठी शती) के समकालीन कोशल के राजकुमार प्रसेनजित ने तक्षशिला मे शिक्षा पायी और यही पर ससार के सर्वश्रेष्ठ व्याकरण-रचयिता पाणिनि ने शिक्षा प्राप्त की और सभवत यही 'अष्टाध्यायी' की रचना भी की। अर्थशास्त्र के रचयिता चाणक्य इसी विश्वविद्यालय के स्नातक थे और यही पर बिम्बिसार का दासी-पुत्र जीवक आयुर्वेद और सर्जरी में पारगत हुआ।

यूनानी लेखो से पता लगता है कि अलेक्ज़ेडर के भारत-आक्रमण के समय (३२७ ई० पू०) तक्षशिला एक महान् विद्या-केन्द्र था, विशेषत समस्त भारतीय दर्शनों का। विद्या के शत्रु बर्बर हूणो के लगातार आक्रमणो ने तक्षशिला को ध्वस्त कर डाला जिससे ईसवी पाँचवी शताब्दि मे जब प्रसिद्ध चीनी यात्री फाहियान ने उसे देखा, तो उसे वहाँ विद्या-विषयक कोई महत्त्व की बात नही मिली। बर्बर हूणो के द्वारा उसका ज्ञान-दीप बुझ चुका था।

---

[१] रघुवंश ५-२४।

तक्षशिला की भारी क्षति की कुछ पूर्ति पाँचवी शताब्दी मे पाटलिपुत्र के दक्षिण लगभग चालीस मील की दूरी पर नालन्दा मे एक विश्वविद्यालय की स्थापना से हो गयी। बुद्ध के प्रधान शिष्य सारिपुत्त के जन्म तथा निधन का स्थान होने मे यह स्थान बौद्ध ससार मे आकर्षण का हेतु था ही विद्या का केन्द्र हो जाने मे बौद्ध-धर्म और साहित्य के अनुष्ठान तथा परिशीलन का शीघ्र केन्द्रविन्दु भी बन गया। गुप्तसम्राट् यद्यपि सनातन धर्मावलबी एव वैदिक धर्म और साहित्य के पुनरुद्धारक थे, फिर भी उन्होंने बडी सहिष्णुता तथा उदारता के साथ इस विश्वविद्यालय के विकास, सवर्धन और सरक्षण मे पूरी शक्ति लगा दी।

भारतीय पुरातत्व के उत्खनन से पता लगा है कि उसके केन्द्रीय विद्यालय मे सात-आठ विशाल हाल थे, एव छोटे-छोटे तीन सौ व्याख्यान-कक्ष थे। भवनो पर कई अट्टालिकाएँ थी जो आकाश को चूमती थी जिनकी प्रशसा मे कवि का कथन है कि 'उनके शिखर बादलो को छूते थे और ऐसे मनोहर थे मानो ब्रह्मा ने उन्हे अपने हाथो से बनाया हो।'[१] बौद्ध विहार अलग ही थे जिनमे बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणियाँ अध्ययनशील थीं। सातवी शती मे जब इत्सिग ने नालन्दा को देखा, इन विहारो की सख्या सात सौ तक पहुंच गयी थी। भारत के विभिन्न भागो एव विदेशो से साधारण जिज्ञासु ही नही धुरधर विद्वान् भी नालन्दा मे आकर अपनी शकाएँ मिटाते और अपने ज्ञान का कोश बढ़ाते थे। चीनी यात्री फाहियान, युवान् च्वाङ और इत्सिग के सिवाय चीन के कई अन्य यात्री एव कोरिया, तिब्बत इत्यादि से बहुत-से जिज्ञासुओं ने आकर नालन्दा की ज्ञान-गगा मे स्नान किया।

विश्वविद्यालय का पुस्तकालय बहुत विशाल था जो तीन बडे भवनो मे, जिन्हे 'रत्नसागर', 'रत्नोदधि' और 'रत्न-रजक' कहते थे, सजाया गया था। जिस कक्ष मे यह पुस्तकालय अवस्थित थे उसका पूरा नाम 'धर्म-गर्भ' था। तक्षशिला की तरह नालन्दा का मूलोच्छेद करनेवाले भी विदेशी आक्रमणकारी ही थे। बारहवी शती के अन्तिम दिनों मे धर्मान्ध बख्तियार खलजी ने बौद्ध विहारो के साथ ही विश्वविद्यालय को भी तलवार के बल पर नष्ट कर दिया, भिक्षुओ को मौत के घाट उतार दिया और अमूल्य पुस्तकालय को अग्नि मे भस्मसात् कर दिया। पुस्तके कई दिनो तक धुआँ और अग्नि के रूप मे आँसू बहाती रही। इस धर्मान्ध बर्बरता के कारण कितनी कलाएँ और विद्याएँ अतीत के गर्भ मे विलीन हो गयी।

नालन्दा की ख्याति जब अपनी चरमसीमा पर पहुँच रही थी तब आठवी शताब्दी मे बगाल मे राजा धर्मपाल ने विहारो की स्थापना के साथ ही विक्रमशिला नामक विश्वविद्यालय की नीव डाली। चार सौ वर्ष तक वह फलता-फूलता रहा। किन्तु १२०३ ई० मे उसी बख्तियार खलजी ने विश्वविद्यालय, उसके विशाल पुस्तकालयों और बौद्ध विहारो को एक साथ ही जलाकर राख कर दिया और सैकडों भिक्षुओ के रक्त से अपनी धर्मान्धिता को तृप्त किया। नालन्दा के महत्त्व से मिलता-जुलता काठियावाड का बल्लभी विश्वविद्यालय था जिसमे देश के कोने-कोने से विद्यार्थी प्रविष्ट होते थे। पाँचवी शती के मध्य से बारहवी शताब्दी तक यह शिक्षा का महान् केन्द्र बना रहा। ७७७ ई० मे अरबो के आक्रमण के कारण एक बार उसकी नीव हिल भी गयी; किन्तु इस धक्के को सहन कर कई सौ

---

[१] यस्याम्बुधरावलेहि शिखर श्रेणी विहारावली।
मालेवोर्ध्व विराजिनी विरचिता धात्रा मनोज्ञा भुवि॥
ए० एस० अलतेकर : एजुकेशन इन एंश्यंट इंडिया।

वर्ष तक उसका अस्तित्व बना रहा। परन्तु इसके बाद जब से भारत मे मुसलमान शासन की प्रधानता हुई, लगभग एक सहस्र वर्ष तक बडे विश्वविद्यालय के अनुरूप किसी सस्था का निर्माण नही हुआ।

औपनिषदिक काल मे मिथिला भारत-विख्यात विद्या-केन्द्र थी जिसकी स्पर्धा काशी का विशाल विद्या-केन्द्र करता था जो बृहदारण्यक उपनिषद् मे वर्णित दृप्त बालार्क के प्रति काशिराज अजातशत्रु की इस उक्ति से ज्ञात होता है कि 'जिसे देखो वही जनक जनक कहता उनके पास दौडा चला जाता है।'[३] इसी तरह पचाल मे भी विद्या और ब्रह्मचर्य की कम धूम नही थी। वस्तुत उस समय विद्या का प्रसार देशव्यापी था और जान पडता है कि कुछ जनपदो मे एक भी व्यक्ति अशिक्षित नही था जिससे केकयनरेश अश्वपति ने बडे गर्व के साथ यह कथन किया कि 'मेरे जनपद मे न कोई चोर है न कोई कजूस, न कोई मद्यपी और न अनाहिताग्नि, न कोई अविद्वान् और न दुराचारी, फिर दुराचारिणी कहाँ।'[४] कालातर मे यद्यपि विशाल गुरुकुल अथवा विश्वविद्यालयो की व्यवस्था न रह गई, पर यह कम गर्व की बात नही कि इस सुदीर्घ काल मे काशी और मिथिला ने विद्या के प्रदीप को कभी बुझने नही दिया एव अयोध्या, नदिया, पाटलिपुत्र, काची, धारा, उज्जैन, मालखेड, तजोर और कल्याणी इत्यादि विद्यापीठो मे भी बिना किसी राज्याश्रय के विद्यादानियो ने अपने त्यागमय जीवन से ज्ञान के प्रकाश को जगमगाता रखा।

देश के प्रत्येक भाग मे, मुख्यत दक्षिण भारत मे, अनेक मठो और मदिरो से सलग्न पाठशालाएँ विद्यादान के कार्य करती आयी और ऐसे निर्लोभी अध्यापको की कभी कमी न हुई जो कर्तव्य-बुद्धि से विद्यार्थियो का अध्यापन अवैतनिक करते आए। बहुतेरे अध्यापको ने विद्यार्थियो के आवास तथा भोजन-वस्त्र का भी स्वय प्रबन्ध कर सस्कृत विद्या और भारतीय सस्कृति की रक्षा का प्रशसनीय कार्य किया एव साधारण जनता ने इसे एक पुण्य कार्य समझकर उनकी यथाशक्ति सहायता की।

वेदाध्ययन और ब्रह्मचर्याश्रम के नियम

वेदो के अध्यापन का कार्य ब्राह्मणो का प्रधान कर्तव्य था और गुरुकुल-प्रणाली मे विद्या-केन्द्रो के अध्यापक ब्राह्मण ही होते थे। वे अध्यापन के बदले कोई वेतन नही लेते थे, बल्कि इसका ग्रहण वे वेद का बेचना तथा पाप कर्म समझते थे। ब्रह्मचारी चाहे वह निर्धन ब्राह्मणकुमार हो, राजा का पुत्र हो अथवा किसी बडे सेठ का बालक हो, आश्रम के समीपवर्ती ग्रामो से भिक्षा माँग लाता, गुरु को अर्पित करता और उसीसे उसका तथा गुरुकुल का जीवन-निर्वाह बडी सादगी के साथ होता रहता। विद्यार्थी ही वन से यज्ञ के निमित्त तथा पाकशाला के लिए ईधन भी लाता था। इस जीवन से ब्रह्मचारियो मे धनवान् और अकिचन का वैषम्य भाव उत्पन्न नही होने पाता था एव उनका स्वावलम्बन का स्वभाव निरन्तर बनता जाता था।

जो ब्राह्मण बालक विशेष रूप से तेजस्वी होना चाहता उसका यज्ञोपवीत सस्कार पाँचवे वर्ष मे, क्षात्र बल मे विशेषता चाहनेवाले क्षत्रिय का छठवे वर्ष मे और विशेष अर्थ के इच्छुक वैश्य का आठवे वर्ष मे, करके उसे गुरुकुल मे भेज देने का विशेष नियम था।[५] ऐसे सामान्य रूप से ब्रह्मचर्य-आश्रम मे प्रवेश के लिए गर्भ से आठवे वर्ष मे ब्राह्मण का, ग्यारहवे मे क्षत्रिय का और बारहवे मे

[३] **बृहदारण्यक उपनिषद् २.१।**

[४] **छांदोग्य उपनिषद् ५.११.५।**

[५] **मनुस्मृति २-३७।**

वैश्य बालक का यज्ञोपवीत कर देने का विधान था।[६] यह अवस्था-भेद क्यों किया गया इसका कारण स्पष्ट रूप से नहीं पाया जाता। किन्तु यह अनुमान करना अयुक्त नहीं होगा कि ब्राह्मण को ब्रह्मचर्य-आश्रम में प्रविष्ट कर देने की कुछ त्वरा इसलिए आवश्यक समझी गयी कि उसमें 'स्वधर्म, शम, दम, तप, शुचिता, क्षान्ति, ऋजुता, ज्ञान विज्ञान और आस्तिक्य'[७] की वृद्धि हो तथा क्षत्रिय और वैश्य बालक को तो अपने-अपने वर्ण की कुछ प्रारम्भिक शिक्षा पितृकुल में मिल जाती थी।

ब्रह्मचर्य-आश्रम में ब्रह्मचर्य का पालन विधिपूर्वक तथा कड़ाई के साथ अनिवार्य था। इस श्रुति में कि 'ब्रह्मचर्य के तप से देवताओं ने मृत्यु को जीत लिया'[८] तथा गीता के इस कथन से कि 'जिस ब्रह्म को पाने की इच्छा से ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं'[९] ब्रह्मचर्य का मुख्य उद्देश्य अमृतत्व अथवा ब्रह्म की प्राप्ति मालूम पड़ता है। ब्रह्मचर्यपूर्वक वेदाध्ययन की अवधि प्राय बारह वर्ष होती थी जैसा कि 'छांदोग्य उपनिषद्' में अपने पुत्र श्वेतकेतु आरुणेय को दिये गए ऋषि उद्दालक आरुणि के उपदेश से मालूम पडता है। श्वेतकेतु आरुणेय आरम्भ में वेदारम्भ की ओर प्रवृत्त नही हुआ जिस पर क्षोभ करके उद्दालक ने कहा कि 'हमारे कुल मे आज तक कोई ब्रह्मबन्धु अर्थात् नामधारी ब्राह्मण नही हुआ जिसने वेदो का अध्ययन न किया हो'। इससे प्रभावित होकर श्वेतकेतु ने ब्रह्मचर्य-पूर्वक बारह वर्षों मे सम्पूर्ण वेदो का अध्ययन समाप्त करके गुरुकुल से लौटकर उसके पश्चात् अपने पिता से 'वेदान्त' का ज्ञान प्राप्त किया।[१०] कहीं-कही ४८ वर्ष की अवस्था तक ब्रह्मचर्य पालन का उल्लेख मिलता है, किन्तु यह अवधि अव्यवहार्य समझी गयी जिससे मनु ने यह नियम बनाया कि गुरुकुल में रहकर ब्रह्मचर्य का पालन करता हुआ ३६ वर्षो तक तीनो वेदो को पढना चाहिए, अथवा १८ या ९ वर्ष तक। किन्तु कितने दिन तक वेदाध्ययन करे इसका कोई कठोर नियम नही है, साधारण नियम यही है कि वेदो का बोध हो जाना चाहिए।[११]

यह ध्यान देने की बात है कि उस समय आधुनिक शिक्षा-प्रणाली की तरह अध्यापन का कार्य कक्षावार नही होता था, अपितु गुरु का वैयक्तिक ध्यान प्रत्येक छात्र पर रहता था जो अपने बौद्धिक विकास के अनुरूप अधिक अथवा न्यून समय मे वेदाध्ययन समाप्त कर लेने मे स्वतन्त्र था। यहाँ पर यह भी कह देना चाहिए कि वेद-सहिताओ अथवा ब्राह्मण-ग्रन्थो मे ब्रह्मचर्य-आश्रम का नामोल्लेख नही हुआ है जिससे उस समय इस आश्रम के अस्तित्व का अभाव कदापि नही समझना चाहिए। 'ब्रह्मचारी' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद और अथर्ववेद मे एव 'ब्रह्मचर्य' शब्द का 'तैत्तरीय सहिता' और 'शतपथ ब्राह्मण' मे हुआ है।

वेदाध्ययन और स्त्री

सैकड़ो वर्षों से हमारे समाज मे यह धारणा मूलबद्ध हो गयी है कि स्त्रियो को वेदाधिकार नही है और इस धारणा पर हिन्दू-समाज बहुत समय से चलता भी आ रहा है। व्यास ने यह देखकर कि नामधारी ब्राह्मणो, शूद्रो और स्त्रियों के कान मे वेद-ध्वनि नही पडती तो उनके

---

[६] मनुस्मृति २-३६।
[७] गीता १८.४२।
[८] ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत।
[९] गीता ८.११।
[१०] छांदोग्य उपनिषद् ६.१.२।
[११] मनुस्मृति।

उपकार के लिए पुराण की रचना की।[१२] भागवत के इस कथन से इस धारणा की प्राचीनता पर प्रकाश पडता है। किन्तु यह इस बात का प्रमाण नही है कि आरम्भ मे स्त्री का ब्रह्मचर्य-आश्रम अथवा वेदाध्ययन मे अधिकार था ही नही। वस्तुत सस्कृति के लिए यह बडे गौरव की बात है कि स्त्रियाँ न केवल वेदो का अध्ययन करती थी, बल्कि उनमे कई इतनी मेधाविनी तथा सत्वनिष्ठ थी कि उन्होने वेदमन्त्रो की रचना की अथवा ऋषियो की तरह मत्रद्रष्टा हुई। इन ऋषिकाओ मे ऋषि अभृण की कन्या वाक् ऋग्वेद के देवी सूक्त की ऋषिका थी। इसी तरह घोषा, अपाला, लोपामुद्रा, विश्ववारा, सिकता, सूर्या, इन्द्राणी, सर्पराज्ञी, ममता, यमी, रोमाशा, जुहू, निकावारी, उर्वशी, श्रद्धा इत्यादि ऋषिकाओ के नाम हमारी सस्कृति के इतिहास मे स्त्री के महत्त्व की घोषणा कर रहे है। अत्यन्त प्राचीन काल मे स्त्रियाँ ब्रह्मचर्य रखती थी एव वेदो का अध्ययन करती थी। अथर्ववेद के इस मत्र से कि 'ब्रह्मचर्य की तपस्या से राजा राष्ट्र की भली-भाँति रक्षा करता है, आचार्य ब्रह्मचर्य से ब्रह्मचारी को चाहता और ब्रह्मचर्य से कन्या युवा पति प्राप्त करती है।[१३] यह स्पष्ट है कि वैदिक काल मे स्त्रियो का ब्रह्मचर्य जीवन प्रशस्त माना जाता था।

'हारीत धर्म सूत्र' मे भी स्त्रियो का उपनयन एव वेदाध्ययन मान्य बतलाया गया है। उसमे ब्रह्मविद्या की दृष्टि से स्त्रियो के दो वर्ग करके कहा गया है कि जो स्त्रियाँ ब्रह्मचारिणी होना चाहे वे उपनयन धारण कर सकती है, अग्नि होम कर सकती है और अपने घर पर वेदाध्ययन तथा भिक्षाचर्या कर सकती है और जो शीघ्र विवाह कर लेना चाहती है वे उपनयन मात्र करके ऐसा कर सकती है।[१४]

गृह्यसूत्रो की प्राचीनता को सभी विद्वान् स्वीकार करते है जिनकी रचना स्मृतिशास्त्रो के पहले तथा वेद-सहिताओ और ब्राह्मणो के अनतर हुई। इन गृह्यसूत्रो मे प्रसिद्ध गोभिल गृह्यसूत्र तथा आश्वलायन गृह्यसूत्र से स्त्रियो का उपनयन सस्कार और ब्रह्मचर्याश्रम पालन सिद्ध होता है। गोभिल गृह्यसूत्र मे विवाह के प्रसग मे यह विधान मिलता है कि विवाहाग्नि के सम्मुख वधू को, जो यज्ञोपवीतधारिणी है, ले जाता हुआ वर ऋग्वेद के मत्र 'सोमोऽददद्गधर्वाय' (१० ८५) को जपता है।[१५] इसी प्रकार आश्वलायन गृह्यसूत्र मे वेदाध्ययन अथवा ब्रह्मचर्य की समाप्ति पर समावर्तन सस्कार के प्रसग मे ब्रह्मचारी के अनुलेपन की विधि मे यह कथन मिलता है कि 'दोनो हाथों मे अनुलेप करने के पश्चात् पहले ब्राह्मण ब्रह्मचारी अपने मुख पर अनुलेप करे, क्षत्रिय दोनो भुजाओ को, वैश्य अपने पेट और स्त्री अपने गुह्याग तथा दौडने की क्रिया से जीवन-वृत्ति चलानेवाले अपने जघों को।'[१६] अस्तु, स्त्री के ब्रह्मचर्य-आश्रम, वेदाध्ययन तथा समावर्तन सस्कार का औचित्य आश्वलायन के मतानुसार सिद्ध होता है।

वैदिक साहित्य के इन उद्धरणो के पश्चात् जब दूसरे आर्ष एव सस्कृत साहित्य के अमूल्य वचनो को देखते है, उनसे भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचते है कि वैदिक युग मे स्त्रियाँ वेदाध्ययन से वचित न थी। श्री रामचन्द्र को यौवराज्य देने की अपनी इच्छा पर जनमत की मुहर लग जाने पर जब

---

[१२] श्रीमद्भागवत।

[१३] ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् (अथर्ववेद १२.३।१७-१८)

[१४] हारीत-धर्मसूत्र।

[१५] पी० वी० काणे : हिस्ट्री ऑव हिन्दू धर्मशास्त्र, पुस्तक २, भाग १ पृष्ठ २९४।

[१६] आश्वलायन गृह्यसूत्र ३.८.११।

दशरथ उसकी तैयारी में लग गए, कौसल्या उसकी निर्विघ्न समाप्ति के निमित्त ईश्वरीय वर प्राप्त करने में प्रवृत्त हो गयी। इसके वर्णन में वाल्मीकि ने कहा है कि सदैव व्रत-परायणा कौसल्या ने कौशेय वस्त्र धारण करके प्रसन्न चित्त से मांगलिक कृत्य किया और मंत्रपूर्वक अग्नि में हवन किया।[१७] वाल्मीकीय रामायण से हम यह भी जानते हैं कि राम और लक्ष्मण की तरह सीता संध्या कर्म में कभी प्रमाद नहीं करती थी। उनके वनवास के दिनों का एक वर्णन यह आता है कि 'उसके पश्चात् शेष बचे जल को ग्रहण करके लक्ष्मण ने भी उपवास किया और तीनों (राम, लक्ष्मण और सीता) ने मौन और सावधान होकर संध्योपासना की।'[१८] सीता के हरी जाने पर उनकी खोज में व्याकुल रामचन्द्र ने नदी पर उनके मिल जाने की आशा का जो कारण दिया वह अत्यन्त सार-सूचक है। उनके इस कथन में कि 'संध्या का समय हो गया ऐसा समझ कर श्याम वर्ण सुन्दरी श्रेष्ठ जानकी संध्या के लिए इस निर्मल जलवाली नदी पर अवश्य आएँगी'—[१९] सीता के सायंकाल की संध्योपासना को भी न भूलना पाया जाता है। यह कहना अनावश्यक-सा है कि संध्योपासना में वैदिक मंत्रों का उच्चारण तथा जप उसकी अनिवार्य विधि है।

कालिदास ने भी स्त्रियों का वेदाध्ययन तथा अग्निहोत्र करना माना है। महादेव को पति रूप में पाने के लिए तपस्या में लीन पार्वती के वर्णन में कालिदास के इस कथन में कि 'जब पार्वती स्नान करके वल्कल धारण कर, हवनपूर्वक वेदमंत्र पढ़ रही थी उस समय उनके दर्शन की इच्छा से ऋषियों ने उनका अभिवादन किया, क्योंकि धर्म में जो बढ़ जाते हैं उनके वयस् पर ध्यान नहीं दिया जाता'[२०] स्त्रियों के उक्त अधिकार का समर्थन पाया जाता है।

उपनिषत्काल की स्थिति

यह निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि ब्रह्मविद्या की जिज्ञासा के पूर्व वेदाध्ययन और ब्रह्मचर्य का पालन अनिवार्य था, यद्यपि मुंडकोपनिषद् के इस मंत्र में कि 'यह ब्रह्मविद्या उन्हीं को बतलानी चाहिए जो क्रियानिष्ठ श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ हों और श्रद्धापूर्वक एकर्षि नामक अग्नि में हवन करते हों तथा जिन्होंने विधिपूर्वक शिरोव्रत का अनुष्ठान किया है'[२१] यह मानने के लिए अवकाश है कि ब्रह्म-विद्या की प्राप्ति के लिए श्रोत्रिय अथवा वेदाध्यायी होना आवश्यक माना जाता था। यदि यह धारणा संदेहरहित हो तो उन ब्रह्मवादिनियों के सम्बन्ध में, जिनके वेदाध्ययन के विषय में हमें स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलते, यह कहने में कोई बाधा नहीं कि उन्होंने ब्रह्मचर्यपूर्वक वेदों का अध्ययन किया था। बृहदारण्यक उपनिषद् ने ब्रह्मवादिनी मैत्रेयी का नाम अध्यात्म विद्या के इतिहास में अमर कर दिया है जिसने अपने महातत्त्वज्ञानी पति याज्ञवल्क्य के इस प्रस्ताव को कि 'मेरे पास जो कुछ सम्पत्ति है उसे तुम में और तुम्हारी सवत कात्यायनी में विभाजित कर सन्यास लेना चाहता हूँ' इन अविस्मरणीय शब्दों में अस्वीकार कर दिया कि 'जिससे मैं अमर नहीं हो सकती उसे लेकर क्या करूँगी। आपको जो ज्ञान प्राप्त है मुझे वही बतलाइए।'[२२] तत्त्वज्ञान की भूखी मैत्रेयी को

---

[१७] वा० रामायण (अयोध्या काण्ड) २०.१५।
[१८] वही (अयोध्या काण्ड) ८७.१९।
[१९] वही (सुन्दर काण्ड) १४.४९।
[२०] कुमारसंभव ५.१६।
[२१] मुंडकोपनिषद् ३,२,१०।
[२२] बृहदारण्यक उपनिषद् २,३,४ :

याज्ञवल्क्य ने उस ब्रह्मविद्या का उपदेश देकर उसे ब्रह्मज्ञानियो के समकक्ष कर दिया जिसका उद्देश्य उनके शब्दो मे 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्य श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो। मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेद सर्व विदितम्'[२३]—अरे मैत्रेयि! आत्मा का दर्शन, श्रवण, मनन और समाधि मे साक्षात्कार करना चाहिए, आत्मा के दर्शन, श्रवण, मनन और ध्यान मे उसे जान लेने के उपरान्त कुछ भी जानने को शेष नही रहता, आत्मज्ञान की उपलब्धि है। याज्ञवल्क्य को भी चकित करनेवाली गार्गी वाचक्नवी भी ब्रह्मवादिनी थी।

दीर्घ काल तक मिथिला ज्ञान की केन्द्र थी और जनको के सरक्षकत्व मे वहाँ बडे-बडे दार्शनिक सम्मेलन हुआ करते थे जिनमे दूर-दूर से तत्त्वज्ञानी सम्मिलित होकर ब्रह्म विषयक विचार-विमर्श किया करते थे। ऐसे ही एक सम्मेलन मे जब याज्ञवल्क्य के तेजस्वी तत्वज्ञान की मीमासा के सम्मुख अनेक ज्ञानी सिर झुका चुके, गार्गी वाचक्नवी ने उनके सामने प्रश्नो की झडी लगा दी और अन्त मे याज्ञवल्क्य को उसे यह कहकर चुप कराना पड़ा कि 'तू अब जो प्रश्न कर रही है वह रहस्यमय है और इस प्रकार के प्रश्न सार्वजनिक सभाओ मे नही उठाए जाते।'[२४]

स्त्रियो मे वेदान्त ज्ञान की कितनी उग्र पिपासा होती थी इसका एक सुन्दर वर्णन हमे भवभूति के 'उत्तररामचरित' मे मिलता है। महर्षि वाल्मीकि के आश्रम मे जिस समय लव और कुश वेदाध्ययन कर रहे थे और महर्षि वाल्मीकि रामायण की रचना मे लग गए थे वही पर एक स्त्री आत्रेयी भी अध्ययन कर रही थी। उस आश्रम को छोडकर वह पर्यटन करती हुई बहुत दूर दडकारण्य मे अगस्त्य के आश्रम मे पहुँची। आने का कारण पूछने पर उसने जो उत्तर दिया वह बडा ही अर्थसूचक है। उसने स्वीकार किया कि वह पढने मे लव और कुश की प्रखर बुद्धि के कारण उनकी बराबरी नही कर पाती थी, दूसरे कुलपति रामायण की रचना मे व्यस्त रहने के कारण उतना ध्यान नही दे पाते थे। आत्रेयी की इस उक्ति मे कि 'गुरु जिस तरह बुद्धिमान् छात्र को उसी प्रकार मद बुद्धि को भी पढाता है, किन्तु दोनो की ग्राहिका शक्ति को वह न बढाता है न मद ही करता है। परिणाम मे बहुत-सा अतर होता ही है, उसी तरह जैसे प्रतिबिम्ब ग्रहण करने की शक्ति मणि मे होती है न कि मिट्टी इत्यादि मे।'[२५] गुरु मे किसी दोष को न देखकर अपने आपमे न्यूनता का अनुभव करना शिष्य का कर्तव्य सूचित किया गया है एव उसके इस उत्तर मे कि 'इस भूभाग मे जहाँ बहुत-से ब्रह्मवेत्ता जिनमे अगस्त्य प्रमुख है वास करते है उनसे वेदान्त-विद्या प्राप्त करने के लिए मै वाल्मीकि के पास से पर्यटन करके यहाँ आयी हूँ।'[२६]

समावर्तन संस्कार में सहशिक्षा का मूल

स्त्रियाँ बिना पर्दे के पुरुषो के बीच रहकर ज्ञान की प्राप्ति कर सकती थी। वाल्मीकि के आश्रम मे लव और कुश के साथ आत्रेयी का अध्ययन उस युग मे सहशिक्षा प्रणाली के अस्तित्व का भी द्योतक हो सकता है। ब्रह्मचर्य-प्रणाली के आरम्भ काल मे गुरुकुलो मे सहशिक्षा का प्रचार था इस धारणा का समर्थन आश्वलायन गृह्यसूत्र मे वर्णित समावर्तन सस्कार की विधि से भी मिलता है। इस विधि मे स्नातक के अनुलेपन-क्रिया के वर्णन मे जिसका उल्लेख ऊपर हुआ है बालक और बालिका का समावर्तन सस्कार साथ-साथ सम्पादन होना पाया जाता है। सहशिक्षा

[२३] वही ३.६.१।
[२४] उत्तर रामचरित २-४।
[२५] वही २-३।

किन्ही कारणो से बन्द हो गयी और उत्तर वैदिक काल मे स्त्रियो को घर पर वेदाभ्यास कराने की प्रथा चल पडी।

यद्यपि वैदिक धर्म मे उपासना और ज्ञान का पर्याप्त स्थान है तथापि वह मूलत यज्ञप्रधान अथवा कर्मकाडात्मक है। वेदो मे यज्ञ की अपार महिमा बतलायी गयी है और विभिन्न यज्ञो की विधियाँ शतपथ तथा दूसरे ब्राह्मण-ग्रन्थो मे निर्दिष्ट हुई है। वेदो का पाठ तथा यज्ञीय विधियाँ क्रमश. अत्यन्त जटिल और दुरूह होती गयी और मनुष्य की मेधा-शक्ति मे ह्रास आ गया जिससे यथाविधि वेदमन्त्रो का पाठ एक अत्यन्त विषम समस्या हो गयी। यह अनुभव किया जाने लगा कि मन्त्रो के पाठ मे जरा-से स्वर भेद से अर्थ का अनर्थ अर्थात् इष्टसिद्धि के स्थान मे अनिष्ट हो जाता है जिसका एक प्रसिद्ध उदाहरण महर्षि पाणिनि[१७] ने दिया है। पाणिनि का कथन है कि 'जो मन्त्र स्वर या वर्ण से हीन होता है अथवा जिसका प्रयोग ठीक-ठीक न किया जाय वह उद्देश्य की सिद्धि नहीं करता। वह वाग्वज्र बनकर यजमान को ही मार डालता है जैसे स्वरदोष के कारण वृत्रासुर मारा गया।'[१८]

पाणिनि के इस कथन का आधार एक ऐतिहासिक घटना बतलायी जाती है। इन्द्र को मारने के लिए वृत्रासुर ने एक यज्ञ किया जिसमे मन्त्र के शब्दो मे 'इन्द्रशत्रुवर्धस्व' शब्द आए जिनका उद्देश्य था कि इन्द्र के शत्रु अर्थात् वृत्रासुर की वृद्धि हो। परन्तु स्वर का अशुद्ध उच्चारण हो जाने के कारण मन्त्र का अर्थ हो गया इन्द्र की, जो शत्रु है, वृद्धि हो। इस अशुद्ध उच्चारण की परिणति इन्द्र के स्थान मे वृत्रासुर यजमान के वध मे हुई। सभवत इस तरह के अनेक दृष्टान्त सामने आए जिससे समाज मे एक प्रकार का भय उत्पन्न हो गया और परिणामस्वरूप वेदाध्ययन मे शैथिल्य आ ही गया और स्त्रियो के लिए तो एकदम वर्जित ही कर दिया गया।

मनुस्मृति मे जहाँ ब्रह्मचर्य के सविस्तार नियम दिये गए है, एक भी वचन ऐसा नही मिलता जिससे उपनयन अथवा वेदो के अध्ययन मे कन्या के अधिकार की सूचना मिले। प्रत्युत उसके लिए ये सब अनावश्यक ठहरा दिये गए। जिस समय वर्तमान रूप मे मनुस्मृति का सपादन हुआ उसमे यह प्रतिपादित किया गया कि 'विवाह की विधि ही स्त्री के लिए वैदिक सस्कार है, पति की सेवा उसके लिए गुरुकुल अथवा ब्रह्मचर्याश्रम है और घर-गृहस्थी अग्नि-परिचर्या है।'[१९] कन्या के ब्रह्मचर्य की पाबन्दी हटने के कारण उसका विवाह-काल भी नीचे खिसकना आरम्भ हो गया। उसकी बुद्धि और मेधा मे ह्रास आने लगा और उसकी वैदिककालीन स्वातत्र्य भावना का स्थान पराश्रयत्व लेने लगा।

वैदिक सभ्यता की प्रौढ़ावस्था मे स्त्रियो को वेदाध्ययन की स्वतन्त्रता थी ही, वह तत्कालीन सार्वजनीन सस्थाओं मे भी भाग लेती थी। सभा और समितियाँ जहाँ राजनीतिक सस्थाएँ थी एक प्रसिद्ध सस्था 'विदथ' थी जो प्राय यज्ञो के साथ सम्पन्न होती थी और जिसे एक प्रकार का धार्मिक सम्मेलन कह सकते है। उनमे स्त्रियाँ सम्मिलित हो सकती थी और उनका उनमे भाषण करना एक सम्मानित गुण माना जाता था। विवाह के अवसर पर प्रयोग मे आनेवाले ऋग्वेद के इस मन्त्र मे

---

[१७] गोल्ड स्टूकर और रामकृष्ण भंडारकर पाणिनि का समय बुद्ध के पहले सातवीं शती बतलाते है जब कि आधुनिकतम मत डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार वह ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दी ठहरता है। देखिए 'पाणिनिकालीन भारत', पृष्ठ ४७६।

[१८] मंत्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह। सवाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्। पाणिनि शिक्षा–५२।

[१९] मनुस्मृति २–६७।

वधू से वर का यह कहना कि 'प्रभावशालिनी तुम विदथ मे भाषण करोगी'[३०] सूचित करता है कि इन धार्मिक सभाओ मे स्त्रियाँ वक्तृताएँ देकर उन्हे प्रभावित करती थी और इसका उनके पतियो को गर्व होता था। कालातर मे जब गुरुकुलो मे स्त्रियो को भेजना बन्द हो गया कदाचित् उसी समय उनका सभाओ मे सम्मिलित होना भी रुक गया जिसका सकेत मैत्रायणी सहिता के इस वचन मे मिलता है कि 'इसलिए स्त्रियाँ सभा मे नही जाती पुरुष ही जाते है'[३१] सभवत यह प्रतिबन्ध रघुवशी दशरथ के पहले लग गया था, क्योकि वाल्मीकीय रामायण मे जहाँ हम यह देखते है कि उन्होने राम को युवराज बनाने के प्रस्ताव पर विचार करने के लिए चारो वर्णो के लोगो की सभा बुलायी, किसी स्त्री के आमत्रित किये जाने का पता नही लगता। महाभारत के समय तक सभाओ मे स्त्रियो का खुले रूप से सम्मिलित होना नि सदिग्ध रूप से अमान्य हो गया था यह हस्तिनापुर के विनाशकारी द्यूत-क्रीडा के वर्णन से प्रकट होता है। पासे पर द्रौपदी को युधिष्ठिर के हार जाने पर जब दु शासन उसे राजप्रासाद से घसीटता हुआ द्यूत-सभा मे ले गया तो द्रौपदी ने जिन शब्दो मे इस कुकर्म की भर्त्सना की उनसे इस कथन की पुष्टि होती है। द्रौपदी का यह आरोप कि 'मैने सुना है कि पहले के लोग धर्म से रहनेवाली स्त्री को सभा मे नही ले जाते थे, सो वह पुरातन सनातन धर्म कौरवो मे नष्ट हो गया'[३२] बतलाता है कि महाभारत के पहले स्त्रियो के सभाओ मे सम्मिलित होने की प्रथा बन्द हो गयी थी।

यह बतलाना अत्यन्त कठिन है कि साधारण जनता मे पुरुषो की तुलना मे शिक्षित स्त्रियो का क्या अनुपात था, किन्तु इतना निश्चयपूर्वक कह सकते है कि कम से कम श्रीमन्तो के घरानो मे कन्याओ को शिक्षा देने का समुचित प्रबन्ध था और उनके पढाने का काम प्राय अनुभवी तथा विद्वान् वृद्ध जनो को सौपा जाता था। दमयन्ती के स्वयवर के समय इन्द्र, वरुण, यम और अग्नि देवो ने उसे पाने के लिए नल का छद्म वेष बनाकर प्रत्याशियो के बीच मे स्थान ग्रहण कर रखा था। एक रूप के पाँच नलो मे से असली नल को वरण करना दमयन्ती के लिए साधारण समस्या न थी। इस समय दमयन्ती को जो शिक्षा दी गयी थी उसका उपयोग करके उसने उन देवताओ को भी छका दिया। उसने मन ही मन तर्क किया कि मैने वृद्धो से सुना है कि देवताओ मे कुछ ऐसे चिह्न होते है जिनसे वे पहचान लिये जाते है।[३३] उन चिह्नो का स्मरण करके दमयन्ती ने इन्द्रादिको को पहचान लिया और असली नल के गले मे जयमाल डाल दी। दमयन्ती के वृद्धो द्वारा अनुशिष्ट होने का प्रमाण उसके इस कथन मे भी मिलता है कि 'वृद्धो से यह शिक्षा सुनी है कि काल के आये बिना कोई नही मरता।'[३४] इसी प्रकार अनुभवी और पुराणो मे प्रवीण शिक्षक राजकन्याओ को शिक्षित किया करते थे इसकी पुष्टि कुती के कई प्रसगो मे कहे गये वचनो से होती है। दौत्य-कार्य मे विफल श्रीकृष्ण को हस्तिनापुर से विदा करने के अवसर पर कुती ने युधिष्ठिर के पास जो सदेश भेजा उस प्रसग मे वह कहती है 'और एक उदाहरण सुनो जिसे मैने वृद्धो से सुन रखा है।'[३५] इस

---

[३०] वशिनी त्वं विदथमावदासि। ऋ० १०।८५. २६।

[३१] तस्मात्पुमांसः सभां यांति न स्त्रियः। मैत्राणी संहिता ४.७.१।

[३२] म० भा० सभापर्व ६९-९।

[३३] म० भा० वनपर्व ५७-१४।

[३४] म० भा० वनपर्व ६५-३९।

[३५] म० भा० उद्योग १३।२.८।

बात का समर्थन द्रौपदी के वचनो से भी होता है। द्रौपदी कहती है कि 'भार्या की रक्षा होने से संतान की रक्षा होती है, सतान की रक्षा से आत्मा की रक्षा होती है। भार्या मे आत्मा सतान के रूप में जन्म लेती है, इसी से भार्या को जाया कहते हैं। भार्या को यह चिन्ता होती है कि उसके उदर मे भर्ता किस प्रकार कुशलपूर्वक उत्पन्न हो। इस विचार से भार्या भर्ता की रक्षक होती है। इस वर्णधर्म को मैंने ब्राह्मणो के मुख मे सुना है।'[३६] मनुस्मृति तथा दूसरे धर्मशास्त्रो मे पुरुष पत्नी का रक्षक बतलाया गया है। इस विचारधारा मे द्रौपदी का यह एक नया विचार जोड़ देने से कि 'गर्भ की रक्षा करने के कारण स्त्री पति की रक्षक होती है स्त्रियो की स्वतन्त्र चिन्तन-शक्ति का आभास पाया जाता है। एक अन्य प्रसग मे द्रौपदी के अपनी धीरता तथा श्रुत ज्ञान को जो परिचय दिया है वह भी इसी प्रकार की शिक्षा का फल है। उसके यह विचार कि 'मनुष्य की सफलता और हार-जीत अनित्य है, यह समझकर मैं अपने पतियो के भाग्योदय की प्रतीक्षा कर रही हूँ। सम्पद्-विपद् गाडी के चक्को की तरह बदलते रहते हैं। इसे मन मे रखकर मैं उस दिन की राह देख रही हूँ जब मेरे पतियो के दिन लौटेंगे।'[३७] उदारतम शिक्षा के ही परिणाम हो सकते हैं।

गृह अथवा कुटीर-उद्योग की शिक्षा भी स्त्रियो को वैदिक काल मे दी जाती थी और कदाचित् ही कोई समय आया जब इस क्रम मे व्यवधान पडा। गृहस्थी का सारा भार प्राय. गृहस्वामिनी ही के ऊपर था। अत· गृह-कार्य की शिक्षा तथा गृहस्थी का हिसाब-किताब रखने की व्यवस्था नारी-शिक्षा का एक विशेष अग था। इस कार्य मे बड़ी-से-बड़ी स्त्रियो को लघुता का अनुभव नही होता था जैसा कि सत्यभामा के साथ एक भेट मे द्रौपदी ने बड़े गर्व के साथ कहा था कि उसे ग्वालो और गड़ेरियो तक की पूरी जानकारी थी। लडकियो की शिक्षा मे नृत्य, वादित्र, गान और चित्रकला का समावेश भी बहुत प्राचीन है।

शिक्षा के विषय

मनुस्मृति के इस कथन से कि 'ब्रह्मचारी गुरुकुल मे ३६ वर्ष तक, १८ वर्ष तक या ९ वर्ष तक अथवा जब तक समाप्त न कर ले तीनो वेदो का अध्ययन करे।'[३८] पाठ्य विषय का एक अधूरा ही परिचय मिलता है। इसका कुछ अधिक ज्ञान हमे ब्राह्मण-ग्रन्थो से होता है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार वेदाध्ययन का एक आवश्यक अग 'अनुशासन'[३९] है जिसका तात्पर्य भाष्यकार सायण ने शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छद और ज्योतिष किया है, जिससे इन विषयो का अध्ययन गुरुकुल-प्रणाली का अनिवार्य अग समझा जा सकता है। इसके अतिरिक्त औपनिषदिक काल मे ही दूसरी विद्याओ का ज्ञान हो चुका था और उनका अध्ययन-अध्यापन साधारण बात हो गयी थी। वेद-वेदागो की शिक्षा के साथ उन दिनो किन विद्याओ की शिक्षा दी जाती थी इसका एक अति प्राचीन उल्लेख छादोग्य उपनिषद् मे नारद-सनत्कुमार-सवाद मे उपलब्ध है। नारद ने सनत्कुमार के पास जाकर ब्रह्म-विद्या बतलाने की प्रार्थना की जिस पर उनकी योग्यता जानने के लिए सनत्कुमार ने नारद से उन विद्याओ के नाम पूछे जिनका उन्हे ज्ञान हो चुका था। इस पर नारद ने उत्तर दिया कि 'मैंने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, पितृविद्या, राशि-

[३६] म० भा० विराट २१।४०.४२।
[३७] म० भा० विराट २०।३.४।
[३८] मनुस्मृति ३-१।
[३९] शतपथ ब्राह्मण ११-५-६८।

विद्या, दैवविद्या, निधि, वाकोवाक्य, एकायन, देवविद्या, ब्रह्मविद्या भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या, देवजन विद्या पढी है।'[४०] छांदोग्य उपनिषद् के इस उद्धरण से हमे ज्ञात होता है कि गुरु-कुलो मे यद्यपि षडग वेदाध्ययन अनिवार्य विषय था तथापि शिक्षा मे अनेक शस्त्र और शास्त्रो के सिवाय नृत्य, वादित्र और चित्र इत्यादि कलाओ का भी समावेश था। यद्यपि इन समस्त विद्याओ का अपने-अपने स्थान मे महत्त्व था, फिर भी सर्वोपरि महत्त्व ब्रह्म-विद्या का ही था जिसे उक्त सवाद मे श्रेष्ठता दी गयी और उसे ही मुडक उपनिषद् मे 'परा' विद्या घोषित करके इतर समस्त ज्ञान-विज्ञान को 'अपरा' विद्या का अभिधान दिया गया।[४१] फलस्वरूप वैशेषिक, साख्य, योग, न्याय, मीमासा और वेदान्त अध्यापन के विषय हुए और बाद को सवृद्ध होकर दर्शनशास्त्रो के रूप मे अस्तित्व मे आये। अत्यन्त प्राचीन काल मे न्याय, योग और साख्य मे कुछ स्त्रियाँ कितनी योग्य हो चली थी इसका एक उदाहरण महाभारत मे असाधारण विदुषी सुलभा का मिलता है जिसने विवाह न करके जीवनपर्यंत ब्रह्मचारिणी रहने का व्रत लिया और अनेक आश्रमो मे ज्ञानार्जन करती हुई उस समय के प्रसिद्ध ज्ञानी जनक को अपनी विलक्षण वाग्मिता और असाधारण योग-क्रिया के प्रदर्शन से अत्यन्त विस्मित कर दिया।

जटिल एव दुरूह वैदिक यज्ञविधियो और विधानो की एकवाक्यता करने और उनके सिद्धातों के प्रतिपादन के लिए मीमासा जैसे कठिन दर्शन की रचना हुई जिसके अध्ययन मे स्त्रियाँ भी निपुण हुई। इस शास्त्र मे काशकृत्स्नानी ने मौलिक तथ्यो मे वृद्धि की जिससे उसके नाम से उसमे एक नयी परम्परा चल निकली। मीमासाशास्त्र पर उसने एक मौलिक ग्रन्थ 'काशकृत्स्नी' की रचना की जिसे स्त्री-छात्राएँ विशेषज्ञता प्राप्त करने के लिए पढ़ती थी। स्त्रियाँ अध्यापन का कार्य भी करती थी यह उपाध्याया शब्द की नयी रचना से स्पष्ट है। जहाँ उपाध्यायिनी शब्द से उपाध्याय की स्त्री का बोध होता आया वहाँ अध्यापन करनेवाली स्त्री के लिए उपाध्याया शब्द का गढना आवश्यक हो गया। वस्तुत. स्त्रियो मे न केवल उपाध्याया, बल्कि आचार्या भी होती थी जिन्हे साग रहस्य वेदो के अध्यापन एव माणवको को उपनयन देने का अधिकार था। यह बात असदिग्ध है कि पाणिनि और पतजलि के समयो मे स्त्रियाँ वैदिक चरणो मे अध्ययन ही नही, अध्यापन भी करती थी।[४२] पाणिनि के सूत्र 'छात्र्यादय शालायाम्'[४३] 'शाला मे छात्रा' आदि से मालूम होता है कि पाणिनि के पहले से कन्या-विद्यार्थिनियो के लिए छात्रावास होते थे जो अनुमानत बालक छात्रो के आवासो से अलग बने होते।

चिकित्सा के क्षेत्र मे स्त्रियाँ कुशल हुई हैं और चिकित्सा-विज्ञान पर उनके ग्रन्थो का पता लगा है। अरबी भाषा मे किसी रूसा का नाम मिलता है जो एक भारतीय महिला थी। धातु-कर्म पर उसने एक ग्रन्थ सस्कृत मे लिखा था जिसका भाषान्तर अरबी मे आठवी शती मे हुआ। प्राचीन काल मे स्त्रियो को गणित का ज्ञान कराया जाता था यह पहले कहा ही जा चुका है। बाद को भी उसकी शिक्षा लड़कियो को दी जाती रही इसका सुन्दर उदाहरण गणित-शास्त्र की प्रसिद्ध पुस्तक लीलावती है जिसकी रचना बारहवी शती मे प्रसिद्ध गणितज्ञ भास्कर द्वितीय ने अपनी कन्या लीलावती को गणित पढाने के लिए की। शकराचार्य और मडन मिश्र के शास्त्रार्थ मे मडन मिश्र की धर्मपत्नी उभय भारती

---

[४०] छांदोग्य उपनिषद् ७–१.२।
[४१] मुंडक उपनिषद् १.१–४.५।
[४२] डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल पाणिनिकालीन भारत पृ० २८१।
[४३] अष्टाध्यायी ६.२–८५ : पाणिनि।

की मध्यस्थता जहाँ उसकी प्रकाण्ड विद्वत्ता का परिचायक है उसका अपने पति के विरुद्ध निर्णय देना, जिसका निश्चित परिणाम शकराचार्य के मत को स्वीकार कर सन्यास ग्रहण था, उसकी निष्पक्षता और न्याय-निष्ठा का अनुपम उदाहरण है।

भारतीय नारी की शिक्षा मे कला पक्ष को प्राचीन काल से विशेष स्थान मिलता आया है। वैदिक युग मे ही नृत्य नारी का भूषण माना जाने लगा था, जब कला पक्ष के विकास के अभाव मे शिक्षा अपूर्ण मानी जाती थी। यह कथन निराधार नही है कि 'महाकाव्यो के काल तक गान तथा नृत्य की स्त्रियो को स्वतन्त्रता प्राप्त थी।' वेदो मे स्त्रियो के नृत्य तथा गान का सकेत मिलता है जहाँ देवी उषा के विषय मे कहा गया है कि 'नृत्य करनेवाली बालिका की तरह वह अपने ऊपर भड़कीले वस्त्र डालती है।' महाभारत से ज्ञात होता है कि विराट् ने अपनी राजधानी मे अपनी राजपुत्री उत्तरा को नृत्य सिखाने के लिए नृत्य-शाला स्थापित की थी जिसमे नगर की कन्याएँ भी शिक्षा पाती थी। उनके शिक्षक पुरुष भी हो सकते थे, परन्तु उनका नपुसक होना आवश्यक था, जैसा उत्तरा का शिक्षक नियुक्त करते समय विराट् ने परीक्षा कराकर विश्वास कर लिया था कि बृहन्नला (अर्जुन) नपुसक था। शुग काल मे नाटच-कला की वृद्धि विशेष रूप से हुई। अग्निमित्र (द्वितीय शती ई० पू०) के प्रासाद मे एक सगीतशाला थी जहाँ नाटचकला की शिक्षा मे नियुक्त गणदास और हरदत्त नाम के दो अध्यापको मे कला-विषयक खासी होड रहती थी। यह उल्लेखनीय है कि मालविका के नाटच-शिक्षा की परीक्षा की मध्यस्थता सम्राट् अग्निमित्र के आग्रह से एक स्त्री ने की जो विदर्भ के राजा माधवसेन के मत्री सुमति की बहन थी और अग्निमित्र के यहाँ परिव्राजिका के वेश मे छिपकर रहती थी।

काव्य के क्षेत्र मे भी स्त्रियो का कम योगदान नही रहा है। दक्षिण भारत की कई नारियाँ— रेवा, रोहा, माधवी, अनुलक्ष्मी, पाहायी, बद्धवाही, शशिप्रभा—इत्यादि उल्लेखनीय हैं जिन्होने प्राकृत मे उत्तम कोटि की कविताएँ रची। सस्कृत काव्य मे कई स्त्रियो ने कमाल किये हैं। शीलो भट्टारिका का नाम इस क्षेत्र मे आदर के साथ लिया जाता है। गुजरात की देवी मुग्धकारी की सस्कृत काव्य-रचना यथा नाम तथा गुण मुग्धकारी होती थी जिसकी प्रशसा मे यह सूक्ति प्रसिद्ध है कि 'वह इस ससार मे न रहते हुए भी रसिक जनो के हृदयो मे विराजमान है, क्योकि लाटी शैली मे शृगार रस की कलापूर्ण कविता करने मे वह सिद्धहस्त थी।' सस्कृत के काव्य-मर्मज्ञो ने कर्णाटक की विजयाका की भूरिश प्रशसा की है और यह सम्मति दी है कि विजयाका कर्णाटक की सरस्वती की तरह विजयिनी है, जिसका कालिदास के बाद वैदर्भी वाणी पर एकाधिकार था। उसके महत्व का अनुमान राजशेखर की इस आलोचना से लगाया जा सकता है कि 'दडी ने यह व्यर्थ ही कहा है कि सरस्वती सर्व-शुक्ला है, क्योकि वह विजयाका से परिचित नही था जो नीले कमल के समान श्याम थी।' डॉक्टर अलतेकर को एक सस्कृत नाटक का, जिसकी रचयिता कोई स्त्री विद्या या विज्जका थी, पता लगा था। उसका नाम कौमुदी-महोत्सव है जिसका कथानक पाटलिपुत्र की एक राजनीतिक क्रान्ति है जिससे स्त्रियो की राजनीतिक अभिरुचि का परिचय मिलता है। सुभद्रा, सीता, मारुला, इन्दुलेखा, भवदेवी, विकटानितम्बा आदि जिनकी काव्य-रचनाएँ लुप्त हो गयी हैं, अच्छी कवयित्रियाँ हो गयी हैं। स्वयं महाकवि राजशेखर की स्त्री भी एक निपुण कवयित्री हो गयी है।

मौर्यों का अवसान एवं पुष्यमित्र शुंग का अभ्युदय

रामलखन शर्मा

भारतीय इतिहास के गगन मे प्रथम सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य ने यदि सूर्य की भाँति दिग्-दिगन्त को आलोकित किया था, उसने यदि अपनी भुजबल रूपी प्रखर आभा से स्वदेश को ही नही, विदेश को भी आतप्त किया था तो उसके पौत्र रूपी चाँद ने अपनी शीतल और सुखद चाँदनी से जगत् को परम आह्लाद प्रदान किया था। अशोक ने भेरीघोष के स्थान पर अपने धर्म-घोष का निनाद किया। उसने अपनी मानवता से जगत् को मानव बनाना चाहा। उसने अपने सुकृतो से अपने लिए ही नही, बल्कि समस्त भारत के लिए अक्षुण्ण यश अर्जित किया। आज भी हम उसके ऋणी है। पर एक दिन आया जब चन्द्रगुप्तरूपी वह सूर्य ढल गया और उसके पीछे वह चाँद भी अस्ताचल को चला गया। इसके अनन्तर उसके उत्तराधिकारी भी नक्षत्रो की भाँति कुछ समय तक झिलमिला कर रह गये। वस्तुत यह समय मौर्ययुग का ही अवसान न था, वरन् उस महान् वृक्ष की छाया मे पलनेवाले बौद्धधर्म का भी मानो विराम काल था।

उस युग का स्मरण करे जब मौर्यो का बल क्षीण हो चुका था, बौद्धधर्म के प्रबल प्रचार से वैदिक सस्कृति दब चुकी थी और जिन सम्राटो और आचार्यो ने जनता को वैदिक कर्म-काण्ड से मुक्ति देकर एक सरल और सुखमय मार्ग दिखाना चाहा था, वे स्वय मिट चुके थे। जिन दिनो बौद्धधर्म की अहिसा से क्षीण भारत को विदेशी आक्रान्त करने लगे थे, भारत मे एकछत्र सम्राट् न रह गये थे। उनके स्थान पर लघुकाय राज्यों को प्रश्रय मिलने लगा था। यह समय ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी का आरम्भ था। इन दिनो जन-जीवन दु खमय हो गया था, इस समय जन-जन आकुल था, वह येन-केन प्रकारेण किसी शक्तिशाली रक्षक की दुर्बल आशा मे अपने प्राण-पखेरू सम्हाले था। इसी समय वैदिक सस्कृति का प्रतीक पुष्यमित्र शुग एक नव प्रभात लेकर भारतीय इतिहास मे अवतरित हुआ। पुष्यमित्र का उदय हमारे इतिहास मे वैदिक सस्कृति के जयघोष का उदय है। यह वह बल है जिसने वैदेशिक शक्ति से पराभूत भारत को मुक्ति दी, यह वह सम्बल है जिसके सहारे आर्त भारत ने एक बार पुन. सजग हो श्वास ली और अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया। आज हमे जिस सस्कृति पर गर्व है, यदि पुष्यमित्र जैसा सम्राट् हमारे इतिहास मे न आता, विदित नही, इस वाङमय की क्या दशा होती? पुष्यमित्र के शासन काल मे सस्कृत साहित्य का सृजन, सरक्षण और सवर्द्धन सभी कुछ हुआ। उसने एक बार पुन वैदिक मत्रो के जयघोष से भारत-भू को गौरवान्वित किया।

पुष्यमित्र की राजत्व प्राप्ति

पुष्यमित्र अन्तिम मौर्य सम्राट् बृहद्रथ का सेनापति था। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने उसके राज्यारोहण के विषय मे आज से लगभग ५० वर्ष पूर्व लिखा था कि[1] पुष्यमित्र उत्तर-पश्चिम

[1] **महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री—जर्नल ऑव दि एशियाटिक सोसायटी बंगाल १९१०, पृष्ठ २६१।**

मे ग्रीको से युद्ध करने गया था। ये ग्रीक उन दिनो भारत को प्रतिवर्ष आक्रान्त कर रहे थे। पुष्यमित्र उन्हे पराजित कर पाटलिपुत्र लौटा। उसने लौटकर अपने स्वामी को उस सेना के निरीक्षण के लिए बुलाया जिसकी बदौलत वह विजयी हुआ था। बृहद्रथ भी बडे हर्ष के साथ अपने विजयी सेनापति को बधाई देने के निमित्त आगे बढा। नगर के बाहर एक शिविर का निर्माण किया गया। इसी शिविर मे सेना का निरीक्षण किया गया, आनन्द मनाया गया। इसी बीच एकाएक एक तीर बृहद्रथ के मस्तक पर लगा और सम्राट् बृहद्रथ स्वर्गधाम सिधार गया। आश्चर्य की बात है कि सेना ने कान तक न हिलाया। शास्त्रीजी ने इस घटना को किस आधार पर लिखा है यह नही कहा जा सकता, पर हर्षचरित से इसके उत्तरी अश की पुष्टि होती है।[२] उसमे लिखा है 'प्रज्ञादुर्बल च बलदर्शनव्यपदेशदर्शिताशेषसैन्य सेनानीरनार्यो मौर्य बृहद्रथ पिपेष पुष्यमित्र स्वामिनम्।'

इस घटना के पीछे क्या रहस्य था यह आज तक अज्ञात है। दो बाते सम्भव है, या तो वह मौर्य नृपति दुर्बल था जैसा बाणभट्ट लिखते है, या वह सेनापति इतना शक्तिशाली और आतंकवादी था कि जिसके भय से किसी का उस समय साहस न हुआ कि उसके विरुद्ध आवाज उठाये। जो हो पुष्यमित्र इस प्रकार राज्य हस्तगत कर लेता है, और उस विशाल साम्राज्य का अन्त कर देता है जो साम्राज्य भारत के इतिहास मे अपने वैभव और अपनी सुव्यवस्था के लिए प्रसिद्ध रह चुका था। इसी साम्राज्य ने ही सर्वप्रथम हमारी व्यवस्था मे बल का सचार किया था, पर इसके अन्तिम सम्राट् इसकी महती प्रतिष्ठा की रक्षा न कर सके और इसका अन्त आ ही गया। इसके पतन के लिए वस्तुत. कोई एक कारण उत्तरदायी न था, यह अनेक तत्त्वो का मिला-जुला फल था। इस स्थल पर पुष्यमित्र के विषय मे कुछ कहने से पूर्व उसके समय की पृष्ठभूमि पर विचार करना स्वाभाविक है जिसने पुष्यमित्र के उत्थान और मौर्यो के पतन मे योगदान किया था।

मौर्य शासन का दायित्व

मौर्यो का शासन इस रीति से सचालित किया गया था जिसमे केन्द्र शक्तिशाली रहता था।[३] इतने विशाल साम्राज्य का शासन विकेन्द्रीकरण पर आधारित था।[४] कौटिल्य ने इसके सचालन के निमित्त विशाल नौकरशाही का प्रबन्ध किया था। रेल-तार हीन उस युग मे भी इस नौकरशाही को साम्राज्य के कण-कण का ज्ञान रहता था। कौटिल्य ने अपने कर्मचारियो को ऐसा बाँध रखा था कि वे जन-धन की हानि न होने दें। वे सभी के सुख का समुचित ध्यान रखे। कौटिल्य द्वारा शासित केन्द्र अपनी इकाइयो पर हावी रहता था। वे कभी विश्रृंखलित न हो सकती थी। पर अशोक के पश्चात् मौर्य सम्राट् इतने शक्तिशाली शासक के स्थानापन्न होकर उसकी पूर्ति न कर सके। चन्द्रगुप्त मे भुजबल था, अशोक में आत्मबल पर उनके उत्तराधिकारियो मे एक भी नही।[५] इसी का फल था कि कुणाल व्यक्तिगत वैमनस्य का शिकार हुआ, वह धृतराष्ट्र की भाँति नाममात्र को शासक रहा।

[२] बाणभट्ट : हर्षचरित, पृष्ठ ३४५।

[३] डा० मजूमदार, आर० सी०, दि एज ऑव इम्पीरियल यूनिटी, पृष्ठ ६२-७९।

[४] डा० मुकर्जी, राधाकुमुद, चन्द्रगुप्त मौर्य ऐंड हिज टाइम्स, पृष्ठ ७६।

[५] कौटिल्य अर्थशास्त्र, भाग-२, परिच्छेद ५-१६।

दशरथ ने अपने पितामह का मार्ग अपनाया पर कितने दिन ?[६] सम्प्रति ने जैनियो को सहारा दिया पर उससे लाभ क्या ? आखिर शालिशूक के युग मे विदेशी आक्रमण प्रारम्भ हो गये।[७] इस सब का एक भयकर परिणाम निकला। इससे शासन की बागडोर ढीली पड गयी। सरकारी कर्मचारी विचलित होने लगे। उनका भी क्या अपराध था, आये दिन एक राजा बनता और मिटता, वे किसके स्वामिभक्त होते, किसके बल पर उछलते ? किसके प्रति वे निष्ठा रखे यही निश्चय न कर पाते थे।

कुछ इतिहासकारो का कथन है कि इस समय मौर्य साम्राज्य दो भागो मे विभक्त हो चुका था। इनमे पूर्वी भाग दशरथ के अधीन था, तथा पश्चिमी कुणाल को मिला था। इन्ही तत्त्वो के साथ अन्य अनेक बाते और पैदा हो गयी थी, यथा जलौक ने एक अलग सत्ता बना ली थी, सुभगसेन अलग हो गया था। मौर्य सचिव तथा सेनापति मे भारी मनमुटाव था।[८] इस मनमुटाव ने धीरे-धीरे ऐसा उग्र रूप धारण किया कि सचिव के सहयोगी को विदर्भ और सेनापति के पुत्र को विदिशा का राज्य मिला था। इस प्रकार साम्राज्य की चूले हिल गयी थी। जो अश नया बना था उनमे अभी शक्ति न आ पायी थी। उसे सभी साधन नये सिरे से जुटाने थे, यह टेढी खीर थी। ऐसी स्थिति मे धन की कमी आ पडी थी, मानो दुर्बलता को भी दुर्बलता सता रही थी। अत. मौर्यो का अवसान अवश्यम्भावी था।

अशोक की धार्मिक नीति का दायित्व

कुछ इतिहासकारो का विचार है कि साम्राज्य के पतन का सारा दायित्व अशोक की धार्मिक नीति पर था। इस मत के समर्थको का कहना है कि पुष्यमित्र का विद्रोह कोई एकाएक उत्पन्न घटना न थी, बल्कि यह अशोक की बौद्ध नीति के विरुद्ध ब्राह्मणो का विद्रोह था। इस विद्रोह की आग ५० वर्ष पूर्व से सुलग रही थी। जब तक केन्द्र सबल रहा यह आग प्रज्ज्वलित न हो सकी, पर केन्द्र के क्षीण होते ही वह धधक उठी। इस विचारधारा के सबसे बडे समर्थक महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्रीजी रहे। शास्त्रीजी का कथन है कि अशोक एक कट्टर बौद्ध था। उसने यद्यपि अपने शिलालेखो मे दूसरे धर्मो के प्रति आदर की भावना प्रदर्शित की है, एव उसने अपने धर्म की बडाई और दूसरे की बुराई करना हेय समझा है, तथापि उसके अभिलेखो मे अनेक अन्य भावनाएँ छिपी है।[९] जैसे उसने वैदिक धर्म मे विहित बलि को सर्वथा बन्द कर दिया था।[१०] यह केवल

---

[६] आयंगर, दि बिगनिंग ऑव साउथ इण्डियन हिस्ट्री, पृष्ठ १०० ।

[७] रोमिला थापर, अशोक ऐंड दि डिक्लाइन ऑव दि मौर्याज, पृष्ठ १९ ।
और दे०—दशरथ का नागार्जुन पर्वतीय गुहाभिलेख ।
और दे०—जिनप्रभसूरि, पाटलिपुत्रकल्प, परिशिष्ट, ११,६५ ।
और दे०—काम्प्रिहेंसिव हिस्ट्री ऑव इण्डिया, भाग २, पृष्ठ ४५ ।

[८] कालिदास, मालविकाग्निमित्र, पृष्ठ २३ ।
मौर्यसचिवविमुञ्चति यदि पूज्यः संयतं ममश्यामलम् । मोक्ता माधवसेनस्ततोमयाबन्धनात्सद्यः ।

[९] शास्त्री हर प्रसाद, कॉज़ेज ऑव डिस्मेम्बरमेण्ट ऑव दि मौर्यन एम्पायर, जे० बी० ओ० आर० एस० १९१०, पृष्ठ २५९ ।

[१०] प्रियदर्शी अभिलेख, सम्पादित शर्मा रामावतार, पृष्ठ १—'हिद न किछिजिवे आलभितु पजोहितविये ।'
और देखिए वही—शिलालेख ४—'अनालम्भोपानानं अभिहिंसाभूतानां'

बलि का निषेध न था, बल्कि ब्राह्मणों के परम्परागत अधिकार को छीनना था। उनके स्वत्व पर कुठाराघात था। शास्त्रीजी के अनुसार यह आज्ञा विशेषकर इसलिए कठोर थी कि एक शूद्र के द्वारा दी गयी थी। शास्त्रीजी के विचार मे अशोक ने एक स्थल पर यहाँ तक कह डाला है कि अभी तक जो भूलोक के देवता थे उन्हे मैंने झूठा सिद्ध कर दिया।[११] आपका आगे कहना है कि ब्राह्मणों का ही वह वर्ग था जो समाज मे सर्वोच्च था, वही हर काम मे आगे रहता था, वही सबको यज्ञ और अनुष्ठान कराता था, वही औरों को सामाजिक बन्धन तोडने पर दण्ड दे सकता था, उन्हे क्षमा कर सकता था। ऐसी स्थिति मे अशोक का 'धर्ममहामात्रों' का नियुक्त करना और भी गलत था। ब्राह्मण इस अधिकार का अपहरण सहन न कर सकते थे। अन्त मे शास्त्रीजी का कहना इतना और है कि अशोक ने ब्राह्मणों पर एक वज्राघात किया। उसने ब्राह्मणों को भी न्याय और दण्ड आदि विषयों में अन्य वर्गों के समान समझा, उसने सभी को एक लाठी से हाँक दिया। ब्राह्मण मनु के अनुसार अदण्डच थे। उनका बडे-से-बडे अपराध पर भी वध न किया जा सकता था।[१२] अशोक की समान न्याय-व्यवस्था मे सम्भव है कि उन्हे हर प्रकार के दण्ड भोगने पडे हो। अत शास्त्रीजी के अनुसार अशोक का एक प्रतिष्ठित वर्ग को शूद्र के साथ खडा करना सर्वथा अनुचित था और यही ब्राह्मणो के विद्रोह का मूल कारण था।

पर यदि इन तर्को को ध्यान से परखा जाय, शास्त्रीजी के कथन मे भी सत्यता न मिलेगी। शास्त्रीजी ने अपने दृष्टिकोण को दूसरे के मुँह मे बिठाना चाहा है। उन्होने अनेक बातो की अवहेलना करके तत्त्वो को तोडा मरोडा है। इसके विपरीत डॉ० रायचौधरी का कथन है कि क्या वैदिक धर्म मे अहिंसा को पहले से स्थान नही था? क्या वैदिक धर्म केवल बलि पर ही आश्रित था? रायचौधरी ने 'मुण्डकोपनिषद्' से प्रमाण देते हुए कहा है कि जो लोग यज्ञादि मे ही पडे रहते है वे जरा-मरण के भय से मुक्त नही होते।[१३]

हमारे पूज्य ग्रन्थ गीता मे जहाँ युद्ध की प्रेरणा दी गयी है, किसी भी गृहस्थ के लिए अहिंसा कम महत्त्वपूर्ण नही समझी गयी।[१४] सबसे बडी बात जो शास्त्रीजी के तर्कों के विरुद्ध पडती है वह यह है कि अशोक ने ब्राह्मणो को पूज्य माना है।[१५] दूसरे अब मौर्य वश को शूद्र कहना न्यायसगत नही है। मौर्यों के विषय मे आज से ५० वर्ष पूर्व इतना ज्ञान न था, पर अब पुष्ट प्रमाणो के आधार पर यह सिद्ध हो गया है कि वे क्षत्रिय वश के थे।[१६] 'दिव्यावदान' और 'महावश'

[११] अशोक अभिलेख, लघुशिलालेख, सहसराम।

[१२] मौण्डचं प्राणान्तिको दण्डो ब्राह्मणस्य विधीयते। इतरेषा तु वर्णानां दण्डः प्राणान्तिको भवेत्। न जातु ब्राह्मणं हन्यात् सर्वपापेष्वपिस्थितम्। राष्ट्रादेन वहिः कुर्यात् समग्रधनमक्षतम्॥
मनु, अध्याय, ८, ३७९-८०।

[१३] मुण्डकोपनिषद्, पृष्ठ १५, (आनन्दाश्रम प्रेस, चतुर्थ सस्करण, १९१८)।
प्लवाह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म। एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दति मूढा जरा मृत्युं ते पुनरपि यान्ति॥

[१४] श्रीमद्भगवगीता, अध्याय १६, श्लोक २।

[१५] प्रियदर्शी शिलालेख, ३.४।

[१६] महापरिनिब्बान सुत्तम्, पृष्ठ १९६ (ज्ञानमण्डल, वाराणसी)
(भगवाऽपिखत्तियो मयम्पि खत्तिय)।

के आधार पर भी ये क्षत्रिय थे।'[१७,१८] शास्त्रीजी का यह कथन भी निराधार है कि अशोक ब्राह्मणो की महत्ता छीनना चाहता था। जिस पक्ति पर शास्त्रीजी का मत आधारित है उसका अर्थ ही कुछ और है। वह पक्ति इस प्रकार है—'इमाय कालाय जम्बुदिपसि अमिसा देवा हुसु ते दानी मिसा कटा'। सर्वप्रथम यहाँ उल्लेखनीय यह है, कि यह पक्ति भिन्न-भिन्न स्थलो मे भिन्न-भिन्न रूपो मे मिलती है।[१९] हूल्स तक के अनुवादको ने इसे देवो से मिलन का अर्थ दिया है। यह मिलन किस प्रकार का था यह निश्चित नही है। इस मिलन का तात्पर्य देवो के प्रति आसक्ति हो सकती है, धार्मिक वृत्ति मे वृद्धि हो सकती है, अधार्मिक से धार्मिक भावना की उत्पत्ति हो सकती है। डॉ० टामस ने भी इसी प्रकार का भाव दर्शाया है।[२०] उनका मन्तव्य है कि जो लोग (अधिकाशत. मूल निवासी) देवताओ से परिचित न थे, उन्हे एक वर्ष के भीतर उनसे परिचित करा दिया। डॉ० मुकर्जी ने इस पक्ति को बडे ध्यान से परखा है और दूसरो के अनुवाद का सतुलन करते हुए अपना अनुवाद दिया है। उनका कथन है कि इस समय के बीच जम्बुद्वीप मे जो लोग देवताओ से दूर थे, जिन्हे किसी धार्मिक भावना का ज्ञान न था, अशोक ने उन्हे भी धार्मिक बना दिया।[२१] उन्होने एक अर्थ की और कल्पना की वे लोग जिनके उपास्य देव पृथक्-पृथक् थे, सब एक हो गये, उनमे कोई भेदभाव न रहा।' अशोक ने निस्सदेह धार्मिक कटुता को कम करने की चेष्टा की थी और अपने आत्मबल के आधार पर वह अपने मनोरथ मे बहुत अशो तक सफल भी हुआ था। इन दोनो अर्थो मे पहला रूपनाथ और मास्की मे उपयुक्त नही पडता, क्योकि उसमे केवल देवताओ की चर्चा है मनुष्यो की नही। ब्रह्मगिरि मे दोनो की चर्चा है। अत डॉ० मुकर्जी अपने दूसरे अर्थ को ही प्रधानता देते है। इस बात की पुष्टि सेनार्ट[२२] के कथन से भी होती है—बौद्धधर्म मे सच्चे और झूठे देवताओ की चर्चा करना ही व्यर्थ है, जब देवता गौतम को जन्म से मृत्यु तक देखते रहे, गौतम स्वय उनसे उत्पन्न थे, वह राजा जो अपने को देवप्रिय कहे कैसे उनकी निन्दा कर सकता है। सेनार्ट का सकेत भी ब्राह्मणो की ओर था जिसे शास्त्रीजी ने अङ्गीकार किया है। पर यह सब सम्भव नही है। हम मिसा को मिश्रीभूत अर्थ मे युक्त नही कर सकते। इसी तरह अमिसा का अर्थ अमृष सम्भव नही है।[२३] अत इस पक्ति का अर्थ इस प्रकार ही होगा कि इस बीच जो लोग देवताओ से दूर रह वे अब उनके सम्पर्क मे आ गये।

जहाँ तक धर्ममहामात्रो की नियुक्ति का प्रश्न है वे केवल धर्म के लिए ही उत्तरदायी नही

---

[१७] **दिव्यावदान—कॉबेल एवं नील का संस्करण, पृष्ठ ३६६-७०।**
'त्वं नापिनी अहं राजा क्षत्रियो मूर्धाभिषिक्तः, कथं मया सार्धं समागमो भविष्यति'।

[१८] **महावंश, अंग्रेजी अनुवाद, पृष्ठ २७।**

[१९] **रूपनाथ—'या इमाय कालाय जम्बुदिपसि अमिसा देवा हुसु ते दानीं मिसा कटा'।**
सहसराम—'एतेन च अन्तलेन जम्बुदिपसि अम्मिसं देवा सन्ता मुनिसा मिसं देवा कटा'।
मास्की—'पुरे जम्बुदिपसि ये अमिसा देवा हुसु तेदानीं मिसीभूता'।

[२०] **डॉ० टॉमस, एफ. डब्ल्यू : केम्ब्रिज हिस्ट्री, भाग १, पृष्ठ ५०५।**

[२१] **डॉ० मुकर्जी, राधाकुमुद : अशोक, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ११०।**

[२२] **सेनार्ट : इण्डियन ऐण्टीक्वेरी, भाग २०, पृष्ठ १५८।**

[२३] **डॉ० बासक, राधागोविन्द : अशोकन इन्सक्रिप्शंस, पृष्ठ १३४-१३५ एवं १३६।**

थे। उनके कर्त्तव्यों के अन्तर्गत धर्म-प्रचार था, पर ब्राह्मणों का सम्मान करना भी था। उन्हे यवन, कम्बोज, भृत्य, स्वामी, ब्राह्मण, धनी, निर्धन, असहाय, बन्दी आदि अनेक लोगों के सुख की व्यवस्था करनी थी। फिर यह कहाँ लिखा है कि ये धर्माधिकारी स्वय ब्राह्मण न थे। सम्भव है कि किन्ही अधिकारियों ने अशोक को जानते हुए किसी स्थल पर अपनी शक्ति का दुरुपयोग किया हो, पर यह भी बहुत अशो मे सत्य नही प्रतीत होता, अत शास्त्रीजी का यह तर्क भी न्यायपूर्ण नही प्रतीत होता। शास्त्रीजी का अन्तिम तर्क व्यवहार और दण्ड की समता का है। इसके लिए सबसे पहले यह कहना ही भ्रमपूर्ण है कि ब्राह्मण सदा अदण्डच थे क्योंकि 'पचविश ब्राह्मण' मे अपने स्वामी को धोखा देने के अपराध मे प्राणदण्ड की व्यवस्था की गयी है।[२४] कौटिल्य ने देशद्रोह मे ब्राह्मण को डुबा देने को बताया है।[२५] महाभारत मे दिखाया गया है कि ब्राह्मण-साधुओं का वध सम्भव है।[२६] शास्त्रीजी ने अशोक की इस आज्ञा मे भी एक भ्रामक स्वरूप अपनाया है। वस्तुत अशोक चाहता था कि उसके साम्राज्य मे सर्वत्र न्याय एक-सा हो। उसमे किसी स्थान-भेद मे कोई अन्तर न पडे। उसने आज्ञा निकाली थी कि मेरे साम्राज्य मे न्याय की समता होगी, जो लोग बन्दी है, उनके लिए मैं तीन को छूट प्रदान करता हूँ। इस आज्ञा मे ब्राह्मणों के लिए किसी प्रकार का कोई बन्धन नही है। अत शास्त्रीजी का यह निष्कर्ष कि ये तत्त्व ही ब्राह्मणों के विद्रोह के कारण बने न्यायसगत नही है। इसके विपरीत कुछ अन्तिम मौर्य सम्राट् ब्राह्मणों के विशेष भक्त थे। कल्हण ने अपनी 'राजतरगिणी' मे जलौक का ब्राह्मणो से आत्मीयता का सम्बन्ध बताया है।[२७] महाकवि बाण स्वय ब्राह्मण था, पर उसने पुष्यमित्र को उसके कृत्य के लिए अनार्य कहा है।[२८] पर शुग ब्राह्मण थे, उनके युग मे भरहुत जैसे बौद्ध-स्तूप का निर्माण यह सकेत करता है कि यह बौद्धों के विरुद्ध ब्राह्मणों का विद्रोह न था। साथ ही यह भी सत्य है कि इस समय व्याकुलता थी, दुख था, एक विप्लव था पर क्यो ? और इस विप्लव का नायक पुष्यमित्र क्यो ?

अशोक की शान्ति-नीति का दायित्व

डॉ० रायचौधरी का इस सम्बन्ध मे कथन है कि पुष्यमित्र के उत्थान और विद्रोह से पूर्व ही मौर्य साम्राज्य जीर्ण हो चुका था। यदि यह मान भी लिया जाय कि यह सब अशोक की धार्मिक नीति का परिणाम था, फिर भी पुष्यमित्र उसके ५० वर्ष पीछे आता है। यदि ऐसा था तो पुष्यमित्र के पहले ही यह आग धधक सकती थी। डॉ० रायचौधरी का यह भी कथन है कि इस पतन के लिए बहुत अशों मे मन्त्रिमण्डल उत्तरदायी था। इसका प्रमाण हमे दिव्यावदान से प्राप्त होता है। उसमे लिखा है—'अथ राज्ञो बिन्दुसारस्य तक्षशिला नाम नगर विरुद्धम्। तत्र राज्ञा बिन्दुसारेणाशोको विसर्जित, यावत् कुमारश्चतुरगेन बलकायेन तक्षशिला गत, श्रुत्वा तक्षशिला-

---

[२४] पंचविंश ब्राह्मण, पृष्ठ १४, ६८।

[२५] कौटिल्य अर्थशास्त्र, अंश २२६, अंग्रेजी अनुवाद (शामशास्त्री) पृष्ठ २५७।

[२६] महाभारत आदिपर्व, अध्याय १०६, १०७, शान्तिपर्व, २३, ३६।

[२७] कल्हण—राजरंगिणी, १, १०१-१०६।

[२८] बाण—हर्षचरित, निर्णयसागर प्रेस, १९८, १९९।
कॉबेल का अनुवाद, पृष्ठ १९३।

निवासिन पौरा. प्रत्युद्गम्य च कथयन्ति, न वय कुमारस्य विरुद्धा, नापि राज्ञो बिन्दुसारस्य, अपितु दुष्टामात्या अस्माक परिभव कुर्वन्ति ।।'[२९] पर डॉ० रायचौधरी का यह भी कहना है कि अशोक ने एक ही अनर्थ किया कि अपने उत्तराधिकारियो को शान्ति का पाठ पढाया। उन्होने जब यह पाठ पढ लिया तो युद्ध, वीरता, भीषण व्यापार, त्याग और बलिदान मानो उठ गये।[३०] पर यह तर्क भी न्यायसगत नही प्रतीत होता, क्योकि अशोक ने शान्ति के साथ कभी कायरता नही सिखायी। उसने मृत्युदण्ड को बन्द नही किया था। उसके युद्ध न करने का मन्तव्य यह भी रहा होगा कि जहाँ तक उसके साम्राज्य की सीमाएँ थी उससे आगे बढना अनर्थ का सूचक था किसी सुख-समृद्धि का नही। अशोक किसी अनजाने देश मे अपनी शक्ति का अपव्यय क्यो करता, विशेषकर जब कि उसके पडोसी तथा दूरस्थ देश भी उसे मान्यता दे रहे थे। उसके धर्म का प्रचार विदेशो मे सहज ही हो रहा था। उसके उत्तराधिकारी भी इसी नीति का पालन कर सकते थे पर उनमे बल न था, उनमे एकता न थी। डॉ० बरुआ ने एक स्थल पर लिखा है, 'अशोक को ईडेन उद्यान के अदम की भाँति अपने उत्तराधिकारियो की भूलो, प्रयोगो एव उनके पतन का, बल्कि उनके ही नही, सारी आगामी पीढी के पतन का उत्तरदायी ठहराया गया है, केवल इसलिए कि उसने चाणक्य के द्वारा सुनिश्चित राजनीतिक नीति का पालन न करने की भूल की थी, सिर्फ इसलिए कि वह मगध की परम्परागत नीति पर न चल सका. पर चाणक्य का अर्थशास्त्र चन्द्रगुप्त मौर्य के काल मे अपने परिमार्जित रूप मे विद्यमान था और यह पुस्तक अपने समय के राजनीतिक विचारो का सर्वोत्कृष्ट रूप उपस्थित करती है, यह विचार करना ही डॉ० रायचौधरी की विचारधारा के पीछे निहित है, यही भ्रामक है।'[३१]

डॉ० बरुआ का कहना है कि डॉ० रायचौधरी और डॉ० जायसवाल का यह मत भी न्यायसगत नही है कि अशोक ने धार्मिक भवनो तथा प्रचार पर धन बहाया। आपका मत है कि युद्ध करना न करना व्यक्तिगत रुचि की बात होती है। बौद्धधर्म पूर्वी द्वीपसमूहो मे भी फैला, पर इनमे से कौन-सा द्वीप युद्ध नही करता। अत इसका न किसी धर्म से सम्बन्ध है न व्यवस्था से।

मौर्यों की आर्थिक नीति का दायित्व

कुछ विद्वानो का मत है कि मौर्य साम्राज्य का पतन उनकी आर्थिक नीति के कारण हुआ।[३२] इन लोगो की धारणा है कि मौर्य युग मे मूर्तियो पर तक कर लगा दिया गया था। सिक्को के निर्माण मे भार की कमी हो गयी थी। हर वस्तु कर से बोझिल थी। इसके साक्ष्य मे वे कौटिल्य का अर्थशास्त्र उपस्थित करते है।[३३] उसमे वेश्याओ और अन्य कलाकारो पर भी कर की व्यवस्था की गयी है, पर यह धारणा भी निर्मूल-सी है। यह ऐसे चुने हुए तथ्यो पर ही आधारित है जिनसे सामान्य नियम नही निकाला जा सकता। लेखक यह भूल जाते है कि कौटिल्य ने कर से मुक्त वस्तुएँ भी गिनायी है। इसमे सन्देह नही कि इस युग मे कर की व्यवस्था का मूल्य समझा गया, इसके पहले शायद इसकी आवश्यकता ही न पडी हो। पर उनमे भी बहुत से कर कौटिल्य ने किसी

[२९] दिव्यावदान, पृष्ठ, ३७१, ७२।

[३०] डॉ० रायचौधरी, पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव इण्डिया, पृष्ठ ३६५।

[३१] डॉ० बरुआ बेनीमाधव : अशोक और उसके अभिलेख, १९५५, पृष्ठ ३४९।

[३२] कोशम्बी, दामोदर धर्मानन्द : ऐन इन्ट्रोडक्शन टु दि स्टडी ऑव इण्डियन हिस्ट्री, १९५६। पृष्ठ २११-१२

[३३] कौटिल्य अर्थशास्त्र, अध्याय ५,२, (पण्डित पुस्तकालय संस्करण पृष्ठ ३८७)।

आपत् काल की स्थिति के लिए ही गिनायें हैं, सामान्य के लिए नही। जहाँ तक सिक्को के भार मे कमी का प्रश्न है, हो सकता है कि समय की अशान्त गतिविधि देखकर जनता ने घरो मे चाँदी एकत्र कर ली हो जिसके फलस्वरूप सिक्के आदि के लिए शासक के पास चाँदी की कमी स्वाभाविक रूप से हो गयी। फिर कोशम्बी महोदय ने जो सिक्के लिये हैं वे निश्चित ही मौर्यो के अन्तिम समय के द्योतक हैं, उनकी पहले से सुनिश्चित आर्थिक नीति की कठोरता के नही।

अन्य सामान्य कारण :

उपर्युक्त तथ्यो के अतिरिक्त कुछ अन्य ऐसे कारण उपस्थित थे जिनका मौर्यों के पतन मे कम योग न था जैसे—उस समय भारतवासियो में राष्ट्रीयता की भावना न जगी थी। मौर्य साम्राज्य सौ वर्ष से अधिक टिक चुका था। सुदूरस्थ प्रान्तो से यातायात और सञ्चार के साधन आज की भाँति सुलभ न थे। मौर्यो ने किसी एक नीति को सदा नही अपनाया। उत्तराधिकार का विधान निश्चित नही था। राजकर्मचारियो की नियुक्ति किसी विशेष आयोग द्वारा योग्यता के आधार पर न होती थी। कभी-कभी तो ऐसा हुआ कि किसी विदेशी आक्रमण के समय एक पक्ष ने विदेशी का साथ दिया और अपने ही बन्धु को पराजित कराने मे गौरव समझा। हमारे राष्ट्र में बहुत समय तक भाषा एक रही, देश के बहुत बडे अश मे इसका प्रयोग हुआ। धर्म भी मूलत. एक रहा। पर उसके ऊपरी तत्त्व सदा समाज को पृथकता की ओर घसीटते रहे। यही कारण था कि हम 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की दुहाई देते रहे, पर अपने भाई के साथी न रहे। यही कारण है कि कोई सम्राट् तीन पीढियो के आगे न टिक सका। इस प्रकार मौर्यों का पतन हुआ, उसके जो भी कारण रहे हो। वे गद्दी को न सम्हाल सके और उन्हें पुष्यमित्र के लिए स्थान छोडना पडा।

सत्ता हाथ में आते ही पुष्यमित्र ने सबसे पहले मौर्य-सचिव को बन्दीगृह मे डाल दिया। इसके कई कारण थे। मौर्य-मन्त्री से उसका पहले से ही मनमुटाव चल रहा था। फिर मन्त्री ही उस समय से कुशासन के लिए उत्तरदायी था। वही स्वाभाविक रूप से उसका भविष्य में काँटा बन सकता था। इसका प्रमाण हमें कालिदासकृत मालविकाग्निमित्र से मिलता है।[१४] मत्री का बहनोई यज्ञसेन विदर्भ में राज्य कर रहा था। उसने अपने भाई माधवसेन को केवल इसलिए बन्दी बना लिया था क्योंकि वह पुष्यमित्र के पुत्र अग्निमित्र से अपनी बहिन मालविका का विवाह करना चाहता था। अन्तत इसका फल यह हुआ कि विदर्भराज को अग्निमित्र द्वारा हराया गया और उसे अपने आधे राज्य से भी हाथ धोना पडा। इस घटना से ऐसा विदित होता है कि पुष्यमित्र ने जनहित में ही ऐसा किया था। वह लौहपुरुष था, किसी प्रकार की अशान्ति न चाहता था। उसकी जनहित भावना का दूसरा प्रमाण यह भी है कि उसने क्रॉमवैल (इग्लैण्ड का शासक १६४९-१६६०) की भांति कभी राजमुकुट न पहना। वह सदा सेनापति के नाम से ही विख्यात रहा। सैनिक कुशलता उसमें पूर्व से ही विद्यमान थी। जैसा कि सकेत किया जा चुका है कि वह ग्रीको को हरा चुका था। निश्चय ही उसने अपने भुजबल का विस्तार स्यालकोट तक किया। सम्भव है कि बौद्धो ने उस समय उसका साथ न देकर विदेशियो का साथ दिया हो। वे अपने

---

[१४] मौर्य-सचिवं विमुञ्चति यदि पूज्यः संयतं मम स्यालम्।
मोक्ता माधवसेनस्ततो मया बन्धनात्सद्यः॥
कालिदास—मालविकाग्निमित्र, अंक १, पृष्ठ २३

धर्म के विरुद्ध किसी को शायद न देख सकते थे। यही कारण है कि पुष्यमित्र के लिए कहा गया है कि उसने बौद्धों को कुचल डाला, उसने आज्ञा निकाली कि एक बौद्ध-श्रमण के सर के लिए १०० दीनार दूँगा। पर इससे यह अनुमान लगाना कि वह बौद्ध-धर्म को मिटाना चाहता था, गलत होगा। यदि ऐसा होता तो वह भरहुत जैसे स्तूप को अपने राज्य मे न बनने देता। वस्तुत वह उन बौद्धों से क्षुब्ध था जो देशद्रोही थे, जिन्होने विदेशियो को अपना रक्षक समझकर बुलाना चाहा था। उन्ही के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया रूप साम्राज्य का गठन पुष्यमित्र ने किया था। वह देश की सस्कृति का रक्षक था। उसने इसीलिए दो बार अश्वमेध यज्ञ किया जिसका प्रमाण हमे अयोध्या अभिलेख से मिलता है।[३५] वही नही, उसका पुत्र अग्निमित्र भी एक योद्धा था और ये घटनाएँ उस समय की प्रतीत होती है जब कि पुष्यमित्र लगभग ६० वर्ष का हो गया होगा, क्योकि उसका पौत्र अर्थात् अग्निमित्र का पुत्र वसुमित्र भी सिन्धु के किनारे ग्रीको को मुँहकी खिलाता है। वही अश्व-मेध मे छोडे गये अश्व की रक्षा करता है। इससे वसुमित्र के पितामह की अवस्था का ज्ञान अनायास हो जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि पुष्यमित्र अपने सारे जीवनभर युद्धरत रहा। उसने मौर्यो के समय भारत की रक्षा की। मौर्यो के पश्चात् भी उसने रक्षा की। उसने वैदिक सस्कृति को पुन सस्थापित किया। उसके सम्भवत दूसरे अश्वमेध यज्ञ मे पतजलि जैसा महान् वैयाकरण पुरोहित का कार्य कर रहा था।[३६] पतजलि ने अपने व्याकरण मे पदे-पदे कहा है कि व्याकरण का अध्ययन वेदो के रक्षार्थ करना चाहिए।[३७] 'रक्षार्थं वेदानामध्येय व्याकरणम्' इससे भी यही ध्वनि निकलती है कि इस युग मे वैदिक सस्कृति डाँवाडोल थी।[३८]

---

[३५] धनदेव का अयोध्या अभिलेख, जे० बी० ओ० आर० एस०, भाग १०, पृष्ठ २०२ 'द्विरश्वमेधयाजिनः'।

[३६] पतंजलि महाभाष्य, 'इह पुष्यमित्र याजयामः ।।' भाग ३, पृष्ठ १६५।

[३७] वही, महाभाष्य, आह्निक १, पृष्ठ २।

[३८] वही, आह्निक १, पृष्ठ ३, 'ब्राह्मणेनावश्यं शब्दा ज्ञेयाः'। और दे०—असन्देहार्थं चाध्येयं व्याकरणम्। याज्ञिकाः पठन्ति स्थूलपृषतीमनड्वाही मा लभेत। तस्यां सन्देहः, स्थूला चासौ पृषती च स्थूलपृषती, स्थूलानि पृषन्ति यस्याः या स्थूलपृषतीति। तान्तावैयाकरणः स्वरतोऽध्यवस्यति।'

नाथ सिद्धों और बौद्ध सिद्धों के सम्बन्ध पर पुनर्विचार

डॉ० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय

नाथ सिद्ध बौद्ध सिद्धों से भिन्न हैं; किन्तु बहुत से विद्वानो ने जो निष्कर्ष निकाले हैं वे इससे भी भिन्न हैं। हिन्दी साहित्य के वर्तमान इतिहासो का अध्ययन करने से यह स्पष्ट होता है कि जिस प्रकार की सामाजिक और साप्रदायिक दृष्टि ज्ञानाश्रयी निर्गुणमार्गी सतो तथा नाथ सिद्धो की थी, प्राय. उसी प्रकार की दृष्टि बौद्ध सिद्धो या दूसरे शब्दों में तात्रिक बौद्ध सिद्धो की थी। भक्तिकाल की निर्गुण धारा का विवेचन करते समय प्राय इतिहासकारो ने बौद्ध सिद्ध साहित्य का विवेचन किया है और यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि बौद्ध सिद्धो की समाज, धर्म, साधना और दर्शन सम्बन्धी दृष्टियों का विकास नाथ सिद्धो में हुआ तथा उनके माध्यम से वह सपत्ति निर्गुणमार्गी ज्ञानाश्रयी सतो को मिली। वही शब्दावली भी ग्रहण की गई। नाथ सिद्धो और बौद्ध सिद्धो के सम्बन्ध पर विद्वानो ने पर्याप्त विचार किया है और यहाँ तक कह दिया है कि नाथ सिद्ध मत बौद्ध सिद्ध मत का विकसित शैव रूप है। नाथ सिद्ध लोग पहले बौद्ध थे, बाद में शैव हो गये। इसके अतिरिक्त एक मत यह भी है कि नाथ मत अतिम तात्रिक बौद्धयान का एक उपयान है। इनके सम्बन्धो पर विद्वानो ने सम्प्रदाय, साधना और दर्शन की दृष्टियो से विचार किया है।

संप्रदाय की दृष्टि से विचार करते हुए राहुल साकृत्यायन ने जालन्धरपाद को आदिनाथ माना है। उनकी इस मान्यता का आधार भोटिया 'विमुक्तिमजरी' नामक वज्रयानी ग्रन्थ है। इस साप्रदायिक रचना की प्रामाणिकता अभी तक सिद्ध नहीं हो सकी है। डॉ० प्रबोधचन्द्र बागची ने नाथो मे प्रथम स्थान, दूसरे शब्दों में, संप्रदाय की दृष्टि से आदि स्थान, मत्स्येन्द्रनाथ को दिया। चौरासी सिद्धो की तिब्बती सूची में प्रथम स्थान लुयीपाद को दिया गया है। और भी प्रमाण देकर उन्होने यह सिद्ध किया है कि बौद्ध सिद्ध लुयीपाद और नाथ सिद्ध मत्स्येन्द्रनाथ एक ही व्यक्ति थे। मैंने इन दोनो सप्रदायगत स्थापनाओं पर पर्याप्त विस्तार और प्रमाण के साथ विचार 'तात्रिक बौद्ध-साधना और साहित्य' नामक अपने ग्रन्थ के 'सिद्धियाँ और चौरासी सिद्ध' शीर्षक परिच्छेद में किया है और यह उपस्थित करने की चेष्टा की है कि तिब्बती बौद्ध सूची (सस्क्य विहार की सूची), वर्णरत्नाकर की सूची, हठयोग प्रदीपिका आदि में सिद्धो की सूची को देखने से यह सिद्ध नही होता कि जालधरपाद ही आदिनाथ थे तथा लुयीपाद ही मत्स्येन्द्रनाथ थे। सिद्धों की तिब्बती चित्रावली को देखने से यह स्पष्ट होता है कि लुयीपाद और मीनपाद के दो अलग-अलग चित्र हैं तथा लुयीपाद के चित्र का मत्स्यान्त्र के भक्षण से अथवा मत्स्योदर से उदित होने से कोई सम्बन्ध नही है। सप्रदायगत विचार के लिए उपर्युक्त ग्रन्थ देखा जा सकता है। यहाँ हम बौद्ध सिद्धों और नाथ सिद्धो के साधनागत और दर्शनगत सम्बन्ध पर विचार करेंगे। इस विचार में आवत यह ध्यान में रखा गया है कि बौद्धसिद्धों में आवत अनीश्वरवादिता दिखाई पड़ती है। दूसरे, उनके दर्शन के परवर्ती विकासो में प्राचीन महायान दर्शन की धारा का प्रवाह दिखाई पड़ता है। अब यह सिद्ध हो गया है कि नाथ

सिद्ध लोग शैव तान्त्रिक थे। महामहोपाध्याय डॉ० गोपीनाथ कविराज ने उन्हे काश्मीरी शैवागमवादी आचार्यों की परम्परा मे माना है। इस स्थापना पर पुनर्विचार चर्वितचर्वण ही होगा। नाथों की सेश्वरवादिता स्पष्ट है यद्यपि वे साख्ययोगियो की तरह सेश्वरवादी नही थे।

ऊपर नाथों और बौद्धो के सम्बन्ध से सम्बन्धित जिन स्थापनाओ का उल्लेख किया गया है, उन पर पुनर्विचार करने के पूर्व बौद्ध सिद्ध साहित्य के मूल आधारो और प्रवृत्तियो पर थोड़ा विचार कर लेना चाहिए। बौद्धसिद्धो के अपभ्रंश साहित्य के आधार पर यदि उनकी विशेषताओ का विवेचन किया जाय तो कुछ मुख्य बाते इस रूप मे उपस्थित की जा सकती हैं—तन्त्रो का शक्तिवाद, अधिकारभेदवाद, मन्त्र, सिद्धि, पच मकार, विशिष्ट आचार, राजयोग, हठयोग आदि तत्व सहजयान के पूर्वरूप वज्रयान मे ही प्रचलित थे। इन तत्त्वो के साथ ही वज्रयान ने माध्यमिक मत के प्रज्ञा और शून्यता तत्त्व को लिया तथा विज्ञानवाद से विज्ञान या चित्त के साथ ही योग और आचार को लिया। अद्वयभाव, समरसता, महासुख, युगनद्ध आदि की विचारधाराएँ भी तात्त्विक और मूल रूप मे वज्रयान के भी पूर्व के तन्त्रप्रभावापन्न रूपो मे वर्तमान थी। इन सबका प्रमाण गुह्यसमाजतन्त्र, ज्ञानसिद्धि, प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि आदि ग्रन्थो मे मिलता है। ये सभी ग्रन्थ ७वी ई० शताब्दी से १२वी० ई० शताब्दी के बीच लिखे गये। बाद मे इन शास्त्रीय आधारो के पुष्ट हो जाने पर, जिनका स्पष्टीकरण और व्याख्यान सस्कृत ग्रन्थो मे किया गया था, लोकभाषा (तत्कालीन अपभ्रंश) तथा साहित्यिक अपभ्रंश के माध्यम से उन विचारो, आचारो को कुछ भिन्न परिस्थितियो और आवश्यकताओ के कारण भिन्न रूप मे उपस्थित किया गया। भगवती लक्ष्मीकरा ने 'अद्वयसिद्धि' से सहज-साधना को स्पष्ट किया जिसे बाद मे सहजिया साधना का आधार-ग्रन्थ माना गया। ६ठी ई० शताब्दी तक तान्त्रिक बौद्ध-साधना मे राजयोग, धारणी, मन्त्र आदि को साधन के रूप मे मुख्यरूप से स्वीकार किया गया था। तान्त्रिक प्रभाव के अधिक परिपक्व होने पर हठयोग, नाडीसाधना, चक्रसाधना, कमलकुलिश-साधना को भी स्वीकार कर लिया गया। किन्तु इन सभी तत्त्वो को बौद्ध-परम्परा के अनुकूल ही ग्रहण किया गया और साथ ही वज्रयान ने उन पर अपनी वज्र की मुद्रा अकित कर दी। वज्रयोग, वज्रध्यान, वज्रयान, वज्रासन आदि शब्द इसकी ओर सकेत करते है। इस प्रकार की साधना के मूलाधार शक्तिवाद और पिण्डब्रह्माण्डवाद थे। इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए भी वज्रयान मन्त्र, मुद्रा, मैथुन तथा अन्य मकारो, मडलो आदि की साधना मे सदैव तथा सर्वथा लीन रहा। मडलादि कर्मों मे स्थूलता तथा बाह्य कर्मों की अधिकता होने पर उस स्थूल के प्रति विरोध प्रकट किया जाने लगा। फलत बौद्ध तन्त्रयान मे प्रविष्ट पश्वाचार और वीराचार से अपेक्षाकृत अधिक प्रकृष्ट और सूक्ष्म साधन दिव्याचार को प्रश्रय दिया गया। वज्र जैसे कठोर और बाह्याचारप्रधान साधनात्मक जीवन के आदर्श के प्रतीक के स्थान पर सहज यौन-यौगिक, साधनात्मक और आध्यात्मिक जीवन के आदर्श के प्रतीक सहज (भावना और तत्त्व) को उपजीव्य माना गया।[१] इन सहजिया सिद्धो के अपभ्रंश साहित्य पर विचार करने पर उनकी गुरुशिष्यवाद, पिण्डब्रह्माण्डवाद, बाह्याडबरविरोध, अन्तस्साधनावाद, कमलकुलिशसाधना या प्रज्ञोपायसाधना, युगनद्ध और महासुखवाद, ध्यान, वाम-दक्षिण-साधना आदि विभिन्न साधनाओ पर प्रकाश पडता है।

---

[१] **विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य—तांत्रिक बौद्ध-साधना और साहित्य का ६वाँ तथा ११वाँ परिच्छेद।**

बौद्ध सिद्धो ने शून्यतातत्त्व या प्रज्ञातत्त्व को शून्यवाद या माध्यमिक मत से तथा चित्त-तत्त्व या विज्ञानतत्त्व को विज्ञानवाद या योगाचार मत से ग्रहण किया। बौद्ध सिद्धों ने अपने तात्त्विक दर्शन के आधार के लिए प्रज्ञा को शक्ति के रूप मे ग्रहण किया। सहजयानियो ने इसे अवधूती या नैरात्मयोगिनी या नैरामणि-दारिका या आध्यात्मिक शक्ति माना। तांत्रिक मत अपने पिण्ड-ब्रह्माण्डवाद के अनुसार ब्रह्माण्ड के सभी तत्त्वो, पदार्थो को पिण्डस्थ मानता है जिनका दर्शन साधक स्वय अपने शरीर के भीतर कर सकता है। इस विचार से जीव की अपनी शक्ति की महत्ता बढ गई। विज्ञानवाद के चित्ततत्त्व को स्वीकार करने के कारण उन्हे यह भी स्वीकार करना पडा कि यह विश्व इस चित्त की सृष्टि है। चित्त ही मोक्ष-बन्धन का कारण है। इसी मत के अनुसार उन लोगो ने यह माना कि ससार और निर्वाण मे कुछ भेद नही है। भेददृष्टि से ही इन दोनो मे भेद दिखाई पडता है। योग मे चित्त की महत्ता स्वत सिद्ध है। उस पातजल योग का भी प्रभाव बौद्धो के ऊपर पडा था जिसमे चित्तवृत्तियो के निरोध को ही योग कहा गया है। तात्पर्य यह है कि दर्शन और साधना की दृष्टि से बौद्ध सिद्धो के मूलाधार शून्यवाद या माध्यमिक मत, विज्ञानवाद या योगाचार मत और भारत की तान्त्रिक धारा थी।

इन दार्शनिक और साधनात्मक आधारो को लेकर तांत्रिक बौद्धो का विकास हुआ। इस विकास को ध्यान से न देखने के कारण बहुत से लेखको को भ्रम हो गया। वस्तुत वज्रयान और सहजयान दो यान है। वज्रयान के सस्कृत मे लिखे विभिन्न शास्त्रीय ग्रन्थो तथा बौद्ध सहजिया सिद्धो की लोकभाषा की रचनाओं का तुलनात्मक अध्ययन करने से यह बात निर्भ्रान्त हो जाती है। वज्र के स्थान पर सहज की प्रतिष्टा, बाह्य साधना के स्थान पर अन्तस्साधना पर जोर, महायान के तत्र, मत्र, समाधि, आसन आदि का खडन—ये सभी बाते सहजयान को वज्रयान से अलग सिद्ध करती है। कुछ तत्त्व जैसे गुह्यतत्त्व, पिडब्रह्माण्डवाद, चक्र, शक्तितत्त्व, नाड़ीतत्त्व, महासुखवाद आदि शब्दान्तर और मतान्तर से ही स्वीकार कर लिये गये। गुह्यसमाजतत्र तथा उसके बाद के अन्य ग्रन्थो में विविध देवताओ की कल्पना अत्यधिक तीव्रता से हो रही थी। सहजयान की रचनाओ में बहुदेववाद की भर्त्सना की गई है, उसे निरर्थक बताया गया है। केवल चित्तमार्ग को ही सर्वोत्तम मार्ग बताया गया है। कालविजय को साधना का आवश्यक अग स्वीकार कर उसके मार्ग को मध्यम्-मार्ग या अवधूतीमार्ग बताया गया है। सहजसुख में अद्वैतस्थिति को प्राप्त करना ही उनका उद्देश्य था। यह माना गया कि परमार्थत प्रत्येक प्राणी शुद्ध है। प्रत्येक मे धर्ममहासुख या सहजसुख या सहजामृत रस या सहज रस या महारस सदैव स्थित रहता है। इसी तत्त्व को परमार्थ कहा गया है। संसार और निर्वाण में, जन्म और मृत्यु मे कोई भेद, समदर्शिता के कारण, नही माना गया। उस रस या तत्त्व को प्राप्त कर लेनेवाला व्यक्ति इन दोनो मे कोई भेद नही करता। कल्पना से मुक्तचित्त या निर्विकल्प चित्त इन द्वन्द्वो से परे होता है। अत इस चित्त के मार्ग को ही साधन-मार्ग कहा गया। परमार्थ चित्त सर्वथा मुक्त रहता है, इसीलिए चित्तमार्ग ही मुक्तिमार्ग है। यह संसार चित्त की ही सृष्टि है। शुद्ध चित्त ससार में व्याप्त अमृततत्व का पान करता है। विकल्प-ग्रस्त चित्त विष का भक्षण करता है। ससार में ही रहकर उसके अमृततत्त्व या निर्वाणतत्त्व को ग्रहण करना ही महासुख की प्राप्ति है। यह जगत् चन्द्र और जल मे पडनेवाले उसके प्रतिबिम्ब के समान ही सत्-असत् की कोटियों से परे है। महासुख रस सहज तत्त्व है। चित्त की विमुक्तावस्था

ही मुक्ति है। मुक्ति की अवस्था मे वह परमज्ञान या शून्यता को प्राप्त कर लेता है।[२]

इस प्रकार की विचारधारा और साधन-पद्धति का अनुसरण करनेवाले बौद्ध सिद्धो और नाथसिद्धो को एक ही परम्परा का, एक ही सम्प्रदाय का अनुवर्तन करनेवाला माना जाता है। बौद्ध सिद्ध और नाथ सिद्ध साहित्य का अध्ययन करने से यह बात ठीक नही मालूम पडती। इस सम्बन्ध मे तीन विवेचको के मत का विचार किया जा सकता है—प० रामचन्द्र शुक्ल, महापडित राहुल साकृत्यायन और डॉ० प्रबोधचन्द्र बागची। शुक्लजी राहुल जी के विवेचन और निष्कर्ष को प्रमाण मानकर चले हैं। अत नीचे राहुलजी और डा० बागची की स्थापनाओ की परीक्षा की जा रही है।

शुक्लजी के अनुसार नाथसम्प्रदाय बौद्ध वज्रयान की एक शाखा मात्र है, जिसने कालक्रम मे अपने को वज्रयानी साधना और सम्प्रदाय से पूर्णतया अलग कर लिया था। राहुलजी के अनुसार जालधरपाद को आदिनाथ (शिव) माना गया और यह निश्चय किया गया कि जालधर पहले बौद्ध थे, बाद मे पश्चिमी प्रदेशो मे आकर उन्होने नाथसप्रदाय का प्रचार किया। इस मत के अनुसार 'रत्नाकर जोपम कथा' नामक वज्रयानी रचना प्रामाणिक रचना है। लेकिन इस रचना की शुद्ध ऐतिहासिक प्रामाणिकता का कोई प्रमाण नही मिलता। यदि राहुलजी की दृष्टि मे नाथसप्रदाय बौद्ध उपयान है या वज्रयान का विकसित रूप है तो उसमे वज्रयान की कुछ विशेषताएँ भी होनी चाहिए। राहुलजी ने वज्रयान की चार चीजे मुख्य मानी है—मद्य, मत्र, हठयोग और स्त्री, किन्तु उन्होने इन तत्वो को नाथपथ मे कही भी नही दिखलाया है। उन्होने तो यह भी नही लिखा कि नाथमत ने कुछ अशो मे अपने को वज्रयान से अलग रखा। वे बौद्धसिद्धो को निरीश्वरवादी और नाथसिद्धो को ईश्वरवादी मानते है।[३] नाथपथ की साधनपद्धति और दर्शन मे कौन-कौन से ऐसे तत्त्व है जो उसे बौद्ध स्रोत से नि सृत सिद्ध करते है, इसका कही भी सकेत नही मिलता। नाथपथियो की साधना मे मद्य और स्त्री निषिद्ध है। हिन्दी-रचनाओं से यह बात सिद्ध होती है। हठयोग और मत्र विचारणीय है। राहुलजी ने वज्रयान और सहजयान मे भेद नहीं किया है। बौद्ध सिद्धो की अपभ्रश रचनाओ मे उपलब्ध साधनपद्धति और दर्शन मे तथा बौद्ध सिद्धो की कुछ सस्कृत रचनाओ मे वर्णित साधनपद्धति और दर्शन मे पर्याप्त अन्तर है। वज्रयानियो के सस्कृत ग्रन्थ 'गुह्यसमाजतत्र' मे अवश्य हठयोग का विधान है, किन्तु 'बौद्ध गान ओ दोहा' की रचनाओ मे हठयोग का विरोध मिलता है।[४]

नाथ सिद्धों और बौद्ध सिद्धों के सम्बन्ध को स्थिर करने के लिए विद्वानों ने कृष्णपाद और जालधरपाद के सम्बन्ध पर भी विचार किया है। बताया गया है कि कृष्णपाद जालधरपाद के शिष्य है। कृष्णपाद सहजिया सिद्ध है जिनकी अपभ्रश रचनाओ मे मत्र, तत्र, हठयोग, कृच्छ्राचार का विरोध मिलता है। अर्थात् यदि राहुल जी की दृष्टि से जालधरपाद से नाथमत का उद्भव माना जाय तो कृष्णपाद को भी लगभग उसी प्रकार का साधन मिलना चाहिए था। जालधरपाद की कोई भी

---

[२] **विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य—तांत्रिक बौद्ध साधना और साहित्य, पृष्ठ १७१-१८३। ६७-७०, ७८-८५ १६३-१७१, १७५, १८३, १९५-१९७ आदि।**

[३] **पुरातत्त्व निबंधावली, राहुल सांकृत्यायन, पृष्ठ १४३, १६१।**

[४] **तांत्रिक बौद्ध साधना और साहित्य—पृष्ठ ११७, १२७, १५३, १९४।**

अपभ्रंश रचना उपलब्ध नही है । कृष्णपाद की रचनाओ के आधार पर गुरु जालधरपाद हठयोगी नही थे । इस प्रकार वे कृच्छ्राचार और काया-कष्ट-साधना के विरोधी थे । अब यह प्रमाणित हो चुका है कि गोरक्ष द्वारा प्रचारित नाथमत मे हठयोग-साधना का महत्त्वपूर्ण स्थान था, जबकि उसका लक्ष्य राजयोग था । एक अन्य शब्द मुद्रा है । वज्रयानियो मे 'मुद्रा' शब्द किस अर्थ मे ग्रहीत था, यह राहुलजी ने नही बताया । तान्त्रिकों मे देवार्पण के लिए निर्मित पक्वान्न, उँगलियो से बनाये गये विभिन्न प्रकार के आकार, शरीर के हाथ-पैर आदि की विभिन्न स्थितियो, बधो, इनसे युक्त श्वास-नियत्रणादि की क्रियाओ को मुद्रा कहा गया है । राहुल जी द्वारा विवेचित वज्रयान मे इनमे से कौन सा अर्थ गृहीत है ? तान्त्रिक बौद्ध-ग्रन्थो के अध्ययन से 'उँगलियो के आकार' तथा 'साधिका' शक्ति या विद्या का अर्थ ग्राह्य मालूम पडता है । इनमे से कोई भी नाथयोगियो को ग्राह्य नही है । नाथपथियो मे मुद्रा शब्द कान मे पहने जानेवाले एक प्रकार के कुण्डल के अर्थ में व्यवहृत होता है । यह कुण्डल दीक्षा देते समय पहनाया जाता है । हठयोगी क्रिया के अर्थ मे भी यह ग्राह्य है । इससे स्पष्ट है कि साधना की दृष्टि से भी नाथ लोग बौद्ध नही थे । उनमे जो अन्य तत्त्व दूसरे विद्वानो के अनुसार पाये जाते हैं, उनकी ओर राहुल जी ने कोई सकेत नही किया । मत्र तत्त्व तो सामान्य तान्त्रिक साधना का तत्त्व है ।

इसी प्रकार और भी भेदक बाते हैं । नाथो का चमत्कार, सिद्धि, गूढता आदि पर विशेष आग्रह उन्हें अन्य सहजिया सप्रदायों से अलग कर देता है । ये सहजिया सप्रदाय हैं—बौद्ध सहजिया, वैष्णव सहजिया, बाउल आदि । इन सहजिया सप्रदायो में गूढ क्रियाओ, जादूगरी, चमत्कारप्रदर्शन, कठोर कष्टमय साधन, बाह्य प्रदर्शन आदि के प्रति तीव्र विरोधभाव था । किन्तु नाथमत की उपर्युक्त विशेषताएँ केवल बाह्य हैं, आन्तरिक नही । यद्यपि बौद्ध सहजिया लोगो ने नाथ सिद्धो के समान ही कायसाधन को स्वीकार किया था तथापि उनका लक्ष्य था—आत्म और अनात्म का पूर्ण सुखात्मक ज्ञान । इससे भिन्न नाथ सिद्धो की साधना का लक्ष्य था अमरताप्राप्ति तथा उससे महेश्वरत्व की प्राप्ति । इस प्रकार नाथो का लक्ष्य अमरता तथा उससे प्राप्त शिवत्व है और बौद्ध सहजिया लोगो का लक्ष्य था महासुख । नाथ सिद्ध जन्म और मृत्यु की सत्यता मे विश्वास करते थे तथा परिवर्तनशील भौतिक शरीर को सूक्ष्म वायव्य शरीर में द्रव्यान्तरित कर तथा उसे भी पुन दिव्य देह में रूपातरित कर उस जन्म-मृत्यु-चक्र का निवारण करते थे । किन्तु बौद्ध सहजिया लोग अपनी बौद्ध परम्परा के विचारवाद (प्रत्ययवाद) के अनुसार जन्म-मृत्यु-चक्र को आत्म-अनात्म के शून्यज्ञान का साक्षात्कार कर निवारित करना चाहते थे । इस शून्यज्ञान को केवल महासुख से साध्य माना गया । नाथो में जरामृत्युशील इस भौतिक शरीर के द्रव्यातर की यौगिक प्रक्रिया का आग्रह विशेष है । किन्तु बौद्ध सहजिया लोगो मे उस यौनयौगिक साधना का आग्रह विशेष है जिससे सामान्य यौन सुख उच्चतर और गभीरतर आनन्द मे परिणत हो जाता है । निश्चय ही, नाथो का कायासाधन, बौद्ध सहजिया लोगों में मिलता है तथा दोहो और चर्यापदो मे अमृतक्षरण तथा उसके पान के सन्दर्भ भी मिलते हैं तथा इस पान से स्कन्धो की दृढता तथा अजरामरता की प्राप्ति भी स्वीकार की गई है, किन्तु पद्धति में पर्याप्त भेद है ।[१]

इन भेदों के कारण ही नाथ सिद्धों ने साधना में किसी भी प्रकार के नारी-सपर्क का विरोध

---

[१] आब्सक्योर रेलिजस कल्ट्स—डॉ० शशिभूषण दास गुप्त, पृष्ठ २४८-२४६, २६२-२६३, २८४-२८५ ।

किया है और उसे बाघिन आदि शब्दो से सबोधित किया है। इसके विरुद्ध बौद्ध सहजिया लोगो ने स्पष्ट रूप से, सभी प्रकार से, नारी को प्रज्ञा या शून्यता का अवतार घोषित कर साधना के क्षेत्र मे उसे सर्वथा ग्राह्य माना और साथ ही बिना उसके अपने प्राप्य महासुखात्मक शून्यज्ञान को असभव माना। बिना उसके आध्यात्मिक जीवन मे सिद्धि असभव है। निश्चय ही, यह ध्यान रखने योग्य है कि प्रज्ञा या योगिनी या मुद्रा बौद्ध सहजिया लोगो मे सदैव भौतिक शरीर की नारी के अर्थ मे गृहीत नही रही है। वह नैरात्मा, शून्यता या सहजसुन्दरी भी है। यह भी स्पष्ट है कि बौद्ध सहजयानियो का महासुख शुद्ध शारीरिक अनुभव नही है, उसमे एक मनोवैज्ञानिक तत्त्व भी सनिहित है। नाथ-साधना मे यह दृष्टिकोण (कामावेग और कामानन्द) अभाव के कारण पूर्णतया स्पष्ट है।[1] ऐसी स्थिति मे कुछ लोग वज्रोली, सहजोली, अमरोली आदि साधन-क्रियाओ की ओर सकेत करते हैं कि नाथ-साधना मे ये तत्त्व बौद्ध-साधना के अवशिष्ट चिह्न हैं। इन साधनाओ मे नारी-सपर्क अनिवार्य है। किन्तु ये सब शुद्ध रूप से यौगिक क्रियाएँ ही हैं। इनमे नारी को दार्शनिक अर्थ नही दिया गया है और न उसे विचारात्मक तत्त्व ही माना गया है। ये साधनाएँ यह सिद्ध करने के स्थान पर कि नाथ-लोग पहले बौद्धसिद्ध थे बाद मे शैव हो गए, अपेक्षाकृत यह सरलता से सकेत करती हैं कि समकालीन साधना होने के कारण किसी प्रकार ये साधनाएँ नाथ-साधन मे प्रवेश कर गई हैं। इस प्रकार इन्हे प्रक्षिप्त भी कहा जा सकता है। यदि पारमार्थिक अर्थ मे लिया जाय तो कोई बाधा भी नही है और न नाथमत की मूल प्रकृति के विपरीत ही प्रतीत होता है। सिद्ध-सिद्धान्तसग्रह मे कहा गया है कि वज्रोली के केवल ज्ञानमात्र से सिद्धमार्ग प्रकाशित होता है।[2] अर्थात् यह साधना पारमार्थिक रूप मे ग्राह्य थी। स्त्रीनिस्सगता को नाथसाधना का वैशिष्टच स्वीकार करते हुए भी यह अनुमान किया जा सकता है कि ये साधनाएँ यदि बाद मे प्रक्षिप्त हुई तो भी ये केवल गृहस्थ नाथयोगियो द्वारा साध्य रही होगी। ऐसा स्वीकार कर लेने पर नाथमत के साधन-ग्रन्थो मे उनकी उपस्थिति से विचिकित्सा करने की कोई आवश्यकता न होगी। इस विवेचन से यही स्पष्ट होता है कि नाथ और बौद्ध दोनो साधनों मे तात्विक तत्त्व मिलते हैं, फिर भी भेद यह है कि दोनो ने अपने मत की मूल प्रकृति के अनुसार ही इन तत्त्वो को ग्रहण किया है।

इस साधनात्मक भेद का मूल उनके दर्शनों में भी दिखाई पडता है। विद्वानो ने साख्य मत की पुरुष-प्रकृति की विचारधारा, बौद्धो की उपाय-प्रज्ञा की विचारधारा तथा शैवो और शाक्तो की शिव-शक्ति की विचारधारा मे स्पष्ट अन्तर कर लिया है। शैवो ने और नाथयोगियो ने भी, साख्य मत के २५ तत्त्वो को भी स्वीकार कर लिया है; किन्तु उनकी व्याख्या अपने ढग से की है। यह तत्त्व-ज्ञान बौद्धों मे नही मिलता। बौद्ध सहजिया लोगों की दार्शनिक परम्परा मे प्रज्ञा शून्यता नारी-शक्ति-निष्क्रियता आदि विशेषणो से व्यक्त की गई है। उनके यहाँ नरतत्त्व उपाय सक्रिय है। दूसरे प्रज्ञा निर्वाणतत्त्व और पारमार्थिक सत्य का प्रतिनिधित्व करती है तथा उपाय ससार तत्त्व, सावृतिक और सासारिक तत्व का प्रतिनिधित्व करता है। नाथो मे शैव-परम्परा के अनुकूल शिव निष्क्रियता, स्थिरता, अचचलता, अमरता और परमार्थ के प्रतीक हैं तथा शक्ति सक्रियता, चचलता, परिवर्तन, ससार आदि का प्रतीक है। ऐसी अवस्था मे नाथयोगियो ने अपनी प्रकृति के अनुकूल अमरता,

---

[1] आ० रे० क०—पृष्ठ २८६-२८७।

[2] नाथ-संप्रदाय—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ ७१-७२, १२५-१२६।

विराग आदि के प्रतीक को ग्रहण किया तथा शक्ति को बलात् आक्रांत कर अपनी साधना के अनुकूल नियन्त्रित करना उचित माना। यह भेद नाथ सिद्धो और बौद्ध सिद्धों मे महान् अन्तर उपस्थित करता है।

कौलज्ञान-निर्णय आदि रचनाओं के आधार पर तो यह निष्कर्ष निकलता ही है कि मत्स्येन्द्र बौद्ध नही थे और न उनका योगिनीकौल मत ही बौद्ध था। साथ ही नाथयोगियो की यदि मत्स्येन्द्रेतर रचनाओं की मीमांसा कर साधनपद्धति और दर्शन को उपस्थित किया जाय तो यह सप्रमाण सिद्ध हो जाएगा कि नाथमत न तो बौद्ध सिद्धो से प्रवर्तित है और न उसके मूल सिद्धान्त ही बौद्ध हैं। इस प्रकार नाथ सिद्ध और बौद्ध सिद्ध भिन्न-भिन्न हैं तथा उनके द्वारा प्रवर्तित, प्रचारित सम्प्रदाय और धर्ममत समकालीन भिन्न-भिन्न धर्ममत हैं। जो समानताएँ मिलती हैं, वे भारतीय तान्त्रिक धर्म-साधना की विशेषताएँ हैं जो एक साथ ही जैनो, बौद्धो, शैवो, शाक्तो, वैष्णवो—सबमे मिलती हैं। मत्स्येन्द्र और गोरक्ष के प्रचारित मतों मे जो अन्तर है, उसका भी यदि भलीभाँति विचार किया जाय तो यही निष्कर्ष निकलता है कि गोरक्ष मत्स्येन्द्र की शुद्ध नाथयोगी-साधना के शिष्य थे। मत्स्येन्द्र की योगिनीकौल-साधना अधिकांशतः शाक्त और वीराचारी प्रतीत होती है तथा वह बाद मे मत्स्येन्द्र द्वारा प्रचारित की गई थी। शाक्तो और तान्त्रिकों की वीराचारी साधना से प्रभावित होने के कारण उसमें प्रायः वैसी कुछ विशेषताएँ प्रकट हुई हैं जैसी बौद्ध सिद्धो की विभिन्न रचनाओ मे मिलती हैं। इस साम्य के कारण ही बौद्धो मे मत्स्येन्द्र का सम्मान उपयुक्त प्रतीत होता है, साथ ही यही लोगो में भ्रम भी उत्पन्न करता है।[८] इस प्रकार सम्प्रदाय, साधना और दर्शन की आधारभूत प्रवृत्तियो पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि नाथ सिद्धों की परम्परा बौद्ध सिद्धो से मूलतः भिन्न है।

हिन्दी-साहित्य : उद्भव-काल और विस्तार-क्षेत्र

डॉ० शम्भुनाथ सिंह

हिन्दी-भाषा का उद्भव-काल भाषाविदो के साक्ष्य के आधार पर अधिकतर विद्वानो द्वारा १००० ई० के आस-पास माना जाता रहा है। पर इस मान्यता का खण्डन करके हिन्दी-भाषा का विकास-काल ५०० ई० से ७०० ई० तक के काल को माना गया है और यह सिद्ध किया गया है कि ७०० ई० के बाद पूर्ववर्त्ती भाषा मे ऐसा गुणात्मक परिवर्त्तन हो गया कि उसने नवीन भाषा का रूप धारण कर लिया। इस गुणात्मक परिवर्तन का साक्षी वह साहित्य है जो सातवी शताब्दी से बारहवी शताब्दी तक तत्कालीन मध्यदेशीया बोलियो अर्थात् हिन्दी की उपभाषाओ मे लिखा गया था। इस मान्यता के आधार पर हिन्दी-साहित्य के इतिहासकारो द्वारा निर्धारित हिन्दी-साहित्य के उद्भव-काल के औचित्य पर विचार कर लेना आवश्यक है।

हिन्दी-साहित्य के प्रारम्भ-काल के सम्बन्ध मे विद्वानो और साहित्य के इतिहासकारो मे मतभेद है। उनके दो वर्ग हैं। एक वर्ग हिन्दी-साहित्य का प्रारम्भ-काल सातवी-आठवी शताब्दी मानता है, तो दूसरा वर्ग ग्यारहवी शताब्दी। पहले वर्ग मे ग्रियर्सन, मिश्रबन्धु, राहुल साकृत्यायन, काशीप्रसाद जायसवाल और डॉ० रामकुमार वर्मा है और दूसरे वर्ग मे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डॉ० श्यामसुन्दरदास, सूर्यकान्त शास्त्री, हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा आदि। दोनो वर्गों मे हिन्दी-साहित्य के आरम्भ-काल के सम्बन्ध मे जो मतभेद है उसका आधार हिन्दी-भाषा के उद्भव-काल से सम्बन्धित मतभेद है। जो लोग हिन्दी और अपभ्रश मे भेद नही मानते, बल्कि दोनो को एक ही भाषा मानते हैं, वे हिन्दी-भाषा का प्रारम्भ काल ५०० ई० और हिन्दी-साहित्य का प्रारम्भ-काल ७वी-८वी शती मानते हैं। जो अपभ्रश को हिन्दी से भिन्न भाषा मानते हैं, वे भयकर मतिभ्रम के शिकार हो गये हैं। ऐसे विद्वान् और साहित्य के इतिहासकार यह मानते आये हैं कि हिन्दी-भाषा का अपभ्रश भाषा से १००० ई० के आसपास उद्भव हुआ। साथ ही इस वर्ग के लोगो ने हिन्दी-साहित्य का प्रारम्भ-काल भी १००० ई० के आसपास ही माना है। यह परस्पर विरोधी बातें हैं, क्योंकि किसी भाषा के उद्भव के कुछ सौ वर्षो के बाद ही उसमें साहित्य की रचना हो सकती है। प्रारम्भ मे परम्परा-क्रम से साहित्यकार पूर्ववर्ती भाषा मे ही साहित्य-रचना किया करते हैं। इसलिए यदि हिन्दी भाषा का उद्भव १००० ई० के आसपास माना जाय तो उसके साहित्य के इतिहास का आदिकाल १३वी-१४वी शताब्दी से मानना होगा। इस अन्तर्विरोध के कारण हिन्दी-साहित्य के उपर्युक्त द्वितीय वर्गवाले इतिहासकारो ने एक ओर तो अपभ्रश भाषा को एक स्वतन्त्र भाषा माना है, उसे हिन्दी-भाषा की जननी कहा है और दूसरी ओर अपने इतिहास-ग्रन्थो मे, सक्षेप मे ही सही, अपभ्रश साहित्य का इतिहास भी लिखा है। इस सम्बन्ध मे उन्होने अजीब-अजीब तर्क दिये हैं।

सर्वप्रथम आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत विचारणीय है। वे अपभ्रश को प्राकृत की अन्तिम अवस्था मानकर उसे 'प्राकृताभास हिन्दी' नाम देते हैं। इस तरह शुक्ल जी के मत से अपभ्रश भाषा प्राकृत भी है और हिन्दी भी है। यह प्रत्यक्षत अन्तर्विरोधमूलक कथन है। प्राकृत और हिन्दी भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भारतीय आर्यभाषा के विकासेतिहास की दो भिन्न अवस्थाओ

की भिन्न-भिन्न भाषाएँ हैं। अत अपभ्रंश या तो प्राकृत ही हो सकती है या हिन्दी ही; उसे एक साथ दोनो नही माना जा सकता। किन्तु शुक्लजी की बात इस अर्थ मे सही है कि अपभ्रंश का परिनिष्ठित रूप वस्तुत परवर्ती प्राकृत ही है। किन्तु उस समय की बोलचाल की भाषाएँ प्राकृत नही, आधुनिक आर्य भाषाएँ थी। इन्हीं प्रारम्भिक आधुनिक आर्यभाषाओ को शुक्ल जी ने प्राकृताभास हिन्दी और गुलेरीजी ने पुरानी हिन्दी कहा है। शुक्ल जी ने लिखा है, "प्राकृत से बिगडकर जो रूप बोलचाल की भाषा ने ग्रहण किया वह भी आगे चलकर कुछ पुराना पड़ गया है और काव्य-रचना के लिए रूढ़ हो गया। अपभ्रंश नाम उसी समय से चला। जब तक भाषा बोलचाल में थी, तब तक वह भाषा या देशभाषा ही कहलाती रही, पर जब वह साहित्य की भाषा हो गयी तब उसके लिए अपभ्रंश शब्द का व्यवहार होने लगा। (हिन्दी-साहित्य का इतिहास. पृष्ठ १०)। शुक्लजी के इतिहास लिखने के समय तक स्वयभू के 'पउमचरिउ', पुष्पदन्त के महापुराण, यसहर चरिउ और णायकुमार चरिउ, मुनिकनकामर के करकण्डु-चरिउ, आदि परिनिष्ठित अपभ्रंश के काव्य-ग्रन्थ प्रकाश मे नही आये थे। अथवा उन्होने जान-बूझकर इन ग्रन्थो की भाषा को साहित्यिक प्राकृत के अधिक निकट देखकर अपने इतिहास में अपभ्रंश काव्य के अन्तर्गत उनके सम्बन्ध में विचार नही किया है। फिर भी उन्होने लिखा है कि "अपभ्रंश या प्राकृताभास हिन्दी में रचना होने का पता हमें विक्रम की ७वी शताब्दी मे मिलता है। उस काल की रचना के नमूने बौद्धो की वज्रयान शाखा की कृतियो के बीच मिले हैं।" (हिन्दी-साहित्य का इतिहास पृष्ठ १०)। शुक्लजी ने इन सिद्ध कवियो तथा कई जैन कवियो, गोरखनाथ और प्राकृत पैंगलम् में सकलित कवियो के काव्यो के सम्बन्ध में विचार किया है। इन सभी काव्यो की भाषा पुरानी हिन्दी है, परिनिष्ठित अपभ्रंश नही। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि शुक्लजी अपभ्रंश की उन्ही रचनाओ को हिन्दी के अन्तर्गत मानते थे जिनकी भाषा परिनिष्ठित अपभ्रंश से भिन्न और तत्कालीन लोकभाषाओ के निकट थी। किन्तु प्रश्न यह उठता है कि यदि शुक्ल जी इन रचनाओं को पुरानी हिन्दी का काव्य मानते थे, तो उन्होने हिन्दी-साहित्य के इतिहास का प्रारम्भ सातवी शताब्दी से क्यों नही माना ? सभवत इसका कारण यह था कि पूर्ववर्ती भाषाविदो ने हिन्दी-भाषा के इतिहास के प्रारम्भ-काल के सम्बन्ध में जो मत प्रवर्तित कर दिया था उसकी परम्परा को शुक्लजी भी नही तोड़ सके। यद्यपि शुक्लजी के पूर्व ही चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण मे संकलित दोहो को पुरानी हिन्दी का काव्य माना था और राहुल साकृत्यायन ने वज्रयानी सिद्धो की कविता को हिन्दी काव्य मानकर उन पर प्रकाश डाला था; पर शुक्ल जी ने अपने इतिहास मे उपर्युक्त दोनो विद्वानो की खोजो से लाभ उठाते हुए भी हिन्दी-साहित्य के इतिहास का प्रारम्भ-काल ग्यारहवी शताब्दी का पूर्वार्द्ध ही माना, सातवी शताब्दी का उत्तरार्द्ध या आठवी शताब्दी का पूर्वार्द्ध न्ही। यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका शुक्लजी के इतिहास में कोई उत्तर नही मिलता।

इस दिशा में सर्वप्रथम क्रान्तिकारी कदम डॉ० रामकुमार वर्मा ने उठाया। उन्होने अपने इतिहास में हिन्दी-साहित्य का प्रारम्भ ७०० ई० के आसपास माना और सवत् ७५० से १२०० तक की अवधि को हिन्दी-साहित्य का आदिकाल मानकर उसका नामकरण 'सन्धिकाल' किया। उन्होने स्पष्ट शब्दों में लिखा है, "अपभ्रंश जब अपनी साहित्यिक शैली में रूढ होने जा रही थी तब उसमें जनता की मनोवृत्ति से नवीन प्रयोग हुए जो सिद्धों और जैन-कवियो की रचनाओ मे पाये जाते हैं। अर्धमागधी और नागर अपभ्रंश से निकलनेवाली सिद्ध और जैन कवियो की भाषा हिन्दी का प्रारंभिक

रूप की छाप लिये हुए है। इस प्रकार इसे हिन्दी-साहित्य के इतिहास के अन्तर्गत स्थान मिलना चाहिए।" (हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृष्ठ ६८)। इस वक्तव्य में उन्होने यद्यपि पूर्ववर्ती भाषाविदो की यह भ्रमपूर्ण धारणा यथावत् स्वीकार कर ली है कि हिन्दी की विभिन्न बोलियो की उत्पत्ति भिन्न-भिन्न अपभ्रशो से हुई है, फिर भी उनका यह कथन बिलकुल सत्य है कि अपभ्रश के नाम पर प्रचलित अनेक रचनाएँ वस्तुत प्राचीन हिन्दी की रचनाएं है, इसलिए हिन्दी-साहित्य के इतिहास में उनकी भी विवेचना होनी चाहिए।

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने रामचन्द्र शुक्ल की तरह ही अपने इतिहास-ग्रन्थ 'हिन्दी-साहित्य' में अपभ्रश को हिन्दी से भिन्न भाषा मानते हुए भी अपभ्रश काव्यो का विस्तार से विवेचन किया है। इसके लिए उन्होने यह तर्क दिया है कि "व्यवहार में पजाब से लेकर बिहार तक बोली जाने वाली सभी उन भाषाओ को हिन्दी कहते है। इसका मुख्य कारण इस विस्तृत भू-भाग के निवासियो की साहित्यिक-भाषा की केन्द्राभिमुखी प्रवृत्ति है। गुलेरी जी इस व्यावहारिक अर्थ पर जोर देते है। उन्होने स्पष्ट रूप से कहा है, कि "यदि यह भाषा (साहित्यिक अपभ्रश) हिन्दी नही है, तो ब्रजभाषा भी हिन्दी नही है और तुलसीदास की उक्तियाँ भी हिन्दी नही है। जहाँ तक नाम का प्रश्न है, गुलेरी जी का सुझाव पण्डितो को मान्य नही हुआ है। अपभ्रश को अब कोई भी पुरानी हिंदी नही कहता। परन्तु जहाँ तक परम्परा का प्रश्न है, निःसन्देह हिन्दी का परवर्ती साहित्य अपभ्रश-साहित्य से क्रमश विकसित हुआ है।" (हिन्दी-साहित्य, पृष्ठ, १६-१७)।

यह एक विचित्र तर्क है। एक ओर तो द्विवेदी जी ने हिन्दी को अपभ्रश से निकली हुई, उससे भिन्न भाषा माना है, दूसरी ओर परम्परा के नाम पर अपभ्रश-साहित्य को हिन्दी-साहित्य के इतिहास में स्थान भी दिया है। यदि अपभ्रश-साहित्य की परम्परा को हिन्दी-साहित्य में अपनाये जाने के कारण ही अपभ्रश-साहित्य को हिन्दी-साहित्य के इतिहास में ग्राह्य माना जायगा तो इसी तर्क के अनुसार सस्कृत और प्राकृत का साहित्य भी हिन्दी-साहित्य के इतिहास में विवेच्य सिद्ध होगा, क्योंकि हिन्दी और प्राकृत की परम्परा भी प्राचीन हिन्दी-साहित्य मे बहुत अधिक अपनायी गयी है। यही नहीं, आधुनिक काल में तो पाश्चात्य साहित्यिक परम्पराएँ भी हिन्दी-साहित्य में बहुत दूर तक स्वीकार की गयी है। क्या इसी कारण से हिन्दी-साहित्य के इतिहास में पाश्चात्य साहित्य की भी परिगणना होगी? द्विवेदी जी ने उसी पुस्तक में तथा 'हिन्दी साहित्य के आदिकाल नामक' ग्रन्थ मे यह भी कहा है कि 'हिन्दी-भाषा साहित्यिक अपभ्रश से सीधे विकसित नही हुई, बल्कि उस ग्राम्यभाषा से विकसित हुई है जिसे हेमचन्द्र ने ग्राम्यापभ्रश कहा है—"यह भाषा परिनिष्ठित अपभ्रंश से आगे बढी हुई (एडवास्ड) बतायी जाती है। इसी में बौद्धो के पद और दोहे, प्राकृत पैंगलम् के उदाहृत अधिकाश पद्य, 'सन्देश रासक' आदि रचनाएँ लिखी गयी है। वस्तुत यही भाषा आगे चलकर आधुनिक देशी भाषाओं के रूप में विकसित हुई है।" (वही—पृष्ठ १७)। यह कथन स्पष्ट ही द्विवेदी जी के पूर्ववर्ती कथन का विरोधी है। इस कथन मे वे स्वीकार करते है कि साहित्यिक अपभ्रश के साथ-साथ पाँचवी से दसवी शताब्दी तक के बीच कुछ देशी भाषाएँ भी प्रचलित थी जो अपभ्रंश से (जो मेरे विचार से प्राकृत ही थी) आगे बढी हुई भाषाएँ थी और उन्हीं से हिन्दी तथा अन्य भाषाओं का विकास हुआ है। वस्तुत द्विवेदी जी की अन्तिम बात ही सत्य है। ऐसी स्थिति में उन्हें अपने इतिहास मे अपभ्रश काव्य मानी जानेवाली ऐसी ही रचनाओ की परिगणना करना उचित था जो परिनिष्ठित अपभ्रश की नही, तत्कालीन ग्राम्यभाषाओं की रचनाएँ थी और जिन्हें हम केवल

परम्परा की दृष्टि से नही, बल्कि भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भी हिन्दी-भाषा का काव्य मान सकते हैं। ऐसे काव्यो में से कुछ का उल्लेख द्विवेदी जी ने किया भी है।

इस तरह रामचन्द्र शुक्ल से लेकर हजारी प्रसाद द्विवेदी तक, प्राय सभी इतिहासकारो ने अपभ्रंश साहित्य का विचार अपने इतिहास-ग्रन्थों मे किया है, किन्तु उनमे से कुछ ने यह मानकर ऐसा किया है कि यद्यपि अपभ्रंश हिन्दी से भिन्न भाषा है, पर परम्परा से उसके काव्य को भाषा-काव्य अर्थात् हिन्दी का काव्य माना जाता रहा है। दूसरी ओर गुलेरी जी, राहुल सांकृत्यायन और रामकुमार वर्मा अपभ्रंश भाषा को हिन्दी का प्राचीन रूप मानकर ही उसे हिन्दी-साहित्य के इतिहास में परिगणना के योग्य मानते हैं। वस्तुत ये दोनों ही विचार भ्रामक हैं। 'अपभ्रंश' एक भ्रामक शब्द है, क्योकि उससे एक ओर तो ऐसी भाषा का बोध होता है जो परवर्ती प्राकृत थी, दूसरी ओर ऐसी भाषाओं का जो पूर्ववर्ती आधुनिक आर्यभाषाएँ अथवा तत्कालीन लोकप्राकृतें थी। अत हिन्दी-साहित्य के इतिहास मे पहले प्रकार की रचनाएँ तो उसी प्रकार परिगणनीय नही है जिस प्रकार प्राकृत और संस्कृत की। किन्तु दूसरे प्रकार की तथाकथित अपभ्रंश रचनाएँ वस्तुत प्राचीन हिन्दी-भाषा की रचनाएँ हैं और न्यायत उनको हिन्दी-साहित्य के इतिहास मे सम्मिलित करना चाहिए। हिन्दी-साहित्य के किसी भी इतिहासकार ने इस तथ्य की ओर ध्यान नही दिया है। वे इस तथाकथित अपभ्रंश भाषा के समस्त साहित्य का हिन्दी-साहित्य के इतिहास मे विवेचन करते हैं। भले ही उनमे से कुछ इस विश्वास के साथ ऐसा करते हैं कि समस्त अपभ्रंश-साहित्य हिन्दी का ही साहित्य है और कुछ परम्परा के नाम पर ऐसा करते हैं।

एक बार यह मान लेने पर कि तथाकथित अपभ्रंश भाषा के साहित्य का एक भाग ऐसा भी है जो प्राचीन हिन्दी का साहित्य है, यह आवश्यक हो जाता है कि हिन्दी के क्षेत्र का निर्णय कर लिया जाय ताकि हिन्दी की विभिन्न उपभाषाओ या बोलियो के प्राचीनतम साहित्य को तथाकथित अपभ्रंश साहित्य से छाँट कर अलग किया जा सके। पहले कहा जा चुका है कि हिन्दी की समस्त बोलियो का उद्भव सीधे शौरसेनी प्राकृत से हुआ है। हिन्दी-साहित्य के इतिहासकारो के सामने एक बहुत बडा धर्मसंकट यह रहा है कि भाषाविदो के मतानुसार वे एक ओर तो शौरसेनी अपभ्रंश से निकली हुई खडी बोली ब्रजभाषा और बुन्देलखण्डी को पश्चिमी हिन्दी तथा अर्धमागधी प्राकृत से निकली हुई एक कल्पित अर्धमागधी, अपभ्रंश से उद्भूत अवधी, कन्नौजी, बघेली आदि को पूर्वी हिन्दी मानते हैं। दूसरी ओर अपने इतिहास-ग्रन्थो मे परम्परागत व्यवहार के आधार पर राजस्थान से लेकर पूर्वी और दक्षिणी बिहार तथा हिमालय प्रदेश से लेकर मेवाड-निमाड और छत्तीसगढ तक की बोलियों के प्राचीन साहित्य को हिंदी साहित्य के इतिहास मे सम्मिलित करते हैं। इस अन्तर्विरोधमूलक मान्यता का उनके पास कोई संतोषजनक समाधान नही है। यदि परम्परा से इस विस्तृत भू-भाग की समस्त भाषाओ का सामूहिक नाम हिन्दी रहा है तो इसका कोई न कोई भाषावैज्ञानिक कारण भी अवश्य होना चाहिए।

पहले विस्तार से यह सिद्ध किया जा चुका है कि हिन्दी की समस्त बोलियों का उद्भव एक ही प्राकृत—शौरसेनी (मध्यदेशीया) प्राकृत—से हुआ है जिसकी मुख्यत दो शाखाएँ थी—पश्चिमी शौरसेनी और पूर्वी शौरसेनी। क्षेत्रीय या बोलचाल की भाषाओ का यह नियम है कि थोडी-थोडी दूरी के बाद उनमें उच्चारण तथा शब्दरूप सम्बन्धी सामान्य भेद होते जाते हैं। इन सामान्य भेदों के कारण एक ही बोली के अनेक रूप दिखाई पडते हैं। जैसे आज की भोजपुरी बोली के काशिका-

वल्लिका, मल्लिका और बज्जिका नामक उपभेद दिखाई पड़ते हैं। इसी आधार पर हम अनुमान कर सकते हैं कि पश्चिमी शौरसेनी प्राकृत के कई उपभेद रहे होंगे जैसे हिमाचली, कौरवी, पाञ्चाली, मरुदेशीया, लाटी, आवन्ती, नैषधी आदि। ये नाम ऐतिहासिक भूभागों के नामों पर आधारित हैं। इन समस्त छोटे-छोटे भू-भागो की बोलियाँ एक ही मुख्य बोली—पश्चिमी शौरसेनी प्राकृत—के अन्तर्गत थीं। इसी तरह एक पूर्वी शौरसेनी प्राकृत नाम की व्यापक शाखा भी थी जो पश्चिमी शौरसेनी से अधिक भिन्न नही थी। इसी प्राकृत से हिन्दी की समस्त पूर्वी बोलियो—अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी, भोजपुरी, मगही और मैथिली—का विकास हुआ। उस पूर्वी शौरसेनी प्राकृत के कई उपभेद रहे होंगे जैसे कोसली, कान्यकुब्जी, महाकोसली, काशिका, मल्लिका, बज्जिका, मगधी, अंगिका आदि। इस प्रकार पूर्वी-पंजाब, राजस्थान और गुजरात से लेकर पूर्वी और उत्तरी बिहार तक तथा हिमालय से लेकर मध्यप्रदेश के दक्षिणी भाग तक की समस्त बोलियाँ एक ही प्राकृत—मध्यदेशीया प्राकृत—से निकली हुई हैं। इनमें से दशवी शताब्दी तक गुजरात प्रदेश की बोलचाल की भाषा शौरसेनी प्राकृत से निकली अन्य भाषाओं से, भौगोलिक दूरी के कारण पर्याप्त भिन्न हो गयी और इस तरह उसने अपना स्वतन्त्र रूप निर्मित कर लिया, किन्तु शौरसेनी प्राकृत से निकली अन्य उप-भाषायें एक-दूसरे से पूर्णत· सपृक्त बनी रही, उन्हें बोलनेवाले परस्पर बात करते समय एक-दूसरे की भाषा अच्छी तरह समझ लेते थे और आज भी समझ लेते हैं। एक मारवाडी मिथिला में अपनी भाषा से काम चला सकता है, किन्तु बगाल या दक्षिण भारत में उसे वहाँ की भाषा सीखनी होगी। इससे यह सिद्ध होता है कि समस्त हिन्दी-प्रदेश वैदिक काल से ही निरन्तर एक भाषागत ईकाई रहा है और वैसा ही आज भी है।

ग्रियर्सन का मत

हिन्दी-साहित्य का प्रथम तथाकथित इतिहास जार्ज ग्रियर्सन ने लिखा था; किन्तु उसका नाम हिन्दी-साहित्य का इतिहास नही, "हिन्दुस्तान के आधुनिक देशीभाषा साहित्य का इतिहास" (दी मार्डन वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑव हिन्दुस्तान) था। इसका कारण यह था, कि ग्रियर्सन पजाब और बगाल के बीच के उत्तरी भारत को हिन्दुस्तान कहते थे और उस विस्तृत भूभाग में प्रचलित विभिन्न बोलियों को एक भाषा—हिन्दी—नही मानते थे; बल्कि उन बोलियों को उन्होंने राजस्थानी, पश्चिमी हिन्दी, पूर्वी हिन्दी और बिहारी, इन चार वर्गों में विभाजित किया था। इन सभी का सामूहिक नाम उन्होने आधुनिक देशी भाषा रखा था। हिन्दी से उनका तात्पर्य केवल वर्तमान खड़ी बोली गद्य की भाषा से था। इस सम्बन्ध में उन्होने लिखा है, "यह यूरोपीय लोगो को हिन्दी नाम से ज्ञात और उन्ही द्वारा आविष्कृत अद्‌भुत सकीर्ण भाषा के प्रादुर्भाव का भी युग था।....नयी भाषा यूरोपीय लोगो के द्वारा हिन्दी कही गयी और सम्पूर्ण भारतवर्ष में हिन्दुओ की राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार कर ली गयी, क्योंकि इसका अभाव था और इसने उसे पूरा कर दिया। यह सम्पूर्ण उत्तरी-भारत में गद्य की सर्व-स्वीकृत भाषा हो गयी; किन्तु यह कहीं की देशभाषा नही थी, अतः इसका काव्य के क्षेत्र में कही भी सफल प्रयोग नही हो सका है। बड़े-बडे प्रतिभासपन्न लोगों ने प्रयोग किया, पर सभी असफल रहे। अतः इस समय उत्तरी हिन्दुस्तान में साहित्य की निम्नलिखित ढंग की विचित्र स्थिति है—इसका पद्य तो सर्वत्र स्थानीय भाषा में, विशेषकर ब्रज, बैसवाडी और बिहारी में है और इसका गद्य प्राय. सर्वत्र एकसी कृत्रिम बोली में, जो किसी भी देशी भारतीय की मातृ-भाषा नहीं है" (हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास—अनुवादक डॉ० किशोरी लाल गुप्त, पृष्ठ २२९)।

इस कथन से स्पष्ट है कि ग्रियर्सन की दृष्टि साम्राज्यवादी, साम्प्रदायिक और भारतीय राष्ट्रीयता-विरोधी थी। वे इस बात से तो नही इन्कार कर पाये कि पूर्वी पजाब से लेकर बिहार तक का देशी भाषाओं का साहित्य एक ही वर्ग का साहित्य है, इसलिए उसका इतिहास भी एक ही होना चाहिए, किन्तु भाषा की दृष्टि से वे उन सबको विभिन्न प्राकृतो से उत्पन्न अलग-अलग भाषाएँ मानते रहे। इसी कारण उन्होने हिन्दी को आधुनिक युग की एक कृत्रिम-भाषा माना। किन्तु उनकी इस धारणा तथा उनकी भारतीय भाषा-सर्वेक्षण सम्बन्धी मान्यताओ. के मूल में उनकी यह साम्राज्यवादी मनोवृत्ति निहित थी कि भारतीय जनता और उसके सास्कृतिक इतिहास को विभिन्न टुकडो में बाँटकर छिन्न-भिन्न करने का प्रयत्न होना चाहिए।

ग्रियर्सन के बाद के भारतीय भाषाविदों तथा साहित्य के इतिहासकारो ने यद्यपि ग्रियर्सन की भारत-विरोधी नीति को नही अपनाया; किन्तु उनके भाषा-सर्वेक्षण तथा इतिहास सम्बन्धी निष्कर्षों को अविकल रूप में अपना लिया। हिन्दी-साहित्य के इतिहासकारो ने ग्रियर्सन की मान्यताओ में इतना ही संशोधन किया कि उन्होने अपने इतिहास ग्रन्थो का नाम "हिन्दुस्तान की देशी भाषाओ के साहित्य का इतिहास" न रख कर हिन्दी-साहित्य का इतिहास रखा। किन्तु उनमें से अधिकतर इतिहासकारों ने ग्रियर्सन के दो निष्कर्षों को, जो सही निष्कर्ष थे, बिलकुल छोड़ दिया। उनमें से पहला निष्कर्ष यह था कि देशी भाषाओ के साहित्य का इतिहास ७०० ई० से प्रारम्भ होता है और दूसरा यह कि हिन्दी-भाषा का विकास सीधे प्राकृतो से हुआ है। वे अपभ्रंश को भी प्राकृत ही मानते थे और हिन्दी की वर्तमान उप-भाषाओं के साहित्य को गौडीय साहित्य कहते थे। उन्होने लिखा है, "अब मैं अपने पाठकों से प्रार्थना करूँगा कि वे उस लघु अन्तर के ऊपर एक डग और धरें जो पिछली प्राकृत को प्रारम्भिक गौडीय साहित्य से विलग करता है · जो कुछ संस्कृत और प्राकृत के सम्बन्ध में कहा जाता है उसके बावजूद उत्तरकालीन सस्कृत और प्राकृत कवितायें कृत्रिम रचनाएँ हैं जो कक्ष में बैठकर विद्वानों के द्वारा विद्वानो के लिए लिखी गयीं। किन्तु नव गौड़ीय कवियों ने न छोडनेवाले 'आलोचको—जनता—के लिए लिखा" (हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास—अनुवादक किशोरीलाल गुप्त—पृष्ठ ४३,४४)। इससे स्पष्ट है कि ग्रियर्सन परिनिष्ठित अपभ्रंश की रचनाओं की भाषा को कृत्रिम साहित्यिक प्राकृत का परवर्ती रूप मानते थे और उनके अनुसार आ० भा० आ० भाषाओं का विकास तत्कालीन बोल-चाल की प्राकृतों से हुआ था। यदि हिन्दी-भाषा और साहित्य के इतिहासकारों ने ग्रियर्सन के इन दोनो निष्कर्षों का समुचित परीक्षण करके उन्हें स्वीकार किया होता तो वे इस भ्रान्ति के शिकार न हुए होते कि हिन्दी-भाषा और साहित्य का उद्भव १००० ई० के आसपास हुआ था। इसी भ्रान्ति के कारण उन्हें १००० ई० के पूर्व की पुरानी हिन्दी की रचनाओं को भी अपभ्रंश या अवहट्ट का काव्य कहना पडता है और परिनिष्ठित अपभ्रंश को साहित्यिक प्राकृत से भिन्न एक नयी भाषा मानकर माथा-पच्ची करनी पडती है तथा यह निराधार कल्पना भी करनी पड़ती है कि प्रत्येक आ० भा० आ० भाषा तथा हिन्दी की विभिन्न बोलियों का विकास भिन्न-भिन्न अपभ्रंश भाषाओ से हुआ।

डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने "हिन्दी-भाषा का इतिहास" लिखने के साथ-साथ हिन्दी-साहित्य नामक एक इतिहास-ग्रन्थ का संपादन भी किया है। "हिन्दी-भाषा का इतिहास" नामक ग्रन्थ में उन्होंने राजस्थानी और बिहारी को हिन्दी से भिन्न भाषाएँ माना है, किन्तु व्यवहार की दुहाई देते हुए वे ग्रियर्सन के उपर्युक्त साम्राज्यवादी और राष्ट्रीयता-विरोधी कथन को भी दुहराते हैं—"आजकल

वास्तव में इसका (हिन्दी शब्द का) व्यवहार उत्तर भारत के मध्य भाग के हिन्दुओं की वर्तमान साहित्यिक भाषा के अर्थ में मुख्यतया तथा इसी भूमि-भाग की बोलियो और उनसे सम्बन्ध रखने-वाले प्राचीन साहित्यिक रूपो के अर्थ में साधारणतया होता है। इस भूमि-भाग की सीमाएँ पश्चिम में जैसलमीर, उत्तर-पश्चिम में अम्बाला, उत्तर में शिमला से लेकर नेपाल के पूर्वी छोर तक के पहाड़ी प्रदेश का दक्षिणी भाग, पूरब में भागलपुर, दक्षिण पूरब में रायपुर तथा दक्षिण-पश्चिम में खंडवा तक पहुँचती हैं। इस भूमिभाग में हिन्दुओ के आधुनिक साहित्य, पत्र-पत्रिकाओं, शिष्ट बोल-चाल तथा स्कूली शिक्षा की भाषा एक मात्र हिन्दी ही है। साधारणतया 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग जनता में इसी भाषा के अर्थ में किया जाता है, किन्तु साथ ही इस भूमिभाग की ग्रामीण बोलियों—जैसे मारवाडी, ब्रज, छत्तीसगढ़ी, मैथिली आदि को तथा प्राचीन ब्रज, अवधी आदि साहित्यिक भाषाओं को भी हिन्दी भाषा के ही अन्तर्गत माना जाता है। हिन्दी भाषा का यह प्रचलित अर्थ है।" (हिन्दी-भाषा का इतिहास पृष्ठ ३५, ३६)। इस उद्धरण से स्पष्ट है कि डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने ग्रियर्सन के उपर्युक्त मत को ही स्वीकार किया है। यदि राजस्थानी और बिहारी भाषाएँ पश्चिमी और पूर्वी हिन्दी से भिन्न भाषाएँ हैं तो खडी बोली हिन्दी उन क्षेत्रों में साहित्य की भाषा कैसे बन गयी? साथ ही व्यवहार में राजस्थानी और बिहारी भाषाओ के साहित्य को बहुत पहले से हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत क्यों माना जाता रहा है? इन प्रश्नो पर ग्रियर्सन, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, हजारी प्रसाद द्विवेदी, उदयनारायण तिवारी आदि ने एकदम विचार नहीं किया है। संभवत वे जान-बूझ कर इन प्रश्नों का उत्तर देने से कतरा गये हैं।

डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने हिन्दी-साहित्य नामक ग्रन्थ के प्रथम खण्ड की प्रस्तावना में लिखा है, "हिन्दी-भाषा का क्षेत्र वर्तमान राजस्थान से बिहार तथा हिमाचल-प्रदेश और पूर्वी पजाब से मध्य-प्रदेश तक का विस्तृत भू-भाग है। प्राशासनिक आधार पर इसमें पजाब (पूर्वी भाग), हिमाचल प्रदेश, दिल्ली, राजस्थान, उत्तर-प्रदेश, मध्यप्रदेश और बिहार—आठ अलग-अलग इकाइयाँ हैं, परन्तु भाषा की दृष्टि से यह सम्पूर्ण क्षेत्र एक अविभाज्य इकाई है जिसकी जनसख्या २२ करोड है। भाषा की इस इकाई को यदि हिन्दी-प्रदेश कहा जाय तो अनुचित न होगा।" वर्मा का यह मत कोई नया नहीं है। उन्होंने बहुत पहले इस समस्त हिन्दीभाषी प्रदेश को एक इकाई मानकर उसे सूबा हिन्द नाम देने की वकालत की थी। इससे यह पता चलता है कि वर्मा जी का व्यक्तित्व दुहरा है। उनका एक व्यक्तित्व तो भाषाविद का है और दूसरा राष्ट्रवादी भारतीय का। भाष विद के रूप में वे अपने पूर्ववर्ती भाषाविदो का अनुसरण करते हुए केवल खडीबोली, ब्रजभाषा, बुन्देलखण्डी और अवधी को ही हिन्दी भाषा की बोलियाँ मानते हैं। किन्तु राष्ट्रवादी भारतीय के रूप में वे उस समस्त भू-भाग को हिन्दी-प्रदेश कहते हैं जिसे ग्रियर्सन ने आधुनिक देशी भाषाओं का भूभाग अथवा 'हिन्दुस्तान' कहा था। आश्चर्य की बात यह है कि वर्मा जी जैसे मनीषी व्यक्ति ने भाषा-शास्त्र की दृष्टि से इस द्विधा भाव को मिटाने का प्रयत्न क्यो नही किया?

प्रसन्नता की बात है कि विद्वानों का ध्यान अब हिन्दी की परम्परा को प्राचीनतर युगों तक ले जाने की ओर जा रहा है। डॉ० हरदेव बाहरी ने तो यहाँ तक कह दिया है कि "एक तरह से यह कहना ठीक होगा कि वैदिक भाषा ही प्राचीनतम हिन्दी है। इस भाषा के इतिहास का यह दुर्भाग्य है कि युग-युग में इसका नाम परिवर्तित होता रहा है। सन् ई० पूर्व की तमिल और आज की तमिल में नाम-भेद नही किया जाता, भले ही आधुनिक तमिल के पण्डित के लिए प्राचीन

तमिल वैसे ही कठिन और दुर्बोध हो, जैसी हिन्दी जाननेवाले के लिए संस्कृत। समूल परिवर्त्तन हो जाने पर भी अंग्रेजी अंग्रेजी ही है और जर्मन जर्मन। काल-भेद से हम उनके विभिन्न रूपो को प्राचीन अंग्रेजी, प्राचीन जर्मन, मध्यकालीन अंग्रेजी, मध्यकालीन जर्मन, आधुनिक अंग्रेजी और आधुनिक जर्मन कह देते हैं। किन्तु हिन्दी के अति प्राचीन रूप को वैदिक, प्राचीन रूप को सस्कृत, पूर्व मध्यकालीन को पालि, मध्यकालीन को प्राकृत, उत्तर मध्यकालीन को अपभ्रंश एव आधुनिक रूप को हिन्दी कहते हैं" (हिन्दी-साहित्य, प्रथम खण्ड—सपादक धीरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ १३३)। डॉ० बाहरी का उपर्युक्त तर्क अकाट्य है; किन्तु उन्होने भारतीय आर्य-भाषा की अंग्रेजी और जर्मन भाषा से जो तुलना की है वह हेत्वाभास मात्र है। भारतीय आर्य-भाषा का इतिहास कम से कम ५००० वर्ष का है, किन्तु अंग्रेजी और जर्मन भाषाओ का इतिहास अधिक से अधिक २००० वर्ष पुराना है। उनका यह कथन बिलकुल सही है कि जिस तरह तमिल, अंग्रेजी और जर्मन के प्राचीनतम रूपो का नाम भी तमिल, अंग्रेजी या जर्मन ही है, उसी तरह हिन्दी के प्राचीनतम रूप का नाम भी हिन्दी ही होना चाहिए। किन्तु उनका यह कथन ठीक नही है कि प्राचीन भारतीय आर्य भाषा वैदिक सस्कृत और लौकिक सस्कृत तथा मध्यकालीन आर्य-भाषाएँ भी प्राचीन हिन्दी ही है। वस्तुत. जिस तरह यूरोप में यूनानी और लातीनी भाषाएँ आधुनिक यूरोपीय भाषाओ के रूप मे बदली उसी तरह प्राचीन भारतीय आर्य भाषा भी ५०० ई० के आसपास आ० भा० आ० भाषाओ के रूप में परिवर्तित हुई। यह परिवर्तन सीधे बोल-चाल की प्राकृतो से हुआ, साहित्यिक प्राकृत, या उसके परवर्ती रूप परिनिष्ठित अपभ्रंश से नही। ऐसा मान लेने पर आर्य-भाषा की माध्यमिकावस्था के केवल दो ही रूप मान्य होंगे—पालि और प्राकृत। अपभ्रंश नामक एक और भाषा की कल्पना करके उस माध्यमिकावस्था के काल को १००० ई० तक ले आने की कोई आवश्यकता नही है। हमारे इस मत का समर्थन प्राकृत के प्रसिद्ध विद्वान्, डॉ० बनारसीदास जैन के इस कथन से भी होता है, "वस्तुत अपभ्रंश प्राकृत की अन्तिम दशा का नाम है। अत. हम हिन्दी को प्राकृत की सन्तान कह सकते है। प्रारम्भिक काल की हिन्दी-भाषा और साहित्य पर प्राकृत का गहरा प्रभाव है।" (डॉ० बनारसीदास जैन—'प्राकृत साहित्य' शीर्षक निबन्ध—धीरेन्द्र वर्मा और ब्रजेश्वर वर्मा द्वारा सम्पादित—हिन्दी-साहित्य, प्रथम खण्ड—पृष्ठ ३५५)।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पूर्वी पंजाब और राजस्थान से लेकर पूर्वी बिहार तक तथा हिमाचल प्रदेश, उत्तर-प्रदेश के उत्तरी पहाड़ी भाग और नेपाल के दक्षिणी भाग से लेकर मध्यप्रदेश के दक्षिणी छोर तक के उस विस्तृत भू-भाग में प्रचलित समस्त आधुनिक आर्य-परिवारी उपभाषाओं का सामूहिक नाम हिन्दी है जिसकी कोई न कोई उपभाषा वैदिक काल से ही समस्त आर्य-भारत के सांस्कृतिक और राष्ट्रीय उपयोग की भाषा रहती आयी है। इन वर्तमानकालीन उप-भाषाओं का मूल रूप वे प्राकृत बोलियाँ थीं जो एक ही भाषा-वर्ग—मध्यदेशीया प्राकृत—की उपभाषायें थीं और जिनका साहित्यिक रूप, शौरसेनी प्राकृत थी जिसके पाँच अन्य रूपान्तर—महाराष्ट्री, अर्धमागधी, मागधी, पैशाची और ब्राचड—भी थे। इन पाँचो प्राकृतों में से ब्राचड और पैशाची पर सम्भवत मध्यदेश के बाहर की बोलियों की ध्वनियों का प्रभाव था, अन्यथा वे व्याकरण की दृष्टि से मूलतः शौरसेनी प्राकृत ही थीं। मध्यदेश के उत्तर, पश्चिम, दक्षिण और पूर्व की प्राकृतें भी बोलचाल में प्रयुक्त होती थीं, पर उनका कोई भी साहित्यिक रूप आज उपलब्ध नहीं है। उन्हीं

बहिरग प्राकृतो से काश्मीरी, पजाबी, लहदा, सिन्धी, महाराष्ट्री, उड़िया, बगला और असमिया भाषाओं का उद्भव हुआ। गुजराती भाषा का उद्भव मध्यदेशीया प्राकृत की ही दक्षिणी पश्चिमी बोली से हुआ और मध्यदेश से दूर पड जाने के कारण वह हिन्दी-भाषा-वर्ग से अलग हो गयी। इस तरह समूचे मध्यदेश की सामूहिक भाषा एक ही प्राकृत से उद्भूत होने के कारण एक है और उसका एक नाम है—हिन्दी। इसी कारण हजारो वर्षों से इन सभी बोलियों या उपभाषाओ से जो भी साहित्य लिखा जाता रहा है उसे भाषा, देशी भाषा, हिन्दवी, हिन्दी अथवा हिन्दुस्तानी का साहित्य कहा जाता रहा है। हेमचन्द्राचार्य ने उसे ही ग्राम्यापभ्रंश कहा था, तथा विद्यापति ने 'देसिल बअन', तुलसीदास और केशव ने 'भाषा' कबीर और जायसी ने 'भाखा', खुसरो तथा दक्खिनी हिन्दी के शायरों ने हिन्दवी और अंग्रेजो ने 'हिन्दुस्तानी' कहा था।

हिन्दी-साहित्य का इतिहास—देशगत और कालगत सीमाएँ

अब तक हिन्दी-भाषा के क्षेत्र और काल-विस्तार के सम्बन्ध में विचार किया गया है और हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि हिन्दी-भाषा की उद्भव-प्रक्रिया मध्यदेशीया (शौरसेनी) प्राकृत की विभिन्न बोलियों से पाँचवी शताब्दी के आस-पास प्रारम्भ हुई। किन्तु उसका स्पष्ट रूप कुछ शताब्दियो बाद निर्मित हुआ, जब कि उसमें थोडा-बहुत साहित्य भी लिखा जाने लगा। आठवीं शताब्दी से पुरानी हिन्दी की विविध वोलियो में कुछ न कुछ साहित्य मिलने लगता है। इस तरह हम हिन्दी-साहित्य के इतिहास का प्रारम्भिक काल ७०० ई० के आसपास मान सकते हैं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा हिन्दी-साहित्य के अन्य इतिहासकारो ने सहजयानी सिद्धो की रचनाओं तथा अनेक जैन-कवियो की देशी भाषा की कविताओ को अपभ्रंश-साहित्य कहकर उन्हें हिन्दी-साहित्य के इतिहास के अन्तर्गत विवेच्य नही माना, यद्यपि उन्होने हिन्दी-साहित्य की परम्परा की खोज के लिए भूमिका रूप में उन रचनाओ का विवरण दिया है। किन्तु इसका परिणाम यह हुआ है कि उन्होने हिन्दी-साहित्य के इतिहास का प्रारम्भ १००० ई० के आसपास मान लिया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तो पुरानी हिन्दी की उन रचनाओ को प्राकृताभास हिन्दी कहते भी हैं, पर इतना होने पर भी उन्होंने हिन्दी-साहित्य के इतिहास का प्रारम्भ उक्त रचनाओ के काल से नही माना है। इसका मूल कारण शुक्ल जी का ही नही, अधिकांश इतिहासकारों का यह भ्रम रहा है कि उपर्युक्त रचनाओ की भाषा हिन्दी से भिन्न अपभ्रंश भाषा है। पहले हम बार-बार यह कह आये हैं कि अपभ्रंश एक भ्रामक शब्द है जो वैयाकरणो द्वारा भिन्न अर्थ में प्रयुक्त हुआ था, किन्तु आधुनिक भाषाविदो ने उसे एक स्वतन्त्र भाषा मान लिया है। यह कितनी बड़ी धाधली है कि एक ही भाषा के प्राचीन और अर्वाचीन रूपो को ही भिन्न भाषाएँ मानकर हिन्दी-भाषा और साहित्य के इतिहासकारो ने उस इतिहास के प्रारम्भ- काल को कई सौ वर्ष परवर्ती सिद्ध किया है। इन विद्वानों ने यूरोपीय भाषाओं और उनके साहित्य के इतिहास की ओर दृष्टि डाल कर यह देखने की कोशिश नहीं की कि वहाँ आधुनिक भाषाओ तथा उनके साहित्य के इतिहास का काल-निर्धारण किस आधार पर करते है। इनके साहित्य का प्रारम्भ छठवी-सातवीं शताब्दी से ही हो गया था। अंग्रेजी भाषा की स्थिति और भाषाओं से कुछ भिन्न है। ऐसा प्रतीत होता है कि हिन्दी-साहित्य के इतिहासकारो ने अंग्रेजी भाषा और साहित्य के इतिहास को ही नमूना मान कर उसी ढंग पर अपने इतिहास-ग्रन्थो की रचना की है। पर वहाँ भी अब नयी मान्यता स्थिर हो चुकी है और अंग्रेजी-साहित्य का आरम्भ सातवी शताब्दी से माना जाने लगा है।

अंग्रेजी भाषा और साहित्य के इतिहास पर एक तुलनात्मक दृष्टि

अग्रेजी भाषा और साहित्य के इतिहास के सम्बन्ध मे भी इतिहासकारो मे पर्याप्त मतभेद है। हिन्दीवालों की तरह उनके भी दो वर्ग है। एक वर्ग अग्रेजी-साहित्य का प्रारम्भ सातवी शताब्दी और अग्रेजी भाषा का प्रारम्भ उससे भी पहले मानता है और दूसरा वर्ग अग्रेजी साहित्य का प्रारम्भ ११वी शताब्दी और अग्रेजी भाषा का प्रारम्भ उससे कुछ शताब्दी पूर्व मानता है। इस पहले वर्ग के इतिहास के ढग पर ही 'मिश्र-बन्धुओं' ने अपने इतिहास 'मिश्रबन्धु-विनोद' मे अग्रेजी साहित्य का उदाहरण देते हुए लिखा है कि यह सयोग की ही बात है कि हिन्दी-साहित्य का प्रारम्भ भी उसी समय (७वी शताब्दी) हुआ, जब कि अग्रेजी साहित्य का। मिश्रबन्धु-विनोद का काल-विभाजन भी अग्रेजी साहित्य के इतिहासकारों के प्रथम वर्ग के काल-विभाजन जैसा ही है। ग्रियर्सन ने भी उसी पद्धति का अनुकरण करके हिन्दी-साहित्य का प्रारम्भ काल ७०० ई० से माना है; किन्तु अग्रेजी-भाषा के सम्बन्ध मे भाषाविदो का यह स्पष्ट मत है कि उसका प्रारम्भ १०वी शताब्दी के आसपास इग्लैण्ड में नार्मन जाति की विजय के उपरान्त हुआ। वे अग्रेजी की पूर्ववर्ती भाषा को 'ऐंग्लो-सैक्सन भाषा' नाम देते हैं और उसे अग्रेजी से भिन्न भाषा मानते हैं। उनके अनुसार नार्मन विजय के उपरान्त ११वी शताब्दी मे फ्रेंच भाषा ने इग्लैण्ड की तत्कालीन 'ऐंग्लो सैक्सन भाषा' को इतना अधिक प्रभावित किया कि एक नवीन भाषा उत्पन्न हो गयी। इस भाषा मे फ्रेंच, लैटिन और ग्रीक शब्दों का अधिकाधिक प्रयोग होने लगा, भाषा अश्लिष्ट होने लगी, और उसमे जर्मन शब्द १० प्रतिशत ही रह गये। यही आधुनिक अंग्रेजी भाषा का प्रारम्भिक रूप था। प्रथम वर्ग के इतिहासकारो का कथन है कि केवल विदेशी भाषा के शब्दो का आधिक्य हो जाने के कारण ही कोई भाषा अपना मूल रूप नहीं खो सकती और इस कारण परिवर्तित भाषा को मूल भाषा से भिन्न नही माना जा सकता। इस तरह वे आधुनिक अग्रेजी और उसके पूर्व की ऐंग्लो सैक्सन भाषा को एक ही भाषा मानते हैं, दो भिन्न भाषाएँ नही।

इस सम्बन्ध मे अंग्रेजी-साहित्य के प्रसिद्ध इतिहास ग्रन्थ "ए हिस्ट्री ऑफ इग्लिश लिटरेचर" के दो लेखको—'एमिली लिगोईस' और 'लुईकजामिया'—में से प्रथम ने अपने इतिहास-ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही लिखा है, कि "अभी हाल तक अग्रेज जाति के लोग चार्ल्स को अग्रेजी काव्य का पिता माना करते थे। वे अपने साहित्य का प्राचीनतम स्रोत १४वी शताब्दी मे खोजते थे, जबकि ब्रिटिश-भूमि पर 'ऐंग्लो-सैक्सन' और 'फ्रेंको नार्मन' साहित्य का सम्मिश्रण हो रहा था। किन्तु आज वे अपने साहित्य का मूल स्रोत और भी पीछे जाकर ७वी शताब्दी में ढूंढते हैं। यह विचारधारा विकसित हो रही है कि इग्लैण्ड में नार्मन आक्रमण के पहले भी एक वास्तविक राष्ट्रीय साहित्य सम्यक् रूप से विकसित हो चुका था। प्रारम्भ में तो वे लोग उस साहित्य को अग्रेजी-साहित्य से अभिन्न मानने का आग्रह नही करते थे और उस पूर्ववर्त्ती भाषा को एक भिन्न भाषा मानकर उसे 'सैक्सन' अथवा 'ऐंग्लो-सैक्सन' नाम देते थे; किन्तु पिछले ६० वर्षों के भीतर 'सैक्सन' और 'ऐंग्लो-सैक्सन' शब्दों के अर्थ के सम्बन्ध में ही मतभेद उत्पन्न हो गया है, और यह कहा जाने लगा है कि एक ही नैरन्तर्य-युक्त भाषा की अखण्ड इकाई को इन शब्दो ने दो खण्डो मे विभक्त कर दिया है; इसी कारण आज के अनेक विद्वान उसे सैक्सन या 'ऐंग्लो-सैक्सन' साहित्य न कह कर प्राचीन या प्रारम्भिक अंग्रेजी-साहित्य कहते हैं।" भाषाविदो ने भी इस मत का समर्थन किया है। उन्होंने यह सिद्ध कर दिया है कि अंग्रेजी भाषा की प्रकृति मूलत. जर्मन भाषा की ही है। इग्लैण्ड

की प्राचीनतम उपलब्ध पाण्डुलिपियो से भी यही सिद्ध होता है कि पुरानी जर्मन भाषा के व्याकरणिक ढाँचे मे फ्रेंच, लैटिन आदि विदेशी शब्दों का उत्तरोत्तर अधिक प्रयोग होने लगा था, किन्तु इस प्रयोग के कारण इस ढाँचे मे जहाँ-तहाँ खिचाव या टूटन भले ही उत्पन्न हो गयी हो, उसका मूल रूप बहुत कुछ पूर्ववत् बना हुआ है। यद्यपि भाषा-वैज्ञानिक यह स्वीकार करते हैं कि अंग्रेजी भाषा में बराबर थोडा-बहुत परिवर्त्तन होता आया है किन्तु वे उन परिवर्तनों के बीच एक ही भाषा का अखण्ड रूप वर्तमान पाते हैं। इस तरह अंग्रेजी के सम्बन्ध मे अब भाषाविद और साहित्य के इतिहासकार एकमत हो गये हैं कि ऐंग्लो-सैक्सन और अंग्रेजी भाषाओ तथा उनके साहित्य मे कोई भिन्नता नही है।

किन्तु उपर्युक्त मान्यता राष्ट्रीयतावादी अंग्रेज भाषाविदो और इतिहासकारों की ही है। अंग्रेजी-साहित्य के जिस इतिहास का उल्लेख पहले किया गया है उसके दोनों लेखक फ्रासीसी हैं और उनकी मूल पुस्तक फ्रेंच भाषा में ही थी जिसका अंग्रेजी मे अनुवाद किया गया है। उन दोनो में से प्रथम 'एमिली लिगोई' ने इतिहास के पहले भाग के प्रथम अध्याय मे उपर्युक्त मान्यता का विरोध करते हुए लिखा है कि यह मान्यता ऐतिहासिक तथ्यो पर आधारित नही है और इसके मूल मे राजनीतिक कारण वर्तमान हैं। उसके मतानुसार जर्मनी की बढती हुई शक्ति को देखकर अंग्रेज-लेखको ने अंग्रेजी भाषा को जर्मन भाषा से निकट सिद्ध करने के लिए जर्मन भाषा से प्रभावित 'ऐंग्लो-सैक्सन' भाषा को प्राचीन अंग्रेजी भाषा कहा है और उसी तरह जर्मन-लेखको ने अंग्रेजी भाषा मे 'शेक्सपियर' और 'मिल्टन' की महत्ता को देखकर उससे अपनी भाषा की निकटता स्थापित करने के लिए 'ऐंग्लो-सैक्सन' भाषा को अंग्रेजी भाषा के अन्तर्गत माना था। इस तरह १९वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध के बाद जर्मन और अंग्रेज-भाषाविदो ने 'ऐंग्लो-सैक्सन' शब्द के औचित्य मे सन्देह प्रगट करना शुरू किया और ग्रेट-ब्रिटेन में प्रथम जर्मन आक्रमण के बाद से अब तक बोली जानेवाली भाषा की विकासमान धारा को एक भाषा—अंग्रेजी—और उसके समस्त साहित्य को अंग्रेजी-साहित्य माना। 'एमीली लिगोई' के इस कथन का उद्देश्य स्पष्ट है कि उसने भाषा को वैज्ञानिक-दृष्टि से नही, बल्कि राजनीतिक दृष्टि से ऐंग्लो-सैक्सन और अंग्रेजी को दो भिन्न भाषा में मानने का आग्रह किया है। फ्रासीसी होने के कारण उसके मन मे जर्मनप्रभावित ऐंग्लो-सैक्सन भाषा के लिए विरोध की भावना और जर्मन-विजय के उपरान्त फ्रेंच भाषा से प्रभावित आधुनिक अंग्रेजी भाषा के प्रति पक्षपात की भावना है। इसीलिए यह ऐंग्लो-सैक्सन को अंग्रेजी से अलग रखना चाहता है।

इतना होने पर भी उक्त इतिहास में ऐंग्लो-सैक्सन साहित्य का विस्तार से विवेचन किया गया है। 'एमिली लिगोई' ने अंग्रेजी-साहित्य-इतिहास का उद्भव-काल ६५० ई० से १३५० ई० माना है और उसके अन्तर्गत ६५० ई० से १०६६ ई० तक के काल को ऐंग्लो-सैक्सन साहित्य का काल कहा है। क्या यह आश्चर्य की बात नही है कि हिन्दी-साहित्य के अधिकाश इतिहासकारो ने भी ठीक यही रास्ता अपनाया है? वे भी हिन्दी और अपभ्रंश को दो भिन्न भाषाएँ मानते हैं और फिर भी अपभ्रश साहित्य के इतिहास को हिन्दी-साहित्य के इतिहास में सम्मिलित करते हैं। किन्तु यदि उन्हें अंग्रेजी साहित्य के उपर्युक्त इतिहास का अनुकरण ही करना था तो इस तथ्य का भी अनुकरण करना चाहिए था कि जिस तरह 'एमीली लिगोई' ने ऐंग्लो-सैक्सन भाषा के इतिहास को ध्यान में रखते हुए, ६५० ई० से अंग्रेजी भाषा के साहित्य का प्रारम्भ माना है, उसी तरह वे भी हिन्दी-साहित्य का प्रारम्भ अपभ्रश साहित्य को ध्यान मे रखकर ६५० ई० या ७०० ई० से मानते।

अंग्रेजी साहित्य के इतिहासकारों ने तो ऐंग्लो-सैक्सन भाषा के साहित्य को अंग्रेजी भाषा का साहित्य मान लिया है, किन्तु हिन्दी के इतिहासकार १०वीं शताब्दी के ठीक पूर्व की मध्यदेशीया (शौरसेनी) बोलियों के उपलब्ध साहित्य को, जिसे अपभ्रंश और अवहट्ट साहित्य कहा जाता है, हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत नहीं माना। अंग्रेज भाषाविदों और इतिहासकारों ने राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर इंग्लैण्ड की भाषा और साहित्य का अध्ययन और विश्लेषण किया, किन्तु हिन्दी के भाषाविद और साहित्य के इतिहासकार भाषाशास्त्र की दुहाई देकर राष्ट्रीय भावना के विपरीत निर्णय करते हैं और ७वीं शताब्दी से अब तक प्रवहमान हिन्दी की अखण्ड धारा को अपभ्रंश शब्द द्वारा दो भागों में विभाजित कर देते हैं।

भाषा और साहित्य के इतिहास के निर्माण में राष्ट्रीय भावना का कितना अधिक महत्व है, यह उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो गया होगा। अंग्रेज जाति में अपनी भाषा की अखण्डता और एकता के सम्बन्ध में जो सचेत जागरूकता है वह भारतीयों, विशेष रूप से हिन्दी के भाषाविदों और इतिहासकारों, के लिए अनुकरण की वस्तु है। हमारे भाषाविदों ने अपभ्रंश की स्वतन्त्र स्थिति मानकर हिन्दी-भाषा का प्रारम्भ तो १००० ई० के आसपास माना है, साथ ही अनेक अपभ्रंशों की कल्पना करके हिन्दी की उप-भाषाओं को कई अपभ्रंशों से उद्भूत मानकर उसे चार स्वतन्त्र भाषा-वर्गों—राजस्थानी, पश्चिमी हिन्दी, पूर्वी हिन्दी और बिहारी—में बाँट दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि राष्ट्रीय भावना से रहित हिन्दी-विरोधियों को यह कहने का अवसर मिला कि केवल पश्चिमी हिन्दी ही हिन्दी है और उसमें भी आधुनिक युग की खडी बोली का रूप ही साहित्यिक हिन्दी है। इस तरह वे हिन्दी के क्षेत्र और कालावधि को बहुत सीमित कर भारतीय आर्य-भाषा और साहित्य की अखण्डता और व्यापकता पर आघात करते हैं।

अंग्रेजी भाषा का प्राचीन साहित्य भी उसकी विभिन्न बोलियों का ही साहित्य है। ११वीं शताब्दी से १४वीं शताब्दी के बीच इंग्लैण्ड में ४ जनपदीय बोलियों में साहित्य लिखा गया,—उत्तरी, दक्षिणी, पूर्वी मध्यदेशीया, पश्चिमी मध्यदेशीया। इंग्लैण्ड की इन चार प्रमुख उप-भाषाओं के अतिरिक्त उस काल में 'स्काटलैण्ड' और 'वेल्स' की जनपदीय भाषाओं में भी साहित्य लिखा जाता था। ये सभी भाषाएँ रूपगत भिन्नता रखते हुए भी मूलतः एक ही भाषा का रूपान्तर मात्र थीं। इन भाषाओं को भिन्नजातीय भाषाओं से उद्भूत सिद्ध करने का प्रयास वहाँ के भाषाविदों ने नहीं किया। यद्यपि यह सत्य है कि आधुनिक साहित्यिक अंग्रेजी भाषा पूर्वीमध्यदेशीया अंग्रेजी भाषा के व्याकरणिक ढाँचे पर ही निर्मित हुई है और उसका आधुनिकतम रूप तो १८वीं शताब्दी में निर्मित हुआ; किन्तु इसी कारण 'स्काटिश', 'आयरिश', 'वेल्स' आदि भाषाओं और उत्तरी इंग्लैण्ड, दक्षिणी इंग्लैण्ड और पश्चिमी इंग्लैण्ड की बोलियों के प्राचीन साहित्य को अंग्रेजी साहित्य से अलग नहीं किया जाता, उन सबको अंग्रेजी भाषा का ही साहित्य माना जाता है। वस्तुत. उन सब भाषा और बोलियों का सामूहिक नाम अंग्रेजी भाषा है। जार्ज ग्रियर्सन खड़ीबोली हिन्दी की साहित्यिक भाषा को ऐसी कृत्रिम भाषा मानते हैं जिसे किसी क्षेत्र की जनता नहीं बोलती। यदि उनका यह कथन सत्य है तो यह बात आधुनिक अंग्रेजी भाषा पर भी लागू होती है। किन्तु सत्य यह है कि न तो साहित्यिक खड़ी बोली हिन्दी ही कृत्रिम भाषा है और न आधुनिक अंग्रेजी भाषा ही। दोनों साहित्यिक भाषाओं के व्याकरणिक ढाँचे की जड़ें क्षेत्र-विशेष की बोलियों में वर्तमान हैं। किन्तु क्षेत्र-विशेष की बोली पर आधारित होते हुए भी ये दोनों साहित्यिक भाषाएँ उस विस्तृत भू-भाग की समस्त बोलियों या

उप-भाषाओ का प्रतिनिधित्व करती है, जिनका सामूहिक नाम हिन्दी अथवा अंग्रेजी है। अतः जिस तरह ऐंग्लो-सैक्सन भाषा अर्थात् प्राचीन अंग्रेजी भाषा प्राचीन और अर्वाचीन 'आयरिश', 'स्काटिश' और 'वेल्स' भाषाओ तथा इंग्लैण्ड की विभिन्न जनपदीय बोलियो मे लिखा गया समस्त साहित्य अंग्रेजी साहित्य है उसी तरह ७वी शताब्दी के बाद तथाकथित अपभ्रंश भाषा मे लिखा गया वह साहित्य, जो वस्तुत प्राचीन हिन्दी का ही साहित्य है, हिन्दी-साहित्य के इतिहास मे ग्राह्य है। साथ ही राजस्थान से लेकर मगध और मिथिला तक की समस्त जनपदीय बोलियो का प्राचीन और अर्वाचीन साहित्य भी हिन्दी-साहित्य के इतिहास मे विवेचनीय है। राष्ट्र-प्रेम और राष्ट्रीय एकता की भावना को बद्धमूल और दृढ बनाने की दृष्टि से भी ऐसा करना आवश्यक है।

अब तक के समस्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि हिन्दी-साहित्य के इतिहासकारो ने हिन्दी-साहित्य का जो प्रारम्भ काल सन् १००० ई० के आसपास निर्धारित किया है वह किसी भी तर्क से उचित नही है। वस्तुत हिन्दी-साहित्य का प्रारम्भ ७०० ई० के आसपास से मानना चाहिए, क्योकि पुरानी हिन्दी का वह साहित्य, जिसे अपभ्रंश या अवहट्ट कहकर अलग कर दिया जाता रहा है, उसी समय से लिखा जाने लगा था। उसी तरह हिन्दी-भाषा की उपभाषाओ के अन्तर्गत राजस्थान और बिहार की बोलियो को भी सम्मिलित किया जाना चाहिए जिन्हे भाषा-वैज्ञानिको ने हिन्दी से भिन्न, राजस्थानी और बिहारी नामक स्वतन्त्र भाषाएँ सिद्ध किया था। फलत केवल परम्परागत मान्यता के आधार पर ही नही, भाषा-विज्ञान के साक्ष्य के आधार पर भी उन बोलियो के प्राचीन और आधुनिक साहित्य को हिन्दी-साहित्य के इतिहास मे सम्मिलित करना चाहिए।

(पृष्ठ २०८ का शेष)

आलोच्य काल के कुछ अन्य कवि और उनकी कृतियाँ इस प्रकार है—

मुनि केसर कृत 'मलयगिरि चौपई' (१७७६), पुण्यविलास का 'मानतुग मानवती रास' (१७८०), ज्ञानविजय का 'मलयागिरिचरित्र' (हिन्दी गुजराती, १७८१), अमृतविजय के शिष्य रंगविजय का 'सषेश्वर पार्श्वनाथ पच कल्याण गर्भित प्रतिष्ठा कल्प (१७७९), प्रीतिविजय के शिष्य श्री गजविजय रचित 'जयसेन कुमार चौपई' (हिन्दी), जितेन्द्रसागर कृत 'चिन्तामणि पार्श्वनाथ स्तुति एवं ऋषभ स्तवन' आदि; भीमसूरि के शिष्य तिलकसूरि कृत 'बुद्धिसेन चौपई' (१७८४), उदयसमुद्र रचित 'रसलहरी' (कुलध्वज-केवली चरित्र, स० १७८६, उदयपुर), श्री ज्ञानरत्न के शिष्य हंसरत्न कृत 'चौबीसी' तथा 'शिक्षा शत दोधका', मुनि जयराजजी के शिष्य त्रिलोकसिंह की 'धर्मदत्त धर्मवती चौपई' (खभात, स० १७८८, हिन्दी), श्री अमर कवि रचित 'सुप्रतिष्ठा चौपई' (१७९४) तथा 'सुदर्शन चौपई' (१७९८, हिन्दी), सिद्धिवर्द्धन के शिष्य गुणविलास द्वारा रचित 'चौबीसी' (जेसलमेर, १९७९ हिन्दी), भावप्रभसूरि के शिष्य पुण्यरत्न का 'श्री न्यायसागर निर्वाण रास' (१७९७), कवि महिमावर्द्धन कृत 'धनदत्तरास' (१७९६) आदि।

रस की सुखदुःखात्मकता : करुण आदि रसों का आस्वाद

डॉ० सत्यदेव चौधरी

[१]

'सहृदय व्यक्ति शृंगार, हास्य आदि रसों द्वारा तो आस्वाद प्राप्त करता ही है, साथ ही उसे करुण, भयानक आदि रसो द्वारा भी आस्वाद की प्राप्ति होती है'—यह कथन अपने आपमें व्यावहारिक और तार्किक दृष्टि से विरोधात्मक और भ्रान्त प्रतीत होता है, अत संस्कृत के कतिपय काव्याचार्यों ने रस को 'सुख-दु खात्मक' कहा है। इनमें से नाट्यदर्पण के कर्ता रामचन्द्र-गुणचन्द्र का नाम विशेष रूप से लिया जाता है, क्योंकि उन्होंने इस विषय पर सर्वाधिक सामग्री प्रस्तुत की है। इस सम्बन्ध में उनका सिद्धान्त-कथन है—सुखदु खात्मको रस (३।७)। इस कथन को स्पष्ट करते हुए इन दोनों ग्रन्थकारो का अभिमत है कि जहाँ शृंगार, हास्य, वीर, अद्भुत और शान्त ये पाँच रस सुखात्मक हैं, वहाँ करुण, रौद्र, बीभत्स और भयानक ये चार रस दु खात्मक हैं।[1] प्रथम वर्ग के रस तो निर्विवाद रूप से सुखात्मक हैं ही, किन्तु द्वितीय वर्ग के रसो को भी यदि सुखात्मक मान लिया जाता है तो इसी पर रामचन्द्र-गुणचन्द्र को आपत्ति है। इस सम्बन्ध मे उन्होंने निम्नोक्त चार तर्क उपस्थित किये हैं—

१. उनका पहला तर्क यह है कि भयानक आदि रस सहृदयो को किसी अवर्णनीय क्लेश-दशा तक पहुँचा देते हैं। इनसे सामाजिक उद्वेग प्राप्त करते हैं। सुखास्वाद से भी भला कही कोई उद्विग्न होता है?[2] सीता का हरण, द्रौपदी के वस्त्रो तथा केशो का कर्षण, हरिश्चन्द्र की चाण्डाल के यहाँ दासता, रोहिताश्व की मृत्यु, आदि घटनाओ के अभिनय को देखकर कौन ऐसा सहृदय है जो सुखास्वाद प्राप्त करता हो?[3]

२. दूसरा तर्क यह है कि काव्य-नाटक मे लौकिक आचार-व्यवहार का चित्रण यथार्थ रूप में ही किया जाता है। कविजन सासारिक सुखो का वर्णन सुख-रूप में करते हैं और दु खो का वर्णन दु.ख-रूप में। विरही राम-सीता आदि अनुकार्यों की करुण-दशाएँ निस्सन्देह दु खात्मक होती हैं, अत. यदि उनके काव्य-नाटकगत अनुकरण को सुखात्मक माना जाय तो वह अनुकरण वास्तविक न होगा, क्योंकि वह लौकिक वस्तुस्थिति से विपरीत ही रहेगा।[4]

[1] हिन्दी-नाट्यदर्पण, पृष्ठ ९० ।

[2] भयानको बीभत्सः करुणो रौद्रो रसास्वादवताम् अनाख्येयां कामपि क्लेशदशामुपनयति । अतएव भयानकादिभिः उद्विजते समाजः । न नाम सुखाऽऽस्वादाद् उद्वेगो घटते ।
—वही, पृष्ठ २९१ ।

[3] वही, पृष्ठ २९१–९२ ।

[4] (क) कवयस्तु सुखदुःखात्मकसंसाराऽनुरूप्येण रामादिचरितं निबध्नन्तः सुखदुःखात्मक-रसानुविद्धमेव ग्रथ्नन्ति ।
(ख) तथाऽनुकार्यगताश्च करुणादयः परिदेवताऽनुकार्यत्वात् तावद्दुःखात्मका: एव। यदि चाऽनुकरणे सुखात्मनः स्युः न सम्यग् अनुकरणं स्यात्। विपरीतत्वेन भासनाद् इति। —वही, पृष्ठ २९१-९२ ।

३. रस को सुखात्मक माननेवालो की ओर से यह कहा जा सकता है कि जैसे लोक में विरही एव शोकाकुल जनो के सम्मुख कारुणिक प्रसगो का वर्णन अथवा अभिनय करने से उन्हें सुख-सान्त्वना मिलती है, इसी प्रकार काव्य-नाटकगत करुण, भयानक आदि रस भी सुखात्मक ही हैं, दु खात्मक नही । किन्तु रामचन्द्र-गुणचन्द्र का कथन है कि वस्तुत ऐसे प्रसगो मे भी दु खी जनों को जो सुखास्वाद मिलता प्रतीत होता है, मूलत वह भी दु खास्वाद ही है, क्योकि यदि वही व्यक्ति दु खपूर्ण वार्ताओ से सुख-सा अनुभव प्रतीत करता है, तो प्रमोदपूर्ण वार्ताओं से (इतर जनो के समान) सुख का अनुभव न कर विकलित ही होता है। अत वादियो का उक्त सहानुभूति-मूलक तर्क मनस्तोषक एव मान्य नही है। वस्तुत करुण आदि रस दु खात्मक की ही हैं।[५]

४ यद्यपि भयानक, करुण आदि रस दु खात्मक ही हैं फिर भी यदि इनसे सहृदय परम आनन्द को प्राप्त करते हैं, तो केवल-मात्र कवि एव नट की कुशलता से चमत्कृत होकर ही है।[६]

इस अन्तिम कथन से ग्रन्थकारों का तात्पर्य यह है कि कवि के व्यवस्थित एव मार्मिक निरूपण को पढ़कर अथवा नट के सुन्दर एव मार्मिक हृदयहारी अभिनय को देखकर हमें जो आस्वाद प्राप्त होता है, उसकी लोलुपता ही सहृदय को करुण, भयानक आदि रसो से युक्त भी काव्य-नाटको से आनन्द प्राप्त कराती है, तथा उन्हे बारबार पढने-देखने की ओर प्रवृत्त कराती है, अन्यथा ये रस तो दु खात्मक ही होते हैं। एक उदाहरण द्वारा अपने कथन की पुष्टि करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि जिस प्रकार लोक मे वीर पुरुष अपने उस प्राणघातक शत्रु को भी देखकर आश्चर्यचकित से रह जाते हैं जो प्रहार करने में अत्यन्त निपुण होता है,[७] उसी प्रकार प्रेक्षक भी कवि अथवा नट के कौशल द्वारा चमत्कृत हो जाते हैं।

[२]

उक्त तर्कों मे से प्रथम तर्क मन के उद्वेग को लक्ष्य मे रखकर प्रस्तुत किया गया है, और द्वितीय तर्क लौकिक व्यवहार और काव्य-रचना की पारस्परिक अन्विति को। तृतीय तर्क लौकिक सहानुभूति एव सान्त्वना से सम्बद्ध है, और चतुर्थ तर्क काव्यत्व एव अभिनय-जन्य बाह्य चमत्कार से। यदि गम्भीरतापूर्वक विचार करे तो इन चारो तर्कों के मूल मे एक ही भ्रान्त धारणा सन्निहित है कि लौकिक व्यवहार और कवि-कृति मे कोई अन्तर नही है, यही कारण है कि पहले तर्क में सहृदय को भी भयानक, करुण आदि रसों द्वारा वैसा ही उद्विग्न एव विकलित समझ लिया गया है जैसा कि सामान्य व्यवहार मे भयभीत अथवा करुणाग्रस्त व्यक्ति को। किन्तु वस्तुत लौकिक रति, शोक आदि भावों में तथा काव्यगत इन भावों में सदा अन्तर रहता है। लौकिक भाव एक देश, काल एवं व्यक्ति तक सीमित रहते हैं और काव्यगत भाव प्रत्येक प्रकार की सीमा से नितान्त विमुक्त होते हैं।

---

[५] **येऽपीष्टाविविनाशदुःखवतां करुणे वर्ण्यमानेऽभिनीयमाने वा सुखास्वादः सोऽपि परमार्थतो दुःखास्वाद एव। दुःखी हि दुःखवार्त्तया सुखमभिमन्यते। प्रमोदवार्त्तया तु ताम्यति इति करुणादयो दुःखात्मन एव इति। —वही, पृष्ठ २९३।**

[६] **यत् पुनरेभिरपि चमत्कारो दृश्यते स रसास्वादविरामे सति यथाऽवस्थितवस्तुप्रदर्शकेन कविनटशक्तिकौशलेन। अनेनैव च सर्वांगाऽऽह्लादकेन कविनटशक्तिजन्मना चमत्कारेण विप्रलब्धाः परमानन्दरूपतां दुःखात्मकेष्वपि करुणादिषु सुमेधसः प्रतिजानते। —वही, पृष्ठ २९१।**

[७] **विस्मयन्ते हि शिरश्छेदकारिणापि प्रहारकुशलेन वैरिणा शौण्डीरमानिनः। —वही, पृष्ठ २९१।**

इसी प्रकार दूसरे तर्क मे भी उक्त धारणा के बल पर लौकिक घटनाओ और काव्य-गत घटनाओं को एक-समान समझ लिया गया है । वस्तुत दोनो मे बहुविध एव बहुहेतुक अन्तर रहता है । इनमें से एक अन्तर तो यह है कि काव्य मे लौकिक घटनाओ के असमान केवल यथार्थ का चित्रण न होकर यथार्थ के साथ कल्पना-तत्त्व का सम्मिश्रण अनिवार्यत रहता है । अत 'लोक और काव्य की पारस्परिक अनुकूलता' को आधार मानकर अनुकार्य के ही अनुरूप सहृदय के सुखदु ख का निर्णय करना मूलत. भ्रमपूर्ण है ।

अब तीसरे तर्क को ले । उधर लोक मे पुत्र-विच्छेद-विह्वला माता के शोक मे और इधर ऐसी माता को रगमच पर देखकर अथवा इसके चरित्र को काव्य मे पढकर शोक-विह्वल सहृदय के शोक मे निस्सन्देह अन्तर है । उधर सान्त्वना से दु ख का हल्का होना, इसका कुछ क्षणो के लिए लुप्त हो जाना अथवा इसका बढ जाना आदि सभी स्थितियाँ सम्भव है, किन्तु इधर शोक स्थायी-भाव से उद्विग्न अथवा आकुल (यदि इस स्थिति को यह नाम दे तो) सहृदय के लिए प्रथम तो सान्त्वना-प्रदान का प्रश्न की ही उपस्थित नही होता, क्योकि काव्य-नाटकगत घटनाओ से इतर घटनाओ के साथ उसका कोई सम्बन्ध ही नही, और यदि उसके सम्मुख ऐसी घटनाएँ लायी भी जाती है, तो उस समय वह सहृदय न होकर सासारिक व्यक्ति-मात्र रह जाता है ।

चतुर्थ तर्क मे सत्यता अवश्य है, पर एकागी । कवि के रचना-कौशल से और विशेषत नट के अभिनय-कौशल से, उत्पन्न चमत्कार निस्सन्देह सहृदय को अभिभूत कर देता है । इस कथन की पुष्टि मे एक प्रत्युदाहरण लीजिए कि किस प्रकार एक अत्यन्त करुणोत्पादक एव हृदयविदारक दृश्य भी एक अनाड़ी नट के असफल प्रदर्शन द्वारा 'करुण' के स्थान पर 'हास्य' का रूप धारण कर लेता है । अस्तु ! कवि और नट की कुशलता से उत्पन्न चमत्कार से तो किसी भी स्थिति मे इनकार नहीं किया जा सकता, किन्तु यह चमत्कार पूर्ववर्ती प्रभाव का उद्दीपक कारण होता है, उसका उत्पादक कारण नही होता । उदाहरणार्थ, शृगार रस मे वह सहृदय के रतिभाव को उद्दीप्त करता है, और करुण रस में उसके शोक भाव को । इसके अतिरिक्त उक्त कौशल-जन्य चमत्कार कवि अथवा नट की प्रतिभा के प्रति प्रेक्षक के हृदय मे आश्चर्य, आदर आदि भाव भी उत्पन्न करता है । किन्तु (जैसा कि रामचन्द्र-गुणचन्द्र का मन्तव्य है) इन्ही आश्चर्य, आदर आदि भावो को करुण, भयानक आदि रसो में सुख-प्राप्ति का कारण नही मानना चाहिए । यह भाव लौकिक होते है, अत. इनसे लौकिक आह्लाद ही उत्पन्न हो सकता है, काव्यगत रस—सुखात्मक रस—उत्पन्न नही हो सकता।

[३]

रसो को सुखात्मक स्वीकार करनेवाले प्रथम आचार्य रामचन्द्र-गुणचन्द्र नही है । इनसे पूर्व भी कुछ इस प्रकार के स्पष्ट कथन मिल जाते है—

(क) येन त्वभ्यधायि सुखदुःखजननशक्तियुक्ता विषयसामग्री बाह्यैव सुखदुःखस्वभावो रसः ।

—(अज्ञात आचार्य), अभिनवभारती, भाग १, पृष्ठ २७८ ।

(ख) रसस्य सुखदुःखात्मकतया तदुभयलक्षणत्वेन उपपद्यते, अतएव तदुभयजनकत्वम् ।

—रसकलिका (रुद्रभट्ट) 'नम्बर ऑफ रसाज्', पृष्ठ १५५ ।

(ग) रसा हि सुखदुःखरूपाः । **—शृ० प्र० द्वितीय भाग, पृष्ठ ३६६ ।**

किन्तु इन कथनो से यद्यपि यह स्पष्टतः प्रतीत नही होता कि उक्त आचार्य सभी रसों को सुखात्मक और दुःखात्मक स्वीकार करते थे अथवा कुछ को सुखात्मक और कुछ को दु.खात्मक, किन्तु

फिर भी सम्भावना यही है कि वे भी रामचन्द्र-गुणचन्द्र के समान शृंगार, हास्य आदि को सुखात्मक मानते होंगे और भयानक, करुण आदि को दु खात्मक। इन कथनों के अतिरिक्त आचार्य वामन ने किसी आचार्य के नाम पर ऐसा कथन भी उद्धृत किया है जिससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह स्वय अथवा सम्भवत कुछ अन्य आचार्य भी करुण रस मे सुख और दु ख दोनो का सम्मिश्रण मानते होंगे—

करुणप्रेक्षणीयेषु सम्प्लवः सुखदुःखयोः।
यथाऽनुभवतः सिद्धस्तथैवोजःप्रसादयोः ॥ का० सू० वृ० ३।१।६।

अर्थात् जिस प्रकार करुण रस के नाटको मे सुख और दु ख का मिश्रण सहृदय जनों के अनुभव द्वारा सिद्ध है, उसी प्रकार ओज और प्रसाद का मिश्रण भी उनके अनुभव द्वारा सिद्ध है। सुख पहले होता है अथवा दु ख पहले, इस ओर इस श्लोक मे कोई सकेत नही है, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हे करुण रस में दु ख की स्थिति पूर्व मान्य होगी और सुख की बाद मे। कुछ इसी प्रकार की धारणा की व्याख्या मधुसूदन ने सम्भवत सर्वप्रथम मौलिक रूप से प्रस्तुत की है। उनके कथन का अभिप्राय यह है कि सभी रसों से निस्सन्देह सुख का अनुभव होता है, परन्तु यह अनुभव सब रसो मे तुल्य रूप से नही होता। इसका कारण यह है कि सत्त्वगुण की प्रधानता ही सुख का हेतु है, किन्तु ऐसा कभी नही होता कि किसी रस मे रजोगुण और तमोगुण किसी न किसी अंश तक अवश्य विद्यमान नही रहते हे।[८] ये किस रस मे कितनी मात्रा मे विद्यमान रहते हैं, यद्यपि इसका निर्णय कर सकना कठिन है तथापि वे रहते अवश्य हे। अत उनके मिश्रण के तारतम्य के अनुसार सब रसो में सुख के साथ दु ख का मिश्रण भी समझना चाहिए। अस्तु!

[४]

इस प्रकार हमारे सम्मुख निम्नोक्त चार विकल्प उपस्थित होते हैं—

(क) सभी रस सुखात्मक हैं,

(ख) सभी रस सुखदु खात्मक है,

(ग) शृंगार, हास्य आदि रस सुखात्मक हैं, किन्तु करुण, भयानक आदि रस दु.खात्मक हे,

(घ) शृंगार आदि रस तो सुखात्मक हैं, किन्तु करुण, भयानक आदि रस सुखदु खात्मक हैं।

इन विकल्पों में से रामचन्द्र-गुणचन्द्र यद्यपि स्पष्टत. तीसरे विकल्प को स्वीकार करते हुए करुण आदि को दु खात्मक स्वीकार करते है, तथापि वे इन्हे अन्तत सुखात्मक भी स्वीकार करते होंगे। कुछ इस प्रकार का स्पष्ट सकेत उन्होंने स्वय भी दिया है—

पानकमाधुर्यमिव च तीक्ष्णाऽऽस्वादेन दुःखाऽऽस्वादेन सुतरां सुखानि स्वदन्ते इव इति।

—हि० ना० द०, पृष्ठ २६१।

अर्थात् जिस प्रकार पानक (खट्टे, मीठे, तीखे पेय) की मिठास दु खास्वादजनक तीक्ष्ण पदार्थ के मिश्रण से और भी अधिक सुखास्वाद प्रदान करती है, उसी प्रकार करुण आदि रसो में भी दु ख का मिश्रण सुखास्वाद प्रदान करता है। वस्तुत देखा जाय तो पानक पदार्थ और करुण रस मे स्थापित यह उपमान-उपमेय-सम्बन्ध यथावत् एव सुघटित प्रतीत नही होता, क्योंकि पानक में माधुर्य और तीक्ष्णता के मिश्रण में भले ही पूर्वापर-सम्बन्ध हो, किन्तु उसके आस्वाद में पूर्वापर-सम्बन्ध

[८] सत्त्वगुणस्य सुखरूपत्वात् सर्वेषां भावानां सुखरूपत्वेऽपि रजस्तमोंशमिश्रणात् तारतम्यमवगन्तव्यम्। अतो न सर्वेषु रसेषु तुल्यसुखाऽनुभवः। —नम्बर आफ रसाज पृष्ठ १५६।

नही रहता, किन्तु करुण रस के शोक (लौकिक दुःख) और इस रस के आस्वाद (सुख) मे निःसन्देह पूर्वापर-सम्बन्ध बना रहता है। यद्यपि यह अलग बात है कि इनमे काल का अन्तर इतना त्वरित एव क्षिप्र होता है कि यह कहने नहीं बनता कि इस दुःख और सुख मे कोई काल-सम्बन्धी अन्तर है भी। अस्तु ! जो हो, रामचन्द्र-गुणचन्द्र का यह उद्धरण यह मानने के लिए पर्याप्त है कि वह उक्त विकल्पों मे से तीसरे विकल्प को स्वीकार न कर चौथे विकल्प को स्वीकार करते होगे कि भयानक, करुण आदि रस केवल दुःखात्मक न होकर सुखदुःखात्मक है। यदि वे भयानक, करुण आदि को नितान्त दुःखात्मक स्वीकार करते है तो उनकी यह धारणा काव्यशास्त्र और मनोविज्ञान के तो प्रतिकूल है ही, व्यवहार के भी सर्वथा प्रतिकूल होने के कारण सर्वथा अमान्य है। इस दृष्टि से विश्वनाथ का केवल एक यही तर्क इसे अमान्य ठहराने के लिए पर्याप्त है कि करुण आदि रस इसलिए सुखात्मक है कि सहृदय जन इसे देखने के लिए सदा उन्मुख अर्थात् लालायित रहते है—

करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम् ।
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम् ।
किं च तेषु यदा दुःखं न कोऽपि स्यात्तदुन्मुखः ।।　—सा० द० ३।४, ५ ।

रामचन्द्र-गुणचन्द्र का कोई सुविज्ञ पाठक उनके सम्पूर्ण ग्रन्थ के अवलोकन के उपरान्त यह मानने को कदापि उद्यत न होगा कि उन जैसे तत्त्ववेत्ता और चिन्तक आचार्य करुण आदि को केवल दुःखात्मक ही मानते होगे। वे इसे दुःखात्मक मानते अवश्य होगे; किन्तु पूर्व स्थिति में, और अन्ततः वे इन्हे सुखात्मक ही मानते होगे।

[५]

उपर्युक्त मान्यता की व्याख्या कई रूपो मे तथा कई दृष्टियो से की जा सकती है :—

१ शृगार, करुण आदि सभी प्रकार के रसो में रति, शोक आदि सभी स्थायीभाव जब तक विभावादि के सयोग द्वारा रसरूप मे परिणत अथवा अभिव्यक्त नही होते, तब तक उनसे लौकिक सुख अथवा दुःख का ही अनुभव होता है। उदाहरणार्थ, यदि किसी प्रेक्षक को शृंगार रस के नाटक में अपनी प्रेयसी की, अथवा करुण रस के नाटक में अपने मृत पुत्र की स्मृति हो जाती है तो उसका रति अथवा शोक भाव उसे लौकिक सुख तथा दुःख की अनुभूति कराएगा। वह प्रेक्षक नाट्य-गृह में बैठा हुआ भी तत्क्षण के लिए सहृदय न होकर सासारिक व्यक्ति ही होता है। किन्तु जिस क्षण वही व्यक्ति निजत्व की भावना से ऊपर उठ जाता है, वही क्षण रस-दशा का है। उसी क्षण रति-जन्य सासारिक सुख अथवा शोकजन्य सासारिक दुःख इस दशा की पूर्वस्थिति बन जाते है और रस-दशा अन्तिम स्थिति बन जाती है।

२ काव्यशास्त्रीय आधार पर लौकिक कारण, कार्य एव सहकारिकारण काव्य मे इसीलिए क्रमशः विभाव, अनुभाव और सचारिभाव कहाते है कि वे अब लौकिक क्षेत्र से ऊपर उठकर लोकोत्तरता के क्षेत्र में जा पहुँचते है।[१] जब भय, शोक आदि भाव लौकिक कारण आदि से सम्पृक्त है, चाहे वह घटना-स्थल नाट्यगृह भी क्यों न हो, तब तक वे भाव निस्सन्देह दुःखात्मक है, किन्तु विभाव आदि से सम्पृक्त होने के कारण वे भाव भयानक, करुण आदि दुःखात्मक रसो के रूप में परिणत हो जाते है।

---

[१] का० प्र० ४।२७, २८।

३ भयानक, करुण आदि को अपनी परिणति में सुखात्मक स्वीकार करने के लिए काव्याचार्यों का 'साधारणीकरण' नामक सिद्धान्त एक प्रबल साधन है, जिसके बल पर सहृदय असाधारण (विशेष) से साधारण (सामान्य) भावभूमि पर उतर आता है।[१०] उसका भय अथवा शोक किसी देश अथवा काल-विशेष से मुक्त हो जाता है।[११] वह अपने ममत्व मोह, संकट आदि से उत्पन्न अज्ञान से निवृत्त हो जाता है।[१२] परिणामत, काव्य-नाटकगत कोई पात्र अब उसके लिए अपना विशिष्ट व्यक्तित्व खोकर मानव-मात्र बन जाता है—राम नामक पुरुष-पात्र पुरुषमात्र बन जाता है, और सीता नामक स्त्री-पात्र स्त्रीमात्र बन जाती है।[१३] और इसका अगला परिणाम यह होता है कि सहृदय निजत्व और परत्व दोनो प्रकार के विश्वासो से विनिर्मुक्त हो जाता है। अत. इस प्रकार की परिस्थिति में सहृदय के लिए न तो शृगार आदि रसों द्वारा लौकिक सुखानुभूति स्वीकार की जा सकती है, और न भयानक आदि रसों द्वारा लौकिक दु खानुभूति। यह अवस्था दोनों प्रकार के रसों मे अलौकिक (लोकोत्तर) रूप में सुखात्मिका ही होती है।

इस प्रकार अन्त मे हम कह सकते है कि—

१. प्रत्येक स्थायीभाव अपरिपक्व अवस्था मे लौकिक सुख अथवा दु ख का कारण बनता है, किन्तु परिपक्व अवस्था में केवल अलौकिक लोकोत्तर सुख का ही।

२ भयानक, करुण आदि रसों मे निस्सन्देह प्रेक्षक भय, शोक आदि से उत्पन्न दु ख का अनुभव करता है, किन्तु वह दु ख लौकिक ही होता है—ठीक उसी प्रकार जैसे वह शृगार, हास्य आदि रसो में रति, हास आदि से उत्पन्न लौकिक सुख का अनुभव करता है। किन्तु यह लौकिक सुख अथवा दु ख रस-दशा की पूर्ववर्ती अवस्था है और रस-दशा उसकी परवर्ती अवस्था है।

३ (क) किन्तु यह सदा आवश्यक नही कि प्रत्येक सहृदय को इस प्रकार के लौकिक सुख अथवा दु.ख की अनुभूति हो ही, किन्ही सहृदयो को नही भी होती, यद्यपि ऐसे सहृदयो की सख्या बहुत कम होती है।

(ख) अत. भयानक आदि रसों को नित्य रूप से दु.खात्मक नही मान सकते, और अधिकाशत. ऐसा मान लेने पर भी वह दु ख लौकिक ही होता है। किन्तु वह दु ख परवर्ती अलौकिक सुखानुभूति की प्राप्ति के लिए किसी भी रूप मे न तो अनिवार्य साधन है और न ही सहायक साधन। हाँ, वह अत्यन्त भावुक सहृदयो की अलौकिक सुखानुभूति के लिए उद्दीपक कारण अवश्य सिद्ध हो सकता है।

४ (क) यह ठीक है कि लौकिक शोक, हर्ष आदि कारणो से लौकिक शोक, हर्ष आदि उत्पन्न होते हैं, किन्तु काव्य-नाटक मे तो विभावादि द्वारा दोनो स्थितियो में लोकोत्तर सुख ही मिलता है।[१४]

(ख) निष्कर्षत करुण, भयानक आदि रस दु खात्मक नही हैं, वे भी शृगार आदि रसो के समान सुखात्मक ही हैं।

---

[१०] 'असाधारणस्य साधारणकरणम्' इति साधारणीकरणम्।

[११] भयमेव परं देशकालाद्यनालिंगितम्। —हिन्दी अभिनवभारती, पृष्ठ ४७०।

[१२] काव्ये नाट्ये च निबिडनिजमोहसंकटतानिवारणकारिणा विभावादिसाधारणीकरणात्मना। —वही, पृष्ठ ४६४, ४६५

[१३] तत्र सीतादिशब्दाः परित्यक्तजनकतनयादिविशेषाः स्त्रीमात्र वाचिनः।—दशरूपक ४।४० (वृत्ति)।

[१४] 'लौकिकशोकहर्षादिकारणेभ्यो लौकिकहर्षादयो जायन्ते इति लोक एव प्रतिनियमः। काव्ये पुनः 'सर्वेभ्योऽपि विभावादिभ्यः सुखमेव जायते' इति। —सा० द० ३।७ (वृत्ति)।

अपभ्रंश में राम-काव्य की परम्परा

सोमेश्वर सिंह

भारतीय साहित्य में राम की कथा ने कवियों और लेखकों को सर्वाधिक आकर्षित किया है। ब्राह्मण, बौद्ध, जैन आदि समस्त प्रमुख धर्मों ने इसे अपने-अपने ढंग से धार्मिक आवरण में बाँधने का प्रयास किया है। इन धर्मों ने राम को विशिष्ट महापुरुष के रूप में स्वीकार किया है। रामचरित की व्यापकता का अनुमान हम केवल इसी बात से कर सकते हैं कि इसे लेकर भारत की समस्त प्राचीन, मध्यकालीन और आधुनिक आर्य-भाषाओं में काव्यों का प्रणयन हुआ ही, दक्षिण भारत की द्रविड़ परिवार की भाषाओं और जावा-सुमात्रा आदि देशों की भाषाओं में भी रामचरित को उपजीव्य मानकर अनेक काव्य लिखे गये। संस्कृत में वाल्मीकि कृत 'रामायण', पाली में दशरथ जातकम् की कथाएँ, प्राकृत में विमलसूरि कृत 'पउमचरियों' अपभ्रंश में स्वयम्भूदेव कृत 'पउमचरिउ' हिन्दी में तुलसीदास कृत 'रामचरित मानस', तमिल में कम्बर कृत रामायण, बंगला में कृतिवास कृत 'रामायण' ऐसे ग्रन्थ हैं, जिनकी गणना संसार की उच्चकोटि की रचनाओं में होती है।

अपभ्रंश ७वीं शती से १६वीं शती तक काव्यभाषा बनी रही। पूर्वी भारत में सिद्धों और नाथों ने दोहों और पदों के रूप में मुक्तक रचनाओं से अपभ्रंश साहित्य की कोश-वृद्धि की और पश्चिम तथा मध्य भारत में जैनियों ने मुक्तक, प्रबन्ध-खण्डकाव्य, महाकाव्य आदि विविध काव्यरूपों से उसे उच्चकोटि की साहित्यिक भाषा होने का गौरव प्रदान किया। यों तो सिद्धों एवं जैनों के अतिरिक्त अन्य विद्वानों की रचनाएँ भी अपभ्रंश में उपलब्ध हैं, किन्तु रामकाव्य बहुधा जैन कवियों द्वारा ही लिखे गए।

जैन धर्म में राम को ६३ महापुरुषों में गिना जाता है। चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ बलदेव, नौ वासुदेव और नौ प्रतिवासुदेव के रूप में इन ६३ शलाका महापुरुषों को लेकर जैन विद्वानों ने अनेक चरितकाव्य, महाकाव्य, पुराण, कथाकाव्य, द्विसंधानक आदि की रचना की है। राम, लक्ष्मण और रावण, बलदेव, वासुदेव प्रतिवासुदेव की आठवीं त्रयी के रूप में माने जाते हैं।

अपभ्रंश के राम-काव्यकार कवियों में स्वयम्भू देव का नाम प्रमुख है। इनके पूर्ववर्ती कवियों में कीर्तिधर, अनुत्तर वाग्मिन और चतुर्मुख[1] के नाम लिये जाते हैं। कीर्तिधर और अनुत्तर वाग्मिन के सम्बन्ध में डा० मायाणी को सन्देह है कि वे अपभ्रंश के कवि हैं अथवा प्राकृत के। स्वयम्भू ने अपने 'पउमचरिउ' में लिखा है कि रामकथा उन्हें रविषेण से मिली। रविषेण को अनुत्तर वाग्मिन से और उन्हें कीर्तिधर से इस कथा की प्राप्ति हुई।[2] रविषेण का संस्कृत 'पद्मपुराण' प्रसिद्ध है, जो प्राकृत के प्रसिद्ध कवि विमलसूरि के 'पउमचरिय' के आधार पर लिखा गया है। रविषेण को

---

[1] डॉ० मायाणी, पउमचरिउ, भाग १ की भूमिका, पृष्ठ १६-१७।

[2] पुणु पहवें संसारारायें। कित्तिहरेण अनुत्तरवाएं।
पुणु रविषेणायरिय पसाएं। बुद्धिएं अवगाहिय कइराएं।
प० च० १-२-८ और ६, पृ० ४।

अनुत्तर वाग्मिन का ग्रन्थ देखने को मिल गया था।[3] किन्तु कीर्तिधर और अनुत्तर वाग्मिन दोनो के ग्रन्थ आजतक अनुपलब्ध है। अत ये दोनो नामशेष मात्र है।

चतुर्मुख की चर्चा विद्वानो ने बहुत की है। प्रारम्भ मे प्रो० मोदी ने चतुर्मुख और स्वयभू को एक ही कवि समझ लिया था[4]। प० नाथूराम प्रेमी ने अनेक प्रमाणो से यह स्पष्ट कर दिया है कि चतुर्मुख और स्वयभू दो कवि है।[5] हरिषेण ने अपनी 'धर्मपरिक्खा' मे, पुष्पदत ने 'महापुराण' में, कनकामर ने 'करकडुचरिउ' मे और स्वय स्वयभू देव ने भी अपने ग्रन्थो मे चतुर्मुख का स्वतत्र रूप से स्मरण किया है और वह इतना स्पष्ट है कि किसी शका का स्थान नही रहता।[6] डा० मायाणी ने स्वयभू छदस् मे उधृत चतुर्मुख की कविताओ से स्वयभू की पक्तियो की तुलना करके यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि स्वयभू ने विमलसूरि और रविषेण के काव्यो के अतिरिक्त चतुर्मुख के 'पउमचरिउ' से भी बहुत कुछ ग्रहण किया है।[7] इन प्रयत्नो के फलस्वरूप चतुर्मुख के अस्तित्व के सम्बन्ध मे तो विश्वास किया जाने लगा है, किन्तु उनका 'पउमचरिउ' भी अद्यापि अनुपलब्ध है। अत चतुर्मुख की भी केवल सूचना ही उपलब्ध है।

उपलब्ध ग्रन्थो मे स्वयभू देव का 'पउमचरिउ' अपभ्रश का प्रथम महाकाव्य है। स्वयभू के पुत्र त्रिभुवन स्वयभू ने पिता की कृति मे ही कुछ अश जोडकर अपने कर्तृत्व का परिचय दिया है। स्वयभू के 'पउमचरिउ' के अतिरिक्त पुष्पदत के महापुराण[8] की राम-कथा और रइधू का 'बलहद्दउ-चरिउ'[9] भी प्रसिद्ध ग्रन्थ है।

स्वयभू का रचना-काल सन् ८४० ई० से ६२० ई० के मध्य माना जाता है।[10] उनका 'पउम-चरिउ' ६० सन्धियो और १२ हजार श्लोक प्रमाण का महाकाव्य है। पूरी पुस्तक पाँच काण्डो—विद्याधरकाण्ड, अयोध्याकाण्ड, सुन्दरकाण्ड, युद्धकाण्ड और उत्तरकाण्ड—मे विभक्त है। इसमे ८३ सन्धियाँ स्वयभू की और शेष उनके पुत्र त्रिभुवन स्वयभू की लिखी कही जाती है। स्वयभू के पिता का नाम मारुतदेव और माता का नाम पद्मिनी था। मारुतदेव स्वय कवि थे। स्वयभू ने स्वयभू छदस् मे उनके एक दोहे को उदाहृत किया है।[11] आदित्याम्बा और अमृताम्बा ये स्वयभू की दो पत्नियाँ थी। उनके अनेक पुत्रो मे केवल त्रिभुवन ही ऐसे थे, जो बाण-पुत्र की भाँति पिता के कृतित्व को

---

[3] **प्रभवं क्रमतः कीर्ति ततो नुत्तरवाग्मिनम्।**
लिखितं तस्य संप्राप्य रवेर्यत्नो यमद्गतः। पद्मपुराण १–४२।

[4] **भारतीय विद्या, वर्ष १, अंक २–३।**

[5] **भारतीय विद्या, वर्ष २, अंक १।**

[6] **प्रेमी, जैन साहित्य और इतिहास, पृष्ठ १६६ टिप्पणी।**

[7] **डॉ० मायाणी, पउमचरिउ भाग ३ भूमिका, पृष्ठ ४५–४६।**

[8] **डॉ० पी० एल० वैद्य द्वारा सम्पादित और माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई द्वारा प्रकाशित।**

[9] **आमेर शास्त्र-भण्डार में पाण्डुलिपि के रूप में सुरक्षित।**

[10] **डॉ० मायाणी, पउमचरिउ भाग ३ की भूमिका, पृष्ठ ४०–४१।**

[11] **लाउ मित्त भ्रमंतेण रअणाअर चंदेण।**
सो सिज्जन्ते सिज्जइ वि तह भरइ भरंतेण॥ ४–६।

आगे बढ़ाने के योग्य थे । स्वयभू शरीर से पतले, ऊँचे, चपटी नाक तथा बिरल दाँतवाले थे ।[१२] पुष्पदत के 'महापुराण' के टिप्पणक मे उन्हे 'आपुली सघीय'[१३] बताया गया है । प्रेमी के अनुसार जैनो की 'यापनीय शाखा' या 'आपुलीसघ' के विद्वानो की एक विशाल परम्परा प्राप्त होती है । स्वयभू भी इमी शाखा के कवि थे ।[१४]

पुष्पदंत १०वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे हुए थे, उन्होने महामात्य भरत के आग्रह से 'तिशष्टि महापुरिष गुणालकारु' या महापुराण की रचना की । यह दो भागो में विभक्त है—आदि पुराण और उत्तरपुराण । उत्तरपुराग की ६९वी से ७९वी सधि तक रामकथा का वर्णन है । महापुराण मे पुष्पदत के लिए अभिमानमेरु, अभिमान चिह्न, काव्य-रत्नाकर, कविकुलतिलक, सरस्वतीनिलय, कब्बपिसल्ल (काव्यपिशाच) आदि अनेक उपाधियो का प्रयोग किया गया है । उन्ही उपाधियो से उनके व्यक्तित्त्व का अनुमान किया जा सकता है । शिवसिह ने किसी अनुश्रुति के आधार पर राजा 'मान' के दरबारी कवि 'पुष्पभाट' का उल्लेख किया है । विद्वानों का अनुमान है कि यह पुष्प और कोई नही, सुप्रसिद्ध अपभ्रश कवि पुष्पदत ही थे ।[१५]

रईधू[१६] १५वी शताब्दी के अन्त और १६वी शताब्दी के प्रारम्भ मे हुए थे। इनका 'पद्मपुराण' या 'बलद्दउ चरिउ' ग्यारह संधियो और २६५ कडबको का राम-काव्य है । कवि ने हरिसिह साहु की प्रेरणा से उस ग्रन्थ की रचना की थी ।

कथानक और परम्परा—अपभ्रश काव्यो मे रामकथा के दो रूप दिखाई देते हैं । ये दोना रूप जैन-साहित्य में परम्परा के रूप में ग्रहण कर लिये गए हैं । एक परम्परा का आधार विमलसूरि द्वारा लिखित 'पउमचरिय' की कथा है और दूसरी का आधार गुणभद्राचार्य के उत्तर पुराण की रामकथा । विमलसूरि की परम्परा ही अधिक लोकविश्रुत हुई और अधिकाश कवियो मे इस परम्परा को ही अधिक समादृत किया । विमलसूरि की परम्परा के अनुसार रामकथा का रूप निम्नलिखित है —

'अयोध्या के राजा दशरथ की कौशल्या, सुमित्रा, कैकेयी और सुप्रभा नामक चार रानियो से, राम, लक्ष्मण भरत और शत्रुघ्न नामक पुत्र उत्पन्न हुए । राजा जनक की विदेहा नामक रानी से सीता का जन्म हुआ । भामडल जनक का पुत्र था । रावण, कुम्भकर्ण, चन्द्रनखा और विभीषण रत्नश्रवा और केकसी की सन्ताने थी । इन्द्र, यम, वरुण, आदि देवता न होकर साधारण राजा थे । चंद्रनखा का खरदूषण से विवाह हुआ था । उसकी पुत्री अनगकुसुमा हनुमान को ब्याही गई थी ।

सीता स्वयंवर और कैकेयी का वर माँगना आदि प्रसग वाल्मीकि के रामायण के अनुसार ही दिए गए हैं, किन्तु सीताहरण का प्रसग भिन्न है । चन्द्रनखा और खरदूषण का पुत्र शम्बूक सूर्यहास खड्ग की प्राप्ति के लिए तपस्या कर रहा था । लक्ष्मण ने भूल से उसका वध कर डाला । यह समाचार सुनकर रावण वहाँ पहुँचा । वह सीता के रूप को देखकर मुग्ध हो गया । उस समय लक्ष्मण जंगल में गए हुए थे और राम सीता के पास थे । लक्ष्मण ने राम को बुलाने के लिए सिह-

---

[१२] अइतणुएण पईहर गत्ते । छिव्बर णासें पविरल दते । पं० च० १–२–११ ।

[१३] 'सयंभुः पद्धड़ीबद्धकर्त्ता आपलीसंघीय ।" महापुराण पृ० ९ ।

[१४] प्रेमी, जैन साहित्य और इतिहास (द्वि० सं०) पृ० ७२ ।

[१५] हजारी प्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्य पृष्ठ ८ ।

[१६] रइधू के 'बलद्दउचरिउ' और 'मेघेश्वर चरित' की पाण्डुलिपियाँ आमेर शास्त्र-भांडार में सुरक्षित हैं ।

नाद का सकेत निश्चित कर रक्खा था। रावण ने लक्ष्मण की ही भाँति सिंहनाद किया, जिसे लक्ष्मण का सिंहनाद समझकर राम अत्यन्त व्याकुल होकर लक्ष्मण की सहायता के लिए चल पडे तो रावण को सीताहरण का अवसर मिल गया।

विमलसूरि के अनुसार समुद्र एक राजा का नाम था जिसे नील ने युद्ध मे पराजित किया था। लक्ष्मण को शक्ति लगने पर द्रोणमेघ की कन्या विशल्या ने अपनी चिकित्सा से उन्हे ठीक किया था। लक्ष्मण ने विशल्या से विवाह कर लिया। रावण का वध लक्ष्मण के ही हाथो से हुआ। अयोध्या मे लौटकर राम ने अपनी आठ हजार और लक्ष्मण ने तेरह हजार रानियो के साथ राज्य किया। लोकापवाद के कारण सीता का निर्वासन और उनकी अग्नि-परीक्षा के प्रसग वाल्मीकि के अनुसार ही है। अग्निपरीक्षा के पश्चात् सीता ने एक आर्यिका से जैन-धर्म की दीक्षा ले ली। एक दिन दो देवताओं ने राम-लक्ष्मण के पारस्परिक प्रेम की परीक्षा लेने के लिए लक्ष्मण से कहा कि राम का देहान्त हो गया। लक्ष्मण ने शोक से व्याकुल होकर प्राणो का परित्याग कर दिया और अन्त मे नरक मे गए। राम ने भी उदास होकर जैनधर्म मे दीक्षा ले ली और मोक्ष की प्राप्ति की।

गुणभद्राचार्य की परम्परा के अनुसार रामकथा अनेक प्रसगो मे भिन्न है। राजा दशरथ वाराणसी के राजा थे। उनकी रानी सुबाला से राम, कैकेयी से लक्ष्मण और बाद मे अयोध्या में किसी अन्य रानी से भरत और शत्रुघ्न पैदा हुए थे। इस परम्परा के अनुसार सीता रावण की पत्नी मदोदरी की पुत्री थी, जिसे अमगलकारिणी जानकर उसे एक मजूषा मे रखवाकर उसने मारीच द्वारा मिथिला मे गडवा दिया था। हल की नोक से उत्पन्न इस कन्या का पालन-पोषण जनक ने पुत्री के रूप मे किया। बहुत दिनों के पश्चात् राजा जनक ने अपने यज्ञ की रक्षा के लिए राम-लक्ष्मण को बुलवाया। यज्ञ की समाप्ति पर उन्होने सीता का विवाह राम से कर दिया। दशरथ की आज्ञा से राम-लक्ष्मण दोनो वाराणसी मे रहने लगे। इस परम्परा मे कैकेयी के वरदान और राम के वनवास की कथा नही दी गई है। पंचवटी, दंडकवन, जटायु, शूर्पणखा, खरदूषण आदि के प्रसगों का भी अभाव है।

नारद ने रावण से सीता के सौन्दर्य की प्रशसा की। राजा जनक ने उसे अपने यज्ञ मे आमंत्रित नही किया था, इससे वह पहले से ही क्रोधित था। अत मारीच को स्वर्णमृग बनाकर उसने सीता का अपहरण कर लिया। उस समय राम और सीता वाराणसी के निकट चित्रकूट वाटिका मे विहार कर रहे थे। युद्धकाड मे हनुमान ने राम की सहायता की। रावण लक्ष्मण के द्वारा मारा गया। अयोध्या मे लौटने पर राम की आठ हजार और लक्ष्मण की सोलह हजार रानियाँ थी। सीता-निर्वासन की कथा इस परम्परा मे नही आती। लक्ष्मण किसी असाध्य रोग से ग्रस्त होकर मरे और रावण-वध के कारण नरक मे गए। राम ने लक्ष्मण के पुत्र पृथ्वीसुन्दर को राज्य देकर जैन धर्म की दीक्षा ले ली। सीता ने भी अनेक रानियों के साथ जैन धर्म मे दीक्षित होकर अक्षय स्वर्ग की प्राप्ति की।

स्रोत—जैन-रामकाव्यो मे प्रचलित दोनो कथानक-परम्पराओ को देखकर यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि उनमे भिन्नता क्यो है? क्या ये कथाएँ विभिन्न स्रोत-मूलो से अनुस्यूत हुई है?

विमलसूरि ने अपने 'पउमचरिय' मे कहा है कि उस पद्मचरित को कह रहा हूँ जो आचार्यों की परम्परा से चला आ रहा है और नामावली से निबद्ध है।[१७] इससे यह ज्ञात होता है कि 'रामचन्द्र

[१७] **णामावलियनिबद्धं आयरिय परंपरा गयं सव्वं।**
वोच्छामि पउमचरियं अहाणु पुव्विं समासेण॥ प० च० ८।

का चरित्र उस समय तक केवल नामावली के रूप मे था। अर्थात् उसमे कथा के प्रधान-प्रधान पात्रों के, उनके माता-पिताओ, स्थानो और भवान्तरो आदि के नाम ही होगे, वह पल्लवित कथा के रूप मे न होगा और उसीकी विलमसूरि ने विस्तृत चरित के रूप मे रचना की होगी।[१८] गणितानुयोग के ग्रन्थ 'तिलोय पणत्ति' मे त्रिशष्टि शलाका महापुरुषों की नामावली तो दी गयी है, पद्मचरित सम्बन्धी पात्रो की नामावली भी उसमे मिल जाती है। विमलसूरि को रामकथा से सम्बद्ध पात्रो की नामावली 'तिलोय पणत्ति' से मिली होगी और इन पात्रो की कथाएँ उन्हे आचार्य-परम्परा से मिली होगी। बहुत सम्भव है कि विमलसूरि ने जिस आचार्य-परम्परा की ओर सकेत किया है, उसने वाल्मीकिकृत रामायण की कथा को भी आत्मसात् कर लिया है।

गुणभद्राचार्य की परम्परा मे सीता की उत्पत्ति आदि की जो कथाएँ मिलती है उनका पूर्व-रूप वसुदेव हिंडि के द्वितीय खण्ड मे भी प्राप्त होता है। वसुदेव हिडि के कर्त्ता धर्मसेन गणि ने भी गणितानुयोग के क्रम-निर्देश और आचार्य-परम्परा की ओर सकेत किया है।[१९] पुष्पदन्त ने उसी परम्परा को ग्रहण किया है। वाल्मीकि और व्यास पुष्पदन्त के निकट परिचित थे। रामायण के पात्रो के सम्बन्ध मे गलत धारणाओ के प्रचार का दोष उनके सिर मढकर ही पुष्पदत ने रामकथा का उद्धार करने का प्रयास किया। डॉ० पी० एल० वैद्य के अनुसार व्यास और वाल्मीकि समस्त रामकथाकार जैन कवियो के लिए परिचित थे। उन्होने राम-लक्ष्मण के जीवन पर नवीन प्रकाश डालने के लिए ही रामचरित काव्यो की रचना की।[२०]

विमलसूरि, स्वयभू और पुष्पदन्त आदि जैन-कवियो की रचनाओ पर वाल्मीकि कृत 'रामायण' का प्रभाव स्पष्ट है, यद्यपि इन कवियो ने सम्प्रदायगत सिद्धान्तो के प्रतिपादन के लिए बहुत-कुछ परिवर्तन भी किया है। 'रामायण' को आदि काव्य के रूप मे स्वीकार करते हुए हमे यह सोचने का अवसर मिल जाता है कि इस काव्य की रचना के पूर्व भी अवश्य ही कही नामावली का निबद्ध रूप रहा होगा और आदि कवि को आचार्य-परम्परा से न सही, लोक-परम्परा से ही राम की कथाएँ विभिन्न रूपो मे बिखरी मिली होगी। विशाल वैदिक साहित्य मे इतस्तत बिखरे राम-कथा सम्बन्धी पात्रो के उल्लेख 'नामावली-निबद्धता' की ही सीमा मे आते है। वाल्मीकि ने सम्भवत उन्ही नामो को आधार बनाकर सर्वप्रथम लोक-परम्परा-चरित इतिवृत्तो को परस्पर आबद्ध और काव्यबद्ध किया था।

डॉ० वेबर, डॉ० ग्रियर्सन और दिनेशचन्द्र सेन प्रभृति विद्वानो ने बौद्ध धम्मपद की टीका और सुत्त निपात की टीका मे वर्णित शाक्यो और कौलियो की उत्पत्ति और विमाता के द्वेष आदि की कथाओ के आधार पर निर्मित 'जातकट्ठवण्णना' के दशरथ-जातक को ही रामकथा का मूल माना है। कुछ पश्चिमी विद्वानो ने तो रामायण की कथा को होमर आदि का अनुकृति कहने मे भी संकोच नही किया है। डॉ० हरमन याकोबी और एम० विन्टरनित्ज आदि ने इन बातो का खडन किया है। उन तथ्यो पर विचार करते हुए डॉ० कामिल बुल्के ने यह निष्कर्ष निकाला है कि रामायण की रचना के पूर्व त्रिपिटक के रचना-काल मे राम-कथा सम्बन्धी स्फुट आख्यान काव्य

---

[१८] प्रेमी, जैन साहित्य और इतिहास, पृष्ठ ९५।

[१९] 'अरहंत चक्कि-वासुदेव-गणितानुयोग-क्रमणिदिट्ठं वसुदेवचरितं ति। तत्थ च किंचि सुयनिबन्धं किंचि आयरियपरंपरागएण आगतं ततो अवधारितं मे।' वही, पृष्ठ ९५ पाद-टिप्पणी से उद्धृत।

[२०] पुष्पदन्त का महापुराण, भाग २, पृष्ठ ५४६ टिप्पणी ३।

प्रचलित हो चुका था।[२१] किन्तु रामायण पर परोक्ष प्रभाव के सम्बन्ध मे उतना निश्चयात्मक उत्तर नही दिया जा सकता। इस तरह हम देखते है कि 'रामायण' रामचरित का आदि काव्य है। यद्यपि जैन-रामकाव्यकार कवियो ने खीझकर वाल्मीकि और व्यास के प्रति रोष-भाव व्यक्त किया है,[२२] तथापि 'रामायण' के प्रभाव से उन्हे सर्वथा निर्लिप्त नही माना जा सकता। उन्होने जानबूझ कर धार्मिक पूर्वग्रह के कारण कथाओ मे परिवर्तन लाने का प्रयास किया है।

जैन विद्वान् अपने गुरुओ और आचार्यो के प्रति अधिक निष्ठावान् दिखाई देते है। आचार्यो द्वारा निर्दिष्ट मार्गों पर चलना वे अपना कर्त्तव्य मानते है। जब जैन-धर्म श्वेताम्बर, दिगम्बर, यापनीय आदि अनेक खण्डो मे विभक्त हो गया, तो आचार्यो की विभिन्न परम्पराओ ने भी अपनी विशिष्टता ज्ञापित करने के लिए प्रत्येक बात मे भिन्नता उपस्थित करने का प्रयास किया। फलत. परम्परागत रामकथाओ मे भी कुछ परिवर्तनो का होना आवश्यक ही था। उन्ही परिस्थितियो मे जैन-रामकाव्यो मे भी तो कथानक-परम्पराएँ चल पडी।

अपभ्रश रामकाव्यकार कवि स्वयभू और रइधू ने विमलसूरि की परम्परा को ग्रहण किया है और पुष्पदन्त ने गुणभद्राचार्य की परम्परा को।

कुछ दिनो पूर्वतक तुलसीदास के 'रामचरित' का अध्ययन करते हुए विद्वानो की दृष्टि सीधे वाल्मीकि के 'रामायण' पर ही जाकर टिकती थी। वाल्मीकि और तुलसीदास का सीधा सम्बन्ध स्थापित करते हुए, कुछ लोगो ने यह भी घोषणा कर दी थी कि तुलसीदास वाल्मीकि के ही अवतार थे।[२३] इधर बीसवी शती के द्वितीय दशक से ही खोज के फलस्वरूप प्राकृत और अपभ्रश के राम-काव्य मिलने लगे है। इन ग्रन्थो की उपलब्धि से साहित्य का इतिहास ही नही, आलोचना का मानदण्ड भी बदलता दिखाई दे रहा है।

'पउमचरिउ' का अवलोकन करने के बाद स्वर्गीय प० राहुल साकृत्यायन ने अत्यन्त उछ्वसित होकर उसे हिन्दी का प्रथम महाकाव्य और स्वयभू को हिन्दी का सबसे बडा महाकवि घोषित कर दिया था।[२४] राहुल जी की इस घोषणा के फलस्वरूप विद्वानो को राम-साहित्य के अध्ययन की एक नयी दिशा मिल गई। विशेष रूप से हिन्दी-रामसाहित्य के अध्ययन मे अपभ्रश रामकाव्यो को उपयोगी और आवश्यक समझा जाने लगा। वाल्मीकि से लेकर बाबू मैथिलीशरण गुप्त तक भारतीय रामसाहित्य की एक विशाल परम्परा चली आ रही है। भारतीय सभ्यता और संस्कृति के मौलिक उपादानो के दर्शन रामकाव्यो मे सरलतापूर्वक हो जाते है। इस विशाल परम्परा मे भारतीय जन-मानस के सहस्राब्दियो का इतिहास भरा पडा है। ७वी शताब्दी से १६वी शताब्दी तक के जनमानस के श्वासोच्छ्वासो की गणना और उनकी सभ्यता और संस्कृति के विकास का अध्ययन अपभ्रश रामकाव्यो के माध्यम से ही किया जा सकता है। अत अपभ्रश रामकाव्यो के क्रमबद्ध अध्ययन की महान् आवश्यकता का अनुभव किया जाने लगा है। यह कार्य कुछ श्रमसाध्य अवश्य है, क्योकि इस काल का अधिकाश साहित्य अप्रकाशित पाण्डुलिपियो के रूप मे विभिन्न भाण्डारो मे पडा हुआ है। तथापि उनका अध्ययन आवश्यक है। इनसे इतिहास, साहित्य, कला और संस्कृति के अध्ययन को एक नयी दिशा मिलने की पूरी सम्भावना है।

---

[२१] **रामकथा, पृष्ठ ९९।**

[२२] **'बम्मीय वासु वयणिहिं णाणिउ, अण्णाणु, कुम्भग्गकूवि पडिउ।' पुष्पदन्त, महापुराण, भाग २, १०-९-३-११।**

[२३] **'कलि कुटिल जीव निस्तार हित, बाल्मीकि तुलसीभयो।'**

[२४] **काव्यधारा, अवतरणिका, पृष्ठ ५०।**

अठारहवीं शती का जैन गुर्जर काव्य

डॉ० श्यामसुन्दर शुक्ल

जैन-धर्म पुरुषार्थ एव निवृत्तिमार्गी साधनापथ है। भारतीय सस्कृति के मध्ययुग मे इस धर्म को प्राय सभी दिशाओ से आनेवाली आँधियो से यद्यपि सघर्ष करना पडा तथापि वैदिक एव बौद्ध मतो की अपेक्षा जैन मत अपनी आचार-शुद्धता तथा परम्परागत मूलभूत सिद्धान्तो की रक्षा मे अपेक्षाकृत अधिक सफल हुआ। परिस्थितिवश कालान्तर मे जैन मत केवल राजस्थान और गुजरात तक ही सीमित रह गया, फिर भी इसके श्वेताम्बर एव दिगम्बर मतानुयायी श्रावको ने लोक-भाषा मे प्रचुर साहित्य-रचना की। अब तक इस मत का जितना साहित्य ज्ञात है, वह परिमाण या सख्या की दृष्टि मे हिन्दी भाषा मे रचित वैष्णव-साहित्य से कम नही है।

सहस्रो की सख्या मे जैन-ग्रन्थ देश के विविध जैन-ग्रथागारो एव भण्डारो मे अभी भी सुरक्षित पडे हुए हैं। इनमे से अधिकाश तक शोधकर्ताओ तथा ग्रथान्वेषको की अभी तक पहुँच भी सभव नही हो पाई है। विशेषत. ये ग्रन्थ पाटन, कैम्बे (खभात), जेसलमेर तथा अहमदाबाद के जैन उपाश्रयो, सामूहिक ग्रंथागारो और व्यक्तिगत सग्रहालयो में उपलब्ध हैं। अभी तक यह विशाल साहित्य-राशि गुप्त ही रह गई, जिसका एक मुख्य कारण इस बात का भय प्रतीत होता है कि विधर्मियो या जन-सामान्य के हाथों पड़कर ये पवित्र धार्मिक ग्रन्थ कही दूषित न हो जायँ। इन ग्रन्थो की गोपनीयता का दूसरा कारण सभवत. यह भी हो सकता है कि व्यापारकुशल जैन-समाज का ध्यान इन ग्रथो के सग्रह, सकलन, सपादन तथा प्रकाशन की ओर २० वी शती के पूर्व आकर्षित ही नही हो सका था। अब इस दिशा मे अनेक विद्वानो एव सस्थाओ की ओर से उचित प्रयत्न हो रहे हैं।

जैन मुनि श्री शीलगुणसूरि द्वारा पालित बनराज चावड़ा के राज्य-काल मे जैन-समाज गुजरात का अत्यन्त सम्मानित एव समृद्ध वर्ग था। महाराज कुमारपाल के समय मे यह समाज चरमोत्कर्ष पर था। इसी युग के बीच सर्वाधिक ग्रन्थ-रचना हुई। जैन श्रावको ने अपने सिद्धान्तो और उपदेशो के प्रचार और प्रसार के निमित्त जनवाणी मे अनेक रास एव चौपई ग्रन्थो की रचना की। वि० स० १५०० से १८०० के बीच लगभग ४०० रास-ग्रन्थो के रचे जाने की सूचना मिलती है। इन रास-ग्रन्थो मे गुजरात की सामाजिक, आर्थिक एव राजनीतिक परिस्थितियो का यथातथ्य चित्र मिलता है। ये फाग, प्रबन्ध, स्तुति, विवाहलो, प्रबन्ध रास और चौपई ग्रन्थ ज्ञानराशि से पूर्ण एव ऐतिहासिक तथ्यों के आगार हैं।

इतनी बडी संख्या मे काव्य-रचना का मुख्य श्रेय है जनसमाज मे जैन-मुनियो को मिली विशिष्ट सुविधा को। मुनियो के पास साधनो और समय का अभाव बिलकुल नही था। वे पर्याप्त साधन-सम्पन्न एव व्यक्तिगत योग-क्षेम की चिन्ता से मुक्त थे। जैन-समाज की धर्म-निष्ठा, दानवृत्ति और धार्मिक साहित्य के सग्रह की वृत्ति भी प्रशसनीय है। यही कारण है कि जैन साधु गुजराती,

हिन्दी, राजस्थानी, सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश एव पच-मेल भाषा मे प्रचुर साहित्य रचना करने की प्रेरणा पा सके। वे केवल पद्य-रचना तक ही सीमित नही थे। उन लोगो ने व्याकरण-उपाख्यान, साहित्यशास्त्र, चिकित्साशास्त्र, दर्शनशास्त्र, धर्मशास्त्र तथा अनेक अन्य विषयो की रचना गद्य, पद्य या मिश्रित शैली मे की।

यद्यपि इस लेख मे १८वी शती के जैन गुर्जर काव्य की एक सक्षिप्त परिचयात्मक सूची मात्र देने की चेष्टा की गई है तथापि साथ ही साथ यह बता देना भी आवश्यक है कि ये सभी रचनाएँ साहित्यिक महत्त्व की नही हे। हिन्दी की निर्गुण-काव्यधारा की भाँति इस परम्परा की भी अधिकाश कृतियाँ केवल साप्रदायिक महत्त्व रखती हे। अपनी गुरुपरम्परा का परिचय, सप्रदाय का इतिहास, तत्तद् साप्रदायिक सघो के सहायक व्यापारियों, दानियो अथवा जमीन्दारो जागीरदारो आदि की सस्तुति, सघो द्वारा आयोजित तीर्थयात्रा, दीक्षोत्सव, प्रवचनादि कार्यक्रमो का परिचय, मदिर, उपाश्रय एव सार्वजनिक हित की दृष्टि से किये गये निर्माण-कार्यो का लेखा-जोखा, कतिपय आदर्श राजाओ का चरित्र-गान, साप्रदायिक सिद्धान्तों से युक्त सज्जाओ (स्वाध्यायो) की रचना, उपदेश-मूलक कथाओ का सकलन आदि इन कवियो की रचनाओ के मुख्य विषय हे। केवल कोरा बुद्धिवाद ही उनका मुख्य प्रेरणा-स्रोत रहा हो यह भी बात नही है। अनेक जैन-मुनियो ने शृगारपरक रचनाएँ भी की हे।

प्रथम पचीसी (सं० १७०० से १७२५) के कवि और उनकी कृतियाँ:—

आनन्दघन—इनके अन्य नाम लाभानन्द और लाभविजय भी है। इनका जीवनवृत्त बहुत ही कम ज्ञात है। श्री महावीर प्रभु के वे एक योगी शिष्य थे। तत्कालीन तथा परवर्ती कुछ जैनमुनियो ने उनका उल्लेख अपनी रचनाओ मे एक अनुभवी आगमज्ञाता और तत्त्वज्ञानी के रूप मे किया है। एक कवि के रूप में उनकी वाणी गूढाशयपूर्ण एव सुललित है। अन्य धार्मिक सुधारको की भाति उनका भी दृष्टिकोण अत्यन्त उदार और व्यापक था। वे धार्मिक रूढिवादिता एव सकुचितता के विरोधी थे। उनके समकालीन श्री यशोविजय जी ने अपनी 'अष्टपदी' मे उनकी बडी प्रशसा की है। मुनि ज्ञानसागर जी ने उनके विषय मे कहा है—

आशय आणन्दघन तणो अति गभीर उदार।
बालक बाँह पसारिने कहे उदधि विस्तार॥

सभवत. आनन्दघन का स्वर्गवास मेड़ता (राजस्थान) मे हुआ था, क्योकि वृद्धावस्था मे वे वही रहते थे। उनकी रचनाओ मे 'आनन्दघन चौबीसी' (बाईसी ?), 'अध्यात्मपद बहोतरी' और 'आनन्दघन बहोतरी' का उल्लेख मिलता है। ५० पदो का (व्याख्या सहित) एक ग्रन्थ 'आनन्दघन पद्य रत्नावली' का प्रकाशन जैन-धर्म-प्रसारक-मण्डल की ओर से हुआ है। इनका रचनाकाल स० १६८७ से १७२५ वि० तक माना जा सकता है।

विनयविजय—इनका जन्म एक वैश्य परिवार मे हुआ था। इनके पिता का नाम तेजपाल और माता का राजश्री था। बाल्यावस्था मे ही मुनि कीर्तिविजय जी से दीक्षित होकर वे विद्याध्ययन के हेतु काशी चले आये थे। इनकी रचनाओ मे कल्पसूत्र की 'सुखबोधिका' टीका (स० १६९६) 'लोकप्रकाश' (स० १७०८), 'हैम लघु प्रक्रिया' से सबद्ध एक व्याकरण ग्रन्थ तथा अनेक सस्कृत एव गुजराती के ग्रन्थो का समावेश है। विनयविजय जी अद्भुत प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति थे। इनकी 'नेमिनाथ-भ्रमर-गीता' की कुछ पक्तियाँ द्रष्टव्य है —

प्रणमिअ सरसती बरसती, वचन सुधारस सार।
नेमि जिणेसर गाइअइ पाइअँ हरप अपार ॥
थान लेइ जब आविया, यादव तोरण बारि।
गोपि चढी तव निरपई, हरपे राजुल नारि ॥

इनके लोकभापारचित उपधान स्तवन, धर्मनाथ स्तवन, नेमिनाथ बारहमासा, पुण्यप्रकाश नु स्तवन, १४ गुण स्थानक वीर स्तवन, आदिनाथ बारहमासा, अध्यात्मगीता एव श्रीपाल रास आदि काव्य-ग्रन्थ भाव और भापा की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध हैं। इनकी भापा हिन्दी के पर्याप्त निकट है। तत्सम-युक्त होने से वह हिन्दीभापियो के लिए भी सुबोध्य है।

यशोविजय—ये तार्किक शिरोमणि, प्रखर विद्वान् एव बडे ही प्रभावशाली महात्मा थे। कतिपय विद्वानो का मत है कि हेमचन्द्र आचार्य के पश्चात् सर्वशास्त्रपारगत, सूक्ष्मद्रष्टा और बुद्धि-निधान यशोविजय के सदृश जैन-मत मे कोई हुआ ही नही।[1] इनका आरभिक जीवन-वृत्त अज्ञात है। इनके गुरु श्री कल्याणविजय भी बडे प्रभावशाली व्यक्ति थे। इनकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर स० १७१८ मे श्री विजयप्रभसूरि ने इन्हे 'वाचक-उपाध्याय' की उपाधि प्रदान की थी। काशी के पडितो से उन्हे 'न्यायविशारद' की उपाधि मिली थी। १०० ग्रन्थो की रचना कर लेने के बाद ये 'न्यायाचार्य' पद से विभूषित हुए। इनकी काशी मे रचित पुस्तके प्राप्त नही है। गुजरात मे आने के पश्चात् रचे गये ग्रन्थो मे भी केवल २५ के ही नाम उपलब्ध है, जो प्राय सभी सस्कृत मे है। इन्होने कई स्तवनो मे आनन्दघन के प्रति भी श्रद्धा व्यक्त की है। इनकी रचनाओ मे कुछ उल्लेखनीय ग्रन्थ इस प्रकार है—वीरस्तव टीका, सिद्धान्तमजरी टीका, अलकारचूडामणि टीका, काव्यप्रकाश टीका, अनेकान्तव्यवस्था, तत्त्वार्थ टीका, आध्यात्मोपदेश, स्याद्वादरहस्य आदि। लोकभाषा मे रचित 'आनन्दधन बावीसी बालावबोध टीका', समुद्र बहाण सवाद, द्रव्यगुण पर्यायनो रास, साधुवन्दना, प्रतिक्रमण हेतु गर्भित स्वाध्याय, ११ अग नी सज्जाय, समक्ति ना षटस्थान स्वरूप नी चौपई, महावीर स्तवन, श्री शान्तिजिन स्तवन आदि ग्रन्थो मे कवि ने सस्कृत और लोकप्रचलित प्राय सभी प्रकार के छन्दो का उपयोग किया है। कुछ ग्रन्थो की भाषा खड़ी बोली के निकट है। उदाहरण के लिए निम्न पक्तियाँ द्रष्टव्य है—

हम राज पाडे किये, बोल चौरासी फेर।
या विधि हम भाषा वचन, ताको मत किये जेर ॥
है दिग्पट के वचन में, और दोष शत साज।
केते काले डारिये, भुजत दधि अरु माख।
सत्य वचन जो सद्दहै, गहै साधु को सग।
वाचक जस कहै सो लहै, मगल रग अभग ॥

प्रकरण रत्नाकर भाग १, पृ. ४

ज्ञानसागर—इनका जीवन-परिचय ज्ञात नही हो सका है। इनकी भाषाओ मे अपभ्रश राजस्थानी एव मराठी के शब्दों का प्रचुर मिश्रण है। ऐसा लगता है कि ये हिन्दी प्रदेश से सबद्ध रहे होगे; क्योंकि इनकी भाषा हिन्दी के अत्यन्त निकट है। उदाहरणार्थ ये पक्तियाँ द्रष्टव्य है—

[1] **जैनगुर्जर कविओ—द्वितीय भाग (सं० मोहनलाल दलीचंद देशाई) पृ० २०**

ग्रन्थमान श्री शान्ति के रास को श्लोक बाइसवे अरु पाँच ।
ग्रन्थागार अक्षर गुनि कीनो इनमे नहि खल पच रे । —शान्तिनाथ रास ।

इनकी रचनाओ मे शुकराज रास (स० १७०१), धम्मिल रास (स० १७१५), इलाची कुमार रास (स० १७१६), शान्तिनाथ रास (स० १७२०), चित्र सभूति चौपई (स० १७२१), रामचन्द्र लेख (स० १७२३), आषाढभूति रास (स० १७२४), परदेशी राजा नो रास (स० १७२४), नदिषेण रास (स० १७२५) और श्रीपाल रास (१७२६) आदि विशेष उल्लेखनीय है । इनकी काव्य-कृतियों की सख्या दो दर्जन से अधिक बताई जाती हैं ।

जिन हर्ष—इनका भी जीवन-वृत्त अज्ञात है । जिन हर्ष का रचना-काल स० १७०४ से १७६१ तक माना जा सकता है । इनकी भाषा मे जहाँ एक ओर खडी बोली के प्रयोग मिलते है, वही दूसरी ओर आवा, गवा, पावाँ आदि अवधी के शब्द भी घुले-मिले दिखाई देते है । मूलत इनकी भाषा गुजराती ही रही होगी, परन्तु राजस्थानी, खड़ी बोली, उर्दू, अवधी और भोजपुरी के शब्दप्रयोग इस बात के साक्षी है कि ये बहुश्रुत एव बडे ही भ्रमणशील रहे होगे । सवैया तथा कवित्त आदि मे छन्द-रचना करना इनकी साहित्यिक रुचि का परिचायक है । इनके राम और कृष्ण सम्बन्धी पद बहुधा हिन्दी में है । अन्य जैन-कवियो की अपेक्षा इनकी साधना सम्बन्धी उदारता हमे इस मान्यता की ओर भी प्रेरित करती है कि सभवत. ये आरम्भ मे स्मार्त मतावलम्बी रहे होगे और बाद मे जैन मत मे दीक्षित हुए होगे । भाषा के लिए निम्न पक्तियाँ उदाहरण स्वरूप देखिए—

सुख सपति दायक नरसुरनायक परतिक पास निणदा है ।
जाकी छबि काति अनूपम ऊपम दीपति जाणि जिनन्दा है ।
—पार्श्वनाथ नीसाणी ।

सीता गुरु की सेव करूँ, जपूँ तो लक्ष्मण राम ।
सीता हनुमत गावता, सफल सदा होय काम ।।
—सीतामुद्रडी ।

क्षौर सुसीस मुडावत है, केई लब जटा सिर केई रखावै,
लुचन हाथ सूँ कोई करै, रहै मौन दिगबर कोई कहावै ।।
राख सूँ कोई लपेट रहै, कोई अग पँचागनि माहि तपावै,
कष्ट करै जसराज बहू तप, ज्ञान बिना शिवपथ न पावै ।। आदि
—जसराज बावनी ।

इनकी कृतियो की सख्या भी पर्याप्त है । वैसे तो सभी प्रचलित लोक-विधाओ मे इनकी रचनाएँ मिलती है, पर सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है इनके रास-सम्बन्धी ग्रन्थ । इनमे विशेष उल्लेखनीय ग्रन्थ निम्न-लिखित है—

मत्स्योदर रास (स० १७१८), शुकराज रास (१७३८), श्रीपाल राजा नो रास (१७४०), रत्नसिंह राजर्षि रास (१७४१), उत्तम कुमार चरित रास (१७४२), कुमारपाल रास (१७४३), अमर दत्त मित्रानन्द रास (१७४४), चन्दन मलयागिरि रास (१७४४), हरिश्चन्द्र रास (१७४४), हरिबल लाछी नो रास (१७४६), वीशस्थानक रास (१७४८), मृगाकलेखा रास (१७४८), सुदर्शन शेठ रास (१७४९), अजित सेन कनकावति रास (१७५१), गुणकरंड गुणावली रास (१७५१), महाबल मलय-सुन्दरी रास (१७५१), शत्रुजय माहात्म्य रास (१७५५), सत्यविजय निर्वाण रास (१७५६), रत्नचूड-

मुनि रास (१७५७), अभयकुमार रास (१७५८), अमरसेन-जयसेन रास (१७५९), रत्नसारनृप रास (१७५९), जबूस्वामी रास (१७६०), तथा आराम शोभा रास (१७६१) आदि।

इनके अतिरिक्त चन्दनमलयागिरि चौपई (१७०४), विद्याविलास चौपई (१७११), मगल कलश चौपई (१७१४), कन्या नी चौपई आदि अनेक चौपई-ग्रन्थ और अनेक स्फुट स्तुति-ग्रन्थ भी श्री जिन हर्ष की उत्तम कृतियाँ बताई जाती हैं।

अभयसोम—ये मुनि सोमसुन्दर के शिष्य थे। इनका रचना-काल स० १७१० और १७३० के बीच माना जाता है। इनकी भाषा हिन्दी के पर्याप्त निकट है। अन्य वृत्त अज्ञात है। सभवत. इनका स्थायी निवास राजस्थान मे ही अधिक था। इनकी रचनाओ मे वैदर्भी चौपई (स० १७११, आगरा) विक्रम चरित्र खापरा चौपई (१७२३, सिरोही), विक्रम चरित्र (लीलावती) चौपई (१७२४, मानतुग मानवती चौपई (स० १७२७) आदि प्राप्त हैं।

वृद्धिविजय—इनका जन्म बड़नगर के पास स्थित डामली ग्राम मे हुआ था। इनके पिता का नाम आनन्द शाह और माता का नाम उत्तमदे थी। इनका बाल्यनाम बोधा था। स० १७३५ मे श्री सत्यविजय गणि ने इन्हे दीक्षित किया। शास्त्रादि अध्ययन के पश्चात् ये 'पण्डित' उपाधि से विभूषित किये गये। स० १७६९ मे पाटण मे चातुर्मास करते समय इनकी इहलोक लीला समाप्त हुई। जीवविचार स्तवन (स० १७१२), नवतत्त्व विचार स्तवन (१७१३) और नय प्रमोद आदि इनकी ज्ञात रचनाएँ हैं। इनकी बहुत-सी रचनाओ का पता नही चलता।

विद्यारुचि—ये मुनि श्री उदयरुचि के शिष्य थे। इन्होने स० १७११–१७१७ के बीच सिरोही (राजस्थान) मे रहकर अपनी 'चदराजा रास' नामक कृति की रचना की थी। इस ग्रन्थ मे ३००० के लगभग पद्य हैं। इसकी भाषा खडी बोली से बहुत कुछ प्रभावित प्रतीत होती है। उदाहरण के लिए निम्न पक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

इणपरि चदतणा गुण गाया लाभ अनन्ता पाया रे।
धनि धनि जग मँहि ये ऋषिराया प्रणमै सुरनर पाया रे।।
सब आनन्द फली मन केरी जिन मुख देखी तेरी।
इम चद तणा गुण गाया लाभ अनन्ता पाया रे।।

मेघविजय—इनका भी पूर्व परिचय अज्ञात है। मुनि श्री कृपाविजय इनके दीक्षागुरु थे। इनकी रचनाओ से पता चलता है कि ये बहुमुखी रचनात्मक प्रतिभा के व्यक्ति थे एव बहुश्रुत थे। इनकी लोकभाषा तथा संस्कृतभाषा की रचनाएँ इनकी बहुमुखी प्रतिभा के प्रमाणस्वरूप हैं। इनका 'विजय देव निर्वाण रास' दीवबदर मे स० १७२१ के आस-पास पूर्ण हुआ। श्री 'पार्श्वनाथ नाम माला', 'दशमत स्तवन', 'शासन-दीपक सज्जाय' तथा चौबीसी आदि भाषा-ग्रन्थो के अतिरिक्त देवानन्दाभ्युदय काव्य, चन्द्रप्रभा व्याकरण, सप्तसधान महाकाव्य, शान्तिनाथ चरित्र, तत्त्वगीता, धर्म-मजूषा, युक्तिप्रबोध नाटक, मेघदूत समस्या लेख, हैमचन्द्रिका आदि सस्कृत के ग्रन्थ इनकी विद्वत्ता के परिचायक हैं। इनका रचना-काल स० १७१५ से १७६५ तक माना जा सकता है।

१८वी शती की प्रथम पचीसी के अन्तर्गत शताधिक जैनमुनियो के ब्रजभाषा, राजस्थानी, गुजराती, अपभ्रंश प्राकृत और संस्कृत भाषाओं मे रचित रास, चरित्र, प्रबन्ध, सज्जाय एव विनय-ग्रन्थ मिलते हैं। भाषा, छन्द, विषय एव रचना-पद्धति आदि की दृष्टि से इनमे बडा वैविध्य है; तथापि इन सबका उद्देश्य उपदेश-मूलक है। प्राय. सभी रचनाओ में अपने सप्रदाय-विशेष के सिद्धान्तो की

प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से चर्चा है। अधिकाश अपने गुरुओ या धर्म-प्रचारक राजाओ, धनियो या राजनीतिक क्षेत्र मे प्रभावशाली व्यक्तियो के चरित्र-वर्णनो से सबद्ध हैं। इस परम्परा के आरम्भिक दो-तीन दशको के कुछ प्रमुख कवि एव उनकी कृतियो का परिचय सक्षेप मे यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। इससे जैन-साहित्य के प्राचुर्य्य एव वैभव का पता चलता है।

लब्धिविजय—ये गुणहर्ष के शिष्य थे। रचनाकाल १८वी शती का प्रथम दशक है। इन्होने 'उत्तमकुमार रास', 'अजापुत्र रास' और कई स्तवन-ग्रन्थो की रचना की है।

जयसोम—ये जससोम के शिष्य थे। 'भावना बेलि' (जेसलमेर, स० १७०३) एव 'गुण-स्थानक स्वाध्याय' इनकी रचनाएँ हैं। भावना बेलि की भाषा राजस्थानी है। इन्होने १७०० श्लोको से युक्त ६ कर्मग्रन्थो की गद्यमयी टीका भी लिखी है।

मानविजय—ये जयविजय जी के शिष्य थे। इन्होने स० १७०२ मे 'श्रीपाल रास' नामक काव्य-ग्रन्थ की रचना की थी।

तेजमुनि—ये मुनि श्री भीमजी के शिष्य थे। इन्होने 'चदराजा नो रास' और 'जितारि राजा रास' नामक दो रास-ग्रन्थो की रचना की थी। इनकी भाषा राजस्थानी गुजराती मिश्रित है।

लब्धोदयगणि—इनके गुरु श्री ज्ञानराज गणि थे। 'पद्मिनी चरित्र' (स० १७०१) इनकी उच्च कोटि की रचना है। इस काव्य की भाषा डिगलमिश्रित राजस्थानी प्रतीत होती है।

सुमतितंस—इनका परिचय पूर्णतया अज्ञात है। 'चदनमलयागिरि चौपई' नामक इनका एक प्रबन्ध ग्रन्थ प्राप्त है।

इन्द्रसौभाग्य—ये सत्यसौभाग्य सूरि के शिष्य थे। 'जीवविचारप्रकरण' नामक इनका एक ग्रन्थ प्राप्त है। ये सभवत. स० १७५० तक जीवित थे।

अभयसोम—ये खरतरगच्छीय मुनि श्री सोमसुन्दर के शिष्य थे। इनका अन्य परिचय ज्ञात नही है। वैदर्भी चौपई (स० १७११), विक्रमचरित्र चौपई (स० १७२३), विक्रमचरित्र (लीलावती) चौपई (स० १७२४) और मानतुग मानवति चौपई (१७२५) इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। इन कृतियो की भाषा यद्यपि गुजराती है, परन्तु खडी बोली के क्रियापदो का बे-छूट प्रयोग किया गया है।

उत्तरसागर—ये तपागच्छ श्री कुशलसागर के शिष्य थे। 'त्रिभुवनकुमार रास' (स० १७१२) के रचयिता भी थे। अन्य परिचय अज्ञात है।

आणन्दवर्द्धन—इनकी 'चौबीसी' हिन्दी भाषा मे रचित है।

गजकुशलगणि—ये मुनि श्री गजकुशल के शिष्य थे। 'गुणावली गुणकरड रास' की रचना इन्होने स० १७१५ मे की थी।

पद्मचन्द्र—ये पद्मरग के शिष्य तथा 'जबुस्वामी रास' के रचयिता थे। इस रास-ग्रन्थ की भाषा बड़ी ही सुबोध एव हिन्दी से मिलती-जुलती है।

पद्मविजय—इनकी एक कृति 'शीलप्रकाश रास' (स० १७१५) उपलब्ध है।

केशरकुशल—इनका परिचय सर्वथा अज्ञात है। 'जगडु प्रबन्ध रास' इनकी उत्तम काव्य कृति बताई जाती है।

वीरविजय—ये अहमदाबाद के ब्राह्मण कुल मे पैदा हुए थे। इनका पूर्व नाम केशव था। पिता का नाम जद्रोसर और माता का विजया था। इनके दीक्षा-गुरु कनकविजय जी थे। 'विजय सिंह सूरि निर्वाण रास' इनकी प्रसिद्ध रचना है जो प्रकाशित भी हो गई है।

जयरग (जेतसी)—इनके गुरु का नाम श्री पुण्यकलशशि था। इन्होने 'अमरसेन वयरसेन चौपई' की रचना स० १७०० मे जेसलमेर मे की थी। 'कयवन्ना शाह नो रास' (बीकानेर, स० १७२१) के अतिरिक्त इनके भक्तिपरक कुछ स्फुट गीत भी प्राप्त हुए है।

राजसार—ये मुनि विद्यासार के शिष्य एव 'कुलध्वज कुमार रास' के रचयिता बताये गए है।

मेरुलाभ—'चन्द्रलेखा सती रास' (स० १७०५) के रचयिता मेरुलाभ के दीक्षा-गुरु श्री विनयलाभ जी थे। इनकी भाषा सस्कृतबहुला एव दार्शनिक पदावली से बोझिल है।

ज्ञानकुशल गणि—ये मुनि श्री कीर्तिकुशल के शिष्य थे। इनका 'पार्श्वनाथ चरित' प्रबन्ध-काव्य की दृष्टि से बडी ही उच्च कोटि का ग्रन्थ माना गया है। इसमे तत्कालीन जैनमत का साम्प्रदायिक इतिहास भी दिया गया है।

शुभविजय—श्री लक्ष्मीविजय जी इनके दीक्षा-गुरु थे। 'गजसिह राजा नो रास' (सषेटक-पुर, स० १७१३) इनकी राजस्थानी-गुजराती मिश्रित भाषा की उत्तम कृति है।

कांतिविजय—ये कीर्तिविजय जी के शिष्य तथा विनयविजय जी के गुरु भाई थे। 'सवेग रसायन बावनी' एव 'सुजसवेलि' इनकी काव्य-कृतियाँ है।

इसी प्रकार श्रीतिलकसागर कृत 'राजसागर सूरि निर्वाण रास' (स० १७१६), साधुविजय के शिष्य सौभाग्यविजय का विजयदेव सूरि निर्वाण सज्जाय' (स० १७१७ के लगभग), हस्तिरुचि कृत 'चित्रसेनपद्मावती रास' (स० १७१७, अहमदाबाद), उदयसूरि कृत 'सुरसुन्दरी अमरकुमार रास' (स० १७१९), जिनदास श्रावककृत 'व्यापारी रास' (१७१९) वीरविमल कृत 'भावी की कर्म रेख रास' (हिन्दी, स० १७२२) तथा 'जबूस्वामी रास' (गुजराती), सुमतिरग का 'प्रबोध चिन्तामणि' (मुलतान, स० १७२२), सूरजमुनि का 'लीलाधर रास' (स० १७२१) श्री लाभचन्द जी कृत 'विक्रम चउपई' (१७२३), 'लीलावती रास' (स० १७२८) तथा 'पाडव चरित्र चौपई' (स० १७६७), परमसागर कृत 'विक्रमादित्य रास' (१७२४) मुनि समयकीर्ति कृत 'गुरु-धर्मनिधान' तथा 'भुवनानन्द चौपई', प्रसिद्ध मुनि श्री यशोविजय जी के शिष्य श्री तत्त्वविजय द्वारा रचित 'अमरदत्त मित्रानन्द रास' (स० १७२४), मुनि श्री मेरुविजय (रगविजय गणि के शिष्य) कृत 'वस्तुपाल तेजपाल रास (बीजापुर, स० १७२१), 'नवपद रास' (हिन्दी भाषा, स० १७२३) एव 'नर्मदा सुन्दरी रास' और मानसागर रचित 'विक्रमादित्यसुत विक्रमसेन चौपई' एव 'कान्हड कठियारा नो रास' विशेष उल्लेखनीय कृतियाँ है। महेश मुनि की 'अक्षर बत्तीसी (स० १७२५, उदयपुर) एव 'ककहरा' की भाषा तो विशुद्ध हिन्दी ही है। ककहरा की कुछ पक्तियाँ द्रष्टव्य है—

ककां ते किरिया करी करम करउ ते चूर।
किरिया बिन ते जीवणा शिव नगरी हुइ दूर।।
षषा करम में पय करउ षिमा करउ मन माहि।
षंति करी सेवउ सदा जिणवर देव उद्दाहि।।

द्वितीय पचीसी—(सं० १७२५–१७५०)

१८वी शती की द्वितीय पचीसी के अन्तर्गत आनेवाले अधिकाश कवियो का जीवनवृत्त प्राय अज्ञात है। जिन दो-चार मुनियो एव कृतिकारो का यत्किंचित् परिचय मिलता है उसे सक्षेप मे यहाँ प्रस्तुत किया रहा है।

ज्ञानविमल सूरि—ये वीशा ओसवाल वंशी वासव सेठ के पुत्र थे। इनकी माता का नाम

कनकावती था। इनका जन्म भिन्नमाल नामक शहर मे स० १६६४ मे हुआ था। बचपन का नाम नाथूमल था। सँ० १७०२ मे इन्होने धीरविमल गणि से दीक्षा ली। उस समय उनका नाम नयविमल रखा गया। स० १७२७ मे मारवाड के पास सादडी ग्राम मे तपागच्छ आचार्य विजय प्रभ सूरि ने इन्हे 'पडित' पद से विभूषित किया। स०.१७४८ मे इन्हे 'आचार्य' पद दिया गया। ये विशेषतया गुजरात, सौराष्ट्र और मारवाड के जैन-तीर्थों मे भ्रमण करते रह। स० १८८२ मे ८६ वर्ष की अवस्था मे इनकी इहलोक लीला समाप्त हुई। उस समय वे खभात मे चातुर्मास कर रहे थे। उनकी अधिकाश रचनाएँ प्रकाशित हो गई है। उनकी कुछ काव्य-कृतियाँ निम्नलिखित है—

साधुवदना (स० १७२८), जबुरास, बारह व्रत ग्रहण, श्री चदकेवली रास, राजसिंह राजर्षि रास, अशोकचन्द तथा रोहिणी रास, आनन्दघन बत्तीसी (बालावबोध टीका) तथा अनेक वन्दन एव स्तवन ग्रन्थ।

धर्ममंदिर—ये मुनि श्री दयाकुशल के शिष्य थे। इनकी प्राय सभी रचनाएँ हिन्दी-गुजराती मिश्रित भाषा मे है। सभवत इनकी मातृ-भाषा गुजराती थी और मुलतान मे इनका निवास था। इन दोनों क्षेत्रो का प्रभाव उनकी भाषा पर प्रत्यक्ष है। मुनिचरित्र (स०, १७२५), दयादीपिका चौपई (मुलतान, १७४०), मोह विवेक रास (मुलतान, १७४१), परमात्मप्रकाश चौपई (स० १७४२, मुलतान) आदि इनकी काव्य-कृतियाँ है।

लक्ष्मीवल्लभ—श्री सोमहर्ष के शिष्य लक्ष्मीवल्लभ अनेक ग्रन्थो के रचयिता बताए जाते है। इनकी रचनाओ मे रतनहास चौपई, अमरकुमार चरित्रदास, विक्रमादित्य पचदण्डरास आदि विशेष उल्लेखनीय है। इनका मुख्य वास-स्थान बीकानेर ही था। यही कारण है कि इनकी भाषा हिन्दी के पर्याप्त निकट प्रतीत होती है।

हीराणंद—इनका अपर नाम हीरमुनि भी मिलता है। इन्होने राजस्थान को ही अपना भ्रमण-केन्द्र रखा था। इनकी दोनो रचनाओं—उपदेशरत्न कोश (मेडता, स० १७२७) और सागर-दत्त रास (जालोरगढ) की भाषा मारवाडी-गुजराती मिश्रित है।

उदयविजय—ये प्रसिद्ध मुनि विजयसिह सूरि के शिष्य थे। इनके 'श्रीपाल रास' (किशनगढ स० १७२७) और 'रोहिणी रास' की भाषा राजस्थानी है। 'पार्श्वनाथ जिन स्तवन' नामक ग्रन्थ की भाषा प्राकृत है।

कुशलधीर—इनका राजस्थानी भाषा मे रचित 'लीलावती रास', (सोजत, १७२८) और गुजराती रचना 'भोज चरित्र चौपई' (स० १७२९) उच्चकोटि की साहित्यिक कृतियाँ है।

धर्मवर्द्धन—ये सस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे। इनके गुरु का नाम विजयहर्ष था। इन्होने लोकभाषा के अतिरिक्त सस्कृत मे भी उच्चकोटि का काव्य सर्जन किया था। 'श्री भक्तामरस्तोत्र' तथा 'वीरस्तवन' इनकी सस्कृत की रचनाएँ है। 'अमरसेन वैरसेन चउपई', 'शनिश्चर विक्रम चौपई', 'अमरकुमार सुरसुन्दरी रास' तथा अन्य अनेक स्तवन-ग्रन्थो की भाषा मारवाडी गुजराती मिश्रित है। इनका एक अन्य नाम धर्मसिह भी मिलता है।

उपरोक्त कवियो और रचनाओ के अतिरिक्त इस कालसीमा के अन्तर्गत अन्य अनेक कृतियाँ उपलब्ध होती है जिनका सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

यशोनन्द कृत 'राजसिह कुमार रास' (स० १७२६), मानविजय गणि (२) कृत 'नर्मविचार रास', हेमराज पण्डित कृत 'नयचक्ररास' (स० १७२६) एव 'भक्तामर स्तोत्र माला' (दोनो हिन्दी मे), लक्ष्मीविजय कृत 'श्रीपाल मयणा सुन्दरी रास' (खभात, १७२७, राजस्थानी मे), मानविजय कृत

'पाण्डव चरित्र रास' (स० १७२८), श्रीवीरजी कृत 'जबूपृच्छा रास' (स० १७२८ पाटण), मुनिश्री चारुदत्त के शिष्य कनकनिधान कृत 'रत्नचूड व्यवहारी रास' (स० १७२८), श्री कमलहर्ष के शिष्य उदयसमुद्र का 'कुलध्वज कुमार रास' (स० १७२८), विवेकविजय का 'मृगाकलेखा रास' (गुज०–हिन्दी मे, स० १७३०), तिलकहस के शिष्य तत्त्वहस कृत 'उत्तमकुमार चौपई' (स० १७३१), विबुधविजय कृत 'मगल कलश रास' (स० १७३२), श्री नित्यसौभाग्य कृत 'पचाख्यान चौपाई', त्रिलोकसिंह के शिष्य श्री आणन्दमुनि कृत 'गणितसार और 'हरिवश चरित्र' (स० १७३१, १७३८, हिन्दी भाषा मे), खेतो कवि कृत 'धन्ना रास' (हिन्दी, स० १७३२, मेवाड मे), श्री सुखसागर कवि कृत 'इन्द्रभानु प्रिया रत्नसुन्दरी चौपई' (हिन्दी, स० १७३२) शान्तिदास श्रावक का 'गौतम स्वामीरास' (१७३२), जयसागर का 'अनिरुद्ध हरण' (स० १७३२), सिद्धिविजय के शिष्य श्री सुरविजय का 'रत्नपाल रास' (स० १७३२), मुनि श्री जिनविजय का 'विजयकुँअर प्रबन्ध' (स० १७३४), चन्द्रविजय (१) कृत 'धन्ना शालिभद्र चौपई', चन्द्रविजय (२) का 'जबूकुमार रास' (१७३४), श्री इन्द्रसौभाग्य के शिष्य हेमसौभाग्य का 'राजसागर सूरि निर्वाण रास', विनयलाभ कृत 'बछराज देवराज चौपई' (मुलतान, स० १७३४ हिन्दी मे), देवविजय का 'चपक रास' (स० १७३४), दयातिलक कृत 'धना नो रास' (१७३६), नयनशेखर कृत 'योगरत्नाकर चौपई' (१७३६), भोजविमल के शिष्य रुचिरविमल का 'मत्स्योदर रास' (स० १७३६), लावण्यरत्न के शिष्य केशवदास कृत 'केशवदास बावनी (हिन्दी, सवैया छद में) अजीतचद का 'चंदनमलया गिरिरास' (स० १७३६), कनकविलास कृत 'देवराज बच्छराज चतुष्पदी', श्री लक्ष्मीरत्न कृत 'खेमा हडालिआ नो रास' (ऐतिहासिक काव्य), कुशलसागर का 'वीरभाण उदयभाण रास', दीपसौभाग्य कृत 'चित्रसेन पद्मावती चौपई' (स० १७३९) तथा 'बृद्धिसागर सूरि रास' (१७४७), मुनिचन्द के शिष्य अमरचद का 'विद्या विलास चरित्र' (पवाडा मारवाड़ी भाषा, सं० १७४५), शीलविजय की 'तीर्थमाला' (१७४७, हिन्दी मे छन्द शास्त्र), यशोवर्द्धन का 'चन्दन मलयागिरि रास' (हिन्दी, १७४७) ऋषभसागर कृत 'विद्या विलास रास' एव 'गुणमंजरी चौपई' (१७४८) और दीपतिविजय कृत 'मगल कलश रास' (स० १७४९) ।

लक्ष्मीरत्न सूरि, तिलकचन्द, प्रागजी, अमर विजय, जीवराज, कीर्तिसागर सूरि तथा ज्ञानसागर (२) आदि अनेक जैनमुनियो की कृतियाँ अभी तक अनुपलब्ध है ।

तृतीय पचीसी (सं० १७५०–१७७५)

उदयरत्न—इस कालसीमा के बीच आनेवाले कवियो में तपागच्छ श्री शिवरत्न मुनि के शिष्य श्री उदयरत्न सर्वप्रमुख है । रचनाओं के प्राचुर्य को देखते हुए उनके जीवन-वृत्त के अज्ञान पर क्षोभ होना आवश्यक है । उन्होंने एक दर्जन से अधिक रास-ग्रन्थो एव उतने ही विनय और सलोक आदि ग्रन्थों की रचना की थी । कहते है उदयरत्न जी गुजरात के खेड़ा जिले के निवासी थे और उनकी मृत्यु मिआगाम में हुई थी । इनकी रचनाएँ इतनी शृगारपरक होती थी कि उन्हे आचार्य-संघ से निष्कासित कर दिया गया था । बाद मे उनकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर उन्हे पुन सघ में ले लिया गया । उनमें इन्द्रजाल की भी शक्ति थी । उन्होने अनेक वैष्णव-परिवारो को जैनमत में दीक्षा दी थी । इनके कुछ प्रमुख ग्रन्थ निम्नलिखित है—

जंबूस्वामी रास, अष्टप्रकारी पूजा रास, स्थूलिभद्र रास (१७५९), मुनिपति रास (१७६१), **राजसिह रास** (१७६२), मलयसुन्दरी महाबल रास, यशोधर रास (१७६७), लीलावती सुमति **विलास रास** (१७६७), धर्मबुद्धि मंत्री अने पापबुद्धि राजा रास (१७६८), शत्रुजय तीर्थमाला उद्धार

रास (१७६६), भुवनभानु केवली रास (१७६७) तथा भरत बाहुबल, विमल मेहता आदि से सबद्ध सलोक-ग्रन्थो के अतिरिक्त अनेक सज्जाय और प्रबन्ध काव्य।

सौभाग्यविजय—ये तपागच्छ मुनि श्री लालविजय जी के शिष्य थे। सभवत ये उत्तर-प्रदेश के किसी स्थान के निवासी रहे होगे। इनकी 'तीर्थमाला' मे भारत के पूर्वी छोर से काठिया-वाड़ तक के जैनतीर्थों का आँखो देखा वर्णन है। इससे पता चलता है कि इनके प्रवास का क्षेत्र बडा विस्तृत था। इस ग्रन्थ की भाषा राजस्थानी मिश्रित ब्रजभाषा है।

विनयचन्द्र—ये ज्ञानतिलक के शिष्य थे। इनकी अधिकाश रचनाएँ अप्राप्त हैं। ध्यानामृत रास, मयणरेहा रास, उत्तमकुमार चरित्र रास, ध्यानामृत रास आदि इनके प्रमुख काव्य-ग्रन्थ हैं।

मोहनविजय—ये मुनि श्री रूपविजय के शिष्य थे। नर्मदासुन्दरी नो रास (स० १७५४), हरिवाहन राजा नो रास (१७५५), रत्नपाल रास (१७५८), मानतुग मानवती रास (१७६०), पुण्यपाल गुणसुन्दरी रास (१७६३) और चन्द राजा नो रास आदि इनके सुप्रसिद्ध रास-ग्रन्थ है।

नेमविजय—मुनि तिलकविजय के शिष्य नेमविजय अपने सप्रदाय-विशेष के आचार्यों मे पर्याप्त सम्मानप्राप्त महात्मा थे। शीलवती (शीलरक्षा प्रकाश रास), नेमि बारह मास, बछराज चरित्र रास, धर्मबुद्धि मत्री पापबुद्धि नृप रास और तेजसार राजर्षि रास आदि इनकी उच्चकोटि की साहित्यिक कृतियाँ हैं।

देवचन्द्र—जन्म-काल स० १७४६। ये बीकानेर के पास के एक गाँव मे शाह तुलसीदास के घर मे पैदा हुए थे। इनकी माता का नाम धनबाई था। १० वर्ष की अवस्था मे ही ये दीक्षित हुए। परिश्रमपूर्वक अध्ययन करने के उपरान्त ये प्रकाण्ड पाण्डित्य से विभूषित हुए। धर्म-प्रचार के क्षेत्र में किये गये इनके कार्य अमूल्य हैं। स० १८१२ मे इनका स्वर्गवास हुआ। इनकी रचनाएँ हिन्दी, गुजराती और मिश्रित भाषा मे हैं। कुछ गद्य मे हैं, कुछ पद्य मे और कुछ गद्य-पद्य दोनो मे। तात्पर्य यह कि ये बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। ध्यान दीपिका चतुष्पदी (हिन्दी), द्रव्यप्रकाश भाषा (हिन्दी १७६७), आगमसागर (गुजराती गद्य), नयचक्रसार (गुजराती गद्य), अध्यात्म गीता, गज सुकुमाल सज्जाय, बीसी, चौबीसी आदि इनके अनेक ग्रन्थ प्राप्त हैं।

भावरत्न—इनका अपरनाम भावप्रभसूरि भी मिलता है। इनके दीक्षागुरु श्री महिमाप्रभ-सूरि जी थे। अन्य जैनकवियो की भाँति इनका जीवन-वृत्त भी अन्धकार के गर्त मे है। 'हरिबल-मच्छी नो रास' (स० १७६९), 'सुभद्रासती रास' (१७९७), बुद्धिविमला सती रास' (१७९७) और 'अबड रास' (१८००) आदि इनकी प्रसिद्ध कृतियाँ है।

कुछ अन्य उल्लेखनीय हिन्दी, गुजराती एव अन्य भाषाओ की कृतियाँ निम्नलिखित हैं—

गोडीदास श्रावक कृत 'नवकार रास' (राजसिंह राजवतीरास, स० १७५५, बडौदा), शान्ति-विमल के शिष्य केसर विमल की सूक्तिमाला; अभय माणिक्य के शिष्य लक्ष्मीविनय कृत 'अभय कुमार महामतीश्वर रास' तथा 'ढुढकमतोत्पत्ति रास', लब्धिविजय (२) कृत 'सुमगलाचार्य चौपई' (१७६१), लक्ष्मीचन्द के शिष्य गगमुनि का 'रत्नाकर तेजसार रास' (हिन्दी, १७६१), मुनि जिन-सुन्दर सूरि की 'प्रश्नोत्तर चौपई' (मारवाडी, १७६२), नेमिदास श्रावक कृत 'अध्यात्मसार माला' (१७६५ हिन्दी), कान्ति विमल रचित 'विक्रम कनकावति रास', गगासागर के शिष्य जीवसागर कृत 'अमरसेन वयरसेन चरित्र' (१७६८), किसन कवि रचित 'उपदेश बावनी' (ब्रजभाषा तथा कवित्तो में), कवि श्री लाधाशाह कृत 'जबू कुमार रास' (१७६४) तथा 'शिवचन्द नो रास', देवविजय का

'रूपसेन कुमार रास', श्रीरूपसागर कृत 'बुद्धिविजय गणि रास' (ऐतिहासिक, १७६९) जयनन्दन के शिष्य लब्धिसागर (२) की 'ध्वज भुजगकुमार चौपई' (स० १७७०), मुनि श्री भाऊजी के शिष्य चतुर कवि रचित 'चदन मलयागिरि चौपई' (व्रजभाषा), गगविजय कृत 'गजसिह कुमार रास' (स० १७७२) तथा 'कुसुमश्री रास' (१७७७), विमल विजय के शिष्य श्री रामविजय (१) का 'विजयरत्न सूरि रास' तथा 'गोड़ीदास स्तवन' और वल्लभकुशल कृत 'श्रेणिकरास' (१७७५) तथा 'हेमचन्द्र गणि रास' आदि।

चतुर्थ पचीसी—(सं० १७७५–१८००)

कांतिविजय—ये मुनि श्री प्रेमविजय जी के शिष्य थे। इनके 'महाबल मलयसुन्दरी नो रास' नामक ग्रन्थ की भाषा हिन्दी के पर्याप्त निकट है। चौबीस जिनस्तवन; हीराबेधबत्तीसी (राजस्थानी भाषा में), सौभाग्य पचमी माहात्म्य आदि कुछ अन्य ग्रन्थो की भी रचना इन्होने की थी।

नित्यलाभ—इनके पिता का नाम कर्मसिह और माता का कमला था। मुनि सहजसुन्दर इनके दीक्षागुरु थे। अन्य वृत अज्ञात है। ये सदेवत सावलिगा रास (१७८२, सूरत), विद्यासागर सूरि रास (१७८२, अजमेर) तथा अनेक चौबीसी स्तवन एव सजाय आदि ग्रन्थो के रचयिता है।

न्यायसागर—(स० १७२८–१७९७)—इनके पिता मोटे शाह मरुधर (मारवाड) के ओसवाल वैश्य थे। माता का नाम रूपा था। इनका बचपन का नाम नेमिदास था। मुनि उत्तमसागर इनके दीक्षागुरु थे। सं० १७९७ मे अहमदाबाद मे इन्होने देहत्याग किया। पिडदोष विचार सज्जाय (१७८१), महाबीर रागमाला (१७८४), दो 'चौबीसी' ग्रन्थ और एक 'बीसी' ग्रन्थ इनकी रचनाएँ हैं। इनके 'बीसी' ग्रन्थ की भाषा हिन्दी है।

रामविजय—ये सुमतिविजय जी के शिष्य थे। इन्होने गरबा जैसे लोकगीत से लेकर सस्कृत के वर्णिक छन्दो तक की रचना लोकभाषा मे की है। मुनि रामविजय जी प्रखर प्रतिभा के कवि थे। तेजपाल रास (१७६०), धर्मदत्त ऋषि रास (१७६६), शान्तिजिन रास, लक्ष्मीसागर सूरि निर्वाण रास आदि ग्रन्थ इनकी कवित्व-शक्ति के परिचायक है। भाषा बडी ही सरस एव सुबोध्य है।

जिनविजय (३)—इनके पिता-माता का नाम क्रमश धर्मदास और लाडकुँअरि बताया जाता है। ये राजनगर के श्रीमाली वणिक् कुल मे स० १७५२ मे पैदा हुए थे। मुनि श्री क्षमाविजय ने स० १७७० में इन्हे विधिवत् दीक्षा दी थी। श्रावणसुदी १० मगलवार स० १७९९ मे पादरा नामक स्थान में इनकी इहलोक-लीला समाप्त हुई। इनका 'क्षमाविजय निर्वाण रास' साम्प्रदायिक इतिहास-ग्रन्थ की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कृति है। कर्पूर-विजय रास (१७७९) भी इसी कोटि की रचना है। इन्होने दो 'चौबीसी' और एक 'बीसी' ग्रन्थों की भी रचना की थी।

जिनविजय (४)—विजयसिह सूरि की शिष्य-परम्परा मे आनेवाले मुनि भाणविजय जी इनके गुरु थे। इनका अन्य वृत्त अज्ञात है। श्रीपाल चरित्र रास (१७९१, नवलखी बन्दर), नेमिनाथ श्लोक (१७९९) और धनशालिभद्र रास (१७९९, सूरत) इनकी उच्चकोटि की कृतियाँ है।

ज्ञानसागर—ये नवानगर (जामनगर) के शाह कल्याण जी और जयन्ती के पुत्र थे। स० १७६३ में इनका जन्म हुआ और स० १८२६ में आश्विन शुक्ल द्वितीया को सूरत मे स्वर्गवास हुआ। इन्होने स० १७७७ में श्री विद्यासागर सूरि से दीक्षा ली और १७९७ मे आचार्य पद से विभूषित हुए। ये सस्कृत और गुजराती दोनो के कवि थे। समकित नी सज्जाय, भावप्रकाश (१७८७), गुणवर्मा रास आदि इनके उल्लेखनीय काव्य-ग्रन्थ है। (शेष अंश पृष्ठ १८५ पर)

नाटक के तत्त्व : भारतीय दृष्टि

डॉ० देवर्षि सनाढ्य

नाटकीय तत्त्वों के रूप मे आधुनिक आचार्यो द्वारा हमे (१) कथावस्तु, (२) पात्र, (३) कथोपकथन, (३) शिल्प, (५) देशकाल और (६) उद्देश्य, इन छ अगो का बोध कराया जाता है। प्रसिद्ध पाश्चात्य आचार्य अरस्तू ने 'त्रासदी' के विषय मे विवेचन करते हुए तीन बाह्य और तीन आन्तरिक तत्वो—कुल छ तत्वो—का उल्लेख किया है। (१) रगविधान, (२) प्रगति और (३) पद-रचना बाह्य है तथा (४) कथानक, (५) चारित्र्य और (६) विचार आतरिक।[1] इसी धारा मे सुधार और विकास करते हुए पाश्चात्य अग्रेज मनीषी बेन जॉन्सन और ड्रायडन ने नाटक के आधुनिक आचार्यो द्वारा अनुमोदित छ तत्त्वो का घोष किया है। योरोप का यह तत्त्व-विवेचन आज भारत मे भी ग्राह्य है। आधुनिक भारतीय नाटचशास्त्री बाह्य और आन्तरिक के भेद को भूलकर सामान्यत इन्ही को नाटकीय तत्त्व मानते है। हमारी राष्ट्रभाषा हिन्दी के आचार्यो ने भी इन्ही नाटच-तत्त्वो को स्वीकारा है और पश्चिम के छायालोक मे सर्जन प्राप्त किये आधुनिक हिन्दी-नाटक के परीक्षण के लिए इसी शास्त्रीय कसौटी को मान्यता दी है। पश्चिम के कुछ आचार्य नाटकीय तत्त्वो की श्रेणी मे पात्र और देशकाल को उतनी मान्यता नही देते। वे इनके स्थान मे तीन तत्त्व और बताते है—कुतूहल, घात-प्रतिघात (द्वन्द्व) और अभिनयशीलता। कुछ मनीषी केवल तीन तत्त्व ही पर्याप्त मानते है—कथा, सवाद और रङ्गनिर्देश।

हिन्दी मे शास्त्रीय विवेचन करनेवाले मनीषियो में डॉ० बाबू श्यामसुन्दरदास का नाम सर्वप्रथम आता है। शास्त्रीय मर्यादाओ के आदि सस्थापक के रूप मे हिन्दी का पाठक और छात्र इन्हे आदर देता है। 'साहित्यालोचन' मे बाबू जी ने आरम्भ मे बताये गये छ. नाटकीय तत्त्वो की ही मर्यादा स्थापित की है। भारतीय नाटचशास्त्र का विवेचन करने के निमित्त बाबूजी ने 'रूपक-रहस्य' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया है। इस ग्रन्थ का मूल आधार सस्कृत-आचार्य धनजय का 'दश रूप' नामक ग्रन्थ है, जो 'दश रूपक' नाम से अधिक प्रसिद्ध है। धनंजय के अनुसार रस का आश्रय लेकर होनेवाले नाटच के दस भेद है—'दशधैव रसाश्रयम्।'[2] नाटच के भेद को लेकर एक प्रश्न उठता है कि जब सभी प्रकार के रूपकों मे अभिनय और अनुकरण की प्रधानता होती है, तब इनका भेद किस आधार पर किया जाता है? 'दश रूप' मे इसका उत्तर है—"वस्तु नेता रसस्तेषा भेदक।[3] अर्थात् रूपकों के भेद के आधार कथावस्तु, नायक और रस है। उदाहरणार्थ, ख्यातवस्तु के आधार पर रूपक का एक भेद 'नाटक' कहलाता है, नायक की धीरशान्तता के आधार पर एक रूपक 'प्रकरण' कहालाता है, और करुण रस 'अङ्क' नामक रूपक की एक भेदक विशेषता है।

'रूपक-रहस्य' मे भी लगभग ऐसा ही बताया गया है। बाबूजी का कथन है—"रूपको के जो भेद किये गये है, वे तीन आधारो पर स्थित है, अर्थात् वस्तु, नायक और रस।" आगे चलकर बाबूजी ने इसी क्रम मे लिखा है—"इन्ही को रूपको के तत्त्व भी कहते है।"[4] बाबजी की इस

[1] अरस्तू का काव्यशास्त्र (सं० नगेन्द्र) पृष्ठ २।

[2] दशरूपक १–७।

[3] वही, १–११।

[4] रूपक-रहस्य (द्वि० सं०) पृष्ठ ५१।

मान्यता का अर्थ अब तक यही लिया गया है कि भारतीय नाट्य-शास्त्र के अनुसार 'वस्तु, नेता और रस रूपको के तत्त्व हैं।' विद्वानो ने ऐसा ही माना और अनेक विज्ञ मनीषियो ने पाश्चात्य नाटकीय तत्त्वों से इनकी तुलना करते हुए घोषणा की कि पूर्व और पश्चिम की विद्वन्मान्यता मे मूलत कही कोई अन्तर नही है। दोनों में नायक है ही, कथावस्तु उपस्थित ही है, कथोपकथन, देशकाल, शैली और उद्देश्य का अन्तर्भाव 'रस' तत्त्व मे करने मे कोई असुविधा नही है।

पाश्चात्य और पूर्वीय नाट्य-तत्त्वो की मान्यता मे कही कोई भेद है या नही ? क्या भारतीय नाट्यशास्त्र के आचार्यों ने 'वस्तु' 'नेता' और 'रस' को ही नाट्य-तत्त्व माना है ? ये प्रश्न अपने आधुनिक नाट्याचार्यों के निर्णय पर प्राचीन नाट्यशास्त्र का अध्ययन करते हुए उठ खडे होते हैं। प्रश्न तो पूर्वीय और पश्चिमी नाट्यशास्त्रो की तत्त्वसम्बन्धी मान्यता पर भी उठ सकता है, परन्तु वह एक पृथक् प्रश्न है। जहाँ तक भारतीय प्राचीन नाट्यशास्त्रो का सम्बन्ध है, वहाँ 'तत्त्व' शब्द का व्यवहार ही इस सन्दर्भ में नही प्राप्त होता। धनजय के 'वस्तु नेता रस' कथन का जहाँ तक प्रश्न है, उसने इन तीनो को नाट्य-तत्त्व नही, रूपको का परस्पर भेदक तत्त्व माना है।

'तत्त्व' शब्द से आज सामान्यगृहीत एक अर्थ 'उपकरण' है, जो इस सन्दर्भ मे लिया जाता है। 'तत्त्व' अर्थात् वह सामग्री. जिससे नाट्य-निर्माण होता है। इसमे कोई सन्देह नही कि नाटक मे वस्तु, नेता और रस होते है, पर ये सब तो श्रव्य-काव्यो मे—कथा, आख्यायिकाओ मे—भी होते हैं। यह तो वह सामान्य सामग्री है, जिससे काव्य रचा जाता है। केवल दृश्य या श्रव्य-काव्य नही, समूचा काव्य। अर्थात् ये कुछ दृश्य-काव्य के ही तत्त्व नही, यदि हैं तो सम्पूर्ण काव्य-विधा के तत्त्व हैं। जिस प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि का निर्माण 'क्षिति, जल, पावक, गगन, समीरा'—इन पाँच महातत्त्वो से हुआ है, उसी प्रकार सम्पूर्ण काव्य के निर्माण में वस्तु, नेता तथा रस महातत्त्व हैं। जैसे मानवी सृष्टि की शल्य-क्रिया करने पर कुछ पृथक् मानवीय तत्त्व माने जाते हैं, इसी प्रकार कुछ नाटकीय तत्त्व भी वस्तु, नेता, रस के अतिरिक्त होने चाहिए।

नाट्यशास्त्र का सबसे प्राचीन और मान्य ग्रन्थ है भरतमुनि का 'नाट्यशास्त्र'। नाटक के निर्माण के सम्बन्ध मे वहाँ विवेचन हुआ है। एक बार महेन्द्रादि देवताओ ने पितामह ब्रह्मा से आग्रह किया कि वेद-व्यवहार शूद्र जातियो को सुनाना सम्भव नही है, इसलिए आप एक पचम वेद का सर्जन कीजिए जो 'सार्ववर्णिक' हो।

न वेदव्यवहारोऽय सश्राव्य शूद्रजातिषु।
तस्मात् सृजापर वेद पचम सार्ववर्णिकम् ॥[५]

ब्रह्माजी ने कहा—तथास्तु। इसके बाद तत्त्ववित् पितामह ने योगक्रिया करके चारो वेदो का स्मरण किया।

सस्मार चतुरो वेदान् योगमास्थाय तत्त्ववित्।[६]

और तत्त्ववित् (यहाँ 'तत्व' के प्रयोग पर ध्यान दीजिए) ने पचम वेद नाट्य की सर्जना कर दी। सब वेदो का स्मरण करके उन्होंने चारो वेदो से एक-एक 'तत्त्व' लेकर 'चतुर्वेदाङ्गसम्भव' नाट्यवेद की रचना की —

---

[५] नाट्यशास्त्र १–१२।

[६] वही, १–१३।

जग्राह पाठ्य ऋग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च ।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ।।[७]

ऋग्वेद से पाठ्य तत्त्व लिया, साम से गीत तत्त्व, यजुर्वेद से अभिनय तत्त्व और अथर्वण से रस तत्त्व ।

'नाट्यशास्त्र' के इस विवेचन के उपरान्त हम यह मानने को विवश है कि भारतीय दृष्टि के अनुसार नाटक के तत्त्व वस्तु, नेता, रस नही, पाठ्य, गीत, अभिनय और रस है । धनजय द्वारा निरूपित रूपक-भेदको से भ्रान्त बुद्धि की मान्यता का केवल एक-तिहाई अश ही सही है, दो-तिहाई ग़लत । भरत ने 'नाट्यशास्त्र' मे इन चारों तत्त्वो का विशद विवेचन किया है । इस विशद विवेचन की झाॅकी मात्र करने के साथ-साथ यह उचित ही होगा कि इस पर भी थोडा विचार कर लिया जाय कि भरत ने नाट्यवेद के निर्माण मे जो वेदो की दुहाई दी है, वह दुहाईमात्र है या एक तथ्य-कथन भी ।

भरत मुनि ने 'नाट्यवेद' की रचना चारो वेदो से की या नही, इस पर विशेष विचार नही हुआ है । फिर भी जो कुछ अल्प विचार हुआ है उसकी तीन स्थितियाँ है । एक स्थिति के अनुसार पाठ्य और गीत की कुछ खोज की गई है, शेष पर कोई विशेष ध्यान नही दिया गया । दूसरी स्थिति के अनुसार यह वैदिक दुहाई केवल नाट्य को आदर देने की दृष्टि से की गई है । इस स्थिति के सस्थापक नाटक का जन्म वैदिक क्रियाकलाप से सम्बद्ध नृत्य-गान से न मानकर आर्यों की आम जनता मे प्रवर्त्तमान नृत्य-गान से मानते है और यह घोषणा करते है कि "नाट्य को गौरवान्वित करने की दृष्टि से भरत ने उसके घटको को चारो वेदो से सग्रह करने की बात कही है ।"[८]

तीसरी स्थिति के अनुसार भरत की यह उक्ति पूर्णत ठीक है । पाश्चात्य मनीषी प्रो० मेक्समूलर, लेवी, हर्त्तेल और कीथ की यह धारणा है कि नाटक की उत्पत्ति के मूल मे यज्ञयागादि क्रिया है । तीसरी स्थिति के पोषक पाश्चात्य मनीषियो की इसी मान्यता से सहमत है । हमारे देश के अणु-कण मे जाने-अनजाने धार्मिक भावना इस प्रकार समाई रही है कि उससे अलग हटकर कुछ भी सोचना कठिन है । और कर्मकाण्ड तथा यज्ञयागादि के उस युग मे नाटक इत्यादि मनोरञ्जन, जनरञ्जन उपकरणों के मूल मे यह विधान होना ही अधिक सङ्गत लगता है । जन-साधारण मे प्रवर्त्तमान नृत्य-गान भी कर्मकाण्ड क्रियाओं से पूरी तरह मुक्त यहाँ ही नही, विदेशो मे भी नही है । यूनान को सर्वप्रथम यूरोपियन नाटकों का प्रदेश कहा जाता है । वहाँ भी नाटकोत्सव का प्रादुर्भाव शोक और चिन्ता के विनाशक, आनन्द और स्फूर्ति के प्रदायक, शत्रुञ्जय देवता डायोनिसस के पूजन-समारोह के वासन्ती अवसर पर हुआ था । डायोनिसस की प्रतिष्ठा मे जो कोरस अथवा समूहगान होते थे, उनसे नाटक का जन्म हुआ ।[९] भारतीय नाट्याचार्य ने तो नाटक को धर्म, अर्थ, काम का साधक, दुर्विनीत जनो की बुद्धि को ठिकाने करनेवाला बताया है—

धर्मो धर्मप्रवृत्ताना काम कामोपसेविनाम् ।
निग्रहो दुर्विनीताना मत्ताना दमनक्रिया ।।[१०]

भरत मुनि के 'नाट्यशास्त्र' मे पूजन-स्तवन आदि के कर्मकाण्ड का जितना प्रकाण्ड वर्णन नाट्यारम्भ-महोत्सव मे किया गया है, वह तो पूजन-भजन का एक महान् समारोह ही है । ऐसी

---

[७] नाट्यशास्त्र १–१७ ।

[८] डॉ० सूर्यकान्त, से० गोविन्ददास अभिनन्दन ग्रन्थ, पृष्ठ ६३३ ।

[९] अमरनाथ जौहरी, पाश्चात्य नाटक-कला के सिद्धान्त, सेठ गोविन्द० अ० ग्रं०, पृ० ५३८ ।

[१०] नाट्यशास्त्र, १–१०९ ।

स्थिति मे यह मान्यता कि यज्ञयागादि कर्मकाण्डो की क्रियाविधि मे ही नाटक का मूल है और नाटचशास्त्र की भूमिका वैदिकी ही है, असङ्गत नहीं है।

भरत मुनि की वैदिकी मान्यता पर बहुत थोडा विचार हुआ है। पाठ्य के विषय मे ऋग्वेद की देन को लोगों ने स्वीकार लिया है, गीत की सामवेदी देन के विषय मे ज्ञात ही है। 'यजुर्वेदात् अभिनयान्' और 'रसान् आथर्वणादपि' पर भी कुछ-कुछ जाना गया है।

पाठ्य

'पाठ्य' का अर्थ है सवाद। इस शब्द की मूल धातु है 'पठ', जिसका अर्थ है विशिष्ट अर्थ को अभिव्यक्त करनेवाली वाणी। अभिनवगुप्त ने 'पाठ्य' की व्याख्या इस प्रकार की है--"इह पठ व्यक्तायां वाचीत्युक्त व्यक्तत्वं विवक्षाविशिष्टस्वार्थार्पणक्षमत्वम्। तच्च काववध्यायवक्ष्यमाणस्वरालङ्कारादिसामग्री-प्रयोजनेन भवतीति तयोपस्कृत पाठ्यमुच्यते।"[११]

"पठ व्यक्तायां वाचि" मे कहा गया व्यक्तत्व--अर्थात् इष्ट अर्थ को अभिव्यक्त करने की शक्ति से जो काकु आदि के लिए अपेक्षित स्वर, अलङ्कारादि से प्राप्त होती है युक्त कथन 'पाठ्य' है। आधुनिक भाषा मे यही 'कथोपकथन' कहा जाता है। ऋग्वेद मे यह पाठ्य तत्व पर्याप्त मात्रा मे प्राप्त होता है। ऋग्वेद मे अनेक सवाद-सूक्त हैं। जैसे इन्द्र-मरुत्-सवाद (१-१६५, १-१७०), विश्वामित्र-नान्दी-सवाद (३-३३), पुरूरवस्-उर्वशी-सवाद (१०-५६), यमयमी-सवाद (१०-१०) अत्यन्त प्रसिद्ध सवाद हैं। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद के आरण्यक, उपनिषद् और ब्राह्मणो मे अगणित सम्वाद भरे पडे हैं। पाश्चात्य विद्वानो ने इन्ही के आधार पर नाटचशास्त्र की वैदिकी भूमिका को मान्यता दी है। इस प्रकार भरत की 'जग्राह पाठ्यं ऋग्वेदात्' एक उचित स्वीकृति ही है, 'नाटचशास्त्र' को महत्व देने का 'गुरुडमी' कौशल नही। अभिनव गुप्त ने नाटक मे पाठ्य-तत्व की प्रधानता स्वीकारते हुए उसे ऋग्वेद से ग्रहण किया गया माना है। ऋग्वेद मे त्रैस्वर्य--उदात्त, अनुदात्त, स्वरित--की यागोपकारी होने के कारण प्रधानता है। पाठ्य भी त्रैस्वर्य होता है, क्योकि 'एकस्वर्य' होने से पाठ्य मे न तो काकु का प्रयोग ही सम्भव है और न गीतरूपता का ही।[१२]

'नाटचशास्त्र' मे भाषागत आधार पर पाठ्य दो प्रकार का बताया गया है--सस्कृत और प्राकृत--"द्विविधं हि स्मृत पाठ्य सस्कृत प्राकृत तथा।"[१३]

सस्कृत पाठ्य व्यञ्जन, स्वर, सन्धि, विभक्ति, नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात, तद्धितादि अङ्गो से तथा समास एव नाना धातुओं से सिद्ध होता है—

व्यञ्जनानि स्वराश्चैव सन्धयोऽथ विभक्तय।
नामाख्यातोपसर्गाश्च निपातास्तद्धितास्तथा॥
एतैरङ्गै. समासैश्च नानाधातुगवेक्षितम्।
विज्ञेय सस्कृत पाठ्यम्.......... .... .. ॥[१४]

'नाटचशास्त्र' के १४, १५ तथा १६ अध्यायो मे इन सबकी विशद व्याख्या की गई है और इसके अन्तर्गत छन्द, वृत्त, अलङ्कार, गुण आदि की विस्तृत चर्चा की गई है।

---

[११] नाटचशास्त्र, अभिनव भारती, १।१७ की व्याख्या।

[१२] वही।

[१३] नाटचशास्त्र, १४।५।

[१४] नाटचशास्त्र, १४।५, ६,७।

यही संस्कृत पाठ्य संस्कार गुण से वर्जित होकर प्राकृत पाठ्य हो जाता है। यद्यपि देश-विशेष की स्थिति के अनुसार इसकी नाना अवस्थायें हो जाती हैं (इन नानावस्थाओं का विचार उच्चारण की उपयुक्तता और आधार के साथ विश्वनाथकृत 'साहित्यदर्पण' के छठे परिच्छेद में स्पष्टता से किया गया है।), परन्तु नाट्य-योग में संक्षेपतः यह तीन प्रकार का होता है—(१) समानशब्दः अर्थात् संस्कृत पाठ्य से समान शब्द तो लिये जायँ, परन्तु विभक्ति, लिङ्ग आदि के प्रयोग में संस्कृत पाठ्य से भिन्नता रहे, (२) विभ्रष्ट अर्थात् अपभ्रंश और (३) देशीगत अर्थात् देशज। नाट्यशास्त्र के सत्रहवें अध्याय में प्राकृत पाठ्य का विशद विवेचन है और विभिन्न प्राकृत पाठ्यों का विवरण देते हुए जिन नानावस्थाओं का विचार किया गया है उसीका संक्षेप 'साहित्य-दर्पण' में है।

गीत

'गीत' तत्त्व के सामवेद से ग्रहण करने की घोषणा में दो मत नहीं हो सकते। 'पाठ्य' में स्वर का प्रयोग सामवेद की ही देन है। "साम से गाया जाता है" (साम्ना गायन्ति)—यह प्रसिद्धि है। "गीतिषु सामाख्या" यह जैमिनि (२-१-१६) का कथन है। समगान के प्राणभूत ताल, लय, स्वर आदि सामवेद की ही देन हैं। 'नाट्यशास्त्र' के चतुर्थ तथा पञ्चम अध्याय में गीति-तत्त्व की विस्तारपूर्वक चर्चा की गई है। छठे अध्याय में षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत, निषाद इन सात स्वरों का उल्लेख करते हुए ध्रुवा—गीति का आधार, एक नियत पदसमूह—के योग से समन्वित गान को पाँच प्रकार का बताया गया है। (१) प्रवेश—जो पात्र के प्रवेश करते समय भाव, प्रकृति, अवस्थान आदि का सूचक होता है। (२) आक्षेप—जिसका प्रयोग रसान्तर के उपक्षेप के निमित्त किया जाता है। (३) निष्क्राम—जो पात्र के निष्क्रमण पर गाया जाता है। (४) प्रासादिक—जो पात्र की अन्तर्गत वृत्ति को सामाजिकों के प्रति प्रसादित करने के निमित्त गाया जाता है। (५) आन्तर—जो गति, परिभ्रमण के निरूपण आदि के अवसर पर प्रयुक्त होता है। "अभिनव भारती" में 'गीत' को नाट्य-प्रयोग का प्राण ("गीतं प्राणाः प्रयोगस्य") माना गया है। नाट्यशास्त्र में इसकी विशद चर्चा है। यह तो आगे चलकर एक पृथक् शास्त्र ही बन गया है, जिसके अध्ययन-मनन के निमित्त सम्पूर्ण जीवन भी पर्याप्त नहीं है। अभिनव गुप्त ने गीत को ही रसास्वादन का आधार माना है।

अभिनय

"सामाजिकानामाभिमुख्येन साक्षात्कारेण नीयते प्राप्यतेऽर्थो अनेन इत्यभिनयः।" साक्षात्कार के द्वारा जिससे सामाजिकों को अर्थ-ग्रहण करा दिया जाय, वह अभिनय है। 'अभि' उपसर्गपूर्वक 'णीञ्' धातु से 'अच्' प्रत्यय करने पर 'अभिनय' शब्द निष्पन्न होता है.

अभिपूर्वस्तु णीञ् धातुराभिमुख्यार्थनिर्णये।
यस्मात् प्रयोगं नयति तस्मादभिनयः स्मृतः॥
विभावयति यस्माच्च नानार्थान् हि प्रयोगतः।
शाखाङ्गोपाङ्गसंयुक्तस्तस्मादभिनयः स्मृतः॥[१५]

अभिनय मुख्य रूप से चार प्रकार होता है—(१) आङ्गिक, (२) वाचिक, (३) आहार्य और (४) सात्त्विक—

[१५] नाट्यशास्त्र, ८।७–८।

आङ्गिको वाचिकश्चैव ह्याहार्यः सात्विकस्तथा ।
ज्ञेयस्त्वभिनयो विप्राश्चतुर्धा परिकीर्त्तित ॥[१६]

यजुर्वेद मे अभिनय के चारो प्रकारो के मूल प्राप्त होते हैं । दर्शेष्टि-सम्बन्धी गो-दोहन प्रक्रिया,[१७] प्रथम अध्याय की ७वी कण्डिका के 'उर्वन्तरिक्षमन्वेमि' मे विस्तीर्ण अन्तरिक्ष को अनुसरण करने की प्रक्रिया तथा द्वितीय अध्याय की २५, २६, २७ कण्डिकाओ मे विष्णुचरण (विष्णुक्रम अनुष्ठान प्रत्येक यज्ञ मे होता है) की कल्पना से भूमि पर प्रक्षेप की क्रिया आङ्गिक अभिनय के अच्छे उदाहरण हैं । यजुर्वेद के हिरण्यकेशि श्रौतसूत्र के अनुसार यजुर्वेद मे वाचिक क्रिया का स्पष्ट निर्देश है—

उच्चै. ऋचा क्रियते, उच्चै. साम्ना, उपांशु यजुषा ।[१८]

ऋचा का उच्चारण उच्च किया जाता है, साम का पाठ उच्च होता है, यजु का पाठ अस्पष्ट किया जाता है । आहार्य से यजुर्वेद परिपूर्ण है । यज्ञयागादि का सम्पूर्ण विधान, वेदी का निर्माण, क्षौम-वस्त्र-धारण[१९], अभ्यङ्ग (अङ्गरागादि योजना)[२०]; अञ्जन लगाना[२१] तथा पगड़ी बाधना[२२] आदि के विधान आहार्य अभिनय के प्रेरक हो तो आश्चर्य नही । अनृत से सत्य को प्राप्त होने की भावना की मानसिक व्याप्ति,[२३] अग्निष्टोमदीक्षा मे देवताओ की प्रसन्नता से प्राप्त हर्ष की अभिव्यक्ति सात्विक अभिनय की मूल मानी जानी चाहिए । यजुर्वेद के २३वे अध्याय के २२-३१ मन्त्रो मे अश्वमेध से सम्बद्ध अध्वर्यु, ब्रह्मा, उद्गाता, होता आदि का कुमारी, महिषी, वावाता आदि से जो नाटकीय वार्त्तालाप होता है और गवामयन सत्र के महाव्रतप्रकरण मे शूद्र, आर्य, ब्रह्मचारी, वेश्या आदि का जो कथोपकथन[२४] वर्णित है—उनमे सभी प्रकार के अभिनयो के मूल प्राप्त हैं ।

नाट्यशास्त्र मे अङ्ग सम्बन्धी आङ्गिक अभिनय मुख्यत. तीन प्रकार का माना गया है—(१) शारीर, (२) मुखज और (३) चेष्टाकृत । आगे चलकर इसकी अनेक शाखोपशाखाओ का वर्णन किया गया है, जिसमे हाथ, पैर, कमर, पार्श्व और दृष्टि के अभिनयो और विनियोगो सहित उनका प्रयोग सिखाया गया है । नन्दिकेश्वर के 'अभिनयदर्पण' मे इन सबका बोधगम्य वर्णन प्राप्त है । नृत्य और नृत्त भी इसीके अन्तर्गत आ गए हैं । इससे सम्बद्ध विविध मुद्राओ का बड़ा सूक्ष्म विवेचन नाट्यशास्त्र मे किया गया है ।

वाचिक अभिनय का महत्त्व आङ्गिक की अपेक्षा अधिक है । यह नाट्य का शरीर माना गया है । इस अभिनय मे विशेष सावधानी अपेक्षित है . वाचि यत्नस्तु कर्त्तव्यो नाट्यस्यैषा तनुः स्मृता ।[२५] "नाट्यशास्त्र' के चतुर्दश अध्याय मे वाचिक अभिनय की शिक्षा है । पाठ्य की समस्त

[१६] नाट्यशास्त्र, ८।१० ।
[१७] यजुर्वेद १।३,४ ।
[१८] हिरण्यकेशि श्रौतसूत्र, १–१–१ ।
[१९] यजुर्वेद, ४–२ ।
[२०] वही, ४–३ ।
[२१] वही, ४–३ ।
[२२] वही, ४–६ ।
[२३] अनृतात् सत्यमुपैमि । यजुर्वेद, १–५ ।
[२४] कात्यायन श्रौतसूत्र, अध्याय १३, कंडिका ८,९ ।
[२५] नाट्यशास्त्र, १४।२ ।

उच्चारणविधि, छन्द, गद्य-पद्य का उचित ढग से पढ़ना, स्वर-व्यञ्जन आदि का शुद्ध उच्चारण, काकु, यति आदि का समुचित उपयोग वाचिक अभिनय के अङ्ग हैं।

आहार्य (वस्त्रालङ्कारो की उपयुक्त सज्जा) के बिना अभिनय पूर्ण नही कहा जा सकता। चार प्रकार के आहार्य (१) पुस्त, (२) अलङ्कार, (३) अङ्गरचना और (४) सजीव अभिनय मे मुख्य माने गए हैं। अभिनय मे पर्वत, रथ, विमान आदि को वास्तविक रूप देने के निमित्त तीन प्रकार के पुस्त उपयोग में आते थे—(१) सधिम, (२) व्याजिम और (३) चेष्टिम।[२६] अर्थात् लकड़ी पर वस्त्र चढाकर बनाना, मन्त्रो की सहायता से सूचित करना और अभिनेता की चेष्टाओ द्वारा प्रेक्षक को वास्तविकता का बोध कराना। नानाविध वेष और अलङ्कारो से सजाना 'अलङ्कार' कहाता था। अनुरूप मेकप 'अङ्ग-रचना' और प्राणियो का प्रवेश कराना 'सजीव'।

सात्त्विक अभिनय मनोभावो का मूर्त्तीकरण है। यह अत्यन्त कठिन है। रसो और भावो का अभिनय बड़ी कुशल कलाकारी की अपेक्षा रखता है। क्रोध, स्नेह, रोमाञ्च, अश्रु आदि का यथास्थान और यथारस प्रयोग सात्त्विक अभिनय के अन्तर्गत है। भरत के अनुसार अभिनय मे विद्यमान सत्त्व का परिमाण ही नाटक को उत्तम, मध्यम और अधम बनाता है।[२७] सात्त्विक अभिनय मे ही नाट्य प्रतिष्ठित है।[२८]

भरत ने नाट्य को लोक-स्वभाव का अभिनय माना है —

योऽय स्वभावो लोकस्य सुखदु खसमन्वित ।
अङ्गाद्यभिनयोपेत नाट्यमित्यभिधीयते ।।[२९]

भावो और अवस्थाओ की अनुकृति ही नाट्य है। इस अनुकृति मे सौन्दर्य-व्यापार भी अभिप्रेत है। इस प्रकार नाट्य मे दो वस्तुएँ अपेक्षित हैं—(१) लोकवृत्त मे देखे जानेवाले भाव और अवस्थायें तथा (२) सौन्दर्य-व्यापार। सक्षेप मे लोक-स्वभाव सौन्दर्य-व्यापार द्वारा अभिव्यक्त होने पर ही नाट्य कहाता है। इसी आधार पर 'नाट्य-शास्त्र' मे अभिनय को (१) लोकधर्मी और (२) नाट्यधर्मी दो प्रकार का कहा गया है—

लोकधर्मी नाट्यधर्मी धर्मीति द्विविध स्मृत ।[३०]

लोकप्रवृत्तियो से सम्वादी अभिनय लोकधर्मी और अभिनय का सौन्दर्याधायक अश नाट्यधर्मी कहाता है। लोकधर्मी अभिनय होता है 'स्वभावोपगत' और नाट्यधर्मी होता है 'अतिवाक्यक्रियोपेत'। नाट्य का जितना अश लोकवार्त्ता क्रिया से युक्त होता है, वह लोकधर्मी है तथा कल्पित अश नाट्यधर्मी। दोनो के ६-६ भेद हैं।[३१] अभिनय के द्वारा भावो की अभिव्यक्ति—नट-व्यापार का लोक की वृत्ति-प्रवृत्तियो से सम्वादी अश नटगत लोकधर्मी है, इससे अतिरिक्त केवल शोभाकारक अभिनयाश नाट्यधर्मी है। मूल वस्तु को विशेष आकर्षक और शोभाकारी बनाने के लिए रगमच पर जो कुछ

---

[२६] वही, २३।५-७।
[२७] नाट्यशास्त्र, २४।२।
[२८] वही, २४।१।
[२९] वही, १।११९।
[३०] वही, ६।२४।
[३१] वही, १३।७०-७४।

दिखाया जाता है, वह नाटचधर्मी है। भरत ने नाटचधर्मी अभिनय का विशेष महत्त्व माना है। उनके अनुसार नाटचप्रयोग नित्य-नाटचधर्मी से युक्त होना चाहिए, क्योकि गीतादि अङ्गो के अभिनय के अतिरिक्त रसिको मे राग का प्रवर्त्तन नही होता.—

नाटचधर्मी प्रवृत्त हि सदा नाटच प्रयोजयेत् ।
नह्यङ्गाभिनयात् किञ्चित् ऋते राग प्रवर्त्तते ।।[३२]

रस

नाटच के सम्पूर्ण तत्त्वो मे रस सर्वप्रधान तत्त्व है। "नहि रसादृते कश्चिदर्थ प्रवर्त्तते"[३३] रस के बिना कोई प्रयोजन नही होता। अथर्ववेद मे इसका मूल कहा गया है। वास्तव मे वेदकाल मे रस मधु, सोम, दुग्ध आदि के अर्थ मे ही प्रयुक्त हुआ है। अथर्ववेद मे "रसो गोषु प्रविष्ट"[३४], "रसेन तप्तो न कुतश्चनो न."[३५], यो व शिवतमो रस[३६] आदि अनेक स्थलो मे रस शब्द आया है। "तीव्रो रसो मधुपृचामरगम आ मा प्राणेन सह वर्चसा गमेत्"[३७]—रस-जल की प्राण और वर्चस् के निमित्त कामना की गई है। वैसे भाव और रस की स्थिति अथर्ववेद की मारण, मोहन, वशीकरण आदि मन से सम्बद्ध क्रियाओ मे निहित है। मनोऽभिमुखीकरण के प्रसङ्ग मे कहा गया है कि जैसे भूमि पर के तृण को हवा मथती है, उसी प्रकार मै तेरे मन को मथता हूँ यथेद भूम्या अधितृण वातो मथयति एव मथ्नामि ते मनो ।[३८]

ऐसा प्रतीत होता है कि मधु, रस, दुग्ध आदि के मूलस्थित स्वाद की भावना एव अथर्ववेद मे वर्णित चित्तद्रवीभाव क्रियाओ के आधार पर उपनिषद्-काल मे रस मुख्यार्थबोधक माना गया और उसे 'प्राण' कहा गया है। बृहदारण्यक मे "प्राणो वा अङ्गाना रस" कहा गया है। साहित्य के क्षेत्र में तैत्तिरीय से होती हुई रस की स्थिति हुई है—"रसो वै स ।"

इस प्रकार एक ओर जहाँ जल और दुग्ध आदि रूप मे रस ऐन्द्रियजन्य आस्वादन देता है, दूसरी ओर वह अतीन्द्रिय आनन्द का आस्वादन कराता है।

रस के विषय में प्राप्त विवेचन सबसे प्रथम 'नाटचशास्त्र' मे ही हुआ है। 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति' यह भरत की ही परिभाषा है। रस की निष्पत्ति नाना भावो के उपगम से मानी गई है। जैसे गुडादि द्रव्य, व्यञ्जन और औषधियो से षाडवादि रस—मधु, तिक्त, कषाय, कटु आदि षड्रसों से भिन्न स्वाद देनेवाला रस निष्पन्न होता है, वैसे ही नाना भावोपगत स्थायीभाव रस बन जाते हैं। जिस प्रकार नाना व्यञ्जनो से संस्कृत अन्न का भोगकर सुमनस पुरुष हर्ष पाते है, वैसे ही नानाभिनयो से व्यक्त स्थायीभावो का आस्वादन कर रसिक प्रेक्षक आनन्द पाते है।[३९] नाटचशास्त्र में शृंगार, रौद्र, वीर और बीभत्स मूल रस माने गए हैं। शृंगार से हास्य, रौद्र से करुण, वीर से अद्भुत और बीभत्स मे भयानक रस की उत्पत्ति बताई गई है। 'नाटचशास्त्र' के छठवें अध्याय मे रस-निष्पत्ति भली-भाँति बताई गई है। सातवें मे भाव, विभाव और व्यभिचारि

---

[३२] नाटचशास्त्र, १३।८४ ।
[३३] वही ६।३१ की वृत्ति ।
[३४] अथर्ववेद १४।२।५८ ।
[३५] वही, १०।८।४४
[३६] वही, १।५।२ ।
[३७] वही, ३।१४।५ ।
[३८] वही, ३।१५।५ ।
[३९] नाटचशास्त्र, ६।३२,३३ ।

भावो की चर्चा है। "रस लक्ष्य तत्त्व है, साध्य है, शेष तीन पाठ्य, गीत और अभिनय साधक तत्त्व हैं। इन्ही के द्वारा रस निष्पन्न होकर आनन्द का कारण बन जाता है। नाट्य की अन्तिम प्राप्ति यही है।

भारतीय नाट्यशास्त्र के अनुसार इन्ही चार—पाठ्य, गीत, अभिनय और रस—को नाटकीय तत्त्व माना जाना चाहिए। वस्तु, नेता यदि तत्त्व हैं तो वे कविकर्म के तत्त्व हैं, मञ्चविधान के तत्त्व नही। इनका सम्बन्ध लेखन-प्रक्रिया से ही अधिक है। अरस्तु का बाह्य और आन्तरिक दो स्थितियो का तत्त्व-विवेचन सम्भवित मञ्च और कवि-कर्म दोनो को ध्यान मे रखकर ही किया गया है।

पाठ्य, गीत, अभिनय और रस—ये चारे नाट्य-तत्त्व चारो वेदो से ही विकसित हुए हैं। भरत ने ही नही, नन्दिकेश्वर ने भी ऐसा ही कहा है—

ऋग्यजु सामवेदेभ्यो वेदाच्चाथर्वण क्रमात्।
पाठ्यञ्चाभिनय गीत रसान् सगृह्य पद्मज।
व्यरीरचच्छास्त्रमिद धर्मकर्मार्थमोक्षदम्॥[४०]

ऐसा लगता है कि यह यज्ञयागादि क्रियाएँ भी एक प्रकार के नाटक ही हैं। अभिनय के समान ही इनमे स्थिति, गति, विधि, विधान सभी का निर्देश है। फ्रान्सीसी मनीषी 'बर्गेन' तो आदिम जातियो मे प्रचलित धार्मिक नाट्य—रिचुअल ड्रामा—के आधार पर वेदविहित यज्ञयागादि क्रियाओ को द्युलोक मे निरन्तर होनेवाली प्रक्रियाओ का अनुकरण-अभिनय ही मानता है। आधुनिक ख्यातिप्राप्त नृतत्त्वपण्डिता मर्किया इलियड का मत भी यही है। यागादि सृष्टि के नाटकीय अनुकरण हैं।[४१]

इस विषय मे अभी और अनुसन्धान अपेक्षित है। चारो वेदो और उनके ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषदो मे ये चारो तत्त्व इतने घुले-मिले हैं कि उनका छाँट लेना समुद्र से मोती लाने के समान है। सभी तत्त्व प्राय सभी मे मिल जाते हैं। अभी तो ऋक् से पाठ्य, साम से गीत, यजु से अभिनय और अथर्वण से रस की मान्यता 'प्राधान्येन व्यपदेश' ही है। जो तत्त्व प्रधानता से जिस वेद मे हैं उसी वेद से उस तत्त्व को ग्रहण करने की घोषणा की गई है। देखिए, कौन 'मरजीवा' बनकर 'गहरे पानी पैठने का' का श्रेय लेता है? बहुत दिनो पूर्व किसी अवकाश के दिन जपादि समाप्त कर अपने परिवार के साथ आराम से छुट्टी मनाते नाट्याचार्य भरत मुनि से इन्द्रियजयी, बुद्धि पर भी काबू रखनेवाले आत्रेयादि महामुनियो ने विनम्रतापूर्वक पूछा था—

योऽयं भगवता सम्यग्ग्रथितो वेदसम्मित।
नाट्यवेद कथ ब्रह्मन्नुत्पन्न कस्य वा कृते।
कत्यङ्ग किंप्रमाणश्च प्रयोगश्चास्य कीदृश.॥[४२]

यह वेद-सम्मत सम्यक् ग्रथित नाट्यवेद कैसे, किसके लिए उपजा है भगवन्! कितने अङ्ग हैं इसके, इसका प्रमाण क्या है और कैसे इसका प्रयोग होता है।

यह प्रश्न आज भी है। प्रतीक्षा है केवल नियतेन्द्रियबुद्धि अनुसधित्सुओ की। उत्तरदाता भरत तो कह उठेंगे ही—

भवद्भि शुचिभिर्भूत्वा तथाऽवहितमानसै.।
श्रूयता नाट्यवेदस्य सम्भव ....॥[४३]

पवित्र होकर, मन लगाकर नाट्यवेद की उत्पत्ति सुनो।

---

[४०] अभिनयदर्पण ७।१०।

[४१] कास्मास ऐंड हिस्ट्री, पृष्ठ सं० १० (हार्पर टार्च बुक, बी० ५०)। तुलनीय आनन्दकुमार स्वामी, दी ऋग्वेद ऐज लैण्डनामा बुक, लण्डन, १९३५, पृष्ठ १६।

[४२] नाट्यशास्त्र १।४-५।

[४३] वही, १।७।

मध्यकालीन भारत में निर्गुण काव्य-साधना और उसकी व्यापकता

आचार्य परशुराम चतुर्वेदी

प्रचलित परम्परानुसार निर्गुण काव्य-साधना के प्राय दो रूपो की चर्चा की जाती है जिनमे से हिन्दी-साहित्य के इतिहासो मे एक को 'ज्ञानाश्रयी धारा' वा 'सतकाव्य' एव दूसरे को 'प्रेमाश्रयीधारा' वा 'सूफी काव्य' कहा गया है। इनमे से प्रथम के आदर्शरूप का परिचय हमे सत कवि कबीर, नानक एव दादू आदि की रचनाओ मे प्राप्त होता है। इसी प्रकार, द्वितीय का पता, सूफी कवि जायसी एव मझन द्वारा रची गई प्रेम-गाथाओ से चल जाता है। इन दोनो प्रकार के काव्यो की रचना केवल आध्यात्मिक उद्देश्य से की गई कही जा सकती है। इस कारण इन दोनो के रचयिताओ को भी हम अधिकतर ऐसे साधको की ही श्रेणी मे रख सकते है जिन्होने इनका निर्माण केवल परम-तत्त्व के वर्णन, स्वानुभूति की अभिव्यक्ति अथवा उपदेश-प्रदान के लिए किया होगा। तदनुसार इनमे प्राय भक्ति, प्रेम एव ज्ञानपरक अत.साधना का निरूपण रहा करता है। बाह्याचारो एव विविध रूढ़ियो के प्रति सदा उपेक्षा का भाव प्रदर्शित किया गया भी मिलता है। ऐसी रचनाएँ मानो उद्गारपरक मुक्तको के रूप मे पायी जाती है अथवा आदर्श प्रेमियो की वे कहानियाँ रहा करती है जिनका कथन प्रतीकात्मक शैली में किया गया मिलता है। इसके सिवाय इन दोनो प्रकार के कवियो का ध्यान अधिकतर किसी-न-किसी आदर्श जीवन-पद्धति की ओर भी आकृष्ट जान पडता है। ये दोनो प्राय .किसी-न-किसी जनभाषा एव लोक-प्रचलित काव्य रूपो का ही प्रयोग करना चाहते है। इनकी ऐसी रचनाओ को 'निर्गुण काव्य' की सज्ञा देने का कारण कदाचित् इनके द्वारा व्यक्त किये गये परमतत्त्व के उस विलक्षण रूप मे निहित कहा जा सकता है जिसे यहाँ पर अगम, अगोचर अथवा अनिर्वचनीय कहा गया मिलता है। परन्तु इस प्रकार की रचना-शैली केवल उक्त सत एव सूफी कवियो की ही कृतियो की विशेषता नही कही जा सकती। उनमे इसके न्यूनाधिक मिलते-जुलते अनेक उदाहरण हमे भारत के मध्यकालीन साहित्य मे अन्यत्र भी उपलब्ध होते है।

भक्ति-साधना के मूलस्रोत का पता हमे वस्तुत उत्तरी भारत के प्राचीन महापुरुष वासुदेव श्रीकृष्ण के ही समय से चलने लगता है। किन्तु इसमे संदेह नही कि इसके किसी निश्चित आन्दोलन का इतिहास दक्षिण में ईसा की छठी शती से आरम्भ होता है। भारत का मध्यकालीन इतिहास इसके अनतर ईसा की सातवी शती से चलता है जब तक उधर वाले आडवार वैष्णव भक्तो का युग प्राय आधे से अधिक व्यतीत हो चुका था और नायन्मार शैव-भक्तो के युग का भी आरम्भ हो गया था। सातवी शती के मध्यकाल तक इन दोनो प्रकार के भक्तो का प्रभाव अपनी चरम सीमा तक पहुँच रहा था। वह किसी-न-किसी रूप मे, नवी शती के मध्य तक वर्तमान रहा जब तक इनके भक्तिरस-पूर्ण गीतों का प्रचार उधर प्राय सर्वत्र हो गया। आडवारो में सर्वाधिक प्रसिद्ध नम्मलवार (सभवत छठी-सातवी शताब्दी) का कहना था—"किस प्रकार मे उस परमोज्ज्वल रत्न (अपने इष्टदेव) का वर्णन करूँ, वह तो अखिल विश्वरूप है और वह मानवीय धर्मों का आधार-

स्वरूप भी है। उसे हम अपनी इन्द्रियो द्वारा नही प्राप्त कर सकते, वह ज्ञानातीत है। यदि हम आत्मा के अन्त स्थल मे, जो हमारे जीवन का मूल उत्स भी है, अपना ध्यान सभी ओर से हटा कर, केन्द्रित कर सके वैसी दशा मे ही हम उस अपने स्वामी को पाने मे समर्थ हो सकते है।"[१] इसी प्रकार, एक प्रमुख नायन्मार अप्पर (सातवी शती का मध्य काल) का भी कथन है—"वह ज्योतिस्वरूप स्वामी काष्ठ मे छिपी आग एव दूध मे छिपे घी की भाँति हमारे भीतर अतर्हित है। प्रेम की मथानी मे विवेक की रस्सी लगा कर उसके द्वारा मथन करो, वह अवश्य मिलेगा।"[२] तथा "हे स्वामिन मै स्वय अपने को नही जानता, न मुझे कोई तेरा ही परिचय प्राप्त है। मुझे तो केवल इतना ही पता है कि मै तेरा दास हूँ।"[३] अतएव, इन भक्तो की चर्चा करते हुए एक लेखक ने हमे बतलाया है—"इन द्रविड सतो—दोनो वैष्णवो एव शैवो-के ज्ञान एव सहजबोध की अपूर्वता इस बात मे लक्षित होती है कि इनकी परमतत्त्व-विषयक दृष्टि उसे एक ही साथ सर्वातिशायी, निरपेक्ष, अतर्यामी और आत्मीय व्यक्ति भी मानते हुए काम करती है, ऐसे परमेश्वर को ये लोग 'भावभगति' और प्रेमासक्ति के द्वारा उपलब्ध भी करना चाहते है।[४]

आडवार वैष्णवो तथा नायन्मार शैवो के आविर्भावकाल तक दक्षिण मे बौद्धधर्म एव जैन धर्म का बहुत प्रचार हो चुका था। उन्हे कही-कही राज्याश्रय तक मिलने लगा था जिस कारण इन दोनो प्रकार के भक्तो को उनके सघर्ष मे भी आना पड़ा। किन्तु उन धर्मो का इतिहास देखने तथा उनके अनुयायियों द्वारा रची गई तत्कालीन पुस्तको के अध्ययन से हमे ऐसा भी लगता है कि उनमे भी क्रमश. कुछ-न-कुछ परिवर्तन होते जा रहे थे। वे तदनुसार अपने वातावरण के प्रभावो मे भी आने लगे थे। उस समय के लगभग, अपभ्रश मे लिखित सहजयानी बौद्ध सिद्धो के दोहो और चर्यापदो तथा सुधारवादी जैन मुनियो की भी वैसी उपलब्ध रचनाओ मे हमे कभी-कभी ऐसे उदाहरण मिल जाते है जिन्हे, इन भक्तो की कई पक्तियो के मेल मे रखने पर हमे विशेष अन्तर नही लक्षित होता। दोनो को प्राय. एक ही कोटि मे स्थान देने की प्रवृत्ति होने लगती है। सहजयानी बौद्ध सिद्ध सरहपा (आठवी शती) का कहना है, "रे मूर्ख, सरह तुझे यह उपदेश देता है कि तू जहाँ तक सूर्य-चन्द्र एव पवन तथा मन की भी पहुँच नही है, वही पर अपने चित्त को विश्राम दे।"[५] तथा "वह परमेश्वर अविनश्वर एव परमगुणादि से रहित है, उसके विषय मे मुझसे कुछ भी नही कहा जा सकता, उसका बोध हमे किसी कुमारी के निजी सुरतानुभव के समान स्वय ही हो सकता है।[६] इसी प्रकार जोगीन्दु जैन मुनि (सभवत छठी शती) का भी कथन है—"जिसके भीतर सारा ससार है और जो ससार के भीतर भी वर्तमान होकर 'ससार' नही कहा जा सकता वही परमात्मा है।"[७] तथा "जो परमात्मा है वही 'अह' है और जो "अह' है वही परमात्मा भी है। इस कारण

---

१ नायन्मार—(नटेसन, मद्रास) पृष्ठ ४८।

२ 'अप्पर' (नटेसन, मद्रास), पृष्ठ ४३।

३ वही, पृ० ४६।

४ ए० गोविन्दाचार्य-ए मेटाफिजिक ऑव मिस्टिसिज्म—मैसूर, १९२३, पृष्ठ ४२३।

५ 'दोहाकोश' (कलकत्ता) दोहा-२५, पृष्ठ २७।

६ वही, दोहा ५८, पृष्ठ २७।

७ 'परमात्मप्रकाश' (बम्बई) पद्य ४१, पृष्ठ ४५।

योगी को बिना किसी तर्क-वितर्क के केवल इतना ही जान लेने की आवश्यकता है।"[८] इनके एक परवर्ती जैन मुनिरामसिंह ने तो यह भी कहा है "मेरा मन तो परमेश्वर में मिल गया है और परमेश्वर का रूप भी मेरा मन हो गया है, जब दोनो समरस मे आ गये तो अब मैं पूजा किसकी करूँ।'[९] जिसे पढकर हमें पिछले कबीरादि सन्तो तक का स्मरण हो आता है। वास्तव मे यदि देखा जाय तो, उस युग वाले आडवार अथवा नायन्मार भक्तो तथा इन सिद्धो एव मुनियो की अनेक रचनाओं के अन्तर्गत हमे, वर्ण्य विषय तथा कभी-कभी वर्णन-शैली की दृष्टि से भी लगभग एक से ही उदाहरण मिल सकेंगे।

स्वामी शकराचार्य (सन् ७८८-८२० ई०) के लगभग उसी समय, बौद्धो एव जैनियो के अवैदिक धर्मों के विरुद्ध वैदिक धर्म की प्रतिष्ठा पुन कायम करने के उद्देश्य से अपने दार्शनिक मत 'अद्वैतवाद' का प्रतिपादन किया। उन्होने इसे इतना व्यापक रूप दे दिया कि इसके भीतर इनके क्रमश. 'शून्यवाद' एव अनेकान्तवाद' के समाधान की भी गुंजाइश हो सकती थी। तदनुसार, इसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप, स्वामी रामानुजाचार्य (सन् १०१७-३८ ई०), मध्वाचार्य (सन् ११९९-१३०३) तथा निम्बार्काचार्य (१२वीं शती) ने भी क्रमश अपने 'विशिष्टाद्वैत', 'द्वैत' एवं 'द्वैताद्वैत' मतो की प्रतिष्ठा की। इस प्रकार उन्होंने अपने-अपने दृष्टिकोणो के आधार पर, उस भक्ति-साधना को भी प्रश्रय प्रदान किया जो आडवारो के समय से विकास पाती आ रही थी। इन सभी आचार्यो ने उसे अपने अपने ढग से वेदादिसम्मत ठहराया तथा उसे अपना पूरा समर्थन भी प्रदान किया। इसका एक परिणाम यह हुआ कि इसके कारण उसके आन्दोलन को आगे अधिकाधिक सफलता मिलती चली गई और तदनुकूल वातावरण मे भक्ति-काव्य के निर्माण का कार्य भी अग्रसर होता गया। इसी प्रकार स्वामी शकराचार्य के कुछ ही अनन्तर गुरु गोरखनाथ का भी आविर्भाव हुआ जिन्होने 'नाथ योगि सप्रदाय' के सिद्धान्तो का प्रचार किया। अपनी धार्मिक मान्यताओ के अनुसार ये शैव-मतावलम्बी कहे जा सकते थे और इनकी साधना योग प्रधान थी। इनके तात्विक साधनाओ द्वारा भी बहुत कुछ प्रभावित होने के कारण, इनके मत को सर्वथा वैदिक भी नही ठहरा सकते थे। परन्तु इनके सगठन एव प्रचार-कार्य ने सर्वसाधारण को विशेष रूप मे प्रभावित किया। इनके द्वारा प्रचलित साधना-पद्धति एव जीवन-दर्शन की न्यूनाधिक छाप सभी तत्कालीन साधको एव भक्त-कवियो तक की कृतियो पर पडने लग गई। आचार्यों के प्रभाव मे जहाँ एक ओर भक्ति के साथ ज्ञान का गठबन्धन दृढ हुआ, वहाँ दूसरी ओर नाथ योगियो के कारण, उसे अत साधना का भी सहयोग प्राप्त हो गया। इन तीनो को एक साथ महत्त्व देने की प्रवृत्ति भी बढने लग गई। निर्गुण काव्य-साधना के लिए इस प्रकार का वातावरण सर्वथा अनुकूल सिद्ध हुआ क्योकि इसके कारण, वैसी भावनाएँ जो कभी पहले केवल छिट-पुट रूप मे ही लक्षित हो पडती थी, उनके सम्यक् समावेश की प्रेरणा आपसे-आप स्फुरित हो चली। अपने रूप के क्रमश. निखरते जाने के कारण, इसे कभी-कभी एक सुनिश्चित पृथक् स्थान देने की परम्परा भी प्रतिष्ठित हो गई।

इस प्रकार की निर्गुण काव्य-साधना का एक प्रारम्भिक रूप हमें लिगायत 'शिवशरण' भक्तो के उस विलक्षण 'वचन' साहित्य में भी उपलब्ध होता है जिसकी रचनाएँ वस्तुत नियमानुसार छन्दो-

---

८ **योगसार (बम्बई)—पद्य २२, पृष्ठ ३७५।**

९ **पाहुड़ दोहा (कारंज)—दोहा ४९, पृष्ठ १६।**

बद्ध न रहने के कारण, गद्यगीतो की कोटि मे आती है। इनमे इनके रचयिताओ की गहरी अनुभूति की अभिव्यक्ति पायी जाती है और ऐसा प्रत्येक 'वचन' अपने मे पूर्ण ही रहा करता है। लिगायतो का वीर शैवो के मन का विशेष प्रचार कर्णाटक प्रदेश के अन्तर्गत, बसव; अल्लमप्रभुदेव तथा चेन्नबसव द्वारा किया गया जिनका आविर्भाव ईसा की बारहवी शती मे हुआ था और जिन्हे उक्त 'वचन'-कारो मे भी उच्च स्थान दिया जाता है। इनके द्वारा प्रचलित किया गया 'षट्स्थल' का भक्ति-सिद्धान्त बहुत कुछ उत्तरी भारत के सन्तो की भक्ति-साधना से मिलता है। इन्होने परमतत्त्व के स्वरूप की व्याख्या करते समय उसे उनके ही समान 'शून्य' कहने की जगह 'बयलु' बतलाया है जो कन्नड भाषा मे वस्तुत उसी शब्द का समानार्थक है। तदनुसार 'शून्यलिगमूर्ति' का परिचय देते हुए अल्लम प्रभु ने कहा है—'शून्य-लिग-मूर्ति' न साकार है, न निराकार है। उसका न आदि है, न अत है। वह न यह है न पर है, न सुख है न दुख है, न पुण्य है न पाप है, न प्रभु है न दास है, न कार्य न कारण है, न धर्मी है न कर्मी है, न पूज्य है न पूजक है—वह इन दोनो से परे है।"[१०] इसी प्रकार कबीरादि सतो के पूर्ण आत्मनिवेदन की प्रवृत्ति भी हमे यहाँ, इन भक्तो के 'शिवशरण' कहे जाने की सार्थकता मे दीख पडती है। इस भाव को प्रकट करते हुए बसव ने कहा है—"जब तन तुम्हारा हो गया तब मेरा कोई पृथक् तन नही रह गया। जब मन तुम्हारा हो गया तब मेरा कोई पृथक् मन नही रहा। जब धन तुम्हारा हो गया तब मेरा कोई पृथक् धन भी नही रहा। इस प्रकार ये तीनो ही साधन तुम्हारे हो गये, मेरा अपना कुछ भी नही रह गया और बसव की शून्य समाधि 'कूडलसगम' मे स्थापित हो गई।"[११] इन्होने अन्यत्र यह भी कहा है—"हे कूडल सगम, धनी लोग शिव के लिए मदिरो का निर्माण किया करते है, किन्तु मुझ जैसे अकिचन की दशा वैसी नही है। मेरे तो अपने पैर ही खभे है जिन पर मेरे शरीर का मन्दिर खडा है और मेरा सिर उसका 'कलश' बना हुआ है, मेरी दृष्टि मे जो कुछ भी दीख पडता है वह नाशवान् है और जो था वही नित्य बना रहेगा।"[१२] चेतना का सामाजिक पक्ष भी यहाँ द्रष्टव्य है।

कर्णाटक प्रान्त के ये शिवशरण लोग शैव समझे जाते है। इनके उपर्युक्त प्रमुख प्रचारक अल्लम प्रभुदेव की गणना कदाचित्, उन महासिद्धो मे भी की गई मिलती है जो नाथपथ की एक रचना के अनुसार हठयोग द्वारा अमरत्व पा चुके है।[१३] परन्तु निर्गुण काव्य-साधना की प्रवृत्ति के पीछे इसके पड़ोसी प्रदेश, महाराष्ट्र के बारकरी वैष्णवो मे भी दीख पडी। इस पथ का विशेष प्रचार-कार्य ईसा की तेरहवी शती से आरम्भ हुआ, इसके कवियो मे सन्त ज्ञानदेव (सन् १२७५-१२९६ ई०) जैसे प्रतिभाशाली पुरुष हुए जिन्होने भी अपने मत के मूल स्रोत का सम्बन्ध गुरु गोरखनाथ से जोडने का यत्न किया। इन्होने अपने एक मराठी अभग मे कहा है, 'हे गोविन्द, मेरी तो समझ मे नही आता कि मै तुझे सगुण कहूँ वा निर्गुण, तुझे स्थूल कहूँ वा सूक्ष्म, क्योकि तू इन दोनो मे व्याप्त है। तुझे दृश्य कहूँ वा अदृश्य क्योकि तू तो मुझे दोनो ही प्रतीत होता है?"[१४] ये अद्वैत भक्ति मे विश्वास रखते थे। इनका कहना था, "जैसे एक ही चट्टान मे गुफा मन्दिर, मूर्त्ति तथा भक्तों के आकार भी पाये जाते है वैसे ही अभेद भक्ति

[१०] डॉ० हिरण्मय : 'हिन्दी और कन्नड़ में भक्ति आन्दोलन का तुलनात्मक अध्ययन' (आगरा) के पृष्ठ ३१८ पर उद्धृत।

[११] आर० आर० दिवाकर : 'वचन-शास्त्र रहस्य', पृष्ठ ५२।

[१२] कर्णाटक-दर्शन (बम्बई), पृष्ठ ११८ पर उद्धृत।

[१३] हठयोगप्रदीपिका (बम्बई), श्लोक ५-९, पृष्ठ ८-९।

[१४] भी० गो० देशपाण्डे : 'मराठी का भक्ति साहित्य' (वाराणसी), पृष्ठ १७ पर उद्धृत।

का भी व्यवहार होता है। इसी प्रकार जैसे आकाश और अवकाश, चीनी और मिठास, रत्न और कान्ति एव अग्नि और ज्वाला अभिन्न है वैसे ही विश्वात्मक देव को अभिन्न मानकर भक्ति करना अभेद भक्ति का स्पष्ट लक्षण है।"[१५] ज्ञानदेव के समकालीन भक्त नामदेव (सन् १२७०-१३५० ई०) ने तो अपनी अनेक रचनाएँ हिन्दी के माध्यम द्वारा भी प्रस्तुत की थी। इस प्रकार, उन्होने उत्तरी भारत के सत कवि कबीर, नानक, दादू आदि के मार्ग को प्रशस्त कर इन्हे प्रेरणा प्रदान की थी। उन्हे निर्गुण परमतत्व की विश्वात्मक व्यापकता मे पूर्ण निष्ठा थी।[१६]

इन बारकरी वैष्णव कवियो की यह एक विशेषता थी कि इन्होने अपनी अभेद भक्ति के अन्तर्गत न केवल निर्गुण एव सगुण इन दोनो का समावेश किया, प्रत्युत उसके आधारस्वरूप इन्होने स्वानुभूति के साथ-साथ "श्रीमद्भगवद्गीता' एव 'श्रीमद्भागवत' जैसे ग्रन्थो को भी स्वीकार किया तथा विट्ठल की मूर्त्ति की उपासना तक के प्रति उपेक्षा नही प्रदर्शित की।

वारकरी वैष्णव कवियो मे इन दोनो के अतिरिक्त, एकनाथ, तुकाराम एव समर्थ रामदास भी अधिक प्रसिद्ध हुए। इनमे से अतिम दो का समय ईसा की सत्रहवी शती के प्राय अतिम चरण तक चला जाता है। इन लोगो के आविर्भाव-काल तक सुदूर उत्तर की ओर कश्मीर प्रदेश मे, शैव-धर्म का विशेष प्रचार हो चुका था। वहाँ पर प्रचलित 'कश्मीर शैव दर्शन' के प्रभाव मे आकर उसकी एक अपनी विलक्षण भक्ति-साधना का रूप भी निश्चित हो चुका था। तदनुसार वहाँ पर भी, चौदहवी शती के अन्तर्गत, सत लाल्लदेद (सन् १३३५-१४१५ ई०) ने अपनी निर्गुण काव्य साधना का आदर्श प्रस्तुत किया। यह लल्लेश्वरी श्रीनगर से लगभग तीन मील पर अवस्थित 'पाड्रेमन' नामक गाँव के एक सम्पन्न घराने की महिला थी, किन्तु अपने घर से विरक्त होकर वे चल पडी और अवन्तिपुर के बाबा श्रीकंठ से दीक्षित होकर उन्होने अपना आध्यात्मिक जीवन आरम्भ कर दिया। लल्लेश्वरी ने भावावेश मे आकर अनेक पद्यो की रचना कर डाली जो कश्मीरी भाषा मे 'लालवाख' नाम से संगृहीत है। इनके आधार पर उनके गम्भीर चिन्तन और उत्कट भगवत्प्रेम दोनो का ही सुन्दर परिचय मिलता है। इनका कहना है कि—"मै लल्ली बडी चाव से तेरी खोज मे निकली और तेरी लगन मे दिन-रात भटकती रही। अब मैने देखा तो पाया कि वह पडित (भगवान्) तो मेरे घर मे ही विराजमान है। मेरा सौभाग्य है कि मैने उसे पा लिया।"[१७] फिर अन्यत्र भी वे कहती है, "तू ही आकाश है, और तू ही भूतल भी है। तू ही दिन है रात है और पवन भी तू ही है। तू ही अर्घ्य, चदन, फूल और पानी भी है। इस प्रकार जब तू ही सब कुछ है और तेरे सिवाय कुछ भी नही है तो बता तुझे अर्पण क्या करूँ?"[१८] लल्लेश्वरी के द्वारा प्रभावित एक सूफी कवि शेख

---

[१५] वही, पृष्ठ १५।

[१६] "एक अनेक वियापक पूरक जत देखउ तत सोई।
माया चित्र विचित्र विमोहित बिरला बूझै कोई।
सभु गोविन्द है, सभु गोविन्द है, गोविन्द बिनु नहि कोई।।
सूत एक मणि सतसहस जैसे ओत पोत प्रभु सोई।
जल तरंग अरु फेन बुदबुदा, जलते भिन्न न होई।।
कहत नामदेउ हरि की रचना देखहु रिदै विचारि।
घट घट अंतरि सरब निरंतर केवल एक मुरारि।।"—गुरु ग्रन्थसाहब

[१७] राष्ट्र भारती पृष्ठ ३६४।

[१८] राष्ट्रभारती, पृष्ठ ३६५।

नूरुद्दीन का भी जन्म श्रीनगर से ही २८ मील पर बसे हुए 'बीज बिहार' नामक गाँव मे हुआ था। उनका समय सन् १३७७-१४३८ दिया जाता है जिस काल तक सूफीमत का भी प्रचार यहाँ पर भलीभाँति हो चुका था। ये लल्लेश्वरी को अपनी माता के रूप मे देखते थे और, अपने व्यापक सिद्धान्तो के कारण, ये 'नन्द ऋषि' कहला कर भी प्रसिद्ध थे। इनका कहना है, "उसके तीरो से अपने को बचाने की चेष्टा न करो, न उसकी तलवार की चोट से भागना चाहो। अपनी सारी विपत्तियो को चीनी जैसी मीठी समझते हुए उनका उपभोग करो, तुम्हारे लिए लोक तथा परलोक दोनो मे, इसी के कारण, सम्मान प्राप्त होगा।"[१]

सत कवि कबीर का आविर्भाव, इन नन्द ऋषि के ही जीवन-काल मे हुआ था। इस प्रकार उनके पहले तक निर्गुण काव्य साधना की अनेक प्रारम्भिक पद्धतियो के प्रयोग हो चुके थे। तमिल प्रान्त के आडवार वैष्णव भक्तो तथा नायन्मार शैव साधको की फुटकर पक्तियो के अन्तर्गत उसका रूप उतना स्पष्ट नही कहा जा सकता था। परन्तु स्वामी शकराचार्य और गुरु गोरखनाथ के अनतर जब भक्ति की दार्शनिक व्याख्या हो गई और उसे योगसाधना का पूरा सहयोग भी प्राप्त हो गया, उसने बहुत व्यापक रूप धारण कर लिया। सूफीमत का प्रचार हो जाने पर जब उसे प्रेमसाधना का भी पूर्ण समर्थन मिला वह और भी निखर आया। सत कबीर (मृत्यु सन् १४४८ ई०) न एक साधारण से जुलाहे परिवार मे, जन्मग्रहण किया था। ये शिक्षित न होकर केवल बहुश्रुत कहला सकते थे तथा इन्हे सत्सग एव स्वानुभूति का ही बल मिल सका था। इन्होने अपने समय के अनुकूल वातावरण से पूरा लाभ उठाया। तदनुसार, निर्गुण काव्य-साधना को एक ऐसा समन्वयात्मक रूप दे डाला जो इनके अनन्तर आने वाले साधको के लिए आदर्श बन गया। इनकी रचनाओ मे हमे इनके पूर्ववर्ती लिंगायतो एव बारकरी भक्तो के प्रवृत्तिमार्गी दृष्टिकोण का भी पूरा समावेश दीख पडता है। ये अपने व्यावहारिक जीवनदर्शन एव 'कथनी और करनी' के सामजस्य पर विशेष बल देने के कारण, हमे और भी अधिक आकृष्ट करने लगते है। सत कबीर के अनतर इनके आदर्शो पर अन्य अनेक सत कवि भी अपनी 'बानियाँ' प्रस्तुत करते आये और इस प्रकार न केवल एक विशाल निर्गुणी साहित्य का निर्माण हो गया, प्रत्युत इसके कारण, एक विलक्षण रचना-शैली भी अस्तित्व मे आ गई। वर्ण्य-विषय की दृष्टि से विचार करने पर ऐसी रचनाओ मे उतना उल्लेखनीय अतर नही लक्षित होता। केवल इतना ही जान पडता है कि साधनाओ के समन्वय की प्रवृत्ति जो पहले बहुत कुछ प्रच्छन्न रूप मे काम करती आ रही थी वह सत बाबा लाल (मृत्यु सभवत १५६० ई०) अथवा विशेषकर सत प्राणनाथ (१६१८-६० ई०) के समय तक और भी अधिक स्पष्ट हो गई।

निर्गुण काव्य-साधना वाले इन सत कबीर, नानक, दादू आदि हिन्दी-कवियो को कभी-कभी केवल 'निर्गुनिया' मात्र भी कह दिया जाता है। इसका कारण, इनके द्वारा केवल निर्गुणतत्त्व का वर्णन किया जाना नही कहला सकता। सत कबीर ने इस विषय में स्पष्ट कह दिया है, "उसे हमारा 'निर्गुण' वा 'सगुण' कह देना वास्तविक मार्ग को छोड कर धोखा खाना होगा। उसे लोग 'अजर', 'अमर', 'अलख' भी कह दिया करते है। किन्तु वह यह भी नही है और न उसे पिण्ड का ब्रह्माण्ड के रूप मे ही ठहरा सकते है। उसका न तो कोई वर्ण है, न कोई स्वरूप ही है। वह आदि एव अन्त की विशेषताओ से भी रहित है। अतएव, यदि पिण्ड तथा ब्रह्माड को छोड कर सभी कुछ के

---

[१] 'कशीर' (लाहौर) भाग १, पृष्ठ ४२३।

परे और इसके साथ ही इनमें अंतर्हित भी उसे मान लिया जाय तो उसके विषय में कुछ कहा जा सकता है। इसी को हम उस 'हरि' का कोई स्वरूप भी मान सकते हैं।"[२०] उन्होंने इस बात को अन्यत्र इन शब्दों में भी कहा है जैसे "जैसा कहा जाता है वैसा ही उसका अपने पूर्णरूप में होना संभव नहीं है। वह जैसा है वैसा ही है।"[२१] अथवा, "वह जैसा है वैसा केवल उसी को विदित है। वास्तव में, केवल वही मात्र है ही, अन्य कुछ है ही नहीं।"[२२] आदि। इस कारण, यदि देखा जाय तो यह कथन किसी भी प्रचलित मत के विपरीत जाता नहीं जान पड़ता, प्रत्युत इसके अंतर्गत किसी-न-किसी रूप में, शैव, वैष्णव, सूफी, दार्शनिक, योगी, बौद्ध, जैन यहूदी, ईसाई आदि सभी की मान्यताओं का समावेश किया जा सकता है।[२३] इसके सिवाय, ऐसी धारणा के केवल इन सन्तों की स्वानुभूति मात्र पर आश्रित रहने के कारण, इसके किसी धर्म-ग्रन्थ-विशेष से सर्वथा सम्मत होने वा किसी धार्मिक-वर्ग-विशेष के अनुकूल पड़ने वा प्रतिकूल जाने का प्रश्न भी नहीं उठ सकता। ऐसे 'संत मत' वालों को 'निर्गुनिया' कहने तथा इनकी रचनाओं के सम्बन्ध में 'निर्गुणकाव्य-साधना' जैसे शब्द का व्यवहार करने का तात्पर्य केवल यही हो सकता है कि इनकी अभिव्यक्ति की विलक्षण शैली यहाँ पर उन दिनों प्रचार में आ जाने वाली उस रचना-पद्धति से भिन्न प्रतीत होती थी जिसे यहाँ के सगुणोपासक सूर, तुलसी आदि भक्तों ने अपनाया।

निर्गुण काव्य-साधना के अन्य साधक, सूफी कवियों का मेल भी, इन संत कवियों के साथ, बहुत-कुछ बैठ जाता था। ये लोग भी परमतत्त्व को 'अबरन', 'अलेख' आदि कई विलक्षण विशेषणों द्वारा चित्रित करना अधिक पसन्द करते थे। इनके यहाँ भी शुद्ध हृदयता (सिदक) को विशेष महत्त्व प्रदान किया जाता था। इनकी सबसे बड़ी विशेषता इनके द्वारा उस प्रेमतत्व को सर्वाधिक उपर्युक्त साधन मानने में लक्षित होती थी। इसके लौकिक प्रेम (इश्क मजाजी) वाले रूप को भी, उसकी शुद्ध दशा में, अलौकिक प्रेम (इश्क हकीकी) जैसा अपनाया जा सकता था। कहते हैं कि सूफीमत का प्रचार भारत में, इस देश पर मुसलमानों के सर्वप्रथम आक्रमण (सन् ७१२ ई०) के पहले से ही होने लगा था। परन्तु इसका सुव्यवस्थित रूप हमें वास्तव में, अल् हुज्विरी (मृत्यु १०७३ ई०) की प्रसिद्ध रचना 'कश्फुल महजूब' (निरावृत रहस्य) के प्रकाश में आ जाने पर दीख पड़ा तथा जब से सूफी कवियों ने प्रेम-गाथाओं का निर्माण आरम्भ किया, वह और भी स्पष्ट हो गया। हिन्दी की ऐसी उपलब्ध रचनाओं में सर्वप्रथम नाम मुल्ला दाऊद की 'चंदायन' का आता है। इसका निर्माण संभवत सन् १३७९ ई० अथवा कदाचित् संतकबीर के जीवनकाल में ही हुआ था। परन्तु इसकी प्रति के अभी तक अधूरी ही मिल पाने के कारण इसके रचयिता की सारी मान्यताओं का हमें वैसा कोई विवरण नहीं मिलता। ऐसी बातों का अधिक स्पष्टीकरण, उनके परवर्ती शेखकुतबन की 'मृगावती' और विशेषकर मलिक मुहम्मद जायसी की 'पद्मावत' में पहले पहल पाया जाता है। वहाँ पर परमात्मतत्त्व का वर्णन तथा उसकी उपलब्धि के संकेत प्राय उन्हीं रूपों में दीख पड़ने लगते हैं जिनके उदाहरण संत कवियों की रचनाओं में भी आ गये रहा करते हैं। इन प्रेमगाथाओं की परम्परा का आरम्भ सर्वप्रथम उत्तरी भारत की प्रचलित बोली अवधी में होता दीख पड़ता है। किन्तु इनसे

---

[२०] 'कबीर-ग्रंथावली' (काशी), पद १८०, पृष्ठ १४९।

[२१] वही, रमैणी, ३, पृष्ठ २३०।

[२२] वही, रमैणी, ६, पृष्ठ २४१।

मिलते-जुलते अनेक वैसे प्रेमाख्यानो का प्रचार, क्रमश. सुदूर दक्षिण की दक्खिनी हिन्दी, पश्चिम की पजाबी एवं पूर्व की बगला जैसी भाषाओ के भी क्षेत्रो मे होने लग जाता है। ये अन्त मे, निर्गुण काव्य साहित्य के अन्तर्गत, अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान तक ग्रहण कर लेती है।

परन्तु इन दिनोंवाले सूफी कवियो की सारी रचनाएँ हमे केवल प्रेम-गाथाओ के ही रूपो मे नही मिला करती। उदाहरण के लिए जिस प्रकार पजाब के वारिसशाह जैसे कुछ लोगो ने इधर अपना विशेष ध्यान देकर अच्छी ख्याति प्राप्त कर ली, उसी प्रकार वहाँ के सुल्तान बाहू (सन् १६३०-९१ ई०), शाह बर्कतुल्ला (सन् १६६०-१७२९ ई०) तथा बुल्ले शाह (सन् १६७०-१७५३ ई०) जैसे अन्य सूफियों ने अधिकतर फुटकर पद्यो की रचना को ही अपनी अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त समझा। सिंध के शाह सचल (सन् १७३९-१८२९ ई०) एव शाह लतीफ (सन् १७४०-१८२० ई०) तथा राजस्थान के दीनदरवेश (मृत्यु लगभग सन् १८३३ ई०) ने भी केवल इसी रचना-पद्धति को अपनाया। इधर पूर्व की ओर बगाल प्रान्त के अन्तर्गत बाउल साधकों का भी आविर्भाव हो चुका था। इन्होने ईसा की १७वी तथा १८वी शती मे, अपने अनेक भावपूर्ण गीत रच डाले जो उनके प्रेमोन्माद भरे जीवन के सजीव चित्रण सिद्ध हुए। इन बाउलो ने अपने प्रियतम परमात्मतत्त्व को अंतःस्थित 'मनेर मानुष' जैसा विचित्र नाम दिया तथा जीवन के परमोद्देश्य को उसकी आत्यतिक उपलब्धि और अपनी प्रत्येक चेष्टा को, उसके अनवरत अन्वेषण के लिए पूर्णत. अर्पित बतलाया। इनके वैसे निश्छल उद्गार, इनके स्वच्छन्द जीवन तथा इनकी अनुपम भावुकता ने एक साथ मिलकर निर्गुणतत्त्व को एक ऐसा मूर्त मानवत्व प्रदान कर दिया जो किसी साधारण सूफी दृष्टिकोण के अनुसार कभी संभव नही समझा जा सकता था, न इसी कारण, जिसका परिचय दिलाने के लिए किसी प्रेम-कहानी के माध्यम की कोई आवश्यकता ही पड़ सकती थी।

निर्गुण काव्य-साधना पर विचार करते समय बगाल के दक्षिण मे स्थित उत्कल प्रान्त के 'पचसखा' कहे जाने वाले उन भक्त कवियो की भी चर्चा कर लेना अप्रासगिक नही कहला सकता। इनकी उडिया रचनाएँ प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध है तथा इनके अध्ययन द्वारा हमारे समक्ष इसके एक विशिष्ट रूप का चित्र भी उपस्थित हो जाता है। ये 'पचसखा' भक्त कवि ईसा की सोलहवी शती मे हुए थे जबतक इनके प्रान्त में बौद्ध धर्म का बहुत प्रभाव पड़ चुका था। तदनुसार वहाँ पर ऐसे कुछ सप्रदाय भी प्रचलित हो चुके थे जो उसकी जैसी विचारधाराओ के समर्थक समझे जा सकते थे। बलराम दास (जन्म सन् १४७२ ई०), जगन्नाथदास (जन्म सन् १४९० ई०) आदि इन पाँचों वैष्णव भक्तों की रचनाओं पर पडे हुए इस प्रकार के प्रभावों का परिणाम इनके द्वारा स्वीकृत अपने इष्टदेव के विशिष्ट निर्गुण रूप मे दीख पड़ता है। बलरामदास ने अपनी 'विराट् गीता' में कहा है, "तेरा न रूप है, न रेखा है। तू शून्य पुरुष, सदेह शून्य है तथा यद्यपि तू देहधारी है फिर भी मैं तुझे रिक्त ही मानता हूँ"[२३] आदि। इसी प्रकार अच्युतानन्ददास ने भी अपनी 'शून्य संहिता' के अन्तर्गत हमें बतलाया है "परमात्मतत्त्व को महाशून्य जानो। वही वस्तुत अरूपानन्द नामतत्त्व भी है। वही राधा-प्रेम के रूप मे उद्भव-सग्रहादि किया करता है।"[२४] इसके सिवाय, इन कवियो की उपलब्ध पक्तियों में हमें इनकी साधना का जो कुछ परिचय मिलता है उससे भी पता चलता है कि इनकी

[२३] **नर्मदेश्वर चतुर्वेदी : 'भक्तिमार्गी बौद्ध धर्म', (इलाहाबाद), पृष्ठ ६९।**

[२४] **वही, पृष्ठ ७८।**

भक्ति को भी 'शुद्धाभक्ति' का नाम न देकर उसे 'योगमिश्रा' वा 'रागमिश्रा' कहना ही अधिक ठीक होगा। उत्कल प्रान्त के और भी दक्षिण वर्तमान आंध्रप्रदेश के प्रसिद्ध तेलुगु कवि वेमना (संभवत सत्रहवी शती) को तो कभी-कभी उधर का 'कबीर' तक भी कह दिया जाता है। इन दोनो की रचनाओ में अद्भुत साम्य भी बतलाया जाता है। कहते हैं कि ये दोनो निराकार के उपासक थे। दोनों की आध्यात्मिक अनुभूति प्राय एक समान थी। इन दोनो ने ही योगसाधना-सम्बन्धी रहस्यो का वर्णन लगभग एक ही प्रकार से किया है। इन दोनों की रचनाओ मे उलटबासियाँ तक भी पायी जाती हैं। परन्तु इनमे मुख्य अन्तर यही है कि वेमना को हम जहाँ केवल 'शुद्ध ज्ञानमार्गी' कह सकते हैं वहाँ सत कबीर की रचनाओ मे दीख पडने वाले ज्ञान के साथ प्रेमाभक्ति के सुन्दर समन्वय के कारण, हमारा इनके लिए भी वैसा कह देना उपयुक्त नही जान पडता।[२५]

पश्चिम के गुजरात प्रान्त मे भी हमें इसी प्रकार निर्गुण काव्य-साधना का सर्वप्रथम उदाहरण सत हीरादास (सन् १४६४ से १५७६ ई०) तथा उनके कतिपय शिष्य-प्रशिष्यो की उपलब्ध रचनाओ मे मिल जाता है। वहाँ के भक्त अखा (सन् १६१५-७४ ई०) के समय से उधर भी या तो शुष्क ज्ञान की ही बातें कही जाती हुई दीख पडती हैं अथवा 'रविभाण सप्रदाय' जैसे एकाध वैसे वर्गों के अनुयायी अपने-अपने मतो के प्रचार मे निरत रह कर, प्राय इस प्रकार के ही पद्य रचा करते हैं जो उतने उच्च कोटि के नही हो पाते। वास्तव मे, यदि हम निर्गुण-काव्य-साधना वाले उक्त प्रकार के सभी सत वा भक्त कवियो की उपलब्ध रचनाओ पर एक साथ विचार करने लगते हैं तो हमें पता चलता है कि उनमे सभी दृष्टियो से साम्य ढूँढने का प्रयास करना सफल नही हो सकता। ये सभी कवि अपने इष्ट वा आराध्यदेव को वस्तुत अगम तथा अनिर्वचनीय ठहराते जान पडते हैं। ये बहुधा यह भी कहते पाये जाते हैं कि उसे हम अपने भीतर अनुभव कर सकते हैं। परन्तु इनमे से कुछ लोग उसे रामकृष्णादि के जैसे आदर्श सगुण रूपो अथवा उनकी मूर्तियों तक मे देखने का लोभ नही सवरण कर पाते। दूसरे, या तो उसे योग-साधना द्वारा अत ज्योति के रूप मे देखना चाहते हैं अथवा उसका अनुभव 'अनहद' के रूप मे ही करना पसन्द करते हैं। इसी प्रकार इनमे से कुछ की प्रवृत्ति या तो उसे सर्वत्र व्यापक रूप में दृष्टिगोचर करने की पायी जाती है अथवा उसे अपने प्रियतम के रूप मे ही प्रतिष्ठित करते हुए उसको किसी एक ही सौन्दर्य की मूर्त्ति मे अपनाने की होती है। तदनुसार ये क्रमश भक्ति, योग, ज्ञान एव प्रेमवाली उपयुक्त साधनाओ को महत्त्व देते भी जान पडते हैं। हमें इनकी बानियो द्वारा इतना और भी सकेत मिलता है कि उनकी रचना का उद्देश्य कभी किसी 'कविकर्म' का निर्वाह नही हो सकता, प्रत्युत उसका सम्बन्ध इनके उन स्वानुभूतिपरक भावो की सहज अभिव्यक्ति के ही साथ हो सकता है जो इनके जीवन-दर्शन के परिचायक अथवा इनके स्वय समग्र जीवन के आधारस्वरूप हैं। ये इसी कारण बहुधा गेय गीतो अथवा बिखरे मुक्तको के रूप में पायी जाती हैं। यदि कभी कोई ऐसा कवि अपनी बातें, किसी प्रबन्धात्मक शैली के माध्यम से करना चाहता है तो वहाँ पर भी उसे बार-बार इनके वैसे रूपो से ही सहायता लेनी पडती है।

---

[२५] वाराणसि राममूर्ति 'रेणु' : 'आदान-प्रदान' (प्रयाग), पृष्ठ १०२-३।

वृन्दावन की कुछ भूमिकाएँ

करुणापति त्रिपाठी

विषय-दृष्टि

'वृन्दावन'—कृष्णभक्त वैष्णवों और वैष्णव कृष्णोपासको के यहाँ सर्वाधिक महिमाशाली ही नही, मधुरिमाशाली भी है। वैष्णवपुराणो, पाञ्चरात्र और सात्वत सहिताओ, सबद्ध तत्र ग्रन्थो, कृष्णभक्ति स्तोत्रो, वैष्णव उपनिषदो और परवर्त्ती वैष्णव भक्तोपासको के वाङमय मे वृन्दावन से सबद्ध प्रचुर साहित्य उपलब्ध है। कृष्ण-भक्ति-साहित्य मे इसका जितना विस्तार है—वह हमारी कल्पना के सामने आ पाना भी सामान्यत: दुष्कर है। इसके साथ-साथ साहित्य (काव्य-नाटक-चम्पू), गीतिकाव्यो, साप्रदायिक वाणियो, स्तोत्रो तथा उत्तर-दक्षिण की समस्त आधुनिक भाषा के वाङमय मे इसका असीम विस्तार लक्षित होता है।

यहाँ केवल वर्ण्य विषय का थोडा-सा दिग्दर्शनमात्र कराया गया है जिसमे कुछ संस्कृत ग्रन्थो एव हिन्दी की पुस्तकों का आधार लेकर सरसरी तौर पर कुछ मान्यताओं के अनुसार वृन्दावन की धारणा के कुछ सोपानो की एक सामान्य रूपरेखा आ जाती है। इस लेख मे सैकडो ग्रन्थों की चर्चा छोड दी गई है। प्रवृत्तिपरक मान्यता की भावना का सूचन करनेवाले थोडे से ही ग्रन्थो की दृष्टि उपस्थित की गई है। अपनी योग्यता के अनुसार लेखक ने यहाँ यह ध्यान रखने का प्रयास किया है कि मुख्य धारणाओ का कुछ आभास मिल जाय। इसी कारण 'वृन्दावन' की मधुरतम लीला का गान करने-वाले 'गीतगोविन्द' की दृष्टि, उसकी मान्यता और उसके मधुरतम पद्यों के वृन्दावनीय मधुरलीला-परक गीतो को छोड दिया गया है। अत सर्वतोभावेन विषय की पूर्णता ढूँढना यहाँ अनपेक्षित होगा। वर्ण्यविषय की एक सामान्य रूपरेखा ही नीचे की पक्तियो में अकित हो पाई है। कदाचित् विशाल ग्रन्थ के द्वारा ही उक्त विषय के सूक्ष्म भेदो का विवरणात्मक चित्र उपस्थित हो सकता है। यहाँ एक क्रमिक दृष्टि का आभास अवश्य ही मिल जा सकता है।

एक बात की ओर और ध्यान आकृष्ट करना यहाँ आवश्यक है। जो विषय प्रस्तुत किया गया है वह केवल इस प्रेरणा से कि आगे इस पर विशिष्ट अनुसधान कार्य हो सकता है। तुलनात्मक तारतम्य की दृष्टि से अनुशीलन के लिए इस सन्दर्भ की प्रचुर सामग्री बिखरी पडी है। दूसरी यह बात भी विस्मृत नही करनी चाहिए कि प्रस्तुत विषय के आधारस्रोतवाले ग्रन्थो का निर्माणकाल अत्यन्त विवादास्पद है। तीसरी-चौथी शती ईसवीय से लेकर १५वी १६वी शताब्दी अथवा उसके बाद तक भी संस्कृत के माध्यम से ग्रन्थ-रचना होती चली आई, जिनमे से अनेक को बहुत प्राचीन रूप देने का भी प्रयास होता रहा। अत प्रस्तुत निबन्ध का वर्णनीय विषय स्रोतग्रन्थो के रचना-काल-क्रमानुसार न होकर सजातीय मान्यता या वाङमय की दृष्टि से उपस्थित किया गया है।

पौराणिक सोपान

वैसे तो अनेक पुराणो मे वृन्दावन का नामोल्लेख मिलता है तथापि वैष्णव तथा कुछ अन्य पुराणों में इस प्रकरण का विस्तार के साथ वर्णन उपलब्ध है। पुराणो का रचनाकाल स्वत. एक अत्यन्त विवाद का विषय है। फिर भी सामान्यत ऐसा माना जाता है कि अष्टादश पुराणो, उपपुराणो आदि मे कुछ तो प्राचीन है और कुछ अपेक्षाकृत अर्वाचीन है। जो प्राचीन है उनके अधिकाश वर्तमान

रूप की रचना भी प्राय. गुप्तकाल मे हुई है। पुराणो के मूलरूप का निर्माण निश्चय ही गुप्तकाल से काफी प्रलतर है। 'अलबेरूनी' के "किताबुल हिन्द" मे काशी के पण्डितो को प्रमाणकोटि मे रखकर जो पुराण-सूची दी गई है उससे जान पडता है कि १०२७ तक १८ पुराणो और उपपुराणो का कोई-न-कोई रूप अवश्य निर्मित हो चुका था। उनके अर्वाचीनतम रूप का रचना काल सोलहवी-सत्रहवी शती तक बताने वाले अनुशीलको के सबलतम तर्क भी सामने आते है। अनेक मतमतातरो के होते हुए भी 'विष्णु', 'मत्स्य', 'भागवत', और किसी-किसी के मत से 'ब्रह्म', 'मार्कण्डेय' एव 'मत्स्य' तथा कुछ विद्वानो की दृष्टि मे 'वायु' आदि अपेक्षाकृत प्राचीनतर है। गुप्तो के शासनकाल की समाप्ति के प्राय पूर्व ही उनके अधिकाश का निर्माण हो चुका था। 'भागवत' भी निश्चय ही प्राचीन पुराण है। भागवतो-वैष्णवो के लीलापुरुष श्रीकृष्ण की केलिचर्या मे 'श्रीराधा' के नामागमन से पूर्व उसकी रचना हो चुकी थी। अतः श्रीमद्भागवत-सम्बन्धी 'वृन्दावन'—वर्णन की कुछ चर्चा यहाँ अनावश्यक न होगी। इस सूची के भागवत को कुछ लोग 'देवीभागवत' भी मानते है।

श्रीमद्भागवत

इस पुराण (१०।११) मे वृन्दावन की पहले प्रस्तावना मिलती है। ज्ञान और वय मे वृद्ध उपनद नामक गोप ने 'गोपमडली के बीच कहा था "ब्रज मे अब दैत्यो और राक्षसो के भीषण उत्पात बढते जा रहे है, अनेक भयकर दुर्घटनाओ से कृष्ण-बलराम अब तक तो बचते आ रहे है पर आगे जाने क्या हो! अत. किसी भीषण विपत्ति के आने के पहले ही हमे अपने बाल-बच्चो को लेकर अनुगामियो के साथ 'वृन्दावन' नामक समीपस्थ विपिन मे चले जाना चाहिए। वह स्थली, पशुओ-ढेरो के लिए बडी ही उपयुक्त है और गोप, गोपी एव गायों के लिए सेवनीय है"—

"वन वृन्दावन नाम पशव्यं नवकाननम्।
गोपगोपीगवा सेव्य पुण्याद्रितृणवीरुधम्।।" (१०।११।२८)।

गाय-बछडों को लेकर रथो पर सवार हो गोकुल से वे वहाँ चल पडे। बालक, वृद्ध, नर, नारी आदि सभी साज-समान को छकडो पर लादे और आनन्द मनाते चले जा रहे थे। सुन्दर वस्त्रा-भूषणों और प्रसाधनरचनाओं से बनी-ठनी रथारूढ़ गोपियाँ—बडे प्रेम के साथ कृष्णलीला का गान कर रही थी। इसी तरह की यात्रा करते हुए समस्त गोकुलवासी आनन्द-विनोद वृन्दावन जा पहुँचे। वह स्थान सर्वकाल में सुखावह था (वृन्दावन सम्प्रविश्य सर्वकालसुखावहम्)। वृन्दावन, गोवर्धन और यमुना के पुलिनो को देखते हुए राम और कृष्ण के हृदय मे उत्तम प्रीति उत्पन्न हुई।

श्रीमद्भागवत की कृष्णकथा म यही से 'वृन्दावन' का मुख्य प्रवेश होता है। भगवान् श्रीकृष्ण की बाललीला का प्रसग—इसी स्थान से अधिकत सबद्ध है। बाललीला के अन्तर्गत यहाँ कुमारलीला, पौगंडलीला तथा किशोरलीला—सबका अतर्भाव समझना चाहिए।

श्रीराम और श्रीकृष्ण—दोनो ही गोपबालको के साथ तरह-तरह के क्रीडा-परिच्छदो को लेकर घर से प्रातः चल पडते और नाना प्रकार के खिलवाड करते रहते थे। कही बाँसुरी की मीठी तान छेडते, कही गुलेल या ढेलवाँस से ढेला फेकते, कही पावो मे घुघरू धारण कर नाचते-गाते और कही बनावटी गाय, बैल बनकर खिलवाड करते।

'वृन्दावन' वस्तुतः भगवान् की पौगंडलीला का प्रिय सहचर है।[१] मुख्य रूप से वहाँ गोचारण-

---

[१] **ततश्च पौगण्डवयःश्रितौ ब्रजे बभूवतुस्तौ पशुपालसंमतौ।
गाश्चारयन्तौ सखिभिः समं पदैर्वृन्दावनं पुण्यमतीव चक्रतुः ।।१०।१५।१।**

लीला और बालक्रीडाओ का वर्णन किया गया है।[२] गोपबालको, सखाओ और बलराम के साथ इस खेलकूद के प्रसंग मे बाल-प्रकृति के लिए ऐसी स्वाभाविक और सहज क्रीडाओ के वर्णन हैं जो अपने यथार्थचित्रण से मन मोह लते हैं।[३] उनमे मुरलीवादन का एक प्रमुख स्थान है।

मायामय की गोपात्मजचरित्रतुल्य बालक्रीडाएँ उस रम्य और पुण्य भूमि मे चल रही थी (एव निगूढात्मगति स्वमायया गोपात्मजत्व चरितैर्बिडम्बयन्। रेमे रमालालितपादपल्लवो ग्राम्यैः सम ग्राम्यवदीशचेष्टित.। १०।१५।१६)। कुमार और पौगड वय की इन्ही लीलाओ के क्रम मे वत्सासुर, बकासुर, अघासुर का वध, ब्रह्मामोह का नाश, धेनुकासुरवध, कालियदमन, प्रलबासुरवध, दवाग्नि से ब्रजवासियो का रक्षण आदि अलौकिक और अद्भुत लीलाएँ भी चलती रही। वृन्दावन मे जब भगवान् क्रीडा कर रहे थे तो वहाँ ग्रीष्मऋतु मे भी वसत की ही अद्भुत सुषमा छाई हुई थी।[४]

---

[२] तन्माधवो वेणुमुदीरयन् वृतो गोपैर्गृणद्भिः स्वबलो यशान्वितः।
पशून् पुरस्कृत्य पशव्यमाविशद् विहर्त्तुकामः कुसुमाकरं वनम् ।।१०।१५।२

[३] इस वन की वासंती शोभा भी अत्यन्त रमणीय है—
तन्मञ्जुघोषालिमृगद्विजाकुलं महन्मनः प्रख्यपयः सरस्वता।
वातेन जुष्टं शतपत्रगन्धिना निरीक्ष्य रन्तुं भगवान् मनो दधे ।।१०।१५।३

इस परम रम्य विपिन का वर्णन करते हुए आगे भगवान् ने स्वयं कहा है, 'तमोपहत्यै तरुजन्म यत्कृतम्, अर्थात् अपने हृदय के अज्ञानांधकार का विनाश करने के लिए वृन्दावन में भक्तों, ज्ञानियो और मुनियों ने तरु-वल्लरी आदि के रूप में जन्म लिया है। और साथ ही इनकी महिमा यह भी है कि जो श्रद्धावान् भक्त मदनमोहन के मधुरलीला-द्रष्टा—इन वृन्दावनीय स्थावरजंगमों का आस्थापूर्ण नयनों से दर्शन करता है उसकी हृदयग्रन्थि खुल जाती है, समस्त संशय नष्ट हो जाते हैं और मोह का गाढ़ान्धकार दूर भाग जाता है।

बाललीलारत गूढ़ पुरुष के दर्शन, भजन और गुणकीर्त्तन करने के चरमाभिलाष से मुनिगण वृन्दावनीय अलियों के रूप में उपस्थित रहते हैं (१०।१६।६)। भौंरे ही नहीं, वहाँ के तृणवीरुध, पशु-पक्षी, कीट-पतंग—सभी सौभाग्यशाली, पुण्यवान् महात्मा हैं जो भगवान् के लीलादर्शनार्थ विविध-रूपों में वहाँ वर्त्तमान रहते हैं। इन्हीं सब कारणों से वह वनधरणी धन्य है, वहाँ के तृणवीरुध, लताद्रुम, भ्रमर-मयूर, हरिण-हरिणी और नदी-पर्वत सब धन्य हैं—

धन्येयमद्य धरणी तृणवीरुधस्त्वत्पादस्पृशो द्रुमलताः करजाभिमृष्टाः।
नद्योऽद्रयः खगमृगाः सदयावलोकैर्गोप्योऽन्तरेण भुजयोरपि यत्स्पृहा श्रीः ।।
स च वृन्दावनगुणैर्वसन्त इव लक्षितः। यत्रास्ते भगवान् साक्षाद्रामेण सह केशवः ।।
यत्र निर्झरनिर्ह्रादनिवृत्तस्वनझिल्लिकम्। शश्वत्तच्छीकरर्जीषद्रुममण्डलमण्डितम् ।।
सरित्सरःप्रस्रविणोर्मिवायुना कह्लारकञ्जोत्पलरेणुहारिणा।
न विद्यते यत्र वनौकसां दवो निदाघवह्न्यर्कभवोथऽशाद्वले ।।
वनं कुसुमितं श्रीमन्नदच्चित्रमृगद्विजम्। गायन्मयूरभ्रमरं कूजत्कोकिलसारसम् ।।
क्रीडिष्यमाणस्तत्कृष्णो भगवान् बलसंयुतः। वेणु विरणयन् गोपैर्गोधनैः संवृतोऽविशत् ।।
(१०।१८)

गोप-गोपियो का दावानल से रक्षा-वर्णन करने के अनन्तर श्रीमद्भागवत (दशम-स्कन्ध) के बीसवें अध्याय मे वर्षा और शरद्-वर्णन आता है। मुख्यत शरद्-वर्णन के द्वारा मदनमोहन, गोपीजनवल्लभ की मधुरलीलाओ का वृन्दावन मे प्रवेश दिखाई देता है। शरदृऋतु मे भगवान् ने गायो को चराते हुए मुरली की जो मधुर तान छेडी, जो वेणुगीत गाया उससे व्रजागनाओ मे स्मरोदय हुआ—

कुसुमितवनराजिशुष्मिभृङ्गद्विजकुलघुष्टसर सरिन्महीध्रम् ।
मधुपतिरवगाह्य चारयन्गा सहपशुपालबलश्चुकूज वेणुम् ॥
तद्व्रजस्त्रिय आश्रित्य वेणुगीत स्मरोदयम् । . . ..
तद्वर्णयितुमारब्धा. स्मरन्त्य कृष्णचेष्टितम् ।
नाशकन् स्मरवेगेन विक्षिप्तमनसो नृप ॥

इस भाँति जब व्रजनारियो मे मनोविक्षिप्तकारी प्रबल स्मरवेग का उदय हुआ तब भगवान् नटवर बाँसुरी बजाते हुए अपने रमणधाम वृन्दावन मे प्रविष्ट हुए—

वर्हापीड नटवरवपु कर्णयो कर्णिकार बिभ्रद्वास. कनककपिश वैजयन्ती च मालाम् ।
रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन्गोपवृन्दैर्वृन्दारण्य स्वपदरमण प्राविशद् गीतकीर्ति ॥

वेणुगीत का यह वृन्दावनप्रसग भगवान् की मधुरलीलाओ के परिवेश मे अनेक महत्त्वपूर्ण सकेत इंगित करता है। (१) गोपियो और व्रजरमणियो के हृदय मे स्मरोदय हुआ। गोपीरमण नन्द-नन्दन की मधुर चेष्टाओ का स्मरण और वर्णन करती हुई गोपियो का यह स्मृतिमय स्मरभाव, मन को असहनीय विकलता की उस भूमिका तक पहुँचा देनेवाला है जहाँ मन विक्षिप्त हो जाता है, कुलकानि, लोकलज्जा और समाजमर्यादा के समस्त बन्धन दुर्वल होकर अपने आप टूट जाते हैं। (२) गोपीवल्लभ कन्हैया का रूपचित्र यहाँ नटवरवेष मे अकित है, पीताम्बर पहने, वैजयन्तीमाला धारण किए हुए, कानो पर कर्णिकार के पुष्प लगाये और मोरपख का मुकुट सजाये हुए रासवेषवाले नटनागर बाँसुरी के रन्ध्रो मे स्वरसुधा भर रहे थे। उस स्वरसुधा के रूप मे गोपीकान्त के अधरामृत की मानो वर्षा हो रही थी। (मधुरलीलाओं के लिए कृष्णभक्तो में वर्णित नटवरलाल का जो छबीला छैलवेष है उसका मुख्यावतार यहाँ से होता है।)[५] (३) 'स्वपदरमणम्' का स्वारस्य मुख्यत यह है कि यह वृन्दावन वस्तुत. वैकुण्ठलोक या विष्णुलोक से भी रम्यतर है। परन्तु ध्वनित सकेत और भी है। 'पदरमणम्' वस्तुत. 'रमणपदम्' अर्थात् रमणस्थान है। आशय यह है कि यही वह स्थल है जो गोपिकाओ—व्रजागनाओ के साथ नटनागर की मधुरतम रमणकेलियो की रम्यस्थली है। वृन्दावन तत्वत: भगवान् की रमणभूमि है। यह रमणभूमि वृन्दावन के अतर्गत वे कुञ्जगृह हैं जहाँ गोपीरमण के मधुरविहार और रमणलीलाएँ हुआ करती थी। (४) एक साधारण-सी और बात है जिसकी ओर भी ध्यान रखा जा सकता है। 'मधुपति' शब्द का (१०।२१।१ में) यहाँ कन्हैया के लिए प्रयोग हुआ है। अभी मधुपुरी की यात्रा न होने पर भी कृष्ण के इस नाम का यहाँ प्रयोग उन समस्त मधुरिमाओ का सकेत करता है जो श्रीकृष्ण का आधार लेकर उनमे प्रतिष्ठित थी—उनके वेष, लीला, धाम, रूप और चेष्टा—वे सर्वत्र ओतप्रोत थी। फिर भी जैसा कि प्रसिद्ध है—भागवत मे श्रीराधा का नाम नही आता। अत. आगे चलकर राधामाधव की कुञ्जवाटिका या विहारकुञ्ज के आश्रय रूप मे वृन्दावनमहिमा का जो अत्यधिक और सरस वर्णन अन्यत्र है उसका यहाँ विस्तार नही मिलता। उस विशेष गोपी के प्रसग को लेकर भी नही—जिसे अगृहीतनाम्नी श्रीराधा कहा जाता है।

---

[५] (१०।२१।२ –६)

इस अध्याय (१०।२१) मे गोपियो द्वारा वेणुरव के वर्णनप्रसग मे सर्वप्रथम श्रीकृष्ण की मधुरभावमयी उपासनासरणि का चित्र सामने आता है। यहाँ मधुरभाव की प्रेम-शक्ति के अत्यन्त व्यापक एव त्रैलोक्यप्रसारी प्रभाव का वर्णन हुआ है। इसकी सीमा मे वृन्दावन के स्थावर-जगम सभी आ जाते हैं। आगे चलकर चीरहरण का प्रसग भी इसी परिधि का सन्दर्भ है। उस लीला के भौतिक और आध्यात्मिक अनेक प्रकार के अभिव्यग्यार्थ बताये गये हैं। यक्षपत्नियो पर अनुग्रह और गोवर्धनधारण प्रसंग के पश्चात् दशम स्कन्ध के २९वे अध्याय से मधुपति की मधुरतम माधुर्यलीला का वर्णन आता है। शरत्पूर्णिमा के रास के साङ्गोपाग स्वरूप का भागवतकार ने बड़ा ही सश्लिष्ट चित्र अकित किया है। 'वनं च तत्कोमलगोऽभिरञ्जितम्' के द्वारा बताया गया है कि चन्द्र की कोमल किरणो से उस शरद् की राकारजनी मे वन अर्थात् 'वृन्दावन' ज्योत्स्ना-श्वेत विभा से अभिरजित हो गया था। कृष्ण और गोपियो के सवाद के अनतर भगवान् कृष्ण गोपियो के साथ यमुनापुलिन मे विचरण और विहार तथा कामकेलि करते रहे।[६] इन सब रम्यकेलियो की भूमि श्रीमद्भागवत मे भी श्री वृन्दावन ही थी। वही वृन्दावन साक्षी है गोपियो और कृष्ण के मधुमय मिलनकेलियो का और विरहगान एव गोपीगीत के करुणक्रन्दन का। वही श्यामसुन्दर और ब्रजसुन्दरियो का विरहानतर मिलन हुआ। यह सब वर्णन 'रास पचाध्यायी' मे अर्थात् श्रीमद्भागवत (दशमस्कन्ध) के २९वे अध्याय से ३३ अध्याय तक है। ये पाँच अध्याय श्रीमद्भागवत के प्राण माने जाते हैं। परिसमाप्ति का अतिम अध्याय 'महारास' का है। इसका रम्यतम स्थल भी वृन्दावन मे यमुना का पुलिन है।

साराश रूप से कहा जा सकता है कि श्रीमद्भागवत का वृन्दावन नन्दनदन मुरलीधर की बाल-पौगड-किशोर-लीलाओ की रम्य रसा है। वहाँ मधुपति की वात्सल्य-मधुर-रसमयी लीलाओ की अजस्र शैवलिनी बहती रही है। पर इन सबके बीच लीलापति के चरित का परिवेश केवल मधुमयी उज्ज्वलश्रृगारी लीलाओ की रसधारा को ही प्रवाहित करनेवाला नही, वरन् ब्रजजन के आलौकिक कर्त्तव्य की गरिमा और भक्तरक्षक तथा लोकगोप्ता की महिमा से सर्वत उर्जस्वित् है। यही स्थिति हरिवश के वर्णन की भी है। भगवान् श्रीकृष्ण के जिस मधुररूप का विस्तार महाभारत की कृष्ण-प्रतिमा मे प्रकाशित न हो पाया था उसे तत्परिशिष्टभूत खिलभागाश हरिवश के विष्णुपर्व मे सक्षिप्त-रूप से प्रस्तुत कर दिया है। वहाँ यद्यपि विस्तार नही है तथापि भागवत मे अकित रूप का सकेत वहाँ मिलता है।[७] इसे वहाँ 'नदनोपमकानन' (६।३१) कहा गया है। वही आगे चलकर भगवान् की रासलीला का सक्षिप्त वर्णन भी है।[८] कहने का साराश यह कि भागवत की समग्र लीलाकथा यहाँ सक्षेप मे वर्णित है, बाललीला भी और कैशोर्य की मधुरलीला भी।

---

[६] उपगीयमान उद्गायन् वनिताशतयूथपः। मालां बिभ्रद्वैजयन्ती व्यचरन्मण्डयन् वनम् ॥
नद्याः पुलिनमाविश्य गोपीभिर्हिमबालुकम्। रेमे तत्तरलानन्दकुमुदामोदवायुना ॥
बाहुप्रसारपरिरम्भकरालकोरुनीवीस्तनालभननर्मनखाग्रपातैः।
क्ष्वेल्यावलोकहसितैर्ब्रजसुन्दरीणामुत्तम्भयन् रतिपतिं रमयाञ्चकार ॥ (१०।३०।४४–४६)

[७] श्रूयतेऽहि वनं रम्यं पर्याप्ततृणसंस्तरम्। नाम्ना वृन्दावनं नाम स्वादुवृक्षफलोदकम्।
अझिल्लिकण्टकवनं सर्वैर्वनगुणैर्युतम्। कदम्बपादपप्रायं यमुनातीरसंश्रितम्।
(हरिवंश विष्णुपर्व–८।२२-२३)

[८] तास्तं पयोधरोत्तुङ्गैरुरोभिः समपीडयन्। भ्रामिताक्षैश्च वदनैर्निरीक्षन्ते वराङ्गनाः ॥१०।२३।
ता वार्यमाणाः पतिभिर्भ्रातृभिर्मातृभिस्तथा। कृष्णं गोपाङ्गना रात्रौ मृगयन्ते रतिप्रियाः ।१०।२४।

इस सन्दर्भ मे यह भी ध्यान रखने की बात है कि श्रीमद्भागवत के समान ही हरिवंश मे वृन्दावनवर्णन मे मधुररसाश्रित प्रसगविस्तार कम है और तदितर लीला-विस्तार अधिक। श्रीमद्भागवत के समान ही राधानाम का और तत्सदर्भित वृषभानुकुमारी तथा नन्दकुमार की प्रेमलीलाओ से संपृक्त वृन्दावनचित्रों का अकन यहाँ नही मिलता। इसे श्रीमद्भागवत से पूर्ववर्त्ती काल की रचना अनेक विद्वान् मानते हैं।

विष्णुपुराण और ब्रह्मपुराण—इनमे भी श्रीकृष्णलीला का वर्णन सक्षिप्ततर है जो श्रीमद्भागवत की ही शृखला का है। वहाँ भी 'वृन्दावन' का उल्लेख है तथा सक्षेप मे मधुरलीलाओ की चर्चा है। भागवत के समान इन वर्णनो मे श्रीकृष्ण की बाललीला और गोपियो के साथ कैशोरलीला का ही सक्षिप्त अथवा सक्षिप्ततर उल्लेख मिलता है। उसी सन्दर्भ मे वृन्दावन की चर्चा हुई है।[९] राधा-सपृक्त लीलाओ की यहाँ उल्लेख नही है। (शायद किसी संस्करण के प्रक्षिप्तांश मे राधा की प्रेम-लीला का निर्देश भले ही हो गया हो।) इनकी रचना भी श्रीमद्भागवत से पूर्व की कही जाती है।

'ब्रह्मवैवर्त्तपुराण' का 'वृन्दावन-सन्दर्भ' अपना विशेष महत्त्व रखता है। कथा-दृष्टि से तो पुराण में 'वृन्दावन' का प्रवेश प्राय. उसी रूप मे है जिसमे 'श्रीमद्भागवत' का है। परन्तु वहाँ कुछ विशेषताएँ दिखाई देती है—

(१) 'वृन्दावन' क्यो नाम पडा है—इसके कारण बताये गये है।

इस प्रसङ्ग मे अनेक विकल्प है —(क) सप्तद्वीपपति केदारनृपति की एक 'वृन्दा' नाम की कन्या थी। वह गृहस्थ और गृहिणीधर्म से विरक्त और तपस्विनी थी। योग-शास्त्र मे भी विशारद थी। दुर्वासा मुनि से श्रीहरि का परम दुर्लभ मत्र पाकर वह (ससार से विरक्त हो) घर छोड़कर वन में तपस्या करने चली गई। उसकी तपश्चर्या से प्रसन्न होकर श्रीकृष्ण प्रकट हुए और वृन्दा से वर माँगने को कहा। श्रीकृष्ण के परम कमनीय कलेवर को देखकर कामबाण मूर्च्छित 'वृन्दा' ने याचना की—"आप ही मेरे पतिरमणकर्त्ता होवे।" श्रीकृष्ण ने वैसा ही किया। श्रीकृष्ण के साथ वह गोलोक चली गई और राधा के समान गोपीश्रेष्ठा हुई। जहाँ 'वृन्दा' ने तपस्या की थी या रमण किया था—वही स्थली 'वृन्दावन' हुई।

(ख) दूसरा सन्दर्भ एक पौराणिक कथा का सकेत करता है जो कथा-विस्तार के साथ शिवपुराण[१०] और देवी भागवत (९ स्कन्ध, २२–२३ अध्याय) मे है। उसीका सक्षिप्त रूप यहाँ भी है। राजा कुशध्वज की दो कन्याएँ थी—वेदवती (जिसने तप के द्वारा श्रीनारायण को प्राप्त किया—

तास्तु पङक्तीकृताः सर्वा रमयन्ति मनोरमम्। गायन्त्यः कृष्णचरितं द्वन्द्वशो गोपकन्यकाः॥१०।२५।
मुखमस्याब्जसंकाशं तृषिता गोपकन्यकाः। रत्यन्तरगता रात्रौ पिबन्ति रसलालसाः॥१०।३२
तासां ग्रथितसीमन्ता रतिं नीत्वाऽऽकुलीकृताः। चारु विस्रंसिरे केशाः कुचाग्रे गोपयोषिताम्॥१०।३४

'श्रीमद्भागवत' की अपेक्षा 'विष्णुपुराण' को अनेक विद्वान् प्राचीनतर मानते है। सर्वप्रमुख प्रमाणों में उनका एक विशिष्ट तर्क यह है कि 'ब्रह्मसूत्र' के रामानुजीय 'श्रीभाष्य' में श्रीमद्भागवत का उल्लेख और उद्धरण नहीं है। अतः तब तक या तो भागवत विरचित नहीं था अथवा यदि रचित था तो भी उसकी प्रसिद्धि नहीं हो पाई थी। अतः 'श्रीमद्भागवत' का वृन्दावन प्रसंग वस्तुतः 'हरिवंश' और 'विष्णुपुराण' के संबद्ध अंश का उपबृंहणमात्र है।

[१०] शि० पु० चतुर्थ (कुमार), खण्ड, अध्या० १३-४१। यहाँ कथा में 'तुलसी' नाम मुख्य है।

वही जनक की कन्या सीता हुई ।) और तुलसी (जिसका दूसरा नाम 'वृन्दा' था) । 'तुलसी' अथवा 'वृन्दा' ने हरि की कामना से तपस्या की । परन्तु दुर्वासा के शाप से शखचूड उसका पति हुआ । बाद मे उसे परम रम्यवेषधारी (शिवपुराण के अनुसार 'वृन्दा' के पति का रूप धारण करके) श्री हरि ने उसके साथ रमण किया। वृन्दा के शाप से विष्णु भगवान् शिलारूप होकर 'शालग्राम' हुए और श्रीविष्णु के शाप से वही 'वृन्दा' तुलसी रूप से वृक्षरूपा हुई । उसी 'वृन्दा' के तपश्चर्या का स्थान वृन्दावन हुआ ।

(ग) तीसरा भी एक कारण है । श्रीराधा के १६ नामों मे 'वृन्दा' भी उनका एक नाम है । (वृन्दा, वृन्दावनी और वृन्दावनेश्वरी ।) उन श्रीराधा (वृन्दा) की रम्य क्रीड़ास्थली ही 'वृन्दावन' है ।

इन कारणो से एक बात सकेतित है । कदाचित् वृन्दावन कभी तुलसीवन रहा हो ? तुलसीदल श्रीविष्णु और श्रीकृष्ण को श्रीलक्ष्मी या श्रीराधा के ही समान प्रिय है । श्रीलक्ष्मी का भी 'वृन्दा' एक नाम कही मिला है । इस कारण यह 'ब्रह्मवैवर्त्त' प्रसग 'वृन्दावन' के विभिन्न पौराणिक-ऐतिहासिक सूत्रो को उपस्थित करता है और 'तुलसीदल' की महिमा को भी ।

(२) वहाँ (ब्रह्म वैवर्त मे) यह भी कहा गया है कि श्रीकृष्ण ने श्रीराधा की प्रीति के लिए गोलोक मे पहले वृन्दावन का निर्माण किया था । क्रीडा के लिए—लीला-विस्तार के लिए 'भू' पर भी वही वन वृन्दावन लाया और कहा गया ।

(३) इस पुराण मे यह भी कहा गया है कि नन्द, यशोदा, गोप, गोपी आदि ने नन्दगाँव से वृन्दावन पहुँचने पर शाम को श्रीकृष्ण से कहा कि 'यहाँ तो रहने के भवन आदि नही है । कैसे रहा जायगा । तब श्रीकृष्ण ने कहा—"उस स्थान पर तो अनेकानेक देवनिर्मित भवन प्रासाद है । परन्तु देवप्रीति के बिना दिखाई नही पड़ेंगे ।" उन्होने आगे कहा "गोपगण रातभर समुचित स्थानो पर रहे । वन देवताओ की पूजा की जाय तो दूसरे दिन-प्रात. रम्य भवन दिखाई देगे ।" तदनन्तर वटमूलस्थ चण्डिकादेवी की विधिवत् पूजा की गई ।

रात मे सबके सो जाने पर करोड़ो शिल्पियों के साथ विश्वकर्मा आये और रत्नमणिमाणिक्यादि-युक्त कुबेर-किंकर यक्षगण भी पहुँचे । रात-ही-रात वहाँ सबके लिए मणिरत्नो के भवन—जिनपर सबके नाम लिखे थे—यथायोग्य बनाये गये । रात भर मे ही गोलोकपुरी के समान विभूतियो आदि से सपन्न वहाँ एक नगरी बन गई । वह पुरी पचयोजनविस्तीर्ण थी, अद्भुत और अलौकिक थी । उसमे विचित्र एव दिव्य तरुवल्लरियो और कुसुमफलो से सुरभित रासस्थल भी बना था । 'वृन्दावन' के सुनिर्जन स्थानो मे जगह-जगह श्रीराधामाधव की केलिक्रीडाओ के लिए समुचित कुञ्जस्थलियाँ भी बनी थी । वटमूल के समीप, चम्पकोद्यान के पूर्व मे केतकी वन के मध्य—उन दोनो की क्रीड़ा के निमित्त रत्नमण्डप भी बना था । इसम अद्भुत रतिगृह भी था ।[११]

---

[११] **वटमूलसमीपे च सरसः पश्चिमे तटे । चम्पकोद्यानपूर्वायां केतकीवनमध्यतः ।।**
पुनस्तयोश्च क्रीडार्थं चकार रत्नमण्डपम् ।................
वह्निशुद्धांशुकैर्वस्त्रैर्मालाजालविचित्रितैः । नवशृङ्गारयोग्यैश्च कामवर्द्धनकारिभिः ।।
मालतीचम्पकानां च पुष्पराजिभिरन्वितम् । सकर्पूरैश्च ताम्बूलैः सद्रत्नपात्रसंस्थितैः ।
............। कृत्वा रतिगृहं रम्यं नगरञ्च पुनर्ययौ । (ब्र० वै०, श्रीकृष्णजन्म, अ० १७।१७२-८४)

इसके अनन्तर श्रीकृष्ण की कैशोरलीलाओ का वर्णन और 'चीरहरण' (गोपी वस्त्रापहरण) की एक प्रकार से सक्षिप्त कथा और रासक्रीडा का अनेक अध्यायो (ब्रह्मवै० कृष्णजन्मखण्ड अध्या०—२८, २९, ५३, तथा पुन ६९) मे विस्तृत वर्णन है। इन वर्णनो मे 'भागवत' आदि के वर्णित वृत्त का विस्तार करने के साथ-साथ मधुररतिलीलाओ के भी बडे ही प्रेममग्न चित्र अकित हैं। रतिवर्णन के सन्दर्भ मे बारम्बार यह भी कह गया है की मुख्यत श्रीराधामाधव की यह क्रीडा—कामशास्त्रीय विधि-विधानो के अनुरूप समग्रभाव से हुई है। अधिकाशत इसी विहारक्रीडा की स्थलीरूप से वृन्दावन का इस पुराण मे वर्णन है। अन्य अनेक प्रसगो मे वैष्णवलोको और वृन्दावन के माधुर्य के उल्लेख और वर्णन भी मिलते हैं।

यहाँ का यह वर्णन मधुरोपासको कृष्णभक्तो की मधुरलीलाओ का ही स्वरूप है। निश्चय ही इसका मूल 'विष्णुपुराण' और 'भागवत' का ही है। परन्तु इन पर विस्तृत प्रभाव आगमो, सात्वत और पाञ्चरात्र सहिताओ का पडा है। उसका भी विकसित रूप 'हितसप्रदाय', 'सखीसप्रदाय', 'चैतन्य-सप्रदाय' और उत्तरकालवर्त्ती 'वल्लभसप्रदाय' के वाङ्मय मे अनेक और इतर भूमिकाओ के रूप मे पल्लवित एव फलित हुआ।

पद्मपुराण—इस पुराण मे भी वृन्दावन का वर्णन बड़े विस्तार के साथ आया है। यहाँ दो वर्णन मिलते हैं—(१) उत्तरखण्ड मे और (२) पातालखण्ड मे। उत्तरखण्ड के २२७वे अध्याय से 'उमा-महेश्वर-सवाद' के अन्तर्गत श्री भगवान् के त्रिपाद्विभूतिलोक का बड़े विस्तार से विवरण दिया गया है जिसमे सप्तावरण और चतुर्व्यूह की विस्तृत चर्चा है। इनमे लोक के आवरणो—व्यूहो—का जो स्वरूपवर्णन है उसमे गोलोक या श्वेतद्वीप और वैकुण्ठ के समान ही वृन्दावन मे भी ऐश्वर्य, शक्ति, विभूति और माधुर्य का पर्याप्त प्रसार है। आगे चलकर २४५वे अध्याय मे कृष्णावतारचरित के प्रसग मे वृन्दावनलीला और महारास का भी वर्णन है—पर अत्यन्त सक्षिप्त में। भक्तिरूप मे दास्यभक्ति की चर्चा यहाँ कुछ अधिक मिलती है।

दूसरा सन्दर्भ है 'पातालखण्ड' का। वृन्दावन का यह विवरण बडे विस्तार के साथ और बहुत लम्बा-चौडा है। श्रीकृष्ण की (हरेर्दैनदिनी लीला श्रोतुमिच्छामि तत्वत। पद्मपु० पाताल-खण्ड—अध्याय ८३।१२) दैनदिन लीला के प्रसग मे नारद को शिवजी ने वृन्दादेवी से वृन्दावन की लीला के रहस्य पूछने का उपदेश दिया। नारद के पूछने पर वृन्दा ने वह तत्त्व समझाया। इसके पूर्व ६९वे अध्याय से श्रीकृष्णचरित्र का आरम्भ होता है। इसी प्रसग मे विस्तार से 'वृन्दावन' का विवरण है। इसे सात्वतो का मूर्धन्यस्थान कहा गया है और विष्णु का अत्यन्त प्रिय यह धाम ब्रह्माण्ड से भी ऊपर स्थित बताया गया है।[१२] इस पूर्णब्रह्म के सुख-ऐश्वर्य से परिपूर्ण इस नित्यानन्द अव्यय धाम की महिमा इतनी है कि वैकुण्ठादि भी उसके अशाश कहे गये हैं—वैकुण्ठादि तदंशाश स्वय वृन्दावन भुवि)।

गुह्याद्गुह्यतरं पुण्यं परमानन्दकारकम्। अत्यद्भुतं रहःस्थानं रहस्यं परमं पदम्।।
दुर्लभानां च परमं दुर्लभं मोहनं परम्। सर्वशक्तिमयं देवि सर्वस्थानेषु गोपितम्।।
सात्वतां स्थानमूर्धन्यं विष्णोरत्यन्तदुर्लभम्। नित्यं वृन्दावनं नाम ब्रह्माण्डोपरि संस्थितम्।।
गोलोकैश्वर्यं च यत्किञ्चिद्गोकुले तत्प्रतिष्ठितम्। वैकुण्ठवैभवं यद्वै द्वारकायां प्रतिष्ठितम्।।
यद्ब्रह्मपरमैश्वर्यं नित्यं वृन्दावनं श्रियम्। कृष्णधाम परं तेषां वनमध्ये विशेषतः।।

इसके कर्णिकापर्ण विस्तार के अद्भुत रहस्य का विस्तृत उल्लेख करते हुए यथास्थान वृन्दावन का निर्देश है और उसे रसाश्रय—पूर्णानन्दरसाश्रय—कहा है—'श्रीमद्वृन्दावन रम्य पूर्णानन्दरसाश्रयम् ।' आनदविग्रह, किशोरवय, शुद्धसत्व, प्रेमपूर्ण वैष्णवो से सदा वह वन भरा रहता है। यहाँ पर भी वृक्षादि के प्राकृत और अनतानत अलौकिक विभूतियों का लबा-चौडा उल्लेख है। साथ-ही-साथ माधुर्यलीला का अनन्त सागर यहाँ भी लहराता रहता है। यहाँ श्रीकृष्ण को वृन्दावनेश्वर बताया गया है। नित्यरास, नित्यविहार आदि का अनाद्यत और अविच्छिन क्रम यहाँ भी चलता रहता है।

कहने का साराश यह कि 'पद्मपुराण' का 'वृन्दावन' भावोपासना का आधार है। यह धाम नित्य-विहारस्थली है। तत्वत यह ब्रह्माण्डोपरि स्थित नित्य वृन्दावन विष्णु का मूर्धन्य धाम है। वह अलौकिक धाम ही पृथ्वी पर प्रकट लीला का लौकिक निकेतन है। रहस्यमय और भूस्थ वृन्दावन गोचरतया लौकिक होकर भी तत्वत नित्य और अलौकिक है। वहाँ प्रकृत लीला तो वर्णित है, पर साथ ही सदा अप्रकृत रूप मे श्रीराधाकृष्ण की नित्यलीला का दैनदिन नित्यविहार सर्वदा लीलायित रहता है। वृन्दा वहाँ की अधिकारिणी है और तत्सुखीभावापन्न भक्तगण सर्वदा बिहार-सुख के उपकरण-सपादन मे परमानन्दभाव से मग्न होकर सदा लगे रहते हैं।

एक बात विशेष रूप से ध्यान मे रखने की है। वृन्दावन को यहाँ सात्वतो का मूर्धन्य विष्णु-धाम कहा गया है और सभवत उस सम्प्रदाय का यहाँ प्रभाव भी अधिक पड़ा होगा। पर साथ ही चैतन्य मत मे जिस परकीया भाव पर बल है—उसका भी उल्लेख यहाँ है—

"परकीयाभिमानिन्य प्रच्छन्नेनैव भावेन रमयन्ति निज प्रियम्।" इसके अतिरिक्त भक्त के लिए वैष्णवों का तत्सुखीभावापन्न सहचरीत्व ही यहाँ सर्वत काम्य है। सहचरियो के लिए आवश्यक है कि वे श्रीकृष्ण की अपेक्षा राधिका मे अधिक प्रेम (८३-९) रखे। अत. कह सकते है कि चैतन्यमत के अनुकूल वृन्दावन की पूरी भूमिका—पातालखण्ड मे—प्रस्तुत हो जाती है। उत्तरखण्ड का उल्लेख अवश्य कुछ भिन्न है।

अन्यपुराण—इन मुख्य पौराणिक वर्णनो के अतिरिक्त अनेक अन्य पुराणो, उपपुराणो मे यत्र-तत्र वृन्दावन का उल्लेख है। लिङ्गपुराण, मत्स्यपुराण, वामनपुराण, वाराहपुराण, वायु-पुराण आदि के सक्षिप्त प्रकरण और उल्लेखो मे विशेष महत्त्व की बात दिखाई न देने के कारण उनकी यहाँ चर्चा नही की गई है। वृहद्वामनपुराण मे अवश्य ही विस्तार के साथ उल्लेख है। उसमे वृन्दावन की मधुरमहिमा वर्णित है। उस पर भी आगम-प्रभाव लक्षित है। 'ब्रह्मवैवर्त्त' और 'स्कन्द' के समान आवरणादि की चर्चा है।

गर्गसंहिता—यद्यपि नाम से यह ग्रन्थ 'सहिता' है तथापि इसे पौराणिक वाङमय की शृंखला मे आसानी से स्थान दिया जा सकता है। श्रीकृष्ण की भक्तिभावमयी चरितकथा को लेकर चलने-वाले पौराणिक ग्रन्थो मे यह सहिता एक विशिष्ट कृति है। इसमे वासुदेव श्रीकृष्ण को पूर्णतम ब्रह्म बताया गया है। अवतार-प्रसग मे छ प्रकार के अवतार सोदाहरण गिनाये गये हैं—अशाशावतार, अशावतार, कल्पावतार, आवेशावतार, पूर्णावतार और पूर्णतमावतार। श्रीकृष्णचरित की पौराणिक शैली में कथा कहनेवाला यह ग्रन्थ अनेक खण्डो मे विभाजित है जिसके प्रथम गोलोक खण्ड मे कहा गया है—"भूभारहरणार्थ जब श्रीकृष्ण गोलोक से आने लगे तब उन्होने श्रीराधा को भी साथ चलने के लिए कहा। (यह ध्यान रखना है कि यहाँ का 'गोलोक' भी उसी प्रकार ऐश्वर्य वैभवादि षड्-विभूतिसपन्न और माधुर्यमयी रसकेलि के लीलाओं का नित्य विलासस्थल है।) राधा ने कहा—'यत्र

वृन्दावनं नास्ति, न यत्र यमुना नदी। यत्र गोवर्द्धनो नास्ति तत्र मे न मन सुख।' अर्थात् वृन्दावन, यमुना और गोवर्द्धन के बिना वे भूपर नही रह सकेगी। गोलोक मे ये सब पदार्थ थे। श्रीभगवान् कृष्ण उन सबको तथा साथ-ही-साथ अपनी समस्त प्रियमडली, भक्तगण, प्रेयसीसमूह, परिकर, व्यूह, महिषियाँ, सहचारियाँ—आदि सबको साथ लेकर धरती की व्रजभूमि मे अवतरित हुए।" आगे के तीन खण्डो मे पौराणिक शैली को लेकर अन्त कथागर्भित शिल्प द्वारा श्रीकृष्ण के बालकिशोर-चरित (वृन्दावनखण्ड, गिरिराजखण्ड, माधुर्यखण्डो मे) का बृहद् वर्णन है। इस सन्दर्भ मे कृष्ण से सबद्ध चरित के मधुमय परिवेश की समस्त लीलाओ का भी और लोकत्राता के रूप मे अनेक असुरादि के वध की कथा भी सुनाई गई है। 'वृन्दावन' का वर्णन भी अनेकत्र और विस्तृतरूप से मिलता है। पर कोई विशेष नवीनता नही है।

सिद्धान्त-दृष्टि से यहाँ इतना ही कहना है कि गोलोक ही श्रीकृष्णरूप परात्पर पूर्णतम ब्रह्म का शाश्वत लीलाधाम है। वहाँ वृन्दावन, व्रज, यमुना, गोवर्द्धन आदि तथा सभी गोप-गोपियाँ भी थी। उन्ही का पूर्णावतार के साथ यहाँ भी अवतार हुआ यद्यपि गोलोक मे भी सब कुछ बना रहा। अत. आगमोवाली मान्यता का ही रूप यहाँ भी है।

निष्कर्ष (पौराणिक क्षेत्र में)

उपर्युक्त पौराणिक विवरणो से स्पष्ट हो जाता है कि पुराणो में वृन्दावन का जो विवरण है, वह वस्तुत. स्पष्ट नही है। स्पष्ट नही है—इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि पुराणकार ऋषियो ने वृन्दावन का जो स्वरूप प्रस्तुत किया है वह प्राय. जहाँ एक ओर भौतिक 'वृन्दावन' की महिमा उपस्थित करता है वहाँ दूसरी ओर आध्यात्मिक, नित्य एव अलौकिक वृन्दावन के शाश्वत स्वरूप की कल्पना भी प्रस्तुत करता है। उन वर्णनो मे वृन्दावन के ऐश्वर्य और अद्भुत वैभव की जो रूपपरि-कल्पना सामने आती है, वह दिव्य है। नन्दनकानन के तुल्य कल्पद्रुमो और मणिमाणिक्यो से सघटित हैं तथा वहाँ का सब-कुछ मानव की विभूतिकल्पना और आनन्द सीमा का चरम उत्कर्ष है, वहाँ के भक्तों और पारिषदो का जीवन माधुर्यभक्ति के परम चिदानन्द की शाश्वत सवेदना से परिप्लुत है। वहाँ का वैभव कल्पनातीत है, वहाँ का मधुराससागर अनाद्यन्त है, वहाँ की रसधारा अनन्त है, वहाँ भगवान् की मधुमयी मादक विभूतियाँ अचिन्त्य हैं, वहाँ का नित्य प्रेमविहार शाश्वत है, वहाँ की विलासचर्या अपरिमेय है और उन सबके द्रष्टा, साक्षी और मधुरोपासक भक्त भी शाश्वत तथा अद्भुत हैं। वहाँ देवद्रुम और कल्पलताओ के सदृश तरुवल्लरियो के परम विहारकुज और केलिनिकेतन हैं। शाश्वत तारुण्यवाले किशोरियो से वह स्थली सदा परिपूर्ण रहती है। श्रीराधा के साथ श्रीकृष्ण का वहाँ नित्य विहार चलता रहता है और भक्त तन्मयभाव से, तत्सुखी भावना से उस अनन्त रसधारा मे सदा आकठनिमग्न रहते हैं।

दूसरी बात यह है कि उन वर्णनो मे नित्य वृन्दावन का जो स्वरूप अकित हुआ है वह तटस्थ और आलोचक द्रष्टा के रूप मे बहुत कुछ वैसा ही है जैसा कि कही वैकुण्ठलोक का, कही विष्णुलोक का, कही गोलोक का, कही श्वेतदीप का अथवा कही कृष्णधाम का वर्णित है। दूसरे शब्दो में कहा जा सकता है—दृश्येतर, गोचरभिन्न अलौकिक या नित्य वृन्दावन तत्वत कभी तो उपर्युक्त लोको में से कोई अथवा कभी उन सबका उत्कृष्टतम स्वरूप है। इसी कारण कभी-कभी तारतम्य रूप से उनका वर्णन करते हुए उसे सबसे उत्कर्षपूर्ण कह दिया जाता है।

ऐसा जान पड़ता है कि पुराणों के वृन्दावन का स्वरूप मधुरोपासको के आराध्य की वह

पूर्वपीठिका है जिसका स्वरूप गौड़ीय मधुरोपासको के मूर्धन्य ग्रन्थ—षड्सन्दर्भ अथवा भागवतसदर्भ मे पहुँचकर स्पष्ट हो गया। श्री सनातन गोस्वामी, श्रीरूपगोस्वामी और श्रीजीवगोस्वामी आदि के मत से मुख्य और वास्तविक वृन्दावन तो आध्यात्मिक, गुह्य, अभौतिक और वास्तविक है। वह नित्य है, शाश्वत है, अनवरत नित्यविहार की परमरम्य केलिस्थली है और उसकी सस्थिति भी गोलोक मे है।

परन्तु इस पौराणिक धारणा का विकास भी क्रमिक है। हरिवशपुराण, विष्णुपुराण, ब्रह्मपुराण और श्रीमद्भागवत आदि मे रहस्यात्मक, अलौकिक, प्रतीकात्मक एव अपार्थिव वृन्दावन की स्थिति आदि का न तो महत्त्व है और न उस मान्यता का आग्रह है। पर आगे चल कर थोड़ा बहुत स्कन्दपुराण मे और विशेष रूप से पद्मपुराण तथा ब्रह्मवैवर्त्त मे आगमोचित धारणा का पूर्ण विकास लब्ध है। आगे देखेगे कि यही धारणा वैष्णव भागवतो और मधुर कृष्णोपासको मे सर्वाधिक व्याप्त है। आगमसहिताओ, वैष्णवतन्त्र-ग्रन्थो और वैष्णवोपनिषदो में भी इसी की विविधरूपीय नाना भूमिकाओ की नाना सदर्भो और नाना रूपो मे परिकल्पना एव अभिव्यक्ति मिलती है। इनमे कौन पूर्ववर्त्ती है और कौन परवर्त्ती—यह निर्णय सप्रति सभव नही है।

संहिता आदि आगमों में

सात्वत-पाञ्चरात्र—वैष्णव सहिताओ के वर्णनो मे वृन्दावन का जो स्थान और स्वरूप है—उसका बहुत कुछ रूप पद्मपुराण के उत्तरखण्डस्थ वर्णनो से मिलता-जुलता है। 'परमव्योम' के प्रति आसजनशील उक्त पुराण में परमव्योमाख्य वैकुण्ठ के आवरण के रूप में उसका स्थान निर्धारित हुआ है। अनेक सहिताओ और आगम-ग्रन्थो की यही स्थिति है। पर कही-कही श्रीकृष्णलोक के रूप मे उसकी स्थिति स्वतन्त्र बताई गयी है जैसे स्वायभुवागम के ८५ वे पटल मे—

> पीयूषलतिकाकीर्णा नानासत्वनिषेविताम्। सर्वर्त्तुसुखदा स्वच्छा सर्वजन्तुसुखावहाम्॥
> नीलोत्पन्नदलश्यामा वायुना चालिता मृदु। वृन्दावनपरागस्तु वासिता कृष्णवल्लभाम्॥
> सीम्नि कुञ्जतटा योषित्क्रीडामण्डपमध्यमाम्। . . . . .
> वृन्दावन कुसुमित नानावृक्षविहङ्गमै। सस्मरेत्साधको धीमान् विलासैकनिकेतनम्॥

ब्रह्मसहिता, बृहद् ब्रह्मसहिता मे भी कुछ इसी प्रकार का वर्णन है। वहाँ श्रीकृष्ण को परम ईश्वर सर्वोपरि बताकर—सहस्रपत्र कमलरूप गोकुलाख्य धाम का उल्लेख है—"सहस्रपत्र कमलं गोकुलाख्य महत्पदम्।' उसे प्रेमानन्दमहानदरस से अवस्थित कहा गया है—'प्रेमानन्दमहानन्दरसेनावस्थितं तु यत्।' उसी निजधाम गोलोकधाम मे भगवान् श्री गोविन्द की स्थिति कही गई है। श्रीजीवगोस्वामी की व्याख्या के अनुसार चतुरस्र आभ्यतरमण्डल 'वृन्दावन' नाम का है और बहिर्मण्डल श्वेतदीप गोलोक है। (किन्तु चतुरस्राभ्यन्तरमण्डल वृन्दावनाख्य बहिर्ममण्डल केवल श्वेतद्वीपाख्य ज्ञेय गोलोक इति यत्पर्याय, षड्सन्दर्भ, पृ० ३६६)। बृहद्ब्रह्मसहिता का वर्णन बडा विस्तृत और आगमानुकूल—आवरण—व्यूह—दल आदि के प्रभाव से पूर्णत: भावित है। गौतमीतन्त्र मे भी उसकी चर्चा आई है। पंचयोजन विस्तीर्ण उक्त वन को वहाँ भगवान् ने अपना ही देहरूपक कहा है। परन्तु उसके यथार्थ रूप का चर्मचक्षुओ से साक्षात्कार सभव नही है। उसका यथार्थ दर्शन तो महाभागवतो को ही होता है जो नित्यलीला और नित्यविहार आदि को देख पाते है। वहाँ भी मधुचर्या की विहारकेलि के नित्यलीलाधाम का ही स्वरूप वृन्दावन को प्राप्त है। अनेक सहिताओ एव आगमतन्त्र आदि के

ग्रन्थो मे इन्ही से मिलते-जुलते अलौकिक और दिव्य नित्यवृन्दावनधाम का स्वरूप-निर्दिष्ट है। कही वह विष्णुलोक, गोलोकधाम, श्वेतद्वीप, ब्रह्मद्वीप आदि का अग है, गोलोक के आवरण विशेष मे स्थित है और कही अगी है। कभी-कभी उसकी स्वतत्र स्थिति भी है। भौम वृन्दावन भी उसी का एक रूप है। यह भी वस्तुत प्रायेण रहस्यमय है। इसका दृश्य रूप जनसाधारण दृग्गोचर है-- पर वह भी तत्वत नित्य ही है और सदा विहार का निकेतन है। उसके दर्शनाधिकारी हैं---भगवान् के अंतरग और अनुग्रहभाजन भावभक्त या प्रेमोपासक---जिन्हे महाभागवत भी कहा गया है। 'वृन्दावन' और उसकी मधुरकेलियो के रसात्मक वर्णन का प्रसग 'नारदपचरात्र'[१३] के श्रुतिविद्यासवाद प्रकरण मे है, और 'बृहद्ब्रह्मसहिता'[१४] 'पुराणसहिता',[१५] बृहत्सदाशिवसहिता आदि मे भी ऐसे ही सकेत हैं।

तंत्रो, पाचरात्र-सात्वत संहिताओ एव अन्य वैष्णव सहिताओ मे इसका बडा विस्तार भी है और विविध परिप्रेक्ष्यो के अन्तर्गत उनका वर्णन भी नानारूपो मे मिलता है। अत यहाँ सबका उल्लेख सभव नही है। केवल सकेतमात्र से दिव्य, अलौकिक, प्रतीकपरक एव रहस्यात्मक धाम के रूप का दिङ्निर्देश कर दिया गया है।

वैष्णवोपनिषद्

वैष्णवोपनिषदो मे भी 'वृन्दावन' की चर्चा, अनेक सन्दर्भो और परिप्रेक्ष्यो मे हुई है। कही तो वृन्दावन और वहाँ के वैभवो का नाम लिया गया है और कही केवल वस्तुवर्णन के माध्यम से

[१३] बृहद्वृन्दावनं तत्र केलिवृन्दावनानि च। वृक्षाः कल्पद्रुमाश्चैव चिन्तामणिमयी स्थली ॥
केलिकुञ्जनिकुञ्जानि नानासौख्यस्थलानि च।

[१४] श्रीमद्वृन्दावनं रम्यं पूर्णानन्दरसाश्रयम्। भूमिश्चिन्तामणीस्तोयममृतं रसपूरितम् ॥
वृक्षाः सुरद्रुमास्तत्र सुरभीवृन्दमण्डितम्। सदा किशोररूपैश्च तरुणीतरुणैर्युतम् ॥
गुह्याद्गुह्यतमं गूढं गोलोके तत्प्रतिष्ठितम्। तत्र गोविन्दरूपेण स्वयं क्रीडति राधिका ॥

[१५] एकादशभिरुद्यानैः परितो वेष्टितं महत्। यत्र वृन्दावनं नाम राजते सुमनोहरम् ॥
बहुरत्नविचित्रतला सरला सरलालघुभिर्बहुशाखिपरैः।
सुमनःफलभारनमद्भिरधो वसुधा बहुधा प्रविभाति शिवा ॥
कर्णिकेव सरोजस्य वृन्दाविपिनमद्भुतम्।.....
गोपीजनसहस्रैश्च कृष्णेन सुमहात्मना। तत्र रासमहालीला याऽस्माभिरनुभाविता ॥
इसी वृन्दावन में महाशक्ति श्रीराधा का निवास है जो—
कामार्त्तिभाजः कृष्णस्य मनःपीडामहोषधी।
अत्यार्तप्रियसारङ्गसुखदाम्भोदमण्डली ॥.....
रत्यब्धिपारदप्रोद्यत्कुचतुम्बीफलद्वया।
भावपूरितदृक्प्रान्तवीक्षामात्रेण कोटिशः।
उत्पादयन्ती कन्दर्पान् जगत्क्षोभान् रतिप्रियान्।
एषा राधा महाशक्तिः कृष्णप्राणैकजीवनम् ॥ (पु० सं०, अध्या० ३)

इस ग्रन्थ के तृतीय अध्याय से सप्तम अध्याय पर्यंत लगभग ३५० श्लोकों में 'रासमारम्भ' से आरम्भ करके 'प्रेमस्वरूपानुभाव' तक भगवान् श्रीकृष्ण और श्रीराधा की मधुरलीलाओं का वर्णन है।

वृन्दावन का सकेत है। वस्तुवर्णन मे कभी-कभी वैकुण्ठ का नामोल्लेख है जो वस्तुत. वृन्दावन को ही इगित करता है। कृष्णोपनिषद् मे कृष्णावतार की अवतारणा करते हुए व्यूह, परिकर, धाम आदि की चर्चा हुई है भगवान् के सर्वात्मवर्णन प्रसग में। वही कहा गया है—

"वने वृन्दावने. क्रीडन् गोपगोपीसुरै सह। गोकुल वनवैकुण्ठ तापसास्तत्र ते द्रुमा।
. . गोपरूपो हरि साक्षान्मायाविग्रहधारण। . . . . . .
गरुडो वटभाण्डीरु सुदामा नारदो मुनि। वृन्दा भक्ति क्रिया बुद्धि सर्वजन्तुप्रकाशिनी।
(कृष्णो० ७,९, २४-२५)

गोपाल (पूर्व) तापनी उपनिषद् मे श्रीकृष्ण को 'परम दैवत' बताते हुए उन्हे गोविन्द और गोपीजनवल्लभ कहा गया है। उनके ध्येय रूप की चर्चा के प्रसग मे 'गोपगोपीगवावीत, वनमाली, कालिन्दीजलकल्लोलसङ्गी' आदि पदो से अभिहित किया गया है। आगे 'पचपदात्मकगोविन्द-स्तुति' के प्रकरण मे आया है—"तमेकं गोविन्द सच्चिदानन्दविग्रह पञ्चपद वृन्दावनसुरभूरुहतलासीन स्तोष्यामि"—अर्थात् वे वृन्दावन के कल्पद्रुम के तल पर आसीन रहते हैं। आगे चलकर वृन्दावन के लीलाशाली रूप का भी चित्र है—वेणुनादविनोदाय गोपालाय ··कालिन्दीकूललोलाय, लोल-कुण्डलधारिणे। वल्लभीवदनाम्भोजमालिने नृत्तशालिने। गोवर्धनधराय च (नम)।" गोपालोत्तर-तापिनी मे मथुरा का अभिज्ञान कराते हुए बताया गया है कि 'भूचक्रस्थ सप्तपुरियो के मध्य में सप्त-पुरियाँ हैं। उनके मध्य मे गोपालपुरी साक्षाद्ब्रह्म है—"तासा मध्ये साक्षाद्ब्रह्म गोपालपुरी।' यही गोपालपुरी मथुरा है—"भूम्या तिष्ठति चक्रेण रक्षिता मथुरा तस्माद्गोपालपुरी भवति।' बृहद्वन, मधुवन, तालवन, काम्यवन, बहुलवन, कुमुदवन, खादिरवन, भद्रवन, भाण्डीरवन, लोहवन और वृन्दावन —इन द्वादश वनो से 'मथुरापुरी' को आवृत्त कहा गया है। इस वर्णन मे मथुरा का नाम ही मुख्यत वर्णित है और उसी का एक आवरण वन वृन्दावन है। सर्वात मे नामोल्लेख के कारण वृन्दावन को प्रमुख कहा जा सकता है।

'त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषद्' मे वैकुण्ठलोक की चर्चा अत्यन्त विस्तार से हुई है। जीवन्मुक्त के देहत्याग की इच्छा होने पर समस्त वैकुण्ठपार्षद आते हैं और उनके साथ वर्णित विधि-नियमों के अनुसार उपासक नभोमार्ग से चलता है। सत्यलोक, ब्रह्ममयवैकुण्ठलोक, पञ्चवैकुण्ठ, ब्रह्माण्ड-लोक, महाविराट्पद, पादविभूतिवैकुण्ठपुर, विश्वक्सेनवैकुण्ठपुर, ब्रह्मविद्यावैकुण्ठपुर, आदि मे क्रमश प्रवेश तथा उत्तरण करता हुआ उपासक तुलसी वैकुण्ठपुर का साक्षात्कार करने के अनन्तर वहाँ प्रवेश करता और उसके भी पार चला जाता है। इसके अनन्तर बोधानन्दवन, शुद्ध बोधानन्दवैकुण्ठ (जिसे ब्रह्मविद्यापादवैकुण्ठ भी कहते हैं) मे पहुँच जाता है। यही समस्त मोक्षसाम्राज्य की पट्टाभिषेक-स्थली है। इसी स्थान से उपासक नित्य गरुडारूढ होकर सुदर्शनपुर बैकुण्ठ की आभा का साक्षात्कार करता है। इसी के अभ्यन्तरस्थ संस्थानगत चक्रो के अभ्यन्तरतमस्थ सस्थान में षट्कोणचक्र सदा जाज्वल्यमान रहता है, जो अपरिच्छिन्नानन्तदिव्यतेजोराश्याकार है। उसके भी अभ्यतरसस्थान मे महानन्दपद है। उसके अभ्यन्तर सस्थान में 'सुदर्शन' पुरुष सदा विराजते रहते हैं। वही महाविष्णु है। उसके भी उपर्युपरि अद्वैतसंस्थान है।

इस अद्वैतसंस्थान के बोधरूप का विस्तृत वर्णन है जो निर्विकार, निरंजन, देशकालाद्यपरिच्छिन्न, वाङ्मनोज्ञातृत्वातीत, परमानन्दसमष्टिकन्द, परमचिद्विलाससमष्ट्याकर, परमसत्समष्टिस्वरूप, अद्वितीय, अखण्डानन्दामृतविशेष, स्वयप्रकाश आदि शब्दो से परिचायित हुआ है। वह परमानन्दलक्षण अपरिच्छिन्ना-

न्तपरज्योति, जो शाश्वत है—शाश्वत विभात होती रहती है। वही त्रिपाद्विभूतिवैकुण्ठस्थान है, वही परमकैवल्य है जो अबाधित परमतत्त्व है और अनन्त उपनिषदो से विमृग्य है।

इस प्रकार यहाँ केवल वैकुण्ठ की महिमा और उसके आध्यात्मिक तथा अलौकिक और सूक्ष्म दार्शनिक स्वरूप का विवरण है जो रहस्यात्मक भी कहा जा सकता है, साधकमात्रज्ञेय भी कहा जा सकता है और भौतिक मनोविज्ञान की दृष्टि से सकल्प-प्रतीकात्मक भी। इस सन्दर्भ मे एक बात विशेष रूप से उल्लेख्य और कथ्य है। यह वैकुण्ठबोध विशुद्ध ज्ञान से समुन्नत साधककोटि की केवल उन आत्माओं और ज्ञानियो के लिए ही ज्ञानसवेद्य है जिन्हे सूक्ष्मातिसूक्ष्म अपार्थिव एव दिव्य देह प्राप्त है। उन्ही का साक्षणीय है।

उसी उपनिषद् के अन्त मे (सालबनिरालंबयोगद्वय की चर्चा करते हुए) भक्तियोग को ही निरुपद्रव कहा गया है। वहाँ उल्लिखित है—तस्मात् सर्वेषामधिकारिणामनधिकारिणा च भक्तियोग एव प्रशस्यते। भक्तियोगो निरुपद्रव। भक्तियोगान्मुक्ति। सर्वेषामपि बिना विष्णुभक्त्या कल्पकोटिभिर्मोक्षो न विद्यते। कारणेन विना कार्यं नोदेति। भक्त्या विना ब्रह्मज्ञान कदापि न जायते। भक्तिनिष्ठो भव। भक्त्या सर्वसिद्धय. सिद्धचन्ति। भक्त्यसाध्य न किञ्चिदस्ति।

(त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषद्—अध्या० ८।११, १२)

इस प्रकार दिखाई पडता है कि उक्त उपनिषद् मे अद्वैतमत का—सच्चिदानन्दात्मक अखण्ड, एक, अद्वय, सर्वमय, निरवधि निरुपाधि, निराकार, निरजन और गुणातीत आदि 'वैशिष्टचविशिष्ट' परम ब्रह्म तथा परम ज्ञान का प्रतिपादन करते हुए भी विष्णुभक्ति के बिना कोटिकोटि कल्पो की साधना द्वारा भी मोक्ष सभाव्य नही है। यहाँ ज्ञान और भक्ति—दोनों को एक साधना के दो अनिवार्य पक्षों जैसा स्वीकार किया गया है। इस विवेचन का 'वैकुण्ठ' त्रिपाद्विभूतिवैकुण्ठ है। कदाचित् यही भक्ति-साधना के क्षेत्र मे आनन्द, सुखसुधा, परमानन्दसागर, परमसौन्दर्य आदि की परमनिधानता के कारण भक्तो का कृष्णधाम, गोलोक, श्वेतद्वीप, अपार्थिव और पार्थिव वृन्दावन के रूप मे विवर्त्तित हुआ। पर इस सन्दर्भ मे एक बात ध्यान रखनी चाहिए। विवेच्य उपनिषद् के वर्णन के किसी सोपान का वैकुण्ठ—नारीभाव या नरनारीयोगभाव की किसी भूमिका या भावना का उल्लेख नही करता। पर आनन्द, सौन्दर्य, उल्लास, आमोद और अनन्त ऐश्वर्य-वैभव की माहिमागरिमा के विस्तृत विवरण देनेवाले रहस्यमय एव रम्य चित्रो को उपस्थित करता है। कदाचित् उसी माधुर्यवर्णन, आनन्दकल्पना और वैभवभूमा से प्रेरणा और उपादान-उपकरणो को लेकर परकालवर्ती—श्रीकृष्ण के भक्तो, प्रेम-साधको और मधुरोपासको ने गोलोक और वृन्दावन आदि का रम्य सकल्पचित्र निर्मित किया।

स्तोत्रवाङ्मय की झलक

स्तोत्रों में भी वृन्दावन की महिमा बडी ही अनुरक्ति और मधुर भक्ति के साथ गायी गयी है। कृष्ण की प्रेमाभक्ति के उपासको की परम्परा में अनेक मधुरोपासकों ने वृन्दारण्य या वृन्दावन का प्रेममय कीर्तिगान प्रस्तुत किया है। यदि गीतात्मक स्तोत्र ग्रन्थ के रूप मे 'जयदेव' के 'गीत-गोविन्द' को लिया जाय तो उसमे वर्णित श्रीकृष्ण की मधुरचर्याओं के भावमय गीतों मे चैतन्य-मतीय धारणा के अनुकूल पीठिका मिलती है और चण्डीदास तथा विद्यापति के लिए प्रेरणा भी।

अनेक छोटे-बड़े विष्णु-कृष्ण स्तोत्रों मे वृन्दावन का एव वहाँ के विहार-चर्या का उल्लेख मिलता है। अनेक वृन्दावनाष्टकों, यमुनाष्टको आदि मे वृन्दावन का नाम विभिन्न परिप्रेक्ष्य से आया

है। 'व्रजवनविहारी, 'वृन्दाटवीकुञ्जनिकुञ्जलील' 'गोपीजनवल्लभ', 'राधाविलासचतुर.', 'वृन्दावन-निकुञ्जकेलिनिपुण.' आदि विशेष विशेषणो से उनका उल्लेख है। 'श्री गोविन्दाष्टक', 'द्वादशस्तोत्र', 'जगन्नाथाष्टक', 'राधाष्टक', 'भगवन्मानसपूजनम्', 'गोपालस्तोत्र', 'श्रीकृष्णस्तोत्र' (दोनो नारदपाचरात्र के) आदि मे इसी प्रकार के उल्लेख मिलते हैं। परन्तु वृन्दावन-सम्बन्धी धारणा पर उनसे कोई खास प्रकाश नही पड़ता। अत कुछ बड़े भक्ति-स्तोत्रो के आधार पर इस प्रसग की चर्चा नीचे की जा रही है।

प्रबोधानन्द सरस्वती का 'वृन्दावन-महिमामृत' नामक स्तोत्र एक विशाल ग्रन्थ कहा जाता है। श्री प्रबोधानन्द की इस कृति में प्रेम और माधुर्य की ऐसी अजस्र धारा बहती दिखाई देती है जिसमे मधुर कृष्णभक्तो का प्रेमोत्सुक हृदय निमग्न हो उठता है। इस कारण चैतन्यमतानुयायी श्री सरस्वती-पाद को तथा उनकी कृति को अपने संप्रदाय का ग्रन्थ मानते हैं और राधावल्लभ संप्रदायवाले अपने मत का। हमे इस विवाद मे पडना अभीप्सित नही है। यहाँ इतना ही कथ्य है कि यह महास्तोत्र वृन्दावन की अपूर्व महत्ता और मधुर वर्णनो से आद्यत ओतप्रोत है। इस वृन्दावन की महिमा का वर्णन करते हुए स्वयं मदनमोहन श्रीकृष्ण कहते हैं—"मेरी और श्रीराधा की, जो स्थली, केलिचातुर्य-धारा है तथा हम दोनो की अतिशयेन निरन्तर और निरवधि वर्द्धमान कामतृष्णा का जो साक्षात् स्वरूप है एव इसके साथ-ही-साथ हम दोनो के प्रेमबन्ध का गाढतर गाढ़तम जो अतिवलन है वह सब—हे रस के खनिस्वरूप वृन्दावन! तुम्हारी ही शक्ति का विस्फूर्जन है।"[१६]

इसके सम्बन्ध मे श्रीसरस्वतीपाद कहते हैं कि 'वृन्दारण्य मे मदनमोहन के द्वार पर कुतिया रूप मे रहना भी परम सौभाग्य है, पर अन्यत्र लक्ष्मी की सखी या स्वय रमा (लक्ष्मी) होना भी कबूल नहीं'।[१७] इस प्रकार की उक्तियाँ अनेक भक्तो या श्रद्धावानों के वचनो मे मिलती हैं। 'रसखान' की प्रसिद्ध उक्ति भी इसी प्रकार की है।

गगा की स्तुति मे भी कहा है कि "हे गगे! तुम्हारे तीर पर तरुकोटर मे पक्षी होना मेरे लिए सौभाग्य की बात है, यदि तुम्हारे नरकान्तवारि मे मछली या कछुआ होकर रहना हो तो भी मेरा जन्म धन्य है। पर अन्यत्र, मदस्रावी गजघटा के घटास्वर से घिरे हुए परम वैभव और सुख का

---

[१६] श्रीराधाया मम च यदहो केलिचातुर्यधारा
यच्चात्युच्चैर्निरवधि वरीवृद्ध्यते कामतृष्णा।
गाढं गाढं यदतिवलते कोऽपि नौ प्रेमबन्धः
सर्वं वृन्दावन-रसखने! शक्तिविस्फूर्जितम् ते ।। (वृन्दावनशतकम्, शतक ११।३०)

[१७] वरमिह वृन्दारण्ये सुवराकी मदनमोहनद्वारि।
अपि सरमाऽपि रमाप्रियसख्यपि नान्यत्र नो रमापि स्याम् ।।
(वही, द्वितीय शतक ६७ श्लोक)

चतुर्थ शतक में भी निम्नांकित श्लोक है—
यदि वृन्दावनं विन्दाम्यपि तृणान्ते वनान्तेषु।
न तदा वैकुण्ठलक्ष्मीमपि करमिलितां निभालये ललिताम्।
सर्वदुःखदशा घोरा वरं वृन्दावनेऽस्तु मे।
प्राकृताप्राकृताशेषविभूतिरपि नान्यतः। (वही, शतक ४।६०,६१ श्लोक)

जीवन भी स्वीकार्य नही—(त्वत्तीरे तरुकोटरान्तरगतो गङ्गे विहङ्गो वर, त्वन्नीरे नरकान्तकारिणि वर मत्स्योऽथवा कच्छप । नैवान्यत्र मदान्धसिन्धुरघटासघट्टघण्टारणत्कारस्तत्र समस्तवैरिवनितालब्धस्तुति-र्भूपतिः) ।' कहने का साराश यह कि इन उद्गारो मे प्रस्तुत के प्रति भक्त कवि के हृदय की प्रेम-गाढता का परिचय मिलता है। यहाँ भी स्वामी प्रबोधानन्द की उक्ति वैसी ही है। उद्धव के कथन में (श्रीमद्भागवत मे) भी इसी ढग का भाव व्यक्त है जब अपनी चरम लालसा व्यक्त करते हुए वे कह उठते हैं—

आसामहो चरणरेणुजुषामह स्या वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम् ।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथ हि हित्वा भेजुर्मुकुन्दपदवी श्रुतिभिर्विमृग्याम् । (श्रीमद्भाग० १०।४७।६१)

श्री प्रबोधानन्द ने वृन्दावन को दिव्यज्योति का धाम बताते हुए कहा है कि वह प्रकाशपुञ्ज अज्ञानान्धकार से बचाने का हेतु है। करोडो रवि, इन्दु, वह्नि और विद्युत् के प्रकाश को अभिभूत करनेवाली वृन्दाटवी की प्रभा (आत्मप्रभा) जिसके अन्तस्तल मे प्रदीप्त हो जाती है उसके मन मे पुन: सुतवित्तैषणादि उदित नही होती—

वृन्दाटवी यदि रवीन्द्रहुताशविद्युत्कोटिप्रभाविभवकारि महाप्रभाढ्या ।
आत्मप्रभा सकृदपि प्रतिभाति चित्ते वित्तैषणादि नहि तस्य मनस्युदेति ।। (वही, श० २।३७)

इसी कारण इस परमरम्य ज्योतिर्धाम का महिमागान करते हुए वे कहते हैं कि 'जिस वृन्दावन की महिमा का गान करने मे स्वयं शेष भी समर्थ नही है, उसका वर्णन भला दूसरे क्या करेंगे और मैं कुछ क्या कर सकता हूँ! केवल अतिप्रणय के कारण उसका विवरण देते हुए स्वय को कृत-कृत्य बनाने के लिए मेरा यह उपक्रम है—

शेषोऽपि यस्य महिमामृतवारिराशे पार प्रयातुमनलब त तत्र केऽन्ये ।
किन्त्वल्पमप्यहमतिप्रणयाद् विगाह्य स्या धन्यधन्य इति मे समुपक्रमोऽयम् ।। (वही, १।२)

'हितहरिवंश' मतानुयायियो के मतानुसार श्री प्रबोधानन्द ने जीवन का परम पुरुषार्थ और चरम काम्य माना है श्रीराधारानी की चरणकरुणा के उदय को। इसका सकेत स्वय हितप्रभु की रचनाओ मे अनेकत्र मिलता है। उसी भावना का अनुगमन करते हुए श्री प्रबोधानन्द ने अपना उद्देश्य प्रकट किया है—"जबतक श्रीराधा के पदनखमणिरूपी चन्द्र की ज्योत्स्ना का प्रकाश आविर्भूत नही होता तब तक चित्तचकोरी को वृन्दावन की धरित्री में मोद नही प्राप्त होता। और जबतक उक्त पुण्यस्थली मे गरिष्ठा निष्ठा नही होती तब तक श्रीराधा की तादृशी चरणकरुणा का उदय ही नही होता—

यावद्राधापदनखमणेश्चन्द्रिका नाविरास्ते
तावद्वृन्दावनभुवि मुद नैति चेतश्चकोरी ।
यावद्वृन्दावनभुवि भवन्नापि निष्ठा गरिष्ठा
तावद्राधाचरणकरुणा नैव तादृश्युदेति ।। (वही १३।२१)

इस कृति मे नित्यकिशोरयुगल के मधुमय एव रसाप्लुत नित्यविहार और नित्यरास का अत्यन्त मनोरम वर्णन किया गया है। श्रीसरस्वतीचरण कहते हैं—इस वृन्दावन मे उस अनिर्वचनीय नित्यकिशोर और नित्यविहारी श्रीराधाकृष्ण की नित्यलीलामयी मूर्त्ति का नित्यविलास होता रहता है, नित्यवास बना रहता है, जो सदा किशोर रहते हैं, जो सदा प्रेमक्रीडारत रहते हैं जो न कही जाते हैं और न कहीं अन्यत्र से आये हैं आदि।'

ऐश्वर्यं परम च वेत्ति न मनाङ नान्यञ्च कञ्चिद्रस,
न स्थाने परत. कदात्वनुगत नो वा कुतोऽप्यागतम् ।
कैशोरादपर वयो नहि कदाप्यासादयन्न क्षण
क्रीडातोऽविरत. तदेकमिथुन वृन्दावने नन्दति ।। (वही ६।६)

वे श्री राधा को प्रेमसार से अगाध मानते हैं, श्रीकृष्ण को उस एकमात्र राधारस मे अपार तृष्णावान् बताते हैं, पूर्वोक्त युगल परस्पर दो रीतियो की समान आधारभूत सखियाँ—द्वयैक्य—हैं. उस युगल मूर्त्ति का परम प्रसिद्ध नित्यधाम वृन्दावन है—

जयति जयति राधा प्रेमसारैरगाधा जयति जयति कृष्णस्तद्रसापारतृष्ण ।
जयति जयति वृन्द तत्सखीना द्वयैक्य जयति जयति वृन्दाकानन तत्स्वधाम ।। (वही, ६।४५)

वस्तुत श्री प्रबोधानन्द की यह स्तोत्रग्रन्थ उनकी श्रीराधाकृष्णविषयक मधुर भक्ति और वृन्दावनविषयक श्रद्धापूर्ण अनुरक्ति का काव्यमय उद्गार है। उनके मत से वृन्दावन के वस्तुत. तीन स्वरूप हैं—(१) 'गोष्ठ वृन्दावन', (२) 'गोपीक्रीड़ास्थल वृन्दावन' और (३) 'श्रीराधाकुञ्जवाटी'—

श्रीकृष्णस्याथो गोष्ठवृन्दावन तत् गोप्या क्रीडाधाम वृन्दावनान्त ।
अत्याश्चर्या सर्वतोऽस्माद्विचित्रा श्रीमद्राधाकुञ्ज-वाटी चकास्ति ।।
आद्यो भावो यो विशुद्धोऽतिपूर्णस्तद्रूपा सा तादृशोन्मादि सर्वा । (वही १।८,६)

तृतीय स्वरूप ही मुख्य है जो श्रीराधा की निकुञ्जवाटी है। यह सबसे विचित्र पूर्वोक्त दोनों रूपो से विलक्षण तथा अत्याश्चर्यमय हैं। यह तृतीय रूप उस रति का, नित्यप्रणय का सहज रूप है जो सर्वत विशुद्ध और पूर्ण है।

यत यह तृतीय वृन्दावन सर्वप्रधान, सहजरतिस्वरूप, विशुद्ध और पूर्ण रतिमय है, सर्वथा और सर्वदा स्वसुखवासनाशून्य एव प्रेमाभिन्न युगलस्वरूपमय है—इसी कारण श्रीप्रबोधानन्द मानते हैं कि इस विपिन के समस्त स्थावरजंगम कणो को महायोगीगण भी सच्चिद्घनस्वरूप मानते हैं।[१८] इसी कारण वह कृष्ण भक्तो का सर्वस्व है।[१९]

---

[१८] श्रीवृन्दावनतद्गतस्थिरचरान् स्वानन्दसच्चिद् घनान्
त्रैगुण्यास्पृश आप्लुतान् हरिरसोद्वेलामृतैकाम्बुधौ ।
पश्यन्तो विलसन्ति सन्त इह केऽप्याश्रित्य सर्वात्मना
श्रीराधाचरणाम्बुजदलच्छायां महायोगिनः ।। (वही—१२।११)

[१९] श्रीजीवानन्द विद्यासागर द्वारा प्रकाशित, 'काव्यसंग्रह' के भाग २, संस्करण ३ में एक 'वृन्दावनशतक' मिलता है। हो सकता है यह भी श्रीप्रबोधानन्द के 'वृन्दावन-महिमामृत' का ही कोई शतक हो। इसमें भी 'वृन्दावन' का भक्तिभावमय कीर्तिगान हुआ है। यहाँ के वर्णन कभी तो राधावल्लभीय दृष्टि का संकेत करते हैं और कभी चैतन्यमत की मान्यताओं का स्पर्श करते हैं। वस्तुतः वल्लभ, चैतन्य और राधावल्लभ के मतों का प्रचार ब्रजमण्डल में लगभग आसपास ही होता जा रहा था। अतः भक्तिभाव से ओतप्रोत भक्तों की दृष्टि में सांप्रदायिक मतवाद की कठोरता शास्त्रीय विवेक में भले ही रही हो, यशोगान में भावाभिव्यक्ति ने सभी माधुर्य-भावों को अपने आभोग में समेट लिया था। नीचे उद्धृत इस शतक के पद्य बहुत कुछ उसी ढंग के हैं जैसे 'राधासुधानिधि' या 'वृन्दावन-महिमामृत' में मिलते हैं—

प्रेमपत्तन

रसिकोत्तंस का प्रेमपत्तन वस्तुत माधुर्यमयी भक्ति का विस्तृत विवरण उपस्थित करता है। परन्तु ग्रन्थ का शीर्षक 'वृन्दावन' की ओर सकेत करता है। प्रेमपत्तन का आशय सामान्य भाषा मे प्रेमनगरी शब्द से व्यक्त किया जा सकता है। यहाँ 'प्रेम' पद से अभिप्रेत है मधुरमूर्त्ति श्रीकृष्ण के मधुर प्रेम का नगर या पत्तन। उक्त ग्रन्थ मे प्रेमपत्तन को भक्तिक्षेत्र का दिव्यधाम बताते हुए उसी को वृन्दावन निर्दिशित किया गया है और उसका स्थान गगन मे विलसमान वर्णित है—

श्रीवृन्दावनकेलिरङ्गसहज सौन्दर्यशोभाचयो
वैदग्ध्यादिचमत्कृतेः परतर विश्रान्तिधामाद्भुवम्।
तन्मे मोहनदिव्यनागरवरद्वन्द्वं मिथो. जीवनं
गौरश्यामलमुज्ज्वलोन्मदरसाविष्टं हृदि स्फूर्जतु ॥

महोज्ज्वलरसोन्मदप्रणयसिन्धुनिष्यन्दिनी
महामधुरराधिकारमणखेलनानन्दिनी।
रसेन समधिष्ठिता भुवनवन्द्यया वृन्दया
चकास्तु हृदि मे हरेः परमधाम वृन्दाटवी ॥

इह सकलसुखेभ्यः सूत्तमं भक्तिसौख्यं तदपि चरमकाष्ठां सम्यगाप्नोति यत्र।
तदिह परमपुंसो धामवृन्दावनाख्यं निखिलनिगमगूढं मूढबुद्धिर्न वेद ॥

बिभ्राजत्तिलकाकलिन्दतनयानीरौघनीलाम्बरो—
दञ्चत्काञ्चनचम्पकच्छविरहो नानारसोल्लासिनी।
कृष्णप्रेमपयोधरेण रसदेनात्यंतसंमोहिनी
गोपस्यात्मजवल्लभा विजयते राधेव वृन्दाटवी ॥

स्मारं स्मारं नवजलधरश्यामलं धाम विद्युत्-
कोटिज्योतिस्तनुलतिकया राधया श्लिष्यमाणम्।
उच्चैरुच्चैः सरससरसः प्राञ्जलिर्जृम्भमाण-
प्रेमाविष्टो भ्रमति सुकृती कोपि वृन्दावनान्तः ॥

विदन्ति यावत्प्रणयं न मन्वा वृन्दावने प्रेमविलासकन्दे।
तावन्न गोविन्दपदारविन्दस्वच्छन्दसद्भक्तिरहस्यलाभः ॥

दैवी वाक् प्रतिषेधिनी भवतु मे स्याद्वा गुरूणां गिरां
श्रेणी शास्त्रविदामिहास्तु बहुधा यः कोपि कोलाहलः।
त्यक्त्वा साधनसाध्यजातमखिलं लग्न तु मे राधिका—
क्रीडाकाननवाससम्पदि मनाक् व्यावर्त्तते नो मनः ॥

इनके अतिरिक्त उक्त शतक में बराबर ऐसे वचन आए हैं—

'राधाकेलिनिकुञ्जमञ्जुलतरं वृन्दावनं जीवनम्, तन्मे नन्दकिशोरकेलिभवनं वृन्दावनं जीवनम्' ॥
'कदा मधुराधिकारमणरासकेलिस्थलीं विलोक्य रसशेवधि मधिवसामि वृन्दावनम् ॥ आदि ;

मति-रति-युवति-पतिर्यत्पालयिता मधुरमेचको राजा।
गगने विलसति नगरं नैकशिरोमन्दिर नाम ।। (प्रेमपत्तन पृ० ६।६)

गगन-विलासी इस नगर का 'मधुरमेचक' नाम का राजा है श्रृंगाररसमय या शृगारसात्मक व्रजजन-युवराज श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण। उनकी दो युवती पत्नियाँ हैं। 'मति' है 'रति' की सपत्नी—जो वस्तुत. श्रीकृष्ण का निजैश्वर्यानुसधान है और 'रति' है रसपक्ष मे मधुररस का स्थायी भाव (मधुर रति) जो तत्वत. महाभावस्वरूप श्रीराधा है। टीका मे आगे कहा गया है—"तन्नगरं च लीला-परिकरात्मकनित्यसिद्धासक्तजननिवासस्थान श्रीवृन्दावनमण्डलमेव।" अर्थात् लीलापरिकर के नित्य सिद्ध भक्तो का निवासस्थान (वृन्दावन) का अन्तर्मण्डल ही 'प्रेमपत्तन' है। 'गगने' से यहाँ तात्पर्य है पाताल से लेकर वैकुण्ठ तक सर्वोपरि। 'दुर्लभत्व' भी उक्त पद का वैकल्पिक सकेत है। एक और व्याख्या भी की गई है—गगने अर्थात् रसज्ञो के 'हृदयाकाश' मे ही उसकी सदा स्थिति है—वहाँ से बाहर नही। इन व्याख्याओ का निष्कर्ष इगित करता है कि वह नगर दुरूह है, अनधिकारियो के लिए अगम्य है, रहस्यमय है और सुगोप्य है।

यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो यह वृन्दावन वस्तुत. नित्यविहार या शाश्वतकेलि का द्योतन करनेवाला भावमय स्थल है, भौतिक सत्तावान् स्थान नही। वहाँ दृश्य एव गोचर व्रजमण्डलीय वृन्दा-वन का कोई वर्णन भी नही है। उनका वृन्दावन सूक्ष्म और अलौकिक ही है। उसके दो भेद हैं (१) गोष्ठवृन्दावन और (२) रासवृन्दावन। श्री प्रबोधानन्द द्वारा निर्दिष्ट वृन्दावन के पूर्वोक्त त्रिरूपो में इनका समावेश हो गया है। इस नगर के राज्य का श्लिष्टरूपकध्वनि के द्वारा विस्तृत रूप वर्णित हुआ है। उसका साराश इतना ही है कि शास्त्रनिगमपुराणेतिहासादि के कर्कश तर्क आदि की मान्यताओ और प्रेरणाओ की अवहेलना करके यहाँ के नित्यसिद्ध भक्त, प्रगाढ़ीभूत महामधुर भाव से रागज भक्ति का अनुसरण करते हैं और अनन्य भावापन्न मधुरोपासना में सदा निमग्न रहते हैं। वहाँ के कीट-पतग, स्थावरजगम, जड़-चेतन—सभी इसी एक भाव से भगवान् की प्रेमोपासना करते हैं—विधिनिषेध की भावना को भूलकर, धर्माधर्म के प्रपच को छोड़कर। गोचर रूप मे इस नगरी के रसिको के आचरण लोकविरुद्ध लगते हैं। पर प्रेमसाधक नित्यसिद्धो की महाभावपरिप्लुत दृष्टि से ही उस परमोज्ज्वल महाप्रेमरस की आस्वाद्यता और सर्वत उत्कर्षबोध सभव है। 'रसिकोत्तंस' का यह ग्रन्थ वस्तुत वृन्दावन की प्रेमपरिपाटी का—चैतन्यमत की दृष्टि से—काव्यात्मक एव रहस्यात्मक स्वरूप उपस्थित करता है। चैतन्य दृष्टि के वृन्दावन का सक्षिप्त परिचय इसी लेख मे यथास्थान अन्यत्र दिया गया है।

राधासुधानिधि

श्री हितप्रभु के मत मे हितहरिवशकृत 'राधासुधानिधिस्तोत्र' को एक प्रकार से प्रस्थान ग्रन्थ कहा जा सकता है। राधावल्लभीय उपासनामार्ग की दृष्टि से श्रीराधा के भावबोध का वहाँ अत्यन्त रसमय और अतर्बहि. भक्तिपूर्ण वर्णन हुआ है। श्रीराधा वहाँ रासेश्वरी, कुन्जलीलेश्वरी और वृन्दा-वनेश्वरी कही गयी हैं। सखीभाव का भी—तत्सुखीवृत्तिमय सहचरीस्वरूप श्रीहितप्रभु के भावोद्गम का वहाँ अत्यन्त भक्तिरसमय चित्र दिखाई देता है। श्यामाश्याम या राधामाधव युगलकिशोर-किशोरी के नित्यविहार, उनकी नित्यमधुरलीलाओ—नित्यरतिक्रीडाओ के जैसे मधुरोज्ज्वल चित्र वहाँ मिलते हैं वैसे अन्यत्र दुर्लभ हैं। इन सबकी परमपावन सौभाग्यस्थली के रूप मे वृन्दावन का वहाँ रूपांकन

हुआ है। निकुंजविहार और नित्यरसकेलि की अखण्ड धारा की अजस्र तरंगिणी वहाँ सदा बहती रहती है। वहाँ के निकुंज भवनो मे प्रेमपीयूष का अनन्त सिन्धु सदा लहराता रहता है। सहचरी रूप में वहाँ पहुँचकर युगल नित्यविहारानन्द का दर्शनानुभवम पाना ही चरम काम्य है—

"वृन्दारण्यरहः स्थलीषु विवशा प्रेमार्त्तिभारोद्गमात्
प्राणेशं परिचारकैः खलु कदा दास्या मयाधीश्वरी। २४२ ॥

श्रीराधासहचरीमात्रगम्य यह वृन्दावन ऐसे रहस्य से मंडित है कि वहाँ नारद, ब्रह्मा, ईश, शुक आदि का पहुँचना भी अगम्य है—

"यन्नारदाजेशशुकैरगम्य वृन्दावने मञ्जुलमञ्जुकुञ्जे।
तत्कृष्णचेतोहरणैकविज्ञमत्रास्ति किञ्जित्परम रहस्यम् ॥" २३८॥

वहाँ के रह कुञ्ज में—"रह कुञ्जे गुञ्जाध्वनिमधुपे क्रीडति हरि" श्रीकृष्ण नित्य विहार करते रहते हैं। मदनमोहन श्यामसुन्दर, सृष्टि आदि की वार्ता को दूर करके नारद, श्रीदामा आदि भक्तो और सखाओं को तथा माता-पिता आदि को भूलकर केवल श्रीराधा का सतत स्मरण करते हुए वहाँ की कुञ्जवीथियो की उपासना करते हैं—

"दूरे सृष्ट्यादिवार्त्ता न कलयति मनाङ् नारदीन् स्वभक्ता-
ञ्छ्रीदामाद्यैः सुहृद्भिर्न मिलति हरति स्नेहवृद्धि स्वपित्रो।
किन्तु प्रेमैकसीमा मधुररससुधासिन्धुसारैरगाधा
श्रीराधामेव जानन् मधुपतिरनिश कुञ्जवीथीमुपास्ते ॥" २३५॥

वह रतिविलास-विदग्ध-युगल, उस वृन्दावन में सदा उदित रहता है—"विदग्धमिथुन तदद्भुत-मुदेति वृन्दावन।' (परस्पर प्रेमरसे निमग्नमशेषसंमोहनरूपकेलि। वृन्दावनान्तर्गतकुञ्जगेहे तन्नीलपीत मिथुन चकास्ति)। वह अद्भुतकेलिनिधान कालिन्दीतट कुञ्ज (१६८) वस्तुत पुञ्जीभूत रसामृत-स्वरूप है। मधुपति की मनोहारिणी राधा मानो स्वय दूसरी वृन्दाटवी हैं—

"रोमाली मिहिरात्मजा सुललिते बधूकबन्धुप्रभा
सर्वाङ्गे स्फुटचम्पकच्छविरहो नाभीसरःशोभना।
वक्षोजस्तबका लसद्भुजलता शिञ्जापतच्छुङ्कृति
श्रीराधा हरते मनो मधुपतेरन्येव वृन्दाटवी ॥" (१७८)

वैकुण्ठ की अपेक्षा भी वृन्दावनधाम की माधुरी उत्कृष्टतर है और उसकी मधुरिमा को या तो श्रीराधा के माधुर्यवेत्ता मधुपति जानते हैं या श्रीराधा जानती है। परमरससुधा की मधुरिमाओ में भी सर्वाग्र श्रीवृन्दावन की उस कल्पनातीत माधुरीयुगल की स्वादनीयता को वृन्दावन दे देता है श्रीराधा की किंकरियों को—

किं ब्रूमोऽन्यत्र कुण्ठीकृतजनपदे धाम्न्यपि श्रीविकुण्ठे
राधामाधुर्यवेत्ता मधुपतिरथ तन्माधुरी वेत्ति राधा।
वृन्दारण्यस्थलीयं परमरससुधामाधुरीणां धुरीणा
तद्वन्द्वं स्वादनीयं सकलमपि ददौ राधिका किङ्करीभ्यः ॥ (१७५)

इसी से हितप्रभु कोटिकोटि जन्मातर मे वृन्दावन की एकमात्र कामना करते है—'किन्त्वाशाप्यस्तु वृन्दावनभुवि मधुरा कोटिजन्मान्तरेऽपि ।' उनकी कामना होती है कि कब वह पुण्य अवसर आयेगा जब सब कुछ भुलाकर कुञ्जविहारेश्वरी श्रीराधा के नित्यरसविहार में मन डूब जायगा—

'राधापादारविन्दोच्छलितनवरसप्रेमपीयूषपुञ्जे
कालिन्दीकूलकुञ्जे हृदि कलितमहोदारमाधुर्यभाव ।
श्रीवृन्दारण्यवीथीललितरतिकलानागरी तां गरीयो
गम्भीरैकानुगा ता मनसि परिचरन् विस्मृतान्य· कदा स्याम् ।'[२०]

इस प्रकार की चरमकामना का अभिव्यजन राधासुधानिधिस्तोत्र मे बहुत अधिक मिलता है—'कदा वृन्दारण्ये मधुरमधुरानन्दरसदे प्रियेश्वर्या केलीभवननवकुञ्जानि मृगये'। इसका कारण यह है कि श्री हितप्रभु मतवाद की दृष्टि से परमानन्दकन्दरूप ज्योतिर्द्वन्द्व की मञ्जुल विभा, वृन्दाविपिन मे शाश्वत रूप से उल्लास्यमान रहती है—'वृन्दारण्ये नवरससुधास्यन्दिपादारविन्द ज्योतिर्द्वन्द्व किमपि परमानन्दकन्द चकास्ति' ('अमन्दरसतुन्दिलभ्रमरवृन्दवृन्दाटवीनिकुञ्जवरमन्दिरे किमपि सुन्दर नन्दते') । दूसरें शब्दों मे यही भावना अत्यन्त सरस शब्दो मे व्यक्त है—

कालिन्दीकूलकल्पद्रुमनिलय · प्रोल्लसत्केलिकन्दा
वृन्दाटव्या सदैव प्रकटतररहोवल्लवीभावभव्या ।
भक्ताना हृत्सरोजे मधुररससुधास्यन्दिपादारविन्दा
सान्द्रानन्दाकृतिर्न· स्फुरतु नवनवप्रेमलक्ष्मीरमन्दा ।।१२६।।

उक्त स्तोत्र के ६८, ६९ और ७० सख्यक श्लोको द्वारा, वृन्दावन के निकुञ्जकेलिभवन मे स्थित व्रजेन्द्रगृहिणी, जगन्मोहिनी रमणीचूडामणि कामविलासेश्वरी श्रीराधा का बडा मधुररसमय और सश्लिष्ट चित्र अकित किया गया है । वस्तुत हितप्रभु का वृन्दावनरसरसिक मन सदैव कुञ्जविलासिनी मोहनमोहिनी श्रीराधा के मृदुल पदपद्म के अनुध्यान मे सदा लगा रहता है—"परानन्द वृन्दावनमनुचरन्त च दधतो मनो मे राधाया पदमृदुलपद्मे निवसतु ।"

तात्पर्य यह कि 'राधासुधानिधि' के गायक की दृष्टि मे वृन्दावन वस्तुत युगलसुन्दर श्यामाश्याम की मधुररसमयी प्रेमकेलियों का मुख्य आधारस्थल है, वहाँ के केलिकुञ्जभवनो मे नित्यविहार के मधुररससिन्धु की सुधाप्रसारिणी आनन्दमयी उर्मियाँ सदा लहराती रहती है । श्रीराधा वहाँ की कामक्रीड़ाओ की अधीश्वरी है । वह वृन्दावन सर्वोच्च धाम है और तत्सुखीभावापन्न केलिसुखसहचरीत्व किंवा तथाभूत कैंकर्य प्राप्त कर वृन्दावन के कामविलासभवनरूप कुञ्जो की दर्शनानन्दप्राप्ति ही चरम काम्य है ।

---

[२०] **वहाँ सान्द्र आनन्दामृत रस के घन की प्रेममयी श्रीराधा की किशोरी मूर्त्ति नित्य विहरण करती रहती है—**

"काचिद्वृन्दावननवलतामन्दिरे नन्दसूनोर्दर्प्यद्दोष्कंदलदृढपरीरम्भनिस्पन्दगात्री ।
दिव्यानन्ताद्भुतरसकलाः कल्पयन्त्याविरास्ते सान्द्रानन्दामृतरसघनप्रेममूर्त्तिः किशोरी । १४५ ।
मन्दीकृत्य मुकुन्दसुन्दरपदद्वन्द्वारविन्दामलप्रेमानन्दममन्द ··· तिलकाद्युन्मादकन्दं परम् ।
राधाकेलिकथारसाम्बुधिचलद्वीचीभिरान्दोलितं वृन्दारण्यनिकुञ्जमन्दिरवरालिन्दे मनो नन्दतु ।।"
।।१४२।।

संस्कृत-साहित्य के कुछ संदर्भ

'आनन्दवृन्दावनचपू', कवि कर्णपूर का गद्यपद्यात्मक काव्य है। इसमें श्रीकृष्ण की ब्रजलीलाओ का बहुत ही मधुर, उत्कृष्ट एव काव्यात्मक वर्णन हुआ है। चैतन्य-मत-परम्परा की मान्यताओ के अनुसार लीलावर्णन-प्रधान इस चम्पू के प्रथम स्तबक में लीलाओ की आश्रयस्थली वृन्दाटवी का अद्भुत वर्णन किया गया है। बाईस स्तबको के इस ग्रन्थ मे द्वितीय से सप्तम स्तबक तक बाल्यलीलाओ का तथा आगे के पन्द्रह स्तबको मे आनन्दकद नन्दनन्दन की रसमयी कैशोरलीलाओ का काव्यात्मक, उच्चकोटि का साहित्यक एव चैतन्य भक्ति के अनुकूल लीलागान है। यह अत्यन्त रसमय एव भक्ति-परिलुप्त होने के कारण परम रम्य है। इस चपू के प्रथम स्तबक मे वृन्दावन का जो विस्तृत वर्णन है वह जहाँ एक ओर भक्तिभावना के कारण अगणित गुणालकृत और अपरिमेय विभूतियो से मडित है वहाँ दूसरी ओर साहित्यिक, चम्पूकाव्यो की परम्परागत रीति के अनुसार मध्ययुगीन सस्कृत साहित्य की अलंकृत शैली का सुन्दर उदाहरण भी है। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, व्यतिरेक, अतिशयोक्ति और परिसख्या आदि अनेक शब्दार्थ-चमत्कारी अलकारो से आद्यत गुम्फित है।

इसमें वृन्दाटवी की पावन भूमि को अनन्त विभूतियो और अलौकिक सपत्तियो का सद्म-निवास बताया गया है, नृत्य, गीत, नाट्य, रास, लास्य, वेणुवादन, केलिविहार, नित्य-रमण आदि का उसे शाश्वत आलय बताया गया है, पशु, पक्षी, तरु, लता, सुमन, सौरभ आदि प्राकृतिक रमणीयताओ की अद्भुत कल्पना वहाँ की गयी हैं; अपनी-अपनी विशिष्ट रम्यताओ से सम्पन्न षड्ऋतुओ का उसे नित्यालय दिखाया गया है तथा स्वर्ण, रत्न, मणिमाणिक्यादि की एव लतावल्लरियो, कुञ्जनिकुञ्जो की अतिशय विपुलता भी वहाँ बताई गई है। इनके कुसुमगन्ध से आमोदित, शीतल, घनच्छाय, पवनान्दोलित और रमणोचित रमण-मण्डपो में माधुर्यमूर्त्ति नन्दनन्दन और गोपीजन तथा श्रीराधा की नित्यकेलि, अजस्र विहार और अखण्ड रास के माध्यम से आनन्दकालिन्दी की अविच्छिन्न धारा सदा बहती रहती है। परन्तु इन सब वर्णनो मे चपूकाव्यो का साहित्यिक और अलकृत अभिव्यजन शिल्प का स्वर आद्यत मुखरित है।

उदाहरण के लिए कुछ अश नीचे उद्धृत किये जा रहे हैं—

(१) "यत्र च—खरतरदिनमणिकिरणानुविद्धदिनमणिपटलसमुद्घाटितदहन-दाहन-निर्वापण-चणमणिमयविहारशिखरि-शिखर-निस्यन्दमानशिशिरतरनिर्झरजलप्रपातशीतलेषु घनतरविटपिविटपनिवारित-वासरमणिमयूखजालेषु वनपथेषु परस्परकरासङ्गभङ्गिमरङ्गवत्यो झणझणायमानमणिनूपुरनिनदसरस तादृश्यपि निदाघे वसन्तकाल इव सकुतुक खेलन्ति व्रजदेव्य.।

(२) कमाकर इव स्फुटतरशतपत्रक, पर्वतगतवह्निचनुमान इव प्रयोग इव नियतधूम्याट, प्रह्लादान्वय इव प्रचण्डविरोचन., वैष्णवजन इव स्पृहणीयविधुपाद, ईश्वर इव अखण्डनमज्जनसुख:, साधुजनसङ्ग इव क्रमहीयमानदोषावसर, हरिभक्त इव सदानुकूलजगत्प्राण, पुण्यवान् जन इव भद्र-श्रीरसविलाससुखो निदाघसुभगो नाम।

(३) पुरन्दरधनुर्लतातिलकचारुभालस्थला
तडित्कनककेतकीदललसत्तम:कुन्तला।
विलोलविषकण्ठिका विमलमालभारिण्यसौ
नवोन्नतपयोधरा हरिमनोहरा दिग्वधू ।।

सारङ्गीकुलकाकुकर्षणविधेराश्वासवाङ्मानिनी
मानक्षोदनपेषणी भ्रमिवलद्सुस्निग्धमन्द्रध्वनि.।
नृत्यन्मत्तमयूरमौरजरव प्राणेशविश्लेषिणी
प्राणाकर्षणमन्त्रपाठनिनदो मेघस्वन श्रूयते ।।

(४) मधुरसका मधुरा काशते।

(५) क्वचन च श्रीकृष्णस्य रासविलासविशेषसमुचितमणिस्थलीपरिसर । क्वचन च पवन-समुद्धूतविविधकुसुमपरागवितर्तिवितन्यमानश्रीकृष्णार्थकसितवितान ।

(६) किञ्च कुण्डलादौ कौटिल्यम्, हारादौ लौल्यम्, करचरणादिषु राग. कुसुमादि-धूलीष्वेव रज, अन्धकार एव तम, रत्नादिष्वेव काठिन्यम्, युग्मे एव द्वन्द्वम्, पवनादौ मन्दता, लोचनयोरेव चाञ्च-ल्यम्, जलेष्वेव नीचगामिता, व्यभिचारिभावेष्वेव ग्लानिशङ्कादैन्यविषादय । यत्र चारुणोदय एव प्राचीरागागम ह रनटनविलास एव महाट्टहास -.. यत्र पुरे मूर्त्त इव वात्सल्यरस., शरीरभृदिव शुद्ध-सत्वम्, सार इव सकलसौभाग्यस्य, द्वीप इवानन्दमहासमुद्रस्य . .।

निष्कर्ष रूप मे कह सकते है कि 'आनन्दवृन्दावनचम्पू' का वृन्दावन एक ओर तो चैतन्य दर्शन की लोकोत्तर विभूतियो का वहाँ आधान करता है और दूसरी ओर उसमे अलंकृतकाव्यरचना-शिल्प का सायास प्रयोग हुआ है। जहाँ तक मान्यता की बात है—वह चैतन्य के भक्तिदर्शन की दृष्टि से पूर्णतः प्रभावित है।

चैतन्य-सप्रदाय के आचार्यो द्वारा रचित साहित्य ग्रन्थो मे 'विदग्धमाधव' और 'ललितमाधव'—दो सस्कृत के दृश्यकाव्य अत्यन्त प्रसिद्ध और समादृत है। उनमे भी अनेक प्रसगो पर वृन्दावन के महत्त्व की साक्षात् या परोक्ष रूप से गरिमा व्यक्त है। उक्त मतानुसारी मधुचर्या और विलासभूमि के रूप मे, साहित्यिक परिपार्श्व मे वह भूमि मधुचर्या की रम्य स्थली है। उसमे अभिव्यक्त धारणा से साप्रदायिक दृष्टि का पूण सकेत मिलता है।

निम्बार्क दृष्टि

इस सप्रदाय को रसोपासना का मार्ग मानते है जिसमे 'हितभाव' और 'हिततत्व' का विशेष महत्त्व होने से रसस्वरूप ब्रह्म की अनुभूति का उपासना मार्ग 'हित'-मूलक है और यह साधन वस्तुतः आध्यात्मिक योगसाधना है। परमात्मा के हिततम गुणगण को प्राणकारण मानकर परमात्मा ही प्राणपति ब्रह्म कहा गया है और 'हित' है भूमा। यही भूमाविद्या निम्बार्क मत का मूलसार है। प्राणपति होने से 'हित'—प्राण (जीव) से अभिन्न भी है और भिन्न भी। 'हित' उसी प्राणात्मा मे रमण करता है इसलिए 'आत्माराम' है। 'हित', सुख या आनन्द की भूमावस्था, अनाद्यन्त प्राचुर्यस्वरूपा स्थिति है, समस्त सासारिक बाह्य सुखो से महत्तर और महत्तम (परम महान्) वह आभ्यतर सुख है।

भगवान् की लीला में ही 'हिततत्व' की अभिव्यक्ति या आविर्भूति होती है। लीला के तीन प्रकारो—वास्तवी, प्रातिभासिकी और व्यावहारी—मे वास्तवी लीला की स्थली है अक्षरब्रह्म अर्थात् हृदयस्थल। साधना की उच्च भूमिकारूढ़ हितभक्तो के अत.करण मे भी वही प्रतिभासमान रहती है। पर सिद्ध भक्त साक्षात्कार करता है वृन्दावन की नित्यलीला का, नित्यविहार का, भगवान् की रसमयी मधुर क्रीडाओं का। दूसरे शब्दों मे उक्त अन्तस्थली ही यथार्थ वृन्दावन है जहाँ नित्य-निकुंजलीला होती रहती है और भक्त उसी के साक्षात्कार द्वारा आनन्दमय हितरस मे द्रष्टा होकर भी तत्सुखीभावेन रसभोक्ता बना रहता है। 'गोलोक' ही नित्य वृन्दावन है और वही सदासर्वदा

वास्तवी मधुरलीलाएँ होती रहती है । इस लीला मे स्त्रीयाभाव का ही प्रामुख्य है.। भक्तो के तत्सुखी-भावापन्न हृदय मे उसीका प्रतिभास होता है—अत वह प्रातिभासिकी लीलास्थली है। ब्रजभूमि की वृन्दावन-लीलाएँ व्यावहारिकी है। यह 'क्षर' लीला मानी गयी है। हृदय में भूयमान लीला अक्षर लीला है। नित्य गोलोकधामरूपी नित्य वृन्दावन की नित्यविहारलीला—वस्तुत. क्षर और अक्षर—उभयातीत, है, अकथ्य है, वर्णनातीत है। हृदय मे उस वर्णनातीत वास्तवी लीला का प्रतिभासमात्र होता है अत उसे प्रातिभासिक वास्तवी लीला कह देते है। साक्षात्कारगम्य होने से अक्षर लीला वास्तवी कह दी जाती है। (सभी तत्सुखीभावापन्न सखीसम्प्रदायो पर इस मत का थोडा-बहुत प्रभाव पडा है।)

अत इस मत के अनुसार हृदयस्थल के अगुष्ठ परिमाणरूप वास्तविक लीलास्थली को सर्वाधिक महत्त्व है। 'वृन्दावन' वस्तुत गोलोक ही है, पर अकथ्य, क्षराक्षरातीत और वाग्अगोचर होने से उसकी प्रतिभासभूमि को अक्षर 'वृन्दावन' और वास्तविक लीला साक्षी कहते है। ब्रजभूमिस्थ वृन्दावन क्षरवृन्दावन या व्यावहारिक वृन्दावन है। अत यहाँ वृन्दावन के तीन रूप है—अक्षरक्षरातीत, अक्षर और क्षर। पर व्यवहारतः दो रूप है—अक्षर और क्षर या प्रातिभासिक (इसी मे वास्तविक भी गतार्थ है।) और व्यावहारिक। यह मत बृहत्सदाशिव सहिता, औदुम्बर सहिता, सनत्कुमार सहिता आदि अनेक सहिताग्रन्थो की मान्यताओ से थोडा या बहुत मिलता-जुलता है। गोलोकीय वृन्दावन और भौमवृन्दावन वाले मतो के भी निकट है। इसी द्विविध 'वृन्दावन'मत का अनेक रूपो मे सर्वाधिक विकास मिलता है।

चैतन्य दर्शन में

मधुरोपासक कृष्ण-भक्तों मे चैतन्य सप्रदाय का अपना एक विशिष्ट स्थान है। इस मत को कुछ लोग गौडमाध्वसम्प्रदाय भी कहते है और इसका एक दार्शनिक नाम अचिन्त्यभेदाभेदवाद भी है। इस मत में भी ईश्वर की तीन कोटियाँ है—ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् । भगवान्स्वरूप ही उत्कृष्टतम रूप है, यहाँ भगवान् की समस्त विभूतियाँ, समस्त ऐश्वर्य, समस्त उत्कृष्ट गुण एव सम्पूर्ण शक्तियों का पूर्व विकास एव प्रकाश दिखाई देता है। यही भगवत्स्वरूप वस्तुत भगवान् श्रीकृष्ण का स्वरूप है जहाँ उनके समग्रानन्दमय स्वरूप का चरम प्रकाश और परम उत्कर्ष—अपने पूर्ण एव विशुद्ध सत्व के साथ—सच्चिदानन्दमय रसानन्द मे प्रकाशमान रहता है और नित्यविहार मे वह नित्यनिरत रहता है। इस रूप मे भगवान् श्रीकृष्ण अपने नित्यकृष्णधाम मे गोपियो और गोपियो की महाभाव-स्वरूपा श्रीराधारूपा (आह्लादिनीशक्ति) के साथ—अपने समस्त परिकरो और व्यूहों के सहित चरम माधुर्यमयी रसलीलाओ मे निमग्न रहकर नित्यविहार एव नित्यलीला करते हुए अनन्त आनन्द-सागर का प्रसार करते रहते हैं ।

श्रीभागवत्संदर्भ मे श्रीकृष्ण के इसी लीलाधाम का वर्णन करते हुए जीवगोस्वामी ने (स्कन्द-पुराण और पद्मपुराण के साक्ष्य पर) बताया है कि वह धाम वैकुण्ठ ही है जिस अखिल वैकुण्ठ का उपरिभाग ही श्रीकृष्ण का लीलाधाम है जिसका नाम गोलोक है। वैकुण्ठ मे जो-जो लीला के स्थान है भगवान् के भूलोक-प्रकाशित श्रीकृष्ण की लीला के निमित्त वे सभी धाम भूलोक मे प्रकाश पाकर लक्षित होते है । श्रीजीवगोस्वामी के मत से दर्शन-साक्षात्कार—आज भी, सर्वदा भी श्रीकृष्ण के नित्यसिद्ध, मधुरोपासक, महाभावापन्न महाभागवत भक्तगण करते रहते है। किन्तु चर्मचक्षुवाले प्रपंच-

मग्न जनो के लिए.वह सदा अदृश्य ही रहता है। अत भूलोकस्थ श्रीकृष्णधाम भी नित्यधाम ही है और नित्यलीलादि की शाश्वत एव अलौकिक विभूतियो से भी वह मण्डित है। तत्वत श्री भगवान् के नित्याधिष्ठान होने से.यह भूस्थ गोलोक किंवा वृन्दावन भी—सर्वत और सर्वथा—वैकुण्ठलोकस्थ गोलोकाख्य श्रीकृष्णधाम से पूर्णत, अभिन्न और एकविध है । भगवान् श्रीकृष्ण की 'प्रकाश' नामक एक शक्ति है—जिसके बल से उनका श्रीविग्रह नित्यरूप से सर्वकाल में गोलोक धाम मे वर्त्तमान और प्रकाशमान रहते हुए भी, भूतल पर भी—प्रकाश शक्ति की महिमा से—वर्त्तमान रहता है।

"वस्तुतस्तु श्रीभगवन्नित्याधिष्ठानत्वेन तच्छ्रीविग्रहवदुभयत्र प्रकाशादिरोधात् समानगुणनामरूपत्वे नाम्नातत्वाल्लाघवाच्चैकविधत्वमेव मन्तव्यम्। एकस्यैव श्रीविग्रहस्य बहुत्र प्रकाश च द्वितीयसन्दर्भे दर्शितम् · । एवं विधत्व च तस्याचिन्त्यशक्तिस्वीकारेण सम्भावितमेव। स्वीकृतञ्चाचिन्त्यशक्तित्वम्। गोलोक-गोकुलयोरभेदेनैवोक्तम्। तस्मादभेदेन च भेदेन चोपक्रान्तत्वादेकविधान्येव श्रीमथुरादीनि प्रकाश-भेदेन तूभयविधत्वेनाम्नातानीतिस्थितम्। 'दर्शयिष्यते ह्यग्रे। क्षोणिप्रकाशमान एव श्रीवृन्दावने श्रीगोलोक-दर्शनम्। ततोऽस्यैवापरिच्छिन्नस्य गोलोकाख्यबृन्दावनीयप्रकाशविशेषस्य वैक्कुण्ठोपर्य्यपि स्थितिमाहात्म्य-विलम्बनेन भजतां स्फुरतीति ज्ञेयम्।" (वही, पृ० ३७४) (इममेवलोक द्युशब्देनाप्याह)।

इस सन्दर्भ मे यह भी स्मरणीय है कि जब प्रापचिकलोकागोचर उक्त द्युलोक मे (जो गोलोक का एक इतर नाम है और जो मथुरा आदि का ही प्रकाश-विशेष है) जब श्रीकृष्ण चले गये तब लोक मे कलि का प्रवेश हो पाया। मथुरादि का प्रकाश, पृथिवीस्थ यह श्रीकृष्णलोक—वस्तुतः सर्वत. स्वतन्त्र लोक है, वैकुण्ठ का आवरणमात्र नही। यह द्वारकामथुरागोकुलात्मक श्रीकृष्णलोक, श्रीभगवान् श्रीकृष्ण के नित्यविहार का नित्य लीलाधाम सर्वोपरि है।

इन द्वारकामथुरागोकुलादि मे वृन्दावनस्वरूप गोकुल वस्तुतः सर्वश्रेष्ठ है—"स्वतन्त्र एव द्वारका-मथुरा-गोकुलात्मक श्रीकृष्णस्य लोक स्वयं भगवतो विहारास्पदत्वेन भवति सर्वोपरीति सिद्धम्। अतएव वृन्दावन गोकुलमेव सर्वोपरि विराजमान गोलोकत्वेन प्रसिद्धम्। (श्रीभागवतसन्दर्भ, श्रीकृष्ण-सन्दर्भ, पृ० ३६४)। अपने कथन की पुष्टि तथा सिद्धि के लिए उन्होंने ब्रह्मसहिता, वृहद्वामनपुराण एव नारदपाञ्चरात्र से लम्बे-लम्बे उद्धरण उद्धृत करते हुए उन उद्धरणो की स्वमतपोषक व्याख्या भी की है। अन्त में निष्कर्षात्मक सिद्धान्त की स्थापना करते हुए घोषित किया है कि श्रीकृष्णलोक ही सर्वोपरि है—तदेवं सर्वोपरि श्रीकृष्णलोकमेवेति सिद्धम् (वही–पृ० ३६६)।

वह लोक, लीला परिकरादि के भेद के कारण अशभेद से द्वारका, मथुरा और गोकुल—इन तीन नाम वाला, स्थानत्रयात्मक है—ऐसा निर्णय किया गया है। वैकुण्ठधामोपरिस्थित सर्वधामोपरि विराजमान, श्रीकृष्णधाम के समान ही अन्यत्र भूलोक मे भी जो उक्त नामत्रयात्मक श्रीकृष्ण धाम है तद्रूपत्वेन सुने जाते है, उनमे भी वैकुण्ठातरवत् वैकुण्ठस्थ कृष्णधाम के प्रपचातीतत्व, नित्यत्व, अलौकिकत्व, भगवन्नित्यास्पदत्व आदि गुण स्वीकार किये गये है। अपने इन वचनो की पुष्टि मे वाराह, आदिवाराह, स्कन्द, वायु, पद्म आदि पुराणो, गोपालतापनी उपनिषद् तथा गौतमीतन्त्र के वचनो का जीवगोस्वामी ने प्रमाण प्रस्तुत किया है। यह भी बताया है कि भूलोकस्थ श्रीकृष्णधाम की नित्यलीला, वहाँ का नित्यविहार एव उस धाम के प्रपचातीतत्व, अलौकिकत्व आदि वैभवगुणादिकों की गोकुल आदि में नित्यस्थिति रहती है। परन्तु वह जनसामान्य के लिए अगोचर है। वह वर्त्तमान रहकर भी अंतर्द्धान शक्ति की महिमा से पृथिवी को (पार्थिव सम्बन्धोपाधियो को) स्पर्श न करता हुआ विराजमान रहता है। इसी कारण अन्तर्धानिशक्तिकलित पृथिवीस्थ द्वारिकादि नित्य कृष्णधामो

का धरती दर्शन नही कर पाती। परन्तु दूसरी ओर मथुरादि धाम का प्रापचिकलोकगोचर जो प्रकाश होता है—वह भक्तवत्सल नन्दनन्दन की कृपा से अवतीर्ण हुआ है। उस अवसर के इस प्रकाशरूप में जब स्वय भगवान् भी लोकानुग्रहकामना के कारण अवतीर्ण होते हैं. तब भक्तानुग्रही श्रीकृष्ण के स्पर्श से भी वे प्रकाशरूप, मथुरादि को स्पर्श करके विराजमान रहते हैं—"यस्तु प्रापञ्चिकलोकगोचरो मथुरादि—प्रकाश सोऽप्य कृपया पृथिवी स्पृशन्नेवावतीर्ण। अतस्तया च स्पृश्यते। अस्मिश्च प्रकाशे यदावतीर्णो भगवान् तदा तत्स्पर्शेनापि तत्स्पर्शात्ता स्पृशन्नेव भवति।" (वही पृ० ३७५)। सप्रति जब श्रीकृष्ण अस्पृष्ट प्रकाश मे विहरमाण हैं तब वे पृथिवी से अस्पृष्ट हैं। श्रुतियो में इसी धाम को 'स्वर्ग' शब्द से भी कहा गया है, श्रुति मे (केनोपनिषद् मे) 'काष्ठा' शब्द से भी।

अत: चैतन्य मत का 'वृन्दावन' वस्तुत गोलोक से सर्वथा अभिन्न है। प्रकाशशक्ति के द्वारा अनेक स्थानो पर एक साथ ही उसी रूप मे प्रकाशमान भी रहता है। श्रीभगवदनुगृहीत भक्तजनो के लिए सर्वदा गोचर भी है। अन्तर्द्धान शक्ति की महिमा से वह भगवदनुग्रह के अभाजन जनो के लिए तिरोहित रहता है। सिद्धदेह के भावसिद्ध भक्त, आज भी भौम वृन्दावन के प्रकाशरूप का रसास्वादन करते हैं। यही है—चैतन्य मत की धारणा जो अशत विलक्षण है और विशिष्ट भी।

वल्लभ और अष्टछाप का वृन्दावन

'वल्लभ' का भक्तिसम्प्रदाय और अष्टछाप के कवियो की दृष्टि—इस मत के अनुसार श्रीकृष्ण (पूर्ण पुरुषोत्तम रसरूप परब्रह्म) अपने जिस अक्षरधाम में नित्य विहार करते हैं—सदा लीलामग्न रहते हैं वही उनका निजधाम गोलोक है, वही गोकुल या वृन्दावन भी है। आनन्दकन्द लीलापति श्रीकृष्ण का यह लीलाधाम है। वह साक्षात्कृष्णस्वरूप है, अक्षरब्रह्म से अभिन्न है। यह सर्वव्यापी लोक है और यहाँ श्री भगवान् की नित्य आनन्दप्रसारिणी शक्तियो का शाश्वत विलास सर्वदा स्फुरित-उन्मिषित होता रहता है।

भक्तानुग्रहकाङ्क्षया जब भक्तो के आनन्ददानार्थ श्रीकृष्ण इस भौम-लोक मे अवतार लेकर आते हैं तब नाना दिव्य शक्तियो के साथ-साथ उनकी समग्र, रसाभिप्लुत, मञ्जुल लीलाओ के सहित गोलोक का भी अवतरण होता है। उसी नित्यविहार और नित्यलीला के आधाररूप गोलोक का अवतारमय रूप ही गोकुल अथवा ब्रजवृन्दावन है। यह 'वृन्दावना'ख्य लीला धाम सदा मायिक गुणो से पृथक् बना रहता है। अणु भाष्य के एक वचनानुसार (अध्याय ४, पद २, सूत्र १५) इस सप्रदाय में वैकुण्ठ आदि लोको से भी अधिक गोलोक अथवा गोकुल की महिमा स्वीकृत है।

इस मत के अनुयायियो का चरम काम्य है भगवान् की परम मधुर, रससमूहरूपा, रासलीला का रसात्मक साक्षात्कार तथा गोलोक मे भगवदनुग्रह से पुष्ट जीव का पहुँच कर नित्य लीलादर्शन का रसास्वादन। इसी श्रीकृष्ण के लीलारस से सर्वतोभरित गोकुल-ब्रज-वृन्दावन-लीलाओं का गानरस—अष्टछाप के कवियों का परम प्रिय पथ रहा है। 'सूरदास', 'नन्ददास', 'परमानन्ददास', 'कृष्णदास' आदि कवियों मे इसका गान बडे उल्लास से अकित हुआ है।

सूरदास—गोसाईं विट्ठलनाथजी से पहले मधुरभावाश्रित उज्ज्वलशृगार की उपासना तथा तत्सम्बन्धी पदगान की ओर वल्लभमत मे बल कम था। पर विट्ठलनाथजी की प्रेरणा से और उन्हीं के समय से प्रेमा भक्ति या दिव्यकामलीलाश्रित मधुर भक्ति के प्रसगों का यहाँ भी व्यापक प्रचार चल पड़ा। अत. हिन्दी मे अष्टछाप तथा तत्परवर्ती काल के कवियों में उक्त प्रसग के पद, काव्य आदि की प्रचुरमात्रा में रचना हुई। इस व्यापक प्रभाव का संकेत यह है कि 'सूर' पर

महाप्रभु वल्लभाचार्य की पुष्टिभक्ति का प्रभाव और प्रेरणा काफी थी। इसी कारण उन्होंने श्रीकृष्ण की बाललीला के मधुरतम, चारुतम, ललिततम जिन पदो का निर्माण किया और सश्लिष्ट रूपबिम्बो के सहज स्वाभाविक मूर्त्तन द्वारा भावयोग के जिस धरातल पर अपने काव्य को प्रतिष्ठित किया वह हिन्दी साहित्य मे आज तक अभूतपूर्व और अभूतपश्चात् भी है। परन्तु बाललीला की सहजमूर्त्ति के विधान मे प्रौढतम शिल्पी होकर भी भक्तिश्रृगार, रतिविहार और कामकेलि के काव्य का काफी बडी मात्रा मे 'सूर' ने निर्माण किया। इतना ही नही—घोर भौतिक श्रृगार के अनुरूप व्यापारो और विधानो का तथा कोककला की विधियो का अनुसरण करते हुए भक्तिश्रृगार की भक्तिमयी विवृतियो का उन्होने भी उसी प्रकार अकन किया जैसा कि राधावल्लभ, गौडवैष्णव, हरिदासी-सखी-सप्रदाय आदि के मधुरोपासको ने चित्रण किया है।

पर इन सबके रहने पर 'सूर' की वृन्दावनलीला मे (वृन्दावन से प्रस्थान के अनन्तर) गोचारण आदि के प्रसग मे अत्यन्त ललित एव भावरम्य वर्णन मिलते हैं। 'सूरसागर' (नागरीप्रचारिणी सभा-काशी-सस्करण) मे ३९९ पृष्ठ से वृन्दावन लीला का आरम्भ होता है और लगभग उत्तरार्ध के १२८० पृष्ठो तक विभिन्न लीलाएँ चलती हैं। इनमे बाललीला भी है, दानवादि के वध की कथा भी है, चीरहरण, दानलीला, गोवर्द्धन-धारण, गोपीगीत, रासलीला, वृन्दावनविहार-रसकेलि, जलविहार, पनघटलीला, मानलीला, ऋतुलीला और विरहमिलन आदि के विविध प्रसग भी हैं।

'सूरदास' ने वृन्दावन के सम्बन्ध मे (सूरसागर-पृ० १२०४-५) कहा है—

> 'नित्यधाम बृन्दावन स्याम। नित्य रूप राधा ब्रजबाम ।।
> नित्य रास, जल नित्य बिहार। नित्य मान, खडिताऽभिसार ।।
> ब्रह्मरूप येई करतार। करन हरन त्रिभुवन येइ सार ।।
> नित्य कुज-सुख नित्य हिँडोर। नित्यहि त्रिविध समीर झकोर ।।
> सदा बसत रहत जह बास। सदा हर्ष जहँ नही उदास ।। इत्यादि।

कहने का तात्पर्य यह कि 'सूर' के यहाँ भी नित्य वृन्दावन और नित्यविहार की भावना अकुरित-पल्लवित दिखाई देती है। वहाँ भी सदा फाग और बसत की मधुमयी केलि का रस नित्य बहता रहता है, सदा वर्षा की हरियाली और 'हिंडोल' की अजस्र कालिन्दी बहती रहती है, शारदी ज्योत्स्ना की अमृतरसवर्षिणी राका मे आनन्द का सुधासागर सदा लहराता रहता है।

> देखौ बृन्दावन खेलहि गोपाल। सब बनि ठनि आईं ब्रज की बाल ।।
> नववल्ली सुन्दर नव तमाल। नव कमल महा नव नव रसाल ।।"
>
> (वही, पृ० १२०६–७-नागरीप्रचारिणी सस्क०)

अथवा—"खेलत नवलकिसोर किसोरी।
नन्दनन्दन वृषभानुसुता चित, लेत परस्पर चोरी।" (वही० पृ० १२१०)

इसी प्रकार—"खेलत हैं अति रसमसे, रँग भीने हो।
अति रसकेलि बिलास, लाल रगभीने।"

फाग और हिंडोला का बडा लम्बा-चौडा विवरण सूरसागर मे है —
"हिंडोरनौ (माई) झूलत गोकुल चद।
संग राधा परम सुन्दरि, सबनि करत अनद ।।

अथवा—"हिंडौरे झूलत स्यामा साम।
ब्रज जुवती मडली चहूँधा, निरखत बिथकित काम ।।

पर जैसा कि सकेत किया गया है, किशोरलीला के अतिरिक्त बाललीला, गोचारण आदि के भी सैकड़ों अत्यन्त मजुल पद 'सूर' के 'सागर' मे है—

"धन यह वृन्दावन की रेनु।
नदकिशोर चराई गैया, मुखहि बजाई वेनु ।।
मदनमोहन को ध्यान धरत जो, अतिसुख पावतु चैन।
'सूरदास' यहाँ की सरवरि नही कल्पवृक्ष सुरधेनु ।।"

(सूरसागर, वेकटेश्वर प्रेस—पृ० १५८)

इसी प्रकरण मे आगे चलकर 'रास' की कैशोरलीला और वृन्दाविपिन-विहार भी सपूर्णतः उज्ज्वलश्रृगार के मधुर भावों से ओत-प्रोत है—"बिहरत कुजनि कुज बिहारी" की मनोरम लीलाएँ सदा चलती रहती है। नागरकिशोरीमणि और गोपबालाओ के साथ चलते हुए 'विहार' और 'रास-रस' को देखकर अध सूर की रसदर्शिनी आँखे सदा सब कुछ भूल जाती है और उनके मनश्चक्षु को वह वृन्दावन जहाँ—

"चरावत वृन्दावन हरि धेनु"—सबसे प्यारा लगता है और वे कह उठते है—"वृन्दावन मो को अति भावत।"

नंददास की 'रासपचाध्यायी' का सपूर्ण चित्र वस्तुत वृन्दावनविहार का ही वर्णन है। वहाँ उन्होने स्पष्ट कहा है—

"अब सुन्दर श्री वृन्दावन को गाई सुनाऊँ।
सकल सिद्धिदाइक नाइक पै सब विधि पाऊँ—
वृन्दावन चिद्घन, कछु छवि बरनि न जाई।"
कृष्ण ललित लीला के काज धरि रह्यो जडताई।"

('अष्टछाप और वल्लभ सप्रदाय'–ग्रन्थ मे उद्धृत पृ० ४९३)

डा० दीनदयाल गुप्त ने अपने ग्रन्थ (अष्टछाप और वल्लभ सप्रदाय पृ० ४८८–९६) मे अपने निजी (अप्रकाशित) पद-सग्रह मे से एव कुछ अन्य प्रकाशित ग्रन्थो से नन्ददास परमानन्ददास, आदि के एतद्विषयक पद आदि उद्धृत किये है। इसी प्रकार गो० हरिरायजी (जो इसी सप्रदाय के कहे जाते है) के यहाँ भी 'वृन्दावन' को द्विविधरूप प्राप्त है। वह—कृष्ण की गोचारणादि लीलाओ की क्रीडास्थली है और मधुरलीलाओ की रमणभूमि भी है—

"श्रीवृन्दावन निकुज ठाढे उठि भोर।
बाहें जोरि बदन मोरि, हँसत सुरति रस बिभोर।
सकुचत पुनि लजात, नैनन की कोर।"

अथवा—"वृन्दावन सघन कुज, माधुरी द्रुम भवर गुज,
नित बिहार प्रिया प्रीतम देखिबोई कीजै ।।"

(गो० हरिरायजी के पद— पृ० ८३-८४)

अधिक विस्तार मे न जाकर—यही कहना है कि 'वल्लभ' मत का 'वृन्दावन' भी प्रेममयी वात्सल्य लीलाओं के साथ-साथ मधुरभावपरक उज्ज्वलश्रृगार की भी रसमयी भूमि बन गयी है।

राधावल्लभ सम्प्रदाय मे

हिन्दी के कृष्णभक्त कवियो मे राधावल्लभ सप्रदाय की वृन्दावन दृष्टि अपना विशेष महत्त्व रखती है। हितप्रभु के अनुयायियो और उनके सप्रदायगत वाणी-ग्रन्थो मे (जिनका प्रकाशित और अप्रकाशित वाङ्मय अत्यन्त विशाल है) ब्रजमडलान्तर्गत दृश्य और गोचर वृन्दावन की महिमा का गान हुआ है, सूक्ष्म, रहस्यमय, अलौकिक, सकल्पगम्य और आध्यात्मिक वृन्दावन का नही। यह अवश्य है कि वृन्दावन की महिमा, गरिमा, रम्यता, शक्ति एव नित्य प्रवर्तमान लीलाओ और उसके गुण, आनन्द तथा रसात्मक स्वरूप का बोध एव सवेदन केवल सच्चे भक्त को, हिततत्व के सच्चे मर्मज्ञ को, तत्सुखी-भावना से उपासना करनेवाले सहचरीभावापन्न उपासक को ही हो सकता है। विषयकलिल दृष्टिवाले मोहपाशबद्ध और रागद्वेषादिग्रस्त जीवो को नही। इस प्रकार यहाँ भी रहस्यमयता का स्पर्श दिखाई दे जाता है। पर उसका मूल है भावमूलक उपासना पद्धति। 'भाव' अथवा 'रस' सवेदनालोक की, अनुभूतिबोध के क्षेत्र की, वस्तु है। अत वह क्षेत्र उसीके लिए सवेदनीय होगा, उसीकी सवित्ति के लिए अनुभवनीय होगा जो तद्रूप भावभूमिका के स्तरविशेष तक पहुँच सकेगा। अत सवित्क्षेत्रीय उक्त रहस्यकल्प का आवरण रहने पर भी राधावल्लभ सप्रदाय की वाणियो और उक्तियो का वृन्दावन कल्पनाचित्रित अथवा अध्यात्मलोकीय न होकर भौतिक ही है। तरुवल्लरियो से वेष्टित कुञ्जो-गुल्मो से सुशोभित, रासेश्वरी श्रीराधा और नित्यविहारी श्रीकृष्ण की रम्य रासस्थली है, नित्यविहार की भूमि है, युगलमूर्त्ति की मधुरकेलियो का स्थान है।

नित्यविहार का रम्य स्थल और नित्यसयोगी युगलप्रेमी के शाश्वत प्रणयविलास का नित्य धाम होने के कारण वह प्राकृत होकर भी अलौकिक है और भौतिक होकर भी नित्य है। वृन्दावन के इस अद्भुतरम्य रूप की चर्चा—हितप्रभु के 'राधासुधानिधि' ग्रन्थ मे आद्यंत भरी हुई है। उन्होने इस मधुमय विपिन की भौतिक किन्तु नित्य महिमा गाते हुए कहा है कि हे मेरे चित्त, समस्त महानो के समूह का दूर से त्याग करके प्रेम के साथ वृन्दाटवी का अनुसरण कर—

"वृन्दानि सर्वमहतामपहाय दूराद्वृन्दाटवीमनुसर प्रणयेन चेत।"

उनकी दृष्टि मे इस वृन्दावन की सर्वाधिक महिमा का कारण है—यहाँ उनकी उपास्य श्रीराधा की नित्य-स्थिति जो नित्यविहारिणी है—

"किं वा वैकुण्ठलक्ष्म्याहह! परमया यत्र मे नास्ति राधा
किन्त्वाशाप्यस्तु वृन्दावनभुवि मधुरा कोटिजन्मान्तरेऽपि॥ (२१६)

राधारहित वैकुण्ठलक्ष्मी से उन्हे कोई प्रयोजन नही है। वे जन्मजन्मांतर मे—करोड़ो जन्म तक इसी माधुर्यमयी वृन्दावनभूमि की कामना करते रहना चाहते है। वे श्रीराधा को (जो उक्त संप्रदाय की परमाराध्या है) 'वृन्दावनमात्रगोचरमहो' कहकर केवल वही उनकी नित्यस्थिति मानते है। गोलोक और कृष्णलोक मे भी नही। नित्यविहार की परम रम्य रसमाधुरी का एकमात्र अधिष्ठान और अतएव उसका कारण वृन्दावन भूमि ही है। श्रीराधामाधव के नित्यविहार और श्रीराधा की परम रसमाधुरी को वैकुण्ठ भला कहाँ जान सकता है? उसे तो वृन्दावन ही जानता है। श्रीराधा की माधुरी को मधुपति नटनागर जानते है तथा उनकी माधुरी को जानती है रासेश्वरी श्रीराधा एव दोनों की मधुरिमा का साक्षी है वृन्दावन और साथ-ही-साथ किशोरयुगल की वृन्दावनरूपा सखियाँ किंकरियाँ—क्योकि उन्हे राधा से वह रसबोध प्राप्त है—

किम्ब्रूमोऽन्यत्र कुण्ठीकृतजनपदे धाम्न्यपि श्रीविकुण्ठे,
राधामाधुर्यवेत्ता मधुपतिरथ तन्माधुरी वेत्ति राधा।
वृन्दारण्यस्थलीय परमरससुधामाधुरीणा धुरीणा,
तद्द्वन्द्व स्वादनीय सकलमपि ददौ राधिका किङ्करीभ्य ।। (रा० सु० १७५)

एक दूसरे श्लोक में हितप्रभु अपने मन को सम्बोधन करते हुए कहते हैं —

राधाकरावचितपल्लववल्लरीके राधापदाङ्कविलसन्मधुरस्थलीके ।
राधायशोमुखरमत्तखगावलीके राधाविहारविपिने रमता मनो मे ।।

श्रीललिताचरणगोस्वामी ने अपने ग्रन्थ—'श्रीहितहरिवश गोस्वामी' में इस सप्रदाय के अनुसार वृन्दावन के स्वरूपवोध का बडा ही पूर्ण और सप्रदायमान्य परिचय (पृ० १४५–१६३) दिया है। उसी के आधार पर इस मत के 'वृन्दावन' की धारणा का नीचे सक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है—

"राधावल्लभीय सिद्धान्त की दृष्टि से प्रेम का प्रथम सहज रूप और आकृति श्री वृन्दावन है। चूंकि पूर्ण प्रेम नित्यनूतन और एकरस रहता है अत वृन्दावन भी नित्य नूतन और एकरस है। साथ ही परम सौन्दर्य और परम प्रेम का धाम है। उसमे अतिकमनीय नवल निकुज विराजमान रहते है और वहाँ परिकर सहित मीनकेतन, निकुजसदनो को सदा सँवारते सजाते रहते हैं ('अतिकमनीय विराजत मदिर नवल निकुज। सेवत सगन प्रीतिजुत दिनदिन मीनध्वज पुज'—हि० चतु० ५७)। स्वर्णरत्नमणिमाणिक्यमयी वृन्दावनरसा मे कर्पूररज झलकती है, कल्पतरु और कामवल्लरियो के अनत फल, पुष्प, पराग, मकरन्द, पुष्पमधु आदि के रूप, रस और गन्ध का नित्य वैभव छाया रहता है। कुजो में अद्भुत प्रकाशज्योत्स्ना फैली रहती है। मत्तमधुपगुजार, मधुरविहगकूजन, पशुपक्षियो का आनन्द-विलास और कलकल कोलाहल होता रहता है। समस्त कुजभवनो मे कोमलमधुरानन्दमय शय्या बिछी रहती है तथा समस्त उपयोगी और सुखद सामग्रियो को सहचरियाँ सदा प्रस्तुत किये रहती हैं।"

इस प्रकार वृन्दावन अनन्त सौन्दर्य का धाम है, उसके कणकण, अणुअणु मे सौन्दर्य की अनत भगिमाएँ तरगायित होती रहती है। यह अनाद्यन्त सौन्दर्यराशि, तत्वत नित्य भाव से एकरस प्रेम के साथ सदाबद्ध है। यही वृन्दावन की वह भूमिका है जहाँ प्रेम और सौन्दर्य परस्पर ओत-प्रोत रहते है और जहाँ एकरस प्रेम का शाश्वत स्फुरण होता रहता है। यह एकरस प्रेम सतत गतिमयी, सदा धारावाहिक और सर्वदा अखण्ड होता है। वृन्दावन वह रसस्थान है जहाँ प्रेम का एकरस पान सदा होता है। वहाँ आनन्दसिन्धु की तरगे उठती ही रहती है, वहाँ अनुराग के मेघो की मन्द वर्षणी मे छवि के दो फूल 'श्यामाश्याम' फूले रहते है। वृन्दावनरूपी रूपसरोवर मे गम्भीर प्रेमनीर सदा भरा रहता है। वहाँ प्रेममुग्ध भाव से रसिकयुगल सदा मज्जन करते रहते हैं।'

काव्यरस की दृष्टि से राधावल्लभीय हितरसास्वादन मे 'वृन्दावन' को उद्दीपन विभाव कहा जा सकता है, किन्तु वृन्दावन रसरीति मे युगलकिशोर के (श्यामाश्याम के) उज्ज्वलरसीय पुण्यकेलियो और रतिलीलाओ में वृन्दावन का योगदान अत्यन्त सक्रिय है। वही से अनेक मधुरलीलाएँ प्रवर्तित होती हैं। इनमे कभी-कभी रस की अत्यन्त विरल और मधुमय लीलाएँ होती रहती हैं जो श्यामसुन्दर को अत्यन्त प्रिय हैं—

बन की लीला लालहिं भावैं।
पत्र-प्रसून बीच प्रतिबिंबहिं नखसिख प्रिया जनावैं ।।

सकुचि न सकत प्रकट परिरभन अलिलपट दुरि धावैं।
संभ्रम देति कुलकि कल कामिनि रतिरण-कलह मचावैं ।।
उलटी सबै समुझि नैननि मैं अजन रेख बनावैं।
(जैश्री). हित हरिवंश प्रीतिरीतिवश सजनी श्याम कहावैं ।।

तात्पर्य यह कि वृन्दावन के योग से ही राधामाधव की प्रीति का सहज, सुन्दर, लीलारूप प्रकट होता है।

'वृन्दावन' प्रेरक प्रेम की मूर्त्ति है जहाँ भोक्ता और भोग्य की उभय रीतियाँ एकीभूत होकर ही साकार होती हैं। परन्तु प्रेम के भोग्यप्राधान्य होने से यहाँ लाड़िली श्रीराधा की प्रधानता है। फलतः इसे राधा-विहार-विपिन कहते हैं। श्रीराधा केवल वृन्दावन में ही प्रकट हैं। इसी से हितानुयायियों का वृन्दावन सर्वस्व है। पर यह रसधाम तब तक उपासक के लिए अगम्य है जब तक श्रीराधिका की कृपा नही होती (.वृन्दावन अतिरम्य। श्रीराधिका कृपा बिनु सबके मननि अगम्य। हि० च० ५७)।

प्रेरक प्रेम की दो परिणतियाँ—(१) जड़ीभूतता और (२) चेतनाशीलता हैं जो क्रमशः 'वृन्दावन' और 'सहचरियों' के रूप मे मूर्त्तिमान होती हैं। जड़िमा वस्तुतः प्रम की घनीभूत स्थिति है जहाँ सघनतम होने पर प्रेम जड़वत् हो जाता है। इसी वृन्दावन के आधार पर अर्थात् जड़ीभूत प्रेम के आधार पर नित्य विहार मे चेतन प्रेम की क्रीड़ा होती हैं। वही प्रेमचेतना—चपलता में परिणत होने पर सहचरियों के रूप मे व्यक्त होता है और सघनता से जड़ होकर वृन्दावन में।

प्रेरक प्रेम का सघन रूप यह वृन्दावन—'हितप्रभु' के अनुसार इसी भूतल पर है अन्य गोलोक आदि अपार्थिव धाम में नही। प्रकट वृन्दावन ही उनके मत में नित्य वृन्दावन है। श्रीकृष्ण की माया के वशीभूत मोहगर्त्तपतित जीव वृन्दावन रत्न को पाकर भी नही अपना पाता और देख-सुनकर भी जान-पहचान नही पाता। पर जिन रसिक उपासकों की भावदृष्टि मे युगलकिशोर के प्रति सहज प्रेम का उन्मेष हो जाता है उन्हे भौम वृन्दावन का दृश्यबोध भी हो जाता है। इसे देखकर उपासक द्रष्टा की समस्त कामनाएँ विलीन हो जाती हैं और वह मायापाश से मुक्त हो जाता है।

रसलीला का आधार होने से रसोपासना का भी वह वृन्दावन सहज आधार माना गया है। उपासना की दृष्टि से वह (वृन्दावन) रस का सहज धर्म है। इसीसे जहाँ वृन्दावन की स्थिति है वहाँ प्रेम का सागर लहराता रहता है। वही वन उसका आधार है। 'वृन्दावन' ही हित का सहज धर्म है। इस धर्म का निवास श्री राधा के युगपादपद्मों मे होते हुए भी उन चरणों का वही आधार भी बना रहता है। यत इस रसोपासना की पूर्ण प्रतिमा निर्मित होती है धर्म और धर्मी को लेकर और यतः वृन्दावन उसका धर्म है और श्यामाश्याम हैं उसके धर्मी—अतः हिताचार्य की शुद्ध रसोपासना के स्वरूप–निर्माण में धर्म और धर्मी—इन दोनों का अत्यन्त महत्त्व है। इसीसे हरिराम व्यास ने 'वृन्दावन' को प्रेम की राजधानी बताया है (व्यासवाणी ४६)। वे कहते हैं कि श्यामसुन्दर वहाँ के राजा और तरुणीमणि श्रीराधा पट्टरानी हैं। अपने वृन्दावनाष्टक में कृष्णदास ने उस वृन्दावन के कुन्जगत अनन्त वैभव और अपरिमेय सुख का वर्णन बड़ी उल्लासमयी वाणी में किया है—

कुंजकुंज सैन सुखद, मैन ऐन कुंज कुंज
कुंज कुंज संगम संजोग सुख निशानी कौ।
कुज कुंज सज्जित शृंगार सौंज नई-नई
कुंज कुंज भोग जोग सौंधौं मनमानी कौ ।।

कुज कुज मडलमणिरास तत्त थेई थेई
कुज कुज गाननान तरलित सुरसानी कौं।
कुंज कुज बनितागन जूथनि अभिराम धाम
झलमलात वृन्दावन वृन्दावन-रानी कौ।।
(श्री हितहरिवश गोस्वामी . सिद्धान्त और सप्रदाय, पृ० १६२)

यहाँ कथ्य केवल इतना ही है कि श्रीहितप्रभु के सप्रदाय मे जो रसोपासना है वह सप्रदायगत मान्यता और आस्था के अनुसार वृन्दावन-रस की उपासना ही है। इस रस का स्थायीत्व भाव है वृन्दावन-रति। वही वृन्दावनरस रूप मे आस्वादनीय है, रसनीय है। यहाँ वृन्दावन-रति-रूप जो स्थायी है, तत्वत प्रेम-रति है, प्रेम के प्रति प्रेम है। फलत वृन्दावनरस यथार्थत प्रेमरस है, मधुररस है। राधावल्लभीय रसिक की रति उस एकरस और नित्यनूतन प्रेम के प्रति रहती है जिसकी ही अपर सज्ञा 'वृन्दावन' है। रसिक शब्द के वोध-विपय है श्यामाश्याम (युगलविहारी), सहचरी तत्सुखीभावापन्न सखीगण और तदनुरूप उपासक। तीनों ही प्रेम के इसी स्वरूप के रसिक हैं। वृन्दावन से, रति करने पर ही रसिकोपासक को वहाँ के सहज प्रेमविलास का आस्वादन प्राप्त हो पाता है, उस रसिक मडल की मंडली में प्रविष्ट हो सकता है।

निष्कर्ष यह कि राधावल्लभीय धारणा के अनुसार वृन्दावन का स्वरूपबोध उपासनालोक की संकल्पसृष्टि है। वह प्रत्यक्ष भी है रसिकोपासकों के लिए और गूढ-रहस्यमय भी है उनके लिए जिन पर श्रीकृष्णवल्लभा राधारानी के चरणकमल का अनुग्रह नही हुआ है। हितमतानुयायियो के अनुसार अनुग्रह-भाजन रसिकों की वृन्दावन-रति वस्तुतः वृन्दावनात्मिका रति ही है। वह, उक्त रति-प्रेम की भूमि है, भूमिका है। उसके चतुर्दिक् श्रृगाररस (भक्तिश्रृगार) कुडल बाँधकर श्यामवर्णवाली यमुना के रूप में सदा प्रवहमान रहता है और उसी कालिन्दी के रम्य पुलिन पर श्रीराधाकृष्ण, श्यामाश्याम रूप में, सदा परम प्रेममय सुखविहार करते रहते हैं। वह युगलबिहारीमूर्त्ति न कही से वहाँ आई या आती है और न कही जाती है।

इस प्रकार यह वृन्दावन की सकल्पपरिकल्पना तब पराकाष्ठा को पहुँच जाती है जब उसमे भौतिकता और अपार्थिवता, लौकिकता और अलौकिकता, स्थूलता और सूक्ष्मता—सबका एकीभाव हो जाता है।

इस प्रकार हिन्दी के सगुण कृष्णोपासकों के विशेषत. प्रेमोपासको के विशाल साहित्य मे वृन्दावन की लीलाओं का विस्तृत वर्णन है। वैभव की दृष्टि से उसमे गोलोकीय दिव्य सूक्ष्मता और रहस्यात्मकता का पुट भी है और नित्यविहार की स्थली के रूप मे वह लौकिक होकर भी अलौकिक का प्रतीक है। फिर भी वहाँ भौतिक रूपचित्रो की गोचरीय अनुभूतियों का रूपचित्र पर्याप्त आसक्ति के साथ वर्णित है। लीला और ईश्वरीय अलौकिक व्यापारों के विचार से, बाललीला या पूर्व-किशोर-लीला के वर्णन, लोकातीत होकर भी लौकिक परिधि के परिपार्श्व मे घटित हैं। माधुर्यलीला के क्षेत्र मे अवश्य ही उनका परिप्रेक्ष्य भक्ति की अलौकिक अनुभूतिदृष्टि से समुद्भासित है। राधावल्लभ-संप्रदाय में भौम वृन्दावन ही सब कुछ है, उसी का सब महत्त्व है, गोलोकीय या श्वेतद्वीपीय धाम की महिमा से भी बढ़कर उत्कृष्टतम, यथार्थतम और मुख्यतम है। भगवान् की षट्विभूतियों और लीलाचर्या की दृष्टि से, नित्य बिहार और नित्यविलास के विचार से—'वृन्दावन' धाम भौम होकर

भी भौम जीवो, प्रापंचिक जीवों के लिए अगोचर और अगम्य हो उठता है तब वह प्रतीकपरक एवं भावनामूलक रहस्यात्मकता से आवृत भी माना जाता है।

निष्कर्ष

इन समस्त विवरणो का निष्कर्षसार—निम्नाकित रूप मे अकित किया जा सकता है—

(१) वृन्दावन की गरिमा और महिमा का विस्तार श्रीकृष्ण की भक्ति के महत्त्व से जुड़ा हुआ है। विशेषरूप से उसका सम्बन्ध श्रीनन्दनन्दन की गोपलीला के साथ आबद्ध है। इसे श्रीगोपाल की ब्रजवृन्दावनलीला कह सकते है। इसके प्रत्नपौराणिक स्वरूप मे श्रीकृष्ण की बाल-पौगड-किशोर—तीनों अवस्थाओं की लीलाओं का माधुर्य दिखाई देता हैं। इसी पारिपार्श्व मे केशव के लोकपालक तथा भक्तवत्सल रूप की झाँकी भी कम चटकीली नही है। इस रूप मे श्रीकृष्ण आते है त्रिविध भूमिकाओं के साथ, जिन भूमिकाओं को हम लोकपालक, लोकरजक और अद्भुतलीलाकृत् कह सकते हैं। इनमें भगवान् की शक्ति और सौन्दर्य का वैभव विशेष रूप से निखरा दिखाई देता है। बाललीला और गोचारण, मुरलीवादन और बनविहार के चित्र—इस पक्ष मे अत्यन्त मोहक और मधुर हैं। इसका मुख्य रूप भागवत वर्णन के सदृश है। भौतिक वृन्दावन की ही यहाँ प्रबलता है।

(२) वृन्दावन के दूसरे स्वरूप का विकास हमे वहाँ दिखाई देता है जहाँ कृष्ण की मधुर-भक्ति की उपासना के रंगमंच पर रासेश्वरी श्रीराधा का प्रवेश होता है। इस स्वरूप-वर्णन के सन्दर्भ में वैकुण्ठलोक, ब्रह्मलोक, विष्णुलोक, गोलोक, श्वेतदीप, श्रीकृष्णधाम और (आध्यात्मिक) वृन्दावन के अद्भुत, अलौकिक, परमैश्वर्यशाली, स्वर्णरत्नमणिमाणक्यादिमय एव अनन्तवैभव, अपरिमेय-सौन्दर्य, नित्यविहारलीलासपृक्त, आध्यात्मिक रूप की रहस्यात्मकता का आविर्भाव, वहाँ हो जाता है। आध्यात्मिक वृन्दावन सूक्ष्म और अपार्थिव होने के साथ-साथ श्रीराधाकृष्ण और गोपीकृष्ण की मधुरोज्वल लीलाओं, रासरस, वेणुवादनलीला, निकुंजलीला, चीरहरणलीला, रात्रिविहार, रतिकेलि आदि से संबद्ध लीलाओ की रम्यस्थली बनकर अकित हुआ है। विभिन्न लोकों का तारतम्य भी अनेकत्र वर्णित है। भौतिक और आध्यात्मिक रूपो के गूढ सम्बन्ध का संकेत भी है जो कृष्णभक्ति के मधुरोपासक मात्र को ही अवगम्य है। इसका अपेक्षाकृत अधिक विस्तार, परकालवर्त्ती पुराणों (ब्रह्मवैवर्त्त, पद्म आदि) मे दिखाई देता है। पाचरात्र सहिताओ मे भी अनेक रूपों में—कही गोलोकादि या वैकुण्ठधाम, या श्वेतद्वीप अथवा त्रिपाद्विभूतिमान् परमव्योम के रूप मे और कही वृन्दावन के अभौम एवं साधकमात्रगोचर स्वरूप मे निर्दिष्ट मिलता है।

(३) कृष्ण-काव्यों, कृष्णभक्ति के गीतकाव्यों (नाटकों, चम्पू आदि को इन्ही के अन्तर्गत समझना चाहिए), सुभाषित काव्यों और सूक्तियों में कभी पार्थिव और यदाकदा अपार्थिव वृन्दावन के वर्णन मिलते हैं। इनमे कभी पौराणिक आदि मान्यता के बिंबचित्र है और कभी पंचरात्रमत या तंत्र आदि से प्रभावित स्वरूप का काव्यात्मक वर्णन मिलता है।

(४) स्तोत्रादि में भी इन्ही दोनो या दोनों मे से किसी एक रूप के परिवेश में वृन्दावन की पार्थिव या अपार्थिव गरिमा और भक्ति के उद्गार से भरी हुई भावमयी वाणी में चित्रित है।

(५) वैष्णवोपनिषदों मे मधुरोपासना की सामग्री तो है, पर वहाँ अलौकिकता, दिव्यविभूति और रहस्यात्मक प्रतीकों की विपुलता है। मधुचर्या की सामग्री के रहने पर भी उज्ज्वलश्रृंगारी वर्णन पर तनिक भी बल नही हैं।

(६) चैतन्य मत में जो विकास है वह—विशेषत सहिताओ, वैष्णव-तत्रो, पद्म-ब्रह्मवैवर्त्त आदि पुराणो की स्वमतानुकूल व्याख्या पर आधारित रूप मे चित्रित है। वल्लभ मत मे भी उनका योग है। पर दोनों की अपनी कुछ विशेषता है। इन सबमे रहस्यात्मकता और प्रतीकात्मकता के साथ-साथ स्वसिद्धान्त की सगति के अनुकूल वैशिष्ट्य की उद्भावना है।

(७) राधावल्लभीय दृष्टि में भूतलीय वृन्दावन का सर्वाधिक महत्त्व है। उनकी हितरसोपासना में वह आवश्यकतम तत्त्वों में एक है। 'गोलोक' या 'गोलोकीय वृन्दावन' का उनके लिए कोई महत्त्व नही है। वह यही है, भूमिस्थ है। यही प्रधान है। पर इसके नित्यविहार, नित्यविलास, प्रेमचर्या आदि का दर्शन राधानुगृहीत अंतरंग और तत्सुखीभावापन्न सहचरियो को ही होता है। सब कुछ यहाँ नित्य है, अत. गूढ़, रहस्यात्मक एव प्रतीकपरक भी है।

संक्षेप मे यह दिग्दर्शन यहाँ प्रस्तुत किया गया है। अतः बहुत सी मान्यताएँ और अनेक प्रमुख मतों की दृष्टि को छोडना भी पडा है। पर आशा है—इतने से वर्णनीय विषय की धारणा का एक सामान्य परिचय मिल जायगा।

—

पाश्चात्य काव्य-समीक्षा का विकास-क्रम

डॉ० श्रीपति शर्मा

साहित्य-ग्रन्थो की सर्जना के पश्चात् ही प्रत्येक देश मे लक्षण-ग्रथो की परम्परा का दर्शन हमे प्राप्त होता है। बिना किसी आधार के नियमो का निर्माण भी संभव नही होता। भारतीय साहित्य की भाँति योरोपीय देशो मे भी साहित्य-निर्माण की यह एकरूपता हमे देखने को मिलती है। पाँचवी शताब्दी ईसा-पूर्व पाश्चात्य जगत् मे यूनान की सभ्यता अपने चरम वैभव पर थी, जिसमें एथेंस का प्रजातन्त्र विकसित हुआ था। प्रतिभा के नवोन्मेष से साहित्य-जगत् गरिमा तथा उदात्त वातावरण से परिपूर्ण था। होमर और हीसियड की काव्य-कृतियाँ निर्मित हो चुकी थी, जो व्यास और वाल्मीकि के महाकाव्यो की भाँति जनता मे समादृत थी। गीति-काव्यकारो मे सैफो तथा पिंडार जैसे कवियो के गीतो से जनता विशेष अनुप्राणित हो रही थी। महाकाव्य से भी उदात्त परम्परा का सृजन तत्कालीन दु खान्त नाटककारो ने किया, जिनमे एस्किलस, साफोक्लीज तथा यूरोपीडीज विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन साहित्य-ग्रन्थों के निर्माण के पश्चात् योरोपीय साहित्य-गगन की की प्रभात वेला मे सुकरात जैसे मनीषी और दार्शनिक का अभ्युदय हुआ, जिसके नीतिवाद ने योरोपीय दर्शन की भाव-भूमि मे एक महत्त्वपूर्ण चरण का आरोप किया।

काल की परिवर्त्तनशीलता के परिणाम-स्वरूप ग्रीक सभ्यता भी ह्रासोन्मुखी होने लगी। अनेक सघर्षों तथा निरन्तर भोग-विलास मे लीन रहने के कारण राज्य की शक्ति क्षीण हो चली। परन्तु यूनानी साहित्य-जगत् की इस सध्या वेला मे बाल चन्द्रमा के समान प्लेटो का आगमन हुआ, जिसने काव्य-समीक्षा का श्रीगणेश किया। प्लेटो सुकरात का शिष्य था, और गुरुकृपा से उसे एक विलक्षण तथा तलस्पर्शी दार्शनिक प्रतिभा प्राप्त हुई थी। सुकरात के समान ही वह विशुद्ध ज्ञान का अखण्ड साधक और समर्थक था। परन्तु गुरु की अपेक्षा नवीन भाव-भूमि में भी उसने पैर रखने का प्रयास किया। प्लेटो ने कवि और काव्य की परीक्षा विशुद्ध सत्य तथा नैतिकता की कसौटी पर करते हुए कवि की महान भर्त्सना की, उसे उन्मादी और उत्तरदायित्वहीन प्राणी घोषित किया, और उसे आदर्श राज्य (Republic) से दूर निकाल देने का नियम बनाया, परन्तु फिर भी उसकी काव्य सम्बन्धी कतिपय मान्यताएँ अत्यन्त मौलिक एवं महत्त्वपूर्ण हैं। पाश्चात्य काव्यसमीक्षा की आधार-भूमि अनुकृति-सिद्धान्त पर निर्मित हुई है, और इसकी प्रतिष्ठा सर्वप्रथम प्लेटो ने ही की। उसकी दूसरी महत्त्वपूर्ण उद्भावना यह है कि कवि दैवी-प्रेरणा के वशीभूत हो अपने काव्य की सृष्टि करता है। अत: कविता निरी अभ्यासजन्य विद्या नही है, वरन् वह एक अलौकिक प्रेरणा के परिणामस्वरूप प्रवाहित होती है। प्लेटो की प्रतिभा बहुमुखी थी। दर्शन, तर्कशास्त्र, राजनीति तथा साहित्य का वह महान पडित था, और उसके अमूल्य विचार यत्र-तत्र बिखरे हुए ही मिलते हैं परन्तु उसके इन विकीर्ण विचारों पर ही योरोपीय दर्शन और काव्य-समीक्षा का भवन निर्मित हुआ।

चिन्तन के क्षेत्र में गुरु-शिष्य की परम्परा ने कितनी महान् देन मानवता को दी है, इसका सबसे

सुन्दर प्रमाण प्लेटो के शिष्य अरस्तू (३८४ ई० पू० ३२२ ई० पू०) में देखने को मिलता है। अरस्तू का काव्य-शास्त्र योरोपीय काव्य-समीक्षा का सर्वमान्य मूर्धन्य ग्रन्थ है, जिसकी समीक्षा सम्बन्धी मान्यताओं का आदर वेदवाक्य की तरह कई शताब्दियों तक यूरोप में चलता रहा, और इसीलिए वह काव्य-समीक्षा का बाइबिल बन गया। इसका प्रधान कारण यह है कि उसकी समीक्षात्मक पद्धति अत्यन्त वैज्ञानिक, व्यापक और स्थायी है, जिसने समीक्षा-जगत् में सार्वभौम सिद्धान्तों की स्थापना की। अरस्तू ने अपने गुरु प्लेटो से भिन्न एक नये ढग से कवित्व को जीवन की अनुकृति सिद्ध किया। परन्तु उसके 'जीवन' और 'अनुकृति' का एक विशेष अर्थ है, जिसका आशय ठीक से समझे बिना हम उसकी स्थापना को हृदयंगम नही कर सकते। अरस्तू के जीवन का तात्पर्य बाह्य दृष्टिगोचर उपादानो से ही नही, वरन भावों तथा विचारो से उत्पन्न उपकरणो से था। इसलिए उसका जीवन जड-जीवन नही, वरन् व्यापार तथा अनुभव से परिपूर्ण एक शाश्वत और तरल प्रेरणा स्रोत के रूप में है। जिससे सदैव साहित्य की धारा प्रवहमान रहती है। उसका अनुकरण-सिद्धान्त एक विशेष भावधारा का पर्याय है जिससे वास्तविकता को सार्वभौम प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। उसका कथन था कि इसी अनुकृति के आधार पर कवि किसी सामग्री को नवीन प्रतिभा के अर्थ से मंडित करता है। यूरोप मे अनेक शताब्दियो तक विद्वानो ने अरस्तू की इस व्याख्या को अखण्ड मान्यता प्रदान की। अरस्तू ने ट्रेजेडी की व्याख्या करते हुए उसे जीवन की अनुकृति बताया। ट्रेजेडी की तुलना महाकाव्य से करते हुए उसने ट्रेजेडी को ऊँचा स्थान दिया, क्योकि वह अधिक प्रभावोत्पादक है। आगे चलकर उसने ट्रेजेडी मे वर्णित चरित्र की विशेषताओं का वर्णन करते हुए बताया कि नायक का पतन दर्शको के मन मे भय और करुणा का सचार करता है, और जहाँ रेचन-सिद्धान्त द्वारा उसके भावो का परिमार्जन होता है। अरस्तू के संकलन-त्रय का सिद्धान्त भी कम महत्त्वपूर्ण नही है, जिसका पालन वेदवाक्य की तरह शताब्दियों तक योरोपीय समीक्षा-जगत् मे चलता रहा। विभिन्न कलाओ की तुलना करते हुए अरस्तू ने एक प्रमुख समस्या यह भी उपस्थित की कि चित्रमूर्ति तथा काव्य आदि विभिन्न कलाओ के आदर्श पृथक्-पृथक् होते हैं, या उनमे एक ही समष्टिगत आदर्श मिलता है। इसी सूत्र को आगे चलकर लेसिंग, हीगेल तथा क्रोचे ने विस्तृत व्याख्या का विषय बनाया। सक्षेप मे कहा जा सकता है कि अरस्तू ने ही पाश्चात्य काव्य-समीक्षा का शिलान्यास किया। यद्यपि उसकी बहुत-सी मान्यताये तत्कालीन साहित्यिक कृतियों को आधार मानकर चलती हैं, जिनको अतिम और पूर्ण नही कहा जा सकता, परन्तु निष्पक्ष तथा सार्वभौम काव्य-समीक्षा का वह आदि गुरु है, जिसको इस क्षेत्र मे मूर्धन्य स्थान प्राप्त है।

पारस्परिक द्वेष तथा सघर्षो के कारण ग्रीक सभ्यता ह्रासोन्मुखी होती गई। एथेस रोम द्वारा विजित हुआ और सभ्यता और साहित्य का प्रकाश ग्रीस से रोम को पहुँचा। परन्तु इस बीच ईसा की तीसरी तथा दूसरी शताब्दी पूर्व यूरोप मे विद्वान् और चिन्तक इधर-उधर घूम-घूमकर विद्या-केन्द्र बनाते रहे। इन विद्या-केन्द्रो मे सिकन्दरिया एक प्रधान केन्द्र था, जो करीब सौ वर्षों तक विद्या तथा साहित्य का प्रधान केन्द्र था और ग्रीक तथा रोमन काल के सन्धि-युग के रूप में प्रख्यात हुआ।

इसके पश्चात् यूनानी काव्य-समीक्षा का स्थान रोमन काव्य-समीक्षा ने लिया। इस काल मे प्राचीन नियमों के पालन पर ही विशेष जोर दिया गया। उस समय रोम मे भाषण-कला के अभ्यास पर विशेष बल दिया जाता था। रोमन काव्य-समीक्षा में सिसरो का स्थान विशिष्ट है; क्योकि उसने भाषण-कला की विवेचना की और यूनानी परम्परा का समर्थन करते हुए शैली की विशेषताओं पर

प्रकाश डाला। उसीका समकालीन क्विन टीलीयन था जिसने अलकार-शास्त्र का पाडित्यपूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया। सिसरो की भाँति होरेस ने भी पचास वर्ष ई० पू० प्राचीन यूनानी सिद्धान्तो को नवीन ढग से प्रतिपादित किया। काव्य मे मनोरजन के अतिरिक्त शिक्षा का भी महत्त्व है, इसका प्रतिपादन होरेस ने ही किया। इसके समीक्षात्मक ग्रन्थ का नाम Ars.-Poetica है जो एक पत्र के रूप मे लिखा गया था। यूरोप के अनेक विद्वानो ने होरेस को आदर्श गुरु के रूप मे स्वीकार किया और उसके उद्धरणों को विशेष महत्त्व दिया गया। उसने इस बात पर जोर दिया कि अच्छी शैली विचारो की परिपक्वता से उद्भूत होती है और इसके लिए उसने सुकरात के ग्रन्थों का पारायण करने की राय दी।[१]

परन्तु अभी तक समीक्षा-जगत् मे कोई इतना महान् चितक नही उत्पन्न हुआ जिसका व्यापक प्रभाव अरस्तू की भाँति पडता। भाग्यवश प्रथम शताब्दी मे लाँजिनस नामक समीक्षक आया जो लैटिन, ग्रीक तथा हिब्रू आदि भाषाओ का महान् पडित था। उसने यूनानी तथा रोमन समीक्षा-शैली का समन्वय करके अपने विचारो को बड़े ही मौलिक ढग से प्रतिपादित किया। उदात्तता (sublimity) की व्याख्या उसने अत्यन्त पाण्डित्यपूर्ण शैली मे की, जिसका आगे चलकर बडा आदर हुआ। उसकी पुस्तक 'पेरी-हुपसाउस' (Peri hupsous) समीक्षा-क्षेत्र मे एक महत्त्वपूर्ण मजिल है। उसका कथन था कि किसी काव्य-कृति मे उदात्तता तभी आती है, जब उसका कर्त्ता गभीर विचारो से परिपूर्ण हो। गभीर लेखक की ही वाणी गभीर होती है, इस बात पर उसने बडा जोर दिया।[२] उदात्तता से ही आनन्द की उपलब्धि होती है, जो काव्य का महान गुण है। लाँजिनस का यह निबन्ध बहुत दिनों तक अप्राप्य था, इसका पता विद्वानो ने सोलहवी शताब्दी मे लगाया। सत्रहवी शताब्दी मे जाकर बियालो ने इसका अनुवाद फ्रेंच भाषा मे किया। तब से निरन्तर इसका आदर बढ़ता गया। एक प्रकार से लाँजिनस को हम यूरोप का प्रथम स्वच्छन्दतावादी आलोचक मानते है।

पाँचवी शताब्दी से पन्द्रहवी शताब्दी तक करीब एक हजार वर्षों तक के काल को यूरोपीय काव्य-समीक्षा का अधकार-युग माना जाता है। इस समय शासन का सूत्र पादरियो तथा मठाधीशों के हाथो मे था, जो काव्य को अनैतिक तथा हेय दृष्टि से देखते थे। रोम इस समय पतन को प्राप्त हो चुका था। पादरी कविता को निन्दनीय साधन मानते थे। जेरोम ने उसे शैतान की खुराक बताया, ग्रेगरी ने भी साहित्य को ईश्वर की पूजा के लिए अनुपयुक्त तथा अपूर्ण साधन बतायाँ। इस समय तक काव्य-समीक्षा के यूनानी ग्रन्थ लुप्त हो गये और उनके स्थान पर लैटिन ग्रन्थो की महत्ता पर जोर दिया गया। साराश यह है कि इन एक हजार वर्षो तक यूरोपीय साहित्य-चिन्तन के क्षेत्र मे कोई मौलिक उद्भावना नही की गयी।

बारहवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे इस घोर तमिस्रा के पश्चात् दाँते का उदय साहित्य-जगत् में भगवान् भास्कर की भाँति हुआ। उसके महाकाव्य 'डिवाइन कॉमेडी' ने कुछ समय के लिए यूरोपीय विचारको की आँखो को चकाचौध कर दिया। दाँते इटली का महान कवि था, और योरोपीय

---

१ "The seceret of all good writing is sound judgement. The work of Socrates will supply you with facts; get these in clear perspective and words will follow naturally."—Horace : Ars.—Poetica.

२ Great words issue from those, whose thoughts are weighty.

नवोत्थान के अग्रदूत के रूप में आया। उसने अपने महाकाव्य का प्रणयन लैटिन मे न करके साधारण जनभाषा में किया। दाँते मे कवि और आलोचक की समन्वयात्मक प्रतिभा थी। उसने काव्य मे विषय के अनुरूप भाषा के चयन पर बल देते हुए गद्यशैली और छन्दयोजना को विशेष महत्त्व दिया, साथ ही साथ प्रतीक और रूपक को काव्य का प्रमुख साधन स्वीकार किया। योरप में इस समय चिन्तन के क्षेत्र मे नव-जागरण का काल था। दाँते उसका पैगम्बर बना। इसके बाद काव्य-समीक्षा का आधुनिक-युग प्रारम्भ होता है। इंग्लैण्ड मे इसका आवाहन सर फिलिप सिडनी, जान ड्राइडन, पोप और डॉ० जानसन ने किया। इन समीक्षको ने काव्य-समीक्षा के क्षेत्र मे क्या योगदान दिया, इस पर विचार करना आवश्यक होगा। सर फिलिप सिडनी का प्रसिद्ध पद्यात्मक निबन्ध The Depeuse of Poesie उसकी मृत्यु के बाद प्रकाशित हुआ जिसमे उसने कविता के गुणो का समर्थन किया है। इस प्रकार की आवश्यकता सिडनी को इसीलिए पडी होगी कि ईसाई धर्म ने काव्य का महान विरोध किया था, सिडनी ने कविता को कल्पनाजन्य बताते हुए, उसका उद्‌गम आदिकाल से ही बताया। सिडनी के पश्चात् जॉन ड्राइडन पाश्चात्य काव्य-जगत् का सबसे महान आलोचक हुआ जिसने काव्य के उद्देश्य के सम्बन्ध मे गहरी छानबीन की। अब तक ड्राइडन के पूर्व काव्य-समीक्षको ने कविता का उद्देश्य बताते हुए इस प्राचीन मत पर ही बल दिया था कि कविता का काम शिक्षा और आनन्द देना है। परन्तु जॉन ड्राइडन ने पहली बार इस बात पर जोर दिया कि आनन्द देना कविता का मुख्य उद्देश्य है, नीति और शिक्षा उसका गौण तत्व है। लांगिनस की भाँति ड्राइडन ने भी सौन्दर्य और आनन्द को कविता का मूल स्रोत माना। पोप ने निष्पक्ष आलोचक की कठिनाइयो तथा उसके गुणों की व्याख्या की है। उसका 'एसे ऑन क्रिटिसिज्म' इस दिशा मे एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। डॉ० जॉनसन ने शेक्सपीयर के नाटको का वस्तुपरक मूल्याकन प्रस्तुत किया और अपनी मान्यताओ द्वारा व्यावहारिक आलोचना का सूत्रपात किया। अठारहवी सदी तक समीक्षा के क्षेत्र मे यूरोप मे नियोक्लासीकल आलोचना का जोर था जिसमे नियमों के परिपालन का इतना आग्रह था कि समस्त आलोचना का स्तर और सकुचित रूढ़िबद्ध हो गया।

इगलैण्ड के अतिरिक्त इस समय समीक्षा के क्षेत्र मे जर्मन-आलोचको का योगदान कम महत्त्वपूर्ण नही था। इनमें लेसिंग, शीलर तथा गेटे का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। जैसा कि पहिले लिखा जा चुका है, लेसिंग अरस्तू का समर्थक था, उसने अपने निबन्ध 'लैकून' मे विभिन्न कलाओं के पारस्परिक सम्बन्धों तथा उनके विभिन्न उपादानो का विस्तृत विवेचन करते हुए, विशेषकर चित्र-कला और कविता के सम्बन्ध मे अपनी नयी मान्यता यह दी कि कविता तथा चित्र के उपादान अलग-अलग हें, अतः उनके चित्रण की प्रणाली तथा उनका समष्टिगत प्रभाव भी पृथक् होता है। इस प्रकार उसने कला के क्षेत्र में एक स्थायी सिद्धान्त की स्थापना की। शीलर जर्मनी का प्रसिद्ध कवि और नाटककार था। उसने यूनानी कविता को आधुनिक कविता से श्रेष्ठ और महान् बताया, क्योंकि यूनानी कविता उसकी दृष्टि में सहज, श्रेष्ठ तथा सुन्दर प्रकृति के पालने मे निर्मित हुई थी। साथ ही साथ उसने उदात्ततावादी (क्लासिक) साहित्य को स्वस्थ मन की सृष्टि तथा रोमेंटिक साहित्य को अस्वस्थ मन की सृष्टि बताया। साहित्य में व्यक्तित्व के अध्ययन पर विशेष जोर देते हुए उसने अरस्तू के विरेचन-सिद्धान्त की नवीन व्याख्या उपस्थित की। गेटे जर्मनी के उन प्रसिद्ध विद्वानों में था जो कालिदास के शकुन्तला नाटक से विशेष प्रभावित हुए, जिसका प्रभाव यह पड़ा कि समग्र यूरोपीय मनीषा में संस्कृत-साहित्य के प्रति आदर और मान बढ़ चला। गेटे के पश्चात् यूरोपीय

काव्य-समीक्षा-जगत् मे स्वच्छन्दतावादी तथा यथार्थवादी विचारधारा का आगमन हुआ। इस बीच यूरोप के अन्य देश समीक्षकों से खाली नही थे। फ्रास मे सेंटवीव जैसे आलोचक, चार्ल्स वादलेयर, मलार्मे तथा पाल बर्लेन जैसे प्रतीकवादी कवि हुए तथा वालजाक, मोपासा, जोला जैसे महान् कथाकार उत्पन्न हुए जिन्होंने शाश्वत साहित्य का सृजन किया। इधर रूस मे पुश्किन, गोलोग, तुर्गनेव, टालस्टाय, चेखोव जैसे 'कवियों और 'कथाकारों ने अपने साहित्य से जन-जीवन को अनुप्राणित किया। समीक्षा के क्षेत्र में रूस मे वेलिन्स्की तथा चर्नि शेवस्की जैसे आलोचक उत्पन्न हुए।

क्लासीसिजम के प्रतिक्रिया-स्वरूप स्वच्छन्दतावादी काव्य-समीक्षा का प्रादुर्भाव हुआ जिसके द्वारा क्लासिसीजम की कट्टर रूढ़िबद्धता, नियमो के परिचालन की कठोरता, सयम और नियत्रण के समर्थन का घोर विरोध किया गया। साहित्य मे व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के भाव को विशेष प्रश्रय दिया गया, साथ ही साथ तर्क का विरोध और भावना का समर्थन किया गया। सौन्दर्य-प्रेम, रहस्य तथा अपरिचित तथा अज्ञात के प्रति आकर्षण स्वच्छन्दतावाद के मूल मत्र है। इस प्रकार की विचारधारा का विकास योरोप मे फ्रास की राज्य-क्रान्ति के पश्चात् हुआ। जिसमे, रूसो, वालतेयर तथा गेटे की कृतियो ने प्रेरणा-स्रोत का काम किया। स्वच्छन्दतावादी आलोचको मे वर्ड्सवर्थ, कोलरिज तथा शेली मुख्य है, जिनकी प्रतिभा मे कवि और आलोचक की प्रतिभा का विलक्षण समन्वय प्राप्त होता है। वर्ड्सवर्थ ने कविता को शान्तिपूर्ण क्षणो को आकलित भावना कहा। अपने 'लिरिकल बैलेड्स' की भूमिका में उसने कवि और काव्य के उद्देश्य की सुन्दर विवेचना की है। कोलरिज ने इस मत का प्रवर्तन किया कि कवि अपनी कल्पना के सहारे एक नवीन सृष्टि करता है, परन्तु उसकी कल्पना एक समन्वयकारी शक्ति है जो कवि के भावों को एकरूप के साँचे में ढालती है। शेली ने अपने प्रसिद्ध निबन्ध में कविता को सगीतमय विचारों का समूह बताया। साथ ही साथ विधाता की सृष्टि मे उसने कवि को अत्यन्त ऊँचा स्थान दिया। इस प्रकार हम देखते है कि इन स्वच्छन्दतावादी आलोचको की समीक्षा स्वतत्र, व्यक्तिपरक मौलिक उद्गारो का पुज है जिसमे रूढ़ियो का विरोध किया गया है।

यथार्थवादी काव्य-समीक्षा—उन्नीसवी शताब्दी के प्रारम्भ मे यूरोप मे शिक्षा के प्रचार तथा वैज्ञानिक प्रगति से जनतत्र का प्रसार हुआ। समस्त देश में यथार्थवाद का बोलबाला हुआ। यथार्थवाद क्लासीसिज्म तथा रोमैन्टिसिज्म दोनो के विरोध मे चल पड़ा। इसने सामन्तवादी कल्पनाप्रधान साहित्य तथा काव्य का विरोध करके जनसाधारण के दु:ख-दर्द तथा घावो पर मरहमपट्टी लगाने का काम किया। काव्य-समीक्षा की कसौटी एकदम बदल गयी। इस प्रकार की समीक्षा का विकास वेलिन्स्की तथा चर्निशेवस्की जैसे रूसी समीक्षको द्वारा हुआ। वेलिन्स्की हीगेल के भाववादी दर्शन का समर्थक था। उसके कला सम्बन्धी तीन प्रमुख सिद्धान्त है—१. वास्तविकता, २. कलात्मक आदर्श तथा ३. मौलिक प्रतिभा का कला मे उपयोग। उसकी मान्यता यह थी कि कला को वास्तविकता की कसौटी पर ही कसना चाहिए। कला की पूर्णतया तभी मानी जायगी जब उसका जीवन से अविच्छिन्न सम्बन्ध हो। परन्तु बिना मौलिक प्रतिभा के किसी कलाकृति का कोई महत्त्व नही। चर्निशेवस्की ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'एस्थेटिक रिलेशन ऑव आर्ट टू रिएलिटी' मे यह स्थापना की कि वास्तविकता से परे किसी काव्य-कृति में सौन्दर्य की खोज करना निरर्थक है। मूल-सौन्दर्य की स्थिति वास्तविकता में ही है और जीवन ही सौन्दर्य का मूल स्रोत है। इसी भावधारा का समर्थन फ्रांस के यथार्थवादी आलोचक टेन ने किया है। काव्य का जीवन से अविच्छिन्न सम्बन्ध जोड़ने की

प्रथा इतनी बढी कि इग्लैण्ड के प्रसिद्ध आलोचक मैथ्यू आर्नाल्ड ने कविता को जीवन की आलोचना कहा। आर्नाल्ड अंग्रेजी काव्य-समीक्षा का महान लेखक था, जिसने तुलनात्मक आलोचना को परिपुष्ट किया। जान रस्किन ने सौन्दर्य की दार्शनिक व्याख्या करते हुए उसे एक ईश्वरीय देन के रूप मे स्वीकार किया। रूमी उपन्यासकार टालस्टाय ने भी कला का सम्बन्ध जीवन से जोड़ा और काव्य का उद्देश्य सत् आदर्श की सृष्टि करना बताया। उसका कथन था कि ऐसी कला जो मानव-मात्र को एकता के सूत्र में बाँधकर उसमे शिवत्व का आदर्श न पैदा कर सके, सच्ची कला कहलाने की अधिकारिणी नही।

मनोवैज्ञानिक काव्य-समीक्षा—आधुनिक युग मे मनोविज्ञान का अध्ययन और महत्त्व इतना वढा है कि साहित्य का अध्ययन बिना मनोविज्ञान के अधूरा माना जाने लगा है। फ्रायड ने काम-वासना को मानव की सबसे मुख्य वासना माना। उसने सिद्ध किया कि इसके दमन से मनुष्य अनेक मानसिक ग्रन्थियो तथा रोगो का शिकार हो जाता है। फ्रायड के शिष्य एडलर और युग थे जिन्होने चरित्र की अन्तर्मुखी तथा बहिर्मुखी प्रवृत्तियो की छानबीन की। कवि और लेखक मनो-विज्ञान तथा मनोविश्लेषण की कसौटी पर परखे जाने लगे। इसीका एक रूप प्रकृतवाद भी हुआ जो यथार्थवाद का एक नग्न और विकृत रूप है। प्रकृतवाद जीवन और जगत् के सूक्ष्म से सूक्ष्म चित्रण का समर्थन करता है। मनोविश्लेषण के द्वारा चेतन तथा अवचेतन मन की जटिलताओ का भी अध्ययन किया जाने लगा। एडलर का कथन है कि मनुष्य की सबसे प्रबल इच्छा कामवासना ही नही, वरन् आत्मप्रकाशन तथा बड़प्पन प्राप्त करने की भावना है। जब मनुष्य इस भावना की पूर्ति मे कुछ अभाव पाता है तब उसमे हीनता-ग्रथि का विकास होता है और वह अनेक मानसिक रोगो का शिकार बनता है। चलने फिरनेवाले स्वप्न अकारण भय, चिन्ता, द्विव्यक्तित्व तथा बहुव्यक्तित्व इन रोगो मे मुख्य है। इन सभी आधारभूमियो पर कवि और साहित्यकार की परीक्षा होने लगी।

मार्क्सवाद एक बौद्धिक आन्दोलन के रूप मे आया जिसका आधार द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद था। इसका जन्मदाता कार्ल मार्क्स था। जहाँ फ्रायड ने मानव के अन्तर्जगत के अध्ययन पर जोर दिया, मार्क्स ने बहिर्जगत का अध्ययन किया। मार्क्स की विचारधारा पर जर्मन दार्शनिक हीगेल का प्रभाव पड़ा। यद्यपि दोनो के विचारो में विशेष अन्तर है। मार्क्स ने हीगेल के द्वन्द्ववाद को ग्रहण तो अवश्य किया, परन्तु उसने उसके कल्पनाप्रधान तत्व को छोड दिया। हीगेल अंतिम सत्य विचार-तत्व को मानता है, परन्तु मार्क्स भौतिक तत्त्व को विशेष महत्त्व देता है। मार्क्स का कथन था कि वर्ग-घृणा तथा वर्ग-सघर्ष सृष्टि के आदि से मानवता का इतिहास रहा है, शक्तिसम्पन्नवर्ग ने सदा दुर्बलो पर अत्याचार किया है। समाज मे कष्ट तथा विपन्नता का सारा उत्तरदायित्व पूंजीपतियो पर ही है, अत पूंजीवाद का समूल उन्मूलन ही मार्क्स का सिद्धान्त था जिससे ऐसे वर्ग-विहीन समाज का अभ्युदय होगा, जिसमे न कोई द्वन्द्व होगा न द्वेष। साहित्य के क्षेत्र मे साम्यवाद और प्रगतिवाद का जन्म हुआ। समीक्षा के क्षेत्र मे इन विचारधाराओ ने एक नया मोड़ उपस्थित किया। प्राचीन क्लासिकल साहित्य को, सामंतवादी साहित्य तथा रोमेंटिक साहित्य को कल्पना का मखौल समझा गया और कहा गया कि इनमें कवियो ने बे-सिरपैर की उडाने भरी हैं, ऐसी उड़ाने जिसका न कोई आधार है और न जिनमे वास्तविकता है। जीवन से दूर हटकर इस प्रकार के साहित्य का कोई मूल्य नहीं। उच्च वर्ग के स्थान पर साहित्य में शोषितों तथा मजदूरो की असहाय परिस्थितियों का चित्रण होने लगा। नारी-स्वतन्त्रता की आवाज ऊँची की गयी। आस्तिकता तथा धार्मिक आस्था का

स्थान तर्क ने ले लिया, अंधविश्वास का विरोध किया गया। नारायण के स्थान पर नर की उपासना होने लगी। समाज की रूढ़ियो तथा परम्पराओ का लेखको ने विरोध किया।

युद्धोत्तरकालीन काव्य समीक्षा—द्वितीय महायुद्ध ने समस्त विश्व को विपन्नता तथा बेकारी से परिपूर्ण कर दिया। साहित्य मे भी मानसिक कुठा तथा अवसादग्रस्त विपन्न मानवो के सज्ञाप्रवाह, मनोदौर्बल्य, दुरूहता तथा आत्महीनतामयी पीड़ा का चित्रण होने लगा। साहित्य के क्षेत्र मे अहं का स्वर निनादित हो उठा। अनेक वादो का जन्म हुआ। अतियथार्थवाद, प्रतीकवाद, प्रयोगवाद, अभिव्यजनवाद तथा अस्तित्ववाद आदि अनेक वादो के स्वर और ताल पर आज का साहित्य नाच रहा है, और इन्ही कसौटियो पर साहित्य की परख हो रही है। इन अनेक प्रयोगो तथा वादों के विवाद मे पड़कर साहित्य और उसकी समीक्षा की आत्मा विकृत और जर्जर हो चली है। नवीनता के फेर मे अश्लीलता, नग्न वासना तथा सस्ती भावुकता को प्रश्रय दिया जा रहा है। साहित्य प्रचार का साधन बन रहा है। इस बहते जल मे स्थायित्व नही है। सच्ची कला प्रचार से बहुत दूर रहती है। आज की समीक्षा मे निष्पक्षता, गहन अध्ययन तथा पाडित्य का अभाव तथा पल्लवग्राहिणी प्रतिभा का स्फुरण अधिक है। गम्भीर तथा उदात्त परम्परा जिसकी गरिमा से एक समय यूरोपीय काव्य-समीक्षा महिमामडित थी, आज अदृश्य हो गयी है।